हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास

लेखक

श्री राजनाथ शर्मा, एम० ए०

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-२

Busha.

M.A

हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास

हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास

लेखक

श्री राजनाथ शर्मा, एम० ए०

and
Keshav Bhushan Lal Kaul.

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा–२

विनोद पुस्तक मन्दिर
कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा–२
बिक्री केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा–३

प्रथम संस्करण : १९६८

मूल्य : ११.००

कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, आगरा–२
[१५४६८]

अमित श्रद्धेय गुरुवर

आचार्य कैलासचन्द्र मिश्र

को

जिनके चरणों में बैठ, अगाध ज्ञानराशि

के

कुछ बिखरे कणों को संग्रह

करने का सौभाग्य मिला

—राजनाथ

अपनी बात

अभी तक हिन्दी में हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहास लिखे जा चुके हैं। हिन्दी-साहित्य का यह विवेचनात्मक इतिहास भी उसी परम्परा की एक नई कड़ी है। इसे लिखते समय मेरा दृष्टिकोण नई सामग्री के संचयन की अपेक्षा अब तक उपलब्ध सामग्री का सन्तुलित और वैज्ञानिक विवेचन करने का ही अधिक रहा है। इसके लिए मैंने विकास की वैज्ञानिक प्रक्रिया का आधार ग्रहण किया है। इस प्रक्रिया का आधार ग्रहण करने पर ही समस्त हिन्दी-साहित्य का—उसके आरम्भिक काल से लेकर आधुनिक काल तक का—एक सुसंगत और क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करना सम्भव है। इसमें तनिक सी भी चूक हो जाने से शृंखला की समस्त कड़ियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। विभिन्न विचार-सरणियाँ और आन्दोलन साहित्य को प्रभावित और विकसित करते रहते हैं। हमारा सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य इन्हीं विचार-सरणियों और आन्दोलनों का एक क्रमशः विकासमान रूप है। इसलिए साहित्य का इतिहास लिखते समय राष्ट्र के जन-जीवन में उदय होने वाली विचारधाराओं और आन्दोलनों का विस्तृत विवेचन अपेक्षित होता है, क्योंकि बिना इनको समझे साहित्य के नए-नए रूपों और उनके विकास को समझना असम्भव है।

कोई भी चिन्तन-धारा एकाएक उदय नहीं होती। उसके उदय होने के कारण सामयिक समाज-व्यवस्था में ही छिपे रहते हैं। सामाजिक विषमताएँ नए विचारों को जन्म देती हैं और ये नये विचार साहित्य में अभिव्यक्त होने लगते हैं। इसलिए इनको समझने के लिए समाज-शास्त्रीय अध्ययन आवश्यक हो जाता है। ग्रियर्सन ने इस प्रकार के अध्ययन की उपेक्षा की थी, इसी कारण हिन्दी का भक्ति-आन्दोलन उन्हें ईसाई-धर्म से प्रभावित प्रतीत हुआ था। इस प्रकार के भ्रान्त निष्कर्ष इतिहास की क्रमबद्ध शृंखला में व्यवधान उपस्थित कर देते हैं। हिन्दी-भाषा के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में भी अनेक विद्वानों के विचार बड़े भ्रान्त रहे हैं। उन्होंने हिन्दी का उद्गम अपभ्रंश से माना है, जबकि हिन्दी बोलचाल की एक स्वतंत्र भाषा थी। शृंगार-काल के अन्त और आधुनिक-काल के आरम्भ के बीच लगभग ५०-६० वर्ष

का एक ऐसा व्यवधान मिलता है जिसके सम्बन्ध में अधिकांश विद्वान् मौन रहे हैं। परन्तु तत्कालीन नवोद्भूत राजनीतिक परिस्थिति का विश्लेषण इस समस्या का समाधान प्रस्तुत कर देता है। यही स्थिति हिन्दी के सूफी-प्रेमाख्यानों की है। अधिकांश विद्वानों ने इन्हें फारसी-मसनवियों से गहरे रूप से प्रभावित माना है। परन्तु विकास की प्रक्रिया का अनुसरण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये अपभ्रंश के चरित-काव्यों के ही विकसित रूप हैं।

प्रस्तुत इतिहास में इन्हीं भ्रान्त दृष्टिकोणों और निष्कर्षों का विवेचन करते हुए हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक काल के प्रत्येक साहित्य-रूप का इतिहास-सम्मत स्वरूप, उसकी पूर्व-पीठिका और विकास का वर्णन किया गया है। कृतिकारों का विवेचन करते समय केवल उन्हीं का विवेचन किया गया है, जो अपने युग और काव्य-स्वरूप का प्रतिनिधित्व करने वाले रहे हैं। शेष का मात्र नामोल्लेख कर दिया गया है। अधिक बल परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का विवेचन करने पर ही रहा है। इसी कारण इस इतिहास का नाम 'हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' उचित समझा गया।

इस इतिहास को लिखते समय विभिन्न पुराने और नए इतिहासकारों के ग्रन्थों से पर्याप्त सहायता ली गई है—परन्तु मात्र सामग्री-संकलन में ही। इस संकलित सामग्री से सम्बन्धित विश्लेषण मेरा अपना रहा है। जहाँ मैंने उचित समझा है वहाँ अपने विवेचन के सम्बन्ध में अधिकारी विद्वानों के उद्धरण प्रस्तुत कर दिए हैं। जहाँ मेरा किसी से मत-वैभिन्य रहा है वहाँ यथाशक्ति प्रमाणों और तर्कों द्वारा अपनी बात को तर्क-संगत और उचित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। हिन्दी-साहित्य के सम्पूर्ण इतिहासों में से मुझे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' ही सर्वाधिक वैज्ञानिक और पूर्ण लगा है, इसीलिए मेरे इस इतिहास का आधार शुक्ल जी का इतिहास ही रहा है। शुक्ल जी जैसा मेधावी और जागरूक चिन्तक शताब्दियों में एकाध बार ही जन्म लेता है। गोस्वामी तुलसीदास के उपरान्त शुक्ल जी ने ही ऐसे युगद्रष्टा चिन्तक के रूप में जन्म लिया था। मेरा सम्पूर्ण साहित्यिक कृतित्व, आरम्भ से ही शुक्ल जी से गहरे रूप से प्रभावित रहा है। इसलिए मेरे हृदय की सम्पूर्ण श्रद्धा इस महान् युगद्रष्टा के चरणों में सादर समर्पित है।

परन्तु, यदि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहा जाय, तो शुक्ल जी से सर्वत्र सहमत होना सम्भव नहीं है। कुछ बातों के सम्बन्ध में मैं भी शुक्ल जी से सहमत नहीं हो सका हूँ, इसलिए मैंने उनके मतों और निष्कर्षों की आलोचना की है। मेरा यह दृढ़ मत है कि शुक्ल जी के लोक-कल्याणवादी दृष्टिकोण को आधार बना सभी प्रकार के साहित्य का न्यायपूर्ण मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। परन्तु यह सब होते हुए भी मुझे तथ्यों को उनके यथार्थ रूप में समझने और पकड़ने की क्षमता रखने वाली शुक्ल जी जैसी गहरी अन्तर्दृष्टि हिन्दी के किसी भी दूसरे आलोचक में नहीं मिली। अतः शुक्ल जी से मेरे मत-वैभिन्य को शुक्ल जी के प्रति मेरी अवज्ञा न समझा जाय।

मेरे इस इतिहास में पाठकों को बहुत-सी ऐसी स्थापनाएँ मिलेंगी, जो उनकी बद्ध धारणाओं के विपरीत होंगी। मैंने अपनी इन नई स्थापनाओं को प्रमाणों द्वारा पुष्ट रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यहाँ मुझे आधुनिक-काल के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें कहनी हैं। इस काल के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त-धारणाएँ प्रचलित हैं। मैंने उनका निराकरण करने के लिए इस काल में अंग्रेज की भूमिका का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। यदि इस विवेचन को ध्यान से देखा जाय तो आधुनिक-कालीन साहित्य के एक क्रमबद्ध, सुनियोजित विकास की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है।

इस इतिहास के लिखने में मैंने अनेक लेखकों के ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं आदि से पूरी सहायता ली है। इसलिए मैं उन सभी लेखकों और सम्पादकों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। हिन्दी-भाषा के उद्‌भव और विकास का अध्ययन करने में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के 'शब्दानुशासन' तथा डा० रामविलास शर्मा के 'भाषा और समाज' नामक ग्रन्थों ने मुझे नई दृष्टि प्रदान कर मेरा पथ-प्रदर्शन किया है। आधुनिक काल के स्वातंत्र्योत्तर युग से सम्बन्धित सामग्री के आकलन में सुहृद-मित्र डा० रामगोपाल सिंह चौहान के 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' से बहुत सहायता मिली है। अन्य कालों से सम्बन्धित नई सामग्री का संचयन करने में डा० गणपतिचन्द्र गुप्त का 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' मेरा बहुत बड़ा सहायक रहा है। इसलिए मैं इन सब का हृदय से आभारी हूँ।

इस इतिहास के लिखने और प्रकाशित होने में बहुत समय लगा है। हिन्दी के मुझ जैसे मसि-जीवी लेखक को पूर्णतः निश्चिन्त होकर अध्ययन करने और लिखने का सुयोग नहीं मिल पाता। उसे अनेक प्रकार की चिन्ताएँ घेरे रहती हैं, जिनमें अर्थ की समस्या सबसे विकट रहती है। परन्तु लेखन तो साधना का पथ है और यह पथ अभावों से भरा ही रहता है। मैं इस पथ को त्याग और सेवा का पथ तो नहीं मानता परन्तु यह घोर साधना का पथ अवश्य है और यही साधना लेखक को बल और सन्तोष प्रदान करती है। सन्तोष लेखक का प्रधान सम्बल है। यदि अपनी रचना से उसे हार्दिक सन्तोष प्राप्त होता है तो वह उसकी तुलना में अपने वैयक्तिक अभावों को भूल जाता है। मैं शारदा की साधना की चरम उपलब्धि इस सन्तोष को ही मानता हूँ। सुहृद-मित्रों का प्रोत्साहन और सहयोग व्यक्ति का बहुत बड़ा सम्बल होता है और मैं इस मामले में बहुत ही सौभाग्यशाली हूँ। मुझे ऐसे मित्र मिले हैं जिनकी मित्रता पर कोई भी व्यक्ति गर्व कर सकता है। इन मित्रों का अमित स्नेह मेरे जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इन मित्रों में डा० रामविलास शर्मा जैसे अग्रज-तुल्य मित्र हैं जो अपने मौन स्नेह, और वैचारिक आदान-प्रदान द्वारा प्रेरणा और नई दृष्टि प्रदान करते रहते हैं; पं० ज्वालाप्रसाद शर्मा 'शास्त्री', भोलानाथ अग्रवाल, डा० रामगोपाल सिंह चौहान, प्रोफेसर घनश्याम अस्थाना जैसे समवयस्क मित्र हैं जो कोंच-कोंच कर, उलाहने दे-देकर मुझ से काम कराते रहते हैं; और डा० कुन्दनलाल

उप्रेति: जैसे अनुज-तुल्य मित्र हैं जो मेरी रचनाओं को देख हर्ष और गर्व का अनुभव करते हैं। इनके अतिरिक्त आगरा कॉलेज के अनेक ऐसे नए और पुराने मित्र हैं जिनके साथ बैठ कर मैं अपनी समस्त परिश्रम-जनित क्लान्ति भूल जाता हूँ। एक मसि-जीवी के लिए ऐसे मित्रों का क्या महत्त्व हो सकता है, इसे वही जान सकता है जिसे ऐसे मित्र मिलने का सौभाग्य प्राप्त है। स्नेह और सद्भावना का यह पारस्परिक आदान-प्रदान धन्यवाद या कृतज्ञता की अपेक्षा नहीं रखता।

इस पुस्तक का अक्षर-संयोजन (कम्पोजिंग) प्रेस के पं० छेदालाल शर्मा ने किया है—पूर्ण लगन और परिश्रम के साथ; प्रेस के मैनेजर श्री पूरनसिंह वर्मा और पं० नानकराम शर्मा ने इसे सुन्दर रूप में छापा है; और प्रूफ-रीडर पं० बाबूराम शर्मा ने प्रूफ का संशोधन कर इसे इस रूप में प्रकाशित होने में सहायता प्रदान की है, अतः ये सब सज्जन मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। इन सबके साथ मेरे पारिवारिक से सम्बन्ध रहे हैं।

पुत्री रश्मि और पुत्र राजशेखर इस पुस्तक को लिखते समय बराबर जिज्ञासु बने रहे हैं कि बाबूजी, क्या लिख रहे हो? इस पुस्तक को देखकर उन्हें अत्यन्त निर्मल, गर्वमिश्रित हर्ष होगा कि यह हमारे बाबूजी ने लिखी है। उनका यह हर्ष मेरे एकाकी जीवन का काम्य है। वे जीवन भर इसी प्रकार हर्षित बने रहें।

चैत्र शुक्ला नवमी
रामनवमी सं० २०२५

—राजनाथ शर्मा

विषय-सूची

11-25

7-50
3-50
10-50
7-50
17-50

हिन्दी-साहित्य का इतिहास

विषय-प्रवेश

मानव-सभ्यता और उसके चिन्तन-मनन के क्रमिक विकास को जानने का प्रधान साधन मानव-जाति के विभिन्न खंडों द्वारा रचित साहित्य ही माना जाता है। साहित्य में ही मानव के चिन्तन और उसके विकास का रूप प्रतिबिम्बित रहता है। इसलिए मानव-जाति के ऐतिहासिक विकास को जानने और समझने के लिए इतिहासकार विभिन्न देशों में रचित साहित्य का ही आधार ग्रहण करते आए हैं। साहित्य में इतिहास अपने भावात्मक रूप में उपलब्ध होता है और इतिहासकार इतिहास के इसी भावात्मक रूप के आधार पर, अन्य साधनों की सहायता ले, इतिहास की रचना करते हैं। साहित्यिक परम्पराओं और प्रवृत्तियों के रूप में मानव-चिन्तन की अखंड धारा विकसित होती रहती है। इसलिए किसी भी भाषा के साहित्य का अध्ययन करने और उसके प्रेरणा-स्रोतों को जानने के लिए उसकी पूर्व-परम्पराओं और प्रवृत्तियों का ज्ञान आवश्यक और अनिवार्य होता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए भी हमें विकास की इसी प्रक्रिया को अपनाना पड़ेगा।

साहित्य के इतिहास सम्बन्धी कुछ समस्याएँ

किसी भी भाषा के साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते समय कई समस्यायें उठ खड़ी होती हैं; जैसे—यदि किसी साहित्य का सर्वप्रथम और सर्वमान्य ग्रन्थ उपलब्ध न हो, तो उस साहित्य का आरम्भ कब से माना जाय। ऐसा होता है कि कुछ साहित्यकारों और उनके द्वारा रचित किसी ग्रन्थ या ग्रन्थों का उल्लेख किसी प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थ में मिल जाता है और कुछ लोग उसी साहित्यकार अथवा उसके उसी ग्रन्थ या ग्रन्थों को उस साहित्य का आरम्भ घोषित कर देते हैं। इसके विपरीत, कुछ इतिहास-लेखक अपनी मान्यतानुसार किसी उपलब्ध साहित्यिक ग्रन्थ को ही उस साहित्य का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ मान, उस साहित्य का आरम्भ उसी से मानने लगते हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ इतिहास-लेखक कतिपय सर्वाधिक प्राचीन

उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर अनुमान द्वारा उस साहित्य का आरम्भ उन ग्रन्थों की रचना-शताब्दी से मानने लगते हैं। हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखते समय विभिन्न विद्वानों ने उपर्युक्त प्रक्रियाओं का ही आधार ग्रहण किया है। हमें इन प्रक्रियाओं में से उपलब्ध-सामग्री के आधार पर आरम्भ मानने वाली पद्धति को ही अपना आधार मानना चाहिए। क्योंकि जब तक कोई उल्लिखित प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध ही न हो, तो उसके बिना हम उस साहित्य के आदि स्वरूप का निर्धारण और विवेचन कैसे कर सकेंगे। इसलिए हमें उपलब्ध सामग्री को ही आधार बनाकर आगे बढ़ना पड़ेगा।

ग्रन्थों की प्रामाणिकता

दूसरी समस्या है—प्राचीन ग्रन्थों की प्रामाणिकता की। हम जिन ग्रन्थों के आधार पर किसी साहित्य के आरम्भ का निर्धारण कर बैठते हैं, कभी-कभी परवर्ती विद्वानों द्वारा नई खोजों के आधार पर वे ग्रन्थ अप्रामाणिक घोषित कर दिए जाते हैं और इस प्रकार वह मूल आधार ही समाप्त हो जाता है। होता यह है कि कुछ प्राचीन ग्रन्थ जिस रूप में हमें आजकल उपलब्ध होते हैं, वह उनका मूल रूप न होकर विस्तृत और परिवर्द्धित रूप ही होता है। उनमें भाषा और इतिहास-सम्बन्धी अनेक असंगतियाँ भरी मिलती हैं; जैसे—चन्द वरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' की स्थिति है। इसका कारण यह है कि परवर्ती साहित्यकार किसी कृति के सौन्दर्य पर मुग्ध हो, जब उसकी प्रतिलिपि तैयार करते थे तो उसमें अपने रचे हुए अनेक अंशों को जोड़ दिया करते थे। ऐसे अंश प्रक्षिप्त कहलाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि भाव-साम्य और रूप-साम्य के आधार पर दो भिन्न कवियों की रचनाओं को एक ही कवि की रचना समझ, उन्हें उसी एक कवि के नाम से संग्रहीत कर दिया गया है। रसलीन के एक दोहे को बहुत समय तक बिहारी का दोहा समझा जाता रहा था।

जो रचनाएँ लोक में अत्यधिक प्रचार पा जाने के कारण लोक-मुख में जीवित रहती हैं, उनकी भाषा का मूल रूप या शब्दावली क्या थी, इसका निर्धारण करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। यदि हम अमीर खुसरो द्वारा लिखी गईं मुकरियों आदि में उपलब्ध भाषा को उस युग की भाषा का ही प्रामाणिक रूप मान लें, तो हमें यह सिद्ध करने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि चौदहवीं सदी के मध्यकाल तक खड़ीबोली काफी उन्नति कर चुकी थी और साहित्य में उसका खुलकर प्रयोग होने लगा था। परन्तु विद्वानों ने खुसरो द्वारा प्रयुक्त खड़ीबोली को उसका मूल और प्रामाणिक रूप न स्वीकार कर, उसका लोक-मुख द्वारा परिवर्तित रूप ही माना है। यही बात जगनिक कृत 'आल्हखंड' के सम्बन्ध में कही जाती है। 'पृथ्वीराज रासो' में भी हमें भाषा के विभिन्न रूप मिलते हैं, जिनमें एक रूप अपभ्रंश-प्रधान प्राचीन काव्य-भाषा का है और एक रूप ऐसी ब्रजभाषा का है, जिसका प्रयोग सत्रहवीं सदी में ही दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में यह निर्धारण करना दुस्साध्य हो जाता है कि इन ग्रन्थों को

प्रामाणिक माना जाय अथवा अप्रामाणिक। यह भी साहित्य के इतिहास-लेखन में बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न कर देता है। कबीर द्वारा प्रयुक्त भाषा के दो रूप मिलते हैं :— एक रूप राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है, जिस पर पंजाबी का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। दूसरा रूप पूर्वी हिन्दी मिश्रित है। क्या कबीर का इन दोनों ही क्षेत्रों की भाषा पर अधिकार था, या विभिन्न क्षेत्रों में फैले हुए कबीर के परवर्ती शिष्यों की कृपा का ही यह परिणाम रहा है? सम्भव है उनके शिष्यों और सम्प्रदाय वालों ने जिस-जिस प्रदेश में उनके काव्य का संकलन किया हो, वह काव्य उस-उस प्रदेश की भाषा के रंग में रँग गया हो। इसलिए साहित्य का इतिहास लिखते समय इस सम्बन्ध में बहुत सावधान रहना पड़ेगा।

भाषा-विकास की समस्या

तीसरी समस्या है—भाषा के विकास की। साहित्य के इतिहास में किसी भी भाषा का अस्तित्व तभी स्वीकार किया जाता है, जब उसमें साहित्य की रचना होने लगती है। पहले भाषा का रूप बोल-चाल का रहता है। वह लोक-मुख में ही विकास पाती रहती है और किसी क्षेत्र या अनेक क्षेत्रों के लोक-व्यवहार की भाषा बन जाती है। इस द्रुत या सीमित विकास के अनेक कारण होते हैं। भाषा के विकास के तीन कारण ही प्रधान माने गए हैं—राजनीति, व्यापार और धर्म या संस्कृति। कोई बोलचाल की भाषा इन्हीं का सहारा पाकर विस्तृत और उन्नत होती रहती है। कुछ समय तक साहित्य में काव्य-भाषा का ही आधिपत्य रहता है। यह काव्य-भाषा रूढ़ होती है। इसके स्वरूप में परिवर्तन बहुत धीमी गति से होता है। जब लोकभाषा काफी विस्तृत और उन्नत हो जाती है, तो साहित्यकार धीरे-धीरे उसके प्रति आकर्षित होते हैं, क्योंकि अपने दैनिक व्यवहार में वह भी उसी भाषा का प्रयोग करते हैं। तब बहुत धीमी गति से यह लोकभाषा साहित्य में प्रवेश पाने लगती है। पहले काव्य-भाषा में उसके अनेक प्रचलित शब्दों का व्यवहार होने लगता है, फिर उसकी लोकोक्तियाँ और मुहावरे प्रयुक्त होने लगते हैं। इस प्रकार यह लोक-भाषा धीरे-धीरे साहित्य में अपना प्रभुत्व जमाती चली जाती है, और अन्त में एक समय ऐसा आ जाता है कि काव्य-भाषा का मूल ढाँचा लोक-भाषा का बन जाता है और काव्य-भाषा अपने कुछ शब्दों और रूढ़ियों के रूप में ही उसमें अपना अस्तित्व बनाये रख पाती है। भाषा-विकास की यही प्रक्रिया किसी लोक-भाषा को साहित्य की भाषा बना देती है।

विकास की भ्रान्त प्रक्रिया

हिन्दी भाषा (यहाँ हिन्दी भाषा से हमारा अभिप्राय उस भाषा से है जो राजस्थान से लेकर बिहार तक आंशिक रूप से भिन्न रूपों में साहित्य की और बोलचाल की भाषा रही है) के जन्म और विकास के सम्बन्ध में हमारे यहाँ कुछ ऐसी रूढ़ मान्यताएँ बन चुकी हैं, जिनके कारण भाषा-विकास की प्रक्रिया के सम्बन्ध में

अनेक ऐसी भ्रान्तियों की सृष्टि हो गई है जिनसे मुक्ति पाना हमारे अनेक विद्वानों के लिए असम्भव सा बन गया है। हमारे यहाँ भाषा-विकास की सामान्य प्रक्रिया इस प्रकार मानी गई है :

वैदिक भाषा-संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-आधुनिक भाषाएँ; अर्थात् आरम्भ में वैदिक भाषा बोलचाल की भाषा थी, जिसमें वेदों की रचना हुई थी। कालान्तर में उसका संस्कार कर उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया गया और वह 'संस्कृत' कहलाने लगी। उसके समानान्तर चलने वाली लोक-भाषा को विद्वानों ने 'प्राकृत' कहा है। आगे चलकर जब प्राकृत में भी साहित्य रचा जाने लगा, तो वह भी काव्य की रूढ़ भाषा बन गई और फिर कई शताब्दियों उपरान्त उसी से अपभ्रंश का जन्म हुआ, जिसे एक तरफ तो बोलचाल की भाषा कहा गया; और दूसरी ओर उसे प्राकृत भाषा का भ्रष्ट रूप मानकर 'अपभ्रंश' या 'अपभ्रष्ट' भाषा की संज्ञा प्रदान की गई। कालान्तर में जब अपभ्रंश भी काव्य की रूढ़ भाषा बन गई, तो उससे हिन्दी का जन्म और विकास हुआ; अर्थात् हिन्दी भाषा को अपभ्रंश से उत्पन्न और विकसित भाषा माना गया है। इसी परम्परा की कड़ी के सहारे, इसी कारण, बहुत समय तक हिन्दी को संस्कृत की बेटी माना जाता रहा था।

भाषा-विकास की उपर्युक्त प्रक्रिया को देखकर यह समस्या और शंका उठ खड़ी होती है कि—क्या किसी साहित्यिक भाषा से किसी बोलचाल की भाषा की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है ? क्योंकि भाषा-वैज्ञानिकों एवं हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहास-लेखकों और विद्वानों ने हिन्दी के प्रारम्भिक रूप को एक तरफ तो बोल-चाल की भाषा का रूप माना है; और दूसरी तरफ उसका जन्म और विकास साहित्यिक भाषा अपभ्रंश से माना है। मान्यताओं में पाया जाने वाला यह विरोधाभास चौंकाने वाला है। भाषा-विकास की स्वाभाविक और वैज्ञानिक प्रक्रिया यही रही है कि बोलचाल की भाषा ही आगे चलकर साहित्य की भाषा बन जाती है। इसलिए किसी भी साहित्यिक भाषा से किसी बोलचाल की भाषा का जन्म और विकास घोषित करना, गंगा को उलट कर हिमालय पर चढ़ाने जैसा ही घोर अवैज्ञानिक और अस्वाभाविक प्रयास माना जायेगा। हिन्दी भाषा अपनी प्रकृति, व्याकरण, स्वभाव आदि में अपभ्रंश भाषा से नितान्त भिन्न, बोलचाल की स्वाभाविक भाषा थी, जिसने काव्य में धीरे-धीरे अपभ्रंश को अपदस्थ कर उसी प्रकार अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया था जैसे आधुनिक युग के प्रारम्भिक काल में साहित्य के क्षेत्र में नवोदित खड़ीबोली ने रूढ़ काव्य-भाषा ब्रजभाषा को अपदस्थ कर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया था। प्राचीन युग में साहित्य में प्रयुक्त काव्य-भाषाएँ प्राकृत और अपभ्रंश कभी भी बोलचाल की भाषाएँ नहीं रहीं थीं। वे धार्मिक मतभेदों के कारण संस्कृत की प्रतिद्वन्द्विता में गढ़ी गईं कृत्रिम साहित्यिक भाषाएँ थीं, जिनका शब्द-भंडार और व्याकरण मूलतः संस्कृत के शब्द-

भंडार और व्याकरण के ही अनुरूप था। इनमें और संस्कृत में एकमात्र उल्लेखनीय भेद ध्वनि-परिवर्तन का ही था। इनमें संस्कृत के शब्दों के रूप को विकृत मात्र किया गया था। हम इस सम्बन्ध में आगे चलकर, 'हिन्दी भाषा का विकास' दिखाते हुए विस्तार से विवेचन करेंगे।

काल-निर्धारण की समस्या

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन की चौथी समस्या—काल-निर्धारण की है। अर्थात सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य के इतिहास को विभिन्न कालों में कैसे विभक्त किया जाय। क्योंकि किसी भी इतिहास का अध्ययन, बिना उसे विभिन्न कालों में विभाजित किए, सर्वथा असम्भव है। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का विभाजन उसके विभिन्न युगों में पाई जाने वाली प्रमुख लोक-प्रवृत्तियों के आधार पर ही किया है। और इस इतिहास के विभिन्न कालों के नाम भी इन्हीं प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर ही रखे हैं। हिन्दी-साहित्य के अनेक परवर्ती इतिहासकारों ने शुक्ल जी के इस विभाजन को पूर्ण, वैज्ञानिक और संगत नहीं माना है। और इसके लिए अनेक कारण और प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। आचार्य शुक्ल के समय तक हिन्दी-साहित्य की जितनी सामग्री प्रकाश में आ गई थी, उन्होंने उसी के आधार पर काल-विभाजन किया था। परन्तु उनके बाद हिन्दी में शोध-कार्य की प्रगति काफी तीव्र और व्यापक रही है।

इधर अनेक ऐसे ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं जिनके आधार पर शुक्ल जी की मान्यताओं और उनके द्वारा निर्धारित सीमाओं में परिवर्तन करना अपेक्षित और अनिवार्य हो उठा है। और आजकल इसी प्राप्त नवीन सामग्री के आधार पर हिन्दी-साहित्य के इतिहास लिखे जा रहे हैं। लेकिन उनके परवर्ती इतिहासकारों ने हिन्दी-साहित्य का मूल ढाँचा वही स्वीकार किया है, जिसे शुक्ल जी निर्धारित कर गए थे। इधर कुछ नए इतिहास-लेखकों ने मौलिकता दिखाने के जोश में, अपनी समझ में, युगान्तरकारी स्थापनाएँ स्थापित करने के प्रयत्न किए हैं, जो अटपटे प्रयास मात्र बनकर ही रह गए हैं। वे उन भ्रान्तियों का तो निराकरण करने में असमर्थ रहे ही हैं, जिन्हें शुक्ल जी की भ्रान्तियाँ माना जाता है, इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक नई भ्रान्तियों को जन्म देकर इस इतिहास-लेखन की समस्या को और अधिक उलझा दिया है।

काल-विभाजन के मूलाधार की समस्या

किसी भी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन करते समय कई समस्यायें उठ खड़ी होती हैं; जैसे—काल-विभाजन का मूल आधार किसे माना जाय—कथ्य या शैली को ? कथ्य और शैली—दोनों मिलकर ही साहित्य का रूप धारण करते हैं। परन्तु फिर भी कथ्य ही मूल रहता है। यह मानते हुए भी शैली की उपेक्षा नहीं की जा सकती। तुलसी और सूर में मूल कथ्य एक ही—भक्ति—रहते हुए भी शैली की

भिन्नता है। परन्तु इन दोनों के काव्य का विभाजन करते समय शैली को महत्त्व न देकर कथ्य के अन्तर को ही महत्त्व दिया गया है। और होना भी यही चाहिए। शुक्ल जी ने विभाजन के इसी रहस्य को पहचान कर केवल कथ्य के आधार पर ही काल-विभाजन किया है। परन्तु इसके साथ ही एक दूसरी समस्या यह उठ खड़ी होती है कि यदि एक ही काल में कथ्य के रूपों में भिन्नता दिखाई पड़े, तो उस काल का नामकरण किस आधार पर किया जाय ? शुक्ल जी ने इसके लिए यह पद्धति अपनायी है कि उन्होंने सम्बन्धित काल-विशेष में पाई जाने वाली प्रधान प्रवृत्ति, अर्थात् कथ्य के आधार पर ही उस काल का नामकरण किया है, और शेष प्रवृत्तियों को 'फुटकल' शीर्षक देकर उनका भी विवेचन कर दिया है। परन्तु इस प्रक्रिया में एक कमी रह गई है। हमारा सारा ध्यान उस मूल प्रवृत्ति पर ही अटक कर रह जाता है और हम उन फुटकाल विषयों और उनके रचयिताओं की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते। इसके लिए हमें यह पद्धति अपनानी पड़ेगी कि सम्बन्धित काल का नामकरण उस मूल प्रवृत्ति के आधार पर कर, उससे भिन्न प्रवृत्ति या प्रवृत्तियों के लिए उस काल के उप-विभाग करने पड़ेंगे। ऐसा करने से सम्बन्धित पूरा काल स्पष्ट हो जायेगा।

परन्तु उस काल के सम्बन्ध में क्या किया जाय जिसमें हमें कोई एक प्रवृत्ति ही प्रधान न मिलकर, दो या तीन अथवा कई प्रवृत्तियाँ साथ-साथ उभरती दिखाई पड़ती हैं और उनसे सम्बन्धित रचनाएँ भी पर्याप्त परिमाण में मिलती हैं। हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक-काल के सम्बन्ध में हमें इसी समस्या का सामना करना पड़ता है। आचार्य शुक्ल ने इस काल के साहित्य में वीर-भाव की प्रधानता देखकर इसे 'वीरगाथा' कहा था, परन्तु नवीन अनुसन्धानों के अनुसार वे ग्रन्थ जाली अथवा बाद की रचना घोषित कर दिए गए हैं, जिनके आधार पर शुक्श जी ने इस युग का नामकरण किया था। इसके अतिरिक्त इस काल में रचित जैन, बौद्ध और सिद्धों के अनेक ऐसे ग्रन्थ मिले हैं जिनमें वीर-भावना नहीं है। शुक्ल जी ने ऐसे ग्रन्थों को धार्मिक साहित्य मानकर उन्हें साहित्य में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। परन्तु कुछ परवर्ती आलोचकों का कहना है कि इनमें साहित्यिक सौन्दर्य भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है, इसलिए इनकी गणना साहित्य के अन्तर्गत होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में उन्होंने इस काल को 'वीरगाथा काल' न मानकर 'आदि-युग' कहना ही अधिक संगत समझा है।

भक्तिकाल के सम्बन्ध में लगभग सभी प्रमुख विद्वान् शुक्ल जी से सहमत हैं। परन्तु रीतिकाल को 'शृंगार काल' कहना अधिक उचित समझते हैं। साथ ही इस काल के सम्बन्ध में 'रीतिबद्ध साहित्य' और 'रीतिमुक्त साहित्य' का भी झगड़ा उठ खड़ा हुआ है। इसी प्रकार आधुनिक काल के विभिन्न उपकालों के नामकरण के सम्बन्ध में भी विद्वानों में परस्पर मतभेद है। शुक्ल जी एवं आचार्य हजारी प्रसाद

द्विवेदी आदि विद्वान् व्यक्ति-विशेषों के नाम पर 'भारतेन्दु-युग', 'द्विवेदी-युग' जैसे उप-विभाजन को स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में हमें काल-विभाजन के मूलाधार कथ्य का ही आधार ग्रहण करना पड़ेगा। परन्तु मुसीबत यह है कि हमारे साहित्य के विद्यार्थी आरम्भ से ही काल-विभाजन के ऐसे नामों से परिचित होते आए हैं, इसलिए नए नामकरण के साथ-साथ उन नामों का भी उल्लेख करना अनिवार्य हो जाता है।

धार्मिक ग्रन्थों की समस्या

हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक-युग से सम्बन्धित यह समस्या भी काफी विवादास्पद रही है कि जैनों, सिद्धों, बौद्धों, नाथों आदि की उन रचनाओं को साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार करना चाहिए अथवा नहीं, जिनमें धार्मिक-साम्प्रदायिक बातों का विवेचन हुआ हो। यह समस्या अत्यन्त जटिल है। साहित्य उसी को माना जा सकता है जिसमें भावात्मक चित्रण का प्राधान्य हो। केवल दार्शनिक विवेचन को साहित्य नहीं माना जा सकता। इसलिए ऐसे ग्रन्थों को साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार करना ही पड़ेगा, जिनमें किसी कथा या रूपक के माध्यम से कवि ने अपनी बात कही हो। क्योंकि कथा या रूपक का माध्यम स्वीकार करते ही कृति में भावात्मकता का समावेश स्वतः ही हो जाता है। कवि अपनी बात अधिक से अधिक रोचक ढंग से प्रस्तुत करना चाहता है जिससे जनता उसके प्रति आकर्षित हो सके। और रोचकता उत्पन्न करने का यह प्रयत्न ही उसमें साहित्यिक गुण और विशेषताएँ उत्पन्न कर देता है। इसलिए ऐसे ग्रन्थों को साहित्य की परिधि में स्वीकार नहीं किया जा सकता, जिनमें नीरस उपदेश दिया गया हो या धर्म या सम्प्रदाय विशेष की मान्यताओं का रूखी भाषा में दार्शनिक विवेचन किया गया हो। शुक्ल जी ने इसी कारण नीति आदि से सम्बन्धित रचनाओं को साहित्य में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था।

अपभ्रंश के ग्रंथों की समस्या

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे समर्थ, सुलझे हुए विद्वानों नें हिन्दी-साहित्य का आरम्भ ग्यारहवीं सदी से माना है, क्योंकि उनके अनुसार इस सदी में हिन्दी साहित्यासन पर प्रतिष्ठित होती दिखाई पड़ती है। और उन्होंने अपभ्रंश-साहित्य का संक्षिप्त उल्लेख 'हिन्दी-साहित्य की पूर्व-पीठिका' के रूप में ही किया है, उसे हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत नहीं माना है। परन्तु राहुल सांकृत्यायन, डा० रामकुमार वर्मा प्रभृत्ति विद्वान् हिन्दी-साहित्य का आरम्भ सातवीं सदी से मान, इस काल में रचित अपभ्रंश की रचनाओं को भी हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत समेट लेते हैं। उन्होंने इसका आधार यह माना है कि इस युग में जो ग्रन्थ रचे गये थे, उनकी भाषा 'पुरानी हिन्दी' थी; अर्थात् वे अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' घोषित कर हिन्दी-साहित्य के इतिहास को चार सदी पीछे खींच ले जाते हैं। परन्तु अब विद्वान् हिन्दी भाषा के ऐसे किसी रूप को स्वीकार नहीं करते, जिसे 'पुरानी हिन्दी' कहा

जाता है। इस भाषा को वे परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही रूप मानते हैं। ऐसी स्थिति में सहज ही यह समस्या उठ खड़ी होती है कि इस अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य का अंग स्वीकार करना चाहिये अथवा नहीं। हम पीछे कह आये—कि हिन्दी-भाषा का विकास अपभ्रंश से नहीं हुआ था। वह स्वतन्त्र बोलचाल की भाषा थी। हिन्दी अपभ्रंश की इसी अर्थ में ऋणी है कि उसने साहित्यिक परम्परा के रूप में अपभ्रंश के दाय को मुक्त हृदय से स्वीकार किया। अपभ्रंश वस्तुतः संस्कृत-प्राकृत की परम्परा की भाषा है, न कि हिन्दी आदि देश-भाषाओं की परम्परा की। इसलिए अपभ्रंश में रचित साहित्य को हिन्दी-साहित्य का अंग नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि प्राकृत में रचित 'गाहा सत्तसई' को या 'बड्डकहा' को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता। परन्तु हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखते समय उसके पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य का विवेचन करना इसलिये आवश्यक और अनिवार्य बन जाता है, क्योंकि हिन्दी-साहित्य ने साहित्यिक-परम्परा के रूप में अपभ्रंश में प्रचलित साहित्यिक-परम्पराओं को ही अपना कर उनका विकास किया है। ऐसी स्थिति में हमें हिन्दी-साहित्य की पूर्व-पीठिका के रूप में अपभ्रंश-साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए कथ्य, शैली आदि के रूप में हिन्दी-साहित्य पर उसके प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए उसकी साहित्यिक परम्पराओं का विवेचन अनिवार्य रूप से करना ही होगा।

हिन्दी-साहित्य का विकास अपभ्रंश-साहित्य से माना जा सकता है। परन्तु हिन्दी भाषा का विकास अपभ्रंश-भाषा से नहीं माना जा सकता। हिन्दी-साहित्य के अनेक विद्वान् ऐसे ग्रन्थों को हिन्दी की रचनाएँ मानते आये हैं, जो अपभ्रंश की रचनाएँ हैं। 'पृथ्वीराज रासो', 'बीसलदेव रासो' आदि ग्रन्थों की भाषा के सम्बन्ध में अभी तक यह विवाद चल रहा है कि उनकी प्राचीनतम प्रतियों के आधार पर उपलब्ध भाषा को हिन्दी भाषा माना जाय अथवा अपभ्रंश। कुछ विद्वान् उसे हिन्दी मानते हैं, कुछ अपभ्रंश। इसका कारण यह है कि ये रचनाएँ उस संक्रान्ति-काल की रचनाएँ हैं जब साहित्य में हिन्दी अपना सिर उठा रही थी और अपभ्रंश धीरे-धीरे उसके लिये स्थान खाली करती जा रही थी। इसीलिए हमें इन रचनाओं में ऐसी भाषा के दर्शन होते हैं जिसका मूल ढाँचा तो अपभ्रंश का है, परन्तु उसमें रंग नवोदित हिन्दी भाषा के ही भरे जा रहे हैं। इसलिये इन रचनाओं को भाषा-विकास के संक्रान्ति-काल के भाषा-रूप की रचनाएँ स्वीकार कर, हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार करना पड़ेगा।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास विषयक उपर्युक्त समस्याओं को ध्यान में रखते हुए ही हमें आगे बढ़ना है। सबसे पहली समस्या यह है कि हिन्दी भाषा का आरम्भ कब से मानना चाहिये; अर्थात् हिन्दी कब से साहित्य की भाषा बनी। इस समस्या को बिना सुलझाये आगे बढ़ना असम्भव होगा। इसलिए हम सबसे पहले यह देखने का

प्रयत्न करेंगे कि हिन्दी भाषा का उपलब्ध प्रारम्भिक रूप कैसा था, उसने कब से साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करना प्रारम्भ किया था, और कब वह पूर्ण रूप से साहित्य की भाषा बन गई थी ? इसके लिये हमें भाषा-विकास की वैज्ञानिक प्रक्रिया का अनुगमन करना होगा। यह देखना होगा कि उसकी पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषा अपभ्रंश को साहित्यासन से क्यों अपदस्थ होना पड़ा और हिन्दी उसका स्थान ग्रहण करने में क्योंकर समर्थ हुई। इसलिए हम आगामी अध्याय में 'हिन्दी-भाषा के विकास' को देखने का प्रयत्न करेंगे। क्योंकि ऐसा किए बिना हम यह निश्चित नहीं कर सकेंगे कि हिन्दी-साहित्य का आरम्भ कब से माना जाय।

हिन्दी-भाषा का विकास

'हिन्दी' शब्द से अभिप्राय

'हिन्दी' शब्द का प्रयोग उत्तर भारत की एक अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली भाषा के लिए होता है। यह विस्तृत क्षेत्र राजस्थान और पंजाब राज्यों की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार राज्य के पूर्वी सीमान्त तक तथा उत्तर प्रदेश के उत्तरी सीमान्त से लेकर मध्य-प्रदेश राज्य के मध्य-भाग तक बोली जाने वाली विभिन्न उप-भाषाओं और बोलियों के क्षेत्र तक फैला हुआ है। इस सम्पूर्ण प्रदेश की जन-संख्या लगभग अठारह-बीस करोड़ के लगभग है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आजकल 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग इस विस्तृत भू-भाग में प्रयुक्त होने वाली उस साहित्यिक भाषा के लिए ही होता हैं जिसे भाषा-शास्त्रीय भाषा में 'खड़ीबोली' कहते हैं। 'हिन्दी' शब्द का यह व्यापक अर्थ आधुनिक-युग में आकर ही स्वीकृत हुआ है। इसलिए आजकल खड़ीबोली के साहित्यिक, सांस्कृतिक और जन-सम्पर्क वाले रूप को 'हिन्दी' कहा जाने लगा है। इस शब्द के इस आधुनिक अर्थ को लेकर हिन्दी के एक विद्वान् ने एक नवीन भ्रान्ति की सृष्टि कर डाली है। उन्होंने खड़ीबोली के साहित्य को ही हिन्दी का साहित्य मानकर 'हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष' नामक एक इतिहास लिख डाला, जिसमें यह सिद्ध किया गया कि खड़ीबोली के साहित्यिक रूप में लिखित साहित्य को ही हिन्दी का साहित्य माना जा सकता है; अवधी, ब्रज, मैथिली आदि के साहित्य को नहीं। और हिन्दी-साहित्य का उद्‌भव अस्सी वर्ष पहले ही हुआ था, क्योंकि उसी समय से खड़ीबोली साहित्यिक भाषा बनी थी।

इस भ्रान्ति का परिणाम यह निकला कि अनेक अहिन्दी-भाषी परन्तु हिन्दी के अध्येताओं ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि हिन्दी-साहित्य में है ही क्या? हमसे स्वयं कई अहिन्दी-भाषी विद्यार्थियों ने यही बात कही और हम बड़ी मुश्किल से उन्हें यह समझाने में सफल हो सके कि ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि हिन्दी की विभाषाओं में लिखा हुआ सम्पूर्ण साहित्य—हिन्दी का ही साहित्य है, क्योंकि शब्द-

भंडार, भाषा-प्रकृति, काव्य-परम्परा, व्याकरण, कथ्य और शैली आदि की अद्भुत समानता के कारण ये स्वतन्त्र भाषाएँ न होकर हिन्दी की ही विभाषाएँ हैं। अतः जब हम 'हिन्दी-साहित्य' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमारा अभिप्राय खड़ीबोली हिन्दी के साथ उपर्युक्त समस्त विभाषाओं में रचित साहित्य से भी होता है।

'हिन्दी' शब्द का प्राचीन व्यापक अर्थ

इतिहास में एक युग तो ऐसा था, जब विदेशी भारत की सम्पूर्ण भाषाओं को—चाहे वे साहित्यिक संस्कृत, प्राकृत आदि रही हों अथवा स्थानीय बोलियाँ—'जवाने हिन्दी' ही कहते थे। उस समय 'हिन्दी' शब्द से अभिप्राय हिन्दुस्तान की भाषा से ही होता था। छठी सदी में फारस के बादशाह नौशेरवाँ के एक दरबारी कवि ने 'पंचतंत्र' का अनुवाद करते हुए संस्कृत के लिए 'जवाने हिन्दी' शब्द का प्रयोग किया था। कालान्तर में खड़ीबोली के प्रसिद्ध आदि कवि अमीर खुसरो ने भी समस्त भारतीय भाषाओं के लिए 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग किया था। एक स्थल पर उन्होंने लिखा था—"मैं भूल में था। अच्छी तरह सोचने पर हिन्दी (हिन्दवी) भाषा फारसी से कम ज्ञात नहीं हुई। सिवाय अरबी के, जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिन्दी से कम मालूम हुईं। अरबी अपने में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती....हिन्दी भाषा भी अरबी के समान है, क्योंकि उसमें मिलावट के लिए स्थान नहीं....।" यहाँ खुसरो का अभिप्राय सम्भवतः संस्कृत भाषा से ही रहा है, क्योंकि उस समय तक हिन्दी साहित्यिक रूप में इतनी विकसित नहीं हो पाई थी। इसके उपरान्त बाबर ने 'हिन्दुस्तानी' तथा जायसी ने 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग सम्भवतः उत्तर-भारत की किसी एक विशिष्ट भाषा या भाषाओं के लिए किया है। एक प्राचीन उल्लेख यह भी मिलता है कि गज़नी के सुल्तान महमूद गजनवी के दरबार में हिन्दी के दो-सौ कवि रहते थे। यहाँ भी 'हिन्दी के कवि' शब्द से भारतीय साहित्यिक भाषाओं का ही अर्थ ग्रहण किया जा सकता है।

आधुनिक युग के प्रारम्भ में इंशा अल्ला खाँ ने खड़ीबोली के साहित्यिक रूप के लिए 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग किया था। 'दखिनी' के अनेक पुराने कवियों द्वारा भी इस भाषा के लिए 'हिन्दवी' शब्द का ही प्रयोग किया गया था। यहाँ 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग सम्भवतः खड़ीबोली के नए उभरते साहित्यिक रूप के लिए ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, उस व्यापक अर्थ में नहीं जो प्राचीन काल में प्रचलित था। इस प्रकार हमने देखा कि 'हिन्दी', 'हिन्दवी', 'हिन्दुस्तानी' आदि शब्द विभिन्न युगों में विस्तृत और संकुचित अर्थों को ध्वनित करते आए हैं। प्राचीन-काल में यह सम्पूर्ण उत्तर भारत की भाषाओं को अपनी परिधि में समेट लेता था और आधुनिक युग के आरम्भ में केवल खड़ीबोली तक के लिए ही सीमित रह गया। यहाँ यह तथ्य द्रष्टव्य है कि हिन्दी के प्राचीन ब्रज, अवधी, मैथिली आदि

के कवियों ने इन भाषाओं के लिए 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग न कर, केवल 'भाषा' या 'देशी भाषा' ही कहा है। विद्यापति और तुलसी ने अपनी-अपनी काव्य-भाषाओं के लिए इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है। यह प्रवृत्ति हमें आधुनिक युग के प्रारम्भिक चरण में भी मिलती है। भारतेन्दु के समय तक और उसके कुछ समय बाद तक भी भाषा-व्यवहार के क्षेत्र में ब्रजभाषा और खड़ीबोली की प्रतिद्वन्द्विता चलती रही थी। बनारस वासी भारतेन्दु ने खड़ीबोली के लिए 'परदेशी भाषा' शब्द का प्रयोग किया था। हमारा अनुमान है कि कालान्तर में जब खड़ीबोली और ब्रजभाषा का यह झगड़ा समाप्त हो गया और खड़ीबोली गद्य-पद्य—दोनों की एकमात्र भाषा बन गई, तभी उसके लिए 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग होना प्रारम्भ हुआ होगा। और फिर विद्वानों ने भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि हिन्दी की समस्त विभाषाओं में रचित साहित्य के लिए 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया होगा। आज भी 'हिन्दी' शब्द से अभिप्राय खड़ीबोली हिन्दी से ही ग्रहण किया जाता है, परन्तु 'हिन्दी-साहित्य' शब्द उपर्युक्त सम्पूर्ण विभाषाओं या उप-भाषाओं में रचित समस्त साहित्य के लिए ही प्रयुक्त होता है।

व्यापक अर्थ

इस प्रकार आज 'हिन्दी-साहित्य' शब्द एक व्यापक अर्थ का अधिकारी बन गया है। आज 'हिन्दी भाषा' शब्द के दो अर्थ प्रचलित हैं :—(१) संकुचित अर्थ और (२) व्यापक अर्थ। **संकुचित अर्थ** के अनुसार खड़ीबोली हिन्दी को ही 'हिन्दी' कहा जाता है। **व्यापक अर्थ** के अनुसार राजस्थान से बिहार और हिमालय से मध्य प्रदेश तक की समस्त विभाषाओं या उपभाषाओं के लिए 'हिन्दी' शब्द का ही प्रयोग होता है, और यह विस्तृत प्रदेश 'हिन्दी-भाषी प्रदेश' कहा जाता है। यहाँ 'हिन्दी' शब्द से हमारा अभिप्राय इस विस्तृत भू-भाग में रचित समस्त साहित्य से ही रहेगा। इसका कारण है—आज भारत की मध्यकालीन काव्य-भाषाएँ साहित्य की भाषाएँ नहीं रही हैं। ब्रज, अवधी, मैथिली आदि में यदा-कदा ही कोई रचना होती है। यह समस्त भू-भाग आज साहित्य-रचना के लिए खड़ीबोली हिन्दी के साहित्यिक रूप का ही प्रयोग कर रहा है। आज यह हिन्दी इस विस्तृत क्षेत्र की एकमात्र साहित्यिक भाषा बन गई है। इसलिए हमारी दृष्टि में अब हिन्दी की इन मध्यकालीन काव्य-भाषाओं का कोई उज्ज्वल भविष्य नहीं रह गया है। इधर कुछ क्षेत्रों से यह माँग उठाई जा रही है कि इन मध्यकालीन काव्य-भाषाओं का उद्धार कर इनमें पुनः साहित्य रचा जाना चाहिए। यह क्षेत्रीय-मोह ही कहा जायेगा। एक व्यापक साहित्यिक भाषा की प्रतिद्वन्द्विता में यह प्रयत्न सफल हो सकेगा, इसमें हमें सन्देह है। इधर एक दूसरी प्रवृत्ति और उभरी है। कुछ लोग स्थानीय बोलियों में साहित्य-रचना करने की माँग उठा रहे हैं। परिणामस्वरूप छत्तीसगढ़ी बोली में लिखित

दो लघु-उपन्यास देखने को मिले। परन्तु उनका प्रचार न हो सका। भाषा या बोली-सम्बन्धी यही नवीन प्रवृत्ति सिने-क्षेत्र में भी उभरी थी। फलस्वरूप भोजपुरी आदि बोलियों में कुछ फिल्मों का निर्माण किया गया था। परन्तु यह उत्साह एक-दो वर्ष में ही ठंडा पड़ गया। यही दशा इन क्षेत्रीय बोलियों सम्बन्धी उत्साह की भी होगी। आज साहित्य का व्यावसायिक मूल्य बढ़ गया है। प्रत्येक लेखक की यही कामना रहती है कि उसके रचित साहित्य का व्यापक प्रचार और बिक्री हो, जिससे उसे अधिक प्रसिद्धि और धन की उपलब्धि हो सके। प्रसिद्धि और धन का यह मोह प्रतिभाशाली साहित्यकारों को क्षेत्रीय बोलियों के प्रति आकर्षित नहीं कर सकेगा। फिर उन बोलियों या उपभाषाओं की उन्नति कैसे हो सकेगी? यह प्रश्न विचारणीय है। अस्तु,

आज हिन्दी एक अत्यन्त व्यापक साहित्यिक भाषा बन चुकी है, जिसका मूलाधार—खड़ीबोली है। आज जितने भी अहिन्दी-भाषी हिन्दी-लेखक हैं, सब इसी भाषा में साहित्य की रचना कर रहे हैं। आज 'हिन्दी-साहित्य' शब्द विस्तृत हिन्दी-भाषी भू-प्रदेश में प्रचलित मध्यकालीन काव्य-भाषाओं तथा आधुनिक हिन्दी—सब में रचित साहित्य को अपनी परिधि में समेट कर एक विस्तृत रूढ़ एवं विकसित—दोनों प्रकार के विविध मुखी साहित्य का अधिकारी बन गया है।

हिन्दी-साहित्य की एकरूपता

इस सम्पूर्ण साहित्य को—चन्द वरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' से लेकर आधुनिक नवीनतम रचनाओं तक—हम हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत क्यों मानते हैं, जब कि राजस्थानी और मैथिली में तथा ब्रज और अवधी में तथा अवधी और खड़ीबोली हिन्दी में काफी विभेदता मिलती है? यह प्रश्न एक संगत, वैज्ञानिक उत्तर की अपेक्षा रखता है। सम्भवतः हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचक शिवदानसिंह चौहान ने भाषा-विषयक इसी विभेदता के कारण इन विभिन्न उपभाषाओं के साहित्य को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था और हिन्दी साहित्य का इतिहास केवल अस्सी वर्ष का माना था जो कि खड़ीबोली हिन्दी में रचित साहित्य है। परन्तु अपनी मौलिकता की झोंक में चौहान साहब उस एकसूत्रता के रहस्य को नहीं समझ या पकड़ पाये थे, जो इन समस्त मध्यकालीन काव्य-भाषाओं को एक ही समृद्ध साहित्यिक परम्परा की परस्पर प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध कड़ियाँ बना देती है। इस एक-सूत्रता की कड़ी के तीन प्रधान तत्त्व रहे हैं—सामान्य लिपि देवनागरी, भौगोलिक एकता तथा सांस्कृतिक समानता। ये सम्पूर्ण काव्य-भाषाएँ प्राचीन काल से प्रायः एक ही सामान्य लिपि देवनागरी में लिखी जाती रही हैं। लिपि की इस समानता को उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त ये सभी भाषाएँ भारत के उस केन्द्रीय भू-भाग में प्रचलित रही हैं, जिसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'मध्यदेश' की संज्ञा प्रदान की है। एक ही केन्द्रीय भू-भाग की भाषाएँ होने के कारण शब्द-भंडार, काव्य-परम्पराओं आदि की दृष्टि से इनमें अद्‌भुत समानता रही है। यदि भाषा-विभेद को

हम अधिक महत्व दें, तो हिन्दी-भाषी प्रदेश की अनेक बोलियों को हिन्दी से अलग कर देना पड़ेगा। भाषा-एकता के क्षेत्र में हमें विभिन्न भाषाओं की प्रकृति को समझना और देखना पड़ता है। यदि कई भाषाओं की मूल प्रकृति एक-सी रहती है, तो उन्हें एक ही व्यापक भाषा की विभिन्न शाखाएँ मानना पड़ेगा। हमें आधुनिक अर्थ में हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त समस्त भाषाओं में यही प्रकृतिगत एकता मिलती है, इसलिए इन्हें भिन्न भाषाएँ नहीं माना जा सकता।

सांस्कृतिक दृष्टि से इन समस्त तथाकथित भिन्न भाषाओं में हमें अद्‌भुत समानता मिलती है। इनकी मूल प्रेरणा एक ही संस्कृति रही है, जो इस मध्यदेश की प्रधान और व्यापक संस्कृति रही है और आज भी है। इसी कारण इनमें हमें एक आन्तरिक एकता की भावना मिलती है। दार्शनिक दृष्टि, परम्परागत मान्यताओं—चाहे वे जीवन-विषयक रही हों या काव्य-सम्बन्धी, धार्मिक विश्वासों और आन्दोलनों, प्रेरणा-स्रोतों आदि—सभी दृष्टियों से ये भाषाएँ एक व्यापक सांस्कृतिक विरासत का समान रूप से प्रतिनिधित्त्व करती हैं। इन भाषाओं की इसी व्यापक एकता के कारण ही विद्वानों ने इन्हें मूलतः एक ही भाषा माना है, और उस भाषा को 'हिन्दी' नाम दिया है। मराठी भाषा यद्यपि देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है, परन्तु अपनी प्रकृति में वह हिन्दी से भिन्न है, इसलिए उसे हिन्दी भाषा के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता। इसलिये प्रकृति की एकता अथवा भिन्नता ही विभिन्न भाषाओं की एकता और भिन्नता का मूल कारण होती है। पहले बंगाली लोग विद्यापति को बँगला भाषा का आदि कवि मानते थे, क्योंकि उनका अनुमान था कि विद्यापति की पदावली की भाषा बँगला भाषा का ही पूर्व रूप है। परन्तु आगे चलकर जब भाषाविदों ने पदावली की भाषा का प्रकृतिगत अध्ययन कर उसे पूर्वी हिन्दी का ही एक रूप घोषित कर दिया तो बँगला-भाषियों ने विद्यापति को बँगला भाषा का कवि मानने से इन्कार करना प्रारम्भ कर दिया। उपर्युक्त दोनों उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि किस आधार पर विभिन्न भाषाओं, उपभाषाओं को एक माना जाता है। अतः हिन्दी-साहित्य का इतिहास केवल अस्सी वर्ष का न होकर, नौ-सौ वर्ष का है।

हिन्दी-भाषा का उद्‌भव

भाषा-विकास की प्रक्रिया

जब हम यह कहते हैं कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास नौ-सौ वर्ष का है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी भाषा नौ-सौ वर्ष पूर्व अस्तित्व में थी। विद्वानों का यह कहना है कि हिन्दी भाषा नौ-सौ वर्ष पूर्व साधारण जन की बोलचाल की भाषा थी। जब नौ-सौ वर्ष पूर्व उसमें साहित्य रचा जाने लगा था, तो इस भाषा का अस्तित्व उससे पूर्व भी रहना चाहिए, क्योंकि कोई भी बोलचाल की भाषा एकाएक साहित्य की भाषा नहीं बन जाती। पहले उसका साधारण बोलचाल का रूप रहता है।

वह सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त होती रहती है। साहित्यिक भाषाओं तथा अन्य भाषा-भाषियों के सम्पर्क में आकर नये-नये शब्द अपनाती रहती है। शब्दों के मुक्त आदान-प्रदान में बोलचाल की भाषा कभी संकोच नहीं करती। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बोलचाल की वही भाषा आगे चलकर साहित्यिक भाषा बनती है जिसका क्षेत्र व्यापक तथा शब्द-भंडार विस्तृत हो। बोलचाल की भाषा साहित्यिक भाषा किस प्रकार बनती है, इसकी प्रक्रिया इस प्रकार मानी जा सकती है :

जब कोई काव्य-भाषा रूढ़ अर्थात् परिनिष्ठित रूप धारण कर लेती है, तो वह जन-सामान्य के उपयोग की नहीं रहती। जन-सामान्य अपना काम अपनी बोलचाल की भाषा में ही करते रहते हैं। वे अपनी भावात्मक अनुभूतियों का प्रकाशन अपनी उसी भाषा में लोकगीतों के रूप में करते हैं। बोलचाल की भाषा की एक प्रधान विशेषता यह होती है कि उसमें लोकोक्तियों और मुहावरों का खूब प्रयोग होता है। लोक-गीतों, लोकोक्तियों, मुहावरों तथा व्यापक क्षेत्र के कारण यह भाषा धीरे-धीरे आगे बढ़ती रहती है। इसमें एक ऐसा सहज और स्वाभाविक सौन्दर्य तथा संक्षेप में अपनी बात को कह देने की ऐसी अद्भुत क्षमता रहती है कि यह साहित्यकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। इसका परिणाम यह होता है कि साहित्यकार धीरे-धीरे उस भाषा के शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों आदि का प्रयोग अपने साहित्य में करना प्रारम्भ कर देते हैं। धीरे-धीरे इनके प्रयोग का अनुपात बढ़ता चला जाता है, और अन्त में एक समय ऐसा आ जाता है—जब वह साहित्य उसी लोक-भाषा में लिखा जाने लगता है। पुरानी रूढ़ भाषा कुछ शब्दों के रूप में ही उसमें यत्र-तत्र अपनी झलक दिखाती रह जाती है। जब वह लोकभाषा साहित्य की भाषा बन जाती है, तो फिर उसका संस्कार होना प्रारम्भ होता है। उसका व्याकरण बनता है, उसके काव्य-शास्त्र की रचना होती है। और वह विशुद्ध रूप से साहित्य की भाषा बन जाती है।

उसका यह नवीन साहित्यिक रूप उसके बोलचाल वाले पूर्व रूप से कई बातों में भिन्न हो जाता है। उसकी बोलचाल के रूप वाली स्वच्छन्दता छीन ली जाती है। वह बोलचाल की भाषा तो साहित्यिक भाषा बन जाती है, परन्तु उसके समानान्तर ही उसका बोलचाल वाला रूप भी यथावत् जन-सामान्य द्वारा व्यवहृत होता रहता है। इसलिए किसी भी बोलचाल की भाषा के साहित्यिक भाषा बन जाने के उपरांत उसका बोलचाल वाला रूप मर नहीं जाता। वह लोक-मुख में जीवित रहता हुआ विकसित होता रहता है।

हिन्दी भाषा के उद्भव और विकास में हमें यही प्रक्रिया सक्रिय दिखाई पड़ती है।

एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त

भाषा-विकास की उपर्युक्त प्रक्रिया से यह सिद्ध होता है कि बोलचाल की भाषा उन्नति करते-करते साहित्यिक भाषा बन जाती है। यह असम्भव है कि कोई

साहित्यिक भाषा विकास करते-करते बोलचाल की भाषा बन गई हो। परन्तु हमारे कुछ विद्वानों ने यह चमत्कार करके भी दिखा दिया है कि वे एक तरफ तो यह मानते हैं कि हिन्दी बोलचाल की भाषा थी और उसकी पूर्ववर्ती भाषा—अपभ्रंश साहित्यिक भाषा थी। यहाँ तक उनका कहना ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा संगत और यथार्थ है। परन्तु दूसरी ही साँस में वे जब यह कहते हैं कि हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास अपभ्रंश से हुआ था, तो सुनकर दंग रह जाना पड़ता है। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि—"प्रादेशिक अपभ्रंशों की राह से होती हुई प्राकृतें, परिवर्तित होकर, आधुनिक भारतीय भाषाएँ बन गई थीं।" अर्थात् अपभ्रंशों से हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाएँ बनीं। यह मत कितना हास्यास्पद और अवैज्ञानिक है, इसके कहने की जरूरत नहीं रह जाती। यह भाषा के स्वाभाविक विकास की बिल्कुल उल्टी प्रक्रिया है। परन्तु इसमें दोष डा० सुनीति कुमार जैसे भारतीय विद्वानों का नहीं है। दोष उस प्रेरणा-स्रोत और भ्रमान्धकार से पूर्ण उस ज्ञानालोक का है, जो डा० जार्ज ग्रियर्सन जैसे भारतीय भाषाओं के विदेशी विद्वानों द्वारा विकीर्ण किया गया था। जब ग्रियर्सन शेखचिल्लियों जैसे यह फतवे दे सकते थे कि उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन का मूल प्रेरणा-स्रोत ईसाई धर्म था, लल्लूजीलाल 'प्रेमसागर' की रचना कर एक सर्वथा नवीन भाषा गढ़ रहे थे, तो वह यह कहने में कैसे संकोच कर सकते थे कि बोलचाल की भाषा हिन्दी का जन्म और विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ था, जो एक साहित्यिक भाषा थी। हमारे अधिकांश भारतीय विद्वान् ग्रियर्सन जैसे विदेशी विद्वानों के फतवों को ही आर्ष-वाक्य मान उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाने के अभ्यस्त रहे हैं। इसीलिये उनकी लेखनी से ऐसे अवैज्ञानिक, अशास्त्रीय उद्गारों को जन्म मिला है। इसलिए हमें हिन्दी-भाषा का उद्गम और विकास खोजने में विशेष रूप से सतर्क रहना पड़ेगा।

हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषाओं की कहानी

हिन्दी के उद्भव और विकास की खोज करने के लिए हमें हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषा-श्रृंखला को देखना पड़ेगा। यह भाषा-श्रृंखला इस प्रकार है:

वैदिक भाषा-संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश।

आरम्भ में कोई एक बोलचाल की भाषा रही होगी। कालान्तर में उसके अपरिष्कृत रूप में वेदों की रचना हुई। यहीं से उसके साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश होता है। आगे चलकर पाणिनि जैसे व्याकरणाचार्यों ने उसका संस्कार किया, उसका ग्राम्य और अनगढ़ रूप खराद कर उसे सुसंस्कृत, आज की भाषा में, सभ्य बनाया। उसका गँवारपन दूर हो गया और वह एक सुसंस्कृत नागरिका बन गई। उसका नया नामकरण हुआ—"संस्कृत"। आधुनिक भारतीय भाषाएँ संस्कृत-परिवार की भाषाएँ मानी जाती हैं। इसी आधार पर हिन्दी को बहुत समय तक संस्कृत की बेटी कहा

जाता रहा था। परन्तु यह मान्यता गलत है कि किसी भी विशिष्ट भाषा-परिवार की भाषाओं की उत्पत्ति उसी भाषा-विशेष से होती है। जैसे लैटिन-परिवार की विभिन्न भाषाओं की उत्पत्ति किसी आदि लैटिन से नहीं हुई, उसी प्रकार संस्कृत-परिवार की विभिन्न भाषाओं का जन्म भी संस्कृत से नहीं हुआ। सुदूर प्राचीन युग में जिस प्रकार संस्कृत का आदि रूप एक बोलचाल की भाषा का रहा था, उसी प्रकार उस बोली के ही समानान्तर उससे मिलती-जुलती अन्य बोलियाँ भी बोली जाती रही होंगी। संस्कृत-परिवार की आधुनिक भारतीय भाषाओं का उद्भव उन्हीं बोलियों द्वारा हुआ है, न कि संस्कृत द्वारा। साथ ही हमें भाषा-विकास-प्रक्रिया के इस सिद्धान्त को भी नहीं भूल जाना चाहिए कि सस्कृत का प्रारम्भिक संस्कृत रूप अपनी जननी (बोलचाल की भाषा) के गहरे रूप से प्रभावित रहा होगा। संस्कृत साहित्यिक भाषा बनकर एक निश्चित ढाँचे में ढलती रही होगी और उसकी जननी (वह बोली) अपने स्वाभाविक, स्वच्छन्द रूप में विकसित होती रही होगी। बोलचाल की भाषा की परम्परा और क्रम कभी टूटने नहीं पाता। उसके मूल रूप में परिवर्तन होता चलता है, परन्तु वह रहती अपने मूल रूप के आसपास ही है। वह कृत्रिम नहीं बन पाती। संस्कृत एक निश्चित प्रदेश में बोली जाने वाली बोलियों पर आधारित थी; और ये बोलियाँ वर्तमान हिन्दी-भाषी प्रदेश की ही बोलियाँ थीं और अपने किंचित् भिन्न और विकसित रूप में आज भी बोली जाती हैं।

हिन्दी संस्कृत की बेटी नहीं है

इस बात का खंडन बहुत पहले किया जा चुका है कि हिन्दी संस्कृत से उत्पन्न नहीं हुई है। संस्कृत और हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् व्याकरणाचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—"हिन्दी की उत्पत्ति उस संस्कृत भाषा से नहीं है, जो कि वेदों में, उपनिषदों में तथा वाल्मीकि या कालिदास आदि के काव्य-ग्रन्थों में हमें उपलब्ध है।···दोनों की चाल एकदम अलग-अलग है।···दोनों का पृथक् और स्वतंत्र पद्धति पर विकास हुआ है।"—(हिन्दी शब्दानुशासन) वाजपेयी जी संस्कृत और हिन्दी को "एक ही मूल भाषा की शाखाएँ" मानते हैं। उनके विवेचन का निष्कर्ष यह है कि—"हिन्दी की अनेक विशेषताओं का सम्बन्ध न वैदिक संस्कृत से है, न लौकिक संस्कृत से, न अपभ्रंश से। उनका सम्बन्ध खड़ीबोली क्षेत्र की किसी प्राचीन बोली से ही हो सकता है; अर्थात् हिन्दी का उद्गम-स्रोत आधुनिक हिन्दी-भाषी क्षेत्र में प्राचीन काल में प्रचलित किसी बोली से ही रहा है।"

हिन्दी और प्राकृत भाषा का सम्बन्ध

भाषा-विकास सम्बन्धी एक दूसरी स्थापना यह है कि जब संस्कृत साहित्य की भाषा बन गई तो जन-साधारण की बोलचाल की भाषा विभिन्न प्राकृतों के रूप में विकसित होती रही, और वह भी जब साहित्य की भाषा बन गई तो उसके परवर्ती

अपभ्रंश रूप से हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति हुई। वाजपेयी जी प्राकृत से भी हिन्दी का घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं मानते। उन्होंने लिखा है—"प्राकृत के (दूसरी तथा तीसरी अवस्था के) जो भी रूप साहित्य में उपलब्ध हैं, उनसे हिन्दी की पटरी बैठती नहीं है।....साहित्य में उपलब्ध प्राकृतों में से कोई भी ऐसी नहीं है, जिसे हिन्दी (खड़ीबोली) का उद्गम माना जा सके।" वस्तुस्थिति यह है कि संस्कृत और प्राकृत में शब्द-भंडार, व्याकरण, प्रकृति आदि की दृष्टि से भेद की अपेक्षा समानता ही अधिक मिलती है। इन दोनों में मूल भेद केवल ध्वन्यात्मक ही रहा है। प्राकृत में संस्कृत-शब्दों के उच्चारण रूप में अन्तर कर दिया गया है; जैसे—धर्म से धम्म, मूल्य से मोल्ल, मुद्गर से मोग्गर, पुस्तक से पोत्थय, मुकुट से मउड, नागरी से णयरी, राजा से राआ, नर-नारी से णर-णारी आदि। यहाँ हमें शब्दों के उच्चारण में केवल ध्वन्यात्मक भेद ही मिलता है। प्राकृत में संस्कृत शब्दों के रूपों में परिवर्तन कर दिया गया है। और ऐसा प्रतीत होता है कि यह परिवर्तन जान-बूझकर, प्राकृत को संस्कृत से भिन्न एक स्वतंत्र भाषा सिद्ध करने के लिए ही किया गया हो। इस प्रकार प्राकृत स्वतंत्र भाषा न होकर संस्कृत का ही किंचित् परिवर्तित रूप मानी जायेगी। पालि-भाषा का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी इस सत्य से अवगत होंगे कि पालि और संस्कृत के व्याकरणों में विशेष महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। संस्कृत की अपेक्षा पालि का व्याकरण संक्षिप्त अवश्य है, परन्तु उसकी सम्पूर्ण रूपरेखा संस्कृत व्याकरण के ही अनुसार रही है।

वस्तुत: प्राकृत कभी बोलचाल की भाषा रही ही नहीं थी। पालि को प्रथम प्राकृत कहा जाता है। इसके सम्बन्ध में यह मान्यता प्रचलित है कि गौतम बुद्ध ने अपने नए धर्म का प्रचार करने के लिए पंडितों की भाषा संस्कृत को त्यागकर लोक-भाषा को अपनाया था जो पालि या पाली कहलाती है। गौतम बुद्ध मगध-प्रदेश के निवासी थे और उन्होंने अपने नए धर्म का प्रचार उसी प्रदेश की लोक-भाषा में किया होगा। परन्तु अब कोई भी समझदार विद्वान् पालि को मगध की भाषा नहीं मानता। इस सम्बन्ध में डा० सुनीति कुमार का मत द्रष्टव्य है। वह लिखते हैं कि—"एक बात तो स्पष्ट होती जा रही है, वह यह है कि पालि भाषा का मगध प्रदेश से कोई सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि उसका एक वैकल्पिक नाम 'मागधी भाषा' है। पालि वास्तव में शौरसेनी से सम्बन्धित एक मध्यदेशीय भाषा है।" यहाँ 'मध्यदेशीय भाषा' से उनका अभिप्राय गंगा-यमुना के दोआब की भाषा से है। यह आश्चर्य का विषय है कि मगध के निवासी गौतम बुद्ध वर्तमान हिन्दी-प्रदेश की बोलचाल की भाषा में अपने धर्म का प्रचार करते रहे होंगे। उन्हें तो इसके लिए अपने ही प्रदेश की बोलचाल की भाषा को अपनाना चाहिए था।

प्राकृत : एक कृत्रिम भाषा

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम प्राकृत अर्थात् पालि न तो बोलचाल की भाषा थी, और न मगध-प्रदेश की। वह एक कृत्रिम साहित्यिक भाषा

थी, जिसका निर्माण संस्कृत-शब्दों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन कर किया गया था। इसलिए यह एक कृत्रिम साहित्यिक भाषा थी। प्रसिद्ध भाषा-विद् डा० रामविलास शर्मा ने संस्कृत और प्राकृत के भेद तथा प्राकृत की कृत्रिमता का विवेचन करते हुए लिखा है :

"प्राकृतों का रूप प्रामाणिक नहीं; उनका क्षेत्र प्रामाणिक नहीं; उनका अभ्युदय काल प्रामाणिक नहीं। इसलिए आद्य आर्य-भाषा के क्षय के जो अनार्य उपकरण बताए गए हैं, वे भी प्रामाणिक नहीं हैं। संस्कृत-प्राकृत का मुख्य भेद ध्वनि सम्बन्धी है, जबकि संस्कृत और आधुनिक भाषाओं का भेद ध्वनि के अलावा रूप-गठन और मूल शब्द-भण्डार से भी सम्बन्धित है। संस्कृत से भिन्न प्राकृतें जन-साधारण की स्वतन्त्र भाषाएँ थीं या नहीं, इसकी कसौटी यह है कि उनकी अपनी व्याकरण व्यवस्था और अपना मूल शब्द-भण्डार है या नहीं। गच्छति-गच्छदि, कथय-कथेहि, भूत्वा-भविअ, करिष्यामि-करिस्सं, पश्यति-पेक्खदि, प्राकृत-पाउअ, कृति-कइ, कवि-कइ, श्रेष्ठः-शेठो—इस तरह के भेद संस्कृत-प्राकृत का मौलिक भेद प्रकट नहीं करते।"—**भाषा और समाज**

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी भी प्राकृत को कृत्रिम भाषा मानते हैं। उन्होंने प्राकृत के संस्कृत रूपों को भ्रष्ट करने वाले स्वभाव पर क्षुभित होकर लिखा है कि—"यदि राजा का रूप राआ (प्राकृत में राजा का राआ रूप बना दिया गया है—लेखक) कभी गृहीत हुआ होता, तो आज भी वह उसी रूप में कहीं चलता दिखाई देता। उलटी गंगा पहाड़ पर न चढ़ती कि 'राआ' को फिर जनता 'राजा' कर देती। 'राआ' बनाया हुआ रूप है, प्राकृत व्याकरणों में दी हुई विधि के अनुसार। कहीं जन-भाषा में किसी पद के उपान्त्य व्यंजन का लोप देखकर वैसा लिख दिया गया होगा कि—'अन्तिम सस्वर व्यंजन का स्वर शेष रहता है, व्यंजन का लोप हो जाता है,' बस, वह नियम बन गया! सर्वत्र वैसा बनाया जाने लगा। ऐसा विकृत रूप भाषा का कर दिया गया है कि अचरज होता है।" इससे यह सिद्ध होता है कि प्राकृत स्वाभाविक बोलचाल की भाषा न होकर कृत्रिम साहित्यिक भाषा थी, जिसे संस्कृत की प्रतिद्वन्द्विता में, संस्कृत के आधार पर ही गढ़ा गया था, संस्कृत के तत्सम शब्दों को विकृत कर तद्भव-सा बना दिया गया था।

अपभ्रंश और हिन्दी

प्राकृत की अन्तिम अवस्था अर्थात् रूप को अपभ्रंश कहा गया है। इसे अपभ्रंश इसलिए कहा गया क्योंकि यह परम्परागत साहित्यिक भाषा का अपभ्रष्ट रूप था। उस पर प्राकृत का गहरा प्रभाव था। इसलिए प्राकृत के ही समान उसका रूप स्वाभाविक न रहकर अप्राकृतिक हो गया था। यदि अपभ्रंश जन-साधारण की स्वाभाविक बोलचाल की भाषा होती तो उसे वह हीनत्व बोधक 'अपभ्रंश' या 'अप-भ्रष्ट' की संज्ञा न ग्रहण करनी पड़ती, क्योंकि किसी भी व्याकरणाचार्य ने अभी तक

बोलचाल की भाषा को भाषा का भ्रष्ट रूप न मान उसे स्वाभाविक ही माना है, अधिक से अधिक उसे ग्राम्य या गँवारू कह दिया है। अपभ्रंश अपने युग की साहित्यिक भाषा थी। भाषा-विकास की दृष्टि से हमें अपभ्रंश में एक विशेषता मिलती है और वह यह है कि उसमें बोलचाल की भाषा का रूप झलकने लगा है। यद्यपि उसका व्याकरण संस्कृत-प्राकृत के आधार पर ही गढ़ा गया है, परन्तु उसमें परिवर्तन के निश्चित चिन्ह प्रकट होने लगते हैं। अपभ्रंश के साहित्यकार बोलचाल की भाषा से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में बोलचाल की भाषा के शब्दों का प्रयोग होता हुआ मिलता है। वह लोकभाषा की ओर झुकती दिखाई पड़ती है। यहाँ तक बात ठीक है।

परन्तु बात वहीं बिगड़ जाती है, जहाँ इसी आधार पर बोलचाल की भाषा हिन्दी का जन्म अपभ्रंश से घोषित कर दिया जाता है। हम इसकी यह विपरीत स्थिति स्वीकार क्यों नहीं कर लेते कि अपभ्रंश लोकभाषा से प्रभावित होने लगी थी, लोकभाषा की साहित्यिक क्षेत्र में घुस-पैठ प्रारम्भ हो गई थी—उस लोकभाषा की जो वैदिक-युग से जनता की बोलचाल में प्रयुक्त होती आई थी, किंचित् रूप-परिवर्तन के साथ। अपभ्रंश-साहित्य में बोलचाल के शब्दों का प्रयोग देखकर उस बोलचाल की भाषा का अपभ्रंश से जन्म होना घोषित कर देना उसी प्रकार हास्यास्पद है, जैसे आधुनिक हिन्दी में अंग्रेजी भाषा के विकृत या तत्सम् शब्दों का प्रयोग होता हुआ देखकर कोई विद्वान् कालान्तर में यह घोषित कर दे कि अंग्रेजी भाषा का जन्म हिन्दी से हुआ था। अपभ्रंश और हिन्दी भिन्न प्रकृति की भाषाएँ हैं। अपभ्रंश अपने उत्तरकालीन रूप में संयोगात्मक से वियोगात्मक होती जा रही थी और हिन्दी आरम्भ से ही वियोगात्मक बोली रही थी और आज भी है। अपभ्रंश और हिन्दी के व्याकरणों में कहीं भी समानता नहीं है। दोनों एक-दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र भाषाएँ हैं। रूप-गठन की दृष्टि से उनमें कहीं भी समानता नहीं मिलती। शब्द-भंडार दोनों का आंशिक रूप में अवश्य समान मिलता है। परन्तु वह देन अपभ्रंश की न होकर संस्कृत की ही है। संस्कृत के शब्दों को दोनों ने ही अपनाया है। परन्तु इस अपनाने में भी भिन्नता रही है। अपभ्रंश में संस्कृत शब्दों के वे रूप मिलते हैं, जिन्हें प्राकृत में विकृत कर अपनाया गया था। वहाँ 'धर्म' का रूप 'धम्म ही मिलेगा, परन्तु हिन्दी में उच्चारण-सुख या मुख-सुख के कारण उसका रूप 'धरम' हो गया है। तत्सम् शब्दों से तद्भव शब्द बनाने के मूल में उच्चारण की सहजता की प्रवृत्ति ही मूल कारण रही है, जिसे भाषा-विज्ञानी मुख-सुख की प्रवृत्ति कहते हैं। हिन्दी में जब संस्कृत या किसी भी भाषा के ऐसे शब्दों का रूपान्तर किया जाता है, जिनका सही उच्चारण करने में अशिक्षित लोग असमर्थ रहते हैं, तो उच्चारण की सुविधा के लिए उनका रूप थोड़ा-सा परिवर्तित कर लिया जाता है। जैसे अंग्रेजी के 'लैन्टर्न' शब्द का सीधा-सादा रूप 'लालटैन' बना लिया गया है। हमें हिन्दी में उच्चारण के सरलीकरण की यही प्रवृत्ति मिलती है।

परन्तु अपभ्रंश में दूसरी ही प्रवृत्ति लक्षित होती है। उसमें संस्कृत-शब्दों के रूप को जान-बूझकर विकृत करने की प्राकृती-परम्परा का पालन किया गया है। वहाँ नर-नारी का णर-णारी, नगरी का णअरी रूप बनाए गए हैं। किसी भी शब्द के आरम्भ में 'ण' अक्षर का प्रयोग प्राकृत-अपभ्रंश की ही विशेषता रही है। हिन्दी में 'ण' अक्षर से आरम्भ होने वाले शब्द शायद ही मिलें। शब्द के आरम्भ में ही 'ण' का उच्चारण बड़ा असुविधा जनक होता है। हिन्दी ने संस्कृत के उन्हीं शब्दों का रूप बदला है, जो संयुक्ताक्षर वाले रहे हैं; जैसे—पूर्वज से पुरखा, महात्म्य से महातम। जिन शब्दों के उच्चारण में असुविधा नहीं होती, उन्हें हिन्दी ने उनके मूल रूप में ही स्वीकार कर लिया है। हिन्दी में नर-नारी और नगरी शब्द अपने मूल रूप में आज तक विद्यमान हैं।

अपभ्रंश की एक विशेषता यह रही है कि उसमें वर्णों की द्वित्त्व-प्रवृत्ति काफी प्रबल रही है और उसने हिन्दी को भी बहुत समय तक प्रभावित किए रखा है। यह प्रवृत्ति हमें चन्द वरदाई की भाषा, रणमल्लछन्द की भाषा से लेकर शृंगारकालीन भूषण आदि में बराबर मिलती है। इस प्रवृत्ति ने राजस्थानी डिंगल को तो इतना अधिक आक्रान्त कर रखा था कि यह डिंगल की एक खास विशेषता मानी जाती रही है। राजस्थानी पर अपभ्रंश के इस इतने गहरे प्रभाव का कारण यह था कि अधिकांश अपभ्रंश साहित्य—विशेष रूप से जैन-साहित्य, गुजरात और राजस्थान में ही लिखा गया था।

यह ऐतिहासिक सत्य है कि लगभग सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य हिन्दी-भाषी-क्षेत्र से बाहर या उसके सीमान्तों पर ही रचा गया था। एक तरफ हम गुजरात और उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में अपभ्रंश की रचनाओं की प्रचुरता पाते हैं और दूसरी ओर सुदूर पूर्व में विद्यापति को मिथिला में बैठकर अपभ्रंश भाषा में 'कीर्त्तिलता', 'कीर्त्ति पताका' की रचना करते देखते हैं। बीच का सारा क्षेत्र अपभ्रंश-रचनाओं से शून्य रहा है। इसका क्या कारण रहा होगा? यदि हिन्दी की उत्पत्ति अपभ्रंश से हुई थी तो फिर हिन्दी-भाषी-क्षेत्र में तो अपभ्रंश की रचनाएँ और भी अधिक परिमाण में होनी चाहिए थीं। परन्तु नहीं हुईं। इसका कारण यह था कि हिन्दी का अपभ्रंश से कोई नजदीकी और घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं था।

हिन्दी का व्यापक क्षेत्र

यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि अपभ्रंश का हिन्दी से कोई निकट का सम्बन्ध नहीं था तो फिर अपभ्रंश में हिन्दी-शब्दों का प्रयोग क्यों होने लगा था? इसका कारण यह है कि उस युग में भी हिन्दी एक अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा थी और एक प्रकार से उसी प्रकार सम्पर्क-भाषा का कार्य करती थी जिस प्रकार वह आगे चलकर मुस्लिम-युग में और बाद में आधुनिक युग में भी असरकारी सम्पर्क-भाषा का कार्य करती रही और कर रही है। किसी भी

बोलचाल की भाषा को व्यापक रूप प्रदान करने वाले तीन कारण होते हैं—उसकी केन्द्रीय स्थिति, व्यापार, और धर्म-प्रचार। हिन्दी भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र मध्य-देश की भाषा थी। यही क्षेत्र व्यापार का प्रमुख क्षेत्र था। यहाँ के व्यापारी सम्पूर्ण देश से व्यापारिक-सम्बन्ध रखते थे। और व्यापारी साहित्यिक-भाषा में न बोलकर बोलचाल की भाषा को ही अपनाते हैं। प्रमुख धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों का क्षेत्र भी यही भू-भाग रहा है। इन्हीं कारणों से हिन्दी उस प्राचीन युग में भी देश की एक सर्व-प्रधान बोलचाल की भाषा बन गई थी। ऐसी स्थिति में अपभ्रंश का उससे प्रभावित होना सहज-स्वाभाविक था।

वस्तुस्थिति यह थी

प्राचीन भारतीय साहित्य में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि यहाँ साहित्यिक भाषाओं के साथ-साथ बोलचाल की भाषाएँ सदैव प्रचलित रही हैं, और हमेशा साहित्यिक भाषाओं को प्रभावित करती रहीं हैं। किसी भी साहित्यिक भाषा के प्रारम्भिक काल में बोलियों का यह प्रभाव देखा जा सकता है। क्योंकि साहित्यिक भाषा बनती तो अन्ततः बोलचाल की भाषा से ही है। प्राकृत-अपभ्रंश आदि की बात दूसरी है। ये विशुद्ध रूप से कृत्रिम साहित्यिक भाषाएँ थीं। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अपनी-अपनी बोलचाल की भाषाएँ होती हैं और न्यूनाधिक रूप में वहाँ की साहित्यिक भाषाओं को प्रभावित करती रहती हैं। साधारणतः यह समझा जाता है कि संस्कृत का रूप-गठन और शब्द-भंडार सम्पूर्ण देश में सर्वत्र एक सा ही रहा है। परन्तु विद्वानों ने संस्कृत में भी स्थानीय भेद खोज निकाले हैं, और इस स्थानीय भेद का कारण स्थानीय बोलियाँ ही रही हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत में बोलचाल की भाषाएँ अपनी-अपनी स्थानीय विशेषताओं और रूपों में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रहीं हैं, और उन्हीं का विकसित रूप भारत की आधुनिक भाषाएँ हैं, विशेष रूप से उत्तर भारत की भाषाएँ। परन्तु विदेशी विद्वानों की भाषा-विकास सम्बन्धी स्थापनाओं से प्रभावित और संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की साहित्यिक श्रेष्ठता से आतंकित हो, हमारे देशी विद्वान् आधुनिक भारतीय भाषाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखते आए हैं। वे यह कल्पना तक नहीं कर पाते कि इन भाषाओं का पहले भी कोई अस्तित्व रहा होगा या ये अपनी आन्तरिक क्षमता के बल पर अपना स्वतन्त्र विकास करने में समर्थ हो सकी होंगी। इसीलिए वे इनका उद्गम और विकास संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की परम्परा से ही मानते और प्राणपण से उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते आए हैं।

वस्तुस्थिति यह थी कि हिन्दी आदि भाषाओं का अस्तित्व बहुत प्राचीन-काल से बराबर चला आ रहा था। वे समय-समय पर शब्द-भंडार, मुहावरे और लोकोक्तियों के रूप में साहित्यिक भाषाओं को प्रभावित करती रहीं थीं। लोकभाषा साहित्यिक क्षेत्र में गहरे रूप से तभी प्रवेश करती है—जब रूढ़ धर्म या दार्शनिक

मान्यताएँ धर्मध्वजों और विद्वान् दार्शनिकों की एकमात्र बपौती नहीं रह जाती। उनकी रूढ़बद्धता साधारण जन के चिन्तन को उद्‌बुद्ध करती है। साधारण जन सामाजिक एकता और सहज जीवन का अभिलाषी होता है। और वही अभिलाषा उनमें ऐसे विद्रोहियों को जन्म देती है जो सभी प्रकार की, विकास की विघातक रूढ़ियों का विरोध करना आरम्भ कर देते हैं। ये लोग साधारण-जन के ही अंग होते हैं, इसलिए साधारण जन की भाषा में ही बोलते हैं। सिद्धों के रूप में हमें जनता का यही विद्रोही रूप मिलता है। इसलिए सबसे पहले उन्हीं की रचनाओं में हिन्दी तीव्रगति से उभरती दिखाई पड़ती है। परन्तु अपने प्रभाव को व्यापक और प्रभावशाली बनाने के लिए परम्परागत साहित्यिक भाषा और काव्य-रूपों का भी सहारा लेना पड़ता है। इसी कारण हमे सिद्धों की वाणी में अपभ्रंश और हिन्दी का मिश्रित रूप मिलता है। सिद्ध सरहपाद की दो पंक्तियाँ भाषा के इस मिश्रित रूप को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होंगी—

"कमल कुलिस बे बि मज्झ ठिउ, जो सो सुरअ विलास।
को न रमइ णह तिहुअणहि, कस्स न पुरइ आस॥"

अर्थात् 'कमल और कुलिश को मध्य में स्थित कर सुरत का जो आनन्द प्राप्त किया जाता है, त्रिभुवन में कौन उससे वंचित रह सकता है और वह किस की आशा पूरी नहीं करता।'

उपर्युक्त उद्धरण में 'मज्झ, सुरअ, णह, तिहुअणहि, कस्स' आदि अपभ्रंश के शब्द हैं और 'जो, सो, को न रमइ, पुरइ आस' आदि शब्द और वाक्य-खंड हिन्दी के हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कारक और क्रियापद हिन्दी के हैं तथा अन्य शब्द अपभ्रंश के। यह उदाहरण यह सिद्ध करता है कि हिन्दी उस युग में साहित्य में प्रवेश करने लगी थी और अपभ्रंश के रूप-गठन पर उसका प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था। ईसा की बारहवीं सदी में मुनि शालिभद्र सूरि की एक रचना 'बुद्धिरास' में हिन्दी का रूप और भी अधिक निखरा हुआ मिलता है। जैसे—

"सालिभद्र गुरु संकुलीय, सिविहूँ गुर उपदेसि।
पढइ गुणइ जे संभलहि, ताहइ बिघन टलेसि॥"

मुनि शालिभद्र सूरि एक ओर तो ऐसी भाषा लिख रहे थे और दूसरी ओर ऐसी भाषा भी लिख रहे थे जिस पर अपभ्रंश का गहरा प्रभाव था। उदाहरण द्रष्टव्य है—

"मानई ए नवि मुनिराउ, मौन न मेल्हइ मन्नवीय।
मुक्कइ ए नहु नीय माण, बरस दिवस निरसण रहीय॥"

उपर्युक्त उद्धरण उद्‌धृत करने में हमारा अभिप्राय यह दिखाना रहा है कि हिन्दी धीरे-धीरे काव्य-क्षेत्र में प्रवेश पाती जा रही थी और अपभ्रंश का प्रभाव घटता जा रहा था। परन्तु इस स्थिति से यह निष्कर्ष निकालना घोर अवैज्ञानिक अतः

हास्यास्पद माना जायेगा कि अपभ्रंश से हिन्दी का जन्म हो रहा था या हिन्दी उससे विकसित हो रही थी। स्थिति इससे नितान्त विपरीत थी। हिन्दी क्रमशः साहित्य-क्षेत्र में आगे बढ़ती जा रही थी और अपभ्रंश का ह्रास हो रहा था।

उत्तरकालीन अपभ्रंश के दो रूप

भाषा-विकास या भाषा-मिश्रण की इस स्थिति को देखकर ही अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य हेमचन्द्र ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं का उल्लेख किया है। एक परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश, और दूसरी ग्राम्य भाषा। हेमचन्द्र ने यह बात बारहवीं सदी में कही थी। हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित ग्राम्य भाषा ही हिन्दी का आदि साहित्यिक रूप था; अर्थात् बारहवीं सदी से पूर्व ही हिन्दी भाषासाहित्य में प्रयुक्त होने लगी थी। यदि उसका उद्‌गम अपभ्रंश से हुआ होता तो हेमचन्द्र उसे कदापि ग्राम्य भाषा न कहते। इस प्रकार भाषा-वैज्ञानिकों की यह मान्यता खंडित हो जाती है कि हिन्दी भाषा का जन्म और विकास अपभ्रंश से हुआ था।

इतिहासकारों का मत

यह आश्चर्य का विषय है कि भाषा-वैज्ञानिकों ने हिन्दी का विकास अपभ्रंश से माना है और हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों में से अधिकांश ने हिन्दी के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया है। परन्तु यह स्वीकृति मिली उन्हीं लेखकों द्वारा है, जिनमें स्वतन्त्र चिन्तन और वास्तविकता को गहराई से पकड़ने की क्षमता रही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे ही स्वतन्त्र-चेता इतिहासकार रहे हैं, जब कि डा० रामकुमार वर्मा ने भाषा-वैज्ञानिकों वाला ही राग अलापा है। डा० वर्मा के वक्तव्यों में अजीब-सा विरोधाभास है। एक तरफ तो वह यह कहते हैं कि—'अपभ्रंश भाषा दसवीं शताब्दी तक प्रचलित रही, उसके बाद उसे भी 'साहित्य-मरण' के लिए बाध्य होना पड़ा (जबकि पन्द्रहवीं सदी तक अपभ्रंश में रचनाएँ होती रहने के प्रमाण मिले हैं—लेखक) और दसवीं शताब्दी से अपभ्रंश भाषा ने अनेक शाखाओं में विभाजित होकर नवीन नाम धारण किए। फलतः हिन्दी आदि भाषाओं का सूत्रपात हुआ।" अर्थात् अपभ्रंश से हिन्दी आदि भाषाओं की उत्पत्ति हुई। दूसरी तरफ वह खुसरो मियाँ का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—"खुसरो ने जो सबसे बड़ा काम किया है, वह यह कि उन्होंने तत्कालीन काव्य-आदर्शों में न बँधकर जन-साधारण की बोली हिन्दी में रचना की। इससे हम तत्कालीन बोलचाल की भाषा का स्वरूप जान सकते हैं।" यदि हिन्दी तत्कालीन बोलचाल की भाषा थी तो फिर उसका विकास अपभ्रंश से कैसे मान लिया जाय, यह पहेली समझ में नहीं आती।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी को बोलचाल की स्वतन्त्र भाषा तो माना है परन्तु वह स्पष्ट शब्दों में इसकी घोषणा करने में संकोच कर गए हैं। उन्होंने केवल संकेत भर दिया है। उन्होंने यह संकेत करते हुए लिखा है कि—"हेमचन्द्राचार्य

ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द्र ने ग्राम्य कहा है। वस्तुतः यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई।.... यह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई (एडवान्स) बताई जाती है।' अर्थात् द्विवेदी जी हिन्दी का विकास अपभ्रंश के उस रूप से मानते हैं जिसमें अपभ्रंश कम और हिन्दी अधिक झलकने लगी थी। अपनी इसी मान्यता के कारण उन्होंने पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' द्वारा साहित्यिक अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' नाम देने का विरोध किया था। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—"यह विचार भाषा-शास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है। भाषा-शास्त्र के अर्थ में जिसे हम हिन्दी (खड़ीबोली, व्रजभाषा, अवधी आदि) कहते हैं, वह इस साहित्यिक अपभ्रंश से सीधे विकसित नहीं हुई। .... अपभ्रंश को अब कोई भी 'पुरानी हिन्दी' नहीं कहता।"

साहित्यिक अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' या हिन्दी का पुराना रूप मानने का नारा राहुल जी ने उठाया था। और सम्पूर्ण अपभ्रंश रचनाओं की हिन्दी-साहित्य में गणना कर डाली थी। उन्होंने विशेष रूप से उन्हीं रचनाओं का नाम लिया था जो या तो बौद्धों द्वारा लिखी गई थीं या बौद्धों से सम्बन्धित थीं। (यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राहुल जी स्वयं कट्टर बौद्ध थे, इसलिए उनकी इस स्थापना के मूल में कहीं धार्मिक पक्षपात तो कार्य नहीं कर रहा था।) इसी कारण राहुल जी हिन्दी साहित्य के इतिहास को सातवीं सदी तक पीछे खींच ले गए थे क्योंकि यही सदी अपभ्रंश साहित्य के उद्‌भव का काल मानी जाती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी हिन्दी का विकास अपभ्रंश से न मान, बोलचाल की भाषा से ही मानते थे। वे अपभ्रंश और हिन्दी को दो भाषाएँ मानते थे। उन्होंने लिखा है कि—"आदिकाल का नाम मैंने 'वीरगाथा काल' रखा है। उक्त काल के भीतर दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं–अपभ्रंश की और देशभाषा (बोलचाल) की।" शुक्ल जी गुलेरी जी के समान अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' तो नहीं कहते परन्तु प्राकृताभास हिन्दी अवश्य कहते हैं और इसे उस समय की ठीक बोलचाल की भाषा नहीं मानते। उन्हीं के शब्दों में—"यह उस समय के कवियों की भाषा है। कवियों ने काव्य-परम्परा के अनुसार साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्द तो लिए ही हैं (जैसे पीछे की हिन्दी में तत्सम् संस्कृत शब्द लिए जाने लगे) विभक्तियाँ, कारक-चिन्ह और क्रियाओं के रूप आदि भी बहुत कुछ अपने समय से कई सौ वर्ष पुराने रखे हैं। बोलचाल की भाषा घिस-घिसाकर बिल्कुल जिस रूप में आ गई थी, सारा वही रूप न लेकर कवि चारण आदि भाषा का बहुत कुछ वह रूप व्यवहार में लाते थे जो उनसे कई सौ वर्ष पहले से कवि-परम्परा रखती चली आती थी।"

यहाँ शुक्ल जी अपभ्रंश को उस समय की बोलचाल की भाषा न मान उसके काव्य-रूप को कई सौ वर्ष पुरानी काव्य-भाषा का रूप मानते हैं। परन्तु आगे चल-

कर शुक्ल जी भी एक भ्रान्ति के शिकार हो गए हैं। उनका अनुमान था कि—"जब तक भाषा बोलचाल में थी, तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।" अर्थात् अपभ्रंश एक कृत्रिम साहित्यिक भाषा न होकर विकसित बोलचाल की भाषा का साहित्यिक रूप था। वस्तुतः इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि अपभ्रंश प्राकृत की अपेक्षा बोलचाल की लोकभाषा के अधिक निकट थी। शुक्ल जी ने सम्भवतः इसी कारण उसे भ्रमवश लोकभाषा का विकसित साहित्यिक रूप मान लिया था।

शुक्ल जी की भाषा-सम्बन्धी एक स्थापना और है। उन्होंने सिद्धों की रचनाओं में अपभ्रंश और देशभाषा—दोनों के मिश्रित रूप को देखकर, जैसा कि हम पीछे सिद्ध सरहपा के उदाहरणों में देख आए हैं, यह निष्कर्ष निकाला था कि यही उस समय की काव्य-भाषा का सर्वमान्य व्यापक रूप था, जो उस समय गुजरात, राजस्थान और ब्रज प्रदेश से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी। आगे चलकर शुक्लजी सिद्ध कण्हपा का विवेचन करते हुए उनकी भाषा के दो रूप मानते हैं—काव्य-भाषा जिसे उन्होंने टकसाली हिन्दी कहा है, और बोलचाल की भाषा। उन्होंने उपदेश टकसाली हिन्दी में दिए हैं और गीत पुरानी बिहारी या पूरबी बोली में गाए हैं। यहाँ काव्य-भाषा या टकसाली हिन्दी से शुक्ल जी का अभिप्राय लोकभाषा के उस रूप से प्रतीत होता है जो अपभ्रंश को एक किनारे हटाती हुई काव्य-क्षेत्र में अपना अधिकार जमाती चली जा रही थी और काव्य-परम्पराओं आदि की रूढ़ियों का अनुगमन करने के कारण जिसका रूप टकसाली अर्थात् गढ़ा हुआ सा बनता जा रहा था; अर्थात् बोलचाल की भाषा साहित्यिक भाषा का रूप धारण करने लगी थी। और यही आधुनिक हिन्दी का प्रारम्भिक रूप था। यह भाषा का संक्रान्ति काल था—रूप-गठन और शैली की दृष्टि से, कथ्य की दृष्टि से नहीं। एक लोकभाषा साहित्य की टकसाली भाषा का रूप धारण करती जा रही थी।

हिन्दी का आरम्भ कब से माना जाय ?

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी जनता की बोलचाल की भाषा थी। वह अनेक कारणों से इतनी व्यापक बन चुकी थी कि अपभ्रंश के रचनाकार उसके महत्त्व, उपयोगिता और प्रभाव को स्वीकार कर अपनी रचनाओं में उसका प्रयोग करने लगे थे। यद्यपि बहुत समय तक वह अपभ्रंश की काव्य-रूढ़ियों से ग्रस्त रही थी, परन्तु धीरे-धीरे उसका स्वतन्त्र रूप निखरता चला आ रहा था। बारहवीं सदी के आरम्भ तक वह साहित्यिक समाज में इतनी प्रधानता प्राप्त कर चुकी थी कि आचार्य हेमचन्द्र को उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करनी पड़ी थी। उसका रूप परिनिष्ठित अपभ्रंश से इतना भिन्न था कि उन्होंने उसे परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न 'ग्राम्य भाषा' या ग्राम्य अपभ्रंश की संज्ञा प्रदान की थी। आचार्य हेमचन्द्र ने इसमें रासक, डोम्बिका जैसे साहित्य की रचना होने का भी उल्लेख किया

है। हमारा अनुमान है कि बोलचाल की भाषा होने के कारण हिन्दी में लोक-साहित्य की रचना तो बहुत पहले से होती चली आई होगी परन्तु उसका साहित्यिक रूप नहीं उभर पाया होगा। बारहवीं सदी में हमें उसके साहित्यिक अस्तित्व के प्रमाण मिल जाते हैं। और उस युग की धीमी प्रगति की गति का अनुमान कर यह कहा जा सकता है कि उसे इस साहित्यिक स्थिति तक पहुँचने में कमोवेश एक सदी का समय तो लग ही गया होगा। इसलिए हिन्दी भाषा का आरम्भ ग्यारहवीं सदी से माना जा सकता है, यद्यपि उसके छिटपुट रूप की झलक नौवीं-दसवीं सदी में हुए सिद्धों की रचनाओं में झलकने लगा था। अतः विद्वानों ने हिन्दी भाषा का प्रारम्भ दसवीं सदी से ठीक ही माना है।

हिन्दी का प्रारम्भिक विवादग्रस्त रूप और उसका विकास

हिन्दी-साहित्य का आरम्भ कब से माना जाय ? यह प्रश्न विवादास्पद है। किसी भी भाषा के साहित्य का आरम्भ उस समय से माना जा सकता है, जब से हमें उस भाषा के स्वरूप का निश्चित प्रमाण मिलने लगता है। और यह प्रमाण उस भाषा में रचित साहित्यिक रचनाओं से ही उपलब्ध होता है। इस मामले में हिन्दी को हम सौभाग्यशालिनी नहीं मान सकते। उसमें रचित प्रारम्भिक रचनाएँ अपने मूल रूप में ही उपलब्ध होती हैं या परिवर्तित रूप में, यह समस्या अभी तक पूरी तरह से सुलझ नहीं पाई है। साधारण रूप से हिन्दी की प्रारम्भिक साहित्यिक रचनाओं में खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, खुसरो की मुकरियाँ, विद्यापति के पद, नाथ-सिद्धों और रामानन्द आदि के नाम से प्रसिद्ध रचनाएँ और कबीर के नाम से उल्लिखित पदों आदि को लिया जा सकता है। गोरखनाथ की कृतियों का भी इसमें समावेश हो सकता है। परन्तु इनमें से एक भी रचना ऐसी नहीं है जिसके सम्बन्ध में दृढ़ता के साथ यह कहा जा सके कि यह आज अपने मूल रूप में उपलब्ध है।

रासो काव्यों की भाषा तो इतनी विकृत और परिवर्तित हो गई है कि उसके मूल रूप का पता ही नहीं लगता। कहीं भाषा का ठेठ परिनिष्ठित अपभ्रंश वाला रूप मिलता है, और उसके साथ ही हिन्दी का वह रूप भी उपलब्ध होता है जिसे किसी भी दशा में सत्रहवीं सदी से पहले का रूप नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार अमीर खुसरो की हिन्दी रचनाओं की जो भाषा मिलती है, उसे यदि उसका मूल और सही रूप मान लिया जाय तो ब्रजभाषा और खड़ीबोली का साहित्यिक अस्तित्व खुसरो के समय अर्थात् चौदहवीं सदी के पूर्वार्द्ध से ही स्वीकार कर लेना पड़ेगा। रामानन्द, कबीर आदि की रचनाएँ भी भाषा की दृष्टि से विवादास्पद हैं। इसका कारण यह है कि इन रचनाओं में परवर्ती कवियों द्वारा परिवर्तन-परिवर्द्धन किया जाता रहा है। विभिन्न हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में इसी कारण आकार और पाठ-भेद का अन्तर पाया जाता है। खुसरो, रामानन्द, गोरखनाथ, कबीर आदि की

रचनाएँ अधिकांशतः लोक-मुख में ही जीवित रही थीं, इसलिए उनके भाषा-रूप में परिवर्तन होता रहा। देश के जिस भी प्रदेश में उनका संकलन किया गया, उस प्रदेश की भाषा का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसलिए प्रामाणिक रूप से यह कहना असम्भव है कि उन रचनाओं का मूल रूप और भाषा वही थी जो हमें आज उपलब्ध होती है। फिर भी उनसे यह तो प्रमाणित हो ही जाता है कि कम-से-कम कबीर के समय तक तो हिन्दी व्रजभाषा के रूप में साहित्य की एकमात्र भाषा बन चुकी थी। उसमें खड़ीबोली का रूप भी झलकने लगा था। उधर अवध में जायसी आदि सूफी कवियों के प्रेम-काव्यों में अवधी भी साहित्यिक रूप प्राप्त कर चुकी थी। भक्ति-काल के मध्य-काल तक ब्रज और अवधी हिन्दी-साहित्य की प्रमुख काव्य-भाषाओं के रूप में प्रतिष्ठित हो गईं थीं। शृंगारकाल ब्रजभाषा के साहित्यिक संस्कार और पूर्ण निखरे हुए रूप का युग था। आधुनिक काल के आरम्भ में ब्रजभाषा काव्य की भाषा बनी रही और खड़ीबोली गद्य की। आगे चलकर खड़ीबोली गद्य-पद्य दोनों की एकमात्र भाषा बन गई और साहित्यिक दृष्टि से पुरानी काव्य-भाषाओं—ब्रज और अवधी का पराभव हो गया।

हिन्दी भाषा के विकास की यह संक्षिप्त कहानी रही है। लगभग नौ-सौ वर्षों का लम्बा व्यवधान पार कर आज हिन्दी अपने खड़ीबोली वाले रूप में भारत की लगभग आधी जनसंख्या की साहित्यिक और व्यवहार की भाषा मानी जाती है और भारतीय संविधान में उसे भारत की राष्ट्रभाषा, जिसकी नवीन संज्ञा 'सम्पर्क-भाषा' है, घोषित किया जा चुका है।

उपर्युक्त विकास के विवादग्रस्त भाषा-रूप

हिन्दी-भाषा के विकास की यह संक्षिप्त कहानी यह सिद्ध कर देती है कि बारहवीं सदी में हिन्दी-साहित्य का जन्म हो चुका था। परन्तु जैसा कि हम पीछे कह आए हैं, हिन्दी का प्रारम्भिक रूप अत्यन्त विवाद ग्रस्त रहा है। उस प्रारम्भिक-युग में भाषा का रूप इतना अव्यवस्थित था कि उसके आधार पर उस काल की भाषा का कोई एक निश्चित स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता। चन्द वरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' में हमें भाषा के इसी अव्यवस्थित रूप के दर्शन होते हैं। उसकी अनेक ऐसी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, जिनमें विकास के विभिन्न युगों तथा विभिन्न प्रदेशों की भाषा और बोलियों का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है। इसी कारण यह काव्य आज भी एक जटिल समस्या बना हुआ है। कुछ विद्वान् उसे 'अवहट्ट' अर्थात् अपभ्रंश के उत्तरकालीन रूप की रचना मानते हैं, कुछ डिंगल की प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की, और कुछ पूर्वी राजस्थानी अर्थात् पिंगल की।

दूसरी समस्या नाथ-सिद्धों और सन्त कवियों की सधुक्कड़ी पचमेल भाषा की है। इनकी रचनाओं में भाषा का जो रूप मिलता है, उसे अविकृत नहीं माना जा सकता। इनमें हमें खड़ीबोली, ब्रज, अवधी, राजस्थानी, पंजाबी आदि भाषाओं के मिश्रित रूप मिलते हैं। मीरा की भाषा में भी हमें ब्रज, पूर्वी और पश्चिमी राजस्थानी

तथा गुजराती का प्रभाव दिखाई पड़ता है। परन्तु यह निश्चित है कि इन सब की भाषा को हम रासो-काव्यों की भाषा के साथ नहीं रख सकते। इनकी भाषा निश्चित रूप से रासो-काव्यों की भाषा से अधिक विकसित, लोक-भाषा के ज्यादा नजदीक— परवर्ती भाषा रही है। इस बात को दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि कबीर आदि के युग से हिन्दी अपना एक निश्चित स्वरूप प्राप्त कर आगे बढ़ने लगी थी। इसलिए कबीर से पूर्व की भाषा को हिन्दी का प्रारम्भिक रूप और कबीर आदि की भाषा को हिन्दी का विकसित प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है।

कबीर-युग में ही हमें एक और महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक भाषा-रूप का पता चलता है जिसकी एक झलक हमें खुसरो के काव्य में पहले मिल चुकी थी (यदि खुसरो की उस भाषा को प्रामाणिक मान लिया जाय तो) और जिसका दूसरा रूप हमें दक्खिनी हिन्दी के रूप में मिलता है। यह दक्खिनी हिन्दी खड़ीबोली का प्रारम्भिक साहित्यिक रूप था। दक्षिण में इसमें काफी साहित्य रचा गया था। परन्तु उत्तर में उस युग में उसका प्रभाव और व्यवहार साहित्यिक रूप में नहीं मिलता।

अपभ्रंश की समस्या

भाषा के इन प्रारम्भिक रूपों को देखकर साहित्य का अध्येता इस पशोपेश में पड़ जाता है कि हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ कब से माना जाय। हम आगे चलकर इसका विवेचन करेंगे। हिन्दी-साहित्य का इतिहास आरम्भ करने से पूर्व एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या और रह जाती है कि अपभ्रंश में रचित साहित्य को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार करना चाहिए अथवा नहीं। जैसा कि हम पीछे कह आये हैं, अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' अर्थात् हिन्दी का प्रारम्भिक रूप घोषित करने वाले गुलेरी जी, राहुल जी आदि ने यह माँग उठाई थी कि अपभ्रंश के साहित्य को हिन्दी-साहित्य का ही अंग या पूर्व-रूप मान, उसे हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लेना चाहिए। और राहुल जी इसी कारण हिन्दी-साहित्य के इतिहास को सातवीं सदी तक पीछे खींच ले गये थे और प्रथम-युग का नामकरण 'सिद्ध-सामन्त-युग' किया था। उन्हीं का अनुसरण करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने भी यही किया था—केवल नामकरण में अन्तर कर दिया था। उन्होंने इस तथाकथित हिन्दी के आरम्भ-युग को सन्धि-काल और चारण-काल में विभाजित कर उसका विवेचन किया था। हिन्दी-साहित्य के कई पुराने इतिहासकारों—मिश्रबन्धु आदि ने अपभ्रंश की कुछ रचनाओं का विवेचन किया था। राहुल जी आदि ने सातवीं सदी के किसी पुष्य नामक कवि को हिन्दी का पहला कवि घोषित किया था, जबकि आज तक न तो पुष्य की कोई अपभ्रंश या हिन्दी की रचना ही मिली है और न कोई अन्य ठोस प्रमाण ही। एक ग्रन्थ में इस नाम के कवि का केवल उल्लेख मिलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं अन्य अनेक इतिहास-लेखकों ने भी यही मार्ग अपनाया है।

और अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार न करने का यह वैज्ञानिक और तर्क-संगत मत काफी पहले प्रचार पा चुका था। विद्वानों ने स्पष्ट घोषणा की थी कि अपभ्रंश हिन्दी नहीं है। इस पर झुँझलाकर अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी मानने के कट्टर प्रतिपादक गुलेरी जी ने लिखा था कि—"यदि यह भाषा (साहित्यिक अपभ्रंश) हिन्दी नहीं है, तो ब्रजभाषा भी हिन्दी नहीं है और तुलसीदास की उक्तियाँ भी हिन्दी नहीं हैं।" परन्तु गुलेरी जी आदि का यह तर्क और मत हिन्दी वालों को प्रभावित न कर सका और आज स्थिति यह है कि कोई भी अपभ्रंश को 'पुरानी-हिन्दी' नहीं कहता। हम पीछे हिन्दी भाषा के उद्भव का विवेचन करते हुए स्पष्ट कर आये हैं कि हिन्दी का उद्भव या विकास अपभ्रंश से नहीं हुआ था, ये दोनों भिन्न भाषाएँ हैं। अपभ्रंश कृत्रिम साहित्यिक भाषा थी और हिन्दी बोलचाल की भाषा थी। इसलिए अपभ्रंश-साहित्य को किसी भी दशा में हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता। फिर चाहे उसमें धार्मिक-साहित्य मिलता हो या उच्च कोटि का भावात्मक साहित्य।

अपभ्रंश का महत्त्व

फिर भी हिन्दी-साहित्य के विवेचन में अपभ्रंश-साहित्य अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका कारण यह है कि हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भिक रूप अपभ्रंश साहित्य से गहरे रूप से प्रभावित है। विषय, रूप, सज्जा, परम्परा, छन्द, शैली आदि की दृष्टि से वह अपभ्रंश-साहित्य का ही उत्तराधिकारी और ऋणी रहा है। इसलिए हमें हिन्दी-साहित्य का विकास अपभ्रंश साहित्य से मानने में संकोच नहीं करना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने भी इसी सत्य को स्वीकार करते हुए लिखा था कि—"प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है।" अपभ्रंश साहित्य और हिन्दी साहित्य के आरम्भिक रूप में इतनी अधिक समानताएँ मिलती हैं कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"यह सब देखकर यदि हिन्दी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है, तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस साहित्य की प्राण-धारा निरवच्छिन्न रूप से परवर्ती हिन्दी-साहित्य में प्रवाहित होती रही है।....प्रकृत यही है कि इन साम्यों को देखकर यदि हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों ने अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य का ही मूल रूप समझा तो ठीक ही किया है।"

यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है, इसमें संदेह नहीं रहना चाहिए कि हिन्दी-साहित्य अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश-साहित्य से ही विकसित हुआ है। इसलिये हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक रूप को समझने के लिये उसके पूर्ववर्ती अपभ्रंश-साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। हिन्दी की आरम्भिक रचनाओं—खुमाण रासो, पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो आदि में ऐसी पुष्ट और उन्नत साहित्यिक परम्परा के दर्शन होते हैं कि सहज ही यह विश्वास करना असम्भव हो जाता है कि ये एक ऐसी भाषा की साहित्यिक रचनाएँ हैं जो साहित्य के

क्षेत्र में प्रवेश पाने का प्रयत्न कर रही हैं या प्रवेश पा चुकी हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिए हमें साहित्यिक-विकास के इस रहस्य को समझ लेना चाहिए कि यदि किसी विशिष्ट भाषा में रचित साहित्य से पूर्व उस क्षेत्र में कोई अन्य भाषा साहित्यिक रूप से समृद्ध रही है तो साहित्य-क्षेत्र में उभरती वह नई भाषा उस पूर्ववर्ती समृद्ध भाषा से पूरा-पूरा लाभ उठाती है। केवल भाषा का रूप बदल जाता है, साहित्यिक परम्पराएँ लगभग यथावत् ही ग्रहण कर ली जाती हैं। आधुनिक-युग में खड़ीबोली हिन्दी के इतने तीव्र और अप्रत्याशित से प्रतीत होने वाले विकास का रहस्य इसी परम्परा-अनुकरण के भीतर छिपा हुआ है।

इसलिए हम आगामी अध्याय में हिन्दी-साहित्य की पूर्व-पीठिका के रूप में उसके पूर्ववर्ती अपभ्रंश-साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए यह विवेचन करेंगे कि उसने किन रूपों में हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया था।

हिन्दी-साहित्य की पूर्व-पीठिका

अपभ्रंश-साहित्य

साधारणतया अपभ्रंश का काल सातवीं सदी से लेकर दसवीं सदी तक का माना जाता है। परन्तु हम सोलहवीं सदी तक उत्तर-भारत में अपभ्रंश की रचनाएँ लिखी जाती हुई पाते हैं। बारहवीं सदी तक तो अपभ्रंश का काफी बोलबाला रहा था। कुछ विद्वानों ने उन ग्रन्थों को भी अपभ्रंश की ही रचनाएँ माना है, जिन्हें बहुत समय तक हिन्दी की आरम्भिक रचनाएँ माना जाता रहा है और अब भी माना जाता है; जैसे—खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो—आदि। अस्तु,

सातवीं सदी तक अपभ्रंश का साहित्य विकसित हो चुका था। आठवीं सदी में उद्योतन सूरि रचित 'कुवलयमाला' ग्रन्थ में तो अपभ्रंश का गद्य और पद्य—दोनों ही मिलते हैं। अपभ्रंश-साहित्य के विकास में एक तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि इस भाषा को पौराणिक ब्राह्मण धर्म के पोषक राजाओं और ब्राह्मणों द्वारा कोई आश्रय नहीं मिला था। इसके विकास में जैनों और बौद्धों का ही सबसे बड़ा हाथ रहा है। इसलिए समष्टितः प्राचीन जैन-साहित्य को ही अपभ्रंश-साहित्य माना जाता है। दूसरा तथ्य यह है कि सम्पूर्ण अपभ्रंश-साहित्य—चाहे वह जैनों ने लिखा हो या बौद्ध-सिद्धों ने, हिन्दी-भाषी मध्य-देश के पश्चिमी और पूर्वी सीमान्त प्रदेशों में ही लिखा गया था। मध्य-देश अपभ्रंश-रचनाओं से शून्य ही रहा है। विद्वानों ने विवेचन की सुगमता की दृष्टि से सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य को तीन विभागों में विभाजित कर दिया है :—

१—जैन-प्रबन्धात्मक रचनाएँ—रहस्यवादी नीति-सम्बन्धी।

२—बौद्ध अपभ्रंश रचनाएँ।

३—धार्मिक अनुचेतना से मुक्त प्रबन्धात्मक तथा मुक्तक रचनाएँ।[1]

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—डा० दयानन्द श्रीवास्तव।

जैन-प्रबन्धात्मक रचनाएँ

अपभ्रंश के जैन-कवियों ने संस्कृत के महाकाव्यों और पुराणों की परम्पराओं को स्वीकार करते हुए स्वयं रामायण और महाभारत लिखे हैं। परन्तु उनकी मान्यताएँ भिन्न रही हैं। उनके राम और कृष्ण अन्त में जैन-धर्म स्वीकार कर लेते हैं और कृष्ण नरक में कर्मभोग भोग रहे हैं। अपभ्रंश की पौराणिक प्रबन्धात्मक रचनाओं में निम्नलिखित कवि और उनकी कृतियाँ उल्लेखनीय मानी जाती हैं :

स्वयम्भू के 'पउमचरिउ (पद्मचरित, हरिवंश पुराण); पुष्फयंत (पुष्प दन्त) का 'महापुराणु'; यशःकीर्त्ति का 'पांडव पुराण' तथा रइधू के 'पद्म पुराण' और 'हरिवंश पुराण' प्रसिद्ध हैं। इनमें से स्वयम्भू और पुष्पदन्त सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

स्वयम्भू ने आठवीं सदी में 'पउम चरिय' (पद्मचरित), रिट्ठणेमिचरिउ (अरिष्टनेमि चरित अर्थात् हरिवंश पुराण) तथा काव्य-शास्त्र सम्बन्धी 'स्वयम्भू-छन्दस' नामक ग्रन्थों की रचना की थी। 'पद्मचरित' में रामायण की कथा है और 'हरिवंश पुराण' में महाभारत की। स्वयम्भू सहृदय, सम्वेदनशील, विद्वान्, काव्यशास्त्र के ज्ञाता एक सिद्ध कवि थे। इसी कारण उन्हें अपभ्रंश का वाल्मीकि कहा जाता है। अपने उपर्युक्त ग्रन्थों में उन्होंने कथा का मूल रूप तो संस्कृत के रामायण और महाभारत ग्रन्थों से ही लिया है परन्तु प्रसंगों में यत्र-तत्र परिवर्तन कर दिए हैं और कुछ नये प्रसंगों की भी उद्भावना की है। इन ग्रन्थों में हम स्वयम्भू को नारी-पात्रों के चित्रण में अत्यधिक सम्वेदनशील और उदार पाते हैं। सीता और द्रौपदी के चरित्र नारी के उदात्त, कोमल और महान् रूप के प्रतीक बन गए हैं। वर्णन-परम्परा की दृष्टि से स्वयम्भू संस्कृत के पौराणिक काव्यों की समृद्ध परम्परा से पूरी तरह प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना, चरित्र-चित्रण कौशल, प्रकृति के विविध रूपों के चित्रण, गठी हुई सालंकार भाषा और सर्वोपरि हृदयस्पर्शिता की दृष्टि से स्वयम्भू को एक महान् कवि माना जा सकता है। परवर्ती जैन-कवियों ने उनके जल-विहार-वर्णन की प्रशंसा करते हुए कहा था कि इस वर्णन में अन्य कोई भी कवि स्वयम्भू को नहीं पा सकता। भावपक्ष और कलापक्ष—दोनों ही रूपों में स्वयम्भू का साहित्य अनुपम है।

स्वयम्भू के उपरान्त अपभ्रंश के दूसरे उल्लेखनीय कवि पुष्पदन्त हैं। इनका समय दसवीं सदी माना गया है। इनकी रची तीन कृतियाँ मिलती हैं—महापुराण, जसहर चरिउ (यशधर चरित) और णयकुमार चरिउ (नागकुमार चरित)। पुष्पदन्त को अपभ्रंश का भवभूति कहा जाता है। इनकी तीनों कृतियाँ प्रबन्ध-काव्य हैं। इनकी कविता में स्वयम्भू की अपेक्षा अलंकरण की प्रवृत्ति अधिक सुन्दर रूप में दिखाई पड़ती है। इन पर संस्कृत महाकाव्य-परम्परा की रूढ़ियों का अधिक गहरा प्रभाव मिलता है। पुष्पदन्त स्वभाव से अक्खड़ और अभिमानी थे। उनका एक उपनाम 'अभिमान-

मेरु' भी पाया जाता है । इनके महापुराण के दो खण्ड हैं—आदि पुराण और उत्तर-पुराण । आदि पुराण में जैन-धर्म के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव की कथा है । उत्तर-पुराण में रामायण और महाभारत की कथा जैन-दृष्टिकोण से वर्णित है । नागकुमार-चरित और यशधर चरित—जैन-धर्म से सम्बद्ध खंडकाव्य हैं । रामायण और महा-भारत की कथाओं में मूल-कथाओं से भिन्नता मिलती है । जैसे राम की माता का नाम सुबला था और लक्ष्मण कैकेयी के पुत्र थे । राम-कथा की अपेक्षा महाभारत की कृष्ण-कथा में इनका मन अधिक रमा है । इन कथाओं की एक विशेषता यह रही है कि इनमें धार्मिक आग्रह तो मिल जाता है, परन्तु अलौकिकता का समावेश नहीं हो पाया है ।

स्वयम्भू और पुष्पदन्त में प्रधान अन्तर यह है कि—स्वयम्भू का काव्य भावात्मक अर्थात् हृदय-प्रधान है; और पुष्पदन्त का बुद्धि-प्रधान । इसी प्रकार डा० भोलाशंकर व्यास पुष्पदन्त की तुलना संस्कृत के माघ से करना अधिक समीचीन समझते हैं । पुष्पदन्त शब्द और अर्थ की रमणीयता और उनकी अलंकृत चारुता पर अधिक जोर देते हैं । यही कारण है कि उनमें भावपक्ष दब गया है और कलापक्ष अधिक उभर आया है । वस्तुतः पुष्पदन्त संस्कृत की ह्रासोन्मुखी कविता का ही अनु-करण करते मिलते हैं । अपभ्रंश की पौराणिक-परम्परा में स्वयम्भू और पुष्पदन्त ही उल्लेखनीय कवि हैं ।

चरित और कथा-साहित्य—इस पौराणिक परम्परा के अतिरिक्त अपभ्रंश में चरित-काव्यों और कथा-काव्यों की भी परम्परा रही है । चरित-काव्यों में जैन-धर्म के तीर्थङ्करों और अन्य महापुरुषों के जीवन का वर्णन किया गया है । पुष्पदन्त के 'नागकुमार चरित' और 'यशधर चरित' इसी परम्परा के खंडकाव्य हैं । अपभ्रंश के अन्य चरित-काव्यों में मुनि कनकामर (बारहवीं सदी) का 'करकंडचरिउ', नयनन्दि मुनि का 'सुदंसणचरिउ', हरिभद्र सूरि (तेरहवीं सदी) 'णेमिणाइचरिउ' (नेमिनाथ-चरित), विनयचन्द्र सूरि का 'नेमिनाथ चउपइ' आदि ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं । अन्तिम ग्रन्थ में सर्वप्रथम उस बारहमासा का रूप मिलता है जो हिन्दी में काफी लोकप्रिय रहा है ।

कथा-साहित्य के रूप में हमें रास या रासक नामक काव्यविधा का भी उदय होता हुआ दिखाई पड़ता है । इनमें धनपाल की 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा) और शालिभद्र सूरि का 'भरत बाहुबलि रास' उल्लेखनीय हैं । 'भविसयत्त कहा' एक सुन्दर साहित्यिक कृति है । धनपाल वातावरण चित्रण में अत्यन्त पटु प्रतीत होते हैं । 'भरत बाहुबलि रास' में ऋषभदेव के दो पुत्रों—भरत और बाहुबलि के पारस्परिक युद्ध का वर्णन है । इसमें हमें उस रूढ़ युद्ध-वर्णन शैली के दर्शन होते हैं जो परवर्ती वीरगाथा काव्यों की प्रधान विशेषता रही है ।

अपभ्रंश की सम्पूर्ण प्रबन्ध-काव्य परम्परा में स्वयम्भू, पुष्पदन्त और धनपाल के नाम ही विशेष महत्त्वपूर्ण रहे हैं । शेष प्रबन्ध-काव्यों के कवियों का स्तर ऊँचा नहीं रहा है ।

'फागु काव्य'—विद्वानों ने अपभ्रंश-साहित्य की परम्परा में एक विशिष्ट काव्य-विधा 'फागु काव्य' का उल्लेख किया है। इस विधा का विकास लोक-मानस की भाव-भूमि पर हुआ है। इनमें गीति-तत्त्व की प्रधानता रही है। इनमें प्रबन्ध और मुक्तक—दोनों प्रकार की रचनायें मिलती हैं। इस काव्य-विधा की दो कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय मानी गई हैं :—जिन पद्म का 'थूलिभद्द फागु', तथा राजशेखर सूरि कृत 'नेमिनाथ फागु'। वर्णन की दृष्टि से यह वसन्त-ऋतु का काव्य माना जाता है। इसमें विरह की विभिन्न दशाओं का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। डा० दयानन्द श्रीवास्तव ने फागु-काव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ मानी हैं :—

१. अलंकृत शैली में प्रकृति के उद्दीपन रूप का अंकन।
२. विरह की उद्‌भावना में लोक-गीतों की भाव-सम्वेदना का अंकन।
३. काव्य का उपसंहार संयोग एवं शान्त रस में; कथा-प्रधान कृतियों में नायक-नायिका जैन-धर्म में दीक्षित हो जाते हैं।
४. फागु-काव्य 'भासों' में विभक्त है। इनमें फागु, रोला तथा दूहा छन्दों का प्रयोग मिलता है।

रहस्यवादी नीति-सम्बन्धी रचनाएँ

अपभ्रंश में उपर्युक्त प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त मुक्तक रचनाएँ भी मिलती हैं। इनमें समाधि-ज्ञान चर्चा, उपदेश आदि मुख्य विषय रहे हैं। इनमें जोइन्दु का 'परमात्म प्रकाश', रामसिंह का 'पाहुड़ दोहा', सुप्रभाचार्य का 'वैराग्यसार' आदि का उल्लेख किया जाता रहा है। परन्तु इन कृतियों को विशुद्ध रूप से साहित्यिक कृतियाँ नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें साहित्यिक-सौन्दर्य का अभाव है। इसके अतिरिक्त धर्म सूरि के 'जम्बू स्वामी रासा', हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' तथा मेरुतुंग के 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' नामक ग्रन्थों में गृहस्थ जीवन, नारी-हृदय की मधुरता, शृङ्गार, प्रेम-भावना—आदि का मार्मिक चित्रण होने के कारण इन्हें साहित्यिक कृतियाँ मानने में संकोच नहीं होना चाहिए। इनमें रीतिकालीन शृंगारिक परम्परा और नीतिकाव्य-परम्परा का पूर्व रूप मिलता है।

जैन कवियों द्वारा अपभ्रंश-साहित्य का उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण इसलिए आवश्यक था कि इस साहित्य ने परवर्ती हिन्दी-साहित्य की प्रबन्ध और मुक्तक काव्य-परम्पराओं को गहरे रूप से प्रभावित किया था—काव्य-रूढ़ियों, अलंकरण, कथा-निर्वाह तथा शैली आदि के विभिन्न क्षेत्रों में।

बौद्ध अपभ्रंश रचनाएँ

बौद्धों द्वारा भी अपभ्रंश में काफी साहित्य रचा गया था। इसे 'सिद्ध-साहित्य' कहा जाता है। महत्त्व की दृष्टि से इस सिद्ध-साहित्य का महत्त्व जैन अपभ्रंश-साहित्य से कम नहीं माना जा सकता। जैन साहित्य ने यदि हिन्दी की प्रबन्ध-काव्य परम्परा

को प्रभावित किया था तो सिद्ध-साहित्य ने कबीर आदि निर्गुण मार्गीय हिन्दी के कवियों का मार्ग-दर्शन किया था। नाथ-साहित्य भी अपनी रूप-सज्जा में इससे प्रभावित रहा था। इस साहित्य की रचना भारत के पूर्वी प्रदेश में बिहार से लेकर असम तक के विस्तृत क्षेत्र में हुई थी। जैन-साहित्य संस्कृत-काव्य-परम्परा का अधिक अनुगामी रहा था। इसमें वर्णन शैली, अप्रस्तुत विधान, काव्य-रूढ़ियाँ प्रायः संस्कृत के अनुरूप ही रही हैं। अपभ्रंश के सिद्ध-साहित्य में हम स्वधर्म प्रचार और परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों के प्रति एक व्यंग्य भरी प्रताड़ना का तीखा रूप देखते हैं। सम्पूर्ण सिद्ध-साहित्य जितना भी उपलब्ध हो सका है, मुक्तक रूप में ही मिला है। सिद्ध कवियों ने जहाँ अपनी साधना से सम्बन्धित वर्णन किए हैं वहाँ उनकी भाषा प्रतीकात्मक भाषा बन जाती है, जिसे सन्ध्या-भाषा कहा गया है। और जहाँ वे कबीर के समान विभिन्न प्रकार की रूढ़ियों पर चोट करते हैं वहाँ शैली अभिधात्मक होते हुए भी उसमें एक तीखा, मार्मिक व्यंग्य प्रस्फुटित हो उठता है। सिद्धों की संख्या चौरासी मानी गई है। ये अपनी सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे। जनता इन तान्त्रिक योगियों को अलौकिक शक्ति-सम्पन्न समझती थी। इन सिद्धों में लुइपा, सरहपा, विरूपा, कण्हपा आदि विशेष प्रसिद्ध रहे हैं। इनकी रचनाओं का सर्वप्रथम संग्रह महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री ने "बौद्ध-गान और दोहा" के नाम से प्रकाशित किया था, जिसकी भाषा प्राचीन बँगला थी। इसके उपरान्त राहुल सांकृत्यायन को तिब्बत में सिद्धों की अनेक रचनाएँ प्राप्त हुईं जिनका उन्होंने प्रकाशन कराया और यह आग्रह किया कि इन रचनाओं को हिन्दी-साहित्य में स्थान मिलना चाहिए।

सिद्धों की 'सन्ध्या भाषा'—सिद्ध कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रतीकात्मक भाषा को विद्वानों ने 'सन्ध्या भाषा' नाम दिया है। इस नाम के लोगों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं। कुछ लोगों के अनुसार यह एक ऐसी भाषा है जिसमें सन्ध्या काल के समान प्रकाश और अन्धकार का मिश्रण रहता है और ज्ञान के प्रकाश से उसकी सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'अभिसन्धि या अभिप्राय युक्त वाणी' बताया है। श्री विधुशेखर शास्त्री के अनुसार मूल शब्द 'सन्ध्या' न होकर 'सन्धा' रहा होगा। सम्भव है, इससे दो साहित्यों के सन्धिकाल की भाषा से अभिप्राय रहा हो। इस भाषा को 'सन्ध्या भाषा' नाम सिद्ध सरहपा के दोहा-कोश के व्याख्याकार अद्वयवज्र तथा 'चर्या गीति' के व्याख्याता मुनिदत्त ने दिया था। इसके अतिरिक्त इसे 'सन्ध्या चरण' 'सन्ध्या संकेत' और 'सन्ध्या' भी कहा गया है। डा० सुकुमार सेन के अनुसार जिस भाषा या शब्द में निहित अभीष्ट अर्थ को मर्मज्ञ होकर समझा जाय, उसे सन्ध्या भाषा कहते हैं। डा० दयानन्द श्रीवास्तव के मतानुसार इसमें दो अर्थों की सन्धि रहती है, इसीलिए इसे सन्ध्या भाषा कहा गया है। 'सन्ध्या' शब्द भी दिवस और रात्रि के सन्धि-काल के लिए ही प्रयुक्त होता है। इसलिए इस अर्थ को संगत और प्रामाणिक माना जा सकता है। इसमें अर्थ की द्विधा निहित रहती है।

सिद्धों ने इस भाषा का प्रयोग वहीं किया है जहाँ उन्होंने अपनी अनुभूतियों,

चिन्तन तथा साधना के स्वरूप को व्यक्त करने के लिए गुह्य प्रतीकों और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। इसमें लिखे ऐसे पद मिलते हैं जिनका अभिधार्थ शुद्ध काम-क्रीड़ा से सम्बन्ध रखता है और प्रतीकार्थ साधना की किसी क्रिया-विशेष से। इन सिद्धों का ऐसा ही चमत्कारिक प्रयोग इनकी उलटबाँसियों में मिलता है जिनमें विरोध-मूलक अलंकारों का प्रयोग कर ऊपर से दिखाई पड़ने वालीं असम्भव सी लगने वाली बातें कही गई हैं परन्तु जिनका प्रतीकार्थ नितान्त भिन्न और साधना से सम्बन्ध रखने वाला होता है। हम सिद्धों की इस विशेषता का प्रभाव कालान्तर में कबीर आदि की उलटबाँसियों के रूप में पाते हैं।

सिद्ध-साहित्य का महत्त्व—वस्तुतः सिद्ध-साहित्य का महत्त्व उसकी साहित्यिक श्रेष्ठता के कारण न होकर उसके प्रभाव के ही कारण है। सिद्ध गण तान्त्रिक योगी थे। इनमें से अधिकांश समाज के निम्न वर्ग की ही उत्पत्ति थे—जो अपने अधकचरे दार्शनिक ज्ञान और चमत्कारों के प्रदर्शन द्वारा समाज पर अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न करते रहते थे। उनकी तांत्रिक साधना में नारी और मद्य का प्रधान स्थान रहता था। इनके बिना इनकी कोई भी साधना पूर्ण नहीं समझी जाती थी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' में महाबाराह के साधकों का इसी प्रकार का विस्तृत और प्रभावशाली चित्रण किया है। इनकी साधना में नारी का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योग रहने के कारण अश्लीलता का समावेश हो जाना स्वाभाविक था। अपनी गुह्य साधना को जन-साधारण के लिए अगम्य और दुरूह बनाए रखने के लिए ही इन्होंने नारी-भोग से सम्बन्धित साधनात्मक क्रियाओं को प्रतीकात्मक भाषा में अभिव्यक्त किया है; जैसे—नारी और पुरुष की जननेन्द्रियों के लिए क्रमशः 'कमल' और 'कुलिश' शब्दों का प्रयोग हुआ है। सम्भव है इन क्रियाओं का कोई साधनात्मक मूल्य या महत्त्व रहा हो परन्तु कालान्तर में इनके कारण मुक्त व्यभिचार को ही प्रोत्साहन मिला था, इसीलिए गोरखनाथ को इनका विरोध कर अपनी नई साधना-पद्धति में नारी का पूर्ण बहिष्कार कर देना पड़ा था। गोरखनाथ ने मुक्त व्यभिचार के इस रूप से क्षुब्ध होकर कहा था—

"चारि पहर आलिंगन निद्रा, संसार जाई विषया वाही।"

सिद्ध-साहित्य का सामाजिक महत्त्व यही है कि इसने सभी प्रकार की रूढ़ियों का खंडन करने वाला तीखा स्वर अपने भावी उत्तराधिकारी कबीर आदि को विरासत के रूप में प्रदान किया था। इसका साहित्यिक महत्त्व इतना ही है कि हमें इनके साहित्य में अपभ्रंश के पूर्वी रूप का पता चलता है। परन्तु इनकी भाषा इस प्रकार मिश्रित और अव्यवस्थित है कि उसे न तो विशुद्ध रूप से अपभ्रंश ही मान सकते हैं, यद्यपि उसका रूप-गठन अपभ्रंश का ही रहा है, और न किसी एक प्रदेश विशेष की बोलचाल या साहित्य की भाषा ही उसे माना जा सकता है। यही कारण है कि कोई उनकी भाषा को मागधी अपभ्रंश मानता है और कोई शौरसेनी अपभ्रंश। यही नहीं,

हिन्दी, बँगला, मैथिली, उड़िया, असमी आदि विभिन्न भाषा-भाषी उनकी भाषा को अपने-अपने यहाँ की भाषा मानते हैं। यह सही है कि सिद्ध-साहित्य में स्थानीय लोक-भाषाओं का उभरता हुआ रूप दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह था कि इन सिद्धों में अधिकांश अर्द्ध-शिक्षित या अशिक्षित ही थे। अपनी बात कहने के लिए वह अपभ्रंश के शब्दों को लोक-भाषा में खपा कर प्रस्तुत करते थे। उच्च साहित्यिक भाषा लिखना न तो उनके वश की बात थी, और न उनका ऐसा अभिप्राय ही था।

सिद्धों ने परवर्ती हिन्दी-कवियों को जो सबसे महत्त्वपूर्ण देन दी, वह है उनकी बेलौस मस्ती और निर्द्वन्द्व अक्खड़ता। वह अपनी अनुभूत्यात्मक तन्मयता को बड़े सहज भाव से अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य रखते थे। उनमें कथन की एक ऐसी सहज निश्छलता और ईमानदारी रहती थी जो प्रभावित करती है। रूढ़ियों और उच्चवर्ग पर उनके प्रहार निर्द्वन्द्व, तीखे और व्यंग्यात्मक होते थे। अपनी बात को बिना किसी प्रकार की लाग-लपेट के कह देना, उनका सहज स्वभाव था। इस दृष्टि से कबीर इन सिद्धों के पूर्णावतार से प्रतीत होते हैं। कबीर भी उनकी सी ही बेलौस मस्ती और निर्द्वन्द्व अक्खड़ता लेकर काव्य-क्षेत्र में उतरे थे। इसके अतिरिक्त योग-साधना के क्षेत्र में भी सिद्ध-साहित्य का परवर्ती साधकों और कवियों पर गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है।

सिद्ध-साहित्य में सम-सामयिक जीवन के चित्र भी उभर कर आए हैं। सिद्ध-साहित्य के मर्मज्ञ डा० सुकुमार सेन ने 'चर्या गीति पदावली' की भूमिका में लिखा है—"चर्या गीति में देवी-देवताओं की उपासना नहीं है। इसमें राजा-मंत्री की अनुकथा भी नहीं है। इनका साहित्य न तो किसी पूर्व-परम्परा पर अवलम्बित है, और न यहाँ किसी रीतिसिद्ध धारा का स्वरूप ही नियोजित है। अपने युग का साधारण जीवन-स्वरूप और लोक-जीवन की दैनिक चर्या यहाँ प्रतिबिम्बित है।" सिद्धों के इन चर्या गीतों ने अपने परवर्ती संस्कृत और हिन्दी के गीतकारों—जयदेव, विद्यापति, मीरा, सूर आदि को प्रभावित किया था। साथ ही कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इनके दर्शन ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद को भी प्रभावित किया था। इसका कारण यह है कि अधिकांश सिद्ध बौद्ध थे और शंकर को भी कुछ लोग 'प्रच्छन्न-बौद्ध' कहते हैं। कुछ लोग हिन्दी के भक्ति-आन्दोलन के निर्गुण-पक्ष पर भी इनका प्रभाव मानते हैं और कुछ गोपी-लीला पर भी। ये सिद्ध जीवन के क्षेत्र में प्रवृत्तिमार्गी थे। इनका 'महासुखवाद' सिद्धान्त इसी का द्योतक है। इन्होंने 'महासुख' की दशा की तुलना 'युगनद्ध' नारी-पुरुष की दशा से की है। इसी प्रवृत्तिमार्ग की भावना ने आगे चलकर साधना-पक्ष को गौण बना दिया, और मुक्त-व्यभिचार ही परवर्ती सिद्धों का मूल काम्य बन गया।

नाथ-साहित्य

सिद्धों की परम्परा में हमें आगे चलकर नाथपंथियों द्वारा रचा हुआ साहित्य

मिलता है, जिसकी भाषा हिन्दी के बहुत नजदीक आ गई है। इसलिए इस साहित्य को अपभ्रंश का साहित्य तो नहीं माना जा सकता। परन्तु इसने हिन्दी के निर्गुणिए कवियों को प्रभावित किया था, इसलिए यहाँ इसका उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। नाथों की साधना-पद्धति पर सिद्ध साधना-पद्धति के कुछ अंगों का गहरा प्रभाव लक्षित होता है, इसलिए नाथ-साहित्य को एक प्रकार से सिद्ध-साहित्य का पूरक या उत्तरांश ही मानना चाहिए। इसलिए नाथों को नाथ-सिद्ध भी कहा जाता है जिनकी संख्या भी चौरासी ही मानी गई है। परन्तु इनमें से प्रसिद्ध नौ ही हुए हैं।

नाथ-साहित्य का आरम्भ कब से माना जाय, यह विवादास्पद है। इनके आदि गुरु, जिनका रचा हिन्दी-संस्कृत का साहित्य मिलता है, गुरु गोरखनाथ माने गए हैं, जिन्होंने अपने गुरु सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ (मछिन्दरनाथ) की नारी-भोग-प्रधान साधना-पद्धति का विरोध किया था। गोरखनाथ के समय के सम्बन्ध में काफी विवाद है। उन्हें सातवीं-आठवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी के विभिन्न कालों में माना गया है। (हम इनके साहित्य का विवेचन आगे चलकर करेंगे।) नाथ लोग मूलतः शैव थे। इन लोगों ने सिद्धों की भोग-प्रधान साधना-पद्धति का विरोध कर जीवन की पवित्रता पर विशेष बल दिया था। सिद्ध निरीश्वरवादी थे, शून्य की उपासना करते थे। नाथों ने उस शून्य-साधना को ईश्वरवादी बना दिया था। इन्होंने युगानुकूल नवीन विचारों का समावेश कर एक ऐसे लोकधर्म का प्रवर्त्तन करने का प्रयत्न किया, जिसका लक्ष्य—सात्त्विक जीवन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति थी।

ये नाथ-पंथी साधक भी योग-मार्गी थे। इन पर सिद्धों के कौल आदि अष्टांग-योग-परक साधना-पद्धति का गहरा प्रभाव था। उस हठयोग का प्रवर्त्तन इन्हीं नाथों ने किया था जिसका हम हिन्दी के सन्त-कवियों में दर्शन करते हैं। सिद्धों की साधना-पद्धति प्रवृत्ति-मूलक थी और नाथों की निवृत्ति-मूलक। इसी कारण नाथों ने इन्द्रिय-संयम पर विशेष बल देते हुए नारी से दूर रहने की चेतावनी दी थी। यह नारी-विरोध कबीर में खुलकर सामने आया है। कबीर को इन्हीं से योग-परक साधना की पारिभाषिक शब्दावली विरासत में मिली थी। नाड़ी-साधना, कुण्डलिनी, इंगला, पिंगला, सुषुम्णा, सहस्रदल कमल, ब्रह्मरंध्र, अनहदनाद आदि शब्द नाथों की ही देन है। डा० रामकुमार वर्मा ने नाथों को साधना के सहज मार्ग का प्रवर्त्तक माना है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार इन्होंने अपने "परवर्ती सन्तों के लिए श्रद्धाचरण-प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। जिन सन्त-साधकों की रचनाओं से हिन्दी-साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत कुछ बनी-बनाई भूमि मिली थी।"

यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से नाथ-साहित्य का विशेष महत्त्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि सरस साहित्य की रचना करना इनका उद्देश्य नहीं था। वह तो उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र था। इसी कारण शुक्ल जी द्वारा इस साहित्य को उपेक्षा ही मिली। इस उपेक्षा का एक कारण—नाथों का जीवन के प्रति अत्यधिक

निवृत्ति-परक दृष्टिकोण था। गृहस्थ जीवन के प्रति इनमें गहरा अनादर का भाव था। फिर भी इन्होंने जनता और अपने परवर्ती कवियों को बहुत कुछ दिया था। डा० द्विवेदी ने नाथ-साहित्य की निर्बलता और उपलब्धियों का एक साथ विवेचन करते हुए लिखा है :

"इस साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी—इसका रूखापन और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है। इसी ने इस साहित्य को नीरस, लोक विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था। फिर भी यह दृढ़ कंठ स्वर उत्तरी भारत के धार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने में बड़ा सहायक हुआ। इस दृढ़ कंठ-स्वर ने यहाँ की धार्मिक साधना में गलदश्रु भावुकता और ढुलमुलेपन को नहीं आने दिया। परवर्ती हिन्दी-साहित्य में चरित्रगत दृढ़ता, आचरण-शुद्धि और मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है, उसका श्रेय इस साहित्य को ही है। इसलिए इस पंथ के साहित्य से परवर्ती हिन्दी-साहित्य का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

वस्तुतः सिद्ध और नाथ-साहित्य समाज के उस अंग का साहित्य है जो रूढ़, धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं का दृढ़ता के साथ विरोध कर रहा था। किसी भी प्रकार के आडम्बर, अत्याचार, ऊँच-नीच का भेद आदि का इसने उग्र विरोध किया था। और जनता को प्रभावित करने के लिए चमत्कार-पूर्ण साधना-पद्धतियों का भी आश्रय ग्रहण किया था। लेकिन इनका मूल उद्देश्य—जन-जीवन को शुद्ध और पवित्र बनाने का ही रहा था। लेकिन गुह्य और योग-परक साधना-पद्धति अपनाने के कारण कालान्तर में इनमें विकृति आ गई थी, जो ऐसी पद्धतियों की नियति रहती है। इसलिए हिन्दी-साहित्य के विकास में और जन-जीवन में विकासशील चेतना उत्पन्न करने के लिए इनका ऐतिहासिक महत्त्व सदैव अक्षुण्ण बना रहेगा और माना जाता रहेगा। अस्तु,

धार्मिक अनुचेतना से मुक्त प्रबन्धात्मक तथा मुक्तक अपभ्रंश रचनाएँ

अपभ्रंश-साहित्य में हमें ऐसी रचनाएँ भी मिलती हैं जो किसी भी प्रकार के धार्मिक आग्रहों से मुक्त रही हैं। डा० द्विवेदी ने ऐसी रचनाओं को 'लौकिक रस का साहित्य' कहा है। इनमें प्रबन्ध-काव्य भी हैं और मुक्तक काव्य भी। इनका रचना-काल ग्यारहवीं सदी से लेकर पन्द्रहवीं सदी तक रहा है। प्रबन्ध रचनाओं में—अब्दुर्रहमान का 'संदेश रासक', विद्यापति के 'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्तिपताका' विशेष उल्लेखनीय हैं। मुक्तक काव्यों में 'प्राकृत पैंगलम' महत्त्वपूर्ण है। कुछ लोग 'ढोला-मारूरा दोहा' नामक मारवाड़ी रचना को भी अपभ्रंश की ही रचना मान, उसे प्रबन्ध-काव्यों में स्वीकार कर लेते हैं। यद्यपि रचना-काल की दृष्टि से इन रचनाओं को हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में ही विवेचित होना चाहिए, परन्तु ये अपभ्रंश की रचनाएँ हैं इसलिए हम अपभ्रंश साहित्य के साथ ही इनका विवेचन करना अधिक

संगत समझते हैं। इन रचनाओं का विवेचन इसलिए अपेक्षित है कि इन्होंने अपने परवर्ती हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया है। इनकी अनेक काव्य-परम्पराएँ हिन्दी में यथावत् उतरती चली आई हैं। साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से इनमें 'सन्देश-रासक' सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जा सकता है। हमारी राय में समस्त अपभ्रंश-साहित्य में यही एक ग्रन्थ ऐसा है, जिसका विवेचन हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ में अनिवार्य होना चाहिए।

सन्देश-रासक

यह मुल्तान निवासी जुलाहा-पुत्र अब्दुर्रहमान की अमर काव्य-रचना है। मुसलमान होते हुए भी वह भारतीय संस्कृति और साहित्य के गहन उपासक थे। इसके रचना-काल के सम्बन्ध में काफी विवाद रहा है। विभिन्न विद्वानों ने इसे ग्यारहवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक की रचना घोषित किया है। परन्तु हेमचन्द्राचार्य के 'शब्दानुशासन' में 'सन्देश-रासक' के एक उद्धृत दोहे के आधार पर डा० द्विवेदी इसे ग्यारहवीं सदी की ही रचना मानते हैं क्योंकि हेमचन्द्र ग्यारहवीं सदी की ही विभूति थे।

'सन्देश-रासक' एक विरह-काव्य है। इसकी कहानी बड़ी सरल और मर्मस्पर्शी है। कहानी यह है कि एक पत्नी का पति किसी कार्यवश मुल्तान चला गया था। उसकी पत्नी उसके विरह में व्याकुल थी। इसी बीच उसकी मुलाकात मुल्तान जाने वाले एक पथिक से हो जाती है और कालिदास के यक्ष के समान वह उसे अपनी विरह-वेदना सुनाती हुई, उसके द्वारा अपने पति को सन्देश भेजती है। इसमें कहानी नगण्य है, मुख्य है—उस विरहिणी नारी का विरहालाप। वह उस पथिक को बताती है कि वर्ष की विभिन्न ऋतुओं में उस पर क्या बीतती रही है। यह विरह-निवेदन ही इस विरह-काव्य का एकमात्र और अद्वितीय आकर्षण है। इस वर्णन में विरह की सूक्ष्माति-सूक्ष्म अनुभूतियों को मर्मस्पर्शी सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है। जिस प्रकार कालिदास का 'मेघदूत' कथात्मक होते हुए भी मुक्तक के विशिष्ट सौन्दर्य से उद्भासित हो उठा है, वही विशेषता 'सन्देश-रासक' की रही है। प्रो० शिवकुमार के शब्दों में उस विरहिणी के—"सन्देश में एक गहरी टीस, सुप्त दर्प, प्रेम की सघनता, उपालम्भ एवं आत्म-समर्पण का एक विलक्षण समन्वय है।.....इस सन्देश कथन में नारी हृदय की परवशता, आकुलता और विदग्धता एक साथ मुखरित हो उठी है।" काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह रचना अपभ्रंश-साहित्य में अनन्य स्थान की अधिकारिणी रही है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि परम्परागत उपमाओं का उपयोग करते हुए भी कवि ने आन्तरिक अनुभूति की जैसी मार्मिक व्यंजना की है, वैसी बिरले ही कवि कर सके हैं। प्रकृति-चित्रण करते समय भी यही आन्तरिक अनुभूति ही प्रधान रही है।

डा० द्विवेदी ने 'पृथ्वीराज रासो' से इसकी तुलना करते हुए लिखा है: "संदेश-रासक बहुत महत्त्वपूर्ण विरह-काव्य है। एक तरफ 'ढोला मारू' की मारवणी की याद दिलाता है, और दूसरी तरफ 'पदमावत' की नागमती की। यह पृथ्वीराज रासो से भिन्न प्रकृति का काव्य है। पृथ्वीराज रासो प्रेम के मिलन-पक्ष का काव्य है, और

सन्देश-रासक विरह-पक्ष का; 'रासो' काव्य रूढ़ियों के द्वारा वातावरण तैयार करता है, और सन्देश-रासक हृदय की मर्म-वेदना के द्वारा। 'रासो' में घर के बाहर का वातावरण प्रमुख है, और सन्देश-रासक में भीतर का। 'रासो' नए-नए प्रेम का रोमान्स प्रस्तुत करता है, और सन्देश-रासक पुरानी प्रीति को निखार देता है।"

सन्देश-रासक ललित शैली में एक रचित गेय रचना है। भाषा की दृष्टि से यह है तो अपभ्रंश की ही रचना परन्तु, इसमें कहीं-कहीं हिन्दी का रूप झलकने लगा है। कुछ लोग इसे 'ग्राम्य अपभ्रंश' की रचना मानते हैं। इस मत का खंडन करते हुए डा० नामवर सिंह ने लिखा है—"यह समझना भ्रान्ति है कि यह ग्राम्य अपभ्रंश में लिखा हुआ काव्य है। वस्तुतः इसके भाव और भाषा पर नागरता की छाप है। छन्द-विविधता और अलंकार-सज्जा—दोनों दृष्टियों से 'सन्देश' अत्यन्त परिमार्जित रचना है।"

इस काव्य का परवर्ती हिन्दी-साहित्य पर गहरा प्रभाव लक्षित होता है।

प्राकृत पैंगलम्

इसमें अनेक कवियों की रचनाएँ संग्रहीत हैं। विद्याधर, शार्ङ्गधर, जज्जल, बब्बर आदि अनेक कवियों की रचनाओं में वीर, शृङ्गार, देव-स्तुति, ऋतुवर्णन आदि अनेक विषयों का समावेश मिलता है। विषय-विविधता और भाषा-रूप की दृष्टि से ही इस ग्रन्थ का महत्त्व माना जा सकता है। इसमें संग्रहीत कवियों की भाषा अपभ्रंश है, न कि राहुल जी के मतानुसार 'पुरानी हिन्दी'।

'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्तिपताका'

अपभ्रंश भाषा में रचित ग्रन्थों की परम्परा में विद्यापति (चौदहवीं सदी) के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों का उल्लेख आवश्यक है। इनमें विद्यापति ने तिरहुत के राजा कीर्त्तिसिंह की वीरता, उदारता, गुण-ग्राहकता आदि का वर्णन किया है। ये दोनों ऐतिहासिक प्रशस्ति-परक ग्रन्थ हैं। भाषा पूरबी अपभ्रंश है। छन्दों में अपभ्रंश के दोहा, चौपाई, छप्पय, छन्द, गाथा आदि का प्रयोग हुआ है। इन ग्रन्थों की विशेषता यह है कि एक तो इनमें इतिहास को रासो ग्रन्थों के समान विकृत न कर सही रूप में उतारा गया है, और इसी कारण उस काल के समाज, युद्ध आदि का यथार्थ चित्रण किया गया है। डा० द्विवेदी के अनुसार इन वर्णनों में—"कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नहीं है जो छाया और आलोक के सामंजस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाती है; बल्कि उस शिल्पी की टाँकी के समान है जो मूर्त्तियों को भित्तिमात्र में उभार देता है, हम उत्कीर्ण मूर्त्ति की ऊँचाई-नीचाई का पूरा-पूरा अनुभव करते हैं।"

अपभ्रंश-साहित्य के इस विवेचन में हम 'ढोला मारू रा दोहा' का विवेचन करना अपेक्षित नहीं समझते, क्योंकि यह अपभ्रंश की रचना न होकर डिंगल की रचना है। इसलिए हम हिन्दी-साहित्य के आदि-काल के अन्तर्गत ही उसका विवेचन करेंगे।

यहाँ हम आगे बढ़ने से पूर्व एक बात को और स्पष्ट कर देना चाहते हैं। और वह यह है कि हमने जिस अपभ्रंश-साहित्य का परिचय दिया है, उसका रचना-काल सातवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक फैला हुआ है। और इस बीच में ही हम हिन्दी-साहित्य का उदय होते हुए पाते हैं। हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकारों में से अनेक ने इसीलिये अनेक अपभ्रंश रचनाओं का विवेचन हिन्दी-रचनाओं के साथ आदि-काल के अन्तर्गत किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस अवैज्ञानिक प्रक्रिया से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने अपभ्रंश रचनाओं का 'अपभ्रंश-काल' शीर्षक के अन्तर्गत विवेचन कर हिन्दी रचनाओं का पृथक् विवेचन किया है और उसका शीर्षक 'वीरगाथा काल' रखा है।

यहाँ हम काल के नामकरण की उपयुक्तता या असंगति के विवाद में न पड़, यही कहना अलम् समझते हैं कि—शुक्ल जी की यह पद्धति ही संगत मानी जा सकती है। हम हिन्दी-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं, न कि अपभ्रंश-साहित्य का। अपभ्रंश-साहित्य का उल्लेख और विवेचन केवल हिन्दी-साहित्य की पूर्व-पीठिका के रूप में ग्राह्य माना जा सकता है। हिन्दी-साहित्य के समानान्तर रचे जाने वाले अपभ्रंश-साहित्य की ग्राह्यता केवल उसी दशा में स्वीकार की जा सकती है, यदि उसने किसी भी रूप में हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया हो। अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। उदाहरण के लिए हम विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्तिपताका' को ले सकते हैं। ये दोनों अपभ्रंश की रचनायें हैं। भाषा-विकास की दृष्टि से इनका आंशिक महत्त्व माना जा सकता है, परन्तु हिन्दी-साहित्य को प्रभावित करने की दृष्टि से नहीं। इसीलिए हमने इनका अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया है। और इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी, क्योंकि इसके रचयिता विद्यापति हिन्दी के कवि माने जाते हैं, और दो भाषाओं में रचना करने के कारण उनके द्विधात्मक कवि-रूप का उद्घाटन आवश्यक हो जाता है। अस्तु,

अब हम अपभ्रंश-साहित्य के इस परिचय को यहीं समाप्त कर यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इस साहित्य ने हिन्दी-साहित्य को किस रूप में प्रभावित किया था, और हिन्दी किस रूप में उसकी ऋणी है।

अपभ्रंश की हिन्दी-साहित्य को देन

शुक्ल जी ने यह माना था कि हिन्दी-साहित्य का विकास अपभ्रंश-साहित्य से माना जा सकता है। हमने अपभ्रंश-साहित्य का विकास देखते हुए यह पाया था कि उसमें धार्मिक और लौकिक, प्रबन्ध और मुक्तक—दोनों प्रकार के साहित्य की रचना प्रचुर परिमाण में हुई थी। अपभ्रंश का मुक्तक काव्य संस्कृत-प्राकृत की मुक्तक-काव्य परम्परा से भिन्न कोटि का काव्य था। परन्तु प्रबन्ध-काव्य संस्कृत की समृद्ध परम्परा से एक तरफ तो बहुत कुछ लेकर चला था और दूसरी तरफ काव्य-विधाओं के रूप में उसने सर्वथा नवीन मौलिक काव्य-विधाओं को जन्म दिया था। हम हिन्दी-साहित्य

के प्रारम्भिक प्रबन्ध काव्यों पर, जो रासो के नाम से प्रसिद्ध हैं, अपभ्रंश की प्रबन्ध-काव्य परम्परा का प्रभाव पाते हैं। अपभ्रंश की मुक्तक-काव्य परम्परा ने हिन्दी के सन्त-साहित्य को गहरे रूप से, और शृंगारकालीन शृंगारी साहित्य को आंशिक रूप से प्रभावित किया है। समष्टि रूप से हम विषय तथा काव्य-परिवेश—दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी-साहित्य को अपभ्रंश-साहित्य से अनुप्राणित और प्रभावित पाते हैं। हिन्दी की आरम्भिक रचनाएँ अपभ्रंश भाषा से प्रभावित मिलती हैं। हिन्दी के रासो काव्यों में कहीं-कहीं अपभ्रंश भाषा मुक्त रूप से प्रयुक्त हुई है। अपभ्रंश की द्वित्त्व वर्णों वाली प्रवृत्ति का प्रभाव डिंगल और हिन्दी के शृंगारयुगीन वीर-काव्य तक चला आया है। इन विविध प्रकार के प्रभावों का ही यह परिणाम है कि हिन्दी-साहित्य की आरम्भिक कृतियाँ साहित्यिक सौष्ठव, परिपक्वता और रूप-गठन की दृष्टि से आरम्भिक अटपटे प्रयत्नों से भरी कृतियाँ न रहकर साहित्यिक प्रौढ़ता का प्रमाण प्रस्तुत करने में पूर्ण समर्थ रही हैं। यदि हिन्दी साहित्य के आरम्भिक रचनाकारों को विरासत के रूप में अपभ्रंश-साहित्य की समृद्ध काव्य परम्परा न मिली होती तो उनकी कृतियाँ अटपटे साहित्यिक प्रयास मात्र बनकर रह जातीं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश के चरित-काव्यों के हिन्दी-साहित्य पर पड़े प्रभाव को मुक्त हृदय से स्वीकार करते हुए कहा है कि—"इन चरित-काव्यों के अध्ययन से परवर्ती काल के हिन्दी-साहित्य के कथानकों, कथानक रूढ़ियों, काव्य-रूपों, कवि-प्रसिद्धियों, छन्द-योजना, वर्णन-शैली, वस्तु-विन्यास, कवि-कौशल आदि की कहानी स्पष्ट हो जाती है। इसलिए इन काव्यों से हिन्दी-साहित्य के विकास के अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है।"

परन्तु हमारे उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि परवर्ती हिन्दी-साहित्य यथावत् अपभ्रंश-साहित्य का अनुकरण मात्र है। हिन्दी के आरम्भिक रचनाकारों ने काव्य-परिवेश के रूप में ही अपभ्रंश का आभार स्वीकार किया है और उनकी मौलिकता एवं काव्य-प्रतिभा ने उनकी रचनाओं को अपभ्रंश की उसी कोटि की रचनाओं से काफी विकसित और समृद्ध रूप प्रदान कर दिया है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि हमारा आरम्भिक हिन्दी-साहित्य किन-किन रूपों में अपभ्रंश-साहित्य का ऋणी रहा है।

विषयगत प्रभाव

विषय की दृष्टि से हम अपभ्रंश की तीन प्रधान परम्पराएँ मान सकते हैं—पौराणिक, शृङ्गारिक तथा वीर-रसात्मक और आध्यात्मिक रहस्यवादी। इनमें से हम पौराणिक परम्परा का हिन्दी में अनुगमन नहीं पाते। हिन्दी के आरम्भिक युग में पौराणिक परम्परा वाला एक भी काव्य नहीं लिखा गया। हिन्दी में पौराणिक-काव्य परम्परा भक्तिकाल से आरम्भ होती है और उस पर संस्कृत की पौराणिक परम्परा का प्रभाव है, न कि अपभ्रंश का। आधुनिक हिन्दी पौराणिक-काव्य तो

विशुद्ध रूप से संस्कृत से ही प्रभावित रहे हैं। परवर्ती जैन-कवियों ने भी जो पौराणिक काव्य लिखे, अपभ्रंश में ही लिखे क्योंकि अपभ्रंश जैन-धर्म की भाषा बन चुकी थी। हिन्दी में अपभ्रंश की शृङ्गारिक और वीर-रसात्मक काव्य-परम्परा का प्रभाव हमें हिन्दी के डिंगल-ग्रन्थों में मिलता है। 'ढोला मारू रा दोहा' में इसके प्रमाण मिल जाते हैं। डिंगल पर यह प्रभाव इसलिए पड़ा, क्योंकि अपभ्रंश-काव्यों की रचना डिंगल के समीपवर्ती प्रदेशों गुजरात आदि में ही हुई थी। शृंगारकालीन बिहारी आदि पर छन्द-विधान की दृष्टि से तो अपभ्रंश का प्रभाव माना जा सकता है—क्योंकि बिहारी ने अपभ्रंश के सर्वप्रधान छन्द दोहे को अपनाया था, परन्तु भावपक्ष की दृष्टि से बिहारी संस्कृत की शृङ्गारिक परम्परा से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं। वस्तुतः अपभ्रंश की शृङ्गार-शौर्य वाली परम्परा केवल डिंगल-साहित्य में ही विकसित हुई है। आध्यात्मिक रहस्यवादी परम्परा हिन्दी के सन्त-कवियों में पल्लवित हुई है। परन्तु हठयोग और उलटबाँसियों के ही रूप में। कबीर की भक्ति-भावना वैष्णव भक्ति-भावना का ही उन्मेष है।

अभिव्यंजना

कतिपय कथानक रूढ़ियों आदि के रूप में अपभ्रंश की अभिव्यंजना पद्धति ने हिन्दी के आरम्भिक प्रबन्ध-काव्यों और परवर्ती सूफी काव्यें को खूब प्रभावित किया है। चित्रदर्शन या गुणश्रवण से अनुराग उत्पन्न होना, सुए का पथ-प्रदर्शक का कार्य करना, सिंहलद्वीप को सुन्दरियों का देश मानना, नायक-नायिका का मिलन के उपरान्त पुनः बिछुड़ जाना, अलौकिक शक्तियों की अनुकम्पा से उनका पुनः मिलन होना आदि कथानक रूढ़ियाँ अपभ्रंश के नेमिनाथ चरित, करकंड चरित, भविसयत्त कहा (भविष्य-दत्त कथा) तथा हिन्दी के पृथ्वीराज रासो, पदमावत आदि प्रबन्ध-काव्यों में समान रूप से अपनायी गई हैं। परन्तु ये कथानक रूढ़ियाँ अपभ्रंश की निजी सम्पति न होकर लोक-कथाओं से उद्भूत हुई थीं। इसलिए निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी कवियों ने इन्हें अपभ्रंश से लिया था या लोक-कथाओं से। हिन्दी के जिन प्रबन्ध-काव्यों में विरह का वर्णन करते समय षट्-ऋतु-वर्णन और बारहमासा का आधार गृहण किया गया है, उन पर अपभ्रंश के 'सन्देश-रासक' की छाया दिखाई पड़ती है। षट्ऋतु-वर्णन तो संस्कृत काव्यों में भी मिल जाता है परन्तु बारहमासा लोक गीतों से होता हुआ अपभ्रंश में ही सबसे पहले दिखाई पड़ता है और फिर पदमावत आदि में उतर आता है। संस्कृत में बारहमासा नहीं मिलता। इसलिए जायसी आदि पर अपभ्रंश का प्रभाव माना जा सकता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अपभ्रंश की इन कथानक रूढ़ियों तथा विरह-वर्णन का प्रभाव हिन्दी के रासो आदि प्रारम्भिक काव्यों तथा सूफी कवियों में ही मिलता है, इनके बाद के हिन्दी कवियों में नहीं। कवि प्रसिद्धियों, अप्रस्तुत वर्णनों आदि की परम्परा संस्कृत और अपभ्रंश; दोनों में समान रूप से मिलती है और हिन्दी में भी उनका वही रूप प्राप्त होता है। दर-असल अभिव्यंजना के क्षेत्र में हिन्दी का सन्त-काव्य ही अपभ्रंश के बौद्ध-सिद्धों और

नाथों की अभिव्यंजना शैली से प्रभावित रहा है। नए प्रतीक, विरोध-मूलक अलंकार, उलटबाँसियाँ, हठयोग की क्रियाओं का वर्णन आदि सन्तों ने अपने इन पूर्ववर्ती सिद्ध-कवियों से ही ग्रहण किए हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

छन्द-विधान पर प्रभाव

छन्द-विधान के क्षेत्र में हिन्दी-साहित्य अपभ्रंश की छन्द-परम्परा से गहरे रूप से प्रभावित रहा है। हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य तक हम हिन्दी को अपभ्रंश के छन्दों का ही प्रयोग करते पाते हैं। हिन्दी का छन्द-विधान संस्कृत का किसी भी रूप में ऋणी नहीं रहा है। केवल आधुनिक युग में हरिऔध आदि ने संस्कृत छन्दों का सहारा लिया था, परन्तु उनकी यह परम्परा भी आगे विकसित न हो सकी। हमारा अनुमान है कि संस्कृत की रूढ़ छन्द-परम्परा को सबसे पहले प्राकृत में भंग किया गया था और 'गाथा' या 'गाहा' नामक छन्द प्राकृत का पर्याय बन गया था। अपभ्रंश ने संस्कृत के अतुकान्त छन्दों का बहिष्कार किया और मात्रिक तुकान्त छन्दों को जन्म दिया। और हिन्दी में इन्हीं मात्रिक और तुकान्त छन्दों का निरन्तर प्रयोग होता रहा। हम हिन्दी के आधुनिक काव्य में ही मात्रिक और तुकान्त छन्दों की अवहेलना देखते हैं, उससे पहले हिन्दी छन्द पूर्णरूपेण अपभ्रंश छन्दों का अनुगामी रहा है। दोहा, चौपाई आदि छन्द हिन्दी को अपभ्रंश की ही देन हैं। हिन्दी का सवैया अपभ्रंश के त्रोटक का ही परिवर्द्धित रूप प्रतीत होता है।

दोहा छन्द अपभ्रंश का पर्याय-सा बन गया है। जिस प्रकार 'गाथा' या 'गाहा' कहने से प्राकृत का बोध होता है, उसी प्रकार 'दोहा' कहने से अपभ्रंश का। और हिन्दी में इस छन्द का कितना अधिक प्रयोग हुआ है, यह सर्वविदित है। सूफी-कवियों तथा तुलसी द्वारा अपनायी गई दोहा-चौपाई वाली कथा-पद्धति का आरम्भिक रूप हमें अपभ्रंश-कवि धनपाल के 'भविष्यदत्त कथा' नामक काव्य में मिल जाता है। यहाँ तक कि डिंगल के 'ढोला मारू रा दोहा' में भी इसका प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश के सिद्ध कवियों ने भी हिन्दी को अनेक छन्द दिए थे। सोरठा, पादाकुलक, अडिल्ल, द्विपदी, उल्लाला, रोला, पद आदि हिन्दी को उन्हीं की देन है। 'पद' का प्रयोग प्रायः लोकगीतों में ही होता रहा था परन्तु सिद्ध गण उसे साहित्य में ले आए। और पदों की यह परम्परा हिन्दी में विद्यापति, सूर, कबीर आदि में खूब पल्लवित होती दिखाई पड़ी। पदों की यह परम्परा गेय रही है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि संस्कृत के जयदेव की गीत-परम्परा पर बौद्ध-सिद्धों के चर्या-पदों का प्रभाव था।

प्रभावों का सिंहावलोकन

हिन्दी-साहित्य पर अपभ्रंश-साहित्य के उक्त प्रभावों को देखकर ही हिन्दी के वरिष्ठ आलोचकों और इतिहास-लेखकों ने हिन्दी-साहित्य का उद्भव अपभ्रंश-साहित्य से मान उसे अपभ्रंश-साहित्य का विकसित रूप माना था। हमने उपर्युक्त विश्लेषण में छन्द-विधान तथा रहस्यवादी आध्यात्मिक उक्तियों के क्षेत्र में अपभ्रंश के प्रभाव को

निस्संकोच स्वीकार किया है। हिन्दी के गीतिकाव्य पर अपभ्रंश का गहरा प्रभाव रहा है। परन्तु हिन्दी का ऐसा साहित्य, जिसे हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट साहित्य माना जाता है, अर्थात् भक्ति और शृंगारयुगीन साहित्य—अपनी मूल प्रेरणा के लिए संस्कृत का ही आभारी रहा है, न कि अपभ्रंश का। जहाँ तक सूफी कवियों द्वारा अपनायी गई कथानक रूढ़ियों का सम्बन्ध है, उनका मूल उद्गम लोक-कथाएँ ही रही हैं। अपभ्रंश ने भी उन्हें वहीं से लिया है, परन्तु हिन्दी ने उन्हें अपभ्रंश के माध्यम से ग्रहण किया है अथवा सीधा लोक-कथाओं से लिया है, इसके सम्बन्ध में अन्तिम रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक भावधारा का सम्बन्ध है, वह संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश में एक अविच्छिन्न, निरन्तर प्रवाहित होने वाली स्रोतस्विनी के समान आगे बढ़ती चली आई है, और हिन्दी-साहित्य में और आगे बढ़ी है। इसलिए इस भाव-धारा के विकास का अध्ययन करने के लिए अपभ्रंश-साहित्य का मनन इसलिए आवश्यक हो जाता है, क्योंकि वह उसके बीच की एक कड़ी है। परन्तु इस भावधारा को अपभ्रंश की देन नहीं माना जा सकता। इस क्षेत्र में हिन्दी का उत्कृष्ट साहित्य संस्कृत का ही ऋणी रहा है। हिन्दी केवल काव्य-रूपों और छन्द-विधान के लिए ही अपभ्रंश की आभारी रही है। परन्तु अपभ्रंश की इस देन को साधारण देन नहीं माना जा सकता। डा० नामवर सिंह ने इसी आभार को स्वीकार करते हुए लिखा है :

"भावधारा के विषय में अपभ्रंश से हिन्दी का जहाँ केवल ऐतिहासिक सम्बन्ध है, वहाँ काव्य-रूपों और छन्दों के क्षेत्र में उस पर अपभ्रंश की गहरी छाप है। रूप-विधान विषय-वस्तु की अपेक्षा धीरे-धीरे बदलता है, और इस विषय में रूढ़ियों का पालन अधिक दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि हिन्दी ने अपभ्रंश की काव्य-सम्बन्धी अनेक परिपाटियों का ज्यों का त्यों और कुछ को थोड़ा सुधार कर स्वीकार कर लिया है। इस तरह हिन्दी ने अपभ्रंश की जीवन्त परम्परा का भाषा और साहित्य दोनों क्षेत्रों में ऐतिहासिक विकास किया है।"

हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन

हिन्दी-साहित्य का इतिहास लगभग नौ-सौ वर्ष की विस्तृत अवधि में लिखा जाता रहा है, इसलिए इसके सुचारु अध्ययन और क्रमिक विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसे विभिन्न कालावधियों में विभाजित करना अनिवार्य हो जाता है। किसी भी विषय के ऐतिहासिक क्रम-विकास के अध्ययन की अभी तक यही प्रक्रिया संगत मानी जाती रही है और अपनायी गई है। साहित्य के इतिहास के विभिन्न काल-खंड अपनी कुछ अनन्य विशिष्टताओं के साथ आविर्भूत होते हैं। हमें किसी एक निश्चित काल-खंड में कुछ ऐसी समान विशिष्टताएँ मिल जाती हैं जो इस बात में सहायक रहती हैं कि हम उनके आधार पर उस विशिष्ट काल-खंड को एक विशिष्ट धारा का प्रतिनिधि मान, उसे किसी एक उपयुक्त और संगत संज्ञा से विभूषित कर सकें। इसलिए केवल आदि, मध्य, उत्तर आदि समय-सूचक नामों का प्रयोग करने से ही हमारा काम नहीं चल सकता। हमें इससे भिन्न, अधिक वास्तविक पद्धति का अनुसरण करना पड़ेगा।

साहित्य का मूल—उसका कथ्य होता है। यदि उसका कथ्य आरम्भ से आज तक एक ही रहता, उसमें परिवर्तन और भिन्नताएँ न मिलतीं तो उसको काल-खंडों में विभाजित करने की आवश्यकता ही न पड़ती। परन्तु संसार के अन्य समृद्ध साहित्यों के समान हिन्दी-साहित्य में भी हम समय-समय पर कथ्य में परिवर्तन होता हुआ पाते हैं। यहाँ कथ्य से हमारा अभिप्राय—उस विशिष्ट विषय या भावधारा से है जो साहित्यकारों को साहित्य-सृजन के लिए अनुप्रेरित करती रहती है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते समय हम देखते हैं कि कोई एक विशिष्ट काल-खंड समग्रतः किसी एक विशिष्ट भावधारा अर्थात् कथ्य से प्रभावित रहा है और उस काल खंड में उसी का प्राबल्य रहा है। साथ ही उस काल-खंड में अन्य विषय भी मिलते हैं, परन्तु देखना यह है कि रचनाओं की दृष्टि से उनका परिमाण और साहित्यिक मूल्य कितना रहा है। हमें उस विशिष्ट काल-खंड का नामकरण उस प्रधान विषय के

आधार पर ही करना चाहिए, अन्य विषयों को उनके लिए उपयुक्त शीर्षकों के अनुसार उप-खंडों में विभाजित करना पड़ेगा। और व्यापक दृष्टि से देखने पर इस पद्धति को उन छोटे-छोटे विषयों की उपेक्षा करना नहीं माना जायेगा। यदि किसी काल-खंड में हमें किसी एक ही विषय की प्रधानता न मिलकर, कई भिन्न विषयों की रचनाएँ मिलती हैं, तब उस काल-खंड को विषय के आधार पर कोई एक सुनिश्चित नाम प्रदान करना एक समस्या बन जाती है। ऐसी स्थिति में हमें किसी ऐसे शीर्षक की तलाश करनी पड़ेगी, जो उस काल-खंड का परिचय दे सके। काल-विभाजन की यह प्रक्रिया विभिन्न काल-खंडों का मोटा विभाजन करने के लिए उपयुक्त रहेगी।

इसके उपरान्त जब हम यह देखते हैं कि किसी एक युग में मूल कथ्य तो एक ही रहा है, परन्तु शाखाओं में विभाजित हो गया है। ऐसी स्थिति में हम उन शाखाओं की विशिष्टता के आधार पर उनका उप-विभाजन कर सकते हैं। भक्ति-काल के सम्बन्ध में हमें यही प्रक्रिया अपनानी पड़ेगी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन करते समय मूलतः इसी प्रक्रिया को अपनाया है और कथ्य को 'प्रवृत्ति' कहा है। उनके इतिहास का मूल ढाँचा यही रहा है। यह दूसरी बात है कि उनके द्वारा काल-खंडों का नामकरण विवादग्रस्त हो और लोगों ने उनसे अपनी असहमति प्रकट की हो। जब हम कथ्य को ही काल-विभाजन का मूलाधार मानकर चलेंगे तो हमें इस बात के प्रति अधिक सचेत रहना पड़ेगा कि कथ्य की विविधता रहते हुए किसी के प्रति अन्याय या उपेक्षा न हो पाए।

पूर्ववर्ती काल-विभाजन

हिन्दी-साहित्य का इतिहास लगभग उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लिखा जाना प्रारम्भ हो गया था। हिन्दी-साहित्य के सर्वप्रथम इतिहासकारों—फ्रांसीसी गार्सां द तासी तथा भारतीय शिवसिंह सेंगर ने इतिहास तो लिखे थे, मगर सुसंगत काल-विभाजन नहीं किया था। काल-विभाजन का सर्वप्रथम प्रयास सर जार्ज ग्रियर्सन ने किया था और वह स्वयं इस विभाजन की न्यूनताओं से परिचित थे। उन्होंने सबसे बड़ी गलती तो यह की थी कि अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार कर उसका आरम्भ आठवीं सदी के आरम्भ से माना था और उसे चारण-काल कहा था। उन्होंने विभिन्न कालों के शीर्षक इस प्रकार से रखे थे कि वे अध्यायों के से शीर्षक प्रतीत होते हैं; जैसे—'जायसी की प्रेम कविता, 'कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान' आदि।

इस क्षेत्र में ग्रियर्सन के उपरान्त मिश्रबन्धुओं द्वारा लिखा गया 'मिश्रबन्धु-विनोद' दूसरा उल्लेखनीय इतिहास है। इन्होंने भी ग्रियर्सन का ही अनुकरण करते हुए हिन्दी-साहित्य का आरम्भ आठवीं सदी से माना और मध्यकाल तक के साहित्य का विभाजन 'आरम्भिक काल', 'माध्यमिक काल' में किया। उन्होंने शुक्लजी के

रीतिकाल को 'अलंकृत काल', रीतिकाल के उत्तरार्द्ध को 'परिवर्तन काल' और आधुनिक काल को 'वर्तमान काल' माना। कतिपय असंगतियों एवं न्यूनताओं के रहते हुए भी मिश्रबन्धु यथार्थ के अधिक नजदीक पहुँच गए थे।

'मिश्रबन्धु विनोद' के उपरान्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' सामने आया। शुक्लजी ने पहला काम तो यह किया कि अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी-साहित्य से अलग मान, उसे केवल हिन्दी-साहित्य की पूर्व-पीठिका के रूप में ही आंशिक रूप से स्वीकार किया क्योंकि उनकी दृष्टि में यह सारा साहित्य धार्मिक-साहित्य था, इसलिए साहित्य के इतिहास में स्वीकार्य नहीं था। इसे शुक्लजी का पहला क्रान्तिकारी कदम माना जा सकता है। शुक्लजी ने दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि उन्हें जिस काल-खंड के भीतर किसी विशेष प्रवृत्ति की सूचक रचनाओं की बहुलता मिली तो उस काल-खंड का नामकरण उसी प्रवृत्ति विशेष के आधार पर रख दिया। साथ ही उन्होंने ग्रन्थों की प्रसिद्धि को भी महत्त्व दिया। शुक्लजी के अनुसार इस पद्धति से विभाजन करने से यह लाभ होगा कि—

"इस प्रकार प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा सकता है। किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी एक ढंग की रचना को लें, वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी।....दूसरी बात है—ग्रन्थों की प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर एक ही ढंग के बहुत अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ चले आते हैं, उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अन्तर्गत मानी जायेगी।....प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। इन दोनों बातों की ओर ध्यान रखकर काल-विभाग का नामकरण किया गया है।"

अपनी उपर्युक्त स्थापनाओं के आधार पर शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का विभाजन चार कालों में इस प्रकार किया है :—

१—आदि काल...(वीरगाथा काल, संवत् १०५०—१३७५)
२—पूर्व मध्यकाल....(भक्तिकाल, संवत् १३७५—१७००)
३—उत्तर मध्यकाल...(रीतिकाल, संवत् १७००—१९००)
४—आधुनिक-काल....(गद्यकाल, संवत् १९००—.......)

उपर्युक्त काल-विभाजन में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। शुक्लजी ने पहले प्रत्येक काल की सीमावधि निर्धारित कर उसे काल-खण्डों—आदि काल, पूर्व मध्यकाल आदि में विभाजित किया है और साथ ही मूल प्रवृत्ति के आधार पर प्रत्येक काल-खंड का नामकरण किया है। उन्होंने प्रत्येक काल का वर्णन इस प्रकार किया है कि पहले तो उक्त काल की विशेष प्रवृत्ति-सूचक रचनाओं का वर्णन हुआ है, जो उस काल के लक्षण के अन्तर्गत होंगी, तदनन्तर संक्षेप में, उनके अतिरिक्त अन्य प्रकार की ध्यान देने योग्य रचनाओं का उल्लेख किया है।

शुक्ल जी के उपरान्त डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखा जिसमें उन्होंने मिश्रबन्धुओं के समान आरम्भिक युग को आठवीं सदी से बारहवीं सदी तक मान उसके दो खंड कर दिए—सन्धिकाल और चारण काल। अन्य कालों को उन्होंने शुक्ल जी के अनुसार ही माना है। डा० वर्मा ने आदिकाल और भक्तिकाल—इन दो कालों का ही विवेचन किया है।

डा० श्यामसुन्दर दास ने अपने 'हिन्दी-साहित्य' में काल-विभाजन शुक्ल जी के अनुसार ही किया है परन्तु विवेचन करते समय यह मौलिकता दिखाई है कि हिन्दी-साहित्य की प्रत्येक प्रधान प्रवृत्ति का विकास एवं इतिहास—आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक का—एक साथ प्रस्तुत कर दिया है। अगर ऐसा ही करना था तो सम्पूर्ण इतिहास को चार कालों में विभाजित कर उसे विभिन्न सीमावधियों में क्यों बाँधा गया? उन्होंने आधुनिक काल को 'नवीन काल' नाम दिया है।

इसके उपरान्त डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी-साहित्य' सामने आता है। यह भी हिन्दी-साहित्य का इतिहास ही है। उन्होंने शुक्ल जी के 'वीरगाथा काल को वीरगाथा काल न मानकर 'आदिकाल' की संज्ञा प्रदान की है। वह वीरगाथा जैसी किसी प्रवृत्ति का उस काल में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मानते। इसके अतिरिक्त उन्होंने काल-विभाजन का ढाँचा शुक्ल जी के अनुसार ही रखा है। यहाँ यह तथ्य द्रष्टव्य है कि शुक्ल जी ने भी आरम्भिक काल का मूल नाम 'आदिकाल' ही रखकर उसके दो खंड कर दिए हैं—अपभ्रंश काल और देशभाषा काव्य। इसलिए 'आदि-काल' नाम डा० द्विवेदी की मौलिकता का प्रतीक नहीं है। डा० द्विवेदी ने एक ओर तो 'आदिकाल' से पूर्व 'प्रस्तावना' के अन्तर्गत अपभ्रंश काव्य का विवेचन किया है; और फिर 'आदिकाल' के अन्तर्गत—'सन्देश रासक', 'कीर्त्तिलता', 'कीर्त्तिपताका' जैसे ग्रन्थों का परिचय दिया है जो अपभ्रंश के ग्रन्थ हैं न कि हिन्दी के। काल-क्रमानुसार इन ग्रन्थों की रचना 'आदिकाल' में ही हुई थी, परन्तु इसी आधार पर इन्हें हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता। यदि इन्हें स्वीकार करना है तो फिर इस काल में रचे संस्कृत ग्रन्थों ने क्या अपराध किया है जो उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डा० द्विवेदी ने 'काल' शब्द का प्रयोग केवल आदिकाल और आधुनिक काल के लिए ही किया है। भक्ति-काल और श्रृंगारकाल को उन्होंने 'काल' न कहकर 'भक्तिकाव्य', 'प्रेममार्गी काव्य' कहा है। साथ ही भक्तिकाल का उन्होंने 'भक्ति साहित्य का आविर्भाव', 'वास्तविक हिन्दी-साहित्य का आरम्भ' शीर्षक देकर विवेचन किया है। समष्टि रूप से डा० द्विवेदी का इतिहास काल-विभाजन की दृष्टि से आचार्य शुक्ल का ही अनुगामी रहा है।

डा० द्विवेदी से पहले एवं बाद में भी हिन्दी-साहित्य के अनेक छोटे-बड़े इतिहास लिखे गए हैं जो न्यूनाधिक रूप में शुक्ल जी द्वारा निर्धारित काल-विभाजन

की लक्ष्मण-रेखा के भीतर ही रहे हैं। कुछ लोगों ने विभिन्न कालों के नामकरण करने में मौलिकता दिखाई है और कुछ वैज्ञानिकता की दुहाई देते हुए वर्गीकरण का एक मकड़ी का सा जाला बुन गए हैं, जिसके कारण स्पष्टता के स्थान पर अस्पष्टता की सृष्टि ही अधिक हुई है। मौलिकता प्रदर्शित करने का मोह कभी-कभी पथभ्रष्ट भी कर देता है। इसलिए इससे सावधान रहना चाहिए।

हम ऊपर कह आए हैं कि हिन्दी के आधुनिक इतिहासकारों ने इतिहास लिखते समय शुक्लजी द्वारा निर्धारित ढाँचे को ही स्वीकार किया है, वही उनका मूलाधार रहा है। इसलिए यहाँ हम शुक्लजी द्वारा किए काल-विभाजन पर पुनः एक दृष्टि डालने का प्रयत्न करेंगे। ऐसा करते समय हमें एक बात का विशेष ध्यान रखना पड़ेगा और वह यह कि शुक्लजी के उपरान्त हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व शोधकार्य हुआ है जिससे नए-नए तथ्य प्रकाश में आए हैं, और उन तथ्यों के आधार पर अनेक स्थलों पर शुक्लजी की स्थापनाओं से सहमत हो पाना कठिन हो उठता है। शुक्लजी अपनी सीमाओं से परिचित थे। वीरगाथा काव्य का विवेचन करते हुए उन्होंने अपनी मजबूरी को स्वीकार कर लिया था। वह जानते थे कि ये वीरगाथाएँ संदिग्ध हैं। इसीलिए उन्होंने हताश से स्वर में लिखा था—"इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर जो थोड़ा-बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें सन्तोष करना पड़ता है।"

शुक्ल जी के काल-विभाजन और नामकरण का औचित्य

यहाँ हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि शुक्ल जी द्वारा किया गया काल-विभाजन और विभिन्न कालों का नामकरण उचित है अथवा अनुचित। शुक्लजी द्वारा निर्धारित 'भक्तिकाल' और 'आधुनिक काल' की सीमावधि और नामकरण के विषय में लगभग सभी विद्वान् उनसे सहमत रहे हैं। विरोध केवल 'आदिकाल' और 'रीतिकाल' के सम्बन्ध में हुआ है। 'आदिकाल' के सम्बन्ध में सीमावधि और नामकरण—दोनों का विरोध हुआ है और 'रीतिकाल' के केवल नामकरण का।

शुक्लजी ने जिन ग्रन्थों के आधार पर (जिन्हें वे स्वयं संदिग्ध मानते थे) हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल के देश-भाषा काव्य के युग को 'वीरगाथा काल कहा था, अब उनमें से अधिकांश अप्रामाणिक सिद्ध हो चुके हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि का यह आग्रह रहा है कि आदिकाल की सीमावधि में रचित अपभ्रंश-साहित्य को भी हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत मान लेना चाहिए, और इस अपभ्रंश-साहित्य की प्रवृत्ति इतनी बहुमुखी रही है कि उसे देखते हुए इस काल को वीरगाथा काल नहीं माना जा सकता। साथ ही अमीर खुसरो, विद्यापति आदि भी 'वीरगाथा' संज्ञा के अन्तर्गत नहीं आ पाते और उपेक्षित रह जाते हैं। यहाँ तक द्विवेदी जी की मान्यताओं को आंशिक स्वीकृति मिल सकती है। परन्तु हम अपभ्रंश-साहित्य को किसी भी दशा में हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत नहीं स्वीकार कर सकते। हम हिन्दी भाषा का उद्भव

और विकास दिखाते हुए यह स्पष्ट कर आए हैं कि अपभ्रंश और हिन्दी—दो भिन्न भाषाएँ हैं। इसलिए एक भिन्न भाषा के साहित्य को दूसरी भाषा के साहित्य के अन्तर्गत कैसे स्वीकार किया जा सकता है।

१. वीरगाथा काल

शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल को 'वीरगाथा काल' कहा है। परन्तु उन्होंने जिन कतिपय रासो ग्रन्थों के आधार पर, उनमें व्याप्त प्रवृत्ति को वीर-भाव की प्रवृत्ति मान, इस काल को वीरगाथा काल कहा था, उन ग्रन्थों में से अधिकांश अप्रामाणिक अथवा बाद की रचनाएँ सिद्ध हो चुके हैं। शुक्लजी के उपरान्त हुए विस्तृत शोध-कार्य ने नवीन खोजों द्वारा इस काल पर पुनः विचार करने के लिए वाध्य कर दिया है। इसके अतिरिक्त उसी काल में जैन और सिद्ध कवियों द्वारा रची गई रचनाओं में वीर-भाव का प्राधान्य न होकर शृंगार, रहस्योपासना, खंडन-मंडन, शान्त-भाव आदि विविध प्रकार की प्रवृत्तियों का मिश्रण रहा है। यद्यपि कुछ प्रसंगों में वीर-भाव ध्वनित हुआ है परन्तु उसे प्रमुख रूप नहीं प्राप्त हो सका है। इसलिए इस युग में किसी भी एक भाव का प्राधान्य न रहने के कारण इस काल का नामकरण किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर करना संगत नहीं होगा।

दूसरी समस्या यह है कि यदि कई विद्वानों के अनुसार उन सम्पूर्ण ग्रन्थों को, जिनके आधार पर शुक्लजी ने इस काल का नामकरण किया था, पूर्णतः अप्रामाणिक और परवर्ती काल की रचनाएँ मान लें, तो हमारे लिए इस काल के अमीर खुसरो की रचनाओं को छोड़कर अन्य कोई ग्रन्थ ऐसे नहीं बचते जिनका विवेचन किया जा सके। शुक्लजी ने विद्यापति का विवेचन भी इसी काल के अन्तर्गत किया है परन्तु समय की दृष्टि से विद्यापति भक्तिकाल में आते हैं क्योंकि उनका रचना काल संवत् १४६९ के आसपास माना जाता है और शुक्ल जी वीरगाथा काल को संवत् १३७५ तक ही मानते हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से विद्यापति की गणना भक्तिकाल (यदि उन्हें भक्तकवि स्वीकार कर लिया जाय तो) या शृंगारकाल के अन्तर्गत होनी चाहिए। परन्तु भक्तिकाल में उनका विवेचन करना असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि उनकी भावधारा उस युग की भावधारा से मेल नहीं खाती। इसके विपरीत विद्यापति की 'पदावली' हिन्दी की सर्वप्रथम ऐसी रचना है, जिसमें लोकभाषा मैथिली पहली बार साहित्यिक रूप धारण कर हमारे सामने आती है। दूसरी तरफ अमीर खुसरो में खड़ीबोली उभरती दिखाई देती है। इसलिए मैथिली की सर्वप्रथम रचना होने के कारण हम 'पदावली' और खुसरो की कृतियों को हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल के अन्तर्गत विवेच्य-योग्य समझते हैं।

जहाँ तक रासो ग्रन्थों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का सम्बन्ध है, यदि उन्हें सर्वांशतः अप्रामाणिक ही मान लिया जाय तो हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव भक्तिकाल से ही मानना पड़ेगा, जैसा कि डा० द्विवेदी ने 'हिन्दी-साहित्य का वास्तविक

आविर्भाव' शीर्षक देकर माना है। परन्तु इधर नई मान्यता यह बनती जा रही है कि रासो ग्रन्थ सर्वांशतः जाली या परवर्ती काल की रचनाएँ नहीं हैं। उनका मूल रूप संक्षिप्त रहा होगा और परवर्ती काल में उनका संशोधन-परिवर्द्धन होता चला गया होगा। इसलिए हम रासो ग्रन्थों की अवहेलना नहीं कर सकते। हमें उन्हें स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस प्रकार हम हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक युग में रासो ग्रन्थों, अमीर खुसरो की रचनाओं और विद्यापति की 'पदावली को' स्वीकार कर सकते हैं। और इस काल में किसी एक ही प्रवृत्ति के प्राधान्य के अभाव में इसे 'हिन्दी-साहित्य का आरम्भिक काल' मान सकते हैं। यह 'आरम्भिक काल' शब्द द्विवेदी जी के 'आदिकाल' शब्द से अधिक व्यंजना पूर्ण है। भाषा की दृष्टि से यह संक्रान्ति-काल है, हिन्दी अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हो, उसे साहित्यासन से अपदस्थ कर साहित्य में प्रतिष्ठित होती जा रही है। साहित्य-रचना की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव हो रहा है, यद्यपि उसके कुछ रूपों पर अपभ्रंश का गहरा प्रभाव है। इसीलिए हम इसे 'हिन्दी-साहित्य का आरम्भिक काल' कहना अधिक संगत समझते हैं।

इस काल-खण्ड को 'आदिकाल' नाम डा० द्विवेदी ने दिया था। मिश्रबन्धु आचार्य शुक्ल से पहले ही इसे 'आरम्भिक काल' कह चुके थे, यद्यपि उन्होंने इसका आरम्भ आठवीं सदी से माना था। वह मूल सत्य के नजदीक पहुँच कर भी भटक गए थे। डा० द्विवेदी ने इसे 'आदिकाल' नाम दिया तो अवश्य, परन्तु इसकी उपयुक्तता के सम्बन्ध में वह स्वयं आशंकित थे। इस सम्बम्ध में उन्होंने अपनी आशंका को व्यक्त करते हुए लिखा था—"वस्तुतः 'हिन्दी का आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त, काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग और सचेत कवियों का काल है।....यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है। क्योंकि यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह काल बहुत-कुछ अपभ्रंश काल का बढ़ाव ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है। इसमें भावी हिन्दी-भाषा और उसके काव्यरूप अंकुरित हुए हैं।"

शुक्ल जी ने भी 'आदिकाल' शब्द पर विशेष आपत्ति नहीं प्रकट की थी। अब प्रश्न यह उठता है कि—इस 'आरम्भिक काल' की सीमावधि कब से कब तक मानी जाय ? वस्तुतः इसकी निश्चित सीमावधि का अंकन करना एक दुष्कर कार्य है। यह एक प्रकार से संक्रान्ति-काल रहा है, इसलिए मोटे रूप में आरम्भिक काल को तेरहवीं सदी से चौदहवीं सदी तक मान लेना असंगत नहीं होगा। क्योंकि इस काल से सम्बन्धित रचनाएँ इसी अवधि में लिखी गई हैं। कथ्य के रूप विभिन्न रहे हैं।

२. भक्तिकाल

शुक्ल जी द्वारा किए गए इस नामकरण और सीमावधि में सभी विद्वान् उनसे सहमत हैं। इसकी सीमा पन्द्रहवीं सदी से सत्रहवीं सदी के अन्त तक मानी गई है। शुक्ल जी ने भक्ति का प्राधान्य देखकर ही इस काल को 'भक्तिकाल' कहा था। भक्ति ही इस काल-खंड का प्रमुख कथ्य या विचार रही है। इस काल की रचनाओं में निर्गुण और सगुण—भक्ति के दोनों रूपों का चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। सगुण-भक्ति की दोनों शाखाओं—रामभक्ति और कृष्णभक्ति के वर्गीकरण से सभी सहमत हैं, परन्तु निर्गुण-भक्ति की ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी संज्ञाओं से सहमत होना सम्भव नहीं प्रतीत होता। ज्ञानाश्रयी शाखा में ज्ञान की गुरुता और गम्भीरता का रूप नहीं मिलता। कबीर आदि की रचनाओं में ज्ञान का आभास मात्र मिलता है। सन्त-काव्य में वास्तविक ज्ञान का निरूपण न होकर, केवल उसका आभास मात्र है। इसी कारण डा० श्रीकृष्णलाल उसे 'ज्ञानाभासाश्रयी' शाखा कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। यदि ज्ञान-मार्ग का पारिभाषिक अर्थ 'निर्गुण उपासना' लिया जाय तो शुक्लजी द्वारा किया गया नामकरण ठीक है, और यदि उसे 'वास्तविक ज्ञान' का रूप माना जाय तो यह नामकरण गलत है। हम सम्पूर्ण भक्ति-काल को 'धार्मिक नवोन्मेष का काल' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

जहाँ तक 'प्रेमाश्रयी' सूफी शाखा का सम्बन्ध है, इन सूफी कवियों के काव्य को भक्ति-काव्य में आंशिक रूप से ही शामिल किया जा सकता है। सूफी कवियों का निर्गुण ब्रह्म भक्ति का आलम्बन न होकर, 'प्रेम की पीर' का ही आलम्बन रहा है। श्रद्धा का अभाव रहने के कारण इनकी 'प्रेम की पीर' भक्ति की सीमा का स्पर्श नहीं कर पाती। इसलिए सीमावधि की दृष्टि से तो इस काव्य को भक्तिकाल के अन्तर्गत ही स्वीकार किया जायेगा, परन्तु इसका नाम 'प्रेमकाव्य' ही रखना पड़ेगा।

३. रीतिकाल

शुक्ल जी द्वारा निर्धारित 'रीतिकाल' नाम भी काफी विवादग्रस्त रहा है। इस युग में साहित्य और भाषा के अलंकरण की प्रवृत्ति को मुख्य मान, मिश्रबन्धुओं ने इसे 'अलंकृत काल' कहा था। आचार्य शुक्ल द्वारा दिया गया नाम 'रीतिकाल' यद्यपि तत्कालीन लक्षण-उदाहरण शैली की प्रमुख प्रवृत्ति को व्यक्त करता है, परन्तु रीतिबद्ध शैली से इतर रचनाएँ इस नाम के कारण उपेक्षित-सी रह जाती हैं। इस काल का प्रमुख कथ्य (विषय) 'श्रृङ्गार' रहा है। चाहे वह रीतिकाव्यों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया हो, या प्रेम-प्रधान काव्य द्वारा। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि इसी कारण इसे 'श्रृङ्गार काल' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। और यही नाम इस काल की मूल प्रवृत्ति को व्यक्त करने में सर्वथा सक्षम है। इसलिए हम इसे 'श्रृङ्गार काल' कहना ही अधिक संगत समझेंगे। भूषण आदि वीर-रस के कवि उपेक्षित न रह जायँ, इसलिए हम इस काल के अन्तर्गत उपयुक्त उप-शीर्षक देकर उनका अलग से विवेचन करेंगे।

यहाँ हम शुक्ल जी द्वारा दिए गए नाम 'रीतिकाल' पर एक बार फिर विचार कर लें। हमें यह नाम सर्वथा अनुपयुक्त नहीं लगा है। यह उस युग के एक अत्यन्त प्रमुख विषय 'रीति शास्त्रीय विवेचन' को ध्वनित करता है। उस युग के अधिकांश कवियों का मूल प्रतिपाद्य 'काव्य-शास्त्र' हो रहा था, यद्यपि उनके अभिव्यक्ति-प्रकार में शृङ्गार का चित्रण प्रधान हो उठा था। यहाँ शृङ्गार साधन था और काव्य-शास्त्र साध्य। शुक्ल जी ने इसी रहस्य को पहचान कर इस काव्य को 'रीतिकाव्य' कहा था। परन्तु दूसरी ओर हम इस युग में शृङ्गार-भावना को इतना अधिक व्यापक देखते हैं कि भूषण आदि वीर-रस के तथा गिरधर आदि नीति-काव्य के रचयिताओं को छोड़, यह अन्य सबको अपने परिवेश में समेट लेती है। शुक्ल जी द्वारा प्रेम के अनन्य चितेरे घनानन्द आदि अपना पूर्ण महत्त्व नहीं प्राप्त कर पाए थे। उनको महत्त्व मिलना ही चाहिए। इसीलिए हम इस काल को 'शृङ्गार काल' कहना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। इस काल की सीमावधि अठारहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक मानी जा सकती है।

४. आधुनिक काल

आचार्य शुक्ल ने शृंगारकालोत्तर युग को 'आधुनिक काल' कहा है। उन्होंने इस काल को गद्य और पद्य—दो खंडों में विभाजित कर दिया है। हिन्दी खड़ीबोली-गद्य का तीव्रगति से उदय और विकास—इस काल की प्रधान घटना रही है। डा० श्यामसुन्दरदास इसे 'नवीन विकास का काल' कहते हैं। डा० द्विवेदी ने इसे 'आधुनिक-काल' ही माना है। अन्य परवर्ती इतिहासकारों ने भी इसे आधुनिक-काल ही कहना अधिक संगत समझा है। परन्तु हम आरम्भ में ही कह आए हैं कि साहित्य का मूल कथ्य होता है। अतः कथ्य के आधार पर ही विभिन्न कालों का नामकरण होना चाहिए। परन्तु 'आधुनिक काल' नाम केवल समय-सूचक है, विषय-सूचक नहीं। जिस प्रकार कथ्य के आधार पर 'भक्तिकाल', 'रीतिकाल' अथवा 'शृङ्गार-काल' नाम रखे गए हैं, उसी प्रकार इस 'आधुनिक काल' का नाम भी विषय के आधार पर ही रखा जाना चाहिए। इस नए काल में हम हिन्दी-साहित्य को एक नई चेतना से आन्दोलित देखते हैं, जो उसके पूर्व रूप से नितान्त भिन्न रहा है। मुगलों के पतन और एक नितान्त भिन्न जाति अंग्रेज के आगमन और आधिपत्य ने देश की प्राचीन परम्पराओं को झकझोर डाला था। यह नया साम्राज्य देश में एक नवीन विद्रोह-भावना को जन्म देने का कारण बना था। इसलिए सम्पूर्ण देश में एक नवीन सामाजिक और राजनीतिक चेतना का उदय हुआ था जिसने सम्पूर्ण प्राचीन अस्वस्थ, अगतिशील भावनाओं की प्राणहीनता सिद्ध कर दी थी। उस युग का नया साहित्यकार उस नवीन युग-चेतना से प्रभावित हो, देश और जाति के उद्धार और पुनर्निर्माण की भावना से भर उठा था। और उस युग के साहित्य में यही जागरण की भावना मुखरित हो रही थी। यह जागरण की भावना ही इस युग के साहित्य का मूल कथ्य थी। हम इसीलिए इस नवीन काल को '**पुनर्जागरण का काल**' कहना अधिक संगत समझते हैं। हमने य ह

केवल 'जागरण' शब्द का ही प्रयोग न कर, 'पुनर्जागरण' का प्रयोग साभिप्राय किया है। क्योंकि हिन्दी-साहित्य के लम्बे इतिहास में हमें जागरण की यह भावना कई बार उभरती हुई मिलती है। इसकी पहली हल्की-सी झलक आरम्भिक युग के रासो काव्यों में मिली थी। दूसरी झलक कबीर आदि के सन्त-काव्य में मिली थी। और इसी कारण हमने सन्त-काव्य को 'धार्मिक नवोन्मेष का काव्य' कहना अधिक संगत समझा। कबीर का यह धार्मिक नवोन्मेष अधिक गम्भीर रूप धारण कर सगुण-भक्त-कवियों के काव्य में अवतरित हुआ। आधुनिक युग में हमें यही जागरण अधिक तीव्र और एक नितान्त नवीन रूप में दिखाई पड़ा। इसीलिए हमने इसे 'पुनर्जागरण का काल' कहना अधिक उचित समझा।

इस काल के उपविभाग भी इसी प्रकार विषयों के आधार पर ही होने चाहिए, न कि व्यक्ति-विशेषों अथवा काव्य-रूपों के आधार पर। आचार्य शुक्ल ने इस काल को प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान और तृतीय उत्थान में विभाजित किया है। यदि 'उत्थान' शब्द से शुक्ल जी का अभिप्राय—चेतना के उत्थान से रहा हो, तो भी ये नाम गोलमोल और अस्पष्ट-सी ध्वनि देते हैं। भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग आदि नाम व्यक्ति-विशेष के प्रभाव को ध्वनित करते हैं। 'छायावाद' नाम में गद्य-साहित्य उपेक्षित रह जाता है। केवल 'प्रगतिवाद' नाम ही साहित्य की नवीन धारा को अभिव्यंजित कर पाता है। इसलिए हम भारतेन्दु-युग से लेकर छायावाद तक के काल को 'सांस्कृतिक सामाजिक नवोन्मेष का काल' कहना तथा उसके परवर्ती आज तक के काल को 'नवीन सामाजिक-राजनीतिक अनुचेतना का काल' कहना अधिक संगत समझते हैं। ये नाम कथ्य को अभिव्यंजित करने में पूर्ण समर्थ हैं। गद्य और पद्य में विभाजन कर देना विवेचन की सुविधा तो प्रस्तुत कर देता है, परन्तु साथ ही यह ध्वनि भी देता है कि इन दोनों माध्यमों द्वारा भिन्न प्रकार के साहित्य की रचना हुई थी। किसी भी युग के साहित्य की मूल प्रेरक-शक्ति एक ही रहती है। वहाँ माध्यम का महत्त्व न रहकर, अभिव्यक्ति के विषय का ही महत्त्व रहता है। इस दृष्टि से इस युग का सम्पूर्ण-साहित्य—चाहे वह गद्य में रचा गया हो या पद्य में, एक ही अनुचेतना से प्रेरित दिखाई पड़ता है। फिर भी विवेचन की सुविधा के लिए यदि हम इन भिन्न माध्यमों और नए साहित्य-रूपों का अलग-अलग परिचय दें तो उसे व्यावहारिक ही माना जायेगा।

हिन्दी-साहित्य का आरम्भिक काल

(आदिकाल या वीरगाथा काल)

सीमावधि

हिन्दी-साहित्य का आरम्भ कब से हुआ ? इस सम्बन्ध में विद्वानों के तीन प्रकार के मत रहे हैं। पहले मत के अनुसार कुछ विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य का आरम्भ आठवीं सदी से माना है। और यही समय अपभ्रंश-साहित्य का उदय का काल माना गया है। ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, राहुल सांकृत्यायन, गुलेरी, डा० रामकुमार वर्मा प्रभृत्ति विद्वानों ने अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी मानकर हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आठवीं सदी में रची गई अपभ्रंश की रचनाओं को समेट लिया है। शिवसिंह सेंगर तो उनसे भी एक पग आगे बढ़कर सातवीं सदी में हुए किसी पुष्य नामक कवि से हिन्दी-साहित्य का आरम्भ मानते थे। पुष्य का अन्य ग्रन्थों में केवल उल्लेख मिलता है, अभी तक उसका कोई ग्रन्थ नहीं मिला है।

विद्वानों का दूसरा वर्ग हिन्दी-साहित्य का आरम्भ ग्यारहवीं सदी से मानता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि की यही मान्यता रही है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है—"अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर मिलता है। मुंज और भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य-रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिन्दी-साहित्य का आदिकाल सम्वत् १०५० से लेकर १३७५ तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है।"

आचार्य शुक्ल यह कहकर आगे यह भी कहते हैं कि—"आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रायः डेढ़-सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति

का निश्चय नहीं होता है—धर्म, नीति, शृङ्गार, वीर—सब प्रकार की रचनायें दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है, तब से हम हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं।" अर्थात् आचार्य शुक्ल आगे बढ़कर तेरहवीं सदी तक उतर आते हैं। शुक्ल जी अपभ्रंश को प्राकृताभास हिन्दी अर्थात् हिन्दी का आदि रूप मानते हैं। इसी मान्यता के अनुसार उन्होंने ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर तेरहवीं सदी (डेढ़-सौ वर्ष) तक रचित तांत्रिकों और बौद्धों की रचनाओं को हिन्दी मान लिया है; और आगे चलकर इस काल के उपरान्त रचे गए अनेक अपभ्रंश-ग्रन्थों को भी आदि काल की सूची में शामिल कर लिया है। उन्होंने इससे पूर्व भी अपभ्रंश के अनेक ग्रन्थों का उल्लेख और विवेचन किया है। परन्तु हम हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास दिखाते हुए स्पष्ट कर आए हैं कि हिन्दी और अपभ्रंश—दो भिन्न भाषायें हैं। अपभ्रंश को 'प्राकृताभास हिन्दी' या 'पुरानी हिन्दी' नहीं माना जा सकता। अतः अपभ्रंश में रचित साहित्य को भी हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता।

शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य के इस आरम्भिक युग का नामकरण 'वीरगाथा-काल' निम्नलिखित १२ ग्रन्थों के आधार पर किया था, जिनमें से ४ अपभ्रंश की रचनायें हैं और आठ हिन्दी की—

अपभ्रंश रचनाएँ

१—विजयपाल रासो	....	(नल्लसिंह, सम्वत् १३५५)
२—हम्मीर रासो	....	(शार्ङ्गधर ,, १३५७)
३—कीर्त्तिलता	....	(विद्यापति, ,, १४६०)
४—कीर्त्तिपताका	....	(,, ,, १४६०)

हिन्दी-रचनाएँ

१—खुमान रासो	(दलपति विजय, सम्वत् ११८०–१२०५)
२—बीसलदेव रासो	(नरपति नाल्ह, ,, १२९२)
३—पृथ्वीराज रासो	(चन्द बरदाई, ,, १२२५–१२४९)
४—जयचन्द प्रकाश	(भट्ट केदार, ,, १२२५)
५—जयमयंक जस चंद्रिका	(मधुकर, ,, १२४०)
६—परमाल रासो	(जगनिक, ,, १२३०)
७—खुसरो की पहेलियाँ	(अमीर खुसरो, ,, १२३०)
८—विद्यापति पदावली	(विद्यापति, ,, १४६०)

शुक्ल जी ने लिखा था कि—"इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्ष्य-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अन्तिम दो तथा 'बीसलदेव रासो' को छोड़कर शेष सब ग्रन्थ वीर-कथात्मक हैं, अतः आदिकाल का नाम 'वीर-गाथा काल' ही रखा जा सकता है।

विश्लेषण

उपर्युक्त बारह ग्रन्थों में से चार अपभ्रंश की रचनायें हैं, इसलिए उन्हें हम हिन्दी-साहित्य में स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए उनकी प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता अपेक्षित नहीं है। अब शेष रह जाते हैं हिन्दी के आठ ग्रन्थ। इनके सम्बन्ध में विद्वानों की भिन्न राय रही है। कुछ लोगों ने उपर्युक्त समस्त रासो-ग्रन्थों की प्रामाणिकता को चुनौती दी है। इनमें से अनेक ग्रंथों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में शुक्ल जी स्वयं आश्वस्त नहीं थे। 'खुमान रासो' में सत्रहवीं सदी के एक राजा प्रतापसिंह तक का वर्णन देखकर उन्होंने अनुमान किया था कि उसका वर्तमान रूप "विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा।" राजस्थानी-साहित्य के मर्मज्ञ अगरचन्द नाहटा और मोतीलाल मेनारिया ने 'खुमान रासो' के रचयिता दलपति को परवर्ती, लगभग अठारवीं सदी का कवि घोषित कर दिया है। इस प्रकार 'खुमान रासो' को हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल की रचना नहीं माना जा सकता। नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' भी संदिग्ध ग्रंथ है। शुक्ल जी को स्वयं यह ग्रंथ अधिक ग्रहणीय नहीं प्रतीत हुआ था। इधर मेनारिया जी ने नरपति नाल्ह को सोलहवीं सदी का नरपति नामक कवि सिद्ध कर दिया है। भट्ट केदार का 'जयचन्द प्रकाश' और मधुकर भट्ट का 'जयमंयक जस-चन्द्रिका' भी उपलब्ध नहीं हैं। 'राठौडाँ री ख्यात' में उनका केवल उल्लेख मिलता है। जगनिक का 'आल्हखण्ड' भी आज तक अपने प्राचीन या मूल रूप में उपलब्ध नहीं हो सका है। 'गेय लोक-काव्य' होने के कारण उसके आकार, स्वरूप और भाषा में इतना भयंकर परिवर्तन हो चुका है कि उसके मूल रूप की कल्पना तक करना असम्भव हो गया है। चन्दबरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। खुसरो की पहेलियाँ लोकमुख में जीवित रही हैं, इसलिए उनकी भाषा का मूल रूप कैसा था, इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विद्यापति की 'पदावली' भी गेय रही है, इसलिए कुछ विद्वान् उसके भाषा-रूप में परिवर्तन होने का अनुमान लगा देते हैं।

इस प्रकार शुक्लजी द्वारा अपनायी गईं आठों पुस्तकें या तो परवर्ती काल की रचनायें हैं, या नोटिस मात्र हैं, या मूल रचनाओं के विकृत रूप मात्र हैं। अपभ्रंश रचनाओं को हम हिन्दी-साहित्य में स्थान नहीं देते। इस प्रकार शुक्ल जी का वह सम्पूर्ण आधार ही समाप्त हो जाता है, जिसके अनुसार उन्होंने इस काल का नाम 'वीरगाथा काल' रखा था। अगर विद्वानों की उपर्युक्त धारणाओं को पूर्ण सत्य मान लें तो हिन्दी-साहित्य का आरम्भ तेरहवीं सदी से न मानकर भक्ति-काल के आरम्भ अर्थात् पन्द्रहवीं सदी से ही मानना पड़ेगा। और डा० द्विवेदी इस प्रकार का संकेत अपने हिन्दी-साहित्य में दे ही चुके हैं। उन्होंने भक्ति-साहित्य के आविर्भाव को 'वास्तविक हिन्दी-साहित्य का आरम्भ' कहा है। मन तो करता है कि डा० द्विवेदी की इस बात को मानकर आरम्भिक काल के उलझन भरे विवेचन से जान बचा ली जाय। परन्तु क्या ऐसा करना न्यायपूर्ण होगा? क्या उस काल के उन ग्रंथों को

सर्वथा त्याज्य मान लिया जाय जिनके साहित्यिक सौन्दर्य और जीवन्त प्राणवत्ता से अभिभूत हो, हम अब तक उन्हें अपनी अमूल्य निधि मानते आये हैं ? क्या यही सत्य है कि ये ग्रंथ पूर्णतया जाली हैं या परवर्ती काल की रचनायें हैं ?

क्या ये ग्रंथ सर्वथा त्याज्य हैं :

परन्तु हमारे साहित्य के इतिहासकार इन ग्रंथों की प्रामाणिकता में सन्देह करते हुए भी इन्हें हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल के साहित्य में सम्मिलित करने का मोह संवरण नहीं कर पाए हैं। यदि इन्हें सम्पूर्णतः त्याज्य घोषित कर दिया जाय तो उस युग में विवेचन के लिए हमारे पास रह ही क्या जायेगा। इस आरम्भिक-कालीन रासो-साहित्य के लिये मेनारिया जी यह कहते हैं—'ये रासो ग्रंथ, जिनको वीरगाथा नाम दिया गया है, और जिनके आधार पर वीरगाथा काल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समय-विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते—केवल चारण, भाट आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्मजात मनोवृत्ति प्रगट करते हैं। प्रभु भक्ति का भाव इन जातियों के खून में है और ये ग्रन्थ उसी भावना की अभिव्यक्ति करते हैं।'' मेनारिया जी के इस मन्तव्य में रासो-ग्रन्थों के प्रति उपेक्षा और हिकारत का भाव स्पष्ट झलक रहा है।

डा० द्विवेदी इन रासो-ग्रन्थों के सम्बन्ध में एक तरफ तो यह कहते हैं कि —"इन ग्रन्थों का महत्त्व इतना ही है कि इन्होंने हमारे साहित्य के आदि भाग का निर्माण और भविष्य की रचनाओं के लिए मार्ग-निर्देश किया। यदि ये साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से नहीं, तो भाषा-विकास की दृष्टि से तो अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं।" परन्तु दूसरी ओर 'पृथ्वीराज रासो' सम्बन्धी विवाद से क्षुब्ध हो यह कहते हैं कि— "इस निरर्थक मंथन से जो दुस्तर फेनराशि तैयार हुई है, उसे पार करके ग्रन्थ के साहित्यिक रस तक पहुँचना हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी के लिए असम्भव सा व्यापार हो गया है।" अर्थात् रासो-काव्य साहित्यिक रस से ओतप्रोत हैं इसलिए उनकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

शून्य को भरने का प्रयत्न

जब रासो ग्रन्थों को जाली घोषित कर दिया गया तो विद्वानों के सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि अब हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल में खुसरो और विद्यापति के छोटे से ग्रन्थों के अतिरिक्त रह ही क्या जाता है। इसलिए इस शून्य को भरने का प्रयत्न किया जाने लगा। यह कहना कठिन है कि यह प्रयत्न जान-बूझकर किया गया या अनजाने ही हो गया। लोगों ने अपभ्रंश-ग्रन्थों को हिन्दी-साहित्य में गिनना आरम्भ कर दिया। हिन्दी साहित्य के कुछ इतिहास-लेखकों में तो यह अजीव सा विरोधाभास मिलता है कि वे एक तरफ तो हिन्दी और अपभ्रंश को भिन्न भाषाएँ मानते हैं और दूसरी ओर हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल के अन्तर्गत ऐसे ग्रन्थों का समावेश कर लेते हैं जो विशुद्ध रूप से परिनिष्ठित अपभ्रंश में

लिखे गए हैं; जैसे—शालिभद्र सूरि का 'भरत बाहुबलि रास' तथा अब्दुर्रहमान का 'संदेश रासक'।

प्रक्षिप्त अंशों की समस्या

यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दी के रासो ग्रन्थों का मूल, अविकृत रूप आज उपलब्ध नहीं है। आज उनका जो रूप उपलब्ध है, उसमें प्रक्षिप्त अंश इतने अधिक मिल गए हैं कि उनके मूल रूप का अनुमान लगाना कठिन हो गया है। हमारी धारणा यह है कि ये रासो ग्रन्थ लिखे तो उसी युग में गए थे परन्तु कालान्तर में उनके आकार और कहीं-कहीं भाषा रूपों में भी परिवर्तन होता रहा। यदि हम सावधानी से काम लें तो उनके मूल रूप का थोड़ा-बहुत अनुमान लगाने में सफल हो सकते हैं। यदि इन ग्रन्थों का साहित्यिक सौन्दर्य इतना उत्कृष्ट है कि इनके रचयिताओं को महाकवि तक की पदवी प्रदान की गई है तो फिर उनका साहित्यिक मूल्यांकन करते हुए उनके साहित्यिक रस से क्यों वंचित रहा जाय। यदि साहित्यिक दृष्टि से ये रचनाएँ निम्नकोटि की या उपेक्षणीय होतीं तो इनके प्रति किसी का भी मोह न रह जाता। परन्तु विद्वान् 'पृथ्वीराज रासो' को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य और 'बीसलदेव रासो' को विप्रलम्भ शृंगार का उत्कृष्ट काव्य मानते हैं। इसलिए इनकी उपेक्षा करना असम्भव है। यदि प्रक्षिप्तांशों के आधार पर ही किसी ग्रन्थ को सर्वथा त्याज्य घोषित कर दिया जाय, तो यह भयंकर अन्याय और अबुद्धिमत्ता पूर्ण कार्य माना जायेगा। क्या तुलसी के 'रामचरितमानस' में प्रक्षिप्त अंश नहीं हैं? क्या इसी आधार पर हमने उसका बहिष्कार करने का साहस या प्रयत्न किया है? फिर रासो-ग्रन्थों के सम्बन्ध में ही ऐसी अनुदारता क्यों? अतः रासो-ग्रन्थों को हमें हिन्दी-साहित्य का आरम्भिक रूप मानना ही पड़ेगा। और इन रासो ग्रन्थों का रचना-काल तेरहवीं से चौदहवीं सदी तक रहा है। इसलिए हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल की सीमावधि तेरहवीं सदी से चौदहवीं सदी तक ही माननी चाहिए।

विद्यापति की समस्या

अब समस्या केवल विद्यापति की रह जाती है। विद्यापति का समय पन्द्रहवीं सदी रहा है। और यह समय 'भक्तिकाल' के अन्तर्गत आता है। फिर विद्यापति को भक्तिकाल के अन्तर्गत ही क्यों न स्वीकार कर लिया जाय। इस बात को स्वीकार कर लेने में कोई विशेष हानि तो नहीं है परन्तु भक्तिकाल के आरम्भिक हिन्दी-साहित्य के रूप में विद्यापति की रचना मेल नहीं खा पाती। वह भक्त न होकर शुद्ध शृंगारी कवि हैं। इसलिए भक्तिकाल का विवेचन करते समय विद्यापति का विवेचन करना अटपटा-सा लगता है। कथ्य की दृष्टि से तो विद्यापति को शृंगारकाल के अन्तर्गत मानना चाहिए। परन्तु कालावधि को देखते हुए यह सम्भव नहीं है। इसलिए हमारी राय में यदि विद्यापति को आरम्भिक काल के परिशिष्ट के रूप में

विवेच्य मान लिया जाय तो असंगत नहीं रहेगा। क्योंकि विद्यापति अपने उस युग में सबसे अलग और परम्परा से कटे हुए दिखाई देते हैं।

विवादग्रस्त परन्तु महत्त्वपूर्ण काल

हिन्दी-साहित्य का आरम्भिक काल अत्यन्त विवादग्रस्त होते हुए भी काफी महत्त्वपूर्ण रहा है। भाषा-विकास की दृष्टि से इसका महत्त्व अनन्य है। इस काल में हम हिन्दी को आगे बढ़ता हुआ देखते हैं। आरम्भ में वह सह-अस्तित्व की सी नीति अपनाती दिखाई पड़ती है, अपभ्रंश के घर में घुसकर उसकी सहवर्तिनी बन जाती है। आगे चलकर धीरे-धीरे उसके घर पर कब्जा कर लेती है। साहित्यिक परम्पराओं के लिए वह अपभ्रंश पर ही विशेष रूप से निर्भर रहती है, इसलिए अपभ्रंश की साहित्यिक परम्पराओं का अनुकरण कर, अपने रूप को सजाती-सँवारती है। एक तरफ हिन्दी का उदय और विकास हो रहा है, दूसरी ओर संस्कृत और अपभ्रंश में श्रेष्ठ विचारकों और साहित्य-साधकों द्वारा श्रेष्ठ ग्रन्थों का प्रणयन हो रहा है। संस्कृत अलंकृत ग्रन्थों की चरम सीमा पर पहुँच रही है, अपभ्रंश सरलता की ओर अग्रसर हो रही है। सिद्ध-नाथ साधक सरल वाणी में अपने मत का प्रचार कर रहे हैं। और हिन्दी इन सारे प्रभावों को आत्मसात् करती हुई आगे बढ़ती दिखाई देती है। इस स्थिति को देखकर ही डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे भारतीय इतिहास का अत्यधिक 'विरोधों और व्याघातों का युग' कहा है। वह इसे भारतीय विचारों का मंथन-काल कह इसे इसीलिए महत्त्वपूर्ण काल मानते हैं।

आरम्भिक काल की परिस्थितिगत पृष्ठभूमि

राजनीतिक परिस्थिति

उत्तर भारत के प्राचीन इतिहास में वर्द्धन-साम्राज्य अन्तिम भारतीय-साम्राज्य था। इसके अन्तिम सम्राट् हर्षवर्द्धन के काल में भारत की उत्तरी सीमा यवन-वाहिनियों के आक्रमणों से आक्रान्त हो उठी थी। धीरे-धीरे इन यवन-आक्रमणकारियों का वेग बढ़ता चला गया और उनका प्रतिरोध करने में शक्ति का क्षय होते रहने के कारण हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरान्त वर्द्धन-साम्राज्य विखंडित हो, छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। यवनों के आक्रमण का वेग विशेष रूप से भारत के पश्चिमी भाग और मध्य देश को ही सहना पड़ा। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरान्त (हर्षवर्द्धन का युग सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रहा था) कई बार भारतीय राजाओं ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर नए साम्राज्यों की स्थापना के प्रयत्न किए और उन्हें थोड़ी-बहुत सफलता भी मिली परन्तु फिर भी किसी एक ऐसी केन्द्रीय-शक्ति की स्थापना न हो सकी, जो यवन-आक्रमणकारियों का उन्मूलन कर पाती और आन्तरिक विद्रोहों का शमन करने में सफल हो सकती। आठवीं सदी से लेकर तेरहवीं सदी तक उत्तर भारत को निरन्तर इन विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा। बारहवीं-तेरहवीं सदी में मध्य देश में

हिन्दुओं के कई शक्तिशाली राज्य थे। इन राज्यों ने मुस्लिम-आक्रान्ताओं का डट कर सामना किया परन्तु एकाकी रूप में ही, इसलिए एक-एक कर पराजित और नष्ट होते चले गए। इन राजाओं ने यदि परस्पर मिलकर आक्रमणकारियों का सामना किया होता तो शायद उन्हें इतने शीघ्र पराजय का मुख न देखना पड़ता। पृथ्वीराज चौहान, जयचन्द गहरवार, परमार्दिदेव आदि परस्पर भी लड़ते रहे थे और विदेशियों से भी। परिणाम सबका विनाश ही निकला।

हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल के रासो ग्रन्थ प्रधानतया मध्य-देश के इन, तथा इनके उत्तराधिकारी या अन्य समकालीन राजाओं के राज-कवियों द्वारा रचे गए थे। चन्द बरदाई पृथ्वीराज का, जगनिक परमार्दिदेव का, भट्ट केदार और मधुकर भट्ट—जयचन्द के राजकवि थे। जनश्रुति इन्हें इन राजाओं का राजकवि ही मानती चली आई है। नरपति नाल्ह भी राजा बीसलदेव का ही आश्रित कवि था। वह युग एक प्रकार से देश-व्यापी अराजकता, गृह-कलह, विद्रोहों और युद्धों का काल था। प्रत्येक राजकवि अपने-अपने आश्रयदाता को सर्वश्रेष्ठ योद्धा सिद्ध करना चाहता था, इसलिए अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों की भरमार रही। लगभग इन सम्पूर्ण रासो-काव्यों की यह विशेषता रही है कि इस काल के विभिन्न पारस्परिक या विदेशी आक्रमणकारियों से हुए युद्धों के मूल में किसी नारी को प्रधान कारण मान लिया गया है। राजा वीर और विलासी—दोनो हैं, इसलिए वीर और शृङ्गार का अतिशयोक्तिपूर्ण परन्तु कलात्मक समन्वय हुआ है।

धार्मिक परिस्थिति

राजनीतिक परिस्थिति के समान इस युग की धार्मिक परिस्थिति भी अराजकता पूर्ण सी थी। परन्तु उसकी इस अराजकता ने भावी विकास और समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया था, इसे मानने में संकोच नहीं होना चाहिए। इस काल की पृष्ठ-भूमि का युग धार्मिक उथल-पुथल का युग था। उस समय उत्तर भारत में तीन धर्म प्रमुख थे—पौराणिक हिन्दू धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म। जैन और बौद्ध पौराणिक वैदिक धर्म का विरोध कर रहे थे। जैनों का प्रभाव-क्षेत्र पश्चिमी भारत था, और बौद्धों का पूर्वी भारत। इन तीनों धर्मों में परस्पर सौहाद्र्र और सदभावना का अभाव था। बौद्ध तो ब्राह्मणों से इतना द्वेष मानते थे कि जब सिन्ध के ब्राह्मण राजा पर मुसलमानों ने आक्रमण किया तो वहाँ के बौद्धों ने अपने राजा का साथ न देकर आक्रमणकारियों का ही साथ दिया था। इतिहास में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जिनमें बौद्धों द्वारा विदेशी आक्रमणकारियों को आमंत्रित करने और उनकी सहायता करने का उल्लेख हुआ है।

बौद्ध धर्म विकृत होकर विभिन्न प्रकार की भोग-प्रधान, विलासमयी साधना-पद्धतियों के जाल में उलझ गया था। बौद्ध धर्म के अनुयायी अधिकतर अपने यौगिक-चमत्कारों का प्रदर्शन कर जनता को प्रभावित करने का प्रयत्न करते थे। साथ ही

वैदिक और पौराणिक ब्राह्मण धर्म और सामाजिक ऊँच-नीच का खंडन करने के लिए कटुता से काम लेते थे। इनकी गुह्य उपासना-पद्धतियों का प्रभाव घातक रूप धारण कर अन्य सम्प्रदायों को भी प्रभावित कर रहा था। वैष्णवों के पांचरात्र और शैवों के पाशुपत, कालामुख, कापालिक आदि सम्प्रदाय बौद्धों की गुह्य साधना-पद्धतियों से प्रभावित हो उठे थे। जैन धर्म इस विकृत प्रभाव से मुक्त सा ही रहा था। वह धीरे-धीरे पौराणिक-पद्धति में ढलता जा रहा था। उसमें यह भावना पनप रही थी कि जैन-धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए सनातन धर्म के पौराणिक आख्यानों को ऐसे रूप में प्रस्तुत किया जाय जिससे यह सिद्ध हो सके कि जैन धर्म अनादि काल से अस्तित्व में रहा है। इसीलिए जैन पुराणों के राम-सीता अन्त में जैन धर्म की दीक्षा लेते दिखाए जाते है। परन्तु जैनों में भी बौद्धों का वामाचार थोड़ा-बहुत स्थान पा चुका था। उनके आश्रमों में श्रावक-श्राविकियों में गुप्त सम्बन्ध स्थापित होने लगे थे। परन्तु यह प्रभाव क्षीण ही रहा था। समष्टि रूप से यह ऐसा युग था जिसमें सनातन पौराणिक वैदिक धर्म का विरोध किया जा रहा था और बौद्ध और जैन धर्म का प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने के प्रयत्न निरन्तर चलते रहते थे।

धार्मिक क्षेत्र की इस विषम स्थिति ने सनातन धर्म के विचारकों को नए ढंग से सोचने के लिए बाध्य कर दिया। दक्षिण भारत में विचारकों की एक नई पीढ़ी उदय हुई जिसने धर्म और ईश्वर की नई व्याख्या की। सुदूर केरल में शंकराचार्य ने अपने अद्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। पश्चात् रामानुज, निम्बार्क आदि ने वैष्णव-भक्ति के लिए नया मार्ग खोला। उत्तर भारत में नारदीय भक्ति का प्रचार बढ़ा। दक्षिण के वैष्णव-भक्त आलवारों तथा शैव-भक्त नयन्मारों ने भक्ति के एक नए लोक-कल्याणकारी रूप का उद्घाटन किया। परन्तु इस नवीन भक्ति-आन्दोलन का प्रभाव, उत्तर भारत में, हम पन्द्रहवीं सदी में ही पड़ता हुआ पाते हैं, उससे पूर्व नहीं। उत्तर भारत के पश्चिमी एवं पूर्वी प्रान्तों में सिद्धों और नाथों का प्रभाव ही प्रबल रहा, परन्तु उसका प्रतिफलन भी हमें, साहित्यिक क्षेत्र में, पन्द्रहवीं सदी से पूर्व नहीं दिखाई देता। वस्तुतः यह काल विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, उप-सम्प्रदायों के संघर्ष का युग था और इस संघर्ष रूपी समुद्र-मंथन से उस अमृत रूपी नवनीत का उदय हुआ जो कालान्तर में भक्ति-आन्दोलन के नाम से जाना गया।

सामाजिक परिस्थिति

यह काल अव्यवस्थित सामाजिक स्थिति का था। राजागण परस्पर और विदेशियों से लड़ते रहते थे। जनता की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी। राजाओं का व्यक्तिगत सम्मान ही उनकी मूल चिन्ता का विषय बना हुआ था, न कि प्रजा की सुख-सुविधा का ध्यान रखना। युद्धों के समय जनता ही पिसती थी। सनातन धर्म रूढ़ हो चुका था। जन्म के अनुसार जाति का निर्णय होना, समाज द्वारा मान्य

स्वीकार किया जा चुका था। उच्च-वर्ण के लोग निम्न-वर्ण के लोगों को हेय समझते थे। नारी केवल भोग्या मानी जाती थी। उसका बलात् अपहरण कर लेना राजाओं का एक आम रिवाज-सा बन गया था। शिक्षा केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित थी। राजनीति, व्याकरण, साहित्य-शास्त्र, नाटक, तंत्र-मंत्रादि की शिक्षा राजन्य-वर्ग एवं उनके सभासदों तक ही सीमित होकर रह गई थी। अर्थात् उस युग में सामन्त-वर्ग समृद्ध, विलासी और शिक्षित था; जनता निर्धन, अशिक्षित और पीड़ित थी। यह कोई विचित्र अथवा अनहोनी स्थिति नहीं थी। सामन्ती-शासन की यही परिणति और नियति रहती है। और वह युग सामन्ती शासन का था।

सिद्ध और नाथ पंथी साधक पुराने सनातन धर्म की रूढ़ मान्यताओं और छुआछूत की भावना का विरोध कर रहे थे। समाज का निम्न वर्ग उनसे प्रभावित था। निम्न वर्ग में उच्च वर्ग और उसके आडम्बर पूर्ण धर्म के विरुद्ध एक क्रान्ति की सी ज्वाला सुलग रही थी, जिसका पूर्ण विस्फोट हमें आगे चलकर सन्त-काव्य में दिखाई पड़ता है।

साहित्यिक परिस्थिति

इस युग की साहित्यिक पृष्ठभूमि अत्यन्त समृद्ध रही थी। संस्कृत-साहित्य समृद्ध और अलंकृत साहित्य बन चुका था। मध्य देश के पश्चिमी एवं पूर्वी सीमान्तों पर अपभ्रंश का साहित्य एक नई चेतना लेकर उदय हो रहा था। पश्चिमी सीमान्त में जैनाचार्य संस्कृत के पुराणों को नए रूप दे, उनकी नई और भिन्न व्याख्या कर रहे थे। इनके साहित्य में भाषा का परिनिष्ठित रूप उभर रहा था। पूर्वी सीमान्त में सिद्धगण ऐसी भाषा में ऐसे साहित्य का निर्माण कर रहे थे जो रूढ़ सा होते हुए भी एक नई भाषा और नए साहित्य-रूप के उदय की सम्भावनाओं का संकेत दे रहा था। संस्कृत-साहित्य कालिदास आदि के स्वच्छन्द कलात्मक रूप को त्याग रूढ़ बनता जा रहा था। आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट, अभिनवगुप्त आदि संस्कृत काव्य-शास्त्र को चरम सीमा तक पहुँचा चुके थे। और हमारे आलोच्य काल में क्षेमेन्द्र, महिम भट्ट, आचार्य हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने काव्य-शास्त्र के विविध अङ्गों को समृद्ध बना संस्कृत-आलोचना शास्त्र को एक प्रकार से पूर्णता की सीमा तक पहुँचा दिया था। श्रीहर्ष, भोज, सोमदेव, जयदेव आदि श्रेष्ठ कवियों ने इसी काल में श्रेष्ठ साहित्य का सृजन किया था।

दूसरी तरफ अपभ्रंश-साहित्य जैन-धर्म का आश्रय प्राप्त कर सुन्दर कथा-काव्यों और मुक्तकों का सृजन कर रहा था। इसी युग में 'सन्देश राशक' जैसे अमर काव्य का प्रणयन हुआ था। अपभ्रंश साहित्य विभिन्न काव्य-रूपों में पल्लवित हो रहा था। परन्तु इस जैन-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता या निर्बलता यह रही कि यह मूल रूप से धार्मिक साहित्य ही बन कर रह गया। फिर भी धार्मिकता के इस आवरण के रहते हुए भी इस साहित्य में सुन्दर काव्य रचे गए, जिनका साहित्यिक

मूल्य वरेण्य है। यदि अपभ्रंश-साहित्य में 'सन्देश-रासक' जैसी चार-छः कृतियाँ और सृजित हो गई होतीं तो काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह साहित्य अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि का बन जाता। सिद्ध और नाथ-साहित्य उच्चकोटि के काव्य-रूप तो न प्रदान कर सका परन्तु भाषा के क्षेत्र में उसने भावी भाषा-क्रान्ति की सूचना दे दी थी। उनके साहित्य में लोक-भाषा धीरे-धीरे उभरती चली आ रही थी।

इस काल का साहित्य तीन रूपों में रचा गया—राज्याश्रित, धर्माश्रित और लोकाश्रित। संस्कृत-साहित्य विभिन्न राज-दरबारों में संरक्षण पाकर आगे बढ़ा। अपभ्रंश-साहित्य पश्चिम में जैन-धर्म का आश्रय पाकर, और पूर्व में सिद्धों और नाथों का संरक्षण पाकर आगे बढ़ा। इस युग में केवल 'संदेश-रासक' ही एक ऐसी प्रामाणिक और श्रेष्ठ कोटि की कृति रची गई जो लोकाश्रित थी।

आरम्भिक काल पर प्रभाव

आरम्भिक-काल में हमें हिन्दी-भाषा की जितनी भी प्रामाणिक या अर्द्ध-प्रामाणिक रचनाएँ मिलती हैं, उन पर संस्कृत-साहित्य का कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। इस काल के रासो-ग्रन्थ अपभ्रंश की रासा-ग्रन्थ परम्परा से प्रभावित हैं। खुसरो की पहेलियाँ या मुकरियाँ विशुद्ध लोक-परम्परा की उपज हैं, और विद्यापति की 'पदावली' लोकगीतों का अनुसरण करती दिखाई पड़ती है। सिद्धों-नाथों का साहित्यिक-क्षेत्र में प्रभाव, इस युग में नगण्य सा रहा है। उसका प्रभाव या विकसित रूप हमें आगे चलकर सन्त-काव्य के रूप में मिलता है। इस काल में हिन्दी-प्रदेश में या तो बहुत कम ग्रन्थ रचे गए या जो रचे गए उनमें से अधिकांश नष्ट हो गए।

आरम्भिक काल का उपलब्ध साहित्य

यदि आरम्भिक काल के हिन्दी-भाषा में रचित उपलब्ध साहित्य का आकलन किया जाय तो हमें बहुत थोड़े से ही ग्रन्थ ऐसे मिलते हैं जिनके आधार पर इस काल के हिन्दी-साहित्य का विवेचन किया जा सकता है। और ये ग्रन्थ हैं—खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, खुसरो की रचनाएँ, तथा विद्यापति की पदावली। आचार्य शुक्ल ने इस काल के विवेच्य ग्रन्थों में चार अपभ्रंश रचनाओं को समाविष्ट किया था—विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, कीर्त्तिलता और कीर्त्ति-पताका। ये अपभ्रंश की रचनाएँ हैं, इसलिए इन्हें हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत शामिल नहीं किया जा सकता। इनके अतिरिक्त शुक्लजी ने दो और ग्रन्थों को इस काल में शामिल किया था—जयचन्द्र प्रकाश, और जयमयंक जस चन्द्रिका। परन्तु इन दोनों ग्रन्थों का केवल उल्लेख मिलता है, इसलिए इन्हें भी विचारणीय नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त कुछ नवीन इतिहासकारों ने कतिपय ऐसे ग्रन्थों को इस काल की सामग्री के अन्तर्गत स्वीकार कर उनका विवेचन किया है जो उनकी दृष्टि

में तो हिन्दी की रचनाएँ हैं, परन्तु दरअसल हैं अपभ्रंश की ही रचनाएँ। इनमें से प्रमुख हैं—सन्देश रासक, पउम चरिउ, भविसयत्त कहा, परमात्मा प्रकाश, बौद्ध गान और दोहा, स्वयम्भू छन्द, तथा प्राकृत पैंगलम्। इनके अतिरिक्त एक इतिहास लेखक ने अपभ्रंश में रचे अनेक रासा-ग्रन्थों को भी इस काल की विवेच्य सामग्री में सम्मिलित कर लिया है। जैसे—भरतेश्वर बाहुबलि रास, चन्दन बाला रास, रेवन्तगिरि रास, नेमिनाथ रास, कच्छूली रास आदि। ये सम्पूर्ण रचनाएँ अपभ्रंश में लिखी गई हैं। पउमचरिउ (पद्मचरित), भविसयत्त कहा (भविष्य दत्त कथा) के शीर्षक ही प्रमाणित करते है कि ये अपभ्रंश की रचनाएँ हैं। इनके नाम तक अपभ्रंश में हैं।

अपनी बात को, कि ये अपभ्रंश की रचनाएँ हैं, प्रमाणित करने के लिए हम इनमें से कुछ ग्रन्थों की भाषा के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करना उचित समझते हैं। 'स्वयम्भू छन्द' के भाषा-रूप की बानगी द्रष्टव्य है—

"एमहि तिह करोनि पुणु रहुवइ।
जिह ण होमि पडिवारें तिय मई॥"

'सन्देश-रासक'—

"पउ मोडवि निमिसिद्धु पहिय जइ दय करहि,
कहउँ किमि संदेसउ पिय तुच्छक्खरहि।
पहिउ भणइ कणथंगि कहह किं रुन्नयण,
झिज्जंति णिरु दीसहि उव्विन्नमियनयण।"

'भरतेश्वर बाहु बलि रास'—

'कीजइ ए कहि कुण काजि, जउ पुण बंधव आवरइं ए।
काज न ईणइ राजि धरि, पुरि नयरि न मंदिरिहिं।
× × × ×
मानई ए नवि मुनिराउ, मौन न मेल्हइ मन्नवीय।
मुक्कइ ए नहु नीय माण, बरस दिवस निरसण रहीय।"

भाषा के उपर्युक्त रूपों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मूलतः अपभ्रंश ही है, हिन्दी नहीं। साथ ही यह भी सत्य है कि इसमें हिन्दी का रूप उभरता चला आ रहा है, परन्तु शब्द-भंडार आदि की दृष्टि से यह अपभ्रंश की ओर ही अधिक झुकी हुई है। इसलिए इन ग्रन्थों को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता। 'बौद्ध गान और दोहा' नामक ग्रन्थ के सम्बन्ध में काफी विवाद रहा है। इसकी भाषा अपभ्रंश मिश्रित प्राचीन बँगला है, न कि हिन्दी। इसी प्रकार 'प्राकृत पैंगलम्' में भी अधिकतर अपभ्रंश की रचनाएँ ही संग्रहीत हैं। हम पीछे कह आए हैं कि हिन्दी धीरे-धीरे साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश पाती जा रही थी। इन ग्रन्थों में हिन्दी की उसी दशा के विभिन्न रूप मिलते हैं।

आचार्य शुक्ल ने जैन-कवियों द्वारा रचित अपभ्रंश रचनाओं को इस आधार पर हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था कि ये मूलतः धार्मिक रचनाएँ हैं और धार्मिक रचनाओं को साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु अपभ्रंश साहित्य में हमें 'सन्देश रासक' और 'भरतेश्वर बाहुबलि-रास' जैसी श्रेष्ठ साहित्यिक-सौन्दर्य से भरी-पूरी रचनाएँ मिलती हैं, जिन्हें अपने साहित्य के अन्तर्गत सम्मिलित कर किसी भी भाषा के साहित्यकार गौरव का अनुभव करेंगे। लेकिन हमारे सामने सबसे बड़ी कठिनाई भाषा-सम्बन्धी है। इसीलिए हम इन्हें हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं कर सकते।

आरम्भिक-कालीन हिन्दी ग्रन्थ : एक विकट समस्या

हमने जिन रचनाओं को हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल के सम्बन्ध में विवेच्य माना है, विशेष रूप से रासो-ग्रन्थों के सम्बन्ध में, एक बड़ी जटिल समस्या उठ खड़ी हुई है। और वह है उनकी प्रामाणिकता की। इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इन अधिकांश ग्रन्थों के रचयिता अपने-अपने चरित-नायकों के समकालीन माने गए हैं। यदि सत्य यही है तो उनके ग्रन्थों में ऐतिहासिक भ्रान्तियाँ नहीं होनी चाहिए थीं। परन्तु इन ग्रन्थों में ऐसे-ऐसे व्यक्तियों और घटनाओं का उल्लेख किया गया है जो न तो समकालीन थे, और न वे घटनाएँ ही इतिहास से प्रमाणित होती हैं—जैसे; 'पृथ्वीराज रासो' के नायक पृथ्वीराज चौहान की माता का नाम, उसका दिल्ली गोद जाना, उसे दिल्ली का शासक बताना, उसका ऐसे वीरों से युद्ध कराना जो या तो उसके पूर्ववर्ती थे या परवर्ती। इसी प्रकार 'खुमान रासो' में—जो बारहवीं सदी का ग्रन्थ माना जाता है, अठारहवीं सदी में हुए प्रतापसिंह तक का वर्णन आ जाना। इसके अतिरिक्त बीसलदेव रासो, खुमान रासो आदि के सम्बन्ध में यह निश्चित कर सकना भी असम्भव सा हो उठा है कि इन ग्रन्थों को किन नरेशों से सम्बन्धित माना जाय क्योंकि बीसलदेव तथा खुमान नामक कई राजाओं का उल्लेख मिलता है, जिनके समय में काफी अन्तर है। कुछ विद्वानों ने, जिनमें शुद्ध इतिहासकारों की संख्या ही अधिक है, इन्हीं ऐतिहासिक भ्रान्तियों के कारण इन रासो-ग्रन्थों को परवर्ती काल की या जाली रचनाएँ घोषित कर इनका बहिष्कार करने की आवाज उठाई थी।

भाषा-समस्या

इसके उपरान्त इन ग्रन्थों-सम्बन्धी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण इनके मूल रूप के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न करने वाला रहा है। भाषा-विदों ने हिन्दी-भाषा के विकास का अध्ययन करते हुए पाया कि इन रासो-ग्रन्थों में भाषा के ऐसे रूप उपलब्ध होते हैं जिन्हें उस काल का भाषा-रूप नहीं माना जा सकता, जिस काल के ये ग्रन्थ माने जाते हैं। कुछ ग्रन्थों में भाषा के ऐसे विभिन्न रूप मिलते हैं जो यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि एक ग्रन्थ के विभिन्न अंशों की रचना विभिन्न कालों

में हुई थी। अतः उसका रचयिता वही अकेला कवि नहीं माना जा सकता, जिसके नाम से वह ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त कुछ ग्रन्थों में अनेक भाषाओं और विभाषाओं का मिश्रित रूप मिलता है; जैसे—पृथ्वीराज रासो में ही अपभ्रंश, डिंगल, ब्रजभाषा के भिन्न-भिन्न रूप मिल जाते हैं। मुनि जिन विजय को पृथ्वीराज रासो के चार ऐसे छन्द मिले हैं जिन्हें विशुद्ध रूप से अपभ्रंश भाषा के छन्द माना जा सकता है। भाषा के ऐसे रूप को देखकर कुछ लोगों ने यह अनुमान किया है कि यह ग्रन्थ मूलरूप में अपभ्रंश भाषा में ही लिखा गया था और क्योंकि परवर्ती अनेक कवियों ने उसमें प्रक्षिप्त अंश जोड़ कर उसे वृहदाकार बना दिया है, इसीलिए उसमें भाषा के विभिन्न रूप मिलते हैं। बीसलदेव रासो की भाषा को भी कई विद्वानों ने अपभ्रंश का उत्तरकालीन रूप माना है। इस प्रकार इस काल के ग्रन्थों में हमें संक्रमण-कालीन भाषा का रूप मिलता है। फिर भी उस भाषा-रूप में हिन्दी की प्रधानता दिखाई पड़ती है इसलिए इन्हें हिन्दी की ही रचनाएँ मानना चाहिए।

यदि कतिपय ऐतिहासिक भ्रान्तियों तथा भाषा-रूपों के आधार पर हम इन ग्रन्थों को पूर्णतया जाली अथवा अप्रामाणिक रचनाएँ मान लेंगे तो फिर हमारे पास इस काल में विवेचन के लिए एक भी ग्रन्थ शेष नहीं रह जायेगा। इसमें सन्देह नहीं कि आज ये ग्रन्थ जिस रूप में उपलब्ध होते हैं, वही उनका मूल रूप नहीं रहा होगा। परवर्ती कवियों द्वारा उनके मूल आकार, इतिहास, पात्र, भाषा आदि में परिवर्तन-परिवर्द्धन किया जाता रहा होगा। परन्तु इसी आधार पर उनका सर्वथा बहिष्कार नहीं किया जा सकता। साहित्यिक-सौष्ठव की दृष्टि से ये रासो-ग्रन्थ परिपक्व साहित्यिक-कृतियों के रूप में स्वीकार किए जाते रहे हैं। परन्तु आश्चर्य का विषय तो यह है कि हमें परवर्ती हिन्दी-साहित्य में इस रासो-परम्परा का विकास नहीं मिलता। सम्भव है, इसका यह कारण रहा हो कि पन्द्रहवीं सदी तक आते-आते हिन्दी-भाषी प्रदेश की परिस्थितियाँ इतनी बदल चुकी हों कि राजाओं का प्रशस्ति-गायन अनुचित समझा जाने लगा हो और बदलती हुई परिस्थितियों से उद्भूत नवीन जन-चेतना ने साहित्य की धारा को एक नया मोड़ दे दिया हो।

हिन्दी रासो-ग्रन्थों की कतिपय साहित्यिक विशेषताएँ

'बीसलदेव रासो' के अतिरिक्त शेष सभी रासो-ग्रन्थ विभिन्न कवियों द्वारा अपने-अपने आश्रयदाता वीर राजाओं के जीवन, उनकी अप्रतिम वीरता, विभिन्न युद्ध एवं शृङ्गार के क्षेत्र में उनकी अद्वितीय सफलताओं के वर्णनों का कलात्मक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। केवल 'बीसलदेव रासो' ही एकमात्र ऐसा रासो है जिसमें वीरत्व व्यंजना की अपेक्षा प्रेम के संयोग और विप्रलम्भ—दोनों रूपों की प्रधानता रही है। इन रासो-ग्रन्थों का अध्ययन करने से इनकी कुछ ऐसी विशेषताएँ हमारे सामने प्रकट होती हैं, जो सहज ही हमारा ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। इनमें से प्रधान विशेषताओं का रूप इस प्रकार है :—

१. आश्रयदाता राजाओं की अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा

प्रत्येक ग्रन्थ के रचयिता ने अपने आश्रयदाता राजा को ही सर्वश्रेष्ठ वीर, पराक्रमी सम्राट्, अद्वितीय रूप से सुदर्शन, अनुपम दानवीर, दृढ़ प्रतिज्ञ, शरणागत-रक्षक आदि सिद्ध कर उसका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। और इस झोंक में उन्हें ऐसे-ऐसे इतिहास-प्रसिद्ध वीरों को पराजित करता हुआ दिखाया है, जो उनके समकालीन नहीं थे—या तो पूर्ववर्ती थे या परवर्ती।

२. राष्ट्रीय भावना का संकुचित रूप

अपने आश्रयदाता को ही सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ मानने और घोषित करने के कारण ही इन कवियों की राष्ट्रीय भावना केवल अपने आश्रयदाता के राज्य की सीमाओं तक ही सीमित होकर रह गयी थी। वह अपने राज्य को ही राष्ट्र समझते थे। विदेशी तो उनके लिए शत्रु थे ही, जो उचित भी था, परन्तु अन्य शक्तिशाली वीर भारतीय राजाओं को भी वे विदेशियों के ही समान अपने आश्रयदाता का शत्रु समझते और उन्हें उसी रूप में चित्रित करते थे। उस युग में देश पर विदेशियों के निरन्तर आक्रमण होते रहते थे, और ये विदेशी प्रत्येक भारतीय राजा के समान शत्रु थे। परन्तु उस युग को हमें एक भी ऐसी रचना नहीं मिलती, जिसमें भारतीयों को संगठित होकर विदेशी शत्रु का सामना करने का आह्वान या उद्बोधन मिलता हो। इसीलिए हम आज के दृष्टिकोण से उस युग की उस राष्ट्रीय भावना को अत्यधिक संकुचित समझते हैं, जिसमें एक राज्य को ही राष्ट्र समझ लिया जाता था।

३. युद्धों का सजीव-सुन्दर वर्णन

इन रासो-काव्यों के चरित्र-नायक वीर, योद्धा और युद्ध-प्रिय के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। इन चरित-नायकों के अनेक युद्धों का इन ग्रन्थों में सविस्तार वर्णन हुआ है। कहा जाता है कि इन ग्रन्थों के रचियता स्वयं वीर योद्धा थे। कम से कम चन्दबरदाई के सम्बन्ध में तो यही विश्वास प्रचलित है। ये लेखनी और तलवार—दोनों के समान धनी थे। ये कविगण अपने राजाओं के साथ युद्ध-क्षेत्र में जाते और युद्ध करते थे। इसीलिए इनके द्वारा वर्णित युद्ध-वर्णन अत्यन्त सजीव, मार्मिक और यथार्थ बन पड़े हैं। कर्कश पदावली में युद्ध के वीररस-पूर्ण भाव से ओत-प्रोत हिन्दी के आरम्भिक युग का यह काव्य हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है। इसकी वीर वचनावली में शस्त्रों की झनकार स्पष्ट सुनाई पड़ती है। परवर्ती हिन्दी-साहित्य में भूषण के अतिरिक्त फिर ऐसी कविता के दर्शन नहीं होते। ये कविगण वीररस-पूर्ण छन्द सुना-सुना कर अपने आश्रयदाताओं को युद्धोन्माद से भर देते थे। जगनिक का 'परमाल रासो' तो जैसे वीररस का साक्षात् रूप ही बन गया है। आज भी आल्हा गाते और सुनते, गायक और श्रोता कभी-कभी इतने उत्तेजित हो उठते हैं

कि आपस में लड़ने लगते हैं। 'आल्हा' की वीरता का आदर्श निम्न पंक्तियों में स्पष्ट हो जाता है :—

"बारह बरस लौं कूकर जियें, और तेरह लौं जिएँ सियार।
बरस अठारह क्षत्री जियें, आगे जीवन कौं धिक्कार॥"

४. वीर और शृङ्गार का समन्वय

इन रासो-काव्यों की एक विचित्र विशेषता यह है कि इनमें हुए युद्धों के मूल में किसी-न-किसी नारी को ही मूल कारण माना गया है। भारतीय राजाओं में परस्पर जो युद्ध होते दिखाए गए हैं, वे किसी राजा की सुन्दरी कन्या को ही प्राप्त करने के लिए होते दिखाए गए हैं। पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो आदि सभी ग्रन्थों में युद्धों का मूल कारण—सुन्दरी कन्यायें ही मानी गई हैं। इसी कारण इनमें वीर और शृङ्गार का सुन्दर समन्वय हुआ है। वीरता का मूल प्रेरक नारी-सौन्दर्य ही रहा है। इसलिए पहले तो सुन्दरी का रूप-चित्रण, राजा का या उस सुन्दरी का राजा के प्रति आकर्षित हो, उसके विरह में दग्ध होना, फिर युद्ध द्वारा दोनों का मिलन और मिलन के पश्चात् सरस केलि-क्रीड़ाओं का वर्णन। इस प्रकार शृङ्गार और वीर—दोनों परस्पर घुल-मिलकर साथ-साथ चलते हैं और काव्य-शास्त्रकारों की इस मान्यता को खंडित कर देते हैं कि शृङ्गार और वीर परस्पर विरोधी रस हैं, इसलिए इनका एक साथ वर्णन नहीं होना चाहिए। इन रासो-ग्रन्थों में शृङ्गार, वीर का प्रेरक रस बन कर आता है इसलिए अधिक प्रभावशाली और मनोरम हो उठा है। उसमें विलास का वह एकमुखी लिजलिजा रूप नहीं है जो रीतिकालीन शृङ्गार की विशेषता और निर्बलता—दोनों ही रही है।

५. रासो-काव्यों के रचयिताओं ने अपने आश्रयदाताओं का प्रशस्ति-गान करते समय इतिहास का ध्यान नहीं रखा है। मूलतः इतिहास की इसी अवलेहना के कारण इतिहासकारों ने इन ग्रन्थों को अप्रामाणिक घोषित कर दिया था। इन कवियों से यह इतिहास सम्बन्धी त्रुटियाँ प्रमादवश हुई हैं अथवा जानबूझ कर, यह कह सकना कठिन है। सम्भव है यह मेहरवानी उन अनामा परवर्ती कवियों की रही हो, जिन्होंने इन ग्रन्थों का संशोधन-परिवर्द्धन किया हो; जैसे—'खुमान रासो' में अठारहवीं सदी के राजाओं का वर्णन होना तथा 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज का अपने पूर्ववर्ती भीम चालुक्य से युद्ध करना।

६. जन-जीवन की अवहेलना

इन ग्रन्थों के रचयिता अपने आश्रयदाताओं की वीरता और रसिक-वृत्ति तक ही सीमित रहे हैं, इसलिएँ इनमें तत्कालीन जन-जीवन उपेक्षित रहा है। इन ग्रन्थों का अध्ययन कर हम उस युग के सामाजिक जीवन का अनुमान नहीं लगा सकते।

७. छन्दों का संगत प्रयोग

इन काव्यों में हम विभिन्न प्रकार के छन्दों का प्रयोग होता हुआ देखते हैं। इस छन्द-विविधता में केशव की 'रामचन्द्रिका' की सी पांडित्य-प्रदर्शन की अथवा पाठकों को चौंका देने वाली प्रवृत्ति का आग्रह नहीं मिलता। दोहा, त्रोटक, गाथा, तोमर, सट्टक, आर्या, रोला, उल्लाला, पद्धरि, कुंडलिया आदि नाना प्रकार के छन्दों का कलात्मक प्रयोग किया गया है। इन छन्दों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सर्वत्र छन्दों का भावानुकूल प्रयोग किया गया है। जो छन्द जिस भाव को वहन करने में सर्वाधिक सक्षम होता है उसका प्रयोग उसी भाव का वर्णन करने में किया गया है। इसी विशेषता को लक्ष्य कर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'पृथ्वीराज रासो' के सम्बन्ध में लिखा है कि—"रासो के छन्द जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते हैं।"

८. भाषा के विविध रूप

इन रासो-ग्रन्थों में भाषा के दो रूप ही प्रधान मिलते हैं—अपभ्रंश और अपभ्रंश प्रभावित 'पिंगल'। इसके अतिरिक्त युद्ध-वर्णनों में एक ऐसी भाषा के दर्शन होते हैं जिसे विद्वानों ने 'डिंगल' कहा है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो आदि अपने मूल रूप में परिनिष्ठित अपभ्रंश में लिखे गए थे। और उनमें जो पिंगल का रूप मिलता है वह परवर्ती कवियों की मिलावट है। उन्होंने डिंगल का अस्तित्व इस भाषा में द्वित्व और कर्णकटु शब्दों का अधिक प्रयोग देखकर माना है। परन्तु द्वित्व वर्णों का प्रयोग केवल डिंगल की ही विशेषता नहीं रही है। प्राकृत और अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति खूब कस कर मिलती है। अपभ्रंश के अधिकांश ग्रन्थ राजस्थान के सीमावर्ती—गुजरात, मालवा आदि प्रदेशों में तथा पश्चिमी राजस्थान में लिखे गए थे। और डिंगल पश्चिमी राजस्थान की काव्यभाषा मानी जाती है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि उसने द्वित्व वर्णों की यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से ग्रहण की हो। अपभ्रंश-काव्यों में युद्ध-वर्णन आदि में इन वर्णों का बहुलांश में प्रयोग हुआ है और यही डिंगल की विशेषता रही है। पिंगल का रूप हमें शृङ्गार आदि के वर्णन में मिलता है। यहाँ भाषा पर ब्रजभाषा का गहरा प्रभाव रहा है। वस्तुतः इस भाषा को ब्रजभाषा का आदि रूप माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में रासो-ग्रन्थों की भाषा का कोई एक निश्चित रूप नहीं मिलता। यह भाषा दो भाषाओं—अपभ्रंश और हिन्दी—के संक्रमण-काल की भाषा है, इसलिए इसमें इन दोनों भाषाओं का मिला-जुला रूप रहना स्वाभाविक है। हिन्दी अपने शुद्ध रूप में, अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त होकर, भक्तिकाल के आरम्भ में ही सामने आती है, उससे पहले नहीं। अस्तु,

आरम्भिक काल के साहित्य के सन्दर्भ में तीन शब्द विशेष रूप से विचारणीय हैं—'रासो', 'डिंगल', तथा 'पिंगल'। 'रासो'—इस काल के ग्रंथों को कहा गया है

और डिंगल-पिंगल—दो भाषा-रूप हैं। इसलिये हमें आरम्भिक काल के साहित्य का विवेचन करने से पूर्व इन तीनों शब्दों के वास्तविक अर्थों को जान लेना चाहिए। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि ये तीनों शब्द भी विद्वानों में पर्याप्त विवाद के विषय रहे हैं। इसलिए यहाँ हम इन तीनों शब्दों की उत्पत्ति, अभिप्राय आदि के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत उद्धृत करते हुए विचार करेंगे।

'रासो'

हिन्दी-साहित्य के इतिहास के प्रथम लेखक फ्रांसीसी विद्वान गार्सां द तासी 'रासो' शब्द की उत्पत्ति रासो-ग्रंथों में आए 'राजसूय' यज्ञों के आधार पर इसी शब्द से मानते हैं। पहले तो रासो-ग्रंथों में 'राजसूय' यज्ञ का उल्लेख ही नहीं हुआ है, और यदि कहीं हुआ भी हो तो उससे 'रासो' शब्द की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकी, इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिए हैं। 'राजसूय यज्ञ' से यह ध्वनि निकलती है कि इसे करने वाला चरित-नायक वीर और दिग्विजय का आकांक्षी रहा होगा। परन्तु अपभ्रंश एवं हिन्दी में अनेक ऐसे 'रासा' या 'रासक' ग्रन्थ रचे गये थे, जिनके नायक उद्भट वीर न होकर उत्कट प्रेमी थे; जैसे—'बीसलदेव रासो' तथा 'सन्देश रासक' के नायक और नायिका। इसलिए इस उत्पत्ति को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस शब्द की उत्पत्ति 'रसायण' से मानते हैं। उनका कहना है कि—"कुछ लोग इस शब्द का सम्बन्ध 'रहस्य' से जोड़ते हैं। पर 'बीसलदेव रासो' में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार-बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से होते-होते 'रासो' हो गया है। शुक्लजी ने अपने इस मत के समर्थन में 'बीसलदेव रासो' से एक पंक्ति भी उद्धृत की है—

"नाल्ह रसायन आरम्भई शारदा तुठी ब्रह्म कुमारि।"

जहाँ तक 'रहस्य' शब्द का सम्बन्ध है, यह कहना नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है कि 'रासो' का 'रहस्य' से कोई सम्बन्ध रहा है। रासो-ग्रंथों में, चाहे वे अपभ्रंश के हों अथवा हिन्दी के, रहस्यवादी उक्तियों का अस्तित्व नहीं मिलता।[१] ब्रज में इस 'रासो' शब्द का अर्थ—लड़ाई-झगड़े के लिए होता है। परन्तु यह कहना कठिन है कि मूल शब्द इसी प्रचलित अर्थ से निकला है या अधिकांश रासो-ग्रंथों में युद्ध का वर्णन देखकर इसे ब्रज में स्वीकार कर लिया गया है। ब्रज में लड़ाई-झगड़ा करने वाले से कहते हैं—"तैंने का रासो रोप रख्यौ है।" कुछ विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'राजादेश' या 'राजयश' शब्द से मानते हैं; जैसे—राजादेश > राआयस > रायसु > रासो। तथा, राजयश > राययसो > रायसो > रासो।

---

१. **श्री काशीप्रसाद जायसवाल और श्री रामनारायण दूगड़ तथा कविराज श्यामल दास आदि ने 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'रहस्य' से इस प्रकार मानी है—संस्कृत 'रहस्य' > रहस्सो > रअस्सो > रासो।**

नरोत्तम स्वामी इस शब्द की व्युत्पत्ति 'रसिक' से मानते हैं। प्राचीन राजस्थानी में 'रसिक' का अर्थ—कथा-काव्य माना जाता था। यही शब्द क्रमशः 'रासउ' और 'रासो' हो गया। यह मत सत्य के काफी नजदीक पहुँचा देता है। प्रधान रूप से कथा-ग्रन्थों के लिये ही 'रासा, रासक या रासो' शब्द का प्रयोग होता आया है। आचार्य चंद्रबली पांडेय इस शब्द का सम्बन्ध संस्कृत नाट्य-साहित्य के एक अंग 'रासक' से जोड़ते हैं। 'रासक' रूपक या उपरूपक माना जाता है। उनका मत है कि आरम्भ में रासो-ग्रन्थों का प्रणयन प्रदर्शन के लिए ही हुआ था। प्रमाण के लिए उन्होंने यह उदाहरण दिया है कि 'पृथ्वीराज रासो' के आरम्भ में चन्द बरदाई और उसकी पत्नी नट-नटी के समान परस्पर नाटकीय वार्तालाप करते हैं। यह मत भी सत्य के आस-पास पहुँचा हुआ प्रतीत होता है क्योंकि काव्य-स्वरूप की दृष्टि से रासक एक नृत्य-काव्य का गेय रूपक माना गया है। वहाँ प्रदर्शन की भावना निहित है।

कतिपय विद्वान् इसका सम्बन्ध 'रास' या 'रासक' से जोड़ते हुए इसका अर्थ करते हैं—ध्वनि, क्रीड़ा, विलास, गर्जन, नृत्य और शृंखला। सम्भवतः यह कल्पना शृङ्गार-प्रधान, वीर-प्रधान और चरित-प्रधान—तीनों प्रकार के रासो या रासा-ग्रन्थों के स्वरूप को समेटने के लिए की गई है। कुछ इसका सम्बन्ध 'रसिया' से भी जोड़ते हैं, जिसका अर्थ है—रसिक नायक। परन्तु यह शब्द भद्दे शृङ्गार की ध्वनि देता है। इसलिए इसे रासो-काव्यों के उदात्त स्वरूप के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'रासो' का मूल रूप 'रासक' मान, उसे एक छन्द भी मानते हैं और एक काव्य-रूप भी। जो काव्य रासक छन्द में लिखे जाते थे, वे ही हिन्दी में 'रासो' कहलाने लगे।

संस्कृत के दशरूपकार ने रासक को 'भागवत' कहा है। विरहांक ने 'वृत्तजाति-समुच्चय' में कहा है कि जिस रचना में अडिल्ल, दूहा, मात्रा, रड्डा और ढोसा इत्यादि छन्द हों उसे रासक कहते हैं।[1] स्वयभू ने भी घत्ता, छप्पय, पद्धड़ी तथा अन्य रूपकों के कारण जन-मन का मनोरंजन करने वाले काव्य को 'रासक' कहा है। 'उपदेश रसायन' में रासक को गेय-काव्य माना गया है। संस्कृत के पुराणों में से 'हरिवंश पुराण' एवं 'विष्णु पुराण' में 'रास' शब्द का अर्थ नृत्य-गीत माना गया है। इस विवेचन से यह ध्वनि निकलती है कि 'रास' शब्द मूलतः नृत्य-काव्य या गेय-रूपक के लिए प्रयुक्त होता था। डॉ० दयानन्द श्रीवास्तव का इस सम्बन्ध में यह मत है कि—"लघुकाय रास की मूल प्रेरणा अभिनयात्मक थी। ऐसा लगता है कि रास की मूल अनुप्रेरणा नृत्यपरक थी। समय के साथ उसमें छन्द की योजना की गई होगी और नृत्य तथा छन्द की सामूहिकता के पश्चात् उसमें कथा-वस्तु का नियोजन किया गया होगा।"

---

१. अडिलहि दुबहएहिंव घत्ता रड्डहिं तह अढोसाहिं।
वहुएहिं जो रज्जई सो भणइ रासउ।

डा० श्रीवास्तव के उपर्युक्त मत के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रास या रासक शब्द अपने मूल रूप में नृत्य-गीत परक काव्य के लिए प्रयुक्त होता था और उसकी मूल सम्वेदना शृङ्गार की ही रहती थी। प्रेम का चित्रण उनमें मसृणता और कोमलता का समावेश कर देता है। अपभ्रंश के 'सन्देश रासक' और हिन्दी के 'बीसलदेव रासो' में हम प्रेम के इसी कोमल रूप के दर्शन करते हैं। आरम्भ में इसमें कथा का अंश कम रहा होगा जैसा कि 'सन्देश रासक' में है। परन्तु इन काव्यों का सम्बन्ध जीवन के उदात्त रूप के प्रतिनिधि चरित-नायकों से भी रहने के कारण धीरे-धीरे इनमें कथा का अधिकाधिक समावेश होता चला गया होगा। और आगे चलकर चरित-प्रधान कथा-काव्यों के लिये—चाहे उनमें वीरत्व का उग्र प्रदर्शन हो या प्रेम का मसृण चित्रण—रास, रासक या रासो शब्द का व्यवहार प्रचलित हो गया होगा। इसलिए इसका मूल उद्गम संस्कृत नाट्य-शास्त्र का रासक नाट्य-भेद ही माना जाना चाहिए। यह वहीं से अपना रूप बदलता हुआ कथा-काव्यों के लिये रूढ़ हो गया था।

'डिंगल'

साधारणतः पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी भाषा के साहित्यिक रूप को 'डिंगल' कहा जाता है। इस भाषा के लिए इस शब्द का व्यवहार लगभग उन्नीसवीं सदी से होने लगा है। कुछ लोग डिंगल को मारवाड़ी से भिन्न चारणों की एक अलग भाषा मानते हैं। परन्तु इन दोनों में उतना ही अन्तर है जितना कि साहित्यिक हिन्दी और बोलचाल की हिन्दी में है। भाषा-रूप की दृष्टि से इसे परिनिष्ठित अपभ्रंश और साहित्यिक ब्रजभाषा के बीच की कड़ी माना जा सकता है। इसके समीपवर्ती प्रदेशों में अपभ्रंश-साहित्य रचा गया था, इसलिए इस पर अपभ्रंश का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। यही कारण है कि हम इसमें अपभ्रंश की द्वित्व वर्णों वाली प्रवृत्ति का गहरा प्रभाव पाते हैं, और यह प्रभाव अभी तक इसके साहित्यिक रूप पर देखा जा सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस साहित्यिक भाषा का नाम 'डिंगल' कैसे और क्यों पड़ा ? इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत रहे हैं, जो इस प्रकार हैं :—

पहला मत—डा० एल० पी० टैसीटरी का है। उनका कहना था कि—"डिंगल शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गँवारू था। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और साहित्य-शास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी। पर डिंगल इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र थी। इसलिए इसका यह नाम पड़ा।" यह धारणा भ्रान्त है। डिंगल गँवारू भाषा न होकर पढ़े-लिखे चारणों की भाषा थी। उनकी कृतियों का राज-दरबार में सम्मान किया जाता था। इसलिए उसे अनियमित या गँवारू भाषा नहीं माना जा सकता। इसमें व्याकरण की शुद्धता के साथ-साथ छन्द, रस, अलंकार आदि की शुद्धता और उपयुक्त प्रयोगों का भी ध्यान रखा जाता था। ब्रजभाषा की तुलना में

इसका ऐतिहासिक साहित्यिक अस्तित्त्व पहले से मिलता है। इसलिए ब्रजभाषा की तुलना में इसे गँवारू कहने का कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता।

दूसरा मत—हरप्रसाद शास्त्री का है। उनका मत भी टैसीटरी से मिलता-जुलता है। उन्होंने मूल शब्द 'डगल' मानकर 'पिंगल' के ध्वनि-साम्य पर उसका 'डिंगल' कर देना माना है। उनके अनुसार यह किसी भाषा का नाम न होकर, एक काव्य-शैली का नाम है। राजस्थानी में 'डगल' का अर्थ—अनगढ़ या अव्यवस्थित होता है। परन्तु 'डिंगल' भाषा एक उन्नत साहित्यिक और 'पिंगल' (साहित्यिक ब्रजभाषा) की पूर्ववर्ती भाषा थी। अत: इस मत को भी मान्य नहीं माना जा सकता।

तीसरा मत—गजराज ओझा का है। उनका कहना कि—डिंगल में 'ड' वर्ण बहुत प्रयुक्त होता है। इसी कारण 'पिंगल' के नाम-साम्य पर इसका नाम 'डिंगल' रखा गया या पड़ गया। जिस प्रकार बिहारी लकार-प्रधान भाषा है, उसी प्रकार डिंगल भी डकार-प्रधान भाषा है। ओझा जी का यह मत भी वज़नदार नहीं मालूम पड़ता। किसी वर्ण-विशेष के आधिक्य से संसार की किसी भी भाषा का नामकरण किया गया हो, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। और दूसरी बात यह कि डिंगल में 'ड' वर्ण का प्राधान्य भी नहीं है।

चौथा मत—पुरुषोत्तम स्वामी का है कि "डिंगल शब्द 'डिम+गल' से बना है। 'डिम' का अर्थ—डमरू की ध्वनि और 'गल' का अर्थ—गला होता है। डमरू की ध्वनि रणचण्डी का आह्वान करती है, शिव वीररस के देवता हैं। गले से जो कविता निकल कर डिम-डिम की तरह वीरों के हृदय को उत्साह से भर दे, उसी को 'डिंगल' कहते हैं। इस भाषा में इस तरह की कविता की प्रधानता है। इसलिए यह 'डिंगल' नाम से प्रसिद्ध हुई।" यह मत भ्रान्त और हास्यास्पद है। न तो शिव वीररस के देवता हैं और न डमरू की ध्वनि ही इतनी उत्साहवर्द्धक होती है। न मालूम ऐसे-ऐसे विद्वान् ऐसी-ऐसी भ्रान्त और हास्यास्पद कल्पनाएँ कैसे और क्यों कर लेते हैं।

पाँचवाँ मत—उदयराज का है कि—"डिंगल के कवि पिंगल को पाँगुली (पंगु) भाषा मानते हैं और पिंगल के मुकाबिले डिंगल को उड़ने वाली भाषा कहते हैं। पिंगल का व्याकरण, छन्द-शास्त्र आदि सुगम है।....'डगल' का अर्थ हुआ 'डग'=पंख; 'ल'=लगे हुए अर्थात् पंखवाली, उड़ने वाली, स्वतन्त्रता से चलने वाली अर्थात् सुगमता से काम में आने वाली।" परन्तु यह मत और तर्क भी निराधार है। डिंगल पिंगल की अपेक्षा सुगम नहीं है। उसका छन्द-शास्त्र काफी जटिल है। उसके एक छन्द 'वयण सगाई' का निर्वाह करना अत्यन्त दुष्कर होता है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी 'डगल' से 'डिंगल' नहीं बन सकता। भाषा-शास्त्र के अनुसार किसी शब्द में मात्रा और अनुस्वार, दोनों की वृद्धि एक साथ नहीं होती।

छठवाँ मत—डा० ग्रियर्सन और डा० श्यामसुन्दरदास का है कि जो लोग ब्रजभाषा में कविता करते थे, उनकी भाषा 'पिंगल' कहलाती थी, और इसी पिंगल

नाम के अनुकरण पर मारवाड़ी भाषा का नाम 'डिंगल' गढ़ लिया गया। यह मत भी आधारहीन और लचर है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग 'डिम'+'गल' तथा कुछ 'डिग्गो'+'गल' से और कुछ 'डाँग' से इस शब्द का सम्बन्ध जोड़ते हैं और भिन्न-भिन्न अर्थ करते हैं। रामकरण आसोया और ठाकुर किशोरसिंह बारहठ ने इसकी उत्पत्ति क्रमशः 'डँगि' और 'डींग' धातुओं से मानी है। गुलेरी जी भी इसकी उत्पत्ति पिंगल के नाम-साम्य के आधार पर मानते हैं। उनके अनुसार इस शब्द का कोई विशेष अर्थं नहीं है।

सातवाँ मत--मोतीलाल मेनारिया का है। और यही मत हमें उपर्युक्त मतों में से सर्वाधिक तर्क-संगत प्रतीत हुआ है। उनका कहना है कि--"यथार्थत: 'डिंगल' शब्द 'डींगल' का परिवर्तित रूप है। अंग्रेज लेखकों ने 'डिंगल' और 'डींगल' शब्दों में कोई भेद नहीं माना। 'पिंगल' के अनुकरण पर 'डींगल' को 'डिंगल' माना जाने लगा।। परन्तु राजस्थान के वृद्ध राजपूत चारण इसका उच्चारण 'डींगल' ही करते हैं। यह एक अनुकरणात्मक शब्द है जो शीतल, बोझल, धूमल आदि शब्दों के अनुकरण पर, पिंगल साहित्य में पूर्णतः अत्युक्तिपूर्ण वृत्तों को ध्यान में रखना, उसकी इस विशेषता के द्योतनार्थ गढ़ लिया गया है। इसकी उत्पत्ति 'डींग' शब्द के साथ 'ल' प्रत्यय जोड़ने से हुई है, और इसका अर्थ है—डींग से युक्त अर्थात् अतिरंजनापूर्ण।" डिंगल-साहित्य की प्रकृति को देखते हुए मेनारिया जी का यह कथन तर्क-संगत प्रतीत होता है।

डिंगल सम्बन्धी उपर्युक्त विभिन्न मतों में हमें दो प्रकार की प्रमुख ध्वनियाँ मिलती हैं : **पहली**, कुछ लोग डिंगल को उपहास का पात्र मानकर उसे गँवारू भाषा मानते हैं। **दूसरी**, कुछ लोग इसका कोई सार्थक महत्त्वपूर्ण अर्थ निकालने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः डिंगल एक समृद्ध साहित्यिक भाषा रही है और साथ ही पिंगल की पूर्ववर्ती भी, इसलिए उसे गँवारू या अव्यवस्थित भाषा नहीं माना जा सकता।

पिंगल

'पिंगल' शब्द का वास्तविक अर्थ -- छन्द-शास्त्र है। छन्द-शास्त्र को पिंगल-शास्त्र भी कहा जाता है। परन्तु राजस्थानी साहित्य-परम्परा में यह शब्द ब्रजभाषा का ही द्योतक रहा है। वस्तुतः यदि 'डिंगल' पश्चिमी राजस्थानी भाषा है तो 'पिंगल' पूर्वी-राजस्थानी, जिस पर ब्रजभाषा का गहरा असर रहा है। इसी कारण अब 'पिंगल' से ब्रजभाषा का अर्थ न लेकर 'राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा' माना जाने लगा है। पिंगल और डिंगल में प्रधान अन्तर यह है कि डिंगल शुद्ध राजस्थानी भाषा है और पिंगल एक मिश्रित भाषा है। इसमें दोनों भाषाओं की विशेषताएँ मिल जाती हैं। इसमें इन दो भाषाओं के मिश्रण का अनुपात कवि की इच्छा पर निर्भर करता है। परन्तु डिंगल में केवल मारवाड़ी भाषा के व्याकरण का ही पालन होता है। पिंगल-काव्यों में कभी ब्रजभाषा का अनुपात अधिक दिखाई देता है, और कभी राजस्थानी का; जैसे—'पृथ्वीराज रासो' और सूर्यमल का 'वंशभाष्कर' दोनों पिंगल के ग्रन्थ माने

जाते हैं। परन्तु पहले ग्रन्थ में राजस्थानी की अपेक्षा ब्रजभाषा का प्रभाव और अनुपात अधिक लक्षित होता है, और दूसरे में राजस्थानी के प्रति अधिक झुकाव है। राजस्थान में पिंगल और डिंगल—दोनों भाषाओं में प्रचुर रचनाएँ लिखी गई हैं। हिन्दी के आरम्भिक कालीन रासो-ग्रन्थ, राजविलास, अवतार चरित्र आदि पिंगल की रचनाएँ हैं। डिंगल साहित्य 'ख्यात, बात, बिगत, पीढ़ी, वंशावली' आदि साहित्य-रूपों में मिलता है।

वस्तुतः पिंगल भी डिंगल के ही समान एक साहित्यिक भाषा थी। कुछ लोग इसका अस्तित्व डिंगल से पहले मानते हैं और कुछ इसे डिंगल की परवर्ती भाषा स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान यह है कि डिंगल और पिंगल—दोनों समकालीन साहित्यिक भाषाएँ थीं। दोनों का अपना-अपना व्याकरण था। मूलतः दोनों थीं राजस्थान की ही भाषाएँ। डिंगल अपभ्रंश से प्रभावित पश्चिमी राजस्थान की काव्य-भाषा थी और पिंगल ब्रजभाषा से प्रभावित पूर्वी राजस्थान की। राजस्थान के चारण इसे पिंगल कहते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० रामकुमार वर्मा आदि का इस सम्बन्ध में यही मत है। वैसे अनेक अन्य विद्वानों ने पिंगल और डिंगल के नामकरण और पारस्परिक भेद के सम्बन्ध में भी वैसी ही मन-गड़न्त कल्पनाएँ की हैं जैसी कि 'डिंगल', 'रासो' आदि शब्दों के सम्बन्ध में मिलती हैं। परन्तु वे इतनी तर्क-हीन, निराधार और असंगत हैं कि उन पर विचार करना व्यर्थ है।

हिन्दी की पूर्ववर्ती रासो-काव्य परम्परा

हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल में हमें रासो-ग्रंथों की ही प्रधानता मिलती है। यह प्रधानता देखकर यह विश्वास करना पड़ता है कि हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्य या साहित्यों में यह परम्परा अवश्य विकसित रही होगी। हम 'रासो' शब्द की उत्पत्ति का विश्लेषण करते हुए बता आये हैं कि इस शब्द का 'रास' या 'रासक' शब्दों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। संस्कृत में रास या रासक नाटक का ही एक रूप माना गया है। अतः इन हिन्दी रासो-काव्यों का सम्बन्ध उससे नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि इनमें उस काव्य-परम्परा के प्रधान लक्षण नहीं मिलते। अपभ्रंश-साहित्य हिन्दी-साहित्य का पूर्ववर्ती साहित्य रहा है और उसका हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक रूप पर गहरा प्रभाव पड़ा है। और अपभ्रंश में हमें रास, रासा या रासक काव्यों की एक समृद्ध परम्परा मिलती है : इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के रासो-ग्रंथ इसी पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा के विकसित रूप हैं।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपभ्रंश की इस रास या रासक परम्परा के दो रूप माने हैं—(१) गीत-नृत्य परक, (२) छन्द-वैविध्य परक। प्रथम परम्परा के अन्तर्गत उन्होंने—उपदेश रसायन रास, भरतेश्वर बाहुबलि रास, बुद्धिरास, जीवदया-रास, चन्दन बाला रास, जम्बू स्वामी रास, रेवन्तगिरि रास आदि जैन-कवियों द्वारा रचित काव्यों को माना है जिनका प्रधान उद्देश्य—कथा-माध्यम से अथवा मुक्तक रूप

में जैन-धर्म का पोषण करना रहा है। दूसरी परम्परा में डा० गुप्त ने मुंजरास, हम्मीर रासो जैसी रचनाओं को माना है, जो धर्म-प्रधान रचनाएँ न होकर वीरों के चरित-वर्णन को लेकर सामने आई हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रथम परम्परा की रचनाएँ प्रधानत: गुजरात और पश्चिमी राजस्थान में लिखी गयीं थीं, तथा दूसरी परम्परा की हिन्दी प्रदेश में। हिन्दी में इस दूसरी परम्परा ने ही विकास पाया था। और यह ऐतिहासिक वीर पुरुषों के चरित्र-गायन के रूप में विकसित हुई थी। इनके अधिकांश कवि जैन नहीं थे। जैन रासो-ग्रंथों में जैन-धर्म के महापुरुषों का वर्णन होता था और जैनेतर कवियों द्वारा लिखे गए अपभ्रंश के रासो ग्रन्थों में ऐतिहासिक वीरों का। इसलिए हिन्दी रासो-ग्रंथों ने अपभ्रंश की धार्मिक प्रेरणा के आधार पर रचे गये रासो-ग्रन्थों को सामन्ती-साहित्य का रूप प्रदान कर दिया था। इसलिए हिन्दी में यह परम्परा अपभ्रंश की 'धार्मिक रास-परम्परा' से स्वरूप में भिन्न परन्तु प्रेरणा में समान 'ऐतिहासिक रासो काव्य-परम्परा' के रूप में विकसित हुई थी। अब हम हिन्दी की इस 'ऐतिहासिक रासो काव्य-परम्परा' के अन्तर्गत रचे गये रासो-ग्रंथों और उनके रचयिताओं का संक्षिप्त विवेचन करना उचित समझेंगे, जो इस प्रकार है—

आरम्भिक-कालीन प्रसिद्ध रासो-ग्रन्थ और उनके रचयिता

हिन्दी के आरम्भिक काल में रचित लगभग सभी रासो-ग्रंथों की यह नियति रही है कि उन्हें संदिग्ध, अप्रामाणिक या परवर्ती काल की रचना समझा जाता रहा है। और इनके सम्बन्ध में ये सन्देह उत्पन्न करने में हमारे इतिहासकारों, भाषाविदों और राजस्थानी साहित्य के कुछ विद्वानों की विशेष अनुकम्पा रही है। यदि इन रासो-ग्रंथों को अप्रामाणिक ही मान लिया गया है, तो फिर हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत इनकी गणना और विवेचना करना कोई अर्थ नहीं रखता। इन रासो-ग्रंथों के रचयिताओं और उनकी रचना-तिथियों के सम्बन्ध में इतना अधिक विवाद रहा है, और आज भी है, जिसके कारण इनके सम्बन्ध में किसी अन्तिम या संगत निष्कर्ष पर पहुँच जाना अत्यन्त दुष्कर कार्य हो उठा है। हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने वाले अनेक शीर्ष-स्थानीय विद्वानों ने एक ओर तो इनकी गणना हिन्दी-साहित्य की आरम्भिक-कालीन रचनाओं के अन्तर्गत की है, और दूसरी ओर इनकी प्रामाणिकता में भी जबर्दस्त सन्देह प्रकट किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दर दास, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि सभी की यही स्थिति रही है। हिन्दी-साहित्य के, आधुनिक सुधी विद्वान् इतिहास-लेखकों ने अवश्य यह साहस किया है कि उन्होंने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर कुछ रासो-ग्रंथों को परवर्ती काल की रचनाएँ मान, उनका उल्लेख आरम्भिक काल के अन्तर्गत न कर, उनकी रचना-तिथियों के अनुसार (जिन्हें वे प्रामाणिक समझते हैं) सम्बन्धित काल-खण्ड के अन्तर्गत ही किया है। परन्तु ऐसा करने से वे रचनाएँ अपनी समकालीन अन्य रचनाओं के समूह में विचित्र,

सबसे अलग, कटी-कटी सी दिखाई पड़ती हैं और उस साहित्य की अबाध धारा में घुल-मिल नहीं पातीं। उदाहरण के लिए 'खुमाण रासो' को लिया जा सकता है। एक लेखक ने इसे अठारहवीं सदी की रचना मान, इसका विवेचन उत्तर-मध्यकालीन साहित्य (शुक्ल जी के रीतिकालीन साहित्य) के अन्तर्गत किया है।

कुछ ऐतिहासिक भ्रांतियों, कुछ नए उत्तरवर्ती भाषा-रूपों एवं कुछ परवर्ती ऐतिहासिक पुरुषों के उल्लेख के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना न्याय्य एवं संगत नहीं प्रतीत होता कि इन ग्रंथों की रचना उसी युग में हुई होगी, जिसके इनमें प्रमाण मिल जाते हैं। जैसा कि हम इस सम्बन्ध में पहले भी कह आये हैं कि इन ग्रंथों का मूल रूप आरम्भिक युग में ही रचा गया होगा, परन्तु परवर्ती कवियों द्वारा स्वयं अनाम रहते हुए, उनमें जो परिवर्द्धन किये जाते रहे होंगे, उसी ने इन भ्रांतियों की सृष्टि की है। इसलिए हमें इन ग्रंथों को सर्वथा अप्रामाणिक ही घोषित न कर, इनका सम्बन्धित युग के साथ उल्लेख करना ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

खुमाण रासो

इसका रचयिता दलपति-विजय और रचना-काल नवीं सदी के लगभग माना जाता है। आचार्य शुक्ल का मत है कि इसमें नवीं सदी के चित्तौड़-नरेश खुमाण के विभिन्न युद्धों का वर्णन किया गया है। परन्तु साथ ही इसमें अठारहवीं सदी में हुए चित्तौड़-नरेश महाराणा राजसिंह (शासन १६५२ से १६७० ई०) के समय तक के राजाओं का वर्णन पाया जाता है। इसी आधार पर अनेक विद्वानों ने इसका रचना-काल सम्वत् १७३० से लेकर १७६० तक के बीच माना है। मोतीलाल मेनारिया, अगरचन्द नाहटा आदि का यही मत रहा है। यह ग्रंथ वस्तुतः एक राजवंश का इतिहास जैसा है। सम्भव है इसकी रचना नवीं सदी में ही दलपति विजय नामक किसी दरबारी कवि द्वारा हुई हो और कालान्तर में उसके परवर्ती विभिन्न दरबारी कवियों द्वारा इसमें उस राजवंश के परवर्ती शासकों का विवरण जोड़ा जाता रहा हो और यह क्रिया अठारहवीं सदी के मध्य तक चलती रही हो। मेनारियाजी इसके रचयिता दलपति विजय को नवीं सदी के चित्तौड़ नरेश रावल खुमाण का समकालीन न मान अठारहवीं सदी के एक जैन-साधु दलपत विजय की कृति मानते हैं। साथ ही उनका यह भी कहना है कि इस ग्रंथ में जिस रावल खुमाण का विस्तृत वर्णन किया गया है वह कोई खुमाण नामक राजा नहीं था। यह 'खुमाण' या 'खुम्माण' तो चित्तौड़ के राजाओं की एक पदवी थी। इसी कारण इसमें चित्तौड़ वंश के आदि पुरुष बापा रावल से लेकर महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय तक का इतिहास वर्णित है।

'खुमाण रासो' पाँच हजार छन्दों का एक विशाल ग्रन्थ है। इसमें युद्ध, विवाह, नायिका भेद, षट्ऋतु आदि के विस्तृत विवरण दिए गए हैं। अन्य रासो ग्रन्थों के

समान इसमें भी शृंगार और वीर—दोनों रस प्रधान रहे हैं। इसमें दोहा, सवैया, कवित्त आदि विविध छन्दों का सुचारु प्रयोग हुआ है। कवि ने बीच-बीच में पृथ्वीराज राठौड़, सुन्दरदास, बिहारी आदि की उक्तियों का भी समावेश किया है। भाषा की दृष्टि से इसकी भाषा राजस्थानी रही है। काव्य-सौंदर्य, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से इसे एक सरस और सफल काव्य माना जाता है। इसकी भाषा का जो रूप मिलता है उसके आधार पर तो इसे प्राचीन कृति नहीं माना जा सकता। इसकी सरस, सरल भाषा-शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"पिउ चित्तौड़ न आविऊ, सावण पहली तीज।
जोवै बाट विरहिणी, खिण-खिण अणवै खीज।।
संदेशो पिण साहिबा, पाछो फिरिय न देह।
पंछी घाल्या पींजरे, छुटण रो सन्देह।।"

बीसलदेव रासो

इसके रचियता नरपति नाल्ह माने जाते हैं। कतिपय ऐतिहासिक असंगतियों के कारण कुछ विद्वानों ने इसे भी संदिग्ध रचना घोषित कर दिया है। इस ग्रन्थ के रचयिता ने ग्रन्थ में रचना-तिथि भी दी है—

"बारह सै बहोत्तराहां मंझारि। जेठ बदी नवमी बुधिवारि।।
नाल्ह रसायण आरम्भई। सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि।।
कासमीरां मुख मंडनी। रास प्रगासों बीसल दे राइ।।"

इसके अनुसार इस ग्रन्थ का लिखना ज्येष्ठ (कृष्णा) नवमी, बुधवार सं० १२१२ में आरम्भ किया गया। इसमें कवि ने वर्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग किया है, जिससे यह प्रकट होता है कि कवि अपने चरित-नायक, इतिहास प्रसिद्ध नरेश, बीसल देव का समकालीन था। ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार राजा भोज बीसलदेव से ११० वर्ष पूर्व हुआ था परन्तु इस ग्रन्थ में बीसलदेव और राजा भोज की कन्या राजमती के विवाह का वर्णन किया गया है। यह देखकर विद्वानों का कथन है कि यदि नरपति नाल्ह बीसलदेव का समकालीन था तो उससे ऐसी भयंकर ऐतिहासिक भूल का होना असम्भव ही माना जायेगा। बीसलदेव अपने समय का प्रतापी राजा था। उसके खुदवाए गए अनेक शिलालेख मिले हैं, परन्तु उनमें यह उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि उसने कभी उड़ीसा पर चढ़ाई की थी और वहाँ १२ वर्ष तक रहा था। इस ग्रन्थ में बीसलदेव के उड़ीसा पर चढ़ाई करने और वहाँ १२ वर्ष तक रहने का वर्णन किया गया है। ऐसी ही अन्य अनेक ऐतिहासिक असंगतियाँ देखकर विद्वानों ने इसे संदिग्ध ग्रन्थ घोषित कर दिया था।

राजस्थानी साहित्य के मर्मज्ञ मोतीलाल मेनारिया और अगरचन्द नाहटा ने इसके भाषा-स्वरूप के आधार पर इसे सोलहवीं सदी की रचना माना है। मेनारिया

जी ने इसके रचयिता नरपति नाल्ह को सोलहवीं सदी का नरपति नामक एक गुजराती कवि माना है। मेनारिया जी 'खुमाण रासो' के रचयिता दलपति विजय के सम्बन्ध में भी ऐसा ही फतवा दे चुके हैं। मेनारिया जी ने 'बीसलदेव रासो' के काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण के आधार पर ही इसकी भाषा को सोहलवीं सदी का माना था। परन्तु यह संस्करण विद्वानों द्वारा अशुद्ध प्रमाणित किया जा चुका है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस ग्रन्थ की विभिन्न प्राचीन प्रतियों के आधार पर इसे सम्वत् १४०० की रचना माना है। कुछ विद्वान् इसके चरित-नायक बीसलदेव को ग्यारहवीं सदी का विग्रहराज मानते हैं। इधर श्री गजराज ने एक प्राचीन प्रति के आधार पर इसका रचना-काल सम्वत् १०७३ सिद्ध कर दिया है। जैसे—

'संवत् सहस तिहत्तर जानि। नाल्ह कबीसर सरसीय वाणि॥'

विद्वानों के उपर्युक्त परस्पर विरोधी मतों के जंगल में से लक्ष्य तक पहुँचा देने वाली सही पगडंडी का खोज निकालना असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु जब हम इसकी भाषा पर दृष्टि डालते हैं तो यह निश्चित हो जाता है कि यह कृति हिन्दी के आरम्भिक युग की ही रचना है, न कि सोलहवीं सदी की। कुछ विद्वानों ने इसकी भाषा को परिनिष्ठित अपभ्रंश माना है। डा० रामकुमार वर्मा इसकी भाषा पर अपभ्रंश का गहरा प्रभाव मानते हुए कहते हैं—

"बीसलदेव रासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है। कारक, क्रियाओं और संज्ञाओं के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं। अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्यः विकसित हिन्दी का ग्रन्थ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

आचार्य शुक्ल को भी इसकी भाषा साहित्यिक हिन्दी अर्थात् ब्रजभाषा से भिन्न प्रतीत हुई थी, जिसमें बीच-बीच में साहित्यिक हिन्दी को मिलाने का प्रयत्न किया गया है। वह इसकी भाषा को राजस्थानी मानते हैं। डा० दयानन्द श्रीवास्तव इसकी भाषा को परवर्ती अवहट्ट काल की भाषा मानते हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि राजस्थानी पर अपभ्रंश का गहरा प्रभाव रहा था और यदि 'बीसलदेव रासो' की भाषा अपभ्रंश का अनुसरण कर रही है तो इसमें कोई ऐतिहासिक अनौचित्य या आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। इसमें गुजराती, राजस्थानी, अपभ्रंश और ब्रजभाषा—इन चारों भाषाओं के शब्दों के रूप मिल जाते हैं। यह रचना भाषा के संक्रान्ति-काल की रचना है, इसलिए इसमें उस काल की पुरानी परिनिष्ठित अपभ्रंश और नई उभरती ब्रजभाषा, गुजराती और राजस्थानी के रूपों का मिश्रण हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। डा० माता प्रसाद गुप्त ने विभिन्न प्राचीन प्रतियों के आधार पर इसका सम्पादन कर जो संस्करण प्रकाशित कराया है, उसकी भाषा में प्राचीनता की गहरी छाप

है। इसलिए इसे सोलहवीं सदी की रचना तो किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता।

गेय काव्य—कुछ विद्वानों की यह धारण है कि यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में एक गेय काव्य था। गेय-काव्य होने के कारण ही इसके भाषा-रूप में परिवर्तन होता चला आया होगा। परन्तु मेनारिया जी आदि राजस्थानी विद्वान इसे गेय-काव्य भी नहीं मानते। उनका कहना है कि यह राजस्थान में कभी भी गेय-काव्य के रूप में प्रचलित नहीं रहा। जब हम सभी बातों का खण्डन करने की प्रतिज्ञा कर जम कर बैठ जायें तो फिर हमारे दुराग्रहों का कोई अन्त नहीं रह जाता। इन विद्वानों के ऐसे दुराग्रहों ने हिन्दी के कितने प्राचीन ग्रन्थों की हत्या करने का यश प्राप्त करने का प्रयत्न किया है, इसकी कल्पना ही भयावह है। ऐसे दुराग्रहों का यह परिणाम निकलता है कि पाठकों और मननशील अध्येताओं का सारा ध्यान ग्रन्थ की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के जाल में ही उलझ कर रह जाता है और वे उसके काव्य-सौन्दर्य का रसास्वादन नहीं कर पाते।

काव्य-सौन्दर्य—काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से 'बीसलदेव रासो' एक अत्यन्त सुन्दर, रससिक्त रचना है। इसकी एक सबसे निराली विशेषता यह है कि यह हिन्दी के अन्य रासो-ग्रन्थों के समान वीरता का प्रशस्ति-गायन न होकर कोमल प्रेम के मधुर, मार्मिक और सम्वेदनशील रूप का अमर चित्र है। विप्रलम्भ-शृंगार इसका प्रधान वर्ण्य-विषय है। चार खंडों में विभाजित सवा सौ छन्दों का यह छोटा सा काव्य प्रणय-सम्वेदना का द्रवणशील, हृदयग्राही रूप प्रस्तुत करता है। इसमें अजमेर-नरेश विग्रहराज, उपनाम बीसलदेव और उसकी पत्नी, राजा भोज की पुत्री राजमती के विवाह, कलह, विरह और मिलन के मार्मिक चित्र अंकित किए गए हैं। इतिहासकारों में इस सम्बन्ध में काफी विवाद रहा है कि यह बीसलदेव कौन सा विग्रहाराज था—प्रथम, तृतीय अथवा चतुर्थ ? परन्तु यहाँ हमारा विवेच्य 'बीसलदेव-रासो' के उपलब्ध रूप में प्राप्त उसके काव्य-सौन्दर्य का ही रसास्वादन करना और कराना है। इतिहास की बात इतिहासकार जानें। अस्तु,

'बीसलदेव रासो' रासक-काव्य-परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें 'रासक' काव्यों की सम्पूर्ण प्रधान विशेषताएँ उपलब्ध हो जाती हैं। विरह इसका प्रधान स्वर रहा है। यद्यपि इसे एक सुनियोजित कथा में आबद्ध किया गया है, परन्तु उस कथा के अभाव में भी यह ललित मुक्तकों का कलामय, उदात्त, प्रभविष्णु रूप प्रस्तुत करने में पूर्ण समर्थ है। यह एक कोमलधर्मा विरह काव्य है—'सन्देश रासक' के समान। अपने मूलरूप में यह एक प्रेमगीत है, जिसका विकास विरह की सम्वेदना द्वारा हुआ है। बीसलदेव और राजमती के विवाह के कुछ समय उपरान्त राजमती के एक व्यंग्य से आहत और रुष्ट हो बीसलदेव उड़ीसा चला जाता है और १२ वर्ष उपरान्त अजमेर लौटता है। और यही १२ वर्ष का वियोग विरह की अजस्र धारा के रूप

में फूट पड़ता है। राजमती पंडित द्वारा प्रिय के पास सन्देश भेजती है और यह सन्देश ही इस ग्रन्थ को 'मेघदूत' और 'सन्देश रासक' की परम्परा का 'सन्देश काव्य' बना देता है। सन्देश पाकर वीसलदेव घर लौट आता है। राजमती शृंगार करती है और प्रिय को उपालम्भ देती है। यहाँ संयोग-वैभव की मादकता विकीर्ण हो उठती है। बस, यह ग्रन्थ यहीं तक आकर्षक रहता है। शेष कथा नीरस है।

'विरह' इस काव्य का प्राण है। विरह तभी अधिक मार्मिक बनता है, जब उसकी पृष्ठभूमि में 'दाम्पत्य की सहज अधिकार जन्य अनुप्रेरणाओं द्वारा प्रणयी-युगल की शृंगार पूर्ण, संयोगपूर्ण अनुभूतियों' का चित्रण किया गया हो। जब सरस प्रणय-क्रीड़ाओं में वियोग की भावी सम्भावनाओं का संकेत दिया जाता है तो उसमें भाव-सौन्दर्य और काव्य-सौन्दर्य प्रभावशाली रूप में प्रस्फुटित हो उठते हैं। राजमती मानिनी नायिका है। वह प्रिय के पुरुष-दम्भ और वैभव-प्रदर्शन में अपनी अवमानना समझती है और उसे व्यंग्य से आहत कर देती है। यह व्यंग्य प्रिय के हृदय को झकझोर डालता है और वह कहता है—

'कड़ुवा बोल न बोलि हे नारि,
मइ तुम्हें मेल्हीय हे चितह बिसारि,
जीभ नवी नहु नोकलइ,
दव का दाधा यो कूपल लेइ,
जीभ का दाधा न पाल्हवइ।"

और वियोग का आरम्भ हो जाता है। वीसलदेव उड़ीसा चला जाता है। राजमती उसके वियोग में झूरती रहती है। कवि 'बारहमासा' के रूप में प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप अंकित करता है। परन्तु इस अंकन में कवि प्रकृति के उन्मेष की अपेक्षा नायिका की संवेदना को ही प्रधान रूप से अंकित करता है। राजमती की वेदना उसकी असमर्थता में और अधिक कारुणिक हो उठती है। वह नारी-जीवन के दैन्य और विवशता की प्रतिमा सी बन कह उठती है—

'अस्त्रीय जनम काइं दीधउ महेस।
अवर जनम थारई घणा रे नटेस।
रानि न सिरजीय रोझड़ी।
घणह न सिरजीय धउलीय गाइ।
वनषंड काली कोइली।
हउं बइसती अंबा नइ चम्पा की डाल।
भषती दाष बीजोरडी।
इणि दुष झूरइ अवलाजी बाल।'

विरह के इन मार्मिक चित्रों ने इस काव्य को एक अपूर्व गरिमा प्रदान कर दी है। विरह की तरल, सूक्ष्म अनभूतियाँ ही इसका आकर्षण है। सीधी, सरल भाषा में

कवि नारी हृदय की वेदना, उसकी विवशता और असहायता का चित्रण करता चला जाता है। ऐसा करते समय कथा तथा अन्य बातें उसके लिए गौण हो जाती हैं। हम आगे चलकर इसी विरह-वेदना का और अधिक प्रस्फुटित रूप जायसी और सूर में पाते हैं।

विजयपाल रासो

इसके रचयिता नल्हसिंह भाट माने जाते हैं। कहा जाता है कि इसमें विजयपाल सिंह और पंग राजा के युद्ध का वर्णन किया गया है। इतिहास के अनुसार इसकी रचना सम्वत् १०४३ में होनी चाहिए परन्तु मिश्रबन्धुओं ने इसका रचनाकाल सम्वत् १३५५ माना है। अन्य विद्वान् भाषा और शैली की दृष्टि से इसे सोलहवीं सदी की कृति मानते हैं। इसकी भाषा परवर्ती अपभ्रंश और आरम्भिक हिन्दी के संक्रान्तिकाल की भाषा है। इस कृति के केवल ४२ छन्द ही उपलब्ध हैं। इसलिए इसके सम्बन्ध में अभी विशेष रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

हम्मीर रासो

'हम्मीर रासो' अभी तक एक स्वतन्त्र कृति के रूप में उपलब्ध नहीं हो सका है। अपभ्रंश के 'प्राकृत पैंगलम्' नामक एक संग्रह-ग्रन्थ में संग्रहीत हम्मीर विषयक ८ छन्दों को देख आचार्य शुक्ल ने इसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मान लिया था। क्यों माना था? इसका उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है। इस ग्रन्थ के रचयिता शार्ङ्गधर माने जाते हैं। परन्तु कुछ पदों में 'जज्जल भणह' वाक्यांश देख राहुल जी ने इन्हें जज्जल नामक किसी कवि के रचे छन्द माना है; जैसे—'हम्मीर कज्जु जज्जल भणह कोणाहल मुह मह जलउ।' डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि 'प्राकृत पैंगलम्' की टीका में भी इन्हें जज्जल की ही उक्ति माना गया है; अर्थात् इसके रचयिता शार्ङ्गधर न होकर जज्जल हैं। परन्तु कुछ आलोचकों ने जज्जल को हम्मीर का मंत्री सिद्ध कर यह मत प्रकट किया है कि इन छन्दों में हम्मीर की वीरता का वर्णन न होकर जज्जल की वीरता का उल्लेख किया गया है। यदि शार्ङ्गधर को इसका रचयिता और हम्मीर का समकालीन माना जाय तो इसकी रचना सम्वत् १३५० के आसपास होनी चाहिए। परन्तु इसकी अव्यवस्थित परवर्ती भाषा को देख कुछ विद्वान् इसे सोलहवीं सदी के आसपास की रचना मानते हैं।

परमाल रासो

यह वर्तमान 'आल्हखंड' अर्थात् लोक-गेय-काव्य 'आल्हा' का मूलरूप माना जाता है। इसके रचयिता महोबा-नरेश परमर्दिदेव (परमाल) के दरबारी कवि जगनिक कहे गये हैं। इसमें महोबा के लोक-प्रसिद्ध दो वीरों—आल्हा और ऊदल—के विभिन्न युद्धों का बड़ी उत्तेजक भाषा में वर्णन किया गया है। आरम्भ में इसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ न मान 'पृथ्वीराज रासो' का ही 'महोबा खंड' शीर्षक एक अंश माना जाता

था। यदि ऐसी बात थी तो इसे जगनिक की रचना न मान चन्द बरदाई की कृति मानना चाहिए। इसके सम्बन्ध में सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि अभी तक इसकी कोई भी प्राचीन हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है। सन् १८६५ में चार्ल्स इलियट नामक एक विदेशी विद्वान् ने मौखिक परम्परा के आधार पर इसका सम्पादन कर इसे 'आल्ह खंड' के नाम से प्रकाशित कराया था। बाद में डा० श्यामसुन्दरदास ने इसका सम्पादन कर इसे 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' के तत्वावधान में प्रकाशित किया था। उन्होंने इसकी जो भूमिका लिखी है, उससे यह प्रकट होता है कि इसका मूल नाम 'महोबा खंड' था, जो 'पृथ्वीराज रासो' का ही एक अंश है। परन्तु डा० श्यामसुन्दरदास ने इसे 'पृथ्वीराज रासो' का अंश न मान एक स्वतन्त्र ग्रन्थ स्वीकार कर इसका नाम 'परमाल रासो' रखा। उनका मन्तव्य इस प्रकार है—"किन्तु वास्तव में यह 'पृथ्वीराज रासो' का 'महोबा खंड' नहीं है—वरन् उसमें वर्णित घटनाओं को लेकर—मुख्यतः 'पृथ्वीराज रासो' में दिए हुए एक वर्णन के आधार पर—लिखा हुआ एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। यद्यपि इस ग्रन्थ का नाम मूल प्रतियों में 'पृथ्वीराज रासो' दिया हुआ है, पर उसके नाम से प्रकाशित करना लोगों को भ्रम में डालना होगा। अतएव मैंने इसे 'परमाल रासो' नाम देने का साहस किया है।"

उपर्युक्त मन्तव्य से यह ध्वनि निकलती है कि इस ग्रन्थ को 'परमाल रासो' नाम डा० श्यामसुन्दरदास ने ही दिया था, पहले यह 'महोबा खंड' के नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु डा० माताप्रसाद गुप्त इसे 'पृथ्वीराज रासो' का 'महोबा खंड' ही मानते हैं और प्रमाण के लिए उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' और 'परमाल रासो' के अन्तिम छन्दों की तुलना कर उनमें परस्पर अत्यधिक साम्य दिखाया है। अस्तु, जो कुछ भी हो, यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ हो या 'पृथ्वीराज रासो' का एक अंश—यह निश्चित है कि आज इसका जो रूप उपलब्ध है, उसमें कम से कम, भाषा की दृष्टि से तो प्राचीनता की एक भी झलक नहीं मिलती। यह लोक-गेय-काव्य रहा है, इसलिए समय के प्रवाह के साथ-साथ इसकी भाषा अधुनातन रूप धारण करती चली गई है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इसका मूलरूप क्या और कैसा था।

काव्य-सौन्दर्य

विद्वानों ने 'परमाल रासो' अथवा 'आल्हखंड' को विकसनशील लोक-महाकाव्य माना है। इसकी जनता में अत्यधिक लोकप्रियता को देख डा० ग्रियर्सन ने इसे वर्तमान युग का सर्वाधिक लोकप्रिय महाकाव्य माना था। यह काव्य विकसनशील होते हुए भी 'पृथ्वीराज रासो' से भिन्न प्रकार का काव्य है। यह सदैव गायकों की परम्परा द्वारा ही विकसित होता रहा है। इसमें न तो महाकाव्य की शास्त्रीय रूढ़ियों का पालन हुआ मिलता है, और न संस्कृत या अपभ्रंश के अलंकृत काव्यों जैसा रूप-विधान, प्रबन्ध-कौशल और काव्य-सौष्ठव ही है। यह मूलतः लोककथा के रूप में ही

विकसित होता रहा है। परन्तु इसे मूलतः लोक-कथा नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका रचयिता जगनिक माना गया है, जबकि लोक-कथाओं के रचयिताओं का पता नहीं चलता। यद्यपि इसमें लोक-कथा के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं, फिर भी यह विशुद्ध लोक-कथा से आगे बढ़ा हुआ काव्य-रूप है। इसका रचना-काल तेरहवीं सदी माना गया है। यद्यपि यह ऐतिहासिकता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, फिर भी इसमें ऐतिहासिकता का आभास अवश्य मिल जाता है।

यह काव्य शिक्षित समाज की अपेक्षा अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित समाज में ही अधिक लोकप्रिय रहा है। इसे 'पृथ्वीराज रासो' के समान न तो जातीय महाकाव्य माना जा सकता है, और न 'रामचरितमानस' के समान राष्ट्रीय और सांस्कृतिक महाकाव्य। डा० शम्भूनाथ सिंह इसका प्रधान उद्देश्य 'मनोरंजन' मानते हैं। उनका कहना है कि इसमें विशुद्ध वैयक्तिक वीरता, स्वाभिमान, दर्प और साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन किया गया है। नैतिक, राष्ट्रीय या धार्मिक मूल्यों के प्रति कोई आग्रह नहीं रहा है। इसका प्रधान उद्देश्य—मनोरंजन करना और उसके माध्यम से वीर-पूजा की प्रवृत्ति जाग्रत कर वीर-भावना का संचार करना रहा है। परन्तु यह मत पूर्णतः सही नहीं है। इसका विकास राष्ट्रीय संवेदना और वीर-भावना की पीठिका पर ही हुआ है। यह एक गेय-काव्य है। इसलिए इसमें चमत्कार-प्रदर्शन, पांडित्य-प्रदर्शन और अलंकरण की प्रवृत्ति नहीं मिलती। वस्तुतः इस काव्य का मूलरूप लोक-कथा की गीतात्मक परम्परा का ही रहा होगा। उसे साहित्यिक रूपान्तर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही प्रदान करने की चेष्टा की गई थी। भाषा की दृष्टि से इसे बैंसवाड़ी बोली की रचना माना गया है। परन्तु आज यह जिस रूप में प्रचलित है, वह भाषा के आधुनिक रूप में ही है। उसमें प्राचीनता का एक भी चिन्ह नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में इसे हिन्दी के आरम्भिक काल की रचना नहीं मानी जा सकता। इसकी मूल प्रेरणा वीर-भावना की रही है। इसकी इसी मूल-भावना और भाषा-रूप का प्रदर्शन करने वाली दो पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"सदा तरैया ना बन फूलै, यारो सदा न सावन होय।
स्वर्ग मढ़ैया सब काहूँ को, यारो सदा न जीवै कोय।"

पृथ्वीराज रासो

यदि ऐतिहासिक असंगतियों और भाषा-रूप की विभिन्नता के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' को जाली या अप्रामाणिक मानने का अधिक आग्रह न हो तो इस ग्रन्थ को आरम्भिक युग के हिन्दी-साहित्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ और हिन्दी का सर्वप्रथम महाकाव्य मान लेना चाहिए। परन्तु आज तक यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य का सर्वाधिक विवादग्रस्त ग्रन्थ बना हुआ है। काव्य-वैभव, छन्द-विधान, अलंकरण आदि की दृष्टि से यह अपने युग की अनन्य कृति है। इसके रचयिता चन्द बरदाई माने जाते हैं, जिनके सम्बन्ध में यह लोक-प्रसिद्धि है कि ये उत्तर भारत के प्रसिद्ध नरेश पृथ्वीराज

चौहान के मित्र, दरबारी कवि और वीर योद्धा थे। इनके सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध है कि इनका और पृथ्वीराज का जन्म और मृत्यु एक ही दिन हुई थी।

आचार्य शुक्ल के आरम्भिक काल के नामकरण 'वीरगाथा काल' की मूल-प्रेरणा सम्भवतः यही ग्रन्थ रहा है, यद्यपि उन्होंने इसे सर्वथा जाली और अप्रामाणिक घोषित करने में भी संकोच नहीं किया था। कहा जाता है कि इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध चन्द बरदाई ने लिखा था और उत्तरार्द्ध उनके पुत्र जल्हण ने। इस सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि जब शहाबुद्दीन गोरी युद्ध में पराजित कर पृथ्वीराज को बन्दी बना गजनी ले गया था तो चन्द बरदाई भी अपने इस अधूरे ग्रन्थ को अपने पुत्र जल्हण को सौंप, उनके पीछे-पीछे गजनी चले गए थे। इसके प्रमाण स्वरूप रासो की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जाती रही हैं—

'पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज।
रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत भूपभोज उद्धरिय जिमि।
प्रथिराज सुजस कवि चन्दकृत चन्द नन्द उद्धरिय तिमि।'

उपर्युक्त पंक्तियाँ कहाँ तक प्रामाणिक हैं, यह नहीं कहा जा सकता।

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ—अब तक इसकी लगभग ६० हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ मिल चुकी हैं और इन सभी का रचना या प्रतिलिपि-काल सोलहवीं सदी के बाद का है। दूसरी विशालतम प्रति में ६९ सर्ग और १६,००० छन्द हैं तथा लघुतम प्रति में केवल १,३०० छन्द हैं और इनका विभाजन सर्गों में नहीं किया गया है। विशालतम संस्करण काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा तथा लघुतम संस्करण डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित हुआ है। मुनि जिनविजय को 'पुरातन-प्रबन्ध संग्रह' नामक ग्रन्थ में चार ऐसे छन्द मिले हैं जिनका रचयिता 'चन्द बलिद्दय' माना गया है। इनमें से दो छन्द चन्द के और दो जल्ह के हैं। इन चार छन्दों में से विशालतम संस्करण में केवल एक छन्द मिलता है। शेष तीन छन्द किसी भी प्रति में नहीं मिलते। इन चारों छन्दों की भाषा अपभ्रंश है। यह देख मुनि जिनविजय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'पृथ्वीराज रासो' मूल रूप में अपभ्रंश में लिखा गया था।

इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में एक काफी लम्बा विवाद यह चला आ रहा है कि यह ग्रन्थ प्रमाणिक है अथवा अप्रमाणिक है। एक बार 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल' ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन आरम्भ किया था। ग्रन्थ थोड़ा सा छप चुका था कि उसी समय डा० बूलर को कश्मीर के किसी जयानक नायक कवि रचित 'पृथ्वीराज विजय' नामक ग्रन्थ की एक खंडित प्रति मिली। इतिहास द्वारा प्राप्त तथ्यों और तिथियों तथा इस खंडित प्रति में प्राप्त तथ्यों और तिथियों में समानता देख वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह ग्रन्थ ही अधिक प्रामाणिक है और 'पृथ्वीराज रासो' अप्रामाणिक रचना है, क्योंकि उसमें वर्णित तथ्य और तिथियाँ इतिहास-विरुद्ध हैं। इसलिए उनके आग्रह पर सोसायटी ने 'पृथ्वीराज रासो' का प्रकाशन बन्द करवा दिया। बस, यहीं से इस

ग्रन्थ की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता सम्बन्धी विवाद-शृंखला का श्रीगणेश हो गया जो आज भी चल रहा है।

'पृथ्वीराज विजय' में पृथ्वीराज के चन्द या चन्द बरदाई नामक किसी भी कवि का उल्लेख नहीं मिलता। उसमें केवल पृथ्वी भट्ट नामक एक दरबारी कवि का नाम आता है, जिसे प्रसिद्ध इतिहासकार ओझा जी चन्द्रक कवि मानते हैं, जिसका उल्लेख कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने किया है। इस सम्बन्ध में दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि परवर्ती 'हम्मीर रासो', 'रम्भामंजरी' आदि काव्य एवं नाटक में 'पृथ्वीराज-रासो या चन्द बरदाई का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। विद्वानों ने ऐसे ही प्रमाणों के आधार पर इस ग्रन्थ तथा इसके रचयिता चन्द बरदाई का प्राचीन अस्तित्व स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस ग्रन्थ को अर्द्ध-प्रामाणिक मानते हुए अपने मत के समर्थन में एक तर्क यह भी दिया है कि यदि यह ग्रन्थ इतना अधिक प्रसिद्ध होता तो गोस्वामी तुलसीदास इसकी शैली में राम-काव्य लिखने का मोह संवरण न कर पाते, क्योंकि उन्होंने अपनी पूर्ववर्ती एवं समकालीन सभी शैलियों में राम का वर्णन किया है। उपर्युक्त तर्क और तथ्य कितने निर्बल और आधारहीन हैं, यह उन्हें देखकर ही प्रमाणित हो जाता है।

अप्रामाणिकता के प्रचार के मूल कारण

हिन्दी के इस अत्यधिक प्रचारित और उल्लिखित ग्रन्थ की असलियत के सम्बन्ध में इतना वितंडावाद उठने का मूल कारण यह रहा है कि आरम्भ में डा० बूलर आदि जिन विदेशी विद्वानों ने इस विवाद को जन्म दिया था, उनकी दृष्टि मूलतः ऐतिहासिक और भाषा-शास्त्रीय ही रही थी। वह काव्य-विकास के इस रहस्य को पहचानने और समझने में असमर्थ रहे थे कि अत्यधिक प्राचीन और साथ ही लोकप्रिय ग्रन्थ कालान्तर में परिवर्द्धित भी होते रहते हैं। और यही परिवर्द्धन करने की प्रवृत्ति उनमें ऐतिहासिक तथ्यों की असंगति तथा भिन्न भाषा-रूपों का समावेश कर देती है। ऐसे विद्वान् यह भूल जाते हैं कि काव्य इतिहास-ग्रन्थ नहीं होता। अतिशयोक्ति तथा अन्य कारण उसे इतिहास से भिन्न रूप प्रदान कर देते हैं। किसी की माता या पिता के नाम में भिन्नता होना ऐसा प्रमाण नहीं है कि उसके आधार पर उस कृति को ही जाली सिद्ध कर दिया जाय। हमें काव्य की मूल संवेदना को देखना चाहिए कि वह इतिहास से मेल खाती है अथवा नहीं। इस दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' को प्रामाणिक ग्रन्थ मानना चाहिए। यह दूसरी समस्या है कि उसकी उपलब्ध समस्त प्राचीन प्रतियों में से किसे ग्रन्थ के मूल रूप या उस मूल रूप से सर्वाधिक मिलती-जुलती प्रति माना जाय। अस्तु,

इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता का प्रश्न उठाने से पहले हमें इस तथ्य को स्वीकार करना पड़ेगा कि यह ग्रन्थ चन्द बरदाई की रचना है और चन्द बरदाई एक ऐतिहासिक पुरुष और अपने ग्रन्थ के चरितनायक पृथ्वीराज चौहान का समकालीन कवि

था। यदि हम आरम्भ में ही चन्द बरदाई सम्बन्धी समस्त जन-श्रुतियों की अवहेलना कर उसका अस्तित्व मानने से ही इन्कार कर देंगे तो फिर हमें हिन्दी के इस गौरव-ग्रन्थ से हमेशा के लिए हाथ धो लेना पड़ेगा। इसलिए हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि 'पृथ्वीराज रासो' चन्द बरदाई की रचना है। यह प्रश्न बाद में उठाना चाहिए कि उसका मूल रूप क्या था? इस सम्बन्ध में हम प्राचीन ग्रन्थों के मर्मज्ञ मुनि जिनविजय का यह कथन उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं—

"इससे यह प्रमाणित होता है कि चन्द कवि निश्चयत: एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्भावित राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्त्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देशव्यापी प्राकृत भाषा में एक काव्य-रचना की थी जो 'पृथ्वीराज रासो' के नाम से प्रसिद्ध हुई।"

यह ग्रन्थ तेरहवीं सदी में रचा गया था, इसका प्रमाण उसकी लघुतम प्रति की भाषा के आधार पर सिद्ध हो जाता है। इसकी भाषा-शैली तेरहवीं सदी के अन्य उपलब्ध रास या रासक-काव्यों की भाषा से काफी मेल खाती है, और कहीं-कहीं उसमें और भी अधिक प्राचीन भाषा के रूप मिल जाते हैं। वस्तुत: इसकी प्रामाणिकता सम्बन्धी विवाद इसकी उस विशालतम प्रति को देखकर ही उठा था, जिसमें अनेक ऐतिहासिक असंगतियाँ और भाषा के नवीन रूपों का अस्तित्व मिला था। यदि आरम्भ में ही इसकी लघुतम प्रति उपलब्ध हो जाती तो सम्भवत: यह विवाद ही न उठता।

प्रामाणिकता सम्बन्धी विवाद का इतिहास—हम पीछे कह आए हैं कि डा० बूलर ने सर्वप्रथम इस ग्रन्थ को विवादास्पद घोषित किया था। यद्यपि उनसे पूर्व कर्नल टाड ने इसे ऐतिहासिक ग्रन्थ स्वीकार कर इसका अनुवाद किया था और इसके आधार पर राजस्थान के राजवंशों का इतिहास भी लिखने का प्रयत्न किया था। डा० बूलर के उपरान्त प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अनेक ऐतिहासिक असंगतियों के आधार पर इसे जाली ग्रन्थ सिद्ध कर दिया। उन्होंने इसे सोलहवीं सदी के आरम्भ की रचना माना। इसके उपरान्त समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने प्रमाणों और तर्कों के आधार पर इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक या प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। हम इस लम्बे विवाद को, विवेचन की सुविधा के लिए, समानता के आधार पर, चार वर्गों में विभाजित कर इसका विवेचन करेंगे।

इस विवेचन को आरम्भ करने से पूर्व हमें रासो के उपलब्ध विभिन्न चार संस्करणों और उनके उद्धार कर्त्ताओं का भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। मुख्यत: रासो के चार संस्करण ही प्रधान माने जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) **वृहद् संस्करण**—इसकी कई प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इन्हीं के आधार

पर वृहद् संस्करण का प्रकाशन किया था, जिसमें ६९ समय (सर्ग) तथा १६,३०६ छन्द हैं।

(२) **मध्यम संस्करण**—इसकी कुछ प्राचीन प्रतियाँ अबोहर, बीकानेर तथा अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित बताई जाती हैं। मथुराप्रसाद दीक्षित इन्हीं को प्रामाणिक मानते हैं। ये सम्पूर्ण प्रतियाँ अठारहवीं सदी की हैं। इनकी छन्द-संख्या ७,००० है।

(३) **लघु संस्करण**—बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में इसकी तीन हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ सुरक्षित हैं। इनमें से कुछ प्रतियों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि किसी चन्द्रसिंह ने इस संस्करण का संकलन किया था। इस संस्करण में १९ सर्ग और ३,५०० छन्द हैं।

(४) **लघुतम संस्करण**—इस संस्करण में केवल १,३०० छन्द हैं। अनेक विद्वानों द्वारा इसी संस्करण को प्रामाणिक माना जाता है।

रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता सम्बन्धी विवाद से सम्बन्धित विद्वानों को, उनके दृष्टिकोण के आधार पर चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

प्रथम वर्ग—इस वर्ग के विद्वान् रासो के वृहद् संस्करण को ही प्रामाणिक मान उसे चन्द बरदाई द्वारा रचित पृथ्वीराज चौहान की समकालीन रचना मानते हैं। इस मत के समर्थक हैं—डा० श्यामसुन्दर दास, मथुराप्रसाद दीक्षित, पं० मोहनलाल-विष्णुलाल पांड्या, मिश्र बन्धु, कर्नल टाड आदि। इनमें से कुछ विद्वान् रासो में प्रक्षिप्त अंशों का होना भी मानते हैं।

दूसरा वर्ग—इस वर्ग के विद्वान् रासो को सर्वथा अप्रामाणिक रचना मानते हैं। ये लोग चन्द के अस्तित्व तक को अस्वीकार करते हुए रासो को पृथ्वीराज की समकालीन रचना भी नहीं मानते। इस मत के समर्थकों में—कविराज श्यामलदास, कविराज मुरारिदीन, पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डा० बूलर, मारिसन, मुंशी देवीप्रसाद, अमृतलाल शील, तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रमुख हैं।

तृतीय वर्ग—यह वर्ग मानता है कि पृथ्वीराज के दरबार में चन्द नामक कवि था जिसने यह ग्रन्थ लिखा था किन्तु वह आज अपने मूल रूप में प्राप्य नहीं है। इस वर्ग के विद्वानों के मतानुसार आज रासो का परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप ही उपलब्ध है। इस मत के समर्थकों में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, मुनि जिनविजय, अगरचन्द नाहटा, डा० दशरथ शर्मा, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कविराज मोहनसिंह, डा० माताप्रसाद गुप्त प्रमुख हैं। इनमें से डा० माताप्रसाद गुप्त का मत है कि रासो सम्वत् १४०० के आसपास लिखा गया था, परन्तु इसका रचयिता चन्द बरदाई न होकर कोई अन्य अज्ञातनामा कवि रहा होगा। डा० द्विवेदी रासो को अर्द्ध-प्रामाणिक रचना मानते हैं।

चतुर्थ वर्ग—इस वर्ग में केवल नरोत्तम स्वामी ही हैं, जो यह मानते हैं कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन था। परन्तु उसने रासो की रचना प्रबन्ध-काव्य के

रूप में नहीं की थी। ये 'जैन-ग्रन्थमाला' में प्राप्त रासो के पदों को चन्द की फुटकल अथवा मुक्तक रचनाएँ मानते हैं। आजकल इस मत को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता।

प्रामाणिकता के समर्थक

विद्वानों के उपर्युक्त चार वर्गों में से दो वर्गों के विद्वानों के मत एक प्रकार से अतिवादी रहे हैं। रासो को पूर्णरूपेण प्रामाणिक मानने वालों के सम्मुख रासो का केवल वृहद् संस्करण ही उपलब्ध था। इसलिए उन्होंने केवल उसी को प्रमाण्य मान इतिहासज्ञों के तत्सम्बन्धी अवहेलनापूर्ण दृष्टिकोण की अवहेलना करते हुए रासो को सर्वथा प्रामाणिक मान लिया था, यद्यपि उसमें प्रक्षिप्त अंशों का होना भी स्वीकार किया था। इतिहासज्ञों ने यह कहा था कि रासो में दिए गये सम्वत् और ऐतिहासिक प्रमाण्य-सम्वतों में लगभग एक सदी का अन्तर है; अर्थात् रासो में दिए गये सम्वत् वास्तविक ऐतिहासिक तिथियों से १०० वर्ष पहले के हैं। तिथियों के इस अन्तर की समस्या को मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने बड़े मनोरंजक ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने एक 'अनन्द सम्वत्' की कल्पना कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि यदि प्रचलित सम्वत् में से नन्द वंश के शासन काल से ९० वर्षों को घटा दिया जाय तो इतिहासकारों द्वारा कहा गया तिथियों में १०० वर्ष का अन्तर ठीक बैठ जाता है। पांड्या जी सम्वतों की समस्या को तो अपनी उर्वर कल्पना द्वारा सुलझा गए थे, परन्तु अन्य ऐतिहासिक असंगतियों का उनके पास कोई उत्तर नहीं था। इस वर्ग के विद्वानों की अपनी सीमाएँ थीं। उस समय तक रासो के अन्य संस्करण उपलब्ध नहीं हो पाये थे, इसलिए उन्होंने वृहद् संस्करण को प्रमाण्य मान लिया था। फिर भी इस वर्ग के विद्वान् इतिहासकारों द्वारा रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में उठाई गई आपत्तियों का तर्कसंगत निराकरण करने में असमर्थ रहे थे।

अप्रामाणिकता के समर्थक

दूसरा वर्ग रासो को सर्वथा अप्रामाणिक रचना मानता है। यह वर्ग प्रधान रूप से इतिहासकारों और अधकचरे भाषा-शास्त्रियों से प्रभावित रहा है। इसने भी रासो के वृहद् संस्करण को ही अपनी आलोचना का आधार बनाया था, क्योंकि उस समय तक रासो के अन्य लघु संस्करण उपलब्ध नहीं हो पाये थे। इन लोगों ने रासो की अप्रामाणिकता के दो प्रधान कारण माने थे, जो इतिहास पर आधारित थे—**घटना-वैषम्य**, तथा **काल-वैषम्य**। इतिहासकारों एवं भाषा-शास्त्रियों ने अनेक प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों और 'पृथ्वीराज विजय' नामक जयानक के खण्डित ग्रंथ के आधार पर रासो में अनेक ऐतिहासिक भ्रांतियों का अन्वेषण किया है। घटना-वैषम्य के प्रधान कारण यह माने गए हैं कि रासो में दिये गये अधिकांश नाम और घटनाएँ इतिहास-सम्मत प्रमाणित नहीं होतीं। रासो में परमार, चालुक्य, चौहान, अग्निवंशी क्षत्रिय माने गए हैं। परन्तु प्राचीन पौराणिक ग्रंथों और शिलालेखों के आधार पर

वे सूर्यवंशी सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामन्तों के नाम आदि भी प्राचीन शिलालेखों और 'पृथ्वीराज विजय' से भिन्न और अशुद्ध हैं। पृथ्वीराज की माता अनङ्गपाल की पुत्री नहीं थी और न कन्नौज-नरेश जयचन्द ही अनङ्गपाल का दौहित्र तथा राठौर वंशीय था। शिलालेखों द्वारा जयचंद गहरवार क्षत्रिय सिद्ध होता है। ओझा जी पृथ्वीराज और जयचंद की शत्रुता तथा संयोगिता-स्वयम्वर को भी कपोल-कल्पित मानते हैं। इतिहास के अनुसार न तो पृथ्वीराज की माता का नाम कमला था और न उस समय अनंगपाल दिल्ली का राजा ही था। पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह भी मेवाड़-नरेश समरसिंह के साथ नहीं हुआ था, क्योंकि शिलालेखों के प्रमाण के अनुसार समरसिंह पृथ्वीराज की मृत्यु के उपरान्त १०९ वर्ष तक जीवित रहा था। इसी प्रकार गुजरात-नरेश भीम चालुक्य का पृथ्वीराज द्वारा वध होना भी गलत है, क्योंकि उसके एक दान-पत्र के अनुसार उसका पृथ्वीराज की मृत्यु के उपरान्त ५० वर्ष तक जीवित रहना प्रमाणित है। इसी प्रकार की अन्य अनेक घटनाएँ रासो में ऐसी पाई जाती हैं जो इतिहास द्वारा सत्य प्रमाणित नहीं हो पातीं।

काल-वैषम्य के दो ही उदाहरण पर्याप्त होंगे। रासो के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु सम्वत् ११५८ में हुई थी और शहाबुद्दीन गोरी उसी समय पृथ्वीराज द्वारा मारा गया था। परन्तु इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का अन्तिम युद्ध सम्वत् १२६८ में हुआ था और गोरी पृथ्वीराज द्वारा न मारा जाकर, बाद में गक्खरों द्वारा मारा गया था। इन्हीं ऐतिहासिक असंगतियों को देखकर कुछ विद्वानों ने 'पृथ्वीराज रासो को पूर्णतः जाली ग्रंथ घोषित कर दिया था। कुछ विद्वानों ने इसके भाषा-रूप का अध्ययन कर इसे पृथ्वीराज की समकालीन रचना न मानकर सोलहवीं सदी के आसपास की रचना माना था। डा० धीरेन्द्र वर्मा का यही मत है। आचार्य शुक्ल इन ऐतिहासिक गवेषणाओं से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने खुले स्वर में यह घोषणा कर दी थी—"यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के, और न ही साहित्य के जिज्ञासुओं के काम का है।"

रासो का निर्माण-काल—यदि चंदबरदाई को पृथ्वीराज चौहान का समकालीन माना जाय तो रासो का निर्माण-काल तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध का अन्तिम समय मानना होगा। परन्तु इसे जाली ग्रंथ घोषित करने वालों ने इसे पन्द्रहवीं सदी से लेकर सत्रहवीं सदी के अन्त तक की रचना घोषित कर दिया है। ओझा जी इसका रचना काल सम्वत् १६०० के लगभग मानते हैं। मोतीलाल मेनारिया का मत है कि—क्योंकि अठारहवीं सदी के पूर्व के किसी भी भाषा-ग्रंथ में रासो का उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए रासो का निर्माण-काल इसके आसपास ही मानना चाहिए। एक प्रमाण के आधार पर यह भी कहा जाता है कि चंद के छन्द इधर-उधर बिखरे हुए थे जिनका संकलन महाराणा अमरसिंह ने कराया था। इस मत की पुष्टि महाराणा राजसिंह द्वारा निर्मित नौचौकी बाँध के सम्वत् १७३२ के शिलालेख

से भी हो जाती है। परन्तु पण्डित हरप्रसाद शास्त्री को चन्द के वंशज नेनूराम के पास रासो की एक प्रति मिली है, जिसका रचना-काल या प्रतिलिपि-काल सम्वत् १४५५ है। डा० माताप्रसाद गुप्त 'सभी दृष्टियों से' इसका रचना-काल सम्वत् १४०० के लगभग मानते हैं। परन्तु रासो को प्रामाणिक रचना मानने वाले मुनि जिनविजय रासो का रचना-काल सम्वत् १२९० से पूर्व का मानते हैं। उन्होंने यह अनुमान 'पुरातन प्रवन्ध-संग्रह' में दिए गए 'पृथ्वीराज प्रवन्ध' नामक काव्य के आधार पर लगाया है। 'पुरातन प्रवन्ध-संग्रह' का लिपि-काल सन् १४७१ ई० दिया हुआ है। 'पृथ्वीराज प्रवन्ध' में रासो के कथानक के सारांश के साथ-साथ उसके चार छन्द भी उद्धृत किए गये हैं, जिनमें से तीन छन्द रासो के लघु संस्करणों में मिले हैं। मुनि जिनविजय 'पृथ्वीराज प्रबन्ध' को मूलतः सम्वत् १२९० की रचना मानते हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि 'पृथ्वीराज रासो' 'पृथ्वीराज प्रबन्ध' से पहले लिखा गया होगा; अर्थात् पृथ्वीराज चौहान की मृत्यु होने से पूर्व तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इसकी रचना होनी आरम्भ हो गई होगी। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि चंदबरदाई और पृथ्वीराज चौहान समकालीन थे।

अर्द्ध प्रामाणिक रचना मानने वाले—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी रासो को अर्द्ध प्रामाणिक रचना मानते हैं। उनका मत है कि "यद्यपि रासो में प्रक्षिप्त अंश बहुत हैं, तथापि इसमें चन्द के कुछ न कुछ वचन अवश्य हैं जो काफी पुराने हैं।" द्विवेदी जी रासो-सम्बन्धी घटना-वैषम्य और काल-वैषम्य के इतिहास पर आधारित विवाद से बहुत क्षुब्ध हैं। इसी कारण उन्होंने ऐतिहासिकता की उपेक्षा कर काव्यरूप के आधार पर इसकी प्राचीनता का विश्लेषण कर इसे एक ऐसी प्राचीन रचना सिद्ध किया है जिसमें प्रक्षिप्त अंश काफी अधिक हैं। उनका कहना है कि यह काव्य दसवीं सदी के काव्य-रूप से बहुत अधिक समानता रखता है। इसमें संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत की साहित्यिक प्रवृत्तियों और प्राचीन कथानक-रूढ़ियों के सुन्दर रूप मिलते हैं। भाषा भी तेरहवीं सदी की संयुक्ताक्षरमय अनुस्वारान्त प्रवृत्ति वाली है। साथ ही द्विवेदी जी का यह भी कहना है कि यह इतिहास ग्रन्थ न होकर काव्य-ग्रन्थ है, इसलिए इसमें पाई जाने वाली ऐतिहासिक असंगतियों को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। रासो में तथ्य और कल्पना का काव्यात्मक सम्मिश्रण है।

इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी का विचार है कि इस ग्रन्थ की रचना शुक-शुकी सम्वाद रूप में हुई थी, इसलिए इसके उन्हीं अंशों को प्रामाणिक मानना चाहिए, जिनका आरम्भ शुक-शुकी सम्वाद से होता है। अपनी इसी धारणानुसार उन्होंने 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' नामक स्वयं द्वारा सम्पादित ग्रन्थ में केवल सात सर्गों को ही स्थान दिया है—(१) आरम्भिक सर्ग, (२) इच्छिनी का विवाह, (३) शशिव्रता का विवाह, (४) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, (५) संयोगिता का विवाह, (६) कैमास वध, और (७) गोरी वध। द्विवेदी जी की इस शुक-शुकी-सम्वाद वाली मान्यता की प्रामाणिकता का डा० माताप्रसाद गुप्त ने खंडन किया है कि इसका क्या

प्रमाण है कि क्षेपककारों ने भी शुक-शुकी-सम्वाद शैली में सर्गों की रचना न की होगी। डा० गुप्त 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में प्राप्त रासो के चार छन्दों में विरोधाभास सिद्ध कर उन्हें भी प्रामाणिक नहीं मानते।

डा० गुप्त के मन्तव्यों में स्वयं जो विरोधाभास और दुराग्रह रहा है, उसकी ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया है। वह यह तो मानते हैं कि रासो अपने व्यापक रूप में एक जिम्मेदार कवि की रचना प्रतीत होती है। साथ ही वह चन्द को न तो पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं, और न बहुत बाद का। वह किस आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, इसका उन्होंने कोई ठोस, तर्क-संगत प्रमाण नहीं दिया है। यह तर्क ही हास्यास्पद है कि पृथ्वीराज चौहान के किसी परवर्ती (अधिक से अधिक डेढ़ सौ वर्ष बाद के) कवि ने इतने सुन्दर काव्य की रचना की हो, और फिर उसे अपने नाम से प्रसिद्ध न कर किसी अन्य (पूर्ववर्ती या समकालीन) कवि के नाम से प्रचारित कर दिया हो। सम्भवत: कोई सिरफिरा ही ऐसा कर सकता था, सुविज्ञ कलावन्त कवि नहीं। वस्तुत: विवाद के रणक्षेत्र में स्वयं को पाँचवें सवार के रूप में प्रतिष्ठित करने की लालसा रखने वाले विद्वान् ही ऐसी तर्कहीन बातें उछाला करते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि समस्या सुलझने की अपेक्षा और अधिक उलझ जाती है।

रासो सम्बन्धी शंकाओं का निराकरण—वस्तुत: रासो का शंकाओं के जाल से उद्धार करने का श्रेय मुनि जिनविजय और डा० दशरथ शर्मा को मिलना चाहिए। मुनि जिनविजय ने 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के आधार पर रासो की प्राचीनता सिद्ध कर दी थी। डा० दशरथ शर्मा ने अपने लम्बे अध्ययन और अध्यवसाय द्वारा रासो-सम्बन्धी विभिन्न शंकाओं का तर्क-संगत समाधान प्रस्तुत किया है। उन्होंने रासो की लघुतम प्रति को अपना आधार बनाते हुए रासो को अप्रामाणिक सिद्ध करने वाले विद्वानों के मतों का निराकरण कर रासो को प्रामाणिक प्रमाणित किया है। उनके तर्क निम्नलिखित हैं—

(१) मूल रासो न तो जाली ग्रन्थ है, और न उसकी रचना सम्वत् १६०० के आसपास हुई थी। इधर मिली हुई रासो की लघुतम प्रतियों के आधार पर घटना-वैषम्य एवं भाषा सम्बन्धी शंकाओं का निराकरण हो जाता है। इन प्रतियों में इतिहास विषयक त्रुटिपूर्ण घटनाओं का उल्लेख नहीं मिलता। (२) राजपूत कुलों की आबू के अग्निकुंड से उत्पत्ति का उल्लेख भी इस प्रति में नहीं है। इसमें केवल इतना लिखा है कि ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिकराय उत्पन्न हुआ। सर्जन-चरित्र, हम्मीर काव्य और पुष्कर तीर्थ में भी यह कथा इसी प्रकार है। (३) ओझाजी के अनुसार रासो की अशुद्ध वंशावली का यह विस्तार इस लघुतम प्रति में नहीं है। 'पृथ्वीराज विजय' और इस प्रति की वंशावली में कुछ ही नामों में अन्तर है। (४) अनंगपाल और पृथ्वीराज के सम्बन्ध की अशुद्धि इस प्रति में भी है। शर्माजी इसका कोई कारण नहीं बता सके हैं। (५) संयोगिता-स्वयम्वर का वर्णन अन्य सभी प्रतियों

में विस्तारपूर्वक है परन्तु लघुतम प्रति में केवल इच्छिनी के विवाह का ही वर्णन मिलता है । (६) पृथा का समरसिंह से विवाह तथा शहाबुद्दीन-साम्भरसिंह-युद्ध और भीम-सोमेश्वर तथा पृथ्वीराज-सोमेश्वर-युद्ध का इस प्रति में उल्लेख नहीं हुआ है । इस प्रति में कैमास वध का वर्णन है । 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार कैमास पृथ्वीराज का प्रधान सेनापति था । अस्तु,

निष्कर्ष—रासो-सम्बन्धी नवीनतम शोधों से यह प्रामाणित हो जाता है कि रासो चन्द बरदाई द्वारा ही रचा गया था परन्तु उसका मूलरूप लघुकाय ही रहा होगा । परवर्ती कवियों ने कई नए प्रसंगों की उद्भावना कर उसके आकार को बढ़ा दिया होगा । और यह कार्य तीन-चार सदियों तक होता रहा होगा । इसी कारण हमें रासो के वृहद् संस्करण में भाषा की कई स्थितियों के रूप मिलते हैं । परन्तु रासो की जो लघुतम प्रति मिली है, वह रासो के मूल रूप का अनुमान लगाने में सहायता देती है । उसमें भाषा के जिस रूप के दर्शन होते हैं, उससे यह प्रमाणित हो जाता है कि रासो मूल रूप में अपभ्रंश में रचा गया होगा । उसकी भाषा जैन कवियों द्वारा रचित अपभ्रंश भाषा के चरित-काव्यों की भाषा जैसी ही प्रतीत होती है । कहीं-कहीं तो उसमें और भी अधिक प्राचीन भाषा-रूप के दर्शन हो जाते हैं । अतः रासो को ऐतिहासिक असंगतियों के आधार पर सर्वथा अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता । हम ऊपर कह आए हैं कि रासो काव्य-ग्रन्थ है, इतिहास-ग्रन्थ नहीं । इसलिए उसकी प्राचीनता और प्रामाणिकता का अध्ययन उसकी लघुतम प्रति के आधार पर उसके काव्य-रूप के अनुसार ही होना चाहिए । उसके वृहद् संस्करण को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता ।

विकसनशील महाकाव्य

'पृथ्वीराज रासो' विकसनशील महाकाव्यों की परम्परा का ग्रन्थ माना गया है । विकसनशील महाकाव्य कालान्तर में विपुलाकार बनते चले जाते हैं । 'महाभारत' के सम्बन्ध में भी यही कहा जाता है कि समय-समय पर परवर्ती कवियों द्वारा उसके आकार में वृद्धि की जाती रही है परन्तु माना वह वेदव्यास की ही रचना जाता है । यही स्थिति 'पृथ्वीराज रासो' की भी मिलती है । इसके रचयिता दो कवि तो माने ही जाते हैं—चन्द बरदाई और जल्ह या जल्हण । 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में जो चार छन्द मिले हैं, उनमें से दो चन्द के और दो जल्ह के हैं । सम्वत् १२९० तक पृथ्वीराज और गोरी के मध्य सात युद्ध होने की जनश्रुति प्रचलित थी । राजशेखर सूरि (सं० १४०५) तक यह जनश्रुति बाईस युद्ध होने तक पहुँच गई थी । अतः यह कहना असंगत नहीं माना जायेगा कि इन जनश्रुतियों के आधार पर रासो के आकार में भी वृद्धि होती रही हो । रासो के वृहद् संस्करण को देख यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि यह एक ही समय में और एक ही कवि द्वारा रचा गया होगा । यह महाकाव्य समय-समय पर अपने युग-जीवन की समग्रता को समेटता हुआ आगे बढ़ता

रहा है। इसलिए इसका अध्ययन और मूल्यांकन इसमें निहित उदात्त गरिमा, आरम्भिक कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों और काव्य-रूपों के संदर्भ में ही होना चाहिए। इन्हीं के द्वारा हम इसके मूल रूप की कल्पना कर सकते हैं।

रासो में हमें रासक-काव्य परम्परा के समस्त रूपों का एक प्रतिनिधि रूप मिल जाता है। काव्य-रूपों की परम्परा के साथ ही अभिव्यंजना प्रणाली की व्यापकता भी इसमें दृष्टिगोचर होती है। छन्दों के अति व्यापक प्रयोग ने भी इसे अपभ्रंश रासक-काव्य परम्परा का संश्लिष्ट रूप प्रदान कर दिया है। इसलिए हम इसे हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक-काल की एक ऐसी प्रतिनिधि रचना मान सकते हैं, जिसका मूल रूप भले ही अपभ्रंश में रचा गया हो, परन्तु जिसके विकसनशील गुण ने हिन्दी भाषा के साहित्य प्रवेश के आरम्भिक रूप को उद्घाटित कर दिया है। उस युग का यही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें पूर्ववर्ती अपभ्रंश काव्य-परम्परा का संश्लिष्ट रूप तथा हिन्दी-भाषा के विकास के स्वरूप का आभास मिल जाता है। इसलिए इसे प्राचीन कृति, हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल की कृति, स्वीकार कर लेने में संकोच नहीं होना चाहिए।

रासो का काव्य-सौष्ठव

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से रासो विद्वत्वर्ग में एक सफल और सुन्दर काव्य-कृति के रूप में प्रतिष्ठित और समादरित है। वस्तु-वर्णन, चरित्र-चित्रण, भाव-व्यंजना, शैली आदि सभी रूपों में इसे एक उच्चकोटि की साहित्यिक रचना माना जाता है। अपने साहित्यिक सौन्दर्य के कारण ही यह प्राचीन काल से आज तक इतना लोकप्रिय और प्रसिद्ध रहा है। इसके इसी काव्य-सौन्दर्य और लोक-प्रसिद्धि से प्रभावित होकर ही 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के संग्रह कर्त्ता ने अपने संग्रह में रासो की संक्षिप्त कथा और उसके चार छन्दों को उद्धृत किया था। इस काव्य में जीवन के दोनों—गरिमा-मय और उदात्त पक्षों—वीर और शृंगार—भावनाओं का ऐसा प्रभावक रूप मिलता है जो जीवन के व्यावहारिक यथार्थ का मनोरम स्वरूप प्रस्तुत कर देता है। इसका नायक पृथ्वीराज अमित पौरुष, शौर्य और मानव-सौन्दर्य का पूर्ण प्रतिनिधि सा प्रतीत होता है। वह जब रणक्षेत्र में उतरता है तो अपने प्राणों की परवाह न कर शत्रु को मटियामेट करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देता है और जब विलास-क्रीड़ा में निमग्न होता है तो उसमें आकंठ डूब जाता है। वह इतना वीर और साथ ही इतना उदार है कि अपने शत्रु गोरी को बार-बार पराजित करके भी उसे हर बार मुक्त कर देता है। पृथ्वीराज का ऐसा रूप चित्रित करना, भारत के उस युग की उस गौरवशाली परम्परा का रूप प्रस्तुत करता है जो जीवन के सम्पूर्ण का खुलकर उपभोग करना जानता था। उस जीवन में पराक्रम था, शौर्य था और मधुर पक्ष को भोगने की उन्मत्त लालसा भी थी। इतिहासकार इस सम्बन्ध में चाहे जो कुछ भी कहें, परन्तु चन्द ने पृथ्वीराज का वह रूप अंकित किया है जो तत्कालीन भारतीय जीवन की उद्दाम जिजीविषा का प्रतीक बन गया है। उसमें कूटनीति का छल-छद्म नहीं है,

राजनीतिक, दूरदर्शितापूर्ण सूझ-बूझ का भी अभाव है परन्तु वह उस युग के सामन्ती-जीवन का यथार्थ चित्र अंकित करने में पूर्ण सफल रहा है। उसके आधार पर हम उस युग के इतिहास और सामाजिक मान्यताओं का अध्ययन कर सकते हैं। इसी कारण कर्नल टाड ने उसके आधार पर राजस्थान का इतिहास लिखने का प्रयत्न किया था। यह कहना गलत है कि वह व्यक्तिगत वीरता का प्रशस्ति-गायन है। उसमें अपने युग का सामन्ती-जीवन अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ साकार और सजीव हो उठा है।

और यह कार्य असाधारण काव्य-प्रतिभा ही कर सकती थी। चन्द बरदाई ऐसा ही प्रतिभावान कलाकार है। वर्णन, भाव-व्यंजना, छन्द-विधान, अलंकार आदि के विभिन्न क्षेत्रों में उसने अपनी काव्य-कला का मनोरम और सफल प्रयोग किया है। वह जहाँ सौन्दर्य का चित्रण करता है, वह सौन्दर्य चाहे प्रकृति का हो या मानव का, परम्परागत रूढ़ उपमानों द्वारा उसे निखार देता है। वस्तु-वर्णन में वह नगर, वन, उपवन, दुर्ग, सेना, युद्ध आदि के ऐसे सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है कि अच्छे-अच्छे कलावन्त कवि उसकी इस प्रतिभा के सम्मुख फीके पड़ जाते हैं। इन वर्णनों की एक विशेषता यह है कि इनमें सर्वत्र कवि के अभिजात्य-संस्कार ऊपर उभर आते हैं। जहाँ कवि शृंगार के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो वयः सन्धि, यौवनागम, अनुराग, क्रीड़ा, प्रथम-मिलन आदि का हृदयग्राही वर्णन करता है। और जब इस अनुपम काव्य के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इसका रचयिता अपने युग के लिए कोई सन्देश नहीं देता, तो इस कथन के विरोध में चन्द बरदाई की केवल दो पंक्तियाँ ही पर्याप्त होंगी। जब पृथ्वीराज गोरी द्वारा बन्दी बना लिया जाता है तो कवि समस्त क्षत्रियों को खड्ग-हस्त होने का आह्वान करता हुआ कहता है—

'प्रथिराज देव दूवन गहउ रे छत्रिअ कर षग्गु गहु न !'

अर्थात्–'हे क्षत्रियो ! पृथ्वीराज को दुर्जन ने पकड़ लिया है, तुम (उसके उद्धार के लिए) तलवार क्यों नहीं उठाते !' क्या इस आह्वान में राष्ट्र की एकता पुकारती हुई नहीं मिलती ?

हमारे पूर्वज आलोचकों ने 'पृथ्वीराज रासो' का अध्ययन और मूल्यांकन एक ऐतिहासिक काव्य के रूप में ही कर, उसमें इतिहास को यथावत् खोजने का प्रयत्न किया था। इसी कारण वे काव्य-परम्परा में रखकर इसका मूल्यांकन नहीं कर पाए थे। 'रासो' एक उच्चकोटि का काव्य-ग्रन्थ है। और काव्य जब इतिहास को अपनाता है तो उसमें कल्पना का समावेश कर, उसे भिन्न रूप में प्रस्तुत करता है। यही कल्पना ही उसे काव्य-कृति के पद पर आसीन करती है। हमारे सम्पूर्ण प्राचीन पुराण, रामायण, महाभारत आदि इसी प्रकार के काव्य हैं। इनके पात्रों का निर्माण इतिहास और कल्पना द्वारा किया गया है। उनके व्यक्तित्व में हमें इसी कारण अनेक काल्पनिक, दैवी, अलौकिक तत्त्वों का आरोपण हुआ मिलता है। ऐतिहासिक पात्र जब कवि द्वारा अंकित किया जाता है तो उसका रूप अधिक प्रभावशाली और आकर्षक

बन जाता है। वह ऐतिहासिक व्यक्ति न रह, पौराणिक और काल्पनिक सा व्यक्ति बन जाता है। 'रासो' में भी हम तथ्य और कल्पना के अद्भुत मिश्रण का रूप पाते हैं, जिसने पृथ्वीराज चौहान को एक अत्यन्त भव्य, उदात्त और महान् व्यक्ति बना दिया है। इसी कारण वह हमें इतिहास में वर्णित पृथ्वीराज से भिन्न सा प्रतीत होता है। इसलिए हमें 'रासो' का अध्ययन और मूल्यांकन एक काव्य-ग्रन्थ के रूप में ही करना चाहिए, न कि इतिहास-ग्रन्थ के रूप में।

रासो की भाषा—भाषा की दृष्टि से भी 'रासो' विवादग्रस्त ग्रन्थ रहा है। 'रासो' के लघुतम संस्करण में भाषा का जो रूप मिलता है, उसे कुछ लोगों ने अवहट्ट या परिनिष्ठित अपभ्रंश माना है। 'पृथ्वीराज रासो' और 'सन्देश रासक'—दोनों समकालीन रचनाएँ मानी जाती हैं, और उनकी भाषा में भी अद्भुत समानता है। इस आधार पर तो 'रासो' को हिन्दी की रचना नहीं माना जा सकता। परन्तु हमें रासो की भाषा में उस संक्रान्ति कालीन भाषा का रूप मिल जाता है जब हिन्दी धीरे-धीरे साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश कर रही थी। सम्भव है अपने मूल रूप में 'रासो' अपभ्रंश में रचा गया हो, परन्तु उसके वृहद् संस्करण में समग्रता की दृष्टि से पश्चिमी भारत में प्रचलित ग्यारहवीं सदी से लेकर सोलहवीं सदी तक की भाषा के रूप मिल जाते हैं। यह मूलत: विकसनशील कथा-काव्य रहा है, इसलिए समय की प्रगति के साथ इसमें सतत विकासमान हिन्दी भाषा के विकास के क्रमश: विकसित रूप उपलब्ध हो जाना आश्चर्य की बात नहीं मानी जानी चाहिए। भाषा के इन विकसित रूपों में प्राचीन भाषा और नवीन भाषा का मिश्रित रूप इसी कारण दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त इसकी भाषा की एक विशेषता यह भी रही है कि प्रसंगानुकूल उसका रूप परिवर्तित होता चला गया है। युद्ध-वर्णन में अपभ्रंश से गहरे रूप से प्रभावित डिंगल भाषा का प्रयोग मिलता है और श्रृंगार-वर्णन में अपभ्रंश-प्रभावित पिंगल अर्थात् प्राचीन साहित्यिक ब्रजभाषा का। समष्टि रूप से रासो की भाषा ग्यारहवीं से लेकर सोलहवीं सदी तक की हिन्दी-भाषा के विकसनशील रूप का निदर्शन रही है। इसलिए हिन्दी-भाषा के विकास के अध्ययन में 'रासो' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ बन जाता है।

आरम्भिक-कालीन खड़ीबोली-साहित्य

आज हिन्दी—खड़ीबोली हिन्दी—भारत की राष्ट्रभाषा या सम्पर्क-भाषा मानी जाती है। हमें साहित्य में इस खड़ीबोली का अस्तित्व तेरहवीं-चौदहवीं सदी से ही मिल जाता है। आरम्भिक कालीन हिन्दी-साहित्य में एक कवि और विद्वान् ऐसा हुआ है जो सम्पूर्ण पूर्ववर्ती काव्य-परम्पराओं से अछूता रह, एक ऐसी भाषा में ऐसे साहित्य का सृजन कर रहा था जो परम्परागत एवं समकालीन साहित्य एवं भाषा-रूपों से भिन्न था। और वह व्यक्ति था—अमीर खुसरो, जिसे दूसरे शब्दों में खड़ीबोली को साहित्य क्षेत्र में प्रतिष्ठापित करने वाला खड़ीबोली का पहला कवि माना जा सकता है।

अमीर खुसरो

इनका समय चौदहवीं सदी माना गया है। इनका असली नाम अब्दुल हसन और उपनाम अमीर खुसरो था। इनका जन्म उत्तर प्रदेश के जिला एटा के पटियाली नामक गाँव में संवत् १३१२ में तथा मृत्यु सम्वत् १३८१ में हुई मानी जाती है। अपने इस लम्बे जीवन में इन्होंने दिल्ली के सिंहासन पर कई राजवंशों को चढ़ते-उतरते देखा था और ये एक लम्बे समय तक राज-दरबार से सम्बन्धित रहे थे। इनका व्यक्तित्व भी बड़ा विवादास्पद रहा है। कहा जाता है कि इन्होंने एक सौ के करीब ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें से अब केवल २०-२२ ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। इनके नाम से आज जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनमें—'खालिकबारी', 'अरबी-फारसी-हिन्दवी-कोश', 'पहेलियाँ, 'मुकरियाँ', 'दो सुखने', 'गज़ल' आदि प्रसिद्ध और प्रचलित हैं। परन्तु इन रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ लोगों का यह कहना है कि ये रचनाएँ एक ही 'अमीर खुसरो' नामक व्यक्ति की रची हुई नहीं हैं। 'अमीर खुसरो' नामक कई व्यक्ति हुए हैं। मुगल-सम्राट् जहाँगीर (१६–१७वीं सदी) के समय में हुए एक अन्य अमीर खुसरो का उल्लेख मिलता है। इस आधार पर कुछ लोगों ने यह अनुमान लगाया है कि भ्रमवश अमीर खुसरो नामक विभिन्न समय में हुए विभिन्न व्यक्तियों की रचनाओं को चौदहवीं सदी के अमीर खुसरो की ही रचनाएँ मान लिया गया है। वस्तुस्थिति चाहे जो कुछ भी रही हो, परन्तु अमीर खुसरो के नाम से जो साहित्य प्रसिद्ध और प्रचलित है, वह साहित्य की एक नितान्त नवीन धारा का स्वरूप प्रस्तुत करता है।

खुसरो के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह जीवन के गम्भीर धार्मिक, राजनीतिक आदि पक्षों को त्याग हल्के-फुल्के पक्ष का चित्रण करता है, जिसमें मनोरंजन प्रधान उद्देश्य रहता है। और जब कोई कलाकार जीवन के इस पक्ष को अपना कर साहित्य-रचना करता है तो वह भाषा भी जन-साधारण की अर्थात् नितान्त बोलचाल की ही अपनाता है। वह अपने चमत्कारपूर्ण कथनों द्वारा ही अपनी रचनाओं में एक अमित, अद्भुत आकर्षण उत्पन्न कर देता है। और उसका साहित्य जनता की जबान पर चढ़, युग-युगान्तर तक जीवित रहता है। जनता उसमें जीवन का आनन्द और विनोद भरा वातावरण पाती है, इसलिए उसे सहज ही अपना लेती है। खुसरो का साहित्य ऐसा ही चमत्कारपूर्ण और जन-मन-रंजनकारी रहा है। परन्तु इस प्रकार के साहित्य की एक ऐसी नियति बन जाती है जिससे छुटकारा पाना उसके लिए असम्भव हो जाता है। होता यह है कि कालान्तर में जन-जिह्वा उसके भाषा-रूप में निरन्तर परिवर्तन करती रहती है। यही कारण है कि खुसरो की आज जो पहेलियाँ प्रचलित हैं, उनकी भाषा प्राचीन न रहकर आधुनिक बन गई है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

'तरवर से एक तिरिया उतरी, उनने बहुत रिझाया।
बाप का उसने नाम जो पूछा, आधा नाम बताया।

आधा नाम पिता पर प्यारा, बूझ पहेली गोरी।
'अमीर खुसरो' यों कहे, अपने नाम न बोली।
निबोरी।'

क्या इस भाषा को चौदहवीं सदी की खड़ीबोली माना जा सकता है ? यदि यह मूलभाषा का रूप है, तो यही कहना पड़ेगा कि उस युग में भी खड़ीबोली पर्याप्त विकसित भाषा बन चुकी थी और साहित्य में उसका प्रयोग होने लगा था। परन्तु यदि हम इस बात को न भी मानें तो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि खुसरो ने अपनी ऐसी रचनाएँ खड़ीबोली में ही की होंगी, परन्तु कालान्तर में उसकी भाषा निरन्तर विकसित होती चली गई होगी। आचार्य शुक्ल ने इसी तथ्य के प्रति संकेत करते हुए लिखा है कि—"खुसरो के समय में बोलचाल की स्वाभाविक भाषा घिस कर बहुत कुछ उसी रूप में आ गई थी, जिस रूप में खुसरो में मिलती है।"

अमीर खुसरो की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओं का समन्वय करने का प्रयत्न कर भाषा-एकता की नींव डाली थी। इसके लिए उन्होंने 'अरबी-फारसी-हिन्दवी कोश' का सम्पादन किया था और ऐसी कविताएँ लिखी थीं जिनकी प्रत्येक पंक्ति का पूर्वार्द्ध फारसी में और उत्तरार्द्ध हिन्दी में रहता था। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'जे हाल मिसकीं मकुन तगाफुल, दुराय नैनां बनाय बतियाँ।
किताबे हिजरां न दामे ए जाँ ! न लेहु काहे लगाय छतियाँ ॥'

उपर्युक्त पंक्तियों की एक विशेषता और द्रष्टव्य है कि इनमें प्रयुक्त हिन्दी खड़ीबोली न होकर ब्रजभाषा है। इससे यह सिद्ध होता है कि खुसरो के युग में खड़ीबोली और ब्रजभाषा—दोनों में कविता रची जाने लगी थी और इन दोनों भाषाओं का रूप काफी स्पष्ट और परिमार्जित था। परन्तु यहाँ भाषा-शास्त्रियों ने सन्देह के बादल उत्पन्न कर दिए हैं। 'खालिकबारी' को लेकर उन्होंने कहा है कि इसकी कोई भी प्रति सोलहवीं सदी से पूर्व की उपलब्ध नहीं है और इन उपलब्ध प्रतियों में प्राप्त भाषा का रूप तेरहवीं सदी का नहीं माना जा सकता। वस्तुतः इन सन्देह कर्त्ताओं ने हिन्दी-साहित्य का बहुत बड़ा अहित किया है। वे हिन्दी की किसी भी प्राचीन कृति को प्रामाणिक नहीं मानते, जबकि भाषा-विकास का उनका मानदण्ड निहायत अस्पष्ट और अवैज्ञानिक है। वे तनिक सा भी छिद्र पाते ही तुरन्त यह घोषित कर देते हैं कि अमुक ग्रन्थ की भाषा अमुक सदी की नहीं मानी जा सकती। और सन्देह के इस वातावरण में सम्बन्धित कृतियों का साहित्यिक और सामाजिक महत्त्व और मूल्यांकन महत्त्वहीन हो उठता है।

आरम्भिक-कालीन मैथिली-साहित्य

हमें इस युग में केवल एक ही रचना ऐसी मिलती है जो मैथिल-भाषा में लिखी गई है और जिसे विद्वान् आरम्भ से ही हिन्दी की रचना मानते आए हैं। यह

रचना है मैथिल-कोकिल विद्यापति की 'पदावली'। विद्यापति का जन्म सम्वत् १४०६ के लगभग माना जाता है और हमने 'आरम्भिक काल' की सीमा-रेखा सम्वत् १४०० तक मानी है। इस हिसाब से विद्यापति को 'आरम्भिक काल' के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए। उनकी गणना 'भक्तिकाल' के अन्तर्गत ही होनी चाहिए। परन्तु ऐसा प्रयत्न करते समय यह कठिनाई सामने आ खड़ी होती है कि विद्यापति भक्तिकाल के प्रथम या आरम्भिक कवि के रूप में खप नहीं पाते। पहली बात तो यह कि वह मूलतः भक्त न होकर शृङ्गारी कवि हैं और उनकी उस शृङ्गार-धारा का हम उनके युग में हिन्दी पर कहीं भी प्रभाव पड़ता नहीं देखते। उनका जो भक्त-रूप है वह भी उनके समकालीन या परवर्ती हिन्दी के भक्ति-साहित्य में विकास पाता हुआ दिखाई नहीं पड़ता। उनके उत्तराधिकारी कबीर आदि एक सर्वथा भिन्न भक्ति-पद्धति को लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरते हैं। विद्यापति की शृङ्गार-धारा का रूप या प्रभाव हम 'शृङ्गार-काल' (रीति-युग) में आकार देखते हैं। इस प्रकार विद्यापति अपने उस युग में हमें परम्परागत हिन्दी-साहित्य से सर्वथा असम्बद्ध और एकाकी दिखाई पड़ते हैं।

दूसरा कारण यह है कि भाषा और काव्य-रूपों की दृष्टि से विद्यापति आरम्भिक काल के ही कवि सिद्ध होते हैं। उन्होंने संस्कृत, अपभ्रंश और मैथिली—तीन भाषाओं में साहित्य रचा है। धर्म, भक्ति या नीति सम्बन्धी ग्रन्थ संस्कृत में, अपने आश्रयदाता का चरित अपभ्रंश में, और शृङ्गार तथा शिव-भक्ति से सम्बन्धित छन्द मैथिली में रचे हैं। काव्य-परम्परा की दृष्टि से भी वे प्राचीन का ही पल्ला पकड़े रहे हैं। अपनी अपभ्रंश-रचनाओं—'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्तिपताका'—में वह अपभ्रंश के चरित-काव्यों और हिन्दी के रासो-काव्यों के रूपों को लेकर ही आगे बढ़े हैं। मैथिली में रचित 'पदावली' में उन पर संस्कृत के जयदेव की शृङ्गार-धारा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। और तीसरी बात यह है कि हम उनके समय में या उनके तुरन्त उपरान्त उनकी काव्य-धारा का अनुगमन होते हुए नहीं पाते। वे अपने उस युग में एक विशिष्ट कवि के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं जो प्राचीन का अनुयायी है, परन्तु हिन्दी में नए काव्य-रूपों को जन्म दे रहा है। इसी कारण हम उनकी गणना आरम्भिक-कालीन साहित्य के अन्तर्गत करना ही संगत समझते हैं।

विद्यापति की रचनाएँ—विद्यापति की संस्कृत, अपभ्रंश और मैथिली की रचनाएँ इस प्रकार हैं—

संस्कृत—(१) शैव सर्वस्वसार, (२) शैव सर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराण संग्रह, (३) भूपरिक्रमा, (४) पुरुष परीक्षा, (५) लिखनावली, (६) गंगा वाक्यावली, (७) दान-वाक्यावली, (८) विभाग सार, (९) गया पत्तलक, (१०) वर्ण कृत्य, (११) दुर्गा-भक्ति तरंगिणी।

अवहट्ट या अपभ्रंश—(१) कीर्त्तिलता, (२) कीर्त्तिपताका ।

मैथिली—पदावली ।

उपर्युक्त रचनाओं के शीर्षकों से व्यंजित विषयों तथा तीन-तीन साहित्यिक भाषाओं में रचित ग्रन्थों के आधार पर यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि विद्यापपि विद्वान्, पंडित, कई भाषाओं पर समान अधिकार रखने वाले एक अत्यन्त उच्चकोटि के कलाकार थे । संस्कृत में रचित उनके ग्रन्थ शैव मतालम्बियों में पर्याप्त लोकप्रिय हैं । अपभ्रंश की रचनाओं को विद्वानों ने विशिष्ट रचनाएँ माना है । और 'पदावली' तो इतनी लोकप्रिय रही है कि आज विद्यापति की प्रसिद्धि का सर्वप्रमुख आधार बनी हुई है । यदि उन्होंने 'पदावली' न लिखी होती तो शायद साहित्य के इतिहास में उनकी गणना भी न होती ।

कुछ मनोरंजक तथ्य—विद्यापति की लोक-प्रसिद्धि इतनी अधिक रही है कि बँगला और हिन्दी—दोनों भाषाओं वाले उन्हें अपना-अपना कवि मानते रहे हैं । बहुत समय तक वह बँगला के आदि कवि माने जाते रहे थे और बंगाली विद्वानों ने उनका जन्म स्थान, आश्रयदाता राजा आदि भी बँगाल में ढूँढ़ निकाले थे । परन्तु जब बाबू रामकृष्ण मुखर्जी और डा० ग्रियर्सन ने यह सिद्ध कर दिया कि विद्यापति बंगाल और बँगला भाषा के कवि न होकर बिहार और मैथिली के कवि हैं, तो बंगालियों ने इस भय से विद्यापति पर से अपना अधिकार उठा लिया कि कहीं बँगला भी हिन्दी की विभाषा न मान ली जाय, क्योंकि ग्रियर्सन ने मैथिली को हिन्दी की विभाषा घोषित कर दिया था । इस घटना से इस उल्लेखनीय तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि पदावली की भाषा काफी प्राचीन रही होगी । तभी तो बंगालियों ने उन्हें अपनी भाषा का आदि कवि घोषित कर दिया था । 'पदावली' क्योंकि गेय-काव्य है इसलिए हमारे सन्देह-कर्त्ताओं ने उसकी भाषा के सम्बन्ध में भी यह सन्देह खड़ा कर दिया है कि आज पदावली की भाषा का जो रूप मिलता है, वह उसका मूल रूप नहीं रहा होगा । लोक-मुख में जीवित रहने के कारण उसकी भाषा में अवश्य परिवर्तन हो गया होगा ।

विद्यापति और भाषा : एक समस्या—विद्यापति ने 'कीर्त्तिलता' के प्रथम पल्लव में अवहट्ट भाषा की प्रशंसा करते हुए निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं—

'देसिल बअना सब जन मिट्ठा ।
तें तैसन जम्पओ अवहट्टा ।'

अर्थात्—'देशी वचन सब लोगों को मीठे लगते है, इसलिए मैं अवहट्ट में रचना कर रहा हूँ ।

यहाँ दो बातें विचारणीय हैं । **पहली**, विद्यापति अवहट्ट को देश्य-भाषा और सब लोगों को मीठी, प्रिय लगने वाली भाषा मानते हैं । यदि अवहट्ट उस समय की देश्य-भाषा थी तो साहित्यिक भाषा कौन-सी थी ? विद्वानों ने इसका यह उत्तर दिया

है कि अवहट्ट अपभ्रंश भाषा का उत्तरकालीन विकसित रूप है; अर्थात् अवहट्ट अपभ्रंश के परिनिष्ठित रूप को छोड़ती हुई जन-भाषा के निकट आ गई थी। इससे एक दूसरी ध्वनि यह भी निकलती है कि अपभ्रंश का यह उत्तरकालीन रूप उस समय तक साहित्यिक रचनाओं का माध्यम बन चुका था। परन्तु दूसरी तरफ कुछ विद्वान् विद्यापति की अवहट्ट की रचनाओं—'कीर्त्तिकला' और 'कीर्त्तिपताका' को परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाएँ मान उनकी गणना अपभ्रंश-साहित्य के अन्तर्गत करते हैं। मान्यताओं और निष्कर्षों में पाया जाने वाला यह विरोधाभास असंगत निष्कर्षों का ही परिणाम रहा है।

दूसरी बात यह है कि यदि अवहट्ट 'देसिल बअना' थी तो फिर 'पदावली' की भाषा क्या थो ? क्या वह देश्य-भाषा अर्थात् बोलचाल की ऐसी भाषा नहीं थी जिसमें साहित्य रचा जाता हो या रचा जा सकता हो ? क्योंकि 'पदावली' की भाषा उनकी अवहट्ट रचनाओं की भाषा से भिन्न और बोलचाल की भाषा के अधिक निकट प्रतीत होती है। पदावली में भाषा का जो रूप मिलता है, उसे साहित्य की निम्न स्तर की, असंस्कृत या अपरिमार्जित भाषा नहीं माना जा सकता। वह एक उन्नत, परिमार्जित साहित्यिक भाषा है। इससे यह सिद्ध होता है कि विद्यापति के युग में और उनसे पूर्व भी मैथिली में साहित्य रचा जाता रहा होगा। पदावली की भाषा को हम लोकगीतों की भाषा नहीं मान सकते। लोकगीतों की भाषा में, जैसा कि आजकल के लोकगीतों में भी, भाषा का जो एक अनगढ़ रूप मिलता है, पदावली की भाषा का रूप वैसा अनगढ़ नहीं है। इस भाषा को देख भाषा-विकास का वह सिद्धान्त भी खंडित हो जाता है जिसके अनुसार भारतीय लोकभाषाओं की उत्पत्ति अपभ्रंशों से मानी गई है। विद्यापति का साहित्य इसका प्रमाण है। विद्यापति एक तरफ तो अपनी अवहट्ट को 'देसिल बअना' कहते हैं, परन्तु हमें जिसका साहित्यिक विकास आगे होता हुआ नहीं मिलता। दूसरी ओर वह लोक-भाषा मैथिली में पदावली रचते हैं और जिसका साहित्यिक विकास आज तक निरन्तर होता चला आया है। और इन दोनों ही भाषाओं में पर्याप्त अन्तर रहा है। इससे एक तथ्य यह भी सिद्ध होता है कि हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल में लोक-भाषाओं तथा अपभ्रंश में समानान्तर रूप से साहित्य रचा जाता रहा था और लोक-भाषाओं की उत्पत्ति अपभ्रंशों से नहीं हुई थी।

हमारी उपर्युक्त धारणा का समर्थन एक और उदाहरण कर देता है। मराठी के प्रसिद्ध सन्त-कवि नामदेव का समय तेरहवीं और चौदहवीं सदी के मध्य माना गया है। उन्होंने मराठी और हिन्दी (ब्रजभाषा) दोनों में ग्रन्थ लिखे थे। उनकी ब्रजभाषा के दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'कहा करउ जाती, कहा करउ पाती।
राम को नामु, जपउ दिन-राती॥'

तथा—

'मैं बउरी मेरा राम भरतार । रचि-रचि ताकउ करउ सिंगार ।'

नामदेव की उपर्युक्त पंक्तियाँ यह सिद्ध कर देती हैं कि तेरहवीं-चौदहवीं सदी में ब्रजभाषा में कविता रची जाने लगी थी ।

इस प्रकार हम हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल में एक ओर तो खड़ीबोली (अमीर खुसरो), मैथिली (विद्यापति), तथा ब्रजभाषा (नामदेव) में साहित्य रचना होती हुई देखते हैं और दूसरी ओर इनके समानान्तर ही अपभ्रंश में भी रचनाएँ होती हुई पाते हैं । अतः यह कहना निहायत अवैज्ञानिक और असंगत है कि अपभ्रंशों से भारतीय लोकभाषाओं की उत्पत्ति या विकास हुआ था । अस्तु,

विद्यापति की पदावली—विद्यापति बिहार के दरभंगा जिले के बिसपी नामक ग्राम के निवासी और तिरहुत के राजाओं के दरबारी-कवि थे । उन्होंने अपनी अवहट्ट-रचनाओं में अपने एक आश्रयदाता राजा कीर्त्तिसिंह का यश-गायन करते हुए एक ओर तो आरम्भिक कालीन वीर-काव्य की परम्परा का अनुगमन किया है, और दूसरी ओर लोकभाषा मैथिली में पदों की रचना कर शृंगार और भक्ति की अबाध-धारा प्रवाहित की है । इस दृष्टि से उन्हें शृंगार और भक्ति-धाराओं का हिन्दी का आदिकवि माना जा सकता है । उनकी 'पदावली' का मूल-स्वर तो शृंगार का ही रहा है परन्तु कुछ पदों में शिव-भक्ति सम्बन्धी उद्‌गारों का मार्मिक उद्रेक हुआ है । उनके शृंगारी पद राधा-कृष्ण को नायिका-नायक मानकर रचे गए हैं । और शिव, दुर्गा, गंगा आदि से सम्बन्धित भक्ति-रसपूर्ण पद शृंगार-भावना से सर्वथा मुक्त रहे हैं । उनकी पदावली के आधार पर काफी लम्बे समय तक यह विवाद चलता रहा है कि उन्हें शृंगारी-कवि माना जाय अथवा भक्त-कवि । कुछ लोगों ने उनके राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों को भक्ति-रस के पद मान, उन्हें परम वैष्णव-भक्त माना है और इसका प्रमाण यह देते हैं कि इन पदों को गाते-गाते महाप्रभु चैतन्य मूर्च्छित हो जाया करते थे । इसके विपरीत कुछ लोगों की यह धारणा रही है कि पदावली के राधा-कृष्ण सम्बन्धी पद मांसल शृंगार के कलात्मक पद हैं, जिनमें केवल शृंगार का ही सौन्दर्य मिलता है, न कि भक्ति की तन्मयता । इन लोगों का यह भी कहना है कि विद्यापति वैष्णव न होकर शैव थे । वस्तुतः उनके संस्कृत-ग्रन्थ इसी धारणा की पुष्टि करते हैं ।

शृंगार का मांसल रूप—विद्यापति ने राधा और कृष्ण का जो वर्णन किया है, वह एक मिलनातुर नर-नारी का ही स्वस्थ, मांसल रूप प्रस्तुत करता है । राधा और कृष्ण हमेशा परस्पर मिलने के लिए आतुर बने रहते हैं । संयोग के समय मुक्त होकर केलि-क्रीड़ा करते हैं और विछोह के समय पुनः मिलन के लिए व्याकुल और व्यथित बने रहते हैं । राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों में कहीं इसका आभास तक नहीं मलता कि कृष्ण मानव-रूप ब्रह्म हैं और राधा उनकी नारी-रूप शक्ति । उनका रूप वही रहा है जो एक स्वस्थ, सुन्दर, सौन्दर्य और विलास-लिप्सु नर-नारी का होता

है। विद्यापति ने इन दोनों के सन्दर्भ में संयोग और वियोग-शृंगार की दोनों स्थितियों का चित्रण किया है। परन्तु इसमें भी प्रधानता संयोग की ही रही है। उन्होंने संयोग के ऐसे मादक चित्र अंकित किए हैं, जिनमें कुंठाहीन उन्मुक्त सुख-भोग अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य, मादकता और प्रभाव के साथ सजीव और साकार हो उठा है। कुछ नीतिवादी आलोचकों को इन पदों में विलास की तीव्र गन्ध और सामाजिक मर्यादा की अवहेलना दिखाई पड़ी थी, इसलिए उन्होंने विद्यापति को घोर शृंगार का चित्रण करने वाला ऐसा कवि घोषित कर दिया था जो समाज में विकृतियों को जन्म देने वाला है। मानव-मनोविज्ञान की अवहेलना कर स्वस्थ शृंगार को घातक सिद्ध कर देने वाले आलोचक स्वस्थ शृंगार के चितेरों की हमेशा इसी प्रकार उपेक्षा और भर्त्सना करते आए हैं। परन्तु जन-सामाज पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विद्यापति के मांसल शृंगार सम्बन्धी पद आज भी उनके पाठकों में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं और समाज में जब तक यौवन की स्वाभाविक चेतना और आकर्षण रहेगा, तब तक बराबर लोकप्रिय बने रहेंगे। इन नीति-वृद्धों को जग की यह जवानी हमेशा इसी तरह अखरती रहेगी और शृंगार का चित्रण भी सदैव इसी प्रकार होता रहेगा।

विद्यापति ने यौवन के शृंगार के अत्यन्त मनोरम चित्र अंकित किए हैं। नायिका की वयः सन्धि अवस्था से लेकर पूर्ण यौवनवती रूप के विभिन्न चित्र ऐसे मांसल, स्वस्थ और मनोरम उतरे हैं कि नीतिवादी भी एकान्त में उनको पढ़ने में संकोच का अनुभव नहीं करते होंगे। विद्यापति ने ऐसे काव्य का मैथिली में कोई नया प्रयोग नहीं किया था। उनका यह काव्य एक पूर्व परम्परा का ही विकसित रूप है। विद्यापति से पूर्व हाल की 'गाहा सत्तसई' में हमें राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं-सम्बन्धी ऐसे ही पद मिलते हैं। विद्यापति से कुछ पूर्व ही जयदेव 'गीत गोविन्द' में ऐसी ही रस-धारा प्रवाहित कर चुके थे। विद्यापति ने अपनी पदावली में इन्हीं की परम्परा का अनुगमन किया था। इसी कारण उनमें भी जयदेव के समान 'विलास-कुतूहल' की प्रबल भावना मिलती है। उन्होंने नायिका के नख-शिख, सद्यः स्नाता, मानवती, मिलनातुर, मिलन की स्मृतियों में डूबी, विरह से व्यथित आदि विभिन्न रूपों का अंकन किया है। उनका सद्यः स्नाता का यह चित्र अत्यन्त प्रसिद्ध है—

'कामिनि करए सनाने
हेरइते हृदय हनए पचबाने।
चिकुर गरए जलधारा
मुख शशि डरे जनि रोअए अंधारा।
तितल वसन तनु लागू
मुनिहुक मानस मनमथ जागू।'

पद-परम्परा के प्रतिस्थापक कवि—विद्यापति के ऐसे पद इतने अधिक लोकप्रिय हुए कि हमें परवर्ती हिन्दी-साहित्य में इस पद-परम्परा के रूप में एक श्रेष्ठ साहित्य

के दर्शन होते हैं। उनके परवर्ती कृष्ण-भक्त कवियों ने इस परम्परा को अपना कर राधा-कृष्ण के प्रति अपने भक्ति-भाव भरे उद्गारों को उद्गीरित किया था। इसी कारण विद्यापति को केवल हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी पद-परम्परा का प्रतिस्थापक माना जाता है। स्वर-संगीत और शब्द-संगीत के वैभव से आपूर्ण इन पदों के रूप में कवियों ने अपने भावों को संश्लिष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है। विद्यापति के इन पदों में कलात्मक गीतों की शिल्पविधि के साथ-साथ लोक-गीतों की सरलता, स्वाभाविकता, भावतन्मयता और स्वच्छन्दता सहज शृंगार के रूप में प्रस्फुटित हुई है।

आरम्भिक-कालीन सूफी-काव्य

मुल्ला दाऊद

हमें इस काल में उस सूफी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा का भी रूप मिल जाता है, जिसका विकास आगे चलकर जायसी आदि के काव्य में हुआ था। हिन्दी में सूफी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा के आदि प्रतिष्ठापक मुल्ला दाऊद माने जाते हैं। मिश्रबन्धुओं ने अमीर खुसरो और मुल्ला दाऊद को समकालीन माना है। अतः इनकी गणना भी आरम्भिक काल के अन्तर्गत ही होनी चाहिए। इनका केवल एक ही ग्रन्थ उपलब्ध हुआ बताया जाता है—'चन्दायन' जिसे कुछ लोग 'चन्दावत' लिखते आए हैं। यह एक प्रेमाख्यानक काव्य है। इस ग्रन्थ की रचना का समय चौदहवीं सदी का उत्तरार्द्ध माना गया है। 'चन्दायन' में चन्दा और लोरिक की प्रणय-गाथा अंकित की गई है। इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह कथा विशुद्ध रूप से लौकिक प्रणय-गाथा है। इसमें परवर्ती सूफी-साहित्य के समान लौकिकता पर अलौकिकता का आरोपण नहीं किया गया है।

'चन्दायन' की अभी तक उपलब्ध सम्पूर्ण प्रतियाँ खंडित ही मिली हैं। परन्तु इसका जितना भी रूप उपलब्ध हो सका है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना पूर्वी उत्तर प्रदेश में प्रचलित लोक-कथा 'चनैनी' के आधार पर हुई थी। इलाहाबाद के आसपास 'लोरिकायन' नामक एक लोक-कथा आज भी काफी प्रसिद्ध है। 'चन्दायन' की रचना दोहा-चौपाई शैली में हुई है। कवि ने अपनी कृति का रचना काल भी दिया है—

'बरस सात सै होई इक्यासी। तिहि जाह कवि सरसेउ भासी।'

कवि ने अपनी कृति का आरम्भ उसी प्रकार ईश्वर-वन्दना के साथ किया है जो परवर्ती सूफी-काव्यों में अपनाया गया है। जैसे—

'पहिले गावऊँ सिरजनहारा। जिन सिरजा इह देवस वयारा॥
सिरजसि धरती और अकासू। सिरजसि मंदर औ कविलासू॥
सिरजसि चाँद सुरुज उजियारा। सिरजसि सरग नखत का भारा॥'

भावी काव्य-परम्परा के विकास की दृष्टि से मुल्ला दाऊद की इस कृति का ऐतिहासिक महत्त्व है। भाषा के विकास की दृष्टि से भी इस कृति का महत्त्व रहेगा। हमने इसकी जो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, उनमें प्रयुक्त अवधी भाषा और सोलहवीं सदी में जायसी द्वारा प्रयुक्त अवधी भाषा में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं दिखाई देता। दोनों का रूप समान रहा है। इससे इस सिद्धान्त को बल मिलता है कि लोक-भाषाओं के रूप में परिवर्तन की गति बहुत धीमी रहती है। उनकी अपेक्षा परिनिष्ठित साहित्यिक भाषाएँ जल्दी रूप परिवर्तित करती रहती हैं। इसलिए किसी भी कृति की भाषा के आधार पर परीक्षा करते समय ऐसे निष्कर्ष देना कि यह कृति चौदहवीं सदी की न होकर पन्द्रहवीं सदी की है, भ्रान्त होता है। मुल्ला दाऊद की 'चन्दायन' के रूप में हमें आरम्भिक काल में अवधी-भाषा का भी साहित्यिक अस्तित्व मिल जाता है।

आरम्भिक-कालीन भक्ति-काव्य

नामदेव

मराठी के प्रसिद्ध सन्त-कवि नामदेव ने मराठी और हिन्दी—दोनों भाषाओं में कविता की थी। यद्यपि हिन्दी में रचित इनके ७०-८० पद ही उपलब्ध हैं परन्तु इन्हीं पदों के रूप में हमें हिन्दी में विकसित सन्त-काव्य का पूर्व रूप मिल जाता है। नामदेव का समय चौदहवीं सदी (विक्रमी) माना गया है। इनका जन्म सम्वत् १३२६ के लगभग महाराष्ट्र के एक साधारण दर्जी परिवार में हुआ था। नामदेव के जो हिन्दी पद मिले हैं उनका वर्ण्य-विषय लगभग वही रहा है जो कबीर-काव्य का रहा है। ईश्वर के प्रति दृढ़ अनुराग, माधुर्यपूर्ण भक्ति, विरह-व्यंजना, अद्वैतवादी सिद्धान्त, गुरु का महत्त्व, मूर्तिपूजा का विरोध, जाति-पाँति का खंडन, हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन, साधना-पक्ष में अनहद नाद एवं अलौकिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि का संयमन आदि सभी कुछ वही मिलता है जो आगे चलकर सन्त-काव्य का मूल विवेच्य रहा है। और कबीर नामदेव से लगभग एक सदी बाद हुए थे।

नामदेव रचित हिन्दी-साहित्य का अध्ययन कर इसी कारण हिन्दी के कुछ सुधी आलोचकों ने नामदेव को हिन्दी में सन्त-काव्य परम्परा का प्रवर्त्तक माना है। प्रो० देशपाँडे ने मराठी भक्ति-साहित्य का विवेचन करते हुए नामदेव के सम्बन्ध में लिखा है—"उन्होंने उत्तर भारत में भक्ति मार्ग का प्रचार करके हिन्दू-समाज को जाति-भेद की संकीर्णता, बहुदेवोपासना का सच्चा अर्थ, धर्माडम्बर और अनावश्यक आचार-विचार के सम्बन्ध में जाग्रत किया। वे यथार्थ में सच्चे लोक-शिक्षक थे। उन्होंने सन्त कबीर, गुरु नानक जैसे परवर्ती सन्तों का मार्ग प्रशस्त बनाने में कुछ न उठा रखा। सचमुच वे उत्तर भारत के सांस्कृतिक एवं धार्मिक जागरण के आद्य-प्रणेता थे।"

आचार्य विनयमोहन शर्मा ने भी हिन्दी को मराठी सन्तों की देन का विश्लेषण करते हुए नामदेव को हिन्दी की सन्त-काव्य परम्परा का प्रवर्त्तक घोषित किया है। उनका तत्सम्बन्धी वक्तव्य इस प्रकार है—"नामदेव में उत्तरी भारत के सन्त-मत की सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं। इसीलिए हम उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण-भक्ति मत का प्रथम प्रचारक एवं प्रवर्त्तक तथा कबीर आदि सन्तों का पथ-प्रदर्शक मानते हैं।.... यह सत्य है कि कबीर के समान नामदेव की हिन्दी रचनाएँ प्रचुर मात्रा में नहीं मिलतीं, परन्तु जो कुछ प्राप्य हैं, उनमें उत्तर भारत की सन्त-परम्परा का पूर्व आभास मिलता है और उनके परवर्ती सन्तों पर निश्चय ही उनका प्रभाव पड़ा है—जिसे उन्होंने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। ऐसी दशा में उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण-भक्ति का प्रवर्त्तक मानने में हमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए।"

नामदेव के इस आभार को हिन्दी के परवर्ती कवियों ने नतमस्तक हो स्वीकार किया है। जैसे—

नामदेव कबीर तिलोचन साधना सैनु तरै।
कह रविदास सुनहु रे सन्तो, हरि जीउ ते सभै सरै॥'—रैदास

तथा—

'नामदेव कबीर जुलाहो, जन रैदास तिरै।
दादू बेगि बार नहिं लागै, हरि सौं सबै सरै॥'—दादू

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि रैदास, दादू आदि ने कबीर के साथ नामदेव का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है और नामदेव का नाम कबीर से पहले लिया है। नामदेव के पद यह सिद्ध कर देते हैं कि उनके काव्य और हिन्दी के परवर्ती सन्त-कवियों के काव्य में कोई अन्तर नहीं है। प्रमाण स्वरूप हम नामदेव के कुछ पद उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं। जैसे—

माधुर्यपूर्ण भक्ति—

'मैं बउरी मेरा राम भरतार। रचि-रचि ताकउ करउ सिंगार।'

मूर्त्तिपूजा का विरोध—

'एकै पाथर कीजै पाऊ। दूजै पाथर धरिए पाऊ।
जै इहु देऊ तऊ उहु भी देवा। कहि नामदेव हरि की सेवा।'

हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन—

'हिन्दू अंधा तुरकू काणा, दोहां ते गिआनी सिआणा।
हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमाण मसीत।
नामें सोई सेविआ, जहु देहरा न मसीत।'

हठयोगी साधना का रूप—

'वेद पुराण सासत्र आनन्ता, गीत कवित्त न गावऊगो।
अखंड मंडल निरंकार महि, अनहद बेनु बजावऊगो।
वैरागी रामहि गावऊगो।
सबहि अतीत अनाहदि राता, आकुल कै घरि जाऊगौ।
इड़ा पिंगला अउरु सुखमना, पऊनै बंधि रहाऊगो।'

भाषा का रूप

नामदेव के काव्य की भाषा का जो रूप इन पदों में झलकता है वह निश्चित रूप से कबीर की भाषा से प्राचीन भाषा-रूप है। इस भाषा की एक विशेषता यह है कि विद्वानों ने इस पर ब्रज, पूर्वी हिन्दी, पंजाबी और मराठी का प्रभाव माना है। इस प्रकार यह भाषा कबीर की मिश्रित सधुक्कड़ी भाषा के ही समान उसकी पूर्ववर्ती सधुक्कड़ी भाषा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमें नामदेव की हिन्दी रचनाओं में परवर्ती हिन्दी सन्त-काव्य की सुदृढ़ पृष्ठभूमि मिल जाती है। हमारा अनुमान है कि कबीर आदि के समान ही नामदेव ने भी यह परम्परा पुराने सिद्धों और नाथों से ही अपनायी थी। क्योंकि सिद्ध-नाथ-परम्परा में भी हमें वही तत्त्व प्रमुख दिखाई पड़ते हैं जो नामदेव की मूल-प्रेरणा रहे हैं। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि सन्त भक्ति-काव्य का आरम्भ हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल में हो चुका था। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास की वह लुप्त सी टूटी हुई कड़ी मिल जाती है जिसके अभाव में हमें कबीर आदि के साहित्य को एकाएक उदय होते हुए देख यह आश्चर्य होता था कि यह नवीन काव्य-परम्परा इतने वेग से अकस्मात् कैसे फूट पड़ी। नामदेव और कबीर के मध्य लगभग एक सदी का अन्तर रहा है। हमें इस अन्तर को भरने वाले कुछ कवियों—त्रिलोचन, सदन, बैनी आदि के नाम मिल जाते हैं, जिनका समय नामदेव और कबीर के मध्य माना गया है। डा० रामकुमार वर्मा ने इनका आविर्भाव इसी बीच के समय में माना है। इनके काव्य का रूप भी वही रहा है जो नामदेव और कबीर के काव्य का मिलता है। इस प्रकार नामदेव से लेकर कबीर तक के संत-काव्य की यह शृंखला पूरी हो जाती है। इसलिए हमें नामदेव को हिन्दी-सन्त-काव्य-परम्परा का प्रवर्त्तक मानने में संकोच नहीं करना चाहिए।

आरम्भिक-कालीन नाथ-पंथी काव्य

इस काल में हमें नाथ-पंथियों के काव्य के रूप में एक ऐसी योग-मार्गी धारा का विकास मिलता है जो वाममार्गी सिद्धों की भोग-प्रधान योग-साधना के विरोध में उठ खड़ी हुई थी। इस काव्य-धारा का आदि पुरुष्कर्त्ता गुरु गोरखनाथ को माना गया है। गुरु गोरखनाथ को उन्हीं प्रसिद्ध सिद्ध मछन्दरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) का शिष्य या पुत्र माना जाता है, जिनके विषय में यह किम्वदन्ती प्रसिद्ध है कि जब

मछन्दरनाथ योग-साधना करते हुए मायाविनी नारियों के जाल में फँस गए थे तो गोरखनाथ ने ही वहाँ से उनका उद्धार किया था। गोरखनाथ किस सदी में हुए थे, यह विवादास्पद विषय रहा है। बहुत समय तक उन्हें कबीर का समकालीन अर्थात् पन्द्रहवीं सदी का माना जाता रहा था। परन्तु बाद में उन्हें नवीं से लेकर चौदहवीं सदी के मध्य माना गया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी उन्हें नवीं सदी में, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ग्यारहवीं सदी में, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० रामकुमार वर्मा तेरहवीं सदी में उत्पन्न हुआ मानते हैं।

गोरखनाथ की रचनाएँ—गोरखनाथ की रचनाएँ संस्कृत और हिन्दी—दोनों भाषाओं में मिलती हैं। अनेक विद्वानों ने भाषा के आधार पर उनकी हिन्दी-रचनाओं की परीक्षा कर यह निष्कर्ष निकाला है कि भाषा-रूप की दृष्टि से उनकी रचना पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी के आसपास होनी चाहिए। परन्तु डा० श्यामसुन्दरदास का मत है कि उनकी भाषा न इतनी अर्वाचीन है कि पन्द्रहवीं सदी में रखी जा सके, और न इतनी प्राचीन कि आठवीं या नवीं सदी में पहुँच जाय। गोरखनाथ के नाम से रचित ग्रन्थों की रचना लगभग ४० मानी जाती है परन्तु डा० बड़थ्वाल ने इनमें से निम्नलिखित १४ रचनाओं को ही गोरख-रचित माना है—सबदी, पद, सिष्या-दरसन, प्राण संकली, नरवै बोध, आतमबोध, अभैमात्रा जोग, पन्द्रह तिथि, सप्तवार, मछीन्द्र गोरख बोध, रोमावली, ग्यान तिलक, ज्ञान चौंतीसा, पंच मात्रा। इन ग्रन्थों में गुरु महिमा, वैराग्य, इन्द्रिय निग्रह, प्राण-साधना, मन-साधना, कुंडलिनी जागरण, शून्य, समाधि आदि नीति-परक और साधना-परक विषयों का ही विवेचन मिलता है जिनका साहित्य की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं माना जा सकता।

जहाँ तक इन ग्रन्थों की भाषा का सम्बन्ध है, वह भी अपने मूल रूप में नहीं मिलती। इसका कारण यह रहा है कि गुरु-शिष्य-परम्परानुसार इन रचनाओं की प्रतिलिपि होती रही है, और ऐसा करते समय प्रतिलिपिकारों द्वारा भाषा में परिवर्तन होता रहा है। परन्तु डा० बड़थ्वाल और डा० श्यामसुन्दरदास इन ग्रन्थों की भाषा में प्राचीनता के अनेक लक्षण मानते हैं और उन्हें गोरखनाथ की ही मूल रचनाएँ स्वीकार कर लेने का आग्रह करते हैं।

इन रचनाओं को साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार करने या न करने के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। आचार्य शुक्ल इनमें 'जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं' का चित्रण न होने के कारण इन्हें केवल साम्प्रदायिक रचनाएँ मानते हैं। इसके विपरीत डा० द्विवेदी इस सम्भावना के साथ इन्हें साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार कर लेने का आग्रह करते हैं कि—'साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उनमें किसी न किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने के सम्भावना होती ही है।' वस्तुतः साहित्य और भाषा की दृष्टि से इन रचनाओं का कोई महत्त्व नहीं प्रतीत होता। गोरखनाथ का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरे धरिबा पाँव।
गरब न करिबा, सहजैं रहिबा, भणत गोरख राँव।"

ऐसी रचनाओं को साहित्यिक कृति नहीं माना जा सकता।

परन्तु इस नाथपंथी साहित्य का महत्त्व इस दृष्टि से स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इसने हिन्दी के परवर्ती सन्त-काव्य को गहरे रूप से प्रभावित किया था। इस नाथपंथी साहित्य में जहाँ एक ओर उलटबाँसियों की शैली में रहस्यात्मक साधना की व्यंजना पाई जाती है, वहाँ साथ ही जनता की बोली में धार्मिक पाखंड, जाति प्रथा मूर्त्तिपूजा आदि का तीखा खंडन भी मिलता है। ये नाथपंथी हठयोगी भी कहे जाते हैं। ये हठयोग की साधना द्वारा शरीर और मन को शुद्ध कर शून्य में समाधि लगा, ब्रह्म का साक्षात्कार किया करते थे। कबीर आदि सन्त-कवियों में हमें जो रहस्यात्मकता, रूढ़ियों का खंडन और हठयोग-साधना से सम्बन्धित उक्तियाँ मिलती हैं, उन पर इन नाथपंथी साधक-कवियों का ही प्रभाव रहा है। इसलिए प्रभाव की दृष्टि से इन कवियों का महत्त्व स्वीकार करना ही पड़ेगा।

इन नाथपंथियों साधक-कवियों में गोरखनाथ के अतिरिक्त अन्य अनेक कवियों का भी उल्लेख किया जाता है—चौरंगी नाथ, गोपीचन्द, चुणकरनाथ, भरथरी, जलंध्रीपाव। इन कवियों का समय भी तेरहवीं सदी के आसपास ही माना जाता है। इनकी रचनाओं और गोरखनाथ की रचनाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता।

आरम्भिक काल का ऐतिहासिक महत्त्व

पूर्ववर्ती इतिहास-लेखन की कतिपय न्यूनताएँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक हिन्दी-साहित्य के जो इतिहास लिखे गए थे, उनमें कुछ ऐसी कमियाँ थीं जो हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक काल को एक विचित्र, विवादग्रस्त, उलझन पूर्ण काल-खंड के रूप में प्रस्तुत करती आई थीं। कुछ लोग अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' मान, उसे सातवीं सदी तक पीछे खींच ले गए थे और यह आग्रह करते थे कि समस्त अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार कर लेना चाहिए। शुक्ल जी आरम्भिक काल को वीरगाथाओं तक ही सीमित रख, आगे बढ़कर एकाएक भक्तिकाल में पहुँच गए थे। शुक्ल जी के कुछ परवर्ती इतिहास-लेखकों ने दसवीं से तेरहवीं-चौदहवीं सदी तक रची गई अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत रखना प्रारम्भ कर दिया था, बिना यह समझे कि अपभ्रंश और हिन्दी दो भिन्न प्रकृति वाली भाषाएँ हैं और उन्होंने विचित्र कार्य यह किया था कि आरम्भिक कालीन हिन्दी के रासो-ग्रन्थों को सन्दिग्ध अथवा अर्द्ध-प्रामाणिक घोषित कर उन्हें उचित महत्त्व नहीं दिया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने

हिन्दी-साहित्य की उन टूटी हुई कड़ियों को भी जोड़ने का प्रयत्न नहीं किया था जिनके अभाव में आरम्भिक काल के उत्तराधिकारी भक्ति-काल में उद्‌भूत नवीन विचार-सरणियों और काव्य-रूपों को एकाएक उदय होते देख पाठक इसलिए अचकचा उठता था कि यह विशाल परिवर्तन एकाएक कैसे हो गया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आरम्भिक-काल को विशेष महत्त्व न देते हुए भक्ति-काल में रचित भक्ति-साहित्य के रूप में ही 'वास्तविक हिन्दी-साहित्य का आरम्भ' माना था। परन्तु इधर हुई नवीन खोजों का अध्ययन करने से हिन्दी-साहित्य के इतिहास का यह 'अन्धकार युग' सा प्रतीत होने वाला 'कालखण्ड' नवीन ज्ञान के आलोक में स्पष्ट हो उठा है।

इस कालखंड में इतिहास की उन टूटी-सी प्रतीत होने वाली कड़ियों का पता लग जाता है जो हिन्दी की विभिन्न उपभाषाओं में रचित आरम्भिक कालीन साहित्य को उसके परवर्ती विकसित साहित्य से घनिष्ठ रूप से जोड़ देती हैं। हमें इस युग में एक ओर तो अपभ्रंश के समृद्ध साहित्य दर्शन होते हैं और दूसरी तरफ हम आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाओं, विशेष रूप से हिन्दी भाषा के साहित्य को जन्म लेते और विकसित होते हुए पाते हैं। इस काल का हिन्दी-साहित्य अपभ्रंश काव्य-परम्पराओं का ऋणी रहा है। हम अपभ्रंश की अनेक काव्य-परम्पराओं को हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक कालीन रूप में विकसित होता हुआ पाते हैं। अपभ्रंश के चरित-काव्यों की परम्परा हिन्दी के रासो-काव्यों में विकासमान रही है। हिन्दी की इस रासो-परम्परा की एक उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि इसका काव्य-रूप तो अपभ्रंश कथा या चरित-काव्य का अनुसरण करता ही है, साथ ही भाषा का रूप भी अपभ्रंश से गहरे रूप से प्रभावित दिखाई पड़ता है। इसी कारण अनेक विद्वानों ने 'बीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो' का मूल रूप परिनिष्ठित अपभ्रंश में ही रचा हुआ माना है। परन्तु फिर भी हम इनमें आरम्भिक कालीन काव्य-भाषाओं पिंगल और डिंगल के नवोदित रूपों को उभरता हुआ पाते हैं। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से रासो-काव्यों को विशुद्ध रूपेण हिन्दी की रचनाएँ नहीं मानना चाहिए। उनकी भाषा उस संक्रान्ति काल की भाषा है जब हिन्दी धीरे-धीरे साहित्यिक प्रांगण में पदार्पण करने का प्रयत्न कर रही थी। दूसरी बात यह है कि हम हिन्दी के परवर्ती साहित्य में इस रासो-परम्परा का विकास नहीं पाते। परवर्ती श्रृङ्गार-काल में जो वीर-काव्य लिखे गए थे, उनका काव्य-रूप और मूल चेतना इनसे भिन्न रही थी।

तेरहवीं सदी से हम हिन्दी के ऐसे काव्य-रूपों को विकसित होता हुआ पाते हैं जो भाषा की दृष्टि से पूर्णरूपेण हिन्दी की रचनाएँ रही हैं। एक तरफ हम अमीर खुसरो के काव्य में खड़ीबोली को प्रयुक्त और विकसित होते हुए पाते हैं। खड़ीबोली उस समय तक इतनी विकसित नहीं हो पाई थी कि उसमें कथा-काव्यों या गम्भीर साहित्यिक तथा श्रृङ्गार आदि की संवेदनशील भावनाओं को अभिव्यक्त या निरूपित करने की क्षमता होती। वह साधारण बोलचाल की मुहावरेदार भाषा थी। इसी कारण हम उसमें हल्के-फुल्के मनोरंजक साहित्य की ही रचना होती हुई देखते हैं।

खुसरो के काव्य में हमें यही प्रवृत्ति मिलती है। खड़ीबोली के इस रूप का भावी विकास हम सर्वप्रथम दखिनी हिन्दी के उस साहित्य में पाते हैं जो दखिनी के दक्षिण-वासी कवियों द्वारा रचा गया था। औरंगजेब के समय तक खड़ीबोली का यह रूप अरबी-फारसी के प्रभाव से मुक्त रहा था।

खड़ीबोली के साथ-साथ हम मुल्ला दाऊद के 'चन्दायन' के रूप में सूफी-प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा और अवधी भाषा को जन्म लेते पाते हैं, जिसका विकास आगे चलकर जायसी आदि के काव्य में होता है। इस प्रकार अवधी भी तेरहवीं सदी में काव्य की भाषा बन जाती है। खुसरो और मुल्ला दाऊद समकालीन थे। इस तरह खड़ीबोली और अवधी का विकास एक साथ और समानान्तर होता चला गया है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि उस काल के हिन्दी-कवियों ने अपनी क्षेत्रीय भाषाओं को ही अपने काव्य की भाषा के रूप में स्वीकार किया था। चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी में हम विद्यापति को मिथिला की लोकभाषा मैथिली में 'पदावली' की रचना करते हुए देखते हैं। 'पदावली' इस बात का प्रमाण है कि उस युग में पुरानी साहित्यिक भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश—की अपेक्षा लोक-भाषाएँ जब साहित्यिक रूप धारण कर लेती थीं तो जनता में अत्यधिक लोकप्रिय हो उठतीं थीं। विद्यापति की अपभ्रंश-रचनाएँ जनता में लोकप्रियता प्राप्त करने में असमर्थ रही थीं। वस्तुतः वह युग प्राचीन साहित्यिक भाषाओं का अवसान-काल और जन-भाषाओं के उदय का काल था। और जन-भाषाएँ तीव्र गति से साहित्य-क्षेत्र पर अधिकार जमाती आगे बढ़ रही थीं। खड़ीबोली, अवधी, मैथिली विशुद्ध रूप से बोलचाल की भाषाएँ थीं।

इस युग में भाषा-क्षेत्र में हमें एक भाषा ऐसी मिलती है जो काफी पहले से साहित्य में पदार्पण कर चुकी थी और धीरे-धीरे साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित होती जा रही थी। और वह भाषा थी—'पिंगल' अर्थात् साहित्यिक ब्रजभाषा। आरम्भिक कालीन साहित्य में हमें इसके दो स्पष्ट रूप मिलते हैं। इसका एक रूप वह है जो रासो-काव्यों में उभरता आ रहा था और जिसे विद्वानों ने 'पिंगल' की संज्ञा प्रदान की थी। इसका दूसरा रूप वह था जो कुछ परवर्ती सिद्धों-नाथों तथा सन्त नामदेव की रचनाओं में प्रयुक्त हो रहा था। यह रूप बोलचाल की भाषा का था। ब्रजभाषा क्योंकि साहित्यिक और बोलचाल—दोनों रूपों में समानान्तर विकसित होती रही थी, इसी कारण वह भक्तिकाल में साहित्य की प्रमुख भाषा बन बैठी थी। सूरदास की भाषा को हम पूर्ण साहित्यिक भाषा के रूप में ही पाते हैं। ब्रज-भाषा के विकास के इस रहस्य को न समझ पाने के कारण ही विद्वान् इस समस्या का समाधान खोजने में असमर्थ रहे थे कि सूर-काव्य में ब्रजभाषा परिनिष्ठित रूप में कैसे प्रतिष्ठित हो गई थी? इसी कारण कुछ लोगों ने सूर की भाषा को ग्रामीण-ब्रजभाषा घोषित कर दिया था, क्योंकि उनके सामने इस समस्या का और कोई समाधान ही नहीं था। परन्तु वास्तविकता यह है कि सूर की भाषा परिनिष्ठित साहित्यिक ब्रजभाषा है, न कि ग्रामीण ब्रजभाषा।

आरम्भिक कालीन साहित्य में प्रयुक्त खड़ीबोली और ब्रजभाषा के रूप इस गुत्थी को सुलझा देते हैं कि जब बोलचाल की भाषा साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करती है तब उसका रूप कैसा रहता है। खुसरो की खड़ीबोली इसका प्रमाण है। ऐसी भाषा में गम्भीर साहित्य की रचना नहीं की जा सकती। दूसरी तरफ ब्रजभाषा के दोनों रूप यह सिद्ध कर देते हैं कि जब कोई लोक-भाषा किसी उन्नत साहित्यिक भाषा का दामन पकड़ कर आगे बढ़ती है, तो धीरे-धीरे उसका प्रौढ़ साहित्यिक रूप विकसित होता जाता है। हम नामदेव आदि की ब्रजभाषा को कबीर आदि की ब्रजभाषा के रूप में विकसित होता देखते हैं परन्तु जो फिर ललित या गम्भीर साहित्यिक भाषा नहीं बन पाती। इसके साथ ही हम रासो-काव्यों में अपभ्रंश के साथ पिंगल को विकसित होता हुआ पाते हैं, जो कृष्ण-काव्य में पूर्ण साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लेती है।

भाषा-रूपों के इस विकास के साथ-साथ, हम इस युग में उन काव्य-रूपों और विचार-सरणियों को भी जन्म लेते और विकसित होता हुआ देखते हैं जो परवर्ती युगों में साहित्य की मूलाधार बनी हैं। मुल्ला दाऊद के 'चन्दायन' का विकसित प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा का रूप जायसी आदि हिन्दी के परवर्ती सूफी कवियों के काव्य में मिलता है। विद्यापति की 'पदावली' की श्रृंगार धारा संयत रूप में कृष्ण-भक्ति-काव्य में और किंचित् असंयत रूप में श्रृंगार काल के कवियों की श्रृंगार-प्रधान रचनाओं के रूप में पल्लवित होती है। विद्यापति की पद-शैली ने तो परवर्ती सम्पूर्ण गेय-काव्य को प्रभावित किया था। नामदेव की निर्गुण भक्ति और सामाजिक अन्याय और आडम्बर के प्रति उग्र आक्रोश को हम कबीर आदि सन्त-कवियों के काव्य में विकास पाते देखते हैं। दूसरी तरफ नाथपंथी साहित्य का भी इन पर गहरा प्रभाव पाते हैं।

इस प्रकार आरम्भिक काल में उन भाषा-रूपों और काव्य-रूपों का जन्म हो चुका था जिन्होंने कालान्तर में विकसित होकर विशाल हिन्दी-साहित्य को पल्लवित किया था। कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी आदि उस समृद्ध साहित्य के प्रणेता कभी न बन पाते यदि उन्हें अपने पूर्वजों की यह भाषा और काव्य-परम्परा विरासत के रुप में न मिली होती।

भक्ति-काल

(पन्द्रहवीं से सत्रहवीं सदी तक)

सामान्य परिचय

चौदहवीं सदी के अन्त तक हिन्दी-साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। रासो-काव्य, नाथ पंथी-साहित्य, महाराष्ट्र में उदय होती हुई निर्गुण-भक्ति-धारा, अमीर खुसरो का जन-मन-रंजनकारी हल्का-फुल्का साहित्य और विद्यापति की शृंगारिक धारा उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में हिन्दी-भाषा के माध्यम से साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण कर चुकी थीं। उस समय तक सगुण भक्ति का स्वरूप हिन्दी में प्रस्फुटित नहीं हो पाया था। परन्तु जब उत्तर भारत मुस्लिम आक्रान्ताओं के निरंतर होने वाले आक्रमणों से उद्वेलित हो रहा था, उस समय निरापद दक्षिण भारत में धर्म और उसके मूलाधार (ब्रह्म) की नई व्याख्या करने के प्रयत्न चल रहे थे। शंकर, नाथ मुनि, यामुनाचार्य, रामानुज, मध्व स्वामी प्रभृत्ति दार्शनिक ब्रह्म-उपासना की परस्पर भिन्न परन्तु मूलरूप में एक, विभिन्न उपासना-पद्धतियों की स्थापना करने में दत्त-चित्त थे। और उनकी ये नवीन धार्मिक व्याख्याएँ भारत-व्यापी प्रचार पा रही थीं। उनके इन प्रयत्नों को ही सम्पूर्ण भारत में उस भक्ति-आन्दोलन को जन्म देने का श्रेय है, जिसने भारतीय सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन को झकझोर कर एक नई दिशा की ओर उन्मुख कर दिया था। वस्तुतः यह नवीन चेतना जितनी धार्मिक थी, उससे अधिक सांस्कृतिक थी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक बार धर्म तो जीवन में विरोध और विद्रोह को जन्म दे सकता है परन्तु संस्कृति सदैव समन्वयकारी ही बनी रहती है। और दक्षिण भारत का यह नवीन धार्मिक आन्दोलन अपनी मूल चेतना में अखिल भारतीय सांस्कृतिक नव-चेतना का ही नया रूप था। और ऐसा नया रूप था जो परम्परा से प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध और नवीन सामाजिक परिवर्तनों वाली परिस्थितियों में समाज के लिए उपादेय और जन-कल्याणकारी था।

इस आन्दोलन का मूल कारण—यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यह नया धार्मिक या सांस्कृतिक आन्दोलन उत्तर में न होकर दक्षिण में ही क्यों हुआ ? नए धार्मिक आन्दोलन तभी जन्म लेते हैं जब समाज प्राचीन रूढ़ियों में जकड़ा जाकर सामाजिक न्याय और प्रगति की अवहेलना करने लगता है। उत्तर भारत में बौद्ध और जैन धर्मों का उदय इन्हीं परिस्थितियों में हुआ था। दोनों ही धर्म सामाजिक-न्याय के समर्थन में और रूढ़ियों के विरोध में उदय हुए थे। ये दोनों धर्म परम्परागत रूढ़ बन गए धर्म का विरोध कर रहे थे। और एक समय ऐसा भी आया था—जब सारा भारत इनके प्रभाव-क्षेत्र में आ गया था। कालान्तर में जैन-धर्म अधिक रूढ़ बन गया था। बौद्ध धर्म भी जब रूढ़ होता जा रहा था, उसमें विद्रोह के चिन्ह प्रकट होने लगे थे। उत्तर भारत में उदय हुआ सिद्धों का आन्दोलन बौद्ध धर्म की अगतिशील रूढ़ियों का विरोध कर सामाजिक-न्याय की माँग कर रहा था। परन्तु उत्तर भारत की स्थिति दक्षिण भारत की स्थिति से भिन्न थी। उत्तर भारत को निरन्तर विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ता रहा था। सिकन्दर से लेकर शहाबुद्दीन गोरी तक और उसके उपरान्त अहमदशाह अब्दाली तक—उत्तर भारत को बाह्य आक्रान्ताओं की बाढ़ों को झेलना पड़ा था। यूनानी, शक, हूण, अरब, तुर्क, मंगोल, अफगान आदि विदेशी जातियाँ आक्रमणकारी के रूप में आती रही थीं। इन जातियों में से, अनेक इसी प्रदेश में बस भी गई थीं। इन विदेशी जातियों के सम्पर्क के कारण भारतीय समाज अधिक रूढ़ नहीं बन पाया था। उसमें आदान-प्रदान की मुक्त भावना थी। मुसलमानों के आगमन तक भी यही स्थिति रही थी। यहाँ समाज में ऊँच-नीच का भेद था तो अवश्य परन्तु यह इतना अधिक गहरा नहीं था कि समाज के चिन्तकों का अधिक ध्यान आर्कषित कर पाता। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत में सामाजिक-अन्याय का विरोध केवल निम्न जाति के लोग ही कर रहे थे। सिद्धों में इन्हीं लोगों की संख्या अधिक थी। समाज का प्रबुद्ध वर्ग इस सम्बन्ध में उदासीन सा था। इसका कारण यह था कि यहाँ सामाजिक अन्याय इतना उग्र और भयंकर रूप नहीं धारण कर पाया था, जिससे समाज के विघटन का खतरा पैदा हो जाता।

दक्षिण-भारत की स्थिति भिन्न थी। उसे विदेशी आक्रमणकारियों की ज्वाला नहीं झेलती पड़ी थी। उस शान्त वातावरण में सामन्ती-व्यवस्था अधिक प्रतिक्रियावादी रूप धारण करती जा रही थी। धर्म के कर्णधार ब्राह्मण और सामन्त थे। और ये दोनों वर्ग धर्म का उपयोग अपनी प्रभुता और सामाजिक श्रेष्ठता की स्थापना के लिए ही करते थे। अर्थ के समस्त स्रोतों पर इन्हीं का अधिकार था। सामान्य-जनता पीड़ित और शोषित थी। उच्च वर्ग का अपनी श्रेष्ठता का उन्माद इतना अधिक बढ़ गया था कि यह वर्ग समाज के निम्न वर्ग को इन्सान तक स्वीकार करने से इन्कार करने लगा था। वह उसके समस्त अधिकारों, यहाँ तक कि जीवन का भी स्वामी बन गया था। निम्न वर्ग के लोग उसकी छाया तक नहीं छू सकते थे। इस सामाजिक भेद-भाव ने समाज के हित-चिन्तकों को चिन्तित बना दिया। क्योंकि

उच्च वर्ग ये सारे अन्याय-अत्याचार धर्म की आड़ लेकर करता था, इसलिए यह आवश्यक हो गया था कि धर्म पर से इस वर्ग का एकाधिकार समाप्त कर दिया जाय। और इस एकाधिकार के विरोध में प्रबुद्ध-वर्ग का जो विद्रोही स्वर ऊपर उठा था, उसी ने कालान्तर में भारतीय भक्ति-आन्दोलन को जन्म दिया था।

और विद्रोह का यह नया स्वर परम्परा का संस्कार करके ऊपर उठा था। समाज और धर्म के ठेकेदारों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए जो धर्म की रूढ़ और नवीन स्वार्थपरक व्याख्या कर रखी थी, इस नए चिन्तन ने उसी को चुनौती देते हुए वेदों और उपनिषदों में व्याप्त धर्म की ही पुनर्स्थापना करने का प्रयत्न किया था। वह धर्म की पुरानी व्याख्या सामाजिक अन्याय की भावना से मुक्त थी। उसमें प्रत्येक प्राणी को धर्म का समान अधिकारी माना गया था। शंकराचार्य इस विद्रोही स्वर के प्रथम उद्घोषक बने। उन्होंने जीव और ब्रह्म में अभेद की स्थापना कर मानव-मानव की समानता का और मानव-मात्र के आत्म-गौरव का स्वर बुलन्द किया था। जो विचारक 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसे सूत्र को जन्म दे सकता था, मानव-मात्र की समानता का उससे अधिक कट्टर समर्थक और किसे माना जा सकता है। यहाँ हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि सम्पूर्ण भक्ति-आन्दोलन का स्वर मानव-मात्र की समानता की घोषणा करने वाला रहा है। इस भक्ति-आन्दोलन ने धर्म को एक विशेष वर्ग की सम्पत्ति न मान, उसे सभी की सम्पत्ति माना था। शंकर के पश्चात् रामानुजाचार्य ने मानव-मात्र को भक्ति का अधिकारी घोषित कर उस नई सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्ति को जन-सामान्य तक पहुँचाया था जो कालान्तर में भारतीय एकता का सर्वाधिक प्रभावशाली और समन्वयकारी सूत्र बन गई थी।

दक्षिण के इस नए जनवादी धार्मिक आन्दोलन ने उत्तर भारत को गहरे रूप से प्रभावित किया था। आज जब हम 'उत्तर भारत' और 'दक्षिण भारत' जैसे शब्दों का प्रयोग कर देश को दो खंडों में विभाजित कर देखने के अभ्यस्त बन गए हैं, उस प्राचीन युग में देश का ऐसा कोई विभाजन स्वीकार नहीं किया गया था। उस समय सम्पूर्ण भारत एक था—अखंड और परस्पर प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध। यही कारण था कि देश के एक कोने से उठा हुआ प्रबुद्ध स्वर सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो जाता था। सुदूर दक्षिण में स्थित केरल के शंकराचार्य का अद्वैतवाद समस्त भारत के लिए विचारणीय विषय बन गया था। इसी प्रकार वहाँ के प्रबुद्ध चिन्तकों द्वारा आरम्भ किया गया भक्ति-आन्दोलन समस्त भारत में फैल गया था। और इस आन्दोलन ने विभिन्न धर्मों, मतों, सम्प्रदायों में विभक्त भारतीय जन को पुनः एक सूत्र में बाँध दिया था। यही इस भक्ति-आन्दोलन की चरम सामाजिक और सांस्कृतिक उपलब्धि थी।

भक्ति-आन्दोलन के दो रूप

समस्त भारत में हमें इस भक्ति-आन्दोलन के दो रूप मिलते हैं। **एक**—प्रबुद्ध विचारकों द्वारा प्रचारित रूप; **दूसरा**—अशिक्षित, निम्नवर्गीय साधकों द्वारा स्थापित

रूप। बौद्ध धर्म के परवर्ती सिद्ध-साधकों ने दूसरे रूप को जन्म दिया था। इस रूप में सामाजिक-अन्याय के प्रति विरोध का उग्र और तीखा स्वर तो अवश्य रहा परन्तु ये सिद्ध-गण धर्म या भक्ति का कोई ऐसा सुचिन्तित स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके जो समाज के सभी वर्गों को समान रूप से प्रभावित कर पाता। कारण यह था कि ये लोग अशिक्षित थे और अशिक्षित होने के कारण तर्क या आस्था का अवलम्ब न ग्रहण कर, चमत्कारों द्वारा ही समाज को प्रभावित करने का प्रयत्न करते रहते थे। ये लोग एक प्रकार से सामाजिक उश्रृंखलता को बढ़ावा देने वाले थे। और उश्रृंखलता विध्वंस की जनक तो बन जाती है परन्तु स्वस्थ निर्माण करने में असमर्थ रहती है। हमें सिद्ध-साहित्य में धर्म का यही रूप उपलब्ध होता है।

इसके विपरीत, जो विचारधारा समाज के प्रबुद्ध विचारकों द्वारा जन्म लेती है, उसके पीछे एक लम्बी, विस्तृत, स्वस्थ वैचारिक-परम्परा की निधि रहती है। इसी कारण ऐसी विचारधारा एक ऐसी संस्कृति को जन्म देने में समर्थ होती है जो विध्वंस की अपेक्षा स्वस्थ-निर्माण की जननी बनती है। इसके मूल में विगत सहस्रों वर्षों का चिन्तन रहता है। इसलिए इसका आधार अधिक ठोस और अधिक स्थायी होता है। दक्षिण के भक्ति-आन्दोलन ने समस्त देश को ऐसा ही दृढ़ और स्थायी आधार प्रदान किया था। उत्तर भारत में भक्ति के दोनों रूपों—निर्गुण और सगुण—को जन्म देने और आगे बढ़ाने में इसी कारण इसे सफलता मिली थी। सिद्धों का उग्र सामाजिक विरोध समाज के एक विशेष वर्ग तक ही सीमित होकर रह गया था। उसमें क्रान्ति की अराजकता का स्वर तो था, परन्तु सामाजिक नियमन का स्वर गायब रहा। इसीलिए वह समाज पर व्यापक और स्थायी प्रभाव डालने में असमर्थ रहा।

भक्ति के आधार की आवश्यकता

सिद्धों की निराकार की उपासना में एक मूलभूत कमजोरी या कमी थी। उनकी शून्य-ब्रह्म की निराकारोपासना भक्ति-साधना की चरम स्थिति में तो सम्भव हो सकती है परन्तु आरम्भिक स्थिति में नहीं। सम्भव है सिद्ध-साधक उस स्थिति तक, एक लम्बी साधना के उपरान्त, पहुँचने में सफल हो जाते हों, परन्तु सामान्य-जन के लिए विना किसी प्रत्यक्ष आधार के अपने मन को केन्द्रित करना अत्यन्त दुष्कर और असम्भव सा कार्य बन जाता है। उसे आरम्भ में किसी प्रत्यक्ष आधार का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। अशिक्षित सिद्धगण इस सहज, व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से अपरिचित थे। इसके विपरीत, प्रबुद्ध विचारक विकास के इस रहस्य को जानते थे। इसीलिए उन्होंने सगुण भक्ति-भावना का प्रचार किया था। सगुण-भक्ति में उपास्य साकार होता है—अवतार के रूप में, मानवाकार ब्रह्म के रूप में। और जब मन उसकी उपासना करते-करते साधना की चरम स्थिति तक पहुँच जाता है, तब उसके लिए उसका उपास्य निराकार ब्रह्म बन जाता है। इसी कारण

सगुण-भक्ति की चरम-स्थिति निर्गुण-भक्ति मानी गई है । सूर और तुलसी उपासना के इस रहस्य को जानते थे । इसी कारण उन्होंने सगुण और निर्गुण को एक ही मानते हुए भी सगुण की उपासना पर ही अधिक बल दिया था । क्योंकि वे जानते थे कि निराकार की उपासना करना अत्यन्त दुष्कर है । सगुण-भक्ति के प्रचारकों ने इसी कारण अवतारवाद की स्थापना कर ब्रह्म के साकार स्वरूप की उपासना को ही अधिक सुलभ और व्यावहारिक माना था ।

अवतारवाद की मूल-भावना

इस अवतारवाद की भावना के मूल में ब्रह्म के अवतारों के रूप में एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करने का उद्देश्य कार्य कर रहा था जो समाज में व्याप्त समस्त विकृतियों का उन्मूलन कर समाज का नियमन कर सके । इसके लिए दो प्रकार के आदर्शों को प्रस्तुत किया गया—राम और कृष्ण को । दोनों को ही पूर्ण ब्रह्म का प्रतीक मान, उनके चरित्रों में लौकिक और अलौकिक शक्तियों, सम्पूर्ण उदात्त मानवीय गुणों, दूर-दर्शी राजनीतिक दृष्टि, सामाजिक नियमन की अद्भुत क्षमता और लोकहित की भावना आदि का समन्वय कर उन्हें आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत किया गया । परन्तु इन दोनों के चरित्रों की अपनी-अपनी ऐसी विशेषताएँ रहीं जो ऊपर से देखने पर तो परस्पर विरोधिनी मालूम पड़ती हैं, परन्तु उनका अन्तिम ध्येय—मानव-मात्र की कल्याण-साधना और सामाजिक-न्याय की प्रतिष्ठा करना रहा । एक तरफ राम सामाजिक मर्यादाओं का पालन करते हुए रावणीय अत्याचार और अन्याय का दमन कर एक सुदृढ़, सुशासित, जनमत का सम्मान करने वाले साम्राज्य की स्थापना करते हैं । समाज के उपेक्षित अंग—वन्य-जातियों, अछूतों आदि को अपना सर्वाधिक प्रिय घोषित कर सामाजिक एकता का आदर्श स्थापित करते हैं । राजनीति, समाज-नीति, धर्म, अर्थ-व्यवस्था आदि सभी को राम समाज के कल्याण के लिए ही मानते हैं ।

इसके विपरीत दूसरी ओर कृष्ण हैं । कृष्ण सामान्य परिवार, असंस्कृत समझी जाने वाली जाति और साधन हीन समाज में जन्म ले, सामन्ती अत्याचारों का विरोध करते हैं, समाज की रूढ़ मान्यताओं की अवहेलना कर प्रेम के क्षेत्र पर से वर्ग-विशेष का स्वामित्व समाप्त करने का नारा बुलन्द करते हैं । कृष्ण का चरित्र जीवन के अस्वाभाविक बन्धनों से मुक्त उन्मुक्त जीवन के स्वस्थ भोग और साथ ही अटूट, अडिग कर्त्तव्य-निष्ठा का ऐसा प्रभावशाली उदाहरण प्रस्तुत करता है जो जीवन में अधिकार और कर्त्तव्य—दोनों को समान महत्त्व प्रदान करता है । कृष्ण जिस तन्मयता के साथ गोपियों के साथ रासलीला रचाते हैं, समय आने पर उसी तन्मयता के साथ जीवन के इस भोग-पक्ष का परित्याग कर राजनीति का संचालन करने लगते हैं । कृष्ण कर्मण्य जीवन के आदर्श हैं । कृष्ण के रूप में सम्पूर्ण क्षेत्रों की विकृतियों का विरोध और उन्मूलन करने का साहस भरा पौरुष साकार हो उठा है । हमारे भक्ति-आन्दोलन ने भारतीय समाज में इसी चेतना का संचार किया था ।

सामाजिक न्याय की स्थापना

इस भक्ति-आन्दोलन ने दूसरा जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया था, वह था—धर्म पर से एक वर्ग-विशेष के एकाधिकार को समाप्त करने की माँग उठाना। उस समय तक धर्म एक वर्ग-विशेष—पुरोहितों और सामन्तों के सम्मिलित वर्ग की बपौती बन चुका था। समाज के निम्न वर्गों को धर्म-साधना, शिक्षा और देवस्थानों में प्रवेश के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। उन्हें न भक्ति का अधिकारी माना जाता था, और न शास्त्रों का अध्ययन कर ज्ञानार्जन करने का। सिद्धों की वाणी में हम इसी सामाजिक स्थिति के प्रति विद्रोह का पहला स्वर सुनते हैं। परन्तु जैसा कि हम पीछे बता आए हैं, सिद्ध समाज के सम्मुख कोई दूसरा स्वस्थ विकल्प प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे थे। उनके पास एक दूरदर्शी, स्वस्थ, जीवन प्रदायक स्पष्ट दृष्टिकोण का अभाव था। और इस अभाव की पूर्ति की, इस नवीन भक्ति-आन्दोलन ने। हमें कबीर में एक ओर तो सिद्धों की खंडनात्मक और विरोध भरी उग्रता और कटुता मिलती है, और दूसरी ओर भक्ति की वह अपूर्व तन्मयता भी—जो मानव मन को स्वस्थ, उदात्त बना उसमें सम्पूर्ण अशुभ का प्रतिरोध करने की शक्ति उत्पन्न कर देती है। भक्त अपने प्रभु का आश्रय ग्रहण कर सम्पूर्ण अन्याय और अत्याचार का प्रतिरोध करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। सर्वरक्षक प्रभु का वरद्-हस्त रहते हुए कोई भी उसका बाल तक बाँका नहीं कर सकता—यह भावना उसे सामाजिक-न्याय को प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करती है। अस्तु,

इस नवीन भक्ति-आन्दोलन ने मानव-मात्र के लिए भक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया था। भक्ति के आलम्बन राम और कृष्ण के चरित्र—निषाद, जटायु, विभीषण, कुब्जा आदि को अपनाए जाने के रूप में—इसी सामाजिक क्रान्ति का संकेत दे रहे थे। सर्वप्रथम आचार्य रामानुज ने भक्ति पर एक वर्ग-विशेष के एकाधिकार को समाप्त करने की उद्घोषणा की थी; और उनके पश्चात् आचार्य रामानन्द ने प्रत्येक मानव को—नर हो या नारी—सभी को भक्ति का समान अधिकारी घोषित कर तथा, जैसा कि किम्वदन्ती है, कबीर आदि को दीक्षा देकर रामानुज के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप प्रदान किया था। और समस्त भारत में भक्ति का उन्मुक्त स्रोत ऐसी तीव्र गति से प्रवाहित हो उठा था कि उसके तीव्र प्रवाह में अन्याय, अत्याचार, एकाधिकार और रुढ़ियों का समस्त कलुष धुल गया था।

भक्ति-आन्दोलन का अप्रत्यक्ष प्रभाव

हम इस भक्ति-आन्दोलन की एक ऐसी विशेषता पाते हैं, जिसने राजनीतिक और सामाजिक रूप से अशान्त उत्तर भारत को एकता के प्रगाढ़ सूत्र में आबद्ध करने का ऐतिहासिक प्रयत्न किया था। जिस समय उत्तर भारत में भक्ति का नवीन उन्मेष प्रस्फुटित हुआ था, उस समय तक यहाँ मुस्लिम-साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी। इस्लाम के प्रचार के उन्मत्त अभिलाषी मुसलमान शक्ति के बल पर हिन्दुओं को

इस्लाम में दीक्षित करने का प्रयत्न कर रहे थे, और नवीन राज-शक्ति इस कार्य में उनकी खुलकर सहायता करती थी। इस्लाम का एकता और समानता का सिद्धान्त हिन्दू-समाज के उस वर्ग के लिए विशेष आकर्षण का कारण बन गया था, या बन सकता था, जो उच्च वर्ग द्वारा दलित, पीड़ित या उपेक्षित था। इसलिए उस समय यह भय उत्पन्न हो गया था कि कहीं हिन्दू-समाज का यह उपेक्षित अंग इस्लाम का वरण न कर ले।

दूसरी ओर यह स्थिति थी कि इस नवीन धर्म से बचने के लिए हिन्दू-समाज ने स्वयं को संकुचित कर रूढ़ियों के जाल में और भी अधिक कस लिया था। इसने उसके उदार रूप को अत्यधिक संकीर्ण बना दिया था। इसका परिणाम यह निकला कि दलित-वर्ग की और भी अधिक उपेक्षा होने लगी। और हिन्दू-समाज के विघटन का भयावह संकट सामने आ खड़ा हुआ। ऐसी ही विषम स्थिति में हमारा नवीन भक्ति-आन्दोलन मानव-मात्र की समानता का स्वस्थ सन्देश लेकर जीवन-क्षेत्र में अवतरित हुआ। इसने एक तरफ तो निम्न वर्ग के कुंठित, पीड़ित मन की कुंठाओं और पीड़ाओं का शमन करने का मार्ग प्रशस्त किया और दूसरी ओर हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति का उदार रूप प्रस्तुत कर असन्तुष्ट और विद्रोही मनों को दूसरे खेमे में जाने से रोका। हमारा यह अनुमान है कि यदि उस समय भक्ति का यह जनवादी रूप प्रस्तुत न किया गया होता तो सम्पूर्ण भारत इस्लाम का अनुवर्ती बन जाता। हम यह नहीं कह सकते कि भक्ति-प्रचारकों के सामने यह उद्देश्य रहा था या नहीं, परन्तु इसका परिणाम यही निकला था, इसमें सन्देह नहीं। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि उत्तर भारत को इस्लाम से आक्रान्त देख दक्षिण के धर्म-प्रचारक हिन्दू-धर्म की रक्षा करने के लिए ही उत्तर भारत में प्रचारार्थ आए थे। इस सम्बन्ध में यहाँ यह द्रष्टव्य है कि हम समस्त भक्ति-साहित्य में इस्लाम-विरोधी स्वर कहीं भी नहीं पाते। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि भक्ति-आन्दोलन का प्रवर्त्तन इस्लाम से हिन्दू धर्म की रक्षा करने के लिए किया गया था। यह भक्ति-आन्दोलन मूलतः हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज की आन्तरिक असंगतियों, विकृतियों और रूढ़ियों का उन्मूलन करने के लिए ही उठा था। यह समय की माँग थी। यदि मुसलमान यहाँ न आए होते, तब भी विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया इस आन्दोलन को इसी प्रकार आगे बढ़ाती। यह आन्दोलन विषम स्थितियों में भारतीय चिन्तन का स्वाभाविक विकास था। यह दूसरी बात है कि इसके द्वारा इस्लाम का प्रसार रोकने में भी सहायता मिली।

भक्ति-आन्दोलन के उदय होने का यही रहस्य और कारण था और जिसे न समझ पाने के कारण ग्रियर्सन जैसे विदेशी विद्वान् आश्चर्यचकित हो, इसे ईसाई-धर्म का प्रभाव मानने की भूल कर बैठे थे तथा अनेक भारतीय मनीषी भी इसे राजनीतिक विषमता के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न हुआ मानने लगे थे।

भक्ति का विकास

भक्ति-आन्दोलन की आरम्भिक अवस्था में भारत की परिस्थितियाँ क्या और कैसी थीं ? इसका विवेचन करने से पूर्व हमें भारत में भक्ति के विकास का इतिहास जान लेना चाहिए । तभी हम यह समझ पाएँगे कि हिन्दी-साहित्य में भक्ति-भावना का प्रस्फुटन किन-किन रूपों में हुआ और उसके ऐतिहासिक कारण क्या थे ।

अत्यन्त प्राचीन काल से वैदिक-धर्म दो प्रधान शाखाओं में विकसित होता आया है—**शैव मत**, और **वैष्णव मत** । इन दोनों ही मतों के मूल में भक्ति की धारा अद्यावधि प्रवाहित होती आई है । इन दोनों में से वैष्णव मत के आश्रय में ही भक्ति-भावना अधिक प्रश्रय और महत्त्व पाती रही है । वैदिक धर्म का विकास क्रमशः भागवत, सात्त्वत और पांचरात्र मतों में होता रहा है । दूसरे शब्दों में, इसे विष्णु की उपासना का क्रमिक विकास भी कहा जा सकता है । विष्णु का आदि रूप वेदों में मिलता है । वहाँ विष्णु एक देवता है, साथ ही अन्य देवता भी हैं । वेदों में प्रधान देवता इन्द्र है और विष्णु उसका अमित शक्तिशाली छोटा भाई है । परन्तु कालान्तर में सम्पूर्ण देवता विष्णु में ही समाहित होते चले जाते हैं । सब के गुण, विष्णु के गुण मान लिए जाते हैं । विष्णु में चमत्कार और अलौकिक शक्ति का समावेश होता जाता है और अन्त में विष्णु को एक सर्वशक्तिमान, लोकरक्षक सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठा मिल जाती है ।

भागवत मत—विष्णु षट् ऐश्वर्यों से सम्पृक्त होने के कारण 'भगवत' कहलाए और उनकी उपासना करने वाले 'भागवत' । आगे चलकर महाभारत काल तक आते-आते विष्णु और वासुदेव-कृष्ण का एकीकरण हो गया । कृष्ण के यादव-वंश को 'सात्त्वत वंश' भी कहा गया है, इसलिए 'भागवत मत' का दूसरा नाम 'सात्त्वत मत' भी पड़ गया । प्रमाण मिलते हैं कि ये सात्त्वत मतावलम्बी दक्षिण-भारत तक अपने धर्म का प्रचार करने गए थे । 'गीता' इस मत का प्रधान धर्म-ग्रन्थ माना जाता है। उसके अनुसार भागवत मत का चरम लक्ष्य 'एकान्तिक भक्ति' माना गया है ।

पांचरात्र मत—इस वैष्णव मत का अन्तिम विकसित रूप पांचरात्र-मत के रूप में दिखाई पड़ता है । इस मत के उपास्य भी 'वासुदेव' अर्थात् कृष्ण हैं । इस मत में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण—दोनों ही रूप स्वीकार किए गए हैं । इसका मुख्य उद्देश्य भक्ति के साधना-मार्ग का निरूपण करना रहा और दुःखमय संसार से मुक्ति पाने के लिए भक्ति को ही एकमात्र साधन माना गया । इस भक्ति की प्राप्ति के लिए भगवान की शरणागति अथवा प्रपत्ति को ही प्रधान साधन स्वीकार किया गया । पांचरात्र-मत के उपासकों के लिए 'शरणागति' केवल मानसिक भावना ही न रह कर, उसका व्यावहारिक जीवन में विधिवत् अनुष्ठान करना भी अनिवार्य बन गया । इस मत के इस रूप के कारण 'भक्ति' ने एक लोकधर्म का स्वरूप धारण कर लिया । और

'शरणागति' की इसी भावना को लेकर परवर्ती आचार्यों ने भक्ति को विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दिया।

भक्ति-मार्ग के अवरोधक

भक्ति की धारा के विकास में अनेक विघ्न भी उपस्थित हुए। जैन, बौद्ध आदि मतों ने भक्ति के मूल स्रोत—वेदों का खण्डन करना आरम्भ कर दिया। इस खण्डन और विरोध का परिणाम वज्रयान, सहजयान आदि वाममार्गी सम्प्रदायों के रूप में सामने आया। ये सम्प्रदाय "लोकजीवन को विकृत आचरणों और आदर्शभ्रष्ट विकृत उपासना-मार्गों की ओर ले जा रहे थे।" शंकराचार्य ने इस स्थिति को समझा और इन सम्प्रदायों का विरोध करने के लिए "एक ओर प्राचीन औपनिषदिक धर्म की पुनः स्थापना की; दूसरी ओर वेद-विरोधी विचार-धारा के नाम पर पनपने वाले कुतर्क-मूलक आवेग को रोक कर प्रबल आध्यात्मिक दर्शन का प्रतिपादन किया।"[1]

अद्वैतवाद

शंकराचार्य का अद्वैतवादी दर्शन उपर्युक्त विकृतियों के बढ़ाव को रोकने में तो समर्थ हुआ, परन्तु अपने अत्यन्त उच्च दार्शनिक विचारों और उनकी जटिलता के कारण जन-मानस को प्रभावित करने में असमर्थ रहा। वह आचार्यों के वाद-विवाद की वस्तु ही अधिक बन सका। साधारण भावुक भक्त-हृदय शंकर के अद्वैत-सिद्धान्त में कोई अवलम्बन न पा सका। फिर भी इस सिद्धान्त ने इतना प्रभाव डाला कि अनेक आचार्य दार्शनिक दृष्टि से उसका खण्डन करने के लिए उठ खड़े हुए। उन वैष्णव आचार्यों ने, जिनमें अधिकांश दक्षिण भारत के थे, अपने भक्ति-प्रधान सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए संगठित रूप से आन्दोलन चलाया, जिसका प्रभाव हिन्दी-क्षेत्र और साहित्य पर बहुत गहरा और व्यापक पड़ा।

वैष्णव आचार्यों द्वारा अद्वैतवाद का खंडन

इन वैष्णव आचार्यों ने अपने भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए अद्वैत-वाद का खण्डन करते हुए अनेक सम्प्रदायों की स्थापना की। इन आचार्यों में सर्वप्रथम स्थान तमिलनाड के आचार्य नाथमुनि का माना जाता है, जो नवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए थे। उन्होंने विशिष्टाद्वैत मत के दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन कर आलवार भक्तों के लिए दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। भक्ति-प्रधान वैष्णव मत के इस संगठन में आगे चलकर यामुनाचार्य ने बहुत बड़ा काम किया। उन्होंने पांचरात्र के सिद्धान्तों तथा 'शरणागति' के तत्त्वों का विशद एवं मार्मिक विवेचन किया। इन दोनों भक्त-आचार्यों द्वारा निर्मित पृष्ठभूमि के आधार पर 'श्री वैष्णव मत' को सुव्यवस्थित रूप देने एवं इसका देशव्यापी प्रचार करने का सर्वाधिक श्रेय आगे चलकर श्री रामानुजा-

---

१. हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय।

चार्य को ही मिला। उन्होंने श्री सम्प्रदाय अथवा विशिष्टाद्वैत-मत की स्थापना की तथा इस मत के दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया।

विशिष्टाद्वैत

अद्वैतवाद के अनुसार जीव और ब्रह्म एक हैं। जीव ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है। और ब्रह्म के ही समान मुक्त तथा स्वप्रकाश है। संसार भ्रम, अतः माया है। रामानुज ने शंकर के इस मायावाद का खंडन करते हुए ब्रह्म की एकता को अद्वितीय नहीं माना बल्कि ब्रह्म को चिन्मय आत्मा तथा जड़-प्रकृति से विशिष्ट घोषित किया। उन्होंने ब्रह्म के तीन गुण माने। साथ ही जीव और ब्रह्म की व्याख्या करते हुए बताया कि जीव न ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, और न नित्य मुक्त ही। जीव ब्रह्म से निर्गत होने के कारण उसी का अंश है। जीव और जगत अनित्य न होकर नित्य तथा स्वतन्त्र हैं और ईश्वर के आधीन हैं। ईश्वर जीव का नियामक है। जीव की मुक्ति ईश्वर पर ही अवलम्बित है। शंकर के अनुसार 'अविद्या' जीव के बन्धन का एकमात्र कारण है और यह बन्धन ज्ञान द्वारा ही काटा जा सकता है। अज्ञान का नाश होते ही मुक्त आत्मा अपने स्वरूप में प्रकाशित होता है। परन्तु रामानुज उपासना द्वारा ही जीव की मुक्ति सम्भव मानते हैं। उन्होंने अपने श्री-सम्प्रदाय में एकमात्र विष्णु की अराधना का विधान कर मानव को भक्ति का अधिकारी घोषित कर दिया। उन्होंने ज्ञान को मुक्ति का साधन न मान, केवल भक्ति को ही माना। रामानुज के इस सम्प्रदाय का उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलनों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा।

द्वैतवाद

बारहवीं सदी में आकर मध्वाचार्य ने शंकर के अद्वैतवाद का तीव्र विरोध करते हुए रामानुज के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को भी अस्वीकार कर दिया और 'द्वैतमत' अर्थात् 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' की स्थापना की। इन्होंने भगवान और भक्त के पृथक् अस्तित्व को भक्ति की पहली शर्त माना। इनमें स्थायी अन्तर रहता है। रामानुज ने शंकर के अद्वैतवाद के साथ जो समझौता-सा कर लिया था, उसका मध्वाचार्य ने पूर्ण बहिष्कार कर दिया। इन्होंने श्रीहरि को अनन्त गुण परिपूर्ण, जगत को सत्य तथा जीव को श्रीहरि का किंकर माना। इन्होंने उपासना के दो प्रकार माने—शास्त्राभ्यास द्वारा और ध्यान द्वारा। शास्त्राभ्यास से अज्ञान दूर होता है और वस्तु-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर ही परम भक्ति की प्राप्ति हो सकती है। इस मत में भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्रदान कर उसे 'अमला भक्ति' अर्थात् सर्वथा दोष-रहित भक्ति कहा गया। यह भक्ति भगवान का अनुग्रह होने पर ही प्राप्त होती है। उत्तर भारत का गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय माध्व मत से प्रभावित रहा है।

द्वैताद्वैत

मध्वाचार्य से पूर्व निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतवाद की स्थापना की थी, जिसे 'सनक सम्प्रदाय' भी कहा जाता है। इन्होंने अद्वैतवाद का विरोध किया था।

इनके अनुसार जीव, जगत और ईश्वर भिन्न होते हुए भी जीव और जगत का अस्तित्त्व एवं व्यापार ईश्वर की इच्छा पर ही अवलम्बित रहता है। जीवात्मा अवस्था-भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। ईश्वर की कृपा से ही जीव को अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है। ब्रह्म अद्वैत, निर्विकार और अखंड है। ब्रह्म के निर्विकार रहते हुए भी माया के कारण उसका स्वाभाविक आनन्द अनन्त रूपों में प्रकट होता है। इनके अनुसार ब्रह्म के तीन रूप हैं—'पर अमूर्त्त' अर्थात् परम अक्षर तत्त्व, 'अपर-अमूर्त्त' अर्थात् सर्वदृश्य, और 'अमर अमूर्त्त' अर्थात् जीव रूप। इसी से इस मत को द्वैताद्वैत कहते हैं।

राधा का आविर्भाव

उपासना के क्षेत्र में द्वैताद्वैत मत श्री-सम्प्रदाय के भक्ति-योग के समान है। इसमें भी शरणागति पर विशेष बल दिया गया। "प्रपत्ति के द्वारा भगवद्-अनुग्रह जीवों पर होता है और इस अनुग्रह के फलस्वरूप भगवान के प्रति उत्कट प्रेम का आविर्भाव होता है, जिससे फिर भगवद् साक्षात्कार होता है।" इस मत में परम-उपास्य कृष्ण को माना गया है। मध्वाचार्य ही सम्भवतः पहले आचार्य हैं जिन्होंने अपने भक्तिमार्ग में राधा की उपासना का सर्वप्रथम विधान किया था। इसमें राधा का महत्त्व कृष्ण के समान ही रहा है। इस मत के उपासकों का विश्वास है कि—"क्रीड़ा के निमित्त एक ही ब्रह्म से दो विग्रह उत्पन्न हुए—राधा और कृष्ण।" इस मत के अनुसार—'प्रेम-लक्षणा अनुरागात्मिका परम भक्ति' ही साधना का चरम लक्ष्य है।

शुद्धाद्वैत

भक्ति के विकास में विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्त्तित उस दार्शनिक विचारधारा का विशेष महत्त्व है, जिसको आधार बनाकर बल्लभाचार्य ने अपने शुद्धाद्वैत मत का प्रचार किया था। इस मत के अनुसार—ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है और अपनी 'ह्लादिनी-संविद्' द्वारा 'आश्लिष्ट' है। माया ईश्वर के आधीन है। जीव अपनी अविद्या द्वारा क्लेश पाता है। वह आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी है और दुःख भी भोगा करता है। अतः ईश्वर और जीव में स्पष्ट भेद है।

विभिन्न वादों के पारस्परिक भेद

उपर्युक्त सभी आचार्यों ने शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए अपने-अपने सम्प्रदायों के दार्शनिक पक्षों का विवेचन किया था। इनमें परस्पर भेद होते हुए भी भक्ति के क्षेत्र में काफी समानता थी। इनके पारस्परिक भेदों को, संक्षेप में, डा० हिरण्मय के शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

"श्री-सम्प्रदाय की साधना-पद्धति पांचरात्र पर अधिक अवलम्बित थी और उसमें शरणागति अथवा प्रपत्ति पर जोर था। निम्बार्काचार्य के सनक-सम्प्रदाय की

प्रेम-लक्षणा भक्ति का मुख्य आधार राधाकृष्ण की उपासना थी, और वह हरिवंश-पुराण, विष्णु पुराण और महाभारत से प्रभावित थी। मध्वाचार्य की कृष्णोपासना और विष्णु-स्वामी की गोपालोपासना में मनोवेग के विस्तार के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। इसलिए आगे चलकर इसी कृष्णोपासना को अपना कर वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने उत्तरी भारत में भक्ति-आन्दोलन को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया जिसका प्रभाव परवर्ती सभी सम्प्रदायों पर पड़ा। जिस प्रकार आचार्य रामानन्द जी से प्रेरणा और शक्ति पाकर रामोपासना की सगुण और निर्गुण धाराएँ प्रवाहित हुईं, उसी प्रकार आचार्य वल्लभ और चैतन्य महाप्रभु से स्फूर्ति ग्रहण कर राधाकृष्ण की उपासना के विभिन्न रूप प्रकट हुए।"

भक्ति के विकास में अन्य विचारधाराओं का योग

(१) **सिद्धों का प्रभाव**—भक्ति के विकास में उक्त दार्शनिक विचारधाराओं के अतिरिक्त अन्य अनेक विचारधाराओं का भी पर्याप्त योग रहा है। बौद्धधर्म के परवर्ती रूपों—वज्रयान, सहजयान तथा पाशुपत मत, योग-परम्परा, सूफी मत आदि ने भी भक्तिधारा को कई नई बातें दीं। बौद्धों के वज्रयान में जब तंत्र-मंत्र का प्रभाव अधिक बढ़ा और फलस्वरूप भ्रष्टाचार का साम्राज्य बढ़ने लगा तो सिद्धों ने उन भ्रष्टाचारी सिद्धान्तों का खण्डन कर एक सहज-मार्ग का नारा बुलन्द किया। ये सिद्ध जीवन की सहज प्रवृत्तियों में विश्वास रखते थे। इसी कारण इनके सिद्धान्तों को 'सहज-मार्ग' कहा गया। इन सिद्धों ने हिन्दू, जैन तथा बौद्ध साधना-पद्धतियों का विरोध करते हुए 'सहज साधना' का प्रचार किया। ये लोग चित्तशुद्धि पर विशेष बल देते हुए सहजावस्था की उपलब्धि को ही परम पुरुषार्थ मानते थे। "उनके अनुसार बद्ध चित्त द्वारा बन्धन मिलता है और मुक्त चित्त द्वारा मुक्ति मिलती है। जब चित्त 'खसम' अर्थात् प्रकाश के समान शून्य रूप को धारण कर 'समसुख' अर्थात् सन्तुलित अवस्था में प्रवेश करता है, तब उसे किसी भी इन्द्रिय के विषयों का अनुभव नहीं होता।" इस प्रकार इन सिद्धों ने जीवन में सदाचार, चित्तशुद्धि तथा निर्मल चरित्र को बहुत महत्त्व देकर विभिन्न साधना-मार्गों में छाए भ्रष्टाचार, आडम्बर आदि का विरोध किया। कबीर आदि संत-कवियों पर इस 'सहजयान' का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था।

(२) **अद्वैतवाद का प्रभाव**—सन्तों पर अद्वैतवाद का भी काफी प्रभाव था। उनका ज्ञान और उपदेश अद्वैत पर आधारित है। सन्त-कवि माया की सत्ता और जीव-ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हैं। इस एकता में माया बाधक है। ज्ञान से इस माया का नाश किया जाता है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे विशिष्टाद्वैतियों की भक्ति-भावना को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उनकी द्वैत-भावना को नहीं। इन पर बौद्धों के शून्यवाद तथा सहजयानियों के सहज-मार्ग का प्रभाव सिद्धान्तों की इसी एकता के आधार पर स्पष्ट होता है।

(३) **सूफी प्रभाव**—सूफी मत के भावात्मक रहस्यवाद ने भी भक्ति-धारा को बहुत-कुछ प्रभावित किया है। नीरस ब्रह्मवाद पर सूफी प्रेम-भावना का प्रभाव पड़ने

से उसमें सरसता आ गई थी। हठयोगियों के नाथ पंथ का भी भक्तिधारा के सन्तों पर काफी प्रभाव था। उन्होंने हठयोग को ब्रह्म-प्राप्ति का साधन बना लिया था। परन्तु ये सारे प्रभाव गौण ही रहे। भक्ति की सरस धारा में इनका योगदान महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। भक्ति की धारा का वास्तविक विकास तो रामानन्द और वल्लभाचार्य के प्रयत्नों द्वारा ही हुआ था। और उसमें भी सगुण भक्तिधारा निर्गुण-भक्तिधारा की तुलना में अधिक प्रभावकारी और व्यापक रही। निर्गुण भक्तिधारा अपनी नीरसता के कारण साहित्य के सरस क्षेत्र को अधिक प्रभावित न कर सकी।

आगे चलकर सगुण भक्तिधारा अपने दो रूपों—'रामभक्ति' तथा 'कृष्णभक्ति' तथा उनके विभिन्न उप-सम्प्रदायों में विभक्त हो गई। विकास की दृष्टि से इन उप-सम्प्रदायों का महत्त्व गौण है क्योंकि ये भक्ति के मूल रूप को नहीं बदल सके। भक्ति का स्थूल रूप प्रारम्भ से लेकर आज तक लगभग एक सा ही रहा है। उसका साध्य वही रहा जो आरम्भ में था, साधनों में अवश्य थोड़े-बहुत भेद होते चले गए।

भगवद्-भक्ति की यह लहर दक्षिण से उठी और उत्तर की भक्ति-परम्परा से समन्वित हो सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गई। मध्यकालीन भारतीय साहित्य का मूल-स्वर भक्ति का ही रहा था। जिस समय हिन्दी-साहित्य भगवान की निर्गुण और सगुण भक्ति के स्वरों से गुँजरित हो रहा था, उस समय बँगला, तमिल, कन्नड़, मलयालम, पंजाबी, गुजराती, मराठी आदि साहित्यों का भी मूल स्वर इसी भक्ति का ही रहा था। इस प्रकार यह भक्ति-आन्दोलन एक ऐसा देशव्यापी धार्मिक और सांस्कृतिक नव-चेतना का उद्घोष बन गया था जिसने विखंडित हो रहे भारत को पुनः एकता के दृढ़ सूत्र में आबद्ध कर दिया था। इस काल का मूल कथ्य भक्ति ही रहा था। भक्ति का यह देशव्यापी प्रसार इतने सुव्यवस्थित और संगठित रूप में हुआ था कि इसके प्रभाव की चकाचौंध में पड़ अनेक देशी और विदेशी विद्वान् यह समझने में असमर्थ रहे कि भारतीय चिन्तन में यह नया चमत्कार एकाएक कैसे हो उठा था। इसके इसी रूप से प्रभावित और आश्चर्य चकित हो, डा० ग्रियर्सन ने लिखा था—

"कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है, उस भारी व्यवधान को लक्ष्य किए बिना नहीं रह सकता जो पुरानी और नई धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब अन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हें भारत-वर्ष ने कभी भी देखा है। यहाँ तक कि वह बौद्ध-धर्म के आन्दोलन से भी अधिक व्यापक और विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी विद्यमान है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति की नहीं हैं बल्कि जिनकी समता मध्ययुग के यूरोपिय भक्त बर्नर्ड ऑफ क्लेयरवक्स, टामस-ए-केम्पिन और सन्त थेरिसा से है।" और इस रहस्य का,

अपनी बुद्धि अनुसार, उद्घाटन करते हुए ग्रियर्सन आगे लिखते हैं—"बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक बात दिखाई दी। कोई भी हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चय नहीं कर सकता।" निष्कर्षत: ग्रियर्सन इसे ईसाई-भक्ति-भावना का प्रभाव मानते थे।

भारतीय भक्ति-आन्दोलन के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में ऐसी बचकानी, अनर्गल धारणा वही व्यक्ति बना सकता है जो भारतीय चिन्तन-परम्परा के विकास से परिचित नहीं होता। हम गत पृष्ठों में इस विकास की एक संक्षिप्त रूपरेखा और उसके मूल कारण का परिचय दे आए हैं। भक्ति-कालीन साहित्य के उदय और विकास को अच्छी तरह से समझने के लिए उन विभिन्न परिस्थितियों का ज्ञान भी आवश्यक है, जिन्होंने भक्ति-साहित्य के उदय और प्रसार में सहायता दी थी। इसलिए अब हम उन परिस्थितियों पर विचार कर लेना संगत समझते हैं।

भक्ति-कालीन विभिन्न परिस्थितियाँ

राजनीतिक परिस्थिति

हिन्दी-साहित्य में भक्ति-युग के उदय के समय तक; अर्थात् पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ तक उत्तर भारत में मुस्लिम-साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी। इससे पूर्व का युग भयंकर अराजकता का युग रहा था। मुसलमान निरन्तर आगे बढ़ते रहते थे और हिन्दू राजा इनका प्रतिरोध करते तथा स्वयं आपस में भी लड़ा करते थे। इसलिए शासन की व्यवस्था अस्त-व्यस्त रही। जब मुसलमानों का साम्राज्य जम गया और हिन्दू-राजा छुट-पुट प्रतिरोध करने तक ही सीमित रह गए तो मुसलमानों में परस्पर विग्रह आरम्भ हो गया। नवागत मुगलों और अफगानों में परस्पर ठनने लगी। इस समय तक मुसलमानों का सारा ध्यान और शक्ति भारत में अपना दृढ़ शासन स्थापित करने में ही लगी रही थी, इसलिए वे इस्लाम के प्रचार की ओर अधिक ध्यान नहीं दे पाए थे। कूटनीति उन्हें इस बात के लिए प्रेरित करती थी कि वे यहाँ के स्थायी निवासियों—हिन्दुओं से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर उनका सहयोग प्राप्त करने में सफल हो सकें। इसलिए वे लोग हिन्दू-राजाओं से सहयोग प्राप्त कर अपने ही सहधर्मी परन्तु भिन्न-जातीय मुस्लिम शासकों से युद्ध करते रहे। पठान शेरशाह सूरी और मुगल हुमायूँ का युद्ध इसका प्रमाण है। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि पन्द्रहवीं सदी या उसके बाद का उत्तर भारतीय इतिहास—शान्ति और चैन के युग का इतिहास है। इस युग में इतना अन्तर अवश्य आ गया था कि अराजकता की मात्रा में कमी आ गयी थी और मुस्लिम शासक देश में सुचारु शासन-व्यवस्था स्थापित करने की ओर अधिक ध्यान देने लगे थे। शासन-व्यवस्था सामन्ती ढाँचे की थी, इसलिए उसमें शक्ति शासकों के ही हाथ में रहती थी। प्रजा चाहे वह हिन्दू हो या

मुसलमान, पीड़ित और परेशान ही रहती थी । यहाँ इस सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है । भारत में हिन्दू-जनता पर अत्याचार उन्हीं मुस्लिम-आक्रान्ताओं ने अधिक किए थे जो भारत में केवल लूटमार करने के ही उद्देश्य से आते थे । परन्तु जो मुसलमान आक्रमणकारी यहाँ अपना शासन स्थापित करने के आकांक्षी थे, उन्होंने हिन्दू-राजाओं और जनता का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न ही अधिक किया था । भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में यह भ्रान्ति विदेशी, और विशेषकर अंग्रेजी इतिहासकारों द्वारा फैलाई गई थी कि यहाँ के मुस्लिम-शासकों ने हिन्दू-प्रजा पर भयंकर धार्मिक अत्याचार किए थे । इस अतिरंजित भ्रान्ति का ही यह परिणाम रहा है कि साधारणतः हर भारतीय हिन्दू यही समझता है कि मुसलमान-शासक भयंकर अत्याचारी और हिन्दू-धर्म के कट्टर शत्रु थे । हाँ, यह अवश्य सत्य है कि मुस्लिम फौज का साधारण सिपाही या छोटे-मोटे सरकारी अधिकारी स्वयं को शासक-जाति का अंग समझने के कारण हिन्दू-जनता पर अत्याचार करते रहते थे ।

दूसरी ओर हमें अनेक मुस्लिम-शासकों की धार्मिक सहिष्णुता, भारतीय कला और साहित्य के प्रति सम्मान और रुचि की भावना भी मिलती है । अकबर से लेकर शाहजहाँ तक उदार मुस्लिम-शासकों का युग रहा था । मुस्लिम-शासकों में विदेशीपन की भावना शुरू-शुरू में ही रही थी । अनेक पीढ़ियों तक भारत में रहने के उपरान्त अधिकांश मुस्लिम-शासक स्वयं को भारतीय समझने और मानने लगे थे और भारतीय कला, साहित्य आदि में गहरी रुचि रखने के कारण उनके सम्वर्द्धन का प्रयत्न करते रहते थे । इस सम्बन्ध में एक विद्वान् ने लिखा है—"बहुत से मुस्लिम शासकों ने संस्कृत तथा देशी भाषाओं के साहित्य, संगीत और कला को प्रोत्साहन दिया । कश्मीर के जैनुलाबुद्दीन के प्रोत्साहन से जोनराज ने संस्कृत में दूसरी 'राजतरंगिणी' लिखी । जौनपुर के सुल्तानों ने शास्त्रीय संगीत का पुनरुद्धार करवाया और 'संगीत-शिरोमणि' नामक ग्रन्थ संस्कृत में तैयार हुआ । हुसैन शाह बंगाला ने महाभारत और भागवत का बँगला में अनुवाद करवाया ।" इसके अतिरिक्त शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह द्वारा भारतीय पुराणों का फारसी में उल्था करवाया जाना लोक-प्रसिद्ध है ।

परन्तु इस ऐतिहासिक स्थिति का सही-सही मूल्यांकन न कर पाने के कारण ही हिन्दी के शुक्ल जी जैसे वरिष्ठ, विचारवान इतिहासकार भी भक्ति के उदय में मुस्लिम धार्मिक अत्याचारों को एक सबल कारण मानने की भूल कर बैठे थे । उन्होंने भक्तिकाल का सामान्य परिचय देते हुए लिखा है—

"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया । उसके सामने ही उसके देव-मन्दिर गिराए जाते थे, देवमूर्त्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे । ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत

न तो वे गा ही सकते थे, और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"

आचार्य शुक्ल का उपर्युक्त निष्कर्ष भ्रान्तिपूण है। हम भक्ति-काल का सामान्य परिचय देते हुए गत पृष्ठों में बता आए हैं कि भक्ति-आन्दोलन की प्रेरक—हिन्दू-समाज की आन्तरिक विकृतियाँ ही रही थीं। विदेशी शासकों के धार्मिक, अत्याचारों की प्रतिक्रिया स्वरूप उसका उदय नहीं हुआ था। अपनी वीरता के गीत न गा सकने की बात भी गलत है। हम अकबर के समय में अकबर के ही दरबार में रहने वाले पृथ्वीराज को महाराणा प्रताप का यश गाते हुए सुनते हैं, और औरंगजेब के समय में भूषण शिवाजी और छत्रसाल जैसे हिन्दू-उद्धारकों का यश-गान करते रहे थे। दूसरी बात यह कि हम किसी भी भक्त-कवि को इस्लाम, मुस्लिम शासकों के अत्याचार आदि का उल्लेख करते हुए नहीं पाते। 'सन्तन कहा सीकरी काम' कहने वाले राज्य-प्रभाव और आतंक से मुक्त रहने वाले साहसी कवि इन अत्याचारों का अवश्य विरोध करते, यदि ये अत्याचार विशाल परिमाण में हुए होते। कबीर जैसे अक्खड़ कवि ने हिन्दू-मुसलमानों के केवल धार्मिक ढोंग पर ही आघात किया है। तुलसी जैसे जागरूक, राजनीतिक दृष्टि-सम्पन्न मेधावी कवि भी राजाओं की पतितावस्था और प्रजा के दुखों का ही वर्णन करते हैं। जैसे—

"वेद धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए।
साधु सीद्यिमान जान रीति पाप पीन की।"

ऐसे कवि दैवी प्रकोपों, अकाल आदि का उल्लेख तो अवश्य करते हैं, जैसे—

'कलि बारहि बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।'

परन्तु विधर्मी शासकों के धार्मिक अत्याचारों का कहीं भी उल्लेख नहीं करते। इसलिए यह कहना गलत है कि निराश और हताश हिन्दू जनता अपनी रक्षा के लिए भगवान की शरण में गई थी।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है भक्ति-काव्य का चरम विकास हमें मुगल साम्राज्य के समय में ही होता हुआ मिलता है। अकबर से लेकर शाहजहाँ तक का समय अपेक्षाकृत अधिक शान्तिपूर्ण और सुशासित रहा था। और हम इसी काल में भक्ति का चरम उत्कर्ष पाते हैं। इसलिए इस बात को दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि भक्ति का उद्भव राजनीतिक और धार्मिक अत्याचारों की प्रतिक्रिया-स्वरूप नहीं हुआ था। इसके लिए तो सैकड़ों वर्षों से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे। हम भक्ति के इस चरम उत्कर्ष-काल में एक नई बात और देखते हैं, जो यह सिद्ध कर देती

है कि मुसलमानों द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों की कल्पना कितनी थोथी और सारहीन है। इस युग में अवतार को मानने वाली दृष्टि में परिवर्तन हो चुका था। पूर्व विश्वास के अनुसार भगवान साधुओं के परित्राण और दुष्टों के दमन के लिए अवतार धारण करते थे, परन्तु भक्ति के इस युग तक आते-आते यह विश्वास किया जाने लगा था कि—"भगवान के अवतार का मुख्य हेतु—भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला का विस्तार करना ही है। भक्त भगवान के चरित्र का अनुशीलन किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, भक्ति पाने के उद्देश्य से ही करते हैं। भागवत का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'एकान्तिक भक्ति' ही है। कैवल्य या अपुनर्भव को भी भक्त उसके सामने तुच्छ समझता है। मध्यकाल के भक्तिमार्ग में इसी एकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है।"

तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में सभी से राम की भक्ति की ही याचना की है। उन्होंने राम से यही याचना की है कि यह कलिकाल मुझे बहुत सताता रहता है, इसलिए इससे मेरी रक्षा करिए। उन्होंने यह कहीं नहीं कहा कि भारत भूमि विधर्मी मुसलमानों द्वारा त्रस्त है, इसलिए उनसे इस पवित्र भूमि की रक्षा कीजिए।

इस काल में वीरगाथाओं का अभाव इस कारण रहा है कि जब हिन्दू राजा पराजित हो चुके थे तो कविगण फिर किसकी वीरता का गान करते। वैसे आरम्भिक-काल में भी हमें वीरगाथाओं की प्रचुरता नहीं मिलती, जब कि भारत पर मुस्लिम-आधिपत्य स्थापित नहीं हो पाया था। वीर गाथाओं की तो अपनी एक लम्बी परम्परा रही है जो 'पृथ्वीराज रासो' से लेकर आधुनिक 'हल्दीघाटी' तक प्रवाहित होती चली आई है। उस वीर-भावना का पूर्ण आधिपत्य आरम्भ से लेकर आज तक कभी भी नहीं रहा है।

सामाजिक परिस्थिति

सामाजिक क्षेत्र में हिन्दुओं की जाति-पाँति, ऊँच-नीच की भावना वही थी, जो कई सदियों पूर्व से चली आ रही थी। और ऊँच-नीच की इसी भावना ने उस धार्मिक विद्रोह को जन्म दिया, था जो आरम्भ में कबीर आदि निर्गुण भक्तों की वाणी में गुँजरित हो उठा था। हिन्दुओं का उच्च वर्ग अहंकारी और विलासी था। सामन्ती-व्यवस्था में सदैव यही होता आया है। अमीर अत्याचार करते हैं और गरीब अत्याचार सहते हैं। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि कबीर, तुलसी आदि सामाजिक दृष्टि से जागरूक कवियों ने कहीं भी इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। तुलसी ने अवश्य इसके प्रति संकेत किया है कि राजा जब अत्याचारी हो जाता है तो प्रजा के कष्टों की सीमा नहीं रहती। कबीर आदि ने धार्मिक ढोंगों और आडम्बरों का ही अधिक उल्लेख किया है। इससे यह प्रकट होता है कि उस युग में धर्म पर ब्राह्मण का आधिपत्य था और उसने धर्म की आड़ में समाज के निम्नवर्ग को सताने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। यह स्थिति केवल हिन्दू-धर्मध्वजों की ही अकेली नहीं थी, बल्कि

इस्लाम में भी यह धार्मिक आडम्बर प्रवेश कर चुका था। इसी कारण कबीर ने इस धार्मिक मक्कारी के लिए हिन्दू-मुसलमान—दोनों को ही समान रूप से फटकारा था।

इसमें सन्देह नहीं कि मुस्लिम-शासन में हिन्दू जनता को काफी कष्ट भोगना पड़ता था। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। फिरोजशाह तुग़लक के समय में एक विदेशी यात्री **बर्नियर** यहाँ आया था। उसने हिन्दुओं की दीन आर्थिक स्थिति का चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा था—"उन हिन्दुओं के पास धन संचित करने के कोई साधन नहीं रह गए थे और उनमें से अधिकांश को निर्धनता, अभावों एवं आजीविका के लिए निरन्तर संघर्ष में जीवन बिताना पड़ता था। प्रजा के रहन-सहन का स्तर बहुत निम्नकोटि का था। करों का सारा भार उन्हीं पर था। राज्य-पद उनको अप्राप्त थे।" मुस्लिम शासक अपने धर्मावलबियों को हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक प्रश्रय देते थे, इसमें सन्देह नहीं। अलाउद्दीन खिलजी दुआब के हिन्दुओं से उनकी उपज का आधा भाग वसूल कर लेता था। परन्तु हिन्दुओं पर होने वाले इन अत्याचारों का युग मुगल-काल के पूर्व का ही रहा था। शेरशाह और मुगल-शासकों के युग में कानून और न्याय की दृष्टि से हिन्दू-मुसलमानों में कोई भेद-भाव नहीं किया जाता था। धार्मिक उन्माद से अन्धे बने औरंगजेब ने ही हिन्दुओं पर 'जजिया' नामक कर लगाया था, अन्य मुगल-शासकों ने नहीं।

राजशक्ति द्वारा किया जाने वाला यह धार्मिक पक्षपात हमेशा से होता आया है। शासक स्वधर्म वालों को हमेशा अन्य धर्म वालों की अपेक्षा तरजीह देते रहे हैं। अंग्रेजों के जमाने में भी हिन्दू-मुसलमानों की अपेक्षा ईसाइयों को अधिक प्रश्रय दिया जाता रहा था। धार्मिक-राज्य पाकिस्तान में आज भी विधर्मी हिन्दुओं को द्वितीय श्रेणी का नागरिक माना जाता है और शासन-तंत्र में उन्हें कोई भी उच्च पद नहीं प्रदान किया जाता। परन्तु मुगल-युग में हम भेद-भाव की यह प्रवृत्ति नहीं पाते। मुगल-साम्राज्य में हिन्दू प्रधान-सेनापति तक बनाए गए थे। राज-दरबार में हिन्दू-कलाकारों को वही सम्मान प्राप्त था जो मुस्लिम-कलाकारों का होता था। इस दृष्टि से हम मुगल-काल को बहुत उदार-काल पाते हैं। उसमें धार्मिक या सामाजिक संकीर्णता का वह घिनौना रूप नहीं मिलता, जो उनके पूर्ववर्ती और कतिपय परवर्ती शासकों के काल में रहा था।

भक्ति-काल के प्रथम चरण में हम सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होता हुआ पाते हैं। मुगल-पूर्व युग के मुस्लिम शासक, सामन्त और उनके अधीनस्थ कर्मचारी अवश्य अत्याचारी थे। हिन्दू शासित थे, इसलिए शासक-जाति के लोग उन्हें हीन समझ उन पर अत्याचार करते थे, उनकी बहू-बेटियों का अपहरण करते रहते थे। बलात् धर्म-परिवर्तन भी होता रहता था। मुस्लिम-शासकों के यहाँ हजारों औरतों वाले हरम रहते थे, जिनमें चुन-चुन कर सुन्दर युवतियों को इकट्ठा किया जाता था।

इस स्थिति से त्रस्त हो हिन्दुओं ने सामाजिक रूप से अपने को संकुचित दीवारों में घेरना प्रारम्भ कर दिया। मुस्लिम शासकों की नजरों से अपनी स्त्रियों को बचाने के लिए पर्दा-प्रथा को अपनाया और फिर बाल-विवाह होने आरम्भ हो गए। हिन्दुओं ने सामाजिक दृष्टि से मुसलमानों को अपने से दूर रखने में ही अपना कल्याण समझा। इससे खान-पान, छुआछूत के बन्धन और कठोर हो गए। और कालान्तर में इन कठोर सामाजिक बन्धनों ने स्वयं हिन्दू जाति को सामाजिक दृष्टि से अत्यधिक संकीर्ण बना दिया। उनके आपसी जाति-भेद ने और उग्र रूप धारण कर लिया। धर्म के द्वार विधर्मियों और स्वधर्मी निम्न-जाति के लिए बन्द कर दिए गए। कबीर में हम हिन्दुओं की इस सामाजिक संकीर्णता का स्पष्ट विरोध होता हुआ देखते हैं।

दो भिन्न संस्कृतियों का टकराव

हम इस युग के सामाजिक क्षेत्र में दो परस्पर भिन्न संस्कृतियों और विचार-धाराओं का स्पष्ट संघर्ष देखते हैं कि हिन्दू-संस्कृति अपनी पूर्णता और प्राचीन पर-म्परा का दम्भ लिए अपनी अस्तित्व-रक्षा का प्रयत्न कर रही थी; और दूसरी ओर नवीन धार्मिक उन्माद से ओत-प्रोत मुस्लिम-संस्कृति उस पर हावी होना चाह रही थी। इससे हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर घृणा-भाव बढ़ रहा था। अपनी रक्षा की भावना ने हिन्दुओं के सामाजिक बन्धनों को दृढ़ और संकीर्ण बना दिया था। इस-लिए इस सामाजिक संकीर्णता के आवरण में धार्मिकता गौण हो गई थी। उस युग के प्रतिभाशाली सन्त-कवियों को यह संकीर्णता अखरी। उन्होंने आध्यात्मिकता के बल पर, जिसमें शास्त्रों का बन्धन स्वीकार्य नहीं था, इस संकीर्णता का डट कर विरोध किया। और इसी के लिए कबीर ने एक नवीन सांस्कृतिक चेतना का पौरो-हित्य स्वीकार कर विरोध के स्वर को तीखा बना दिया। यद्यपि इस चेतना का आदि-स्रोत नया नहीं था।

बौद्ध धर्म के उदय के साथ ही उच्चवर्गीय सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक संकीर्णताओं का विरोध होना प्रारम्भ हो गया था। रूढ़ि और प्रगति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के साथ उदार और संकीर्ण होती हुई विद्रोह की यह लहर जन-जीवन के साथ बहती चली आई थी। कबीर ने इस विद्रोही भावना में आत्म-विश्वास की दृढ़ता का मंत्र फूँका, उसे संकीर्णताओं से मुक्त किया, हीनता की भावना को दूर कर उसे समता की दृष्टि प्रदान की। इस प्रकार विशुद्ध मानवता और सामाजिक-न्याय की भावना के आधार पर एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ जिसमें सभी प्रकार के आडम्बरों का उन्मूलन कर, सभी को उसके क्रोड़ में समेट लेने की तीव्र आकांक्षा थी। सन्त-कवियों के इस पुनीत कार्य में मुस्लिम सूफी कवियों ने भी पर्याप्त योग दिया। इन दोनों ने मिलकर हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति तथा धार्मिक भावना में सन्तुलन और समन्वय लाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। इनके इस नवीन ऐतिहासिक प्रयास के कारण हिन्दू-मुस्लिम विचारधाराओं के सम्मिलन से निर्गुण उपासना की एक ऐसी नवीन पद्धति को जन्म मिला जो सब के लिए समान रूप से ग्राह्य थी, और

जो अनेक प्राचीन और नवीन धार्मिक मत-मतान्तरों, वादों और विचारधाराओं को अपने भीतर समेट कर आगे बढ़ी थी।

और कबीर आदि के इस शुभ प्रयास का गहरा प्रभाव हमें परवर्ती मुगल-काल में दिखाई पड़ा। हिन्दू और मुसलमान परस्पर, एक-दूसरे के प्रति उदार होने लगे थे। दोनों एक-दूसरे की संस्कृति को अपनी संस्कृति के साथ मिलाने में संकोच नहीं करते थे। मुगल-कालीन वास्तु, चित्र, संगीत आदि कलाओं में हम इन दोनों संस्कृतियों का मिला-जुला रूप पाते हैं। साहित्य के क्षेत्र में भी समन्वय की यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। और इसी समन्वय का यह परिणाम निकला कि मुगल-शासक धार्मिक दृष्टि से काफी उदार बन गए थे। सांस्कृतिक विकास की इस प्रक्रिया को न समझ पाने के कारण ही कुछ लोग सम्पूर्ण मुस्लिम-शासन-काल को धार्मिक और सामाजिक अन्याय-अत्याचारों का युग मान बैठे हैं और हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों को नितान्त भिन्न समझ उनके प्रति अनुदार दृष्टिकोण रखते आए हैं।

इस सांस्कृतिक समन्वय का दूरगामी परिणाम हम उस समय देखते हैं, जब सन् १८५७ में हिन्दू-मुसलमान—दोनों मिलकर विदेशी अंग्रेजों के खिलाफ उठ खड़े हुए थे। और सन् १९२०–२५ तक हम हिन्दू-मुसलमानों में संस्कृति के आधार पर पार्थक्य की कोई विषम भावना नहीं पाते। हिन्दू-मुस्लिम एकता के इस रूप से त्रस्त होकर ही, आगे चलकर, अंग्रेज ने उन्हें दो नितान्त भिन्न संस्कृतियाँ घोषित कर उनमें फूट डाल दी थी और उस फूट का परिणाम – पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के रूप में हमें भुगतना पड़ा।

धार्मिक परिस्थिति

भक्ति-काल के आरम्भिक-युग की सामान्य धार्मिक स्थिति अनेक मतों, सम्प्रदायों, और धर्मों के परस्पर विरोधी रूपों से आक्रान्त थी। एक ओर हम सिद्धों-नाथों की विचारधाराओं से प्रेरित विभिन्न सम्प्रदायों को, परम्परागत वैदिक धर्म की अवहेलना करते और योग-सिद्धि के चमत्कारों द्वारा जनता को प्रभावित करने का प्रयत्न करते देखते हैं। दूसरी ओर वैष्णवों, शैवों और शाक्तों में व्याप्त असहिष्णुता और विरोध की भावना पाते हैं। इसके साथ ही हम इस्लाम के विद्रोही सूफियों को एक ऐसे धर्म या उपासना-मार्ग का प्रवर्त्तन करते हुए देखते हैं जो धर्म के सम्पूर्ण बाह्य परिधानों को एक ओर हटा, केवल प्रेम द्वारा ईश्वर की उपासना करने में आस्था रखता है। अब तक हम इन तीनों प्रकार की धार्मिक भावनाओं को एक-एक कर विस्तारपूर्वक समझने और समझाने का प्रयत्न करेंगे।

बौद्ध-धर्म यद्यपि सामाजिक-न्याय की माँग लेकर जनता के सामने आया था, परन्तु आगे चलकर परम्परागत वैदिक धर्म के प्रभाव से अपने को मुक्त रखने में असमर्थ रहा। इस प्रभाव के फलस्वरूप उसके दो विभाग हो गए—हीनयान और महायान। हीनयान धर्म की दार्शनिक व्याख्या करने में ही व्यस्त रहा, इसलिए अपनी

दार्शनिक जटिलता के कारण धीरे-धीरे जनता से दूर होता चला गया। उसकी चिन्तन-पद्धति पर औपनिषदिक चिन्तन-पद्धति का गहरा प्रभाव रहा, इसलिए वह विद्वानों तक ही सीमित होकर रह गया। इसके विपरीत महायान धर्म के व्यावहारिक पक्ष को अपना कर आगे बढ़ा। महायान ने धर्म के द्वार को सबके लिए उन्मुक्त कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि इसमें दीक्षित होने वालों में उन लोगों की संख्या अधिक बढ़ गई जो असंस्कृत, अशिक्षित और निम्न श्रेणी के थे। और ऐसा हो जाने पर धर्म का सच्चा रूप तो तिरोहित हो गया तथा उसके स्थान पर नाना प्रकार के जन्त्र-मन्त्र, अभिचार, वशीकरण आदि के द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले चमत्कारों का प्राबल्य बढ़ा। अपने मूल रूप में यह तान्त्रिक साधना ब्रह्म-साधना ही थी, परन्तु साधारण जनता इसके चमत्कारों से ही चमत्कृत हो, इसके प्रति आर्कषित हुई। तन्त्र-मन्त्र की प्रधानता रहने के कारण महायान को 'मन्त्रयान' भी कहा गया। वस्तुतः यह मन्त्रयान वाममार्गी साधना का ही दूसरा नाम था। इन्द्रिय-साधना के नाम पर इसमें सांसारिक भोगों की अतिशयता द्वारा उनके प्रति विरक्ति-भावना उत्पन्न करने का सिद्धान्त प्रमुख माना गया। इसीलिए इसमें नारी, मद्य, मांस आदि के अबाध भोग को प्रमुख मान्यता मिली। इसका दूरगामी परिणाम यह निकला कि वाम-मार्ग व्यभिचार, उन्मुक्त विलास और सांसारिक भोगों का आश्रय-स्थल बन गया। नारी-भोग के अभाव में यह वाममार्गी साधना अधूरी मानी जाने लगी।

इस वाममार्गी साधना के दो रूप रहे। सिद्ध-साधक इसका उपयोग निर्वाण-प्राप्ति के लिए ही करते थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में महाबाराह की उपासना के रूप में इसका विस्तृत, प्रभावशाली वर्णन किया है। इसका दूसरा रूप उन ढोंगी साधकों की साधना के रूप में समाज पर घिनौना प्रभाव डाल रहा था, जो इसकी आड़ में नारी-भोग और जिह्वा-भोग को ही अपनी चरम साधना का रूप प्रदान करते रहते थे। इसी मंत्रयान का विकसित रूप वज्रयान के रूप में दिखाई दिया। चौरासी सिद्ध इसी वज्रयान में दीक्षित हुए थे। इन सिद्धों ने चमत्कार प्रिय तान्त्रिक साधना का विरोध कर, व्यक्तिगत साधना के बल पर धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति का बीजारोपण किया। इन सिद्धों में सरहपा, चूणिया, करेड़िया आदि को प्रमुख माना जाता है। और कुछ लोग इन्हीं को हिन्दी का आदि-कवि भी मानते हैं क्योंकि इनकी वाणी में हमें जनभाषा हिन्दी का उभरता हुआ रूप मिल जाता है, यद्यपि इनकी भाषा का मूल ढाँचा अपभ्रंश का ही रहा है।

कालान्तर में सिद्धों की यह वाममार्गी साधना-पद्धति भी विकृतियों का शिकार बन गई। इस साधना-पद्धति में भी भोगों की अतिशयता द्वारा विरक्ति उत्पन्न होने का सिद्धान्त प्रधान रहा। इसलिए इसमें भी व्यभिचार का प्राधान्य हो जाना स्वाभाविक था, और वही हुआ भी। इसलिए कालान्तर में नाथ-पंथियों ने इसके शुद्धीकरण का नारा बुलन्द किया, और जीवन की पवित्रता को प्रधान महत्त्व देते हुए नारी को

सर्वथा त्याज्य घोषित कर दिया गया। गोरखनाथ इस नवीन, पवित्रता-प्रधान साधना-पद्धति के प्रवर्त्तक माने जा सकते हैं। 'जाग मछिन्दर गोरख आया' तथा 'गोरख जगायो जोग, भक्ति भगायो भोग' जैसी पंक्तियों में धार्मिक क्षेत्र में की गई उस नवीन क्रान्ति का स्वर स्पष्ट हो उठा है जिसने धर्म के क्षेत्र से भोग और आडम्बर का पूर्ण बहिष्कार करने का बीड़ा उठाया था। किम्वदन्ती है कि गोरखनाथ ने नारियों के चंगुल में फँसे अपने गुरु मछन्दर नाथ (मत्स्येन्द्र नाथ) का उद्धार किया था। यह किम्वदन्ती इस सत्य का उद्‌घाटन करती है कि नाथ-पंथी-साधकों ने सम्पूर्ण प्रकार के भोगों का बहिष्कार कर जीवन की शुद्धता का प्रतिपादन किया था। ये नवीन साधक हठयोग द्वारा शरीर और मन का संयमन कर शून्य-ब्रह्म की साधना करने में आस्था रखते थे। इन लोगों ने वाममार्गी भोग-प्रधान साधना-पद्धतियों का बहिष्कार कर एक ऐसी सात्त्विक साधना का प्रवर्त्तन किया, जिसने हिन्दी के सन्त-कवियों को गहरे रूप से प्रभावित किया था। हमारा अनुमान है इन कि लोगों के इस सात्त्विक प्रभाव के कारण ही कबीर आदि की भक्ति-मार्गी साधना-पद्धति विकृतियों से बची रही थी।

वैष्णव-भक्ति का रूप—उस युग में वैष्णव-भक्ति भी उत्तर भारत में अपना प्रभाव बनाए हुए थी। यहाँ की जनता विष्णु के विविध अवतारों में आस्था रखती थी। उपनिषदों से पूर्व उपास्य की केवल 'पूजा' की जाती थी। इस पूजा में 'उपासना' की भावना नहीं थी; क्योंकि उपासना किसी स्वरूप की ही की जाती है। इसी 'उपासना' की स्थापना करने के लिए भक्ति-भावना का जन्म हुआ था; क्योंकि उपासना की भावना 'पूजा' की भावना से अधिक व्यापक, गहन, उदात्त और परिष्कृत होती है। इसमें व्यक्तित्व और हृदय का योग रहता है। इसी कारण इसे कर्म से श्रेष्ठ माना गया। कर्म के साथ मन के इस योग में बोध-वृत्ति और रागात्मिका-वृत्ति—दोनों का ही योग रहता है; अर्थात् उसमें ज्ञान और उपासना, बुद्धि-तत्त्व और हृदय-तत्त्व—दोनों का मेल रहता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"जहाँ से कर्म में हृदय-तत्त्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई, वहीं से भक्ति-मार्ग का आरम्भ मानना चाहिए।" और यहीं से व्यक्ति के सुख की कामना के साथ-साथ, लोक-कल्याण की भावना का प्रचार बढ़ा।

गीता में निष्काम कर्म तथा कर्म, ज्ञान और उपासना के समन्वय पर अधिक बल दिया गया। कर्म वही श्रेष्ठ माना गया जो लोक की रक्षा, पालन एवं रंजन की दृष्टि से किया जाय; अर्थात् इसमें लोक-कल्याण की भावना का प्राधान्य रहा और इसकी साधना के लिए ब्रह्म के सगुण रूप को स्वीकार किया गया। इस सगुण रूप की अभिव्यक्ति लोक की रक्षा, पालन और रंजन करने वाले रूप में हुई। अतः उपास्य के रूप में नारायण या वासुदेव को स्वीकार कर लिया गया। अहिंसा को भागवत अर्थात् वैष्णव धर्म का प्रधान लक्षण—लोक-कल्याण की भावना के कारण ही माना

गया । ब्रह्म के इस स्वीकृत सगुण रूप में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण—दोनों ही रूप समाहित थे । ब्रह्म के इस समन्वित रूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना असम्भव था । ज्ञान-मार्ग की सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने का दम्भ इसी कारण अधिक प्रचार न पा सका ।

गीता में भगवान के जिस उपास्य रूप की स्थापना की गई थी, वह लोकरक्षा और लोकमंगल करने वाली धर्म-शक्ति का स्वरूप था। उसमें शक्ति, शील, सौन्दर्य और ऐश्वर्य का समन्वित रूप था । अवतार का हेतु इसी कारण लोक में धर्म की स्थापना करना माना गया था । आगे चलकर गीता के इस भक्तिमार्ग से लोकधर्म-पक्ष या कर्मपक्ष हटता गया और कालान्तर में ऐसे माधुर्यपूर्ण उपास्य को अपनाया जाने लगा जो अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम का आलम्बन हो सके । भगवान के लोक-रक्षक गुण तिरोहित होने लगे । श्रीमद्भागवत में भगवान के इसी माधुर्य रूप की प्रतिष्ठा की गई । इससे भक्ति के क्षेत्र में एक नया द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ ।

गीता में भक्ति का रूप ज्ञान-समन्वित था । वहाँ मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान द्वारा मानी गई और भक्ति को ज्ञान-प्राप्ति का साधन । परन्तु भागवत में भक्ति को सर्वोपरि प्रधानता प्रदान कर उसे साधन न मान, साध्य माना गया; अर्थात् भक्त मोक्ष की कामना न कर, केवल भक्ति-प्राप्ति करने की ही कामना करने लगे । तुलसी ने 'विनय-पत्रिका' में केवल भक्ति की ही याचना की थी । परन्तु यहाँ एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि—'क्या ज्ञान के बिना भी भक्ति सम्भव है ?' इसका उत्तर उपनिषदों में मिल जाता है । वहाँ पहले ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का ज्ञान करा कर, तब उपासना का मार्ग खोला गया था । जब ज्ञान द्वारा जाने गए ब्रह्म के स्वरूप की ओर हृदय आकर्षित होता है, तभी जीवन की सच्ची साधना आरम्भ होती है । ज्ञान द्वारा जाना हुआ ब्रह्म का स्वरूप जैसा होगा, उस स्वरूप का भक्त वैसे ही स्वरूप को प्राप्त होगा। इसी कारण भक्ति-मार्ग के विभिन्न आचार्य ज्ञानी और भक्त—दोनों ही थे । तुलसी ने ज्ञान और भक्ति में जो किसी प्रकार का विरोध नहीं माना, उसका यही रहस्य था । क्योंकि उपास्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा तत्त्व-चन्तन या ज्ञान की प्रकृत-पद्धति द्वारा ही हो सकती है और भक्ति उपास्य के उसी स्वरूप की जाती है, इसलिए ज्ञान के बिना भक्ति अधूरी है । सूर और तुलसी भक्त और विद्वान्—दोनों ही थे । इसी कारण वे भक्ति का वह स्वरूप प्रस्तुत करने में सफल हुए, जहाँ कबीर आदि को असफलता ही हाथ लगी थी ।

आचार्यों ने भक्ति के स्वरूप की स्थापना कर, यह भी बताया कि भक्ति की प्राप्ति किन साधनों द्वारा सम्भव होती है । सभी ने सन्त-समागम, गुरु, शास्त्राभ्यास, आदि को भक्ति की प्राप्ति के लिए आवश्यक माना; परन्तु साथ ही यह शर्त भी लगा दी कि ये सारे साधन भगवान की अनुकम्पा होने पर ही सुलभ होते हैं । कुछ भक्तों ने 'गुरु' को भक्ति-साधना का प्रधान अंग माना और कुछ ने तो गुरु को ही साक्षात्

परब्रह्म मान उसी की उपासना की। उपनिषदों में भी गुरु-भक्ति को परमात्मा की भक्ति के तुल्य माना गया था। गुरु को माता, पिता तथा साक्षात् ईश्वर तक बताया गया। भक्ति-साधना में—चाहे वह निर्गुण की हो अथवा सगुण की, गुरु की महिमा सर्वोपरि रही है। गुरु-कृपा के बिना ईश्वर-भक्ति की प्राप्ति असम्भव मानी गई।

परन्तु भक्ति का यह मार्ग इतना सरल नहीं माना गया, जितना कि ऊपर से दिखाई देता है। इसी कारण भक्ति-साधना के मार्ग में आने वाले अनेक प्रकार के विघ्नों का उल्लेख कर उनसे सावधान रहने की चेतावनी दी गई। दुष्टों की संगति, विषयों में आसक्ति, दम्भ, वाद-विवाद आदि इस मार्ग के बहुत बड़े विघ्न माने गए। यहाँ तक कि फल की आशा करना भी भक्ति-मार्ग में बाधक माना गया। आचार्यों ने एक स्वर से भगवद् प्राप्ति का सर्वाधिक सरल मार्ग भक्ति ही माना। इसकी तुलना में अन्य साधना-मार्ग इतने जटिल, दुरूह और लम्बे होते हैं कि उन पर चलते समय लक्ष्य से भटक जाना सम्भव है। परन्तु भक्तिमार्ग के पथिक का पथ-प्रदर्शन तो स्वयं भगवान करते हैं और साथ ही विघ्नों से उसकी रक्षा भी। ऐसी स्थिति में भक्त को किसी भी प्रकार का भय नहीं रह जाता। और अनन्य-भक्ति की प्राप्ति तो केवल इसी मार्ग का अवलम्बन करने से होती है। इसकी महिमा का बखान करते हुए गीता में कहा गया था—"अनन्य भक्त को ही भगवान के दर्शन होते हैं—जो न वेद से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही सम्भव है।"

वैष्णव-भक्ति का यही स्वरूप था। उत्तर भारत में, उस युग में इस भक्ति का प्रभाव अपेक्षाकृत कम था। यहाँ प्राचीन काल में बौद्ध-धर्म अत्यन्त प्रवल रहा था, इसलिए अनेक सदियों तक किसी-न-किसी रूप में उसी का प्रभाव बना रहा। भक्तिकाल के आरम्भ में दक्षिण की वैष्णव भक्ति-धारा ने, शास्त्रीय विवेचन का आधार ग्रहण कर, उत्तर भारत में सच्चे अर्थों में सगुण-भक्ति का बीजारोपण किया।

तीन विभिन्न स्वरूप

दक्षिण की इस वैष्णव भक्ति-धारा ने उत्तर में आकर तीन भिन्न स्वरूप धारण किए। प्रथम धारा सिद्धों और नाथों के तंत्रों तथा हठयोग को पार करती कबीर आदि की वाणी में एक भिन्न रूप में प्रकट हुई। मिथिला और बंगाल के शाक्त संप्रदाय तथा तांत्रिकों के सम्पर्क में आकर जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास के पदों में मधुर और सरस हो उठी। यह उसका दूसरा रूप था। अपने तीसरे रूप में उसने भगवान राम और कृष्ण की विभिन्न लीलाओं से अपने भक्तों को मुग्ध किया। इन तीनों धाराओं के स्वरूप भिन्न और विचित्र हैं। तुलसी ने भक्ति और लीला का अतिशय मर्यादित रूप प्रस्तुत किया। सूर की कृष्णलीला में मर्यादा की उपेक्षा होते हुए भी नरलीला का बड़ा ही मधुर स्वरूप व्यक्त हुआ। इसके विपरीत, कबीर और विद्यापति की रचनाओं में न भगवान की लीला का भाव है, और न विनय का।

वहाँ भगवान का रूप एक प्रेमी का है, जिसकी प्रेम की ही मर्यादा है, प्रेम की ही लीला है और प्रेम की ही विनय है। परन्तु कबीर और विद्यापति की मनोवृत्ति में पर्याप्त अन्तर है। विद्यापति में लौकिक प्रेम का प्राधान्य है और कबीर में अलौकिक निराकार के प्रति गहन, आध्यात्मिक प्रेम का।

भक्ति-काव्य की कुछ विशेषताएँ

निर्गुण-सगुण का समन्वय

वैष्णव-भक्ति धारा प्रधानतः दो रूपों में प्रस्फुटित और पल्लवित हुई। और ये दो रूप थे—निर्गुण भक्ति-धारा और सगुण भक्ति-धारा। ऊपर से देखने पर तो ये स्पष्ट भेद दिखाई पड़ते थे परन्तु गहराई में जाकर देखने पर दोनों घुल-मिलकर एक हो गये से प्रतीत होते हैं। कबीर का निर्गुण ब्रह्म जब विशुद्ध प्रेम का आलम्बन बनता है तो सगुण सा प्रतीत होने लगता है। यदि सूफी-काव्य को भक्ति-काव्य माना जाय तो वहाँ भी निर्गुण ब्रह्म माशूक का साकार रूप धारण करके ही हमारे सामने आता है। सूर और तुलसी जैसे सगुणोपासक भक्त जब अपने आराध्य को ब्रह्म मान उसकी महिमा का निरूपण करते हैं तो वह वर्णन निराकार-निर्गुण का ही वर्णन बन जाता है; और सगुण रूप का वर्णन तो वे रस-विभोर होकर करते ही हैं। इन दोनों प्रकार के वर्णनों की एक विशेषता उल्लेखनीय है। सगुण-भक्त जब अपने आराध्य का ब्रह्म-रूप में वर्णन करते हैं तो वहाँ भक्ति की गहनता न होकर आश्चर्य और आतंक की भावना ही विशेष रूप से ऊपर उभर आती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ब्रह्म निर्गुण-निराकार रूप में भक्ति का आलम्बन नहीं बन सकता। भक्ति का आलम्बन बनने के लिए उसे सगुण-साकार रूप धारण करना ही पड़ेगा। इसीलिए सूर आदि सगुण-भक्तों ने ज्ञान द्वारा निरूपित निराकार-निर्गुण ब्रह्म का मज़ाक उड़ाया था।

यहाँ यह याद रखना चाहिए कि यह व्यावहारिक भक्ति-मार्ग का रूप था। व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण ही निर्गुण-निराकार की अपेक्षा सगुण-साकार की प्रतिष्ठा की गई थी। सैद्धान्तिक रूप से ब्रह्म निर्गुण-निराकार ही माना गया था। सूक्ष्म दृष्टि से भक्ति-साहित्य का अध्ययन करने से हमें सर्वत्र निर्गुण की ही प्रतिष्ठा हुई मिलती है। कबीर के राम तो निर्गुण हैं ही, तुलसी के 'मानस' के सगुण राम भी 'विनय-पत्रिका' में निर्गुण बन जाते हैं। तुलसी इन दोनों रूपों में अन्तर नहीं मानते। सूर भी भगवान के निर्गुण रूप की सत्ता को स्वीकार तो कर लेते हैं परन्तु उसके वर्णन को सब तरह से अगम्य् मानकर सगुण का गुणगान करते हैं। सूर और तुलसी की सगुण-लीला सम्बन्धी रचनाओं में ज्ञान और भक्ति का तीव्र संघर्ष है। 'मानस' में ज्ञान और भक्ति को एक मानते हुए भी ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित की गई है। ज्ञान का पंथ कृपाण की धारा के समान कठिन है, इसलिए भक्ति का

सहज पंथ ही ग्राह्य है। सूर के 'भ्रमरगीत' में भी ज्ञान पर भक्ति की विजय दिखाई गई है। मीरा और जीव गोस्वामी की प्रसिद्ध जनश्रुति में भी यही भावना मूल रही है। वास्तविकता यह है कि भक्ति सगुण रूप की उपासना द्वारा ही आरम्भ होती है और उसकी चरम परिणति निराकारोपासना में ही मानी गई है।

उपास्य के विभिन्न स्वरूप

सगुण भगवान के भक्तों ने अपनी-अपनी भावनानुसार अपने उपास्य में विभिन्न गुणों का आरोप कर लिया है। तुलसी के राम शक्ति, शील और सौन्दर्य के आगार हैं; सूर के कृष्ण सौन्दर्य-निधान और लीला-प्रिय हैं; नरोत्तमदास के कृष्ण करुणा-निधान हैं; मीरा के गिरिधर नागर माधुरी मूरति वाले हैं, हित हरिवंश के रसिक शिरोमणि राधा-वल्लभ रास-प्रिय हैं।

उपास्य के इन विभिन्न रूपों के साथ भक्तों ने अपनी-अपनी भक्ति-भावना का निरूपण भी भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। उन्होंने भगवान से विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किए हैं। माता, पिता, स्वामी, सखा, पति आदि—अनेक रूपों में भगवान की उपासना की गई है। सन्त-कवियों ने गुरु को गोविन्द के समान महत्त्व देकर सतगुरु की महिमा का भी वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त माया-जाल में फँसे हुए अज्ञानी जीवों को सम्बोधन कर चेतावनी के पद भी कहे गए हैं। चेतावनी के अतिरिक्त, इन भक्तों ने नीति और उपदेश-विषयक पद भी कहे हैं, क्योंकि भक्ति का मूल उद्देश्य—चरित्र की उदात्तता तथा लोक-कल्याण की प्रतिष्ठा करना रहा है।

हमारा भक्ति-काव्य भारतीय संस्कृति का पूर्ण प्रतिनिधि बनकर अवतरित हुआ था। यह उस भारतीय चिन्तन का प्रतिफलन था जो सहस्रों सदियों से अनवरत विकासमान चला रहा था। भारतीय संस्कृति का मूल स्वर आरम्भ से ही मानवतावादी रहा है। उसमें मानव के उन्नयन की आकांक्षा प्रधान रही है। और भक्ति-काव्य में हम इसी मानवतावादी स्वर को सबसे ऊपर उभरा हुआ पाते हैं। इस भक्ति-काव्य के सम्बन्ध में किसी ने यथार्थ ही कहा है कि—'उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन-स्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है'। हमारा कहना है कि उसका मूलधर्म मानवता है। उसमें मानव मात्र के हृदय को स्पर्श करने की अद्‌भुत शक्ति है। भक्ति के आवरण में उसने मानव के सद्‌गुणों का ही यश गाया है। वहाँ मानव के लिए स्नेह का अपार सागर लहरें मारता दृष्टिगोचर होता है। मानव को ऊँचा उठाने की—उसकी कामना कितनी उज्ज्वल, महान् और उदात्त है, इसके दर्शन तुलसी द्वारा प्रस्तुत किये गए भक्तों के लक्षणों के रूप में स्पृहणीय हो उठे हैं। 'विनय-पत्रिका' में तुलसी ने अपनी जो एकमात्र कामना व्यक्त की है, वह जीवन के प्रति भक्त-कवियों के उस उदात्त दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है जिसका अनुसरण करने पर संसार सुख, शान्ति और आनन्द का आश्रयस्थल बन सकता है। तुलसी कहते हैं—

'कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें सन्त सुभाव गहौंगो ।।
जथालाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहित-निरत निरन्तर मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगो ।।
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि, तेहि पावक न दहौंगो ।
विगत मान, सम सीतल मन, परगुन, नहिं दोष कहौंगो ।
परिहरि देह-जनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरि-भक्ति लहौंगो ।।'

मानव-जीवन का यही आदर्श रूप सम्पूर्ण भक्ति-काव्य में ध्वनित हो रहा है । यहाँ न मोक्ष की कामना है, और न व्यक्तिगत सुख-आनन्द की । भक्तों की दृष्टि में भक्ति ही एकमात्र ऐसा साधन रहा है जिसके द्वारा मानव चरम सुख की, जीवन की पूर्णता की उपलब्धि करने में समर्थ हो सकता है । यह काव्य—लोक और परलोक—यदि कोई परलोक है तो—दोनों का एक साथ स्पर्श करता है । यह काव्य एक साथ ही हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है । इसमें अभिव्यक्त सौन्दर्य और भावनाएँ मन को तृप्त करती हैं; दार्शनिकता और आध्यात्मिक रंग आत्मा को सन्तोष देता है ।

काव्य-सौन्दर्य, भाषा, रस

भक्ति-काव्य केवल उपादेयता और मानव-कल्याण-भावना के कारण ही स्पृहणीय नहीं है, इसमें काव्य-सौन्दर्य भी है और वह भी अत्यन्त कलापूर्ण, उदात्त, जन-मन-रंजनकारी और श्रेष्ठ कोटि का है । रस, भाषा काव्यशास्त्र आदि सभी की दृष्टि से यह काव्य महान् है । इसमें रसराज श्रृंगार का पूर्ण—उभय पक्षीय—और सन्तुलित चित्रण हुआ है । यद्यपि राम-काव्य का मूल विवेच्य श्रृंगार नहीं रहा है, उसमें विविध रसों के परिपाक द्वारा मानव-जीवन का पूर्णता का निदर्शन किया गया है, परन्तु कृष्ण-काव्य का मूलस्वर श्रृंगार का ही रहा है । श्रृंगार का ऐसा भावनापूर्ण, सांसारिक होते हुए भी अशरीरी सा और हृदय को पूर्णतः रस-सिक्त कर देने वाला चित्रण अन्य किसी भी काल के साहित्य में नहीं दिखाई पड़ता । काव्य-शैलियों की दृष्टि से अकेले तुलसी सबका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं । उनके काव्य में पूर्ववर्ती और तत्कालीन—सभी शैलियों के उत्कृष्ट रूप मिल जाते हैं । साथ ही इस काव्य में कवि-प्रसिद्धियों, कवि-समयों और प्रतीकों का इतना अक्षय भंडार भरा पड़ा है कि सदियों तक परवर्ती काव्य के प्रणेता उसी का उपयोग कर गौरव पाते रहे हैं । भाषा की दृष्टि से—बोलचाल की भाषा की दृष्टि से कबीर को इस काल का प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है । वस्तुतः कबीर के समय से ही हिन्दी पूर्ण रूप से काव्य की भाषा बनती है । उसका यह आरम्भिक रूप अटपटा होते हुए भी काफी सशक्त और प्राणवान है । हम सूर और तुलसी के काव्य में इसी का विकास देखते हैं । इस काव्य की एक

अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह है कि हम इसमें चमत्कार-प्रदर्शन तथा वाग्वैदग्ध्य की प्रवृत्ति नहीं पाते। भक्त कवि भाषा को केवल भावाभिव्यक्ति के साधन-रूप में ही ग्रहण करते आए हैं। परन्तु उनकी सहज आत्माभिव्यक्ति की तीव्रता के कारण उनका काव्य स्वभावतः ही नैसर्गिक सौन्दर्य का पुंज बन गया है।

विस्तृत दृष्टिकोण

भक्ति-काव्य का मूल विवेच्य भक्ति ही रहा है, इसलिए हम उसमें आधुनिक-कालीन साहित्य का सा विषय-वैविध्य नहीं पाते। परन्तु गाम्भीर्य की दृष्टि से वह आधुनिक काल से अधिक पूर्ण, सशक्त, कलापूर्ण तथा प्रभावशाली है। आरम्भिक काल अस्पष्ट, विवादास्पद और विभिन्न विचार-सरणियों का आरम्भिक रूप तथा भाषा की दृष्टि से अपरिपक्व रहा है। इसलिए उसकी भक्ति-काल से कोई तुलना नहीं की जा सकती। शृंगार काल (रीतिकाल) भाषा-शक्ति और भाषा-सौन्दर्य की दृष्टि से भक्ति काल की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली माना जा सकता है, परन्तु उसमें भाव-गाम्भीर्य और मानव-कल्याण-भावना का अभाव रहा है। उसका कथ्य और दृष्टिकोण—दोनों ही संकीर्ण रहे हैं। अतः जब हम हिन्दी-साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास को आलोचक की दृष्टि से देखते हैं तो उसमें भक्ति-कालीन काव्य—सभी दृष्टियों से सर्वश्रेष्ठ दिखाई पड़ता है। उसमें एक अपूर्व जागरूकता और तन्मयता है जो अन्य किसी भी युग के साहित्य में नहीं मिलती। विद्वानों ने इसी कारण भक्ति-काल को हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-काल माना है।

भक्ति-भावना के उद्भव-सम्बन्धी कुछ अन्य धारणाएँ

हम गत पृष्ठों में भक्ति-भावना के उदभव और विकास का संक्षिप्त इतिहास दे चुके हैं। हमने वहाँ देखा कि भक्ति-भावना का विकास भारतीय चिन्तन का ही एक विकसित रूप था। डा० ग्रियर्सन ने इसे ईसाइयत का प्रभाव माना था। आचार्य शुक्ल और डा० गुलाबराय आदि ने इसकी उत्पत्ति हारी हुई जाति की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया के रूप में मानी थी। हम पीछे इन दोनों मान्यताओं का खंडन कर आए हैं। भारतीय भक्ति-भावना पर विदेशी प्रभाव सिद्ध करने का आग्रह इतना अधिक बढ़ा था कि एक पाश्चात्य विद्वान् ने तो यह घोषणा कर दी थी कि भारतीय 'कृष्ण' यूरोपिय 'क्राइस्ट' का ही रूपान्तर मात्र है; अर्थात् कृष्ण की कल्पना क्राइस्ट (ईसा मसीह) के आधार पर ही कर ली गई थी। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ स्वाभिमानी भारतीय विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि क्राइस्ट अपने अज्ञातवास की अवधि में भारत आए थे और उन्होंने यहाँ के भक्ति-सिद्धान्त से प्रभावित हो, लौटकर ईसाई-धर्म का प्रचार किया था; अर्थात् ईसाइयों की भक्ति-भावना मूलतः भारत की ही देन है। उपर्युक्त दोनों ही मान्यताएँ अतिवादी, निराधार और पूर्वाग्रहों से प्रेरित रही थीं। आज कोई भी ऐसी मान्यताओं की ओर ध्यान तक देना पसन्द नहीं करता।

ऐसी निराधार, अनर्गल मान्यताओं का एक और रूप डा० ताराचन्द, प्रोफेसर हुमायूँ कबीर, डा० आबिद हुसेन की इस मान्यता में मिला कि भारतीय भक्ति-आन्दोलन मुस्लिम सम्पर्क स्थापित होने पर आरम्भ हुआ था और शंकर, रामानुज, रामानन्द, वल्लभ, दक्षिण के आलवार, लिंगायत, वीर शैव आदि सभी वैष्णव एवं शैव दार्शनिकों तथा सम्प्रदायों पर इस्लामी-दर्शन का प्रभाव था। इस मत के प्रतिपादकों का यह कहना है कि भारत को एकेश्वरवाद की देन इस्लामी-देन ही रही है। उनका यह भी कहना है कि शंकर का अद्वैत-दर्शन इसी इस्लामी एकेश्वरवादी दर्शन से प्रभावित था। परन्तु ये विद्वान् यह भूल जाते हैं कि जब इस्लाम का जन्म तक नहीं हुआ था, उससे बहुत पूर्व भारतीय चिन्तक उपनिषदों में एक सर्वभूत ब्रह्म की स्थापना कर चुके थे और शंकर का अद्वैत-दर्शन उसी चिन्तन का विकसित रूप था। भारतीय ब्रह्मवाद और इस्लामी एकेश्वरवाद में तो किसी प्रकार की समानता तक नहीं मिलती। इसी प्रकार कुछ भारतीय अवतारवाद के मूल में भी ईसाई और इस्लाम धर्म का प्रभाव मानते हैं। परन्तु सुधीजन इस बात की अच्छी तरह से जानते हैं कि इन दोनों धर्मों में ईश्वर का बेटा या प्रतिनिधि ही संसार का उद्धार करने धरती पर जन्म लेते हैं और भारत में स्वयं ईश्वर अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ अवतार लेता रहा है। वस्तुतः ऐसी स्थापनाओं के मूल में या तो कोई आदर्शवादी भावना, जैसे हिन्दू-मुस्लिम-एकता, या स्वयं को श्रेष्ठ और दूसरे को हीन समझने की चेष्टा ही प्रधान रहती है। और इस प्रकार ऐतिहासिक भ्रान्तियाँ उत्पन्न की जाती हैं।

इधर काफी दिनों से यह प्रचार जोर पकड़ता रहा है कि दक्षिण भारत और उत्तर भारत की संस्कृतियाँ परस्पर नितान्त भिन्न रहीं हैं। एक आर्य-संस्कृति है और दूसरी द्रविड़-संस्कृति। कुछ इतिहासकारों की यह मान्यता रही है कि द्रविड़ भारत के मूल निवासी थे और विदेशी आर्यों ने उन पर आक्रमण कर उन्हें उत्तर भारत से दक्षिण भारत की ओर भगा दिया था। ऐसे लोग राम-रावण-संघर्ष को भी आर्य-द्रविड़-संघर्ष मानते हैं। और इस भेद-परक धारणा के जन्मदाता रहे हैं—भारतीय इतिहास के यूरोपिय लेखक। इन विदेशी लेखकों की इस नवीन मान्यता का खूब प्रचार हुआ। हिन्दी के कुछ कथाकारों ने इसी मान्यतानुसार उपन्यास और कहानियाँ भी लिख डालीं। सिन्ध और पंजाब में 'मोहन-जो-दड़ो' और 'हड़प्पा' नामक स्थानों पर हुई खुदाई में जिन प्राचीन नगरों के अवशेष मिले, उन्हें लोगों ने द्रविड़-सभ्यता के अवशेष घोषित कर दिया था। इस नवीन मान्यता को इसी घोषणा से बल मिला था। और इस प्रचार का यह घातक परिणाम निकला कि दक्षिण वाले स्वयं को उत्तर भारतीयों से सर्वथा भिन्न और आक्रान्ता मान उनसे घृणा सी करने लगे हैं। इधर कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करना आरम्भ कर दिया है कि भक्ति-भावना का मूल उद्गम दक्षिण में ही हुआ था और वहीं से यह उत्तर-भारत में आई। अर्थात् उससे पूर्व उत्तर-भारत में भक्ति-भावना का विकास नहीं हुआ था।

एक लोकोक्ति या किसी कवि की यह पंक्ति प्रसिद्ध है कि—"भक्ति द्राविड़ी ऊपजी, लाए रामानन्द।" अर्थात् भक्ति का द्रविड़ों में जन्म हुआ और वहाँ से रामानन्द इसे (उत्तर भारत में) लाए। भक्ति के मध्यकालीन विकास को देखते हुए इसे यथार्थ माना जा सकता है। क्योंकि उस युग में दक्षिण के आचार्यों द्वारा ही भक्ति के स्वरूप का निर्धारण और उसका प्रचार और प्रसार हुआ था। परन्तु यह असंगत है कि—"भक्ति का मूल द्राविड़ों में है और दक्षिण के द्राविड़ों में ही नहीं, उनके महान् पूर्वज मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के द्राविड़ों में। अभी तक संसार को जितने भी साक्ष्य प्रमाण प्राप्त हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के द्राविड़ अथवा व्रात्य एकेश्वरवादी थे। उनके उस ईश्वर का नाम शिव था।....आर्यों ने भक्ति का भाव दक्षिण से प्राप्त किया था।"

इस सम्बन्ध में हमें सबसे पहली बात तो यह कहनी है कि नवीनतम शोधों के अनुसार अब इस बात में सन्देह किया जाने लगा है कि मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा में जिस संस्कृति के अवशेष मिले हैं, वह संस्कृति आर्यों की थी अथवा द्रविड़ों की। अब विद्वानों का मत उसे आर्य-संस्कृति मानने के प्रति अधिक झुकता जा रहा है। इसके अतिरिक्त भी कई ऐसी बातें हैं जो आर्य-संस्कृति और द्रविड़-संस्कृति जैसी तथाकथित दो भिन्न संस्कृतियों के अस्तित्व के सम्बन्ध में शंकाएँ उत्पन्न कर देती हैं; जैसे—उज्ज्वलवर्णी आर्यों के उपास्य विष्णु, राम, कृष्ण का श्यामवर्ण माना जाना तथा श्यामवर्णी दक्षिण वासी द्रविड़ों के मूल उपास्य शिव का हिम और कपूर के समान उज्ज्वल वर्ण होना तथा उनका निवास दक्षिण में न माना जाकर सुदूर उत्तर में हिमालय पर मानना। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि उपनिषदों में हमें एकेश्वरवाद और भक्ति-भावना का रूप मिल जाता है। गीता, भागवत आदि तो भक्ति के उद्गम-स्रोत ही माने गए हैं। और जब तक यह सिद्ध नहीं हो ज़ाता कि इन आर्य-ग्रन्थों की रचना दक्षिण में वहीं के विद्वानों द्वारा हुई थी, तब तक यह कहना एकांगी ही माना जायेगा कि भक्ति का मूल उत्स दक्षिण अर्थात् द्रविड़ संस्कृति ही रही है।

जब से प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध होता है तब से हमें इतिहास में ऐसी एक भी घटना नहीं मिलती जो यह सिद्ध कर सके कि ये दो संस्कृतियाँ भिन्न संस्कृतियाँ थीं। इन दोनों संस्कृतियों—यदि इन्हें दो भिन्न संस्कृतियाँ माना जाय तो—की मूल प्रेरणा एक ही रही थी, इनमें कोई अन्तर नहीं था। प्राचीन काल में उत्तर और दक्षिण में वैचारिक एकता इतनी अधिक रही थी कि आठवीं सदी में सुदूर दक्षिण स्थित समुद्रतटवर्ती केरल से उठा हुआ शंकराचार्य का अद्वैतवादी स्वर सम्पूर्ण भारत के विद्वानों का विचारणीय विषय बन गया था। यदि दक्षिण भारतीय द्रविड़ संस्कृति आर्य-संस्कृति से नितान्त भिन्न होती तो उत्तर भारत के लिए शंकर का नया मत इतना महत्त्वपूर्ण न बन जाता। हमारी धारणा है कि सुदूर अतीत में वैचारिक और भावनात्मक रूप में सम्पूर्ण भारत एक था, उसकी संस्कृति एक थी। इसलिए भक्ति-भावना के प्रसार और प्रचार में सम्पूर्ण भारत का योगदान रहा था। हम गत

पृष्ठों में उन कारणों का विवेचन कर आए हैं जो दक्षिण में भक्ति-भावना को जन्म देने वाले रहे थे। यदि उत्तर भारत में भी सामाजिक स्थिति वैसी ही विषम होती जैसी कि उस समय दक्षिण-भारत में थी, तो यहाँ भी भक्ति-भावना का विवेचन लगभग उसी प्रकार किया जाता। परन्तु उत्तर भारत तो सदैव विदेशी आक्रान्ताओं का सामना करने और यहाँ बस जाने वाले विदेशियों को आत्मसात् करने में व्यस्त रहा था। इसलिए यहाँ सामाजिक व्यवस्था अत्यधिक विषम रूप नहीं धारण कर पाई थी। और जब मुस्लिम आक्रान्ताओं के यहाँ जम जाने से यहाँ भी सामाजिक व्यवस्था संकुचित और संकीर्ण होने लगी तो भक्ति का मानववादी स्वर यहाँ भी प्रबल हो उठा। इस भक्ति-भावना के स्वरूप निर्धारण में उत्तर और दक्षिण—दोनों प्रदेशों के प्रभाव कार्य कर रहे थे। अत: यह माना जाना चाहिए कि उत्तर और दक्षिण के सम्मिलित योग से भक्ति का विकास हुआ था। और इस नवीन भक्ति-आन्दोलन का मूल स्वर था उच्च वर्गों के अधिकारों का विरोध करना। अस्तु,

भक्तों के दो विशिष्ट वर्ग (गायक और आचार्य)

भक्ति के इतिहास में आरम्भ से ही भक्तों के दो विशिष्ट वर्ग मिलते हैं—'गायकों' तथा 'आचार्यों' के। गायकों ने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की ओर अधिक ध्यान न देते हुए भाव-विभोर हो अपने प्रभु के गीत गाए और आचार्य सैद्धान्तिक निरूपण में दत्तचित्त रहे। दक्षिण के आलवार भक्त गायक थे। नाथमुनि, यामुनाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, निम्बार्क आदि आचार्य थे जिनके दार्शनिक चिन्तन में तर्क और विवाद का प्राधान्य रहा। उनमें गायकों का सा सहजोद्रेक, भाव-प्रवणता और तीव्र आवेग का अभाव था। उत्तर भारत के भक्तों में भी इसी प्रकार के दो भेद थे। रामानुज, रामानन्द, वल्लभ आचार्य थे, जिन्होंने भक्ति का उपदेश दिया। परन्तु चैतन्य महाप्रभु गायक श्रेणी के आचार्य थे। इसी प्रकार भक्त-कवियों के भी दो स्पष्ट वर्ग थे—एक वर्ग कवि-गायकों का था, दूसरा कवि-आचार्यों का। जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति, सूर, मीरा विशुद्ध कवि-गायक थे; और तुलसी, कबीर, नानक, नन्ददास भक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाले कवि-आचार्य थे। कवि-गायक साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के चक्कर में नहीं पड़े। उन्होंने भक्ति-भाव की तन्मयता में डूब प्रभु के गीत गाए। सूर और मीरा कृष्ण-चरित के विमुग्ध गायक थे। भक्ति के प्रचार की दृष्टि से कबीर और तुलसी जैसे जन-नायकों का बहुत महत्त्व है। उन्होंने जनता का मार्ग-प्रदर्शन कर लोक का हित किया। परन्तु साहित्य की सरसता, अपूर्व तन्मयता की दृष्टि से सूर, मीरा, रसखान आदि का विशेष महत्त्व है। इसी कारण सूर को प्राचीन काल से हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता रहा है। परन्तु आज के बुद्धिवादी युग में साहित्य का मूल्यांकन करने वाली दृष्टि में परिवर्तन हो गया है। आज कवियों की विद्वत्ता, लोक-कल्याणपरक दृष्टिकोण, खंडन-मंडन की प्रवृत्ति आदि को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसीलिए आज कबीर और तुलसी का जितना

महत्त्व माना जाता है, उतना सूर और मीरा का नहीं। यही कारण है कि आज सूर, मीरा आदि का निष्पक्ष और उचित मूल्यांकन नहीं हो रहा है। हम मानते हैं कि साहित्य का सृजन लोक-कल्याण की दृष्टि से होना चाहिए, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि साहित्य में लोक-कल्याण की यह भावना जितनी ही अप्रत्यक्ष रहेगी, उसका रूप उतना ही अधिक कलापूर्ण, सुन्दर और प्रभावशाली हो उठेगा। भक्ति-भावना में आकंठ निमग्न कर देना—उस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का रूप है जो हृदय के समस्त कलुष को भस्म कर मानव को उदात्त बना देता है। इसलिए भक्त—सच्चा भक्त—मूल रूप से सदैव लोक-कल्याण का ही आकांक्षी होता है। यह बात दूसरी है कि वह इस पुनीत कार्य को प्रत्यक्ष रूप से करता है अथवा अप्रत्यक्ष रूप से। और साहित्य अप्रत्यक्ष, अर्थात् हृदय की कोमल भावनाओं को आन्दोलित कर यह कार्य करता है। इसलिए साहित्य की इस अद्वितीय विशिष्टता के अनुसार सूर, मीरा आदि का मूल्यांकन होना चाहिए।

भक्ति-काल का काल-विभाजन

हिन्दी-साहित्य का भक्ति-काल पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ से लेकर सत्रहवीं सदी के अन्त तक फैला हुआ है। इन तीन-सौ वर्षों के लम्बे व्यवधान में भक्ति के स्वर कई रूपों में उभरे हैं और इन्हीं रूपों के आधार पर विद्वानों ने इस काल के समस्त साहित्य को, सुचारु विवेचन की सुविधा की दृष्टि से कई वर्गों में विभाजित कर उसका विश्लेषण किया है। आचार्य शुक्ल ने इस समस्त साहित्य को पहले दो स्थूल विभागों में बाँटा है—(१) निर्गुणमार्गी भक्ति-साहित्य; तथा (२) सगुणमार्गी भक्ति-साहित्य। इतिहास के काल-क्रमानुसार यह विभाजन ठीक है क्योंकि हिन्दी में भगवान के निर्गुण-निराकार स्वरूप के उपासक कबीर आदि पहले हुए हैं, सगुण-साकार रूप के उपासक सूर-तुलसी आदि बाद में। इसके उपरान्त शुक्ल जी ने इन दोनों प्रधान वर्गों को भी उप-वर्गों में विभाजित किया है। साहित्य की निर्गुण धारा को उन्होंने दो खंडों में बाँटा है—(१) निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा, और (२) प्रेमाश्रयी शाखा। पहले वर्ग में उन्होंने कबीर आदि सन्त कवियों के काव्य को माना है, और दूसरे वर्ग में जायसी आदि हिन्दी के सूफी कवियों का। इसके उपरान्त उन्होंने सगुण भक्ति धारा को भी दो उप-वर्गों में विभाजित कर दिया है—(१) रामोपासक कवियों का साहित्य, तथा (२) कृष्णोपासक कवियों का साहित्य।

शुक्ल जी के हिन्दी साहित्य के इतिहास के परवर्ती लेखकों ने भी मोटे रूप में शुक्ल जी के उपर्युक्त विभाजन को मान्यता प्रदान की है, परन्तु शीर्षकों में किंचित् परिवर्त्तन कर दिए हैं; जैसे—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हें निर्गुण भक्ति का साहित्य, प्रेम-कथानकों का साहित्य, कृष्ण-भक्ति का साहित्य, सगुणमार्गी रामभक्ति का साहित्य—शीर्षक प्रदान किए हैं। डा० रामकुमार वर्मा निर्गुण भक्ति सम्बन्धी कबीर आदि के साहित्य को 'सन्त-काव्य परम्परा' कहते हैं। वस्तुत: आजकल यह साहित्य

'सन्त काव्य' के नाम से ही अधिक मान्य और प्रसिद्ध है। राम-काव्य और कृष्ण-काव्य के शीर्षकों के सम्बन्ध में लगभग सभी विद्वान् शुक्ल जी से सहमत हैं। असहमति केवल सन्त-साहित्य को 'ज्ञानाश्रयी' संज्ञा प्रदान करने तथा सूफी-काव्य की भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत गणना करने के सम्बन्ध में है।

कुछ आलोचक शुक्ल जी की इस मान्यता से सहमत नहीं हैं कि कबीर आदि के सन्त-काव्य में ज्ञान का स्वर सर्वप्रमुख रहा है। क्योंकि ज्ञान-मार्ग के लिए जिस पांडित्य, शास्त्राभ्यास और तर्क-शक्ति की अपेक्षा होती है उसका इन कवियों में नितान्त अभाव मिलता है। वहाँ ज्ञान का रूप स्पष्ट न होकर--केवल उसका आभास सा मिलता है। इसीलिए डा० श्रीकृष्णलाल इसे 'ज्ञानाभासाश्रयी शाखा' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। परन्तु हमारा अनुमान है कि शुक्ल जी ने 'ज्ञानाश्रयी' शब्द का प्रयोग ज्ञान के इस रूप के लिए नहीं किया था। भक्ति के दार्शनिक क्षेत्र में ज्ञान और भक्ति का द्वन्द्व बहुत दिनों से चला आ रहा था। और उस सन्दर्भ में 'ज्ञान' शब्द निराकार ब्रह्म की उपासना के लिए, तथा 'भक्ति' साकार रूप की उपासना के लिए रूढ़ बन चुके थे। कबीर आदि ब्रह्म के निराकार रूप के ही उपासक थे, इसी कारण शुक्ल जी ने 'ज्ञान' शब्द के उस रूढ़ प्रयोग के अनुसार ही उन्हें ज्ञान-मार्गी मान लिया था। उनका अभिप्राय ज्ञानमार्ग के उस रूप से नहीं था, जिसकी स्थापना उपनिषदों में की गई थी।

दूसरी बात है—सूफी-काव्य के सम्बन्ध में। लगभग सभी लोगों ने हिन्दी के सूफी कवियों की गणना, उन्हें निराकार ब्रह्म का उपासक मान भक्तिकाल के अन्तर्गत ही की है। यदि हम सूफी-कवियों को भक्त मान लें, तो उन्होंने ब्रह्म का निरूपण जिस पद्धति से किया है, वह उन्हें साकारोपासक के रूप में ही प्रस्तुत करती है। अवतार-वाद की भावना में ब्रह्म प्रधानतः मानव रूप में अवतार ग्रहण करता है। और सूफी कवि अपनी प्रेम-कथाओं में किसी पात्र-विशेष को ब्रह्म का प्रतीक स्वीकार कर उसके माध्यम से अपनी प्रेममूलक भक्ति-भावना का अंकन करता है। यह दूसरी बात है कि उनका यह प्रतीक-निर्वाह पूर्ण और सफल हो पाता है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है कि भक्ति में श्रद्धा और प्रेम का योग अनिवार्य माना गया है। उपास्य के प्रति श्रद्धा-भावना का होना अनिवार्य है। परन्तु सूफी-काव्य में हम केवल प्रेम का ही सम्बल ग्रहण करते हुए पाते हैं। वहाँ श्रद्धा का अभाव रहा है। ऐसी स्थिति में, भारतीय मान्यतानुसार सूफियों को पूर्ण भक्त नहीं माना जा सकता। मगर साथ ही उस प्रेम का लक्ष्य वही रहता है, जो भक्ति का माना गया है—ब्रह्म की प्राप्ति। इसलिए पद्धति-भिन्नता होते हुए भी इन्हें भक्त स्वीकार करने के लिए बाध्य होना ही पड़ता है। सूफी-कवियों द्वारा रचित प्रेमाख्यानक काव्य एक प्रेम-कथा के माध्यम से सरस प्रेम-भावना का चित्रण करते हैं और बीच-बीच में ब्रह्म के प्रतीक अपने पात्र में उन गुणों और विशेषताओं का समावेश करते चले जाते हैं जो ब्रह्म के

गुण और विशेषताएँ मानी जाती हैं। उनका मूल लक्ष्य तो प्रेम द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति का चित्रण करना ही रहता है परन्तु अपने अपरिपक्व ज्ञान, भारतीय दृष्टिकोण से भिन्न दृष्टिकोण आदि के कारण उनके रूपक और प्रतीक इतने अटपटे, असंगत और अप्रभावशाली बन जाते हैं कि उनके आधार पर किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव हो उठता है। क्योंकि भक्ति का मूल लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति माना गया है और सूफियों का भी यही मूल लक्ष्य रहा है, इसलिए इनकी गणना भक्ति-काव्य के अन्तर्गत करनी चाहिए।

भक्ति-काव्य की सामान्य समान विशेषताएँ

मूल कथ्य (भक्ति)

हमने ऊपर देखा कि भक्ति-काल में प्रचलित विभिन्न काव्य-धाराओं में परस्पर काफी भिन्नता रहते हुए भी एक मूल विशेषता यह रही है कि इस काल में रचित साहित्य का मूल कथ्य 'भक्ति' ही रहा है। इसी कारण विद्वानों ने इस सम्पूर्ण काल और इसके साहित्य को 'भक्तिकाल' तथा 'भक्ति-काव्य' की संज्ञा प्रदान की है। इसके अतिरिक्त भी इस समस्त साहित्य में कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं जिनके कारण भी इनकी गणना एक ही काल और एक ही प्रकार के साहित्य के अन्तर्गत की जाती है। ये विशेषताएँ सन्तों, सूफियों और साकारोपासक भक्तों में समान रूप से पाई जाती हैं। जैसे—

(१) **नाम की महत्ता**—जप, कीर्त्तन, भजन आदि के रूप में भगवान का गुण-कीर्त्तन सन्तों, सूफियों और भक्तों में समान रूप से पाया जाता है। कृष्ण-भक्तों और सूफियों में कीर्त्तन का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक रहा है। तुलसी भी राम के नाम को राम से बड़ा मानते हैं, क्योंकि नाम में निर्गुण और सगुण—ब्रह्म के दोनों रूपों का समन्वय हो जाता है। उन्होंने कहा है—'मोरे मत बड़ नाम दुहूँते। किए जेहि जग निज बस निज बूते॥' कबीर भी प्रकारान्तर से यही बात कहते प्रतीत होते हैं—'निर्गुण की सेवा करो, सर्गुण का करो ध्यान।' जायसी भी उसी नाम का स्मरण करते हैं—'सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह, कीन्ह संसारू॥' इस प्रकार यहाँ निर्गुण-सगुण का झगड़ा मिट कर केवल नाम की महत्ता प्रधान बन जाती है। सूर यद्यपि नाम की महत्ता का बखान तो नहीं करते परन्तु सगुण और निर्गुण में कोई अन्तर भी नहीं मानते। उनके अनुसार निर्गुण स्वरूप का ध्यान करना अगम्य है, इसी कारण वह सगुण-लीला का गायन करना अधिक उचित समझते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

'सब विधि अगम विचारहिं, ताते सूर सगुण लीला पद गावै।'

(२) **गुरु महिमा**—इस काल के भक्ति-काव्य के सभी रचयिताओं ने ब्रह्म-प्राप्ति के लिए गुरु का होना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक मान गुरु-महिमा का

खूब वर्णन किया है। कबीर तो गुरु के प्रति इतने अधिक श्रद्धालु हैं कि कहीं-कहीं गुरु को भगवान से भी अधिक महत्त्व दे बैठे हैं। जैसे—'गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागौं पाँय।' कहकर आगे वे अपने इस असमंजस को यह कहकर दूर कर लेते हैं कि—'बलिहारी वा गुरू की, जिन गोविन्द दियो दिखाय।' जायसी भी ब्रह्म-प्राप्ति के लिये योग्य गुरु का पथ-प्रदर्शन आवश्यक मानते हैं। गुरु के अभाव में निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव है। यदि उनके रत्नसेन को हीरामन तोता जैसा गुरु न मिलता तो उसके लिए पद्मावती की प्राप्ति असम्भव थी। इसीलिए जायसी ने कहा है—'गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा।।' इसी प्रकार तुलसी भी गुरु का महत्त्व मानते हुए गुरु की वन्दना करते हैं—"बन्दौं गुरु पद कंज, कृपासिन्धु नर रूप हरि।" 'मानस' के आरम्भ में तुलसी ने मुक्त हृदय से गुरु-महिमा का बखान किया है। सूर ने भी अपने गुरु वल्लभाचार्य को अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ स्मरण किया है। जैसे—'वल्लभ नखचन्द्र छटा बिनु सब जग माहिं अँधेरो।' गुरु की अत्यधिक महिमा का कारण यह रहा है कि भक्तगण यह मानते आये हैं कि गुरु के पथ-प्रदर्शन के बिना भक्ति-मार्ग की साधना करना असंभव है। गुरु ही शिष्य के हृदय में ज्ञान-ज्योति प्रज्ज्वलित कर उसे ब्रह्म के प्रति उन्मुख कर देता है।

(३) **भक्ति-भावना का प्राधान्य**—भक्ति की चारों शाखाओं में भक्ति-भावना का प्राधान्य रहा है। सभी भक्तों ने भक्ति को ईश्वर-प्राप्ति का मूलाधार माना है। इस सम्बन्ध में कबीर का मत है कि भक्ति-भावना के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और ज्ञान द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होती है। इसलिए भक्ति अनिवार्य है। भक्ति के अभाव में वह संसार का उद्धार असम्भव मानते हैं—'हरि भक्ति जाने बिना बूढ़ि मुआ संसार।' प्रेममार्गी सूफी कवि प्रेम को ईश्वर की भक्ति ही मानते हैं, यद्यपि भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार उसे शुद्ध भक्ति का रूप नहीं माना जा सकता। परन्तु सूफियों की जो साधना-पद्धति है वह बहुलांश में भक्ति-साधना का ही प्रतिरूप रही है। सूफी साधक शरीकत, तरीकत, हकीकत और मारिफत—नामक चार साधनावस्थाओं को पार कर ब्रह्म की प्राप्ति करता है। इन चारों साधनावस्थाओं को भगवद्-भक्ति की ही साधना मानना चाहिए। सूर और तुलसी की तो प्रत्येक पंक्ति भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है। इनमें से तुलसी की भक्ति-भावना की एक विशेषता यह मिलती है कि वह भक्ति को ब्रह्म-प्राप्ति का साधन न मान उसे स्वयं साध्य मानते हैं। इसी कारण उन्होंने 'विनय-पत्रिका' में सम्पूर्ण देवी-देवताओं से केवल यही याचना की है कि उन्हें ऐसा वर दो, जिससे राम-भक्ति की प्राप्ति हो। वह भक्ति के सम्मुख मोक्ष को भी अग्राह्य मानते हैं।

(४) **अहंकार का त्याग**—अहंकार का त्याग भक्ति का प्रथम लक्षण माना गया है। हृदय में अहंकार के रहते हुए भक्ति करना असम्भव है। इसीलिए सम्पूर्ण भक्त-कवियों ने इस अहंकार के नाश पर बहुत अधिक बल दिया है। कबीर कहते हैं—

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं हम नाहिं । प्रेमगली अति साँकरी, ता में दो न समाहिं ।" यहाँ कबीर 'मैं' अर्थात् अहंकार के विनाश के प्रति संकेत कर रहे हैं। तुलसी की 'विनय-पत्रिका' तो कवि की दीनता का ही स्वर रही है। तुलसी स्वयं को संसार में सर्वाधिक पापी, अधम और दीन घोषित कर प्रभु से अपने उद्धार की याचना करते हैं। सूर भी लगभग उसी स्वर में कहते हैं—'प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ।' और फिर भगवान से अपने उद्धार की प्रार्थना करते हैं—'प्रभु अब की राखि लेउ लाज हमारी।'

(५) **आडम्बर का खंडन**—सभी भक्त-कवि सादा, सरल और त्यागमय जीवन में आस्था रखते थे। सांसारिक बाह्याडम्बर उनके लिए सर्वथा त्याज्य थे। ये सभी भक्त थे, अतः सांसारिक माया-मोह से मुक्त थे। इसी कारण इन लोगों ने आडम्बरों का खंडन किया है।

भक्ति-काल के अध्येताओं ने इस सम्पूर्ण काल के साहित्य में उपर्युक्त विशेषताओं को लक्ष्य कर ही उसको एक ही काल के अन्तर्गत स्वीकार कर उसका विवेचन किया है।

अब हम आगे भक्ति-काल में उपलब्ध उपर्युक्त चारों भक्ति-धाराओं का काल-क्रमानुसार एक-एक कर विवेचन करेंगे। इस क्रम में सन्त-काव्य का प्रथम स्थान है, इसलिए सब से पहले उसी का विवेचन अभिप्रेत है।

निर्गुण-मार्गी सन्तकाव्य-धारा

कबीर : एकछत्र सम्राट

निर्गुण-मार्गी सन्त-काव्य भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य का आरम्भिक अंश है। हिन्दी में इसके प्रवर्त्तक कबीर माने जाते हैं। यद्यपि कबीर से पूर्व भी महाराष्ट्र के सन्त नामदेव आदि हिन्दी में सन्त-काव्य की रचना कर चुके थे, परन्तु क्योंकि हिन्दी में रचित उनका काव्य परिमाण में बहुत कम है, इसलिए उत्तर-भारत की सन्तकाव्य-परम्परा पर उनका गहरा प्रभाव नहीं पड़ सका था। इसका दूसरा कारण यह भी था कि उनकी वाणी में वह प्रखरता, अक्खडता और निर्भीकता नहीं थी जो कबीर-काव्य की अपनी निराली विशेषता रही है। अपने इन्हीं गुणों के कारण कबीर अपने युग में अपना व्यापक प्रभाव डालने में समर्थ हुए थे। काल-क्रमानुसार नामदेव की गणना आरम्भिक काल के अन्तर्गत की जानी चाहिए और इसी कारण हमने आरम्भिक काल के अन्तर्गत ही उनका संक्षिप्त परिचय दे दिया है। भक्तिकाल के आरम्भ में हम कबीर को भक्ति-आन्दोलन के एक प्रभावशाली प्रवर्त्तक के रूप में देखते हैं। विभिन्न परिस्थितियों के कारण उत्पन्न धार्मिक नवोन्मेष का वह उन्माद सच्चे अर्थों में कबीर-वाणी में ही प्रस्फुटित हुआ था। और इसी कारण डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ने कबीर को युग-द्रष्टा के गौरव से अभिषिक्त किया है। जहाँ तक पूर्व-परम्परा का सम्बन्ध है, नामदेव आदि महाराष्ट्री सन्तों को सन्तकाव्य-परम्परा की पहली कड़ी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस अर्थ में उन्हें हिन्दी-सन्तकाव्य-परम्परा का प्रवर्त्तक मान लेने में भी हमें संकोच नहीं करना चाहिए। परन्तु सच्चे अर्थों में प्रवर्त्तक उसे ही माना जाता है जो अपने समकालीन तथा परवर्ती युग पर गहरा प्रभाव डालने में समर्थ हो सका हो, उसका अनुगमन किया गया हो, और उसका व्यक्तित्त्व और काव्य इतना प्रभावशाली रहा हो कि उसके बिना उस युग का इतिहास लिखना असम्भव हो उठे। इस दृष्टि से कबीर को अपने युग और उस

युग में रचित भक्ति-साहित्य का एकछत्र सम्राट माना जा सकता है, और माना जाना चाहिए।

रामानन्द का अप्रत्यक्ष व्यापक प्रभाव

कबीर अपने युग के एकछत्र सम्राट रहे हैं। परन्तु इस युग में हमें एक ऐसे व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं जिसने काव्य-रचना कर हिन्दी-साहित्य को भरने का प्रयत्न तो नहीं किया परन्तु जिसका व्यक्तित्व और विचारधारा हिन्दी भक्ति-साहित्य के एक विशाल अंग को गहरे रूप से प्रभावित करती रही है। और उसे ही इस युग का वास्तविक प्रेरणा-स्रोत और पथ-प्रदर्शक मानना चाहिए। वह व्यक्तित्व है—स्वामी रामनन्द का। रामानन्द ने ही सन्त-काव्य तथा राम-काव्य का पथ-प्रदर्शन किया था। रामानन्द के शिष्यों में या उनकी शिष्य-परम्परा में १२ शिष्यों का उल्लेख मिलता है—

> **'अनन्तानन्द, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावति, नरहरि।**
> **पीपा, भावानन्द, रैदास, धना, सेन, सुरसरि की धरहरि॥'**

अर्थात्—अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भावानन्द, पीपा, रैदास, कबीर, सेना, धना, पद्मावती, और सुरसरी—रामानन्द के ये १२ शिष्य और शिष्यायें थीं। रामानन्द का समय बारहवीं सदी (पूर्वार्द्ध) माना जाता है। दूसरी ओर कबीर और रामानन्द सम्बन्धी किम्वदन्ती उन्हें पन्द्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध का घोषित करती है। हमारा अनुमान है कि सम्भव है उपर्युक्त १२ शिष्यों में से कुछ रामानन्द के समकालीन रहे हों, परन्तु अधिकांश उनकी शिष्य-परम्परा के ही प्रसिद्ध कवि या आचार्य रहे हैं। इन शिष्यों में से कई उच्च जाति के परन्तु अधिकांश निम्न-जाति के रहे थे। स्वामी रामानन्द की यह विशेषता थी कि उन्होंने अपने शिष्यों को मुक्तभाव और स्वतन्त्र रीति से भक्ति करने की आजादी दे रखी थी। इसका परिणाम हम इस रूप में देखते हैं कि इनके कुछ शिष्य ऐसे थे जिन्होंने सन्त-कवियों को प्रेरणा दी थी; और कुछ ऐसे थे जिन्होंने राम-भक्त कवियों को अपने मत में दीक्षित किया था। नरहर्यानन्द तुलसी के गुरु बताए जाते हैं, रैदास से मीरा ने दीक्षा ली थी, और सुरसुरानन्द की परम्परा में दादू और सुन्दरदास हुए थे। इनमें निर्गुणमार्गी और सगुणमार्गी—दोनों ही भक्ति-पद्धतियों का अनुगमन करने वाले शिष्य मिलते हैं। परन्तु इनमें एक सामान्य और समान प्रवृत्ति यह मिलती है कि इन दोनों वर्गों के उपास्य 'राम' ही रहे हैं। तुलसी आदि ने राम के सगुण रूप की वन्दना की है और कबीर, दादू आदि ने निर्गुण रूप की। यह तथ्य इस सत्य पर प्रकाश डालता है कि भक्ति-काव्य के जन्म और विकास में स्वामी रामानन्द का प्रभाव, उनके उदार मत के कारण, सबसे अधिक रहा था। उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति की स्थापना करने का श्रेय भी रामानन्द को ही मिलना चाहिए।

'सन्त' शब्द से अभिप्राय

सन्त-काव्य का विवेचन आरम्भ करने से पूर्व हमें 'सन्त' शब्द का अर्थ और कबीर आदि की पूर्ववर्ती सन्त-परम्परा को भी संक्षेप में जान लेना चाहिए। हिन्दी-साहित्य में सामान्य रूप से ब्रह्म के निर्गुण-निराकार रूप के उपासकों को 'सन्त' कहा जाता रहा है (केवल सूफियों को छोड़कर), और सगुण-साकार रूप के उपासकों को 'भक्त'। यह केवल व्यावहारिक भेद है। वैसे सन्त भी भक्त थे और भक्त भी सन्त थे। 'सन्त' शब्द का शाब्दिक अर्थ—बुद्धिमान, पवित्रात्मा और परोपकारी व्यक्ति माना गया है। भक्त, साधु, महात्मा सभी इसी अर्थ-परिधि में सिमट आते हैं। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल इस शब्द की व्युत्पत्ति 'शान्त' शब्द से मानते हुए इसका अर्थ निवृत्ति मार्ग या वैरागी बताते हैं। परशुराम चतुर्वेदी उसको सन्त कहते हैं जिसने सत रूपी परम तत्त्व का अनुभव कर लिया हो। इस शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं परम तत्त्व के लिए भी हुआ है। कबीर सन्त के लक्षण बताते हुए कहते हैं—

'निरवैरी, निहकामता, साईं सेती नेह।
विषियाँ सूँ न्यारा रहै, सन्तन के अंग एह ॥'

तुलसी ने भी सन्तों का गुणगान करते हुए उनके लक्षण और गुण बताए हैं। जैसे— **''सबकै ममता त्याग बटोरी। समपद मनहिं बाँध वर डोरी ॥'**

परन्तु हिन्दी में 'सन्त' से अभिप्राय निर्गुणोपासक के लिए रूढ़ हो गया है। अर्थात् सन्त वह है जो निर्गुण का उपासक हो और सन्त-काव्य वह है जिसमें निर्गुण-पंथी कवियों की रचनाओं का संकलन हो।

कबीर पूर्ववर्ती सन्त परम्परा—किसी विशिष्ट पद्धति के साधकों और कवियों के लिए 'सन्त' शब्द का प्रयोग हमें कबीर से काफी पहले महाराष्ट्र के निर्गुणोपासक कवियों के लिए होता हुआ मिलता है। महाराष्ट्र में 'विट्ठल' या 'वारकरी' सम्प्रदाय के साधकों को 'सन्त' कहा जाता रहा है। सन्त नामदेव, सन्त ज्ञानेश्वर, सन्त तुकाराम आदि सभी महाराष्ट्र के थे। हमारा अनुमान है कि कबीर आदि निर्गुणोपासक हिन्दी-कवियों के लिए 'सन्त' शब्द का प्रयोग इन्हीं महाराष्ट्री सन्तों के अनुकरण पर होने लगा होगा। निर्गुणोपासक सन्त कवियों की परम्परा में जयदेव नामक एक कवि का भी उल्लेख मिलता है, जिसे कुछ लोगों ने 'गीत-गोविन्द' का रचयिता जयदेव माना है। इनके कुछ पद सिखों के धर्म-ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहब' में संग्रहीत हैं। परन्तु डा० द्विवेदी आदि विद्वान् इन दोनों को भिन्न व्यक्ति मान उक्त जयदेव को कबीर-पूर्वयुग का कोई कवि मानते हैं।

मराठी और पंजाबी भाषाओं में सन्त-कवियों की एक लम्बी परम्परा मिलती है। और उनके काव्य में ही हिन्दी-सन्त-काव्य का पूर्व रूप उपलब्ध हो जाता है। महाराष्ट्र में नाथ-पंथ के समानान्तर 'महानुभाव सम्प्रदाय' नामक एक निर्गुणोपासक

सम्प्रदाय था। इसके प्रवर्त्तक चक्रधर नामक एक सन्त माने जाते हैं जिनका समय तेरहवीं सदी के मध्य और उत्तरार्द्ध में माना गया है। इस सम्प्रदाय की काव्य-रचनाओं में हमें वही भाव-भूमि उपलब्ध होती है जो कबीर आदि में मिलती है। सन्त नामदेव ने अपने एक पूर्ववर्ती सन्त सधना या सदना का बड़े सम्मान पूर्वक उल्लेख किया है। महाराष्ट्र में एक अन्य निर्गुणोपासक सम्प्रदाय 'वारकरी सम्प्रदाय' का भी काफी प्रभाव रहा था और इसकी परम्परा अठारहवीं सदी तक चलती चली आई है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सन्त पुण्डलिक माने जाते हैं। यह बारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए थे। ज्ञानेश्वर, नामदेव, भानुदास, एकनाथ आदि सन्त-कवि इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनमें से सन्त नामदेव को इस सम्प्रदाय का श्रेष्ठतम प्रचारक माना जाता है। हम आरम्भिक काल के अन्तर्गत सन्त नामदेव की कुछ कविताओं को उद्धृत करते हुए उनका संक्षिप्त विवेचन कर आए हैं। महाराष्ट्र के इन सन्त कवियों में से अधिकांश ने हिन्दी में भी कविताएँ लिखी थीं। पंजाबी सन्त कवियों की परम्परा कबीर की परवर्ती-परम्परा रही है, इसलिए हम उनका उल्लेख यहाँ न कर हिन्दी-सन्तकाव्य का विवेचन करते समय काल-क्रमानुसार आगे करेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमें निर्गुणोपासक सन्त-काव्य की जो परम्परा मिलती है, वह उससे पूर्व महाराष्ट्र आदि में काफी प्रचार पा चुकी थी। और कबीर आदि उसी परम्परा के विकास की सशक्त कड़ी थे।

सन्त-साहित्य की पृष्ठभूमि

हम भक्ति-काल की पृष्ठभूमि का विवेचन करते हुए उस युग की विभिन्न परिस्थितियों का परिचय दे आए हैं। हिन्दी के निर्गुणोपासक सन्त-कवि भक्ति-काल के आरम्भिक युग में हुए थे, इसलिए इन पर उन परिस्थितियों का तथा उनसे पूर्व प्रचलित विभिन्न विचारधाराओं, उपासना-पद्धतियों एवं काव्य-परम्पराओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। जब हम सन्त-काव्य का अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि इन सन्त-कवियों ने जिस साधना-पद्धति को तथा सामाजिक दृष्टिकोण को अपना कर एक नए युग का सूत्रपात किया था, उस पर उपर्युक्त विभिन्न प्रभाव पड़ रहे थे। साधारणतः यह माना जाता है कि बौद्ध-धर्म के उत्तरार्द्ध-काल में जब बौद्ध मत महायान, मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान आदि के रूप में विघटित हो रहा था और उसमें तांत्रिक साधना का प्राबल्य हो उठा था, उस समय उसका प्रतिकार करने लिए नाथ मत का उदय हुआ था। नाथ-पंथियों ने उत्तरकालीन विकृत बौद्ध साधना-पद्धतियों का विरोध और हठयोग की प्रक्रिया का आधार ग्रहण कर एक शुद्ध, सात्त्विक साधना-पद्धति का प्रवर्त्तन किया था। हिन्दी-काव्य में अभिव्यक्त सन्त-मत उसी नाथ-पंथ का विकसित रूप था।

इस सम्बन्ध में डा० दयानन्द श्रीवास्तव ने 'ध्यान सम्प्रदाय' नामक एक ऐसे सम्प्रदाय का उल्लेख किया है, जो हीनयान, महायान, मंत्रयान, सहजयान आदि बौद्ध-

सम्प्रदायों के समानान्तर प्रचलित था। इस 'ध्यान-सम्प्रदाय' में जीवन के शुद्ध, सात्विक मानदण्डों के प्रति आग्रह प्रकट किया गया है। साथ ही सांसारिक विषय-वासनाओं से ऊपर उठने का भी उपदेश दिया गया है। अन्य उपर्युक्त सम्प्रदायों में, जिनमें नाथ-सम्प्रदाय भी शामिल है, गृहस्थ-जीवन के प्रति एक गहरी अवहेलना की भावना रही थी। इसका परिणाम यह निकला था कि वैरागी साधुओं की संख्या में आशातीत वृद्धि हो गई थी। इसका एक कारण यह भी रहा था कि उस युग में जाति के कठोर बंधनों से बच निकलने का एकमात्र उपाय—साधु हो जाना था। 'ध्यान-सम्प्रदाय' में हम इसके विपरीत भावना पाते हैं। उसमें जीवन की सापेक्षता और गृहस्थ-जीवन के प्रति विशेष आग्रह और विश्वास प्रकट किया गया है। हम हिन्दी के सन्त-कवियों में भी गृहस्थ-जीवन के प्रति इसी प्रकार का आग्रह पाते हैं। कबीर गृहस्थ थे। उनके पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि भी थे। वह कपड़ा बुन कर अपना गुजारा करते थे। कबीर के जीवन का मूल मंत्र था—'जपिए नाम, जपिए अनु।' अर्थात् नाम का जाप करो और अन्न का जाप करो।

इसके अतिरिक्त 'ध्यान-सम्प्रदाय' की एक विशेषता यह रही है कि उसमें स्वानुभूति-परक ज्ञान को ही उपादेय और श्रेष्ठ माना गया है। सन्त-कवियों में भी हम इसी मान्यता को प्रतिष्ठित पाते हैं। आर्ष ज्ञान की इसमें अवहेलना रही है। कबीर ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—

"पाछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथ।
आगे ते सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथ।।"

साथ ही हमें कबीर आदि की साधना-प्रक्रिया पर भी 'ध्यान सम्प्रदाय' का प्रभाव दिखाई पड़ता है; जैसे—कबीर ने मन की दो अवस्थाओं का उल्लेख किया है—'इन मन' और 'उन मन'। डा० दयानन्द श्रीवास्तव के अनुसार "ध्यान-संप्रदाय' में भी इस प्रकार की धारणा प्रचलित है कि सापेक्ष व्यक्तिगत मन ही निरपेक्ष और समष्टिगत मन हो जाता है। साधना की उच्चभूमि पर सापेक्ष मन निरपेक्ष हो जाता है। व्यक्तिगत मन को अनन्त निरपेक्ष मन में मिलाने की प्रक्रिया को 'उन्मनी अवस्था' कहते हैं। सन्तों ने इस प्रकार की उन्मनी अवस्था की कल्पना की है। जैसे—

'मन लागा उन मन्न सौं, गगन पहूँचा जाय।'
'मन लागा उन मन्न सौं, उनमन मनहि बिलग्ग।'
लूँण विलग्गा पाँणियां, पाणीं लूँण विलग्ग।।'

यदि डा० श्रीवास्तव की उपर्युक्त स्थापना सही है, तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संत-काव्य में सिद्धों और नाथ-पंथियों से भिन्न जो विशेषताएँ मिलती हैं, उनका मूल उद्गम यही 'ध्यान-सम्प्रदाय' रहा होगा। नाथ-पंथियों पर भी इस सम्प्रदाय का गहरा प्रभाव मिलता है—जीवन में सात्त्विकता की प्रधानता के रूप में। नाथ-

पंथ में इससे जो भिन्नता मिलती है वह यह है कि इसमें गृहस्थ जीवन के प्रति आस्था प्रकट की गई है और नाथ-पंथ में उसके प्रति विरक्ति।

तत्कालीन प्रधान धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदाय

संत-काव्य में हम अनेक धार्मिक और दार्शनिक मत-मतान्तरों का प्रभाव और उनके शुभ, उपादेय तत्त्वों का मिश्रण और समन्वय पाते हैं। उस युग में उत्तर-भारत में लगभग आठ प्रधान धार्मिक सम्प्रदाय जनता में प्रचलित थे; जैसे—(१) शंकर का अद्वैतवादी दर्शन, (२) रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन, जिसमें विष्णु और लक्ष्मी की उपासना का विधान था तथा जिसने कालान्तर में स्वामी रामानन्द के समय में राम और सीता की उपासना का रूप धारण कर लिया था। (३) दाशरथि राम की भाँति कृष्ण की उपासना का भी प्रचार था; जयदेव, चंडीदास, विद्यापति ने राधा-कृष्ण को अपने काव्य का विषय बनाया था। (४) इस्लामी एकेश्वरवाद, जो मूर्त्तिपूजा और अवतारवाद का विरोधी, एक अल्लाह का अनुयायी तथा जातिगत भेदभाव हीन सरल जीवन का पक्षपाती था। (५) सूफी-मत—जिसकी उपासना में 'प्रेम की पीर' का प्राधान्य था। (६) नाथमत—जो सरल, शुद्ध, सात्त्विक, वैराग्यपूर्ण जीवन का पक्षपाती और हठयोग की क्रियाओं द्वारा साधना करने में आस्था रखता था। (७) योगमार्ग—जिसमें सहजयान सम्प्रदाय के तत्त्व मिल गये थे। (८) शाक्त संप्रदाय—जिसमें शक्ति की उपासना योग द्वारा की जाती थी। यह पूर्वी-हिन्दी-प्रदेश से बंगाल तक फैला हुआ था।

कबीर ने उपर्यक्त आठों सम्प्रदायों और दार्शनिक सिद्धान्तों में से केवल शाक्त-सम्प्रदाय का ही विरोध किया था। शेष मतों के आन्तरिक उपादेय सिद्धान्तों को अपनी सुविधानुसार, उन्होंने अपने उस सामान्य भक्ति-मार्ग में ग्रहण कर लिया था, जिसे हम 'सहज पंथ' कह सकते हैं। इसके साथ कबीर ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य और किया था। वह यह था कि उन्होंने सम्पूर्ण मतों के बाह्याचारों का बलपूर्वक खण्डन करते हुए, केवल मन की साधना पर ही विशेष बल दिया था। उपर्युक्त सम्प्रदायों और दार्शनिक मतों से प्रभावित होते हुए भी स्वतंत्र रूप में महाराष्ट्र प्रदेश में एक नवीन सा प्रतीत होने वाला भक्ति-सम्प्रदाय प्रचार पा रहा था, जिसमें विट्ठल या विठोवा की मानसिक उपासना और नाम-स्मरण को महत्ता और प्रधानता प्रदान की गई थी। इसमें प्रेमासक्ति और रहस्य-भावना का भी समावेश हो चुका था।

उपर्युक्त विभिन्न मत-मतान्तरों और दार्शनिक सिद्धान्तों में से शाक्त-मत को निकाल कर शेष को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। शंकर का अद्वैत और रामानुज का विशिष्टाद्वैत भारतीय ब्रह्मवाद के दो रूप हैं। इस्लामी एकेश्वरवाद और सूफियों की प्रेम-साधना भावात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। इसी के अन्तर्गत जयदेव आदि के प्रेम-सम्बन्धी माधुर्य-भावना वाले पदों की भी गणना की जा सकती है। क्योंकि कबीर आदि ने तन्मय होकर विरह और मिलन के

जो पद गाए हैं, उन पर इनकी छाया है। नाथ-पंथ और योगमार्ग को हठयोग की प्रधानता के कारण 'साधनात्मक रहस्यवाद' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। संत-मत में हमें भारतीय ब्रह्मवाद, इस्लामी एकेश्वरवाद और भावात्मक रहस्य-साधना तथा साधनात्मक रहस्यवाद—इन तीनों प्रमुख धाराओं का सम्मिलित प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

ब्रह्मवाद का प्रभाव—भारतीय ब्रह्मवाद के रूप में सन्त-मत अद्वैत की भावना से प्रभावित है। उसका ज्ञान और उपदेश अद्वैत पर आधारित है, परन्तु जिसे कबीर ने "स्वयं संवेद्य ज्ञान" कहकर शास्त्रानुमोदित नहीं माना है। लेकिन उसके बीज हमें अद्वैत-दर्शन में ही मिल जाते हैं। संत कवि माया की सत्ता और जीव-ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हैं। जीव और ब्रह्म के मिलन में माया बाधक होती है। ज्ञान-योग द्वारा इस माया को दूर करने पर ही दोनों का मिलन सम्भव होता है। कबीर के राम भी अद्वैत ब्रह्म की भाँति सूक्ष्म और निर्गुण हैं। विशिष्टाद्वैत की भाँति द्वैत-सत्ता में कबीर का विश्वास नहीं है। परन्तु पर-ब्रह्म की प्राप्ति में ये विशिष्टाद्वैत की भक्ति-भावना को स्वीकार करते हैं। इसी भक्ति-भावना के कारण इन्होंने अपने ब्रह्म को राम, कृष्ण, गोविन्द, हरि, केशव आदि विभिन्न पौराणिक नामों द्वारा स्मरण किया है। कबीर के गुरु रामानंद थे। उनके औदार्य के कारण संतों की उपासना में एक प्रकार की स्वच्छन्दता सी आ गई थी। रामानंद ने यह निर्णय करना अपने शिष्यों पर छोड़ दिया था कि वे राम की उपासना निर्गुण रूप में करें अथवा सगुण-रूप में। परन्तु संत-साहित्य में निर्गुण और सगुण के एक ऐसे मिले-जुले रूप की स्थापना हुई जो विचित्र-सा प्रतीत होते हुए भी स्वाभाविक था। संतों पर रामानंद का प्रभाव—सबसे अधिक प्रभाव इस बात में पड़ा कि उन्होंने अपने मत में मांस-भक्षण निषेध, वैष्णवी दया और अहिंसा की भावना को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया था।

संतों ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ज्ञान और भक्ति—दोनों का सहयोग अनिवार्य माना है। शंकर के अद्वैतवाद के रूप में तो उन्होंने ज्ञान की महत्ता प्रतिष्ठित की, परन्तु साथ ही यह भी माना कि बिना भक्ति की सहायता मिले ज्ञान पंगु हो जाता है। इसलिए भक्ति को पूर्ण महत्त्व देते हुए उन्होंने रामानंदी सम्प्रदाय की वैष्णवी विशेषताओं को स्वीकार कर लिया। वैष्णव भावनाओं का रूप भी ब्रह्मवाद से सम्बन्धित है। वैष्णव भक्ति-भावना की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात व्यक्तिगत ब्रह्म की कल्पना और उसकी भक्ति है। कबीर ने अनेक पदों में निर्गुण ब्रह्म से अपने व्यक्तिगत प्रेम का सम्बन्ध प्रकट किया है। कभी वे हरि को जननी और स्वयं को उसका बालक, कहीं स्वयं को 'राम की बहुरिया' और राम को अपना 'पिउ' मानते और कहते हैं, परन्तु मूल भावना में कोई अन्तर नहीं रहता। अतः भक्ति के क्षेत्र में कबीर वैष्णव-भक्ति भावना से गहरे रूप से प्रभावित मिलते हैं। वैष्णव भक्ति में गुरु-भक्ति और नाम-कीर्त्तन को भक्ति-प्राप्ति का प्रमुख साधन माना गया है। ये

दोनों बातें भी संतों में पर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं। वैष्णव-भक्ति का दूसरा अङ्ग इष्टदेव के प्रति रति की भावना है। संतों ने इसका वर्णन रहस्यवाद की भावना के अन्तर्गत किया है। संत-मत में लोक-कल्याण भावना का प्राधान्य भी वैष्णवों की ही देन है। इसी कारण कबीर आदि में उस गलदश्रु भावुकता का उद्रेक मिलता है, जिसकी डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बहुत सराहना की है।

भावात्मक रहस्यवाद का प्रभाव—संतों पर सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद का भी यथेष्ट प्रभाव मिलता है। (यद्यपि कुछ लोग भावात्मक रहस्यवाद जैसी किसी भावना का अस्तित्व तक स्वीकार करने से इन्कार करते हैं।) हमें संतों पर सूफी-सिद्धान्तों का बड़ा गहरा प्रभाव मिलता है। कुछ आलोचक सूफियों की प्रेम-भावना का संतों पर गहरा प्रभाव बताते हैं। उनका कहना है कि यदि संत सूफियों की इस प्रेम की पीर को न अपनाते तो उनका मत भी नाथमत की तरह शुष्क और नीरस रह जाता। इस प्रेम-भावना को ग्रहण करने से ही संत-मत में रमणीयता आई और जनता का उसके प्रति आकर्षण बढ़ा। बाबू गुलाबराय ने इसी बात को इस प्रकार कहा है—"ब्रह्मवाद पर सूफी प्रेमवाद की उन्होंने बड़ी सुन्दर कलम लगाई है।" परंतु हमारा अनुमान है कि संत-काव्य में जो प्रेम-तत्त्व पाया जाता है वह एकमात्र सूफी प्रेम-भावना का ही प्रभाव नहीं था, बलिक उसके मूल में महाराष्ट्र के विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति भावना का प्रभाव ही अधिक रहा था। और विट्ठल सम्प्रदाय वैष्णव भक्ति-भावना से प्रभावित था। 'नारद भक्ति-सूत्र' में ग्यारह प्रकार की आसक्तियाँ बताई गई हैं, जिनमें से एक प्रेमासक्ति भी है। संतों ने प्रेम-भावना के निरूपण में इसी वैष्णवी प्रभाव को स्वीकार किया है। दूसरा प्रमाण यह है कि वैष्णवी भक्ति-भावना में ईश्वर को प्रियतम के रूप में स्वीकार किया गया है। कबीर आदि में हम इसी रूप को पाते हैं। इसके विपरीत सूफियों में ईश्वर को नारी रूप अर्थात् प्रियतमा माना गया है। सूफियों के सम्पूर्ण प्रेमाख्यानक काव्य इसके प्रमाण हैं। प्रेम-भावना के क्षेत्र में संतों और सूफियों में केवल विरह-भावना के अभिव्यक्तीकरण में थोड़ी सी समानता मिलती है। विरह का ऊहात्मक वर्णन दोनों ने ही समान रूप से किया है। विरह के अन्तर्गत होने वाले वीभत्स वर्णन दोनों में एक से मिलते हैं।

वस्तुतः संतों पर सूफियों के रहस्यवाद का ही प्रभाव अधिक रहा है। जब निर्गुण ब्रह्म को प्रेम का आलम्बन बनाया जाता है तो उसमें स्वभावतः ही रहस्यात्मकता का समावेश हो जाता है। कबीर के 'राम' और सूफियों के 'अल्लाह'—दोनों ही निर्गुण हैं। इसलिए जब इस निर्गुण स्वरूप का वर्णन किया जाता है तो उसका रूप अस्पष्ट, अटपटा और रहस्य से आवृत्त रहता है। इसमें विचित्रता यह है कि इस वर्णन के मूल में ब्रह्म के प्रति प्रेम की भावना रहती है। इसी कारण यह ब्रह्म निर्गुण और सगुण का विचित्र सा मिश्रित रूप धारण कर लेता है। न तो निर्गुण ही रह पाता है और न सगुण ही। कबीर एक ओर तो ब्रह्म को निर्गुण-निराकार,

'पुहुप बास से पातरा' आदि घोषित करते हुए कहते हैं कि जब मैंने ब्रह्म को देखा ही नहीं तो उसका वर्णन कैसे करूँ। और दूसरी तरफ वह उसी अज्ञात रूप ब्रह्म के साथ पिता-पुत्र, माता-पुत्र और पति-पत्नी का सम्बन्ध जोड़ते हैं। ऐसे स्थलों पर कबीर का ब्रह्म साकार सा रूप धारण कर लेता है। यहाँ वह ध्यान का आलम्बन न रहकर भावना का आलम्बन बन जाता है। और भावना का आलम्बन बनते ही उसका निर्गुण-निराकार रूप धूमिल और रहस्यमय हो उठता है। सूफियों की प्रेम की पीर और सन्तों की प्रेमासक्ति भावना में काफी समानता मिलती है। और वह इस रूप में कि प्रेम की व्यंजना का तीव्रतम रूप पति-पत्नी या प्रियतम-प्रियतमा सम्बन्ध में ही व्यक्त होता है। कारण, इस प्रकार के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का अन्तराय नहीं रहता। इसी कारण कबीर ने स्वयं को 'राम की बहुरिया' और राम को अपना 'पिउ' मान अपनी तीव्र प्रेम-भावना का प्रकाशन किया है। वैष्णव भक्ति की प्रेम-भावना में प्रेम का वह तीव्र और दाहक रूप नहीं मिलता जो सूफियों की विशेषता रही है और कबीर में हम प्रेम-भावना का यही तीव्र और दाहक रूप पाते हैं। इसी कारण हमने विरह के चित्रण में सन्तों पर सूफियों का प्रभाव माना है। अभिव्यक्ति का प्रकार दोनों का लगभग एक-सा ही रहा है।

साधनात्मक रहस्यवाद का प्रभाव—साधना के क्षेत्र में सन्तों ने सिद्धों, नाथ-पंथियों और शुद्ध हठयोगियों के प्रभाव को स्वीकार कर साधनात्मक रहस्यवाद को अपनाया है। साधनात्मक रहस्यवाद में हठयोगियों की योग, तंत्र, रसायनादि क्रियाओं का विशेष महत्त्व है। इस क्षेत्र में हम सन्तों को कापालिक और रसेश्वर साधना-धाराओं से भी प्रभावित पाते हैं। सन्तों पर इस दृष्टि से सिद्धों और हठयोगियों, दोनों का गहरा प्रभाव मिलता है। दोनों ने बाह्य पूजा, जाति-पाँति, तीर्थाटन, शास्त्राभ्यास आदि को निस्सार बताकर उनका खंडन किया है। यही परम्परा आगे चलकर, सन्तों ने भी जारी रखी है। सिद्धों और हठयोगी नाथ-पंथियों ने रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों द्वारा अटपटी वाणी में पहेलियाँ बुझाने में सन्तों का मार्ग-दर्शन किया है। साथ ही उन्हें साधना-सम्बन्धी शब्दों के अन्तर्गत नाद, बिन्दु, उन्मनी, सुरति, निरति आदि शब्दों की परम्परा विरासत के रूप में दी है। साधनात्मक रहस्यवाद में साधक योग-साधना द्वारा बलपूर्वक ब्रह्म से साक्षात्कार करता है। एक आलोचक के शब्दों में—"यह मिलन शरीर के अंगों तथा श्वास पर अधिकार प्राप्त कर, उनका उचित संचालन करते हुए एवं मन को एकाग्र कर, परमात्मा के दिव्य स्वरूप का मनन करते हुए, आत्मा के समाधिस्थ हो जाने पर होता है।" गोरख-प्रवर्त्तित इस प्रकार के हठयोग को सन्तों ने ब्रह्म-प्राप्ति के साधन रूप में ग्रहण किया था।

सन्तों की मौलिकता

यह सत्य है कि सन्तों ने अपने सामाजिक और धार्मिक परिवेश में उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के प्रभावों को स्वीकार किया था और उन्हें अपनी साधना-पद्धति और अभिव्यक्ति-प्रकार में अपनाया था। परन्तु इसका यह अभिप्राय कतई नहीं कि सन्त-काव्य अपनी पूर्व-परम्परा की नकल मात्र है। वास्तविकता यह है कि सन्त-काव्य अपनी मौलिकता, सार-ग्राहिणी अपूर्व दृष्टि, निर्भीकता, तीखी सामाजिक चेतना और अद्भुत तन्मयता के कारण एक ऐसा काव्य बन गया है जो अपने समस्त पूर्ववर्ती चिन्तन के शुभ रूपों को समेट कर और उन्हें जन-सामान्य के लिए उपादेय और कल्याणकारी बना आगे बढ़ा है। कबीर आदि ने पूर्व-परम्पराओं को यथावत् न अपना कर उनका युगानुरूप संस्कार कर अपनाया है। इसी कारण हम उन्हें इतना अधिक प्रभावशाली पाते हैं। कबीर की उस तीव्र मेधा और सर्वग्राही दृष्टि के कारण ही आज वह अपने युग के एकमात्र महापुरुष, जागरूक युगद्रष्टा, अद्भुत साधक और सामान्य भाषा तथा अटपटे काव्य-रूपों द्वारा अद्भुत प्रभाव डालने वाले युग-प्रवर्त्तक व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आते हैं। यदि उनमें मौलिक उद्भावना की शक्ति न होती, यदि विभिन्न साधना-पद्धतियों और विचारधाराओं को आत्मसात कर उन्हें सहज, सरल, जन-कल्याणकारी रूप प्रदान करने की योग्यता न होती तो आज कबीर आदि सन्तों को सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र में उतना सम्मान प्राप्त न हो पाता, जितना कि है।

सन्त-काव्य की कतिपय असंगतियाँ

परन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि सन्त कवि समाज पर वैसा व्यापक और गहरा प्रभाव डालने में सफल नहीं हो सके थे जैसा कि उनके परवर्ती तुलसी ने डाला था। इसका प्रधान कारण यह था कि एक तो वे लोग अशिक्षित थे, और निम्न वर्ग के होने के कारण समाज द्वारा उपेक्षित और प्रताड़ित होते रहे थे। अशिक्षित होने के कारण, अपूर्व सार ग्राहिणी दृष्टि रखते हुए भी वे अपने मन को एक ऐसा सुसंगत, सुव्यवस्थित, सर्वग्राह्य रूप देने में असमर्थ रहे थे, जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति को आकर्षित कर पाता। अशिक्षित होने के कारण वे साहित्यिक परम्पराओं से भी अनभिज्ञ थे, इसी कारण अपनी बात को सरल, स्पष्ट और आकर्षक रूप में नहीं कह पाते थे। यही कारण है कि उनके साहित्य का अधिकांश भाग ऐसा दुरूह और जटिल है कि उसका अर्थ ढूंढ़ निकालना सहज कार्य नहीं है। उन्होंने सुने-सुनाए ज्ञान के आधार पर उच्च दार्शनिक तत्त्वों को रूपकों और उलटबाँसियों द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न किया था परन्तु साहित्यिक-परम्परा से अनभिज्ञ रहने के कारण उनका यह प्रयत्न अटपटा और दुरूह बनकर ही रह गया। अशिक्षा के कारण उत्पन्न अटपटी रहस्योक्तियाँ अपढ़ और अविकसित चेतना वाले लोगों को ही प्रभावित कर पाती हैं, शिक्षितों को नहीं। सन्तों के विचार भी अपरिपक्व और अशास्त्रीय हैं। एक ओर वे

कीर्त्तन की महत्ता प्रतिपादित करते हैं तो दूसरी ओर ज्ञान की। कीर्त्तन में श्रद्धा का भाव प्रधान रहता है, पर वे श्रद्धा को कोई महत्त्व नहीं देते। वे एक ओर कर्मकाण्ड का विरोध करते हैं, तो दूसरी ओर हठयोग-साधना में आस्था रखते हैं। ये विरोधाभास ही उनके काव्य को एक ऐसा रूप नहीं बनने देते जो तुलसी के समान समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रभावित कर पाता।

इस सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि इन सन्त-कवियों को सामाजिक उपेक्षा और अपमान को भोगना पड़ा था। उनका वर्ग सदियों से इसी यातना को भोगता चला आ रहा था। उनके लिए धर्म, शास्त्र, मंदिर आदि सभी के द्वार बन्द थे। परन्तु जब रामानुज और रामानन्द के प्रयत्नों से इनके लिए भक्ति का द्वार खुल गया तो इनमें एक नई सामाजिक चेतना का उदय हुआ, जिसकी पृष्ठभूमि सिद्ध और नाथ-पंथी बहुत पहले से तैयार करते चले आ रहे थे, परन्तु जिसका सामाजिक प्रभाव सीमित ही रहा था। सन्तों में इस नई सामाजिक चेतना ने एक नयी उग्र कटुता की भावना भर दी। उन्हें भक्ति का अधिकारी स्वीकार किया जा चुका था जिसने उनमें स्वाभिमान की भावना उत्पन्न कर दी। परन्तु यह स्वाभिमान उनके संयम पर अंकुश न रख सका। वे उच्च वर्ग का विरोध करने की उत्कट इच्छा के कारण उश्रृंखल हो उठे। उन्होंने शास्त्र, धर्म पुरोहित वर्ग, ढोंगी साधु-सन्यासी आदि की अवहेलना करते हुए उन पर कठोर प्रहार किए, जो एक क्रान्तिदर्शी की दृष्टि से तो उचित थे परन्तु एक भक्त-हृदय के लिए अनुचित ही माने जायेंगे। भक्त-हृदय अशिष्ट नहीं होता। उसमें अपूर्व सहन-शक्ति, आत्म-संयम, सबके लिए स्नेह और कोमलता की भावना रहती है। और सन्त-कवि जब सामाजिक व्यवस्था पर आक्रमण करते हैं तो इन सारे गुणों को भूल जाते हैं।

सामाजिक दृष्टि से उनका यह विद्रोह सर्वथा उचित था। अन्याय, असमानता, ढोंग का विरोध होना ही चाहिए। और सन्तों ने यही किया था। परन्तु सन्त गण जहाँ समाज का विरोध करते हैं, वहाँ सुन्दर साहित्य का सृजन नहीं कर पाते। ऐसे स्थलों पर उनका मस्तिष्क प्रधान रहता है, हृदय का आक्रोश शान्त, शुभ भावनाओं की हत्या कर देता है और वे खंडन-मंडन, तर्क-वितर्क आदि के जाल में उलझ कर रह जाते हैं, उनका विवेक उनका साथ छोड़ जाता है। वे लोग उस कला से अनभिज्ञ हैं जो मन और हृदय को अच्छी न लगने वाली बातों को कहते समय उनमें एक शालीन व्यंग्य का समावेश कर उसे अधिक प्रभावशाली बना देती है। तुलसी इस कला को जानते थे, और कबीर आदि इसके वरदान से वंचित थे। इसी कारण सन्तों का खंडन-मंडनात्मक साहित्य सामाजिक अशिष्टता का ही प्रतीक बनकर रह गया है। वह संवेदनशील हृदयों को प्रभावित करने में असमर्थ रहा है।

सगुण-निर्गुण के मिश्रण का रहस्य

सन्तों में हमें एक विचित्रता और मिलती है। वे अपने उपास्य ब्रह्म को निर्गुण और निराकार बताते हैं और इसी रूप में उसका चित्रण भी करते हैं। शून्य-

समाधि आदि द्वारा वे उसी का ध्यान करते हैं और मानते हैं कि उससे साक्षात्कार होने पर वे उसके साथ मिलकर एकाकार हो जायेंगे। परन्तु साधना के इस क्षेत्र में वे अद्वैत की भावना को स्वीकार न कर विशिष्टाद्वैत की भावना ग्रहण करते हैं। और विशिष्टाद्वैत ही भक्ति-भावना की स्थापना करने वाला सिद्धान्त माना जाता है। सन्तों का ब्रह्म अद्वैतवाद के अनुरूप है परन्तु उनकी भक्ति-भावना उसे विशिष्टाद्वैत के अनुरूप बना उसका साकार-सा रूप ग्रहण करती है। इस विरोधाभास के कारण उनके काव्य में निर्गुण और सगुण ब्रह्म के दोनों रूपों का विचित्र सा मिश्रण हो जाता है। हम भक्ति का विवेचन करते हुए पीछे बता आए हैं कि भक्ति का आलम्बन साकार ही बन सकता है, निराकार नहीं। इसीलिए कबीर आदि सन्तों का ब्रह्म जब उनकी भक्ति-भावना का आलम्बन बनता है तो साकार-सा रूप धारण कर लेता है। भाव-विभोर होकर वे उसका वैसा ही वर्णन करते हैं जैसा कि सूर, तुलसी आदि भक्त-कवियों ने किया है। और वस्तुतः उन्होंने जहाँ अपनी भक्ति-भावना को व्यक्त किया है, उनके काव्य का वही अंश सच्चे अर्थों में काव्य बना सका है। उनके शेष साहित्य को काव्य नहीं माना जा सकता।

निर्गुण और सगुण का मिश्रण इन सन्तों की कोई निराली विशेषता नहीं रही है। भक्त-कवियों ने भी जहाँ अपने आराध्य के ब्रह्म रूप का वर्णन किया है, वहाँ उनके आराध्य राम और कृष्ण भी निर्गुण-निराकार बन जाते हैं। अन्तर केवल अनुपात का रहता है। भक्त-कवि साकार ब्रह्म की उपासना द्वारा निराकार ब्रह्म की भावना तक पहुँचते हैं जो भक्ति के विकास का स्वाभाविक क्रम है। इसके विपरीत सन्त कवि निराकार तक सीधे पहुँचना असम्भव और असाध्य जान, उसे साकार रूप में ग्रहण करने के लिए मजबूर हो जाते हैं। हमारा अनुमान है कि सन्तों की स्वाभाविक भक्ति-भावना साकार रूप की ही उपासिका रही होगी परन्तु अपने पूर्ववर्ती सिद्ध-नाथ पंथियों और महाराष्ट्र के सन्त कवियों के प्रभाव एवं उन्हें दीक्षा देने वाले गुरुओं के बन्धनों के कारण ही ब्रह्म को निराकार-निर्गुण मानना पड़ा होगा। कबीर 'राम' के नाम को तो स्वीकार कर लेते हैं परन्तु प्रयत्नपूर्वक उन्हें दशरथ-सुत राम से भिन्न घोषित करते हैं। आखिर इस घोषणा की जरूरत ही क्या थी? यहाँ स्वयं को अन्य से विशिष्ट और निर्गुण-निराकार का उपासक सिद्ध करने का ही प्रयत्न दिखाई पड़ता है। इसे साम्प्रदायिक आग्रह माना जा सकता है। यह कार्य वे जागरूक होकर करते हैं। परन्तु जब भक्ति के उन्मेष में निमग्न होते हैं, यह भूल जाते हैं कि वे अनायास ही साकार की उपासना कर रहे हैं।

सन्त नामदेव का उदाहरण—हिन्दी-साहित्य के कुछ आलोचकों ने महाराष्ट्र के सन्त नामदेव को हिन्दी सन्त-काव्य परम्परा का प्रवर्त्तक माना है। नामदेव की हिन्दी रचनाओं में सगुणोपासना और निर्गुणोपासना—दोनों प्रकार की उपासनाओं से सम्बन्धित पद मिलते हैं। नामदेव के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि पहले वह ब्रह्म के सगुण रूप विठोवा के उपासक थे और उनकी भक्ति में डूब, भक्ति के पद रचा और

गाया करते थे। वह अपने हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा से ही विठोवा की भक्ति की ओर आकर्षित हुए थे, किसी गुरु से दीक्षा लेकर नहीं। उन्हीं के समकालीन सन्त ज्ञानेश्वर माने जाते हैं। यह नाथपंथी निर्गुण-साधना से प्रभावित और उसी पंथ में दीक्षित थे। नाथपंथी अन्तर्मुख साधना द्वारा सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार को ही मोक्ष का मार्ग मानते थे। सन्त ज्ञानेश्वर नामदेव को अपने पंथ में लाना चाहते थे। वह नामदेव से कहा करते थे—"भगवान क्या एक ही जगह हैं, वे तो सर्वत्र हैं, सर्वव्यापक हैं। यह मोह छोड़ो। तुम्हारी भक्ति अभी एकांगी है, जब तक निर्गुण पक्ष की भी अनुभूति तुम्हें न होगी, तब तक तुम पक्के न होगे।' ज्ञानेश्वर नामदेव को नाथपंथ के योगमार्ग की ओर प्रवृत्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहे और अन्त में सफल हो गए। शुक्ल जी के शब्दों में—"अन्त में बेचारे नामदेव ने नागनाथ नामक शिव के स्थान पर जाकर विसोबा खेचर या खेचरनाथ नामक एक नाथपंथी कनफटे से दीक्षा ली।" इस दीक्षा लेने का कारण यह था कि निर्गुणपंथी इस मान्यता में विश्वास करते थे कि—'बिन गुरु होइ न ज्ञान।' इसीलिए ज्ञानी बनने के लिए बेचारे नामदेव को खेचरनाथ की शरण में जाना पड़ा था। और इस घटना का उल्लेख उन्होंने स्वयं इन शब्दों में किया है—

'सुफल जन्म मोको गुरु कीना। दुख बिसार सुख अन्तर दीना॥
ज्ञान दान मोको गुरु दीना। राम नाम बिन जीवन हीना॥'

और इस दीक्षा-संस्कार के उपरान्त ही विठोवा के प्रति उनकी कोमल प्रेम-भावना, विरह आदि तिरोहित हो जाता है और वे कबीर के समान अक्खड़ बन कह उठते हैं —

'किसू हूँ पूजूँ दूजा नजर न आई।
एके पाथर किज्जे भाव। दूजे पाथर धरिए पाव।
जो वो देव तो हम भी देव। कहै नामदेव हम हरि की सेव॥'

यहाँ मूर्ति-पूजा का स्पष्ट तिरस्कार मिलता है। आश्चर्य है कि विठोवा के विग्रह के दर्शन न कर पाने पर उनके विरह में व्याकुल हो उठने वाला आर्त्त भक्त किस प्रकार मूर्तिपूजा का विरोधी बन जाता है। हम नामदेव के ऐसे पदों की तुलना में जब उनके सगुण-भक्ति सम्बन्धी पदों को रखते हैं तो सहसा विश्वास नहीं हो पाता कि वे नामदेव के ही रचे हुए हैं। सगुणोपासना सम्बन्धी उनका एक पद द्रष्टव्य है—

'अंबरीष को दियो अभयपद, राज बिभीषन अधिक कर्यो।
नवनिधि ठाकुर दई सुदामहि, ध्रुव जो अटल अजहूँ न टर्यो॥
भगत हेत मार्यो हिरनाकुस, नृसिंह रूप ह्वै देह धर्यो।
नामा कहै भगतिबस केसव, अजहूँ बलि के द्वार खर्यो॥'

इस पद में से यदि 'नामा' शब्द को हटा दिया जाय तो यह पद राम या कृष्ण के किसी भी भक्त का माना जा सकता है निर्गुण भक्ति में अहंकार का स्थान रहता है और यह अहंकार तभी तिरोहित होता है जब निर्गुण रूप का उपासक किसी-न-किसी रूप में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सगुण रूप की भावना का आश्रय ग्रहण कर लेता है। वस्तुतः निर्गुण-निराकार का केवल ध्यान किया जा सकता है, उसके प्रक्ति भक्ति नहीं की जा सकती।

कबीर आदि ने अपने राम को पौराणिक राम से भिन्न इसलिए माना था कि यदि वे दशरथ-सुत राम को स्वीकार कर लेते तो उन्हें उन सम्पूर्ण सामाजिक और धार्मिक मर्यादाओं को भी स्वीकार करना पड़ता, राम जिसके अंग थे। और वे ऐसा स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि वे उन रूढ़ मर्यादाओं के विरोधी थे, जिनके कारण उनके वर्ग को युग-युगान्तर से उपेक्षा, अपमान और अन्याय मिलता आ रहा था। इसीलिए कबीर जागरूक रह कर बार-बार अपने राम को उस परम्परागत पौराणिक पुरुष (राम) से भिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न करते दीखते हैं। जैसे—

'राम नाम तिहुँ लोक बखाना,
राम नाम का मरम है आना।'

इसीलिए कबीर उस पौराणिक पुरुष (राम) की उपासना के स्थान पर निर्गुण राम की उपासना करने पर बल देते हैं—

'निर्गुण राम जपहु रे भाई, अविगत की गति लखी न जाई।'

सन्त-काव्य का महत्त्व

यहाँ इस सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है। यदि सन्त-काव्य में भक्ति-भावना पूर्ण पदों की रचना न की गई होती तो इस सम्पूर्ण काव्य को उसी प्रकार काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत कर देना पड़ता, जिस प्रकार सिद्धों और नाथों के साहित्य को कोई महत्त्व नहीं प्रदान किया गया है। उनके रचे हठयोग-साधना, खंडन-मंडन आदि सम्बन्धी साहित्य का साहित्यिक मूल्य अधिक नहीं है। उनका मूल्य उस युग की सामाजिक चेतना का अध्ययन करने की ही दृष्टि से है। क्योंकि उसमें वह सौन्दर्य नहीं मिलता, जो काव्य को 'साहित्य' की संज्ञा प्रदान करता है; वह संवेदनशीलता नहीं मिलती, जो हृदय को झकझोर तक रख देती है, तन्मय बना देती है। सन्त-साहित्य का सर्वाधिक सुन्दर अंश वही है, जहाँ सन्तों ने भाव-विगलित होकर विरह-मिलन के गीत गाए हैं। और ऐसे ही स्थलों पर उनका निराकार-निर्गुण साकार-सगुण बन जाता है। कबीर एक सफल कवि नहीं थे, वे एक सफल युग द्रष्टा, उग्र क्रान्तिकारी और उस नव-युग के एकछत्र पथ-प्रदर्शक थे। उनके काव्य में उस युग का सम्पूर्ण द्वन्द्व, नव-जीवन की अदम्य कामना और नव-निर्माण का एक उग्र स्वर गुंजरित हो रहा है। इस दृष्टि से कबीर-साहित्य का महत्त्व अनन्य है, यदि हम केवल काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से ही उसका मूल्यांकन करने का आग्रह त्याग

सकें, तो। कबीर का साहित्य एक युग-निर्माता का साहित्य है, उसी प्रकार जिस प्रकार गांधी और नेहरू का साहित्य युग-निर्माताओं का साहित्य रहा है। युग-निर्माताओं द्वारा रचित साहित्य में व्याप्त लोक-कल्याण की भावना ही उसे स्पृहणीय बना देती है। कबीर का साहित्य ऐसा ही था। इसलिए काव्य-सौन्दर्य की अधिक चिन्ता न करते हुए हमें उसका सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही अध्ययन और मूल्यांकन करना चाहिए।

सन्तों का काव्य संस्कृत बुद्धि और संस्कृत हृदय को भले ही न प्रभावित कर पाया हो और न कर पाता हो, क्योंकि उसके लिए इनकी वाणी में कोई नई बात नहीं थी, कोई विशेष आकर्षण नहीं था। परन्तु अशिक्षित जन-साधारण पर इनका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। इन कवियों ने उनमें एक नई चेतना उत्पन्न कर दी थी। वह अपने सामाजिक और व्यक्तिगत महत्त्व को अनुभव करने लगे थे। शुक्ल जी ने सन्त-कवियों की इसी उपलब्धि को स्वीकार करते हुए लिखा है—"....अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन सन्त महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च-विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडम्बरों का तिरस्कार करके, आत्म-गौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होंने उसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। पाश्चात्यों ने इन्हें जो 'धर्म सुधारक' की उपाधि दी है, वह इसी बात को ध्यान में रखकर।"

सन्त-कवि हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न मत-मतान्तरों, हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष, सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों को दूर कर एक ऐसी उपासना-पद्धति का निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील थे जिसे समाज का प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी भी प्रकार के संकोच या भेदभाव के अपना सके। इसीलिए उन्होंने अपनी उपासना-पद्धति को एक ऐसा रूप प्रदान किया था जो व्यक्तिगत न रह कर सामाजिक उपासना का रूप ही अधिक रहा था। शुक्ल जी के अनुसार—

"इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धति का प्रचार करना था, जिसमें हिन्दू और मुसलमान—दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्त्तिपूजा का खण्डन ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे, और मुसलमानों की कुरबानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहदनाद, सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिन्दू ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह कि ईश्वर पूजा की उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म में भेदभाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्त्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।"

अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति में इन्हें बहुलांश में सफलता भी मिली थी। समाज का अशिक्षित वर्ग सिद्धों, नाथों आदि के चमत्कारपूर्ण प्रभावों से मुक्त हो इनकी बातों को ध्यान से सुनने और अपनाने लगा था। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कबीर के

शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। उस समय ये दोनों ही उन्हें अपनी-अपनी जाति का बताते और सिद्ध करते थे। कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती प्रचलित है कि इनके मरने पर इनके हिन्दू-मुसलमान शिष्यों में इस समस्या को लेकर झगड़ा उठ खड़ा हुआ था कि इन्हें जलाया जाय या दफनाया जाय। और समस्या का अन्त, उक्त किम्वदन्ती का अन्तिम अंश कर देता है; जिसके अनुसार इस विवाद को शान्त करने के लिए जब कबीर के शव पर पड़ी चादर को हटाया गया तो वहाँ कुछ फूल पड़े मिले, जिन्हें हिन्दू-मुसलमानों ने आपस में बाँट लिया। यह किम्वदन्ती यह प्रमाणित करती है कि कबीर हिन्दू और मुसलमान—दोनों में ही समान रूप से लोकप्रिय थे।

सन्तकाव्य की सामान्य विशेषताएँ

सन्त-काव्य पर अपनी पूर्व चिन्तन-पद्धतियों, साधना रूपों आदि का प्रभाव रहा तो अवश्य था परन्तु इसके निर्माता सन्त-कवियों ने इन सारे प्रभावों को आत्मसात् कर अपनी नवीन चिन्तन और उपासना-पद्धति को एक ऐसा जनवादी रूप प्रदान कर दिया था जो उस युग की सामान्य जनता द्वारा स्वीकार्य हुआ था। सन्तों के पूर्ववर्ती सिद्ध, नाथपंथी आदि व्यक्तिगत साधना के विश्वासी थे। उनकी साधना-पद्धतियों में शास्त्रीय बन्धनों का विधान था। वे लोग साधक के सामाजिक जीवन की उपेक्षा करते थे। इसी कारण गृहस्थ-जीवन की अवहेलना कर, सन्यासी बन, अपने सम्पूर्ण सामाजिक दायित्व को भूल, व्यक्तिगत साधना द्वारा सिद्धि और मुक्ति प्राप्त करने के आकांक्षी थे। इसके विपरीत, सन्तों ने मानव की सामाजिक स्थिति और उसके महत्त्व को मान्यता प्रदान कर एक ऐसी उपासना-पद्धति का प्रवर्त्तन किया था, जिसे गृहस्थ रहते हुए भी अपनाया जा सकता था।

सिद्धों और नाथों से सन्त गण एक बात में और भिन्न थे। सिद्धों-नाथों ने बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, जाति-पाँति, शास्त्राभ्यास आदि का खण्डन केवल इसलिए किया था जिससे जन-सामान्य इन बातों की ओर से विमुख हो, उनका अनुसरण करे, उनकी श्रेष्ठता और महत्ता को स्वीकृति प्रदान करे। इसीलिए जनता को प्रभावित करने के लिए वे सिद्धियों द्वारा प्राप्त चमत्कारों का प्रदर्शन कर जनता को आतंकित करने का प्रयत्न करते रहते थे। जनता उनसे डरती थी, इसी कारण उनके प्रभाव को स्वीकार करने के लिए मजबूर हो जाती थी। सन्तों ने, इसके विपरीत, विवेक और स्नेह भरी सात्त्विकता का मार्ग अपनाया था। योग-साधना सन्त भी करते थे, परन्तु इस बात का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता कि उन्होंने अपनी योग-शक्ति द्वारा चमत्कार प्रदर्शन कर जनता को प्रभावित या आतंकित करने का प्रयत्न किया हो। उनकी योग-साधना विशुद्ध रूपेण व्यक्तिगत साधना थी। उनका कहना था कि योग-साधना द्वारा शरीर को शुद्ध और मन को संयमित कर मानव-कल्याण की शक्ति अर्जित की जा सकती है। सन्त रूढ़ि, परम्परा, शास्त्र आदि के विरोधी और कुछ सीमा तक स्वतन्त्र चिन्तक थे

इन बातों ने उनके द्वारा रचित साहित्य में कुछ ऐसी विशेषताएँ उत्पन्न कर दी थीं, जो सम्पूर्ण सन्त-काव्य में समान रूप से दिखाई पड़ती हैं। सभी सन्तों ने लगभग एक सी ही बातें कही हैं जिन्हें देखकर ऐसा लगता है—मानो कोई गुरु पाठशाला में बैठा पाठ पढ़ा रहा हो और सारे शिष्य समवेत स्वर में उसी पाठ को दुहरा रहे हैं। इन विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) **निर्गुणोपासक**—सन्तों का ईश्वर निर्गुण और एक है। एक तरफ वह अद्वैतवादी ब्रह्म और सूफियों के खुदा के समान अरूप, अनाम, सर्वव्यापी आदि बना रहता है और दूसरी ओर कहीं-कहीं सगुण रूप की भी झलक दे जाता है। साथ ही वह इस्लामी एकेश्वरवाद का भी प्रतिनिधि प्रतीत होने लगता है। इसी कारण कुछ लोग उनकी ईश्वरीय भावना को अस्पष्ट और असंगत सी बताते हैं। सन्तों का ईश्वर सदैव उनके घट (हृदय) में ही निवास करता है, परन्तु उसे देखा जा सकता है अथक साधना द्वारा प्राप्त ज्ञान-ज्योति द्वारा ही। यद्यपि उन्होंने अपने इस निर्गुण-निराकार ब्रह्म को नाम पौराणिक ही दिए हैं, जैसे—राम, कृष्ण, केशव, गोपाल आदि; परन्तु इन पौराणिक महापुरुषों से उसका साम्य केवल नाम-साम्य के रूप में ही है, अन्य बातों में वह इनसे नितान्त भिन्न है। कबीर ने इसी भेद को स्पष्ट करते हुए कहा था—

'राम नाम तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥'

वस्तुतः सन्तों के निर्गुण-निराकार ब्रह्म की कोई एक निश्चित रूपरेखा नहीं प्रस्तुत की जा सकती। कहीं वह ध्यान का आलम्बन बन जाता है और कहीं भक्ति का। इसका कारण यह था कि सन्तों ने उसकी कल्पना विभिन्न प्रकार के परस्पर विरोधी से प्रभावों द्वारा प्रभावित होकर की थी; इसीलिए उसका एक निश्चित रूप नहीं बन पाया था। वैसे साधारणतः वह शून्य, निरंजन, अगम्य, वर्णनातीत और सर्वव्यापक एवं मानव-मात्र के लिए उपास्य है। उसकी प्राप्ति प्रेमानुभूति द्वारा प्राप्त सहज-समाधि से ही सम्भव है।

ईश्वर के ऐसे स्वरूप की कल्पना के कारण ही सन्तों ने अवतारवाद और बहुदेववाद का खण्डन और विरोध किया है, क्योंकि इन्हें मान लेने पर ईश्वर को साकार-सगुण और सामाजिक रूप में स्वीकार करना पड़ता जो उनकी मूल भावना के विरुद्ध था। इसी कारण उन्होंने त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—की निन्दा करते हुए उन्हें मायाग्रस्त और ब्रह्मरूप अक्षय वृक्ष की शाखाएँ माना है। कबीर ने कहा है—

'अक्षय पुरुष इक पेड़ है, निरंजन वाकी डार।
त्रिदेव साखा भए, पात भया संसार॥'

कुछ आलोचक सन्तों के इस दृष्टिकोण पर इस्लामी एकेश्वरवाद का प्रभाव मानते हैं, परन्तु यह सिद्धों और नाथों के परम्परागत चिन्तन का ही प्रतिफलन है।

और उसका मूल अद्वैतवाद में है। वस्तुतः सन्तों का यह ब्रह्म सगुण-निर्गुण से परे किसी अनिर्वचनीय व अज्ञेय परन्तु अनुभवगम्य परम तत्त्व प्रतीत होता है, जो सन्तों की मौलिक उद्भावना रही है। ब्रह्म के इस स्वरूप का स्पष्ट रूप सन्तों की भावना में भी स्पष्ट नहीं हो पाया है, इसी कारण कबीर ने हार कर कहा है—

'भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहौं तौ झूठ ।
मैं का जाणौं राम कूँ, नैनन कबहुँ न दीठ ।।'

और फिर वह उसका वर्णन भी करते हैं—

'जाके मुख माथा नहीं, नाही न रूप कुरूप ।
पुहुप बास ते पातरा, ऐसा तत्त अनूप ।।'

(२) **रहस्यवाद**—ब्रह्म के ऐसे अस्पष्ट रूप की उपासना करने में रहस्य भावना का आ जाना स्वाभाविक था। सन्त कवि जब ऐसे अस्पष्ट, रहस्यमय ब्रह्म के साथ प्रेम और प्रणय का सम्बन्ध स्थापित करते हैं, वहाँ उनकी उक्तियाँ अटपटी, अस्पष्ट और भावोद्वेलन के कारण ऐसा विचित्र रूप धारण कर लेती हैं कि उनमें अंकित ब्रह्म न तो निराकार रह पाता है, और न साकार ही। विद्वान् ऐसी ही उक्तियों को रहस्यवाद कहते हैं। सूफियों में भी हमें यही स्थिति मिलती है। मिलन और विरह की अनुभूति साकार-रूप के प्रति ही सम्भव हो सकती है और सन्त अपने ब्रह्म को साकार मानने को प्रस्तुत नहीं। ऐसी स्थिति में, कबीर के शब्दों में, यह दशा हो उठती है—

'आइ न सकौं तुज्झ पै, सकूं न तुज्झ बुलाइ ।
जियरा यों ही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ ।।'

अलौकिक, अरूप के साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने का यही परिणाम होता है। कुछ लोग सन्तों की इस प्रणयानुभूति पर सूफियों का प्रभाव मानते हैं। वैसे सूफियों में भी यही स्थिति मिलती है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि प्रणयानुभूति के इस चित्रण में कौन किससे प्रभावित था। महाराष्ट्री सन्तों में भी हमें इस मनोरम परन्तु अटपटी-सी प्रणयानुभूति के दर्शन मिल जाते हैं। इसलिए सम्भव है यह किसी पुरातन काल से चली आती परम्परा का प्रभाव हो। परन्तु यह स्पष्ट है कि विरहानुभूति के चित्रण में सन्त, सूफियों से प्रभावित रहे हैं। इनके विरह-वर्णन में रक्त, खून के आँसू, हड्डी आदि का ऊहात्मक वर्णन वैसा ही मिलता है, जैसा कि सूफियों में रहा है।

सन्तों में इसके अतिरिक्त रहस्यवाद वहाँ भी माना गया है, जहाँ उन्होंने हठयोग की क्रियाओं का वर्णन किया है। परन्तु यह रहस्यवाद उन्हें ही प्रतीत होता है जो हठयोग की प्रक्रियाओं से परिचित नहीं हैं। लोगों ने इसे योगपरक रहस्यवाद कहा है। इनमें रहस्यवाद वहाँ भी मिलता है जहाँ वे उलटबाँसियों के रूप में गुह्य साधना का वर्णन करते हैं।

(३) **शृंगार का उभय-पक्षी चित्रण**—सन्तों में प्रेम-भावना भक्ति के क्षेत्र में मिलती है। शुक्लजी ने इनके प्रेमतत्त्व की प्रशंसा करते हुए कहा है कि—"कबीर का 'ज्ञानपक्ष' तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा, पर सूफियों से जो प्रेमतत्त्व उन्होंने लिया, वह सूफियों के यहाँ चाहे काम-वासना ग्रस्त हुआ हो, पर 'निर्गुण पंथ' में अविकृत रहा। यह निस्सन्देह प्रशंसा की बात है।" सन्तों ने यद्यपि अपने ब्रह्म राम से अनेक प्रकार के सांसारिक सम्बन्ध स्थापित किए हैं, परन्तु उन सब में से पति-पत्नी का सम्बन्ध ही अधिक उभर कर ऊपर आया है। प्रेम की व्यंजना का तीव्रतम रूप पति-पत्नी सम्बन्ध में ही व्यक्त होता है। कारण, पति-पत्नी में अन्तराय नहीं रहता। सन्तों ने इसी कारण अपनी प्रेमासक्ति राम को पति और स्वयं को उनकी पत्नी मानकर व्यक्त की है और शृंगार का उज्ज्वल एवं तीव्रतम रूप इसी सम्बन्ध में प्रकट होता है। कबीर बहुरिया बन अपने भरतार राजा राम का अपने घर पर स्वागत करते हैं और फिर उनके साथ मन-रति, तन-रति कर एकाकार हो जाते हैं। 'मदमाते जोबन' से भरी यह 'बहुरिया' अखंड आनन्द प्राप्त कर अखंड सुहागिनी बन जाती है। यह शृंगार का संयोग-पक्ष है। कबीर ने इसका वर्णन खूब किया है। इस संयोग-पक्ष के चित्रण में "रूपाकर्षण जन्य अनुराग, प्रिय मिलनातुरता, आगत पतिका का हर्षोल्लास, प्रथम-समागम-भीता नवोढा की लज्जा, रस-रंग में एकात्मकता, स्वाधीन पतिका का सहज दर्प, अभिसारिका की मिलनोत्कंठा, वासक सज्जा की प्रिय-प्रतीक्षा, भूला भूलना" आदि का अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन हुआ है।

कबीर के संयोग-पक्ष में हमें जो गहन तन्मयता और उल्लास की भावना मिलती है, उनके विरह-पक्ष में वैसी ही तीव्र, हृदयभेदक विरहानुभूति के दर्शन होते हैं। प्रियतम की प्रतीक्षा में अधीर विरहिणी पथिकों से अपने प्रियतम का सन्देश पूछती है—

'बिरहिन ऊभी पंथ सिर, पंथी बूझै धाइ।
एक शब्द कहि पीव का, कबरे मिलेंगे आइ॥'

मिलन-विरह के इन चित्रणों में अलौकिक के प्रति प्रणयासक्ति शुद्ध लौकिक रूप धारण कर लेती है। और इसके विपरीत होना असम्भव था। अरूप के प्रति प्रणयासक्ति हो ही नहीं सकती। प्रणय-भावना का आलम्बन बनने के लिए उसे साकार रूप धारण करना ही पड़ेगा।

भक्तों और सन्तों के इस प्रणय भावनाश्रति शृंगार चित्रण में एक उल्लेखनीय अन्तर मिलता है। भक्तों ने अपनी प्रणयासक्ति को कहीं भी, स्वयं को प्रियतमा और आराध्य को प्रियतम मान व्यक्त नहीं की है। राम-काव्य में तो प्रणय-भावना का प्राधान्य रहा ही नहीं है। अलबत् कृष्ण-काव्य में माधुर्य भक्ति की अभिव्यक्ति होने के कारण, इसका विस्तृत चित्रण हुआ है। परन्तु वह या तो राधा के माध्यम से हुआ है, या गोपियों के माध्यम से। सन्तों ने ऐसे किसी भी माध्यम को स्वीकार

न कर स्वयं को ही प्रियतमा के रूप में अंकित किया है। 'प्रेम के उत्कट उपासक सूफियों तक में हम प्रेम-भावना को किसी अन्य माध्यम द्वारा, और वह भी लौकिक माध्यम द्वारा व्यक्त होता हुआ पाते हैं। सन्तों ने यह विचित्र भावना कहाँ से ली ? यह कहना कठिन है। हम आगे चलकर कृष्ण-काव्य के उत्तरांश में 'सखी-सम्प्रदाय' जैसे सम्प्रदायों का जन्म होता हुआ देखते हैं, जिनके अनुयायी स्वयं को सखी मान कृष्ण की पति या प्रेमी रूप में उपासना करते हैं। ये लोग स्वयं भी नारी-वेश धारण कर रहते हैं। राम-भक्तों में भी ऐसे सम्प्रदायों का उदय हो चुका है। और राम-काव्य के पक्षपाती आचार्य शुक्ल ने राम-भक्तों में इस नई उपासना-पद्धति के उत्पन्न होने का सारा दायित्व और कलंक कृष्ण-भक्तों पर थोप दिया है। हमारा अनुमान है कि सम्भव है कबीर आदि सन्तों में स्वयं को प्रियतमा मानने की जो प्रवृत्ति मिलती है, उसी का प्रभाव कृष्ण-भक्तों और राम-भक्तों पर समान रूप से पड़ा हो।

(४) **सामाजिक अन्याय का विरोध**—सन्त सामाजिक क्रान्तिकारी थे। उन्होंने इस प्रकार के सामाजिक अन्याय का विरोध किया था। जाति-पाँति की विषमता, धनी-निर्धन का भेद, छूआछूत, हिन्दू-मुसलमान में विद्वेष और भेदभाव की उन्होंने खुलकर निन्दा की थी और मानव मात्र को समान मानने की आवाज उठाई थी। उनका दृष्टिकोण यह था कि जाति या धर्म के आधार पर किसी को भी ऊँचा या नीचा नहीं समझना चाहिए। सब उसी एक खुदा के बन्दे हैं और सब को समान रूप से उसका भजन करने का अधिकार है—

'जाति पाँति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो, हरि का होई।'

हरि का भक्त होने के कारण वे स्वयं को किसी से भी हीन नहीं समझते थे। भगवान के यहाँ से सब एक ही रूप में और एक ही राह से संसार में आते हैं परन्तु यह संसार बाद में, उनमें भेद उत्पन्न कर देता है। ब्राह्मण स्वयं को श्रेष्ठ और शूद्र को हीन और त्याज्य मानने लगता है। कबीर ने इसी कारण काशी के विद्वान् ब्राह्मणों को चुनौती देते हुए कहा था—

'तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, चीन्ह न मोर गियाना।
तू जो बाँभन बँभनी जाया, आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया।।'

इस मामले में वे हिन्दू और मुसलमान—दोनों को ही गुमराह मानते थे—

'अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई।'

(५) **आडम्बर और रुढ़ियों-परम्पराओं का विरोध**—सन्तगण जानते थे कि धर्म के ठेकेदारों ने अपनी इस ठेकेदारी को कायम रखने के लिए रूढ़ियों और

परम्पराओं की दुहाई दे ऐसा आडम्बर रच रखा था जो इस सामाजिक अन्याय को जन्म देने वाला था। इसी कारण उन्होंने सभी प्रकार की रूढ़ियों, परम्पराओं और आडम्बरों का विरोध कर सच्चे, सरल, निराडम्बर भक्ति-मार्ग पर चलने की आवाज उठाई थी। वे जानते थे कि मूर्तिपूजा, तीर्थ-व्रत, रोजा-नमाज-हज्ज-यात्रा आदि के रूप में हिन्दू-मुसलमान—दोनों में कितना आडम्बर और उसके आधार पर शोषण होता था, इसी कारण उन्होंने इन सबका डटकर विरोध किया था। धर्म के ये ठेकेदार प्राचीन शास्त्रों की दुहाई और प्रमाण देकर अपने इन कुत्सित कर्मों को न्याय्य सिद्ध करते थे, इसलिए सन्तों ने वेद-शास्त्र, कुरान आदि सभी का बहिष्कार करने की माँग उठाई थी। और सच्ची बात कहने वाले को सदैव निहित स्वार्थों के विरोध और अत्याचार का सामना करना पड़ता है, इसलिए हिन्दू और मुसलमान—दोनों के उच्च-वर्गों ने इन सन्तों का विरोध किया था। कबीर को तो सिकन्दर लोदी ने शारीरिक यंत्रणाएँ तक दी थीं। परन्तु सामान्य जनता के ये प्रिय और लाड़ले थे। वह इन्हें अपना रहनुमा मानती थी।

(६) **लोक-कल्याण की उत्कट भावना**—सन्त अपने इस विद्रोह द्वारा लोक-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने के अभिलाषी थे। यदि ये मात्र हठयोगी होते तो घरबार त्याग स्व-आत्म-कल्याण का ही मार्ग प्रशस्त करते रहते, लोक के प्रति अपना कोई दायित्व न समझते। परन्तु ये लोग तो लोक में रह, लोकधर्म का पालन करते हुए उस सामाजिक अन्याय का विरोध कर रहे थे जिसके कारण समाज का विशाल अंग तो उपेक्षित, दलित और शोषित जीवन बिताने को मजबूर कर दिया गया था, और जिसके शोषण पर समाज का अल्पमत मौज और ऐश की जिन्दगी गुजार रहा था। और अपने इस पावन प्रयत्न में इन्हें काफी सफलता मिली थी। इन्होंने जन-सामान्य में आत्म-गौरव की दीप्ति भर दी थी, जिसके कारण उन्होंने हर प्रकार के अन्याय-अत्याचार का प्रतिरोध करने की शक्ति प्राप्त कर ली थी। इसी कारण कुछ आलोचकों ने कबीर को अपने युग का गांधी माना है।

(७) **नारी के प्रति दृष्टिकोण**—प्रायः सन्तों पर यह लांछन लगाया जाता है कि उन्होंने नारी को कुटिल, कुत्सित और त्याज्य माना है। परन्तु ऐसी धारणा तभी बनती है, जब हम तथ्य को ठीक तरह से परख पाने में असमर्थ रहते हैं। सन्तों का नारी के प्रति ऐसा गर्हित दृष्टिकोण हो ही नहीं सकता था क्योंकि वे स्वयं गृहस्थ थे। उनके पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि सभी कुछ थे। वे लोग नारियों को अपने धर्म में दीक्षा भी देते थे। जो सन्त पतिव्रता नारी की इतनी प्रशंसा कर सकते थे कि—

'पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर, वारौं कोटि सरूप॥'

वे नारी-मात्र की कभी निन्दा नहीं कर सकते थे। उन्होंने नारी के केवल कामिनी रूप की निन्दा की है, उसे माया अतः पथभ्रष्ट करने वाली माना है। साथ

ही उन्होंने नारी के प्रति अत्यधिक आसक्ति को गर्हित बताया है। नारी के शुभ रूप की उन्होंने कहीं भी निन्दा नहीं की है। सन्तों पर नारी-निन्दा करने का लांछन लगाना उसी प्रकार की बुद्धि का परिचायक है जो तुलसी को भी नारी-निन्दक घोषित करती आई है और अपने समर्थन में 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।' पंक्ति को उद्धृत करती रहती है। और उन पंक्तियों की तरफ ध्यान तक देना उचित नहीं समझती जिनमें तुलसी ने नारी के शुभ रूप की प्रशस्ति गायी है। ऐसी ही बुद्धि वाले लोग सन्तों को नारी-निन्दक सिद्ध करने के लिए कबीर का यह दोहा उद्धृत करते आए हैं—

'नारी की झांई परत, अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारी के संग॥'

(८) सद्गुरु, नाम-स्मरण और भजन की महिमा—सभी सन्तों ने ब्रह्म-साधना के लिए सद्गुरु का पथ-प्रदर्शन अनिवार्य माना है। सद्गुरु ही उन्हें परम तत्त्व के रहस्य से परिचित करा, उनके हृदय में उसके प्रति अनन्य प्रेम की भावना उत्पन्न करता है। यदि सद्गुरु पथ-प्रदर्शन न करे तो ब्रह्माराधना असम्भव है। इसी कारण सन्तों ने सद्गुरु को अत्यधिक महत्त्व दे, कहीं-कहीं उसे ब्रह्म के समकक्ष तक माना है। कबीर इसी भावना से भर कहते हैं—

'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पायँ।
बलिहारी वा गुरु की, जिन गोविन्द दियो बताय॥'

कबीर से पहले सन्त नामदेव भी गुरु की इस अनुकम्पा का आभार स्वीकार कर चुके थे। उन्होंने गुरु-दीक्षा लेने के उपरान्त कहा था—

'सुफल जनम मोको गुरु कीना। दुख बिसारि सुख अन्तर दीना।'

इसी प्रकार सन्तों ने नाम-स्मरण और भजन को अपनी साधना में बहुत महत्त्व दिया है। वे बाह्य-विधानों से परिपूर्ण किसी भी साधना-पद्धति में आस्था नहीं रखते। मानसिक चिन्तन अर्थात् अपने आराध्य का, मन को एकाग्र कर, स्मरण करना ही उनके यहाँ अभिप्रेत रहा है। इस क्षेत्र में वे इतना अधिक ध्यान रखते हैं कि कहीं उनकी उपासना का पता बाह्य संसार को न लग जाय, वरना उन्हें भी ढोंगी मान लिया जायेगा। इसीलिए वे कहते हैं—

'सहजो सुमिरन कीजिए, हिरदै माहिं छिपाइ।
होठ होठ सूं ना हिलै, सकैं नहीं कोइ पाइ॥'

(९) भाषा और शैली—सामान्य रूप से सन्तों की भाषा को सधुक्कड़ी कहा गया है। यह ऐसी भाषा है जिसमें अनेक प्रादेशिक भाषाओं के शब्दों का मिश्रण है। इनकी यह भाषा बोलचाल की तो रही है, परन्तु इसकी एक विशेषता ऐसी है जिसकी ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। और वह विशेषता यह है कि सन्तों ने जहाँ भक्ति-भावना में आकण्ठ डूब मिलन-विरह के गीत गाये हैं, वहाँ उनकी भाषा कोमल,

ललित, परम्परागत, काव्य-भाषा ब्रज का रूप धारण कर लेती है; और जहाँ उन्होंने अपने निर्गुण पंथ, खण्डन-मण्डन, रहस्यमय उक्तियाँ आदि का क्षेत्र अपनाया है, इनका वर्णन किया है, वहाँ उनकी भाषा सधुक्कड़ी बन जाती है। उसमें हठयोग की पारिभाषिक शब्दावली का खुल कर प्रयोग होता है, अटपटे प्रतीक उसमें रहस्यमयता उत्पन्न कर देते हैं। यहाँ उनकी भाषा सिद्धों और नाथ-पंथियों की भाषा जैसी बन जाती है। हमें कबीर से पूर्व सन्त नामदेव में भाषा-विषयक इसी विशेषता के दर्शन होते हैं और कबीर आदि में भी यही प्रवृत्ति मिलती है। हम सन्त नामदेव के काव्य से दो उद्धरण देकर भाषा-विषयक इस विशेषता को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे—

भक्ति-भावना पूर्ण कोमल ब्रजभाषा का रूप—

'धनि-धनि रोमा-मेघावली, धनि-धनि कृष्ण ओढ़े कांबली।
धनि-धनि तू माता देवकी, जिह गृह रमैया कँवलापती॥
धनि-धनि वनखण्ड वृन्दावना, जहँ खेलै श्रीनारायना।
बेनु बजावै, गोधन चारै, नामे का स्वामि आनन्द करै॥'

निर्गुण पंथ वाली सधुक्कड़ी भाषा का रूप—

'किसू हूँ पूजूं, दूजा नजर न आई।
एके पाथर किज्जे भाव, दूजे पाथर धरिए पाँव॥
जो वो देव तो हम भी देवा, कहै नामदेव हम हरि की सेवा॥'

तथा,

'हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीत। नामा सोई सेविया जहँ देहरा न मसीत॥'

साहित्यिक दृष्टि से अर्थात् काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इनके काव्य का वही अंश सुन्दर बन पड़ा है जहाँ इन्होंने गीत-काव्य की शैली में मिलन और विरह के गीत गाए हैं। सामान्यतः इनकी भाषा और कथन-शैली का रूप जन-भाषा का ही रहा है। यह कहना गलत है कि वे पूर्णतः अशिक्षित थे, इसलिए साहित्यिक भाषा का प्रयोग करना नहीं जानते थे। क्योंकि इनके भक्ति-भावना पूर्ण पदों की भाषा साहित्यिक रही है।

उपर्युक्त विशेषताएँ सम्पूर्ण सन्त-काव्य में समान रूप से पाई जाती हैं। सन्तों में कबीर का साहित्य ही सर्वाधिक विस्तृत और प्रभावशाली रहा है, और अन्य सन्त-कवियों द्वारा रचित काव्य में भी लगभग वही बातें और विशेषताएँ मिलती हैं, जो कबीर-काव्य में रही हैं, इसलिए हमने कबीर को ही सन्त-काव्य का यथार्थ प्रतिनिधि मान, उन्हीं के उद्धरण देते हुए अपनी बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

प्रसिद्ध सन्त-कवि

कबीरदास

जीवन-वृत्त—कबीर के जन्म, जाति, जन्मस्थान, गुरु, मृत्यु-तिथि आदि के सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी विभिन्न किम्वदन्तियाँ और प्रमाण प्रस्तुत किये जाते रहे

हैं, जिनसे किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना दुष्कर हो उठा है। कबीर के जन्म के सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती प्रचलित है कि इनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था जिसे भूलवश स्वामी रामानन्द ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया था। कुछ विद्वानों ने इस किम्वदन्ती में से रामानन्द का नाम उड़ा कर केवल यह माना है कि इनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। कुछ लोगों ने रामानन्द को कबीर का गुरु भी माना है। इस सम्बन्ध में एक और किम्वदन्ती प्रचलित है कि रामानन्द, काशी में, ब्राह्म-मुहूर्त में गंगा-स्नान को जा रहे थे। घाट पर सीढ़ियों पर पड़े कबीर पर उनका पैर पड़ गया और उनके मुँह से 'राम, राम' शब्द निकल पड़े। कबीर ने इन्हीं शब्दों को गुरु-मन्त्र के रूप में स्वीकार कर रामानन्द को अपना गुरु मान लिया।

कबीर के जन्म से सम्बन्धित उपर्युक्त किम्वदन्ती आगे यह बताती है कि उस विधवा ब्राह्मणी ने लोक-लाज के भय से नवजात शिशु को काशी के लहरतारा तालाब के पास डाल दिया था। उसी समय वहाँ होकर नीमा और नीरू नामक जुलाहा-दम्पत्ति गुजरे, जो निस्सन्तान थे। उन्होंने उस बालक को उठा लिया और घर ले जाकर पाला-पोसा। यही बालक आगे चलकर महात्मा कबीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यदि इस किम्वदन्ती को सही मान लिया जाये, तो कबीर जन्म से हिन्दू और लालन-पालन से मुसलमान माने जाने चाहिए। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी यह मानते हैं कि इनका लालन-पालन काशी के किसी जुलाहा परिवार में हुआ था और यह जुलाहा परिवार ऐसा था जो कुछ समय पूर्व ही मुस्लिम-धर्म में दीक्षित हुआ था परन्तु उसने नाथपंथी सम्प्रदाय में दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

कबीर-पंथी इस किम्वदन्ती को एक अलौकिक रूप प्रदान कर उसे अलौकिक घटना मानते हैं। ये लोग कबीर को सत्यपुरुष मान यह कहते हैं कि सम्वत् १४५५, विक्रमी जेठ सुदी सोमवार को सत्य पुरुष का तेज काशी के लहरतारा नामक तालाब में अवतरित हुआ था। और वहीं नीरू जुलाहे की स्त्री को पुरइन के पत्र पर लेटा हुआ एक बालक मिला था। इनकी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध दोहा उद्धृत किया जाता है—

'चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रकट भए।।'

अर्थात् कबीर का जन्म सम्वत् १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को, सोमवार के दिन हुआ था। परन्तु डा० द्विवेदी का यह कहना है कि गणना करने से इस वर्ष की ज्येष्ठ पूर्णिमा को सोमवार नहीं पड़ता, बल्कि इससे अगले वर्ष सम्वत् १४५६ में पड़ता है। अतः कबीर का जन्म सं० १४५६ मानना चाहिए। डा० श्यामसुन्दर दास ने उपर्युक्त दोहे में आए 'गए' शब्द का अर्थ 'बीतने पर' मान, उनकी जन्म-तिथि सं० १४५६ ही मानी है।

कबीर जाति के जुलाहा थे, यह तथ्य किम्वदन्तियों तथा स्वयं कबीर की रचनाओं द्वारा प्रमाणित हो जाता है। कबीर के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

'कासी बसै जुलाहा एक, हरि भगतनि की पकड़ी टेक।'

कबीर ने स्वयं अपने को जुलाहा कहा है—

'तू बाँभन, मैं कासी का जुलाहा, चीन्ह न मोर गियाना।'

कबीर में सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध है कि वह घर पर कपड़ा बुना करते थे, जो जुलाहों का पेशा है। कबीर में हमें जाति-पाँति आदि के विरुद्ध जो इतनी कटुता मिलती है; उसका कारण सम्भवतः यही रहा हो कि अवैध सन्तान होने के कारण उन्हें समाज की भर्त्सना भोगनी पड़ी हो। धर्म की कट्टरता उच्च जाति और उच्च-समाज में ही अधिक पाई जाती है। कबीर निम्न जाति के थे या निम्न जाति में पाले-पोसे गये थे, इसलिए उनमें हमें धार्मिक कट्टरता नहीं मिलती। उनका स्वर तो हिन्दुओं का अर्थात् वैष्णवी रहा है; परन्तु उन्होंने जिस प्रकार मुल्ला-मौलवियों को भी फटकारा है, उससे यह अनुमान होता है कि इनका सम्बन्ध मुसलमानों से अवश्य रहा होगा।

कबीर किसके शिष्य थे? इस सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। पहले मत के अनुसार वह रामानन्द के शिष्य थे। कबीर-पंथी मुसलमान प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख तकी को कबीर का गुरु मानते हैं। रामानन्द को कबीर का गुरु मानने का आग्रह सम्भवतः इसलिए किया जाता है, क्योंकि कबीर ने स्वयं उन्हें अपना गुरु कहा है—

'नृमल भगति कबीर की चीन्ही, परदा खोल्या दछ्या दीन्हीं।
भाग बड़े रामानन्द गुरु पाया, जा मन मरन का भरम गमाया।।'

साथ ही यह भी कहा जाता है कि रामानन्द के साथ उन्होंने देशाटन भी किया था। कबीर ने रामानन्द को जो अपना गुरु बताया है, उसके मूल में सम्भवतः यह प्रेरणा रही है कि रामानन्द ने ही सबसे पहले भक्ति का एक अलग उदार मार्ग खोला था, जिसमें जाति-पाँति का भेद और खान-पान का आचार दूर कर दिया गया था। और कबीर ने अपने लिए इसी भक्ति-मार्ग को सर्वश्रेष्ठ समझ, स्वीकार कर लिया था तथा मन-ही-मन रामानन्द को अपना गुरु स्वीकार कर लिया होगा। हम जिसके सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेते हैं, उसे ही अपना गुरु अर्थात् पथ-प्रदर्शक मान लेते हैं। रामानन्द को कबीर का गुरु मानने का यही रहस्य है।

कहते हैं कबीर ने बड़ी लम्बी उमर पाई थी—एक-सौ बीस वर्ष की। इनकी मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। डा० बड़थ्वाल इसे सं० १५०९ तथा डा० रामकुमार वर्मा सं० १५४१ मानते हैं। वस्तुतः कबीर कब से कब तक जीवित रहे थे, इस सम्बन्ध में, किसी भी दृढ़ ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में किसी

निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव है। कुछ लोग सिकन्दर लोदी और कबीर को समकालीन मानते हैं और इस सम्बन्ध में यह जनश्रुति प्रचलित है कि कबीर के क्रान्तिकारी विचारों से रुष्ट हो, सिकन्दर ने उन्हें शारीरिक यातनाएँ दी थीं परन्तु कबीर का बाल भी बाँका नहीं हुआ था। इस घटना का उल्लेख अनन्तदास, हरिदास, रज्जन जी (सत्रहवीं सदी के भक्त) ने भी किया है। जैसे—

'कासी माहि सिकन्दर तमक्यो, गल में ढारि जंजीर का।
जिनको आय मिले परमेसुर, बन्धन काटि कबीर का॥'

सिकन्दर लोदी का समय, इतिहासकारों ने संवत् १५४५-७५ तक माना है। परन्तु मगहर में बिजली खाँ ने कबीर की जो समाधि बनवाई थी, उसका समय सं० १५०७ माना जाता है। कबीर का समय निर्धारित करने में जो इतनी दिक्कतें आई हैं और आ रही हैं, उसका कारण यही है कि हमारे प्राचीन कवियों ने अपने सम्बन्ध में अधिक बातें नहीं कही हैं। उनके सम्बन्ध में अन्य परवर्ती कवियों ने जो बातें कहीं हैं, जो तिथियाँ दी हैं, वह प्रायः जनश्रुति पर ही निर्भर रही हैं और जनश्रुतियों में सौ-पचास वर्ष का अन्तर हो जाना कोई अनहोनी-असम्भव बात नहीं है। सुनने की गलती से, भ्रम वश या असावधानी के कारण यदि एक बार किसी ने कोई गलत बात कह दी और समय पर उसका सुधार नहीं किया गया तो वह गलत बात प्रचार पा जाती है और कालान्तर में उसे ही सत्य माना जाने लगता है। गलत बात किस प्रकार प्रचार पा जाती है, इस सम्बन्ध में हमें एक अत्यन्त रोचक घटना याद है, जो इस प्रकार है—

एक बार हमारे एक मित्र डा० विशम्भर नाथ उपाध्याय को आँख में तकलीफ हो गयी। उन्हें अस्पताल में भर्ती करा दिया गया और डाक्टरों ने आँख में 'अल्सर' बताया। मामूली बात थी, इसलिए अधिक चिन्ता नहीं हुई। एक दिन हमारे एक दूसरे मित्र प्रो० घनश्याम अस्थाना को हमारे एक तीसरे मित्र डा० रामगोपाल सिंह चौहान मिले और बोले, 'भई घनश्याम, तुमने सुना, उपाध्याय की आँख में 'केन्सर' हो गया है।' अस्थाना साहब को असलियत मालूम थी। उन्होंने जब चौहान साहब के कथन में संशोधन करना चाहा कि 'नहीं, भाई, केन्सर नहीं, अलसर है' तो चौहान साहब बड़ी लापरवाही से बोले कि, 'भई, हमने सबसे केन्सर ही कह दिया है, इसलिए अब केन्सर ही चलने दो।' यदि चौहान साहब का यह 'केन्सर' प्रचार पा जाता तो आज डा० उपाध्याय को जीवित देख लोग चिकित्सा-शास्त्र की महान् उपलब्धि पर विश्वास कर लेते कि आज से दस वर्ष पूर्व ही डाक्टरों ने केन्सर का इलाज ढूँढ़ लिया था और वे लोग बेवकूफ थे जो इस बीमारी से बाद में भी मर गए। जनश्रुति कभी-कभी ऐसा ही चमत्कार दिखा देती है, इसलिए इस पर पूर्ण रूप से विश्वास नहीं किया जा सकता। अस्तु,

कबीर के परिवार और मृत्यु-स्थान के सम्बन्ध में भी कई जन-श्रुतियाँ प्रचलित हैं। जैसे—कबीर की पत्नी का नाम लोई था और उनके कमाल और कमाली

नामक पुत्र-पुत्री थे। कमाल पिता की भाँति भगवद्-भजन न कर धन कमाने में लगा रहता था, इसलिए कबीर उससे नाराज रहते थे। इसके विपरीत कबीर पंथियों का यह कहना है कि लोई उनकी पत्नी न होकर पालिता शिष्या थी। जो कुछ भी हो, परन्तु इतना सत्य है कि कबीर गृहस्थ थे और अपनी आजीविका स्वयं कमाते थे। उनके काव्य में गृहस्थ-जीवन के प्रति उपेक्षा-भाव कहीं भी नहीं मिलता। कबीर की मृत्यु कहाँ हुई थी, इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग मगहर में उनकी मृत्यु हुई मानते हैं परन्तु अन्य लोग भिन्न-भिन्न स्थानों में, जैसे—जगन्नाथपुरी और रतनपुर (अवध) में। परन्तु बहुमत मगहर को ही उनका मृत्यु-स्थान मानने के पक्ष में है।

कबीर का निधन कब हुआ था, इसके भी परस्पर भिन्न अनेक पुराने उल्लेख मिलते हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) **संवत पन्द्रह सौ पाँच में, मगहर कियौ गौन।**
अगहन सुदी एकादसी, मिल्यौ पौन में पौन॥

(२) **संवत पन्द्रह सौ पछत्तरा, कियौ मगहर को गौन।**
माघ सुदी एकादसी रलौ पौन में पौन॥

(३) **संवत पन्द्रह सौ उनहत्तरा हाई।**
सतगुरु चले उठ हंसा ज्याई॥

(४) **पन्द्रह सौ उनचास में, मगहर कियौ गौन।**
अगहन सुदी एकादसी, मिल्यौ पौन में पौन॥

उपर्युक्त पुराने कथनों अथवा साक्ष्यों के अनुसार कबीर का निधन संवत् १५०५, १५७५, १५६९, और १५४९ ठहरता है। इनमें से किसे सही माना जाये, यह समस्या बड़ी कठिन है। इनके विपरीत डा० रामकुमार वर्मा संवत् १५५१ में कबीर की मृत्यु हुई मानते हैं। संवतों के इस जमघट में से ठीक संवत् को खोज निकालना आसान काम नहीं है। मोटे रूप से हमारा अनुमान है कि कबीर पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी में जन्मे और मरे थे। हमारे विवेचन के लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त है क्योंकि संवतों की थोड़ी सी घटा-बढ़ी से हमारे विवेचन में कोई अन्तर नहीं पड़ने का (ठीक संवत् खोज निकालना इतिहासकारों का काम है।)

कबीर का व्यक्तित्व—कबीर के व्यक्तित्व का निर्माण परस्पर विरोधी संस्कारों द्वारा हुआ था। जन्म से वह हिन्दू थे और लालन-पालन मुसलमान के यहाँ हुआ था। इसलिए इनके व्यक्तित्व पर इन दोनों ही संस्कारों का प्रभाव पड़ा था। इस सम्बन्ध में डा०हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि—"....ये काशी के जुलाहा जाति में पालित और वर्धित हुए थे। यह जुलाहा जाति नाथपंथी योगियों की शिष्य थी और इनमें उनके विश्वास और संस्कार पूरी मात्रा में मौजूद थे। मुसलमान ये नाम-मात्र

के ही थे। इस नाथ-भावापन्न सद्यो-धर्मान्तरित जुलाहा जाति में पालित होने के कारण कबीरदास में नाथपंथी विश्वास सहज रूप में वर्तमान थे। उनका मन योगियों के संस्कार से सुसंस्कृत था।" अर्थात् कबीर पर नाथपंथ का गहरा प्रभाव था। रामानन्दी शिष्य-परम्परा में होने के कारण उन पर अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद का प्रभाव था। उनकी मूल विचार-सरणि यही थी। इसके अतिरिक्त वह महाराष्ट्री सन्त-परम्परा से भी परिचित और प्रभावित थे। साथ ही उन्होंने सूफियों का भी सत्संग किया था। प्रसिद्ध सूफी शेख तकी से उनका वार्तालाप होने का उल्लेख मिलता है। कबीर ने महाराष्ट्री सन्तों की प्रेमासक्ति और सूफियों की प्रेम की पीर का अपने भक्ति-मार्ग में समन्वय किया और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना-पद्धति का समर्थन किया। इस प्रकार कबीर विभिन्न प्रकार की विचार-धाराओं और उपासना-पद्धतियों का समन्वय कर एक ऐसे भक्ति-मार्ग की स्थापना करने में सफल हुए थे जो सबके लिए, बिना किसी भेद-भाव के ग्राह्य था। जिसमें विधि-निषेध नहीं थे, बाह्य आडम्बरों का पूर्ण बहिष्कार था, शास्त्राभ्यास की अपेक्षा नहीं थी। अर्थात् वह पूर्णतः सरल और सहज भक्ति-मार्ग था।

यह सत्य है कि कबीर पूर्व-परम्परा की ही उपज थे। उनकी मौलिकता यह थी कि उन्होंने उस परम्परा को आत्मसात कर उसका प्रयोग जीवन के सन्दर्भ में किया था। और उनकी दृष्टि में यह जीवन व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक था। उन्होंने सम्पूर्ण परम्पराओं को आत्मसात कर, स्वतन्त्र चिन्तन के बल पर उनका एक नवीन, मौलिक और लोक-कल्याणकारी रूप प्रस्तुत किया था। इसका प्रमाण उनके इस दोहे में मिल जाता है—

'तुम्ह जिन जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समुझाइया, आतम साधन सार रे॥'

और इस 'निज ब्रह्म विचार' को, जो स्वानुभूति द्वारा उद्भूत है, कहकर समझाने का प्रयत्न केवल इसलिए किया कि—

'हरि जी यहै बिचारिया, साषी कहै कबीर।
भौ सागर में जीव हैं, जे कोई पकड़ै तीर।'

उनके कथन से किसी जीव का कल्याण हो जाय, यही विश्वास उनकी आस्था का मेरुदंड रहा था।

वैष्णव और बौद्ध विचारधाराओं का समन्वित रूप—कबीर रामानन्दी सम्प्रदाय के अनुयायी थे इसलिए उनकी मूल वैचारिक भूमि वैष्णव-चिन्तन की थी। परन्तु नाथपंथी जुलाहा जाति में लालित-पालित होने के कारण उन पर नाथपंथ का भी गहरा प्रभाव था। और नाथपंथ बौद्धों के उत्तरकालीन चिन्तन का ही विकसित रूप था, जिसका मूल लक्ष्य निर्वाण-प्राप्ति माना गया है। मूलतः इन्हीं दोनों विचारधाराओं के प्रभावों का समन्वित रूप कबीर का भक्ति-मार्ग रहा था। उन्होंने रामानन्दी राम के साथ

उपर्युक्त पूर्व प्रभावों का समन्वय कर एक विशिष्ट प्रकार की साधना-पद्धति, चिन्तन-धारा और भक्ति के स्वरूप का निर्माण किया था। उनकी क्रिया-पद्धति—चिन्तन-धारा वैष्णवी थी परन्तु उसकी प्रक्रिया हठयोगी थी और लक्ष्य बौद्धों का 'निर्वाण' था। अतः उनका साधन वैष्णवी और साध्य बौद्ध रहा था। इस प्रकार कबीर ने अपने युग में प्रचलित और बहु-प्रचारित दो विचारधाराओं का समन्वय कर अपने नवीन भक्ति-मार्ग का निर्माण किया था। परन्तु इस समन्वय में भी उनका झुकाव वैष्णव-चिन्तन के प्रति ही अधिक रहा था। उन्होंने वैष्णवों के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हुए कहा है—

'मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णव एक रामं।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नामं ॥'

इस्लामी प्रभाव—कबीर पर सूफी-प्रभाव अत्यन्त गौण परिमाण में रहा है। उन्होंने सूफियों की 'प्रेम की पीर' की विरह-जनित तीव्रता को ही अधिक अपनाया है। जो लोग यह कहते हैं कि कबीर के 'राम' इस्लामी एकेश्वरवादी सिद्धान्त की उपज हैं, गलत हैं। वस्तुतः कबीर का 'राम' बौद्धों के 'शून्य' का ही प्रतिरूप है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि उन्होंने वर्ण-व्यवस्था, मूर्त्तिपूजा आदि का जो इतना उग्र विरोध किया है, वह मुसलमानी प्रभाव के कारण ही किया है। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। कबीर से पूर्व सिद्ध और नाथपंथी इन दोनों बातों का उग्र विरोध कर चुके थे। यह विरोध करना उनकी परम्परा में रहा था। उन्होंने जहाँ भी बाह्याडम्बरों और कथनी-करनी के अन्तर का विरोध किया है, वहाँ हिन्दू और मुसलमान—दोनों के बाह्याचारों का समान रूप से खण्डन किया है। कबीर पर इस्लामी सिद्धान्तों का प्रभाव नहीं था, इसका एक प्रमाण यह है कि कबीर जहाँ साधना-पक्ष का वर्णन करते हैं वहाँ पूर्ण वैष्णव बने रहते हैं। उनका साधना-सम्बन्धी सम्पूर्ण चिन्तन भारतीय धर्म और दर्शन के अनुरूप ही रहा है, और वह भी वैष्णव-धर्म और दर्शन के ही अनुरूप। यहाँ उन पर बौद्ध प्रभाव भी नहीं दिखाई पड़ता। वे ईश्वर का गुणगान करते समय राम-गोविन्द-हरि-केशव का ही नाम लेते हैं, अन्य किसी का भी नहीं। संसार की असारता का बखान करते समय वे अद्वैतवादी दर्शन के अनुरूप ही माया का वर्णन करते हैं। अपनी साधना द्वारा वे सांसारिक आवागमन से मुक्ति पाना चाहते हैं, जो बौद्धों का 'निर्वाण' है। इसलिए यह कहना भ्रान्त है कि कबीर इस्लामी-दर्शन से प्रभावित थे। अस्तु,

कबीर का व्यक्तित्व एक युग-प्रवर्त्तक का व्यक्तित्व था। डा० द्विवेदी ने निम्नांकित शब्दों में कबीर के व्यक्तित्व का यथार्थ और प्रभावशाली अंकन करते हुए लिखा है—"वे सिर से पैर तक मस्तमौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त,

भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय थे। युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युग-प्रवर्त्तक की दृढ़ता उनमें वर्तमान थी, इसलिए वे युग-प्रवर्त्तन कर सके।"

कबीर की रचनाएँ

कहा जाता है कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, इसलिए स्वयं अपनी रचनाओं को लिपिबद्ध करने में असमर्थ थे। वे केवल पद, साखी, रमैनी आदि बोलते जाते थे और उनके शिष्य उन्हें लिपिबद्ध करते जाते थे। कबीर की रचनाओं के सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती प्रचलित है—

'सहस छानवे औ छव लाखा। जुग परमान रमैनी भाषा।'

अर्थात् उन्होंने युग-धर्म के अनुसार छः लाख छयानवे हजार रमैनियाँ कही थी। यह संख्या उसी प्रकार अतिशयोक्ति पूर्ण है—जिस प्रकार 'सूरसागर' के सम्बन्ध में यह कहना कि उसमें सवा लाख छन्द थे। कहा जाता है कि कबीर की रचनाएँ इधर-उधर बिखरी हुई थीं और उनके शिष्य धर्मदास ने सम्वत् १५२१ में 'बीजक' शीर्षक के अन्तर्गत उनकी रचनाओं का सर्वप्रथम संग्रह किया था। इस 'बीजक' के तीन भाग हैं—'साखी', 'सबदी', और 'रमैनी'। सिखों के धर्म-ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में भी कबीर की कुछ रचनाएँ संग्रहीत हैं। परन्तु कुछ विद्वान् भाषा के आधार पर इन दोनों संग्रहों में संग्रहीत कबीर की रचनाओं को प्रामाणिक नहीं मानते। कुछ अन्य विद्वानों ने कबीर के लिखे ग्रन्थों की संख्या ६१ के लगभग बताई है। परन्तु कबीर के नाम से प्रसिद्ध इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये कबीर रचित ही हैं। यहाँ यह तथ्य विचारणीय है कि कबीर एक धर्म-गुरु थे। उनके जीवन-काल में ही उनके सम्प्रदाय की स्थापना हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में इसकी बहुत अधिक सम्भावना है कि कबीर के उत्तराधिकारी सन्तों और उनके शिष्यों ने कबीर की ही शैली में अनेक कविताएँ रचकर, कबीर की छाप डाल, कबीर के ही नाम से प्रचारित कर दी होंगी। जब किसी सम्प्रदाय की स्थापना हो जाती है तो उसके अनुयायी उसके प्रवर्त्तक को अलौकिक शक्ति-सम्पन्न पुरुष सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, और इतिहास की रंचमात्र भी चिन्ता न करते हुए उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक महापुरुषों से उसका सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं—केवल उसके महत्त्व को बढ़ाने के लिए। इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप कबीर हमें गुरु गोरखनाथ (पूर्ववर्ती) और गुरु नानक (परवर्ती) से शास्त्रार्थ करते और उन्हें उपदेश देते मिलते हैं। इसी प्रवृत्ति ने कबीर के नाम से प्रचारित रचनाओं की संख्या में आशातीत वृद्धि कर रखी है। और इसी का यह परिणाम है कि हमें कबीर की भाषा में एकरूपता न मिलकर अनेकरूपता मिलती है। कहीं उनकी भाषा पंजाबी से अत्यधिक प्रभावित है और कहीं विशुद्ध बनारसी बोली का रंग दिखाती है। भाषा-विषयक यह चमत्कार कबीर के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के वासी शिष्यों द्वारा ही उत्पन्न

किया गया है। ऐसी स्थिति में यह कहना बड़ा कठिन है कि कबीर की मूल रचनाएँ कौन-सी थीं।

कबीर पंथी 'बीजक' को ही कबीर की प्रामाणिक रचना मान उसे धर्म-ग्रन्थ का आदर देते हैं। बीजक के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि स्वयं कबीर ने इसे अपने दो शिष्यों—जगजीवनदास और भगवानदास—को दिया था। परन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अनेक तर्कों और प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि 'बीजक' को वर्तमान रूप अठारहवीं सदी में प्राप्त हुआ होगा। डा० श्यामसुन्दर दास ने एक अत्यन्त प्राचीन प्रति को प्रामाणिक मान उसका 'कबीर ग्रन्थावली' के नाम से सम्पादन और प्रकाशन किया था। उन्होंने इस प्रति का रचना-काल उस प्रति के अन्त में दिये गये सम्वत् के अनुसार १५६१ माना। परन्तु डा० द्विवेदी इस सम्वत् को किसी अन्य हस्तलिपि में लिखा हुआ मान इसे प्रामाणिक नहीं मानते। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में कबीर की अनेक बानियों का संकलन किया गया था। इस ग्रन्थ का संकलन-काल सं० १६६१ माना जाता है। डा० द्विवेदी इसी को कबीर के पदों का सबसे पुराना संग्रह मानते हैं। परन्तु दूसरी तरफ यह भी मानते हैं कि इसमें कबीर के नाम से संग्रहीत सम्पूर्ण रचनाएँ कबीर की ही नहीं हैं, क्योंकि इसमें दूसरे सन्तों के नाम से संग्रहीत ऐसे अनेक पद मिलते हैं जो कबीर के नाम से भी संग्रहीत किये गये हैं।

रमैनी, साखी और सबदी या सबद—'बीजक' रमैनी, साखी और सबदी या सबद—तीन भागों में विभाजित है। बीजक का एक महत्त्वपूर्ण अंश 'रमैनियाँ' माना जाता है। रमैनी में साधारणतः सात-सात चौपाइयों के बाद एक-एक दोहा कहा जाता है। 'साखी' शब्द से साक्षी या गुरु के उपदेशों का अर्थ लिया जाता है। 'कबीर-ग्रंथावली' में कबीर की साखियों को विभिन्न अंगों के अन्तर्गत विभाजित किया गया है, जैसे—'गुरु को अंग', 'निहकरमी पतिव्रता को अङ्ग'—आदि। 'सबदी', 'सबद' या 'शब्द' गेय पद हैं। इनमें भक्ति और आत्म-समर्पण की भावना का प्रकाशन हुआ है। वस्तुतः कबीर-साहित्य को साहित्यिक रूप प्रदान करने वाले उनके ये पद ही हैं।

कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त

कबीर मूलतः ब्रह्म के निराकार रूप के उपासक हैं। इस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उन्होंने भक्ति-साधना को अपनाया था और भक्ति-भावना के आलम्बन के रूप में उन्होंने 'राम' को स्वीकार किया था। उनके ये राम दशरथ-सुत राम से भिन्न थे। इनका मर्म कोई नहीं जानता। वस्तुतः कबीर के राम बौद्धों के 'शून्य' ब्रह्म के प्रतिरूप हैं। उन्होंने 'राम' के रूप में बौद्धों के शून्य ब्रह्म को एक व्यक्तित्व प्रदान किया है। कबीर से पूर्व गोरखनाथ ने इस 'शून्य' के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा प्रकट की थी कि—

'बसती न सून्यं, सून्य न बसती, अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर पर बालक बोले, ताका नाम धरोगे कैसा॥'

और कबीर ने गगन सिषर पर बोलने वाले इस बालक का नाम 'राम' धर दिया। कबीर का यह 'राम' अमृत रूप है, निरंजन है। उसकी अनुभूति 'सहज समाधि' की अवस्था में ही होती है। उस 'सहज-समाधि' की अवस्था में वे इस रामनाम रूपी अमृत-रस का पान करते हैं। शिव, सनकादिक आदि अनादि काल से इस अमृत-रस का पान करते आए हैं और कभी तृप्त नहीं होते। कबीर के यह राम सिद्धों और नाथों के शून्य मंडल के उस निर्झर के समान हैं, जिससे सदैव अमृत रस बहता रहता है और शून्य-समाधि लगाकर साधक इसी का पान करता है। कबीर के इस राम की गति अज्ञात है। उसका रूप कैसा है, वह कहाँ निवास करता है, वह स्थान शून्य है अथवा वहाँ कुछ है, आदि बातों को कोई नहीं जानता। कबीर भी नहीं जानते। इसीलिए वे पूछते हैं—'कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन, तहाँ कुछ आहि की शून्यं।' कबीर ने अपने इस राम का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन करने का प्रयत्न किया है, उसे एक व्यक्तित्व प्रदान करना चाहा है परन्तु फिर भी वह बौद्धों का 'शून्य ब्रह्म' ही बनकर रह गया है, उसका व्यक्तित्व उभर कर सामने नहीं आ पाता। वह सर्वथा निराकार ही रह जाता है। सम्भव है कबीर के मन में उसका कोई स्वरूप रहा हो, परन्तु वह उसे अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहे हैं।

जिस प्रकार कबीर का यह राम अरूप, अस्पष्ट, शून्य, निर्वाण, शब्द ब्रह्म, निरंजन आदि विभिन्न रहस्यमय रूप धारण करता है उसी प्रकार उसे प्राप्त करने की साधना-पद्धति भी रहस्यमय ही रही है। हठयोग की साधना द्वारा ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। उसे प्राप्त करते ही मन का सारा सन्देह दूर हो ज्ञान का अनन्त प्रकाश विकीर्ण हो जाता है। यही निर्वाण की स्थिति मानी गई है। कबीर अपनी साधना के इसी उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

'अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनाल रस पीजै॥
मूल बाँधि सर गगन समांना सुषमन यों तन लागी।
काम क्रोध दोऊ भया पलीता, तहाँ जोगणीं जागी॥
मनवां जाई दरीवे बैठा, मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं, सबद अनाहद बागा॥'

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए उन्होंने जिस प्रक्रिया को अपनाया है, वह हठयोगी साधना होते हुए भी, उसकी मूल प्रेरणा वैष्णव-भक्ति ही रही है। वैष्णवों के प्रति कबीर के हृदय में बहुत सम्मान था। उन्होंने इसी कारण कहा था कि—"मेरे संगी दोइ जणा, एक वैष्णव एक राम।" इसके अतिरिक्त उन्होंने 'नारदी-भक्ति' की भी प्रशंसा की थी। नारदी-भक्ति की ग्यारह आसक्तियों में एक आसक्ति 'कान्तासक्ति' भी है। कबीर ने अपने प्रियतम राम की प्राप्ति के लिए इसी कान्ता-सक्ति को अपनाया था। स्वामी रामानन्द ने भी ज़ीव-ब्रह्म के सम्बन्ध को पत्नी और

पति के रूप में व्यक्त किया था। हम कबीर में इसी भावना का अनुगमन पाते हैं। जैसे—

'दुलहिन गावहु मंगलचार।
हम घर आए हो राजा राम भरतार।।
तन-रति करि हौं मन-रति करि हौं पंचतत्त बाराती।
रामदेव मोहि ब्याहन आए, मैं जोबन मदमाती।।
सरीर सरोवर वेदी करि हौं, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संग भाँवरि लैहौं, धनि-धनि भागि हमार।।
सुर तेतीसों कौतुक आए, मुनिवर सहस अठासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी।।'

यह भक्ति-पद्धति शुद्ध वैष्णवी है। और कबीर इस भक्ति के माध्यम से अपने प्राप्य राम, शून्य या निर्वाण को प्राप्त करना चाहते हैं। कबीर इस मिलन में समरसता या निरपेक्ष आनन्द की कल्पना करते हैं।

कबीर कई स्थलों पर विशुद्ध अद्वैत-भावना में विश्वास करते प्रतीत होते हैं। वहाँ भक्ति के लिए आवश्यक द्वैत-भावना बिल्कुल तिरोहित हो जाती है। जैसे—

'हम सब माँहि सकल हम माहीं।
हम थे, और दूसरा नाहीं।।
तीनि लोक में हमारा पसारा।
आवागमन सब खेल हमारा।।'

और कबीर यह सब-कुछ वेद-शास्त्र के प्रमाणों का आधार ग्रहण कर नहीं कहते। वह 'स्वयं संवेद्य ज्ञान' के द्वारा प्राप्त अनुभूति द्वारा ही इस सब का चित्रण करते हैं। जब व्यक्ति को यह ज्ञान प्राप्त हो जाता तो—

'सुरति समाणी निरति में, निरति रही निरधार।
लेख समाना अलेख में, यूँ आप मां है आप।।'

यही साधना की चरमावस्था है जहाँ पहुँच कर साधक स्वयं ब्रह्म रूप बन जाता है। और यही निर्वाण की स्थिति मानी गई है।

समाज-संकलन की भावना—कबीर की यह साधना ऊपर से देखने पर विशुद्ध व्यक्तिगत दिखाई पड़ती है, उसका लक्ष्य निर्वाण प्रतीत होता है। परन्तु गहराई से देखने पर इसके मूल में समाज-संकलन की भावना ही मूल प्रेरणा के रूप में अवस्थित दिखाई पड़ती है। आखिर मन की इस अद्वैत स्थिति का अभिप्राय क्या है? यही न कि साधक स्व-पर की भावना से मुक्त हो संसार और स्वयं को अभिन्न समझने की स्थिति प्राप्त कर ले। ऐसी स्थिति में जीव-मात्र की समता, सब की कल्याण-कामना उसके चिन्तन और व्यवहार की मूल प्रेरक शक्ति बन जाती है। वस्तुतः सभी प्रकार की भक्ति-पद्धतियों का आन्तरिक लक्ष्य यही रहा है। भक्ति हमारी भावनाओं को

उदात्त और व्यापक बना देती है। इसी कारण भक्ति में चित्त-शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। समाज और जीव मात्र का कल्याण—भक्त का मूल लक्ष्य रहता है। कबीर की भक्ति के मूल में भी यह एकमात्र भावना रही है। इसी कारण उन्होंने उन साधना-पद्धतियों का विरोध किया है जो समाज और मानव की उपेक्षा कर केवल स्वार्थ की साधना में ही निरत रहती हैं। कबीर के लिए व्यक्तिगत निर्वाण कोई महत्त्व नहीं रखता। मानव-मात्र का निर्वाण – उनका मूल लक्ष्य है। और इसी लक्ष्य ने उनकी समाज-संकलन की भावना को अत्यधिक प्रबल बना दिया है। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण कबीर ने बौद्धों, सिद्धों, शाक्तों आदि की निन्दा की है। कबीर के लिए सब से बड़ा सत्य 'मानव' है। वे मानव की अवहेलना सहन नहीं कर पाते। इसी कारण उन्होंने उन व्यवस्थाओं का घोर विरोध किया है जो मानव-मानव में भेद-भाव की सृष्टि करती हैं।

हमारी समझ में कबीर-साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश वही है जिसमें उन्होंने भेद-भाव और सामाजिक-अन्याय के विरोध में अपनी आवाज को पूरी शक्ति और दृढ़ता के साथ उठाया है। दार्शनिक चिन्तक, शुद्ध भक्त या सफल कवि के रूप में कबीर का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि अन्याय और भेदभाव का दृढ़ता के साथ विरोध करने वाले एक क्रान्तिदर्शी के रूप में है। कबीर से पूर्व भी सिद्धों, नाथों, महाराष्ट्री सन्तों ने इसी स्वर को बुलन्द किया था परन्तु उसमें वह दृढ़ता, वह अक्खड़ता और मर्म पर आघात करने की वह अप्रतिहत शक्ति नहीं थी जो कबीर की वाणी में रही है। वह उन सभी बातों पर, चाहे वे धार्मिक हों या सामाजिक, कसकर आघात करते हैं जो किसी भी रूप में वर्ग-भेद और वर्ण-भेद की भावना को बढ़ावा देती हैं। मन्दिर, मस्जिद, धार्मिक निरर्थक वाह्याचार, आडम्बर, छूत-छात, पाखंड आदि का उन्होंने उग्र, कठोर और कटु शब्दों में तिरस्कार किया है। धनी-निर्धन के भेद को वे स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में दोनों समान हैं। निर्धन वही है जिसके हृदय में राम नहीं है—

निरधन सरधन दोनों भाई। प्रभु की कला न मेटी जाई॥
कहि कबीर निरधन है सोई। जाके हिरदै राम न होई॥'

कबीर ने उन वेद-शास्त्र, कुरान-पुराण आदि को मानने से इन्कार कर दिया है जो मानव और समाज को अपनी रूढ़, अगतिशील मान्यताओं के जाल में आबद्ध कर उसमें भेद-भाव की भावना उत्पन्न करने वाले हैं। ये शास्त्र मानव का सही मार्ग-निर्देशन करने में असमर्थ हैं। जिस युग में इनकी रचना हुई थी, समाज उस युग से काफी आगे बढ़ चुका था, इसलिए कबीर अपने युग में इनकी सार्थकता स्वीकार नहीं करते थे। भेद-भाव की भावना से पीड़ित मानव न्याय और शान्ति चाहता था। और यह शान्ति उसे तभी प्राप्त हो सकती थी, जब उसके हृदय में प्रेम की भावना उत्पन्न हो, वह सबसे प्रेम कर सके, सबको समान मान सके। असली ज्ञानी वही है जो प्रेम के इस महत्त्व को पहचान लेता है। इसी कारण कबीर ने कहा था—

'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आखर पीव का, पढ़ै सो पंडित होइ।।'

और कबीर के राम इस प्रेम के ही साकार रूप हैं। उनसे प्रेम करना मानव-मात्र से प्रेम करना है।

साधना-पद्धति और रहस्यवाद

प्रेम की यह उपलब्धि साधना द्वारा ही होती है। भक्ति की प्राप्ति प्रेम द्वारा ही सम्भव है, ज्ञान द्वारा नहीं। इसी कारण कबीर ज्ञान-भक्ति को तप्त और प्रेम-भक्ति को शीतल कहते हैं। इसके लिए सबसे पहले मन को मारना पड़ता है। चंचल मन ही मनुष्य को भटकाए फिरता है, इसलिए सबसे पहले इसका संयमन आवश्यक है। इसे 'जीवित-मृतक' की अवस्था कहा गया है। मन जब संज्ञाहीन हो जाता है तो प्रभु स्वयं आकर अपने दास को सम्हाल लेते हैं—

'जीवत मृतक ह्वै रहै, तजै जगत की आस।
तब हरि सेवा आपण करै, मति दुख पावै दास।।'

परन्तु इस मन को मारना आसान नहीं है। कोई शूरमा ही इसे मार पाता है। और यह मन मरता तब है जब स्व-पर की भावना से मुक्त हो जाता है—

'कबीर सोई सूरवाँ, मन सूँ माडै जूझ।
पंच पयादा पाड़ि ले, दूरि करै सब दूज।।'

और मन को मार कर प्रेम प्राप्त करने के लिए साधक को अपने सर्वस्व का बलिदान कर देना पड़ता है। बिना सर्वस्व-बलिदान के इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। प्रेम का क्षेत्र कोई खाला का घर नहीं है, जहाँ आसानी से प्रवेश मिल जाता है। यह तो खाँड़े की तीखी धार के समान है जिस पर चलना सब के बस का नहीं। यह प्रेम न खेत में उपजता है, न हाट में बिकता है। इसका सौदा तो सिर देकर ही किया जाता है—

'प्रेम न खेतौ नीपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो लै जाइ।।'

प्रेम की साधना करने वाला 'सती' नारी के समान अपने लक्ष्य के प्रति सदैव उन्मुख और एकाग्र रहता है। इसी कारण कबीर ने साधक को सती के समान माना है। जिस प्रकार सती अपने प्रिय का नाम-स्मरण कर उसके साथ चिता पर बैठ, एकाकार हो जाती है, स्व का पूर्ण विस्मरण कर देती है, साधक को भी ऐसी ही एकाग्रता के साथ स्व को अपने प्रिय के चरणों में समर्पित कर देना पड़ता है—

'सती जलन कूँ नीकली, चित धरि एक ब भेख।
तन-मन सौंप्या पीव कूँ, तब अन्तरि रही न रेख।।'

साधक को इस प्रेम-मार्ग से परिचित कराने वाला सतगुरु होता है। सतगुरु के अभाव में इस प्रेम-मार्ग पर चलना असम्भव है। सतगुरु अपने उपदेश द्वारा शिष्य के हृदय का अज्ञान दूर कर ज्ञान का संचार करता है। कबीर ने गुरु के इस उपदेश को 'सबद' कहा है—जो वाण के समान अपने लक्ष्य को भेदने वाला होता है—

'सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही में मिलि गया, पड़्या कलेजे छेक॥'

हृदय में ज्ञान उत्पन्न होने पर अहंकार का नाश हो जाता है। और भक्ति के लिए अहंकार का नष्ट होना पहली शर्त मानी गई है। अहंकार का विनाश हो जाने पर भक्त पूर्ण रूप से अपने अराध्य के प्रति समर्पित हो जाता है, उसका राम से तादात्म्य हो जाता है और वह 'हरि रस' का पान करने का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है। परन्तु साधना के इस मार्ग पर ठगिनी माया नाना प्रकार के आकर्षक रूप धरे बैठी रहती है और साधक को नाना प्रकार से प्रलोभित करने का प्रयत्न करती रहती है। वही साधक माया के इन प्रलोभनों से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो पाता है जिसका पथ-प्रदर्शन सतगुरु ने किया हो। इसलिए गोविन्द की प्राप्ति के लिए सद्गुरु का होना नितान्त अनिवार्य है। सद्गुरु अपने उपदेश द्वारा साधक की हृदय-भूमि को सिंचित कर उसे प्रेम की खेती के लिए उर्वर बना देती है और वहाँ चारों ओर प्रेम की सघन हरियाली छा जाती है—

'कबीर बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग।
अन्तर भीगी आतमा, हरी भई बनराइ॥'

मन और इन्द्रियों आदि की चंचलता, परस्पर विरोधी स्वभाव आदि का चित्रण करते समय कबीर ने उलटबांसियों का प्रयोग किया है। शुक्ल जी का यह मत था कि उलटबाँसियों के प्रयोग द्वारा सन्तगण जनता पर अपने ज्ञान की धाक जमाना चाहते थे। वस्तुतः कबीर आदि ने इन उलटबाँसियों के माध्यम से मन और इन्द्रियों की समझ में न आने वाली विषम गति को स्पष्ट किया है। डा० दयानन्द श्रीवास्तव ने कबीर की एक उलटबाँसी उद्धृत कर उसका जो विश्लेषण किया है, उससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। उलटबाँसी और उसका विश्लेषण इस प्रकार है—

'कैसे नगरि करौ कुटवारी,
चंचल पुरुष विचषन नारी।
बैल बियाइ, गाय भई बाँझ,
बछरा दूहे तीन्यो साँझ।
मकड़ी घरी माखी छछिहारी,
मास पसारि चील्ह रखवारी।

मूसा खेवट नाव बिलइया,
मींडक सोवै साँप पहरइया।
निति उठि स्याल स्यघं सू जूझै,
कहै कबीर कोई बिरला बूझै।'

अर्थात्—चंचल पुरुष और चंचला नारियों से नगर परिपूर्ण है। ऐसे नगर की कोतवाली (रक्षा) कैसे की जाय। वहाँ बैल बच्चे देता है, गाय बन्ध्या रहती है। बछड़ा तीनों सन्ध्या (दिन में तीन बार) दुहा जाता है। मकड़ी मक्खी के घर दौड़कर जाती है। मेंढक सोता है, साँप पहरा देता है। प्रतिदिन श्रृगाल सिंह से जूझता है। कबीर कहते हैं कि इसका अर्थ बिरले ही समझ सकते हैं। डा० श्रीवास्तव ने इसका विश्लेषण इस प्रकार किया है—

"सन्तों की रचनाओं में मन के दो रूपों की कल्पना मिलती है। प्रथम—चेतन मन, द्वितीय—अचेतन मन। अचेतन मन के लिए 'सिंघ' शब्द का प्रतीकात्मक प्रयोग किया गया है। प्रलोभनपूर्ण वृत्तियाँ, अहंकार और अज्ञान अचेतन मन की शक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा वह चेतन मन (स्याल) को अपने अधिकार में रखता है। ज्ञान-उपलब्धि के पश्चात् चेतन मन इन प्रभावों से मुक्त होता है, वह अचेतन मन को अपने अधिकार में कर लेता है। यही श्रृगाल का सिंह से जूझना है। गाय इन्द्रियों का प्रतीक है। इन्द्रियाँ अज्ञान और अचेतना का प्रजनन करती हैं। ज्ञान के प्रस्फुटन से इन्द्रियाँ अशक्त हो उठी हैं, वे अज्ञान और अचेतना का प्रजनन नहीं कर पातीं। यही गाय का बन्ध्या होना है। अब मन से चेतना प्रस्फुटित होती है। यही उसका 'बियाना' (प्रजनन-प्रक्रिया) है। चेतन मन से प्रजनित ज्ञान बछड़ा है। उससे निरन्तर चेतना का स्फुरण होता है। वही बछड़े का दुग्ध देना है। संसार के प्रलोभन मांस के समान फैले हैं। अब चेतन मन उसकी ओर आकर्षित नहीं होता। इन्द्रियाँ (बिल्ली) चेतन मन (मूस) पर आश्रित हैं। 'मींड़क' (चेतन मन) निश्चिन्त है। अचेतना (सर्प) उसे आत्मसात करने का प्रयत्न नहीं करती।"

कबीर की उलटबाँसी का यह विश्लेषण यह प्रकट कर देता है कि कबीर ने इनके रूप में साधना के उन गूढ़ तत्त्वों का मनोवैज्ञानिक-पद्धति पर निरूपण किया था जो साधारण रूप से दुरूह और अस्पष्ट होते हैं। इनमें मात्र चमत्कार प्रदर्शन की भावना ही नहीं थी। बल्कि वे कहने के इस विचित्र और अटपटे से प्रतीत होने वाले ढंग द्वारा इन गूढ़ बातों के प्रति विज्ञ जनों को आकर्षित करना चाहते थे, जिससे वे इनका विश्लेषण कर सहज-साधना के मार्ग पर अग्रसर हो सकें।

कबीर का अपनी बात कहने का ढंग सर्वत्र स्पष्ट और अक्खड़ता भरा रहा है। उनकी यह स्पष्टता और अक्खड़ता भक्ति और उसके आधार प्रेम के क्षेत्र में भी इसी प्रकार की मिलती है। उनमें विनय है परन्तु घिघियाने वाली विनय नहीं है। उस विनय में भी आत्म गर्व की अटूट भावना झलकती रहती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी वे उनकी इसी विशिष्टता को लक्ष्य कर कहा है—

"उनके प्रेम के आदर्श सती और सूर हैं। जो प्रेम या भक्ति पद-पद पर भक्त को भाव-विह्वल कर देती है, जो मन और बुद्धि का मन्थन करके मनुष्य को परवश बना देती है, और जो उन्मत्त भावावेश द्वारा भक्त को हतचेतन बना देती है, वह कबीर को अभीष्ट नहीं। प्रेम के क्षेत्र में वह गलदश्रु भावुकता को कभी बर्दाश्त नहीं करते। बड़ी चीज का मूल्य भी बड़ा होता है। भगवान जैसे प्रेमी को पाने के लिए भी मनुष्य को बड़े-से-बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है, और अपने आप को दे देने से बढ़कर मनुष्य और कौन-सा मूल्य चुका सकता है?

'यह तो घरु है प्रेम का, खाला का घरु नाहिं।
सीस उतारे भुँइ धरै, सो पइठे इहि माहिं॥'

रहस्यवाद

रहस्यवाद के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने कहा था कि साधना के क्षेत्र में जो ब्रह्म है, साहित्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। अर्थात् साहित्य में जब ब्रह्म के निरूपण का प्रयत्न किया जाता है, तभी रहस्यवाद की सृष्टि होती है। जब आत्मा उस निर्गुण-निराकार ब्रह्म के साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर उससे तादात्म्य होने का प्रयत्न करती है, और जब साधक द्वारा उस प्रयत्न की अभिव्यक्ति की जाती है तब रहस्यवाद की सृष्टि होती है। उस अभिव्यक्ति में अस्पष्टता रहती है, क्योंकि निर्गुण-निराकार का स्पष्ट वर्णन नहीं किया जा सकता। रूपहीन होने के कारण उसे विभिन्न प्रतीकों आदि के माध्यम से व्यक्त किया जाता है, फिर भी यह वर्णन पूर्ण नहीं हो पाता। साहित्य में जहाँ कहीं ऐसे प्रयत्न अंकित मिलते हैं, विद्वानों ने उन्हें रहस्यवाद मान लिया है। अर्थात् जहाँ बुद्धि स्वानुभूति का यथार्थ चित्रण करने में असमर्थ रहती है, वही अटपटा, अधूरा चित्रण रहस्यवाद बन जाता है। यह रहस्यवाद का नितान्त व्यावहारिक अर्थ है।

विभिन्न रहस्यवादी कवियों की कृतियों का अध्ययन कर विद्वानों ने रहस्यवाद के दो वर्ग निर्धारित किए हैं:—(१) भावनात्मक रहस्यवाद, (२) साधनात्मक रहस्यवाद। यद्यपि साहित्य में रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति काफी पुरानी मिलती है; सिद्धों, नाथपंथियों के काव्य में भी इसका रूप मिल जाता है। परन्तु हिन्दी में सशक्त रूप से सर्वप्रथम रहस्यवाद की प्रतिष्ठा करने का श्रेय कबीर को ही प्रदान कर उन्हें हिन्दी का प्रथम रहस्यवादी कवि मान लिया गया है। उनके रहस्यवाद में उपर्युक्त दोनों प्रकार के रहस्यवादी चित्रण मिलते हैं।

भावनात्मक रहस्यवाद के क्षेत्र में कबीर ने दाम्पत्य-प्रेम-पद्धति को अपना कर अपनी अनेक ऐसी मार्मिक अनूभूतियों को अभिव्यक्त किया है—जिनकी तरलता, गहनता अनुपम है। सदगुरु से प्राप्त ज्ञान-ज्योति के कारण उनका हृदय प्रियतम के अनुपम सौन्दर्य के आलोक से उद्‌भासित हो उठता है। उस सौन्दर्य की अनुभूति अनिवर्चनीय है। कबीर के शब्दों में—'अद्‌भुत कहिए ताय' वाली स्थिति है। इसे

भावनात्मक रहस्यवाद की प्रथम अवस्था कहा गया है। इसके उपरान्त उनके हृदय में प्रियतम से मिलन की की तीव्र आतुरता जन्म लेती है। प्रिय का विरह उन्हें अहर्निशि व्याकुल बनाए रहता है। उनकी स्थिति यह है कि—

'बासरि सुख ना रैन सुख, ना सुख सपने माँह।
कबीर बिछड़्या राम सूँ, ना सुख धूप न छाँह।।'

कबीर ने अपने इस दाहक विरह का अनेक रूपों में विस्तार के साथ अंकन किया है। अन्त में इस विरह की समाप्ति होती है और प्रिय-मिलन का अवसर आ जाता है। उनके प्रियतम उनके पाहुने बन उनके घर आते हैं और कबीर आनन्दोल्लास से आपूरित हो गा उठते हैं—

'दुलहिन गावहु मंगलचार।
घर आए हो मेरे राजा राम भरतार।।'

प्रियतम से मिलन होने पर कबीर द्वैत की भावना से मुक्त हो सम्पूर्ण विश्व में उसी परम ज्योति का प्रकाश देखने लगते हैं और फिर स्वयं भी उसमें निमज्जित हो जाते हैं—

'लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी ह्वै गई लाल।।'

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विरह-मिलन के इस चित्रण में निराकार-निर्गुण ब्रह्म साकार सा भासित होने लगता है। वह तुलसी और सूर के आराध्यों के समान पूर्ण रूपेण साकार नहीं बन पाता, इसलिए कबीर उसके रूप का वर्णन न कर केवल अपनी गहन अनुभूतियों—विरह की दाहक पीड़ा और विरह के अतिशय आनन्दोल्लास—का ही वर्णन करते हैं। रूप का आधार न ग्रहण कर पाने के कारण ही ऐसी अनुभूतियाँ रहस्यमय हो उठती हैं। इसी कारण लोगों ने यहाँ भावनात्मक रहस्यवाद को माना है। इसके विपरीत जहाँ कबीर निराकार ब्रह्म का वर्णन करते हैं, वहाँ रहस्यवाद स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वे निरुपाधि, निर्गुण ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहते हैं—

'पंडित मिथ्या करहु विचारा। ना वह सृष्टि, न सिरजनहारा।।
जोति-सरूप, काल नहिं उहवाँ, बचन न आहि सरीरा।
थूल-अथूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नीरा।।'

कबीर में साधनात्मक रहस्यवाद वहाँ मिलता है जहाँ वह हठयोग की क्रियाओं का वर्णन करते हैं। उन्होंने हठयोग के कुछ पारिभाषिक प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया है; जैसे—चन्द, सूर, नाद, बिन्दु, अमृत, औंधा कुआँ, सुरति, निरति आदि। तत्सम्बन्धी दो पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

**'गगन गरज बरसै अमी, बादल गहर गंभीर ।
चहुँदिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ।।'**

कहीं-कहीं, जहाँ वह दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं, वहाँ भी रहस्यवाद झलक उठता है । वह अद्वैतवादी सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

**'जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, भीतर बाहर पानी ।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तत कथ्यौ गयानी ।।'**

भाषा और शैली

भाषा और शैली के क्षेत्र में कबीर ने अपने पूर्ववर्ती सन्तों का ही अनुगमन किया है । जहाँ वह अपनी विरह-मिलन सम्बन्धी अनुभूतियों का वर्णन करते हैं, वहाँ व्रजभाषा का प्रयोग हुआ है । इस भाषा में एक स्वाभाविक सरलता और कोमलता रहती है । कबीर की यह भाषा और शैली कृष्ण-भक्त कवियों की भाषा-शैली का सा रूप धारण कर लेती है । 'कोमलता' इसका विशिष्ट गुण है । परन्तु जहाँ कबीर उपदेश देते हैं, सामाजिक अन्याय और आडम्बर का विरोध करते हैं, वहाँ उनकी भाषा एक सर्वथा भिन्न रूप धारण कर लेती है । उसमें कोमलता और तरलता न रहकर एक अद्भुत अक्खड़ता, आक्रोश, निर्भीकता और निर्ममता का भाव भर उठता है । उसका प्रभाव बड़ा मारक होता है । इस भाषा-शैली की एक निराली विशेषता यह है कि वह सीधी हृदय पर चोट करती है । और इसका कारण यह रहा है कि उनके इस प्रकार के कथनों में सामाजिक-कल्याण की भावना इतनी गहरी मिलती है कि वह सहज ही हमें प्रभावित कर लेती है । आचार्य शुक्ल ने कबीर की ऐसी उक्तियों को काव्य मानने में झिझक दिखाई है परन्तु यह कबीर के साथ अन्याय हुआ है । कबीर-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हमें उसमें अनुभूति की गहराई और सच्चाई मिलती है । और जिस काव्य में यह गुण होता है उसका प्रभाव और संवेदनशीलता अनुपम होती है । कबीर की भाषा का तीसरा रूप वहाँ मिलता है जहाँ वह या तो हठयोग का वर्णन करते हैं या साधना के गूढ़ तत्त्वों का । ऐसे स्थलों पर पारिभाषिक, प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोग के कारण भाषा बड़ा जटिल रूप धारण कर लेती है । उसका अभिप्राय समझने के लिए घोर मानसिक श्रम की अपेक्षा होती है । इसलिए कबीर की ऐसी रचनाओं को सहज ही काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत किया जा सकता है । उनकी सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग प्रायः ऐसे ही स्थलों पर हुआ है ।

कबीर साहित्य का मूल्याङ्कन

जहाँ तक काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से कबीर-साहित्य के मूल्याङ्कन का सम्बन्ध है, हम उनके साहित्य को स्पष्टतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—प्रेमानुभूति-सम्बन्धी, सामाजिक समस्याओं सम्बन्धी, तथा साधना-पद्धति सम्बन्धी । हम यह मानते हैं कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, उन्हें काव्य-शास्त्र का भी ज्ञान नहीं था, उनके

त्रुटि पृष्ठ

पास ज्ञानार्जित भाषा का वैभव भी नहीं था, काव्य को कलात्मक रूप प्रदान करने की कला भी वह नहीं जानते थे। परन्तु इन सब साधनों को गौण बना देने वाला एक ऐसा गुण होता है जिसके अभाव में कोई भी कवि सफल या महाकवि नहीं बन पाता। और वह गुण है—प्रतिभा। कबीर में यह गुण पर्याप्त मात्रा में था। कबीर के कट्टर आलोचक आचार्य शुक्ल को भी यह स्वीकार करना पड़ा था कि 'प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी, इसमें सन्देह नहीं।' प्रखर प्रतिभा का वैभव पास में रहने पर कोई भी व्यक्ति सफल कवि बन सकता है। परन्तु प्रतिभा फिर भी साधन ही मानी जायेगी—साध्य नहीं। साहित्य का मूलाधार अनुभूति होती है। प्रतिभा उसी अनुभूति को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने का साधन है। अनुभूति की सच्चाई का जब अंकन किया जाता है तो सफल काव्य की सृष्टि होती है। और कबीर का सब कुछ यह अनुभूति की सच्चाई ही रहा है। हमें कबीर के उस काव्य में, जो उनकी प्रेमानुभूति और सामाजिक अन्याय से सम्बन्धित है, अनुभूति की इसी सच्चाई का भरपूर वैभव मिलता है। भाषा, छन्द, अलंकार आदि तो उस अनुभूति के प्रकाशन के माध्यम मात्र हैं। यदि माध्यम कमजोर भी है, और फिर भी उसके द्वारा लक्ष्य-सिद्धि में सफलता मिल जाती है, तो ऐसी स्थिति में माध्यम का अधिक महत्त्व नहीं रह जाता। कबीर-काव्य का मूल्याङ्कन करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा।

डा० रामकुमार वर्मा ने काव्य-मूल्याङ्कन के इस रहस्य को समझ कर ही कबीर-साहित्य के सम्बन्ध में कहा है—"कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलंकार के आधार पर काव्य-रचना नहीं की तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं। कविता में छन्द और अलंकार गौण हैं, सन्देश प्रधान है। कबीर ने अपनी कविता में महान् सन्देश दिया है। उस सन्देश को प्रकट करने का ढंग अलंकार से मुक्त न होते हुए भी काव्यमय है।"

जब अनुभूति तीव्र, मार्मिक, गहन, स्पष्ट और उदात्त होती है और जब कवि के हृदय में उसे अभिव्यक्त करने की बलवती आकांक्षा उद्वेलित हो उठती है तो ऐसे समय भाषा, छन्द, अलंकार अनायास ही, बलात् उसकी सेवा में प्रस्तुत हो जाते हैं। यह सत्य है कि जब कवि सचेत हो, प्रयत्नपूर्वक अपनी भाषा को परिष्कृत करने, सुन्दर बनाने का काम करता है तब भाषा का सौन्दर्य और अधिक निखर उठता है। कबीर में हम इस प्रकार के प्रयत्न का अभाव पाते हैं। भावावेग की तीव्रता में उनके सामने जो भी शब्द या काव्य-रूप उपस्थित होते गए, वे सहज भाव से उनका उपयोग करते रहे। इस दृष्टि से कबीर की भाषा को परिष्कृत और अलंकृत नहीं माना जा सकता। यदि कबीर में ऐसा करने की भी शक्ति होती तो इसमें सन्देह नहीं कि वे तुलसी और सूर के समकक्ष जा बैठते—काव्य-सौन्दय की दृष्टि से भी।

कबीर ने जहाँ अपनी प्रेमानुभूति का अंकन किया है, प्रियतम के विरह-मिलन के गीत गाए हैं वहाँ उनकी अभिव्यक्ति में एक सहज द्रवणशीलता, तरलता, मार्मिकता और ऐसे प्रभाव की सृष्टि हो जाती है जो पाठक की आत्मा को बाँध लेती है। जब कबीर अपने प्रियतम के विरह में व्याकुल हो आर्त्त स्वर में यह कह उठते हैं—

'सुखिया सब संसार है, खावै औ सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥'

तो मन सहज ही द्रवित हो उठता है। आगे जब वह फिर कहते हैं कि—

'आँखड़ियाँ झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़िया छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥'

तो सहज ही यह विश्वास नहीं हो पाता कि ये उसी कबीर की पंक्तियाँ हैं जो एक युगद्रष्टा के उच्चासन पर आसीन हो, ढोंगियों और अत्याचारियों को फटकारता हुआ युग को क्रान्ति का नवीन सन्देश दे रहा है।

कबीर का यह प्रेमी का व्यक्तित्व, आर्त्त भक्त का रूप उनके उस युग-प्रवर्त्तक क्रान्तिकारी के रूप से नितान्त भिन्न है। क्या कभी यह कल्पना भी की जा सकती है कि कबीर जैसा अक्खड़, निर्भीक, युगद्रष्टा, स्वयं को बाह्य संसार से सम्पूर्णतः असम्पृक्त बना ऐसी हृदय को विगलित कर देने वाली पंक्तियाँ भी लिख सकता है—

'सुपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आँख न खोलूँ डरपता, मति सपना ह्वै जाय॥'

यदि किसी को कबीर की ऐसी पंक्तियों में काव्य-रस नहीं मिलता, काव्य-सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते, सहज उक्ति की मार्मिकता का अनुभव नहीं होता, तो शुक्ल जी के शब्दों में उसे सहृदय नहीं माना जा सकता। और सहृदय ही काव्य-रस का रसास्वादन करने में समर्थ होता है, हृदयहीन नहीं।

कबीर-काव्य का दूसरा पक्ष है—सामाजिक अन्याय का विरोध करने वाला उनका दृढ़, तीव्र, हृदयवेधक स्वर। कबीर ने सामाजिक अन्याय का उग्र और दृढ़ स्वर में विरोध किया है। उन्होंने इस अन्याय को भोगा था, इसके वास्तविक रूप को इसी कारण पूरी तरह से समझ सके थे और उसकी जड़ पर निर्मम आघात किया था। वह जानते थे कि धर्म के ठेकेदार ही इस सामाजिक अन्याय को बढ़ावा देने वाले रहे हैं। उन्होंने स्वयं अपने-अपने वर्ग के तथा उस वर्ग के समर्थक धनियों, सरदार-सामन्तों, और ऊँची जातियों की स्वार्थ-सिद्धि के लिए धर्म को आडम्बर बना रखा है। धर्म का वास्तविक जन-कल्याणकारी रूप नष्ट हो चुका है और वह केवल एक विशिष्ट वर्ग के स्वार्थ-साधन का माध्यम बन गया है। इसीलिए उन्होंने इस आडम्बर से भरे धर्म और उसके समर्थकों द्वारा किए जाने वाले अन्यायों का विरोध किया था। मानव-मानव की समानता की बात तो बहुत से लोग करते हैं। वे लोग भी करते हैं,

जो दूसरों का शोषण कर वैभव-विलास का जीवन बिताते हैं। पर वे 'पर उपदेश कुशल' ही बनकर रह जाते हैं। पीताम्बर धारण कर, मखमली गद्दी पर आसीन हो, सुमधुर, स्वादिष्ट भोजन की कल्पना में डूब, दूसरों को त्याग का उपदेश देना दुनिया का सबसे आसान काम है। ऐसे लोगों की वाणी में वह शक्ति नहीं उत्पन्न हो पाती, जो दूसरों को जागरण का सन्देश दे सके। ये लोग ढोंगी होते हैं। और कबीर ढोंगी नहीं थे। उन्होंने जीवन में परिश्रम कर रोटी कमाना सीखा था, ऊँची जातियों का जाति-गर्व और उसकी अपमान करने वाली ज्वाला को झेला था। इसी कारण उनके विद्रोही स्वर में एक ऐसी अद्भुत शक्ति उत्पन्न हो गई थी, जो सहभागियों के हृदय में अन्याय के प्रति एक तीव्र आक्रोश उत्पन्न करने में समर्थ हुई थी।

कबीर का ऐसा काव्य, जिसमें उन्होंने सामाजिक अन्याय का प्रतिरोध करने का स्वर फूँका है, अनुभूति की उस तीव्रता से, उस तीखेपन से ओतप्रोत है, जो क्रान्ति को जन्म देने वाली होती है। उनके कहने का ढंग इतना सहज, सरल और फिर भी इतना प्रभावशाली है कि सहज प्रभावित कर लेता है। कबीर से पूर्व भी सिद्ध, नाथ आदि इस सामाजिक अन्याय के विरुद्ध आवाज उठा चुके थे परन्तु उनकी इस आवाज में सामाजिक क्रान्ति करने की शक्ति नहीं उत्पन्न हो पाई थी। इसका कारण यह था कि वे संसार-त्यागी, साधक विरक्त महात्मा थे, इसलिए संसार की लांछना का तीखा अनुभव नहीं कर पाये थे। इसके विपरीत कबीर संसारी थे, गृहस्थ थे और आए दिन सामाजिक अपमान को झेलते रहते थे। इसी कारण उनकी वाणी में, इस खंडनात्मक वाणी में अनुभूति का, उस वेदना भरी तीव्र अनुभूति का प्रखर स्वर बुलन्द हो उठा था। इसीलिए वह हमें प्रभावित करता है। यह स्वर वही है जो राम द्वारा रावण का प्रतिरोध करते समय तुलसी की वाणी में फूट पड़ा था। इसलिए ही यह इतना प्रभावशाली बन सका है। और जो काव्य प्रभावित करता है, उसे काव्य—उच्च कोटि का काव्य स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए। समझ में नहीं आता कि साहित्य में लोक-कल्याण की भावना के कट्टर समर्थक आचार्य शुक्ल कबीर के इस गुण को क्यों नहीं पहचान सके थे।

कबीर-काव्य का तीसरा पक्ष वह है जिसमें वह हठयोग-साधना-पद्धति का वर्णन करते हैं, उलटबाँसियों के रूप में साधना-मार्ग के गूढ़ तत्त्वों को समझाते हैं। इस काव्यांश को पूरी तरह से साम्प्रदायिक काव्य घोषित कर साहित्य के क्षेत्र से पूर्णतया बहिष्कृत किया जा सकता है।

कबीर-काव्य के महत्त्व को समझदार लोगों ने पहचाना है। उनके इस स्वर का भूरि-भूरि प्रशंसा की है जो मानव-कल्याण का उद्घोषक रहा था, अन्याय का डट कर प्रतिरोध करता था, अत्याचार जिसे अपने कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित करने में असफल रहे थे, जिसने मानव-मात्र की एकता की आवाज उठाई थी। वर्तमान युग में

भी एक ऐसे ही महापुरुष के पुनः दर्शन हुए थे। वह महापुरुष थे—महात्मा गांधी। कबीर और गांधी में अद्भुत समानता थी। दोनों ने स्वेच्छया कर्म-मार्ग को अपनाया था। दोनों ही सामाजिक अन्याय और गरीबी का उन्मूलन करने में जीवन पर्यन्त व्यस्त रहे थे। इन दोनों की इसी समानता को लक्ष्य कर डा० बड़थ्वाल ने कहा था—"भारत अग्र जन्माओं का देश है जो अपने चरित्र से संसार को शिक्षा देते रहे हैं। भारत का यह अग्रजन्मत्व पाँच शताब्दी पूर्व कबीर के रूप में प्रकट हुआ था और आज गांधी के रूप में प्रकट हुआ है। परमात्मा की जो विभूति, मानवता का जो महत्त्व पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर कहलाया, वही आज गांधी है। केवल आवरण का भेद है, तथ्य का नहीं। यदि कबीर अपनी ही कविता के समान, सीधी-सादी भाषा में उल्लिखित आदर्श हैं तो गांधी उसकी और भी सुबोध क्रियात्मक व्याख्या।"

डा० रामविलास शर्मा ने कबीर आदि सन्त-कवियों की इसी महत्ता को मुक्त-कंठ से स्वीकार करते हुए लिखा है—"उन्होंने धर्म की रूढ़ियों का उल्लंघन किया था। उन्होंने अपने प्रेम के अश्रु जल से देवता के आँगन से रक्तपात की कलंक रेखा धो डाली थी। उनके गीत दूर-दूर के गाँवों में एकतारे पर सुनाई देते हैं और वह तार भारतवर्ष की एकता का ही है। भेद-बुद्धि उनके पास नहीं फटकती। समाज के कर्णधारों की अवज्ञा के बावजूद उनकी अमर वाणी आज भी सर्वत्र गूँज रही है।"

स्वर्गीय डा० रांगेय राघव ने इन सन्त कवियों की इसी ऐतिहासिक महत्ता को पहचाना था और दर्दभरी वाणी में कहा था—"निर्गुण सन्त समाज के उन क्षेत्रों से आए थे जिन्हें शताब्दियों से कुचला गया था। उन्हें पूर्ण शिक्षा नहीं मिली थी। उन्हें दब कर रहना पड़ता था।...वे अपनी सामाजिक व्यवस्था में अपने ही छोटे-छोटे भेदों में ग्रस्त समुदाय थे, जिन पर अन्ध-विश्वास और अशिक्षा का अधिक प्रभाव था। निम्न जातियों के इस समुदाय में यह आत्मविश्वास अन्ततोगत्वा जागा, वह शताब्दियों के नकारात्मक स्वर से भरा था कि—'ओ विजेता! तू कुछ नहीं है, तू मुझे हरा नहीं सकता, मैं अमर हूँ और रहूँगा।"

और वस्तुतः कबीर आज भी स्वयं विजेता के रूप में अमर हैं। काल-प्रवाह उनके स्वर को दबाने में असमर्थ रहा है। आज कबीर का वही स्वर अन्याय का प्रतिरोध कर मानव-मात्र की कल्याण कामना से पुनः उद्वेलित हो रहा है।

सन्त-काव्य के निर्माताओं में कबीर सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके काव्य में सन्त-काव्य की सम्पूर्ण विशेषताएँ मिल जाती हैं। कबीर के अतिरिक्त अन्य सन्त कवियों में अनेक काफी प्रसिद्ध हैं। यहाँ हम उनमें से कुछ प्रमुख कवियों का संक्षिप्त परिचय देंगे। विचार-सिद्धान्त और साधना-पद्धति की दृष्टि से उनमें और कबीर में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता। इसलिए यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय ही अपेक्षित है।

धरमदास

धरमदास कबीर के समकालीन और उनके प्रमुख शिष्य माने जाते हैं। कहा जाता है कि इन्होंने सम्वत् १५२१ में कबीर-वाणी का सर्वप्रथम संग्रह 'बीजक'

नाम से किया था। इनके नाम से प्रचलित ग्रन्थों में 'सुख-निधान' विशेष प्रसिद्ध है। कबीर के उपरान्त उनकी गद्दी इन्हीं को मिली थी।

धन्ना भगत

रामानन्द के बारह शिष्यों में इनकी भी कबीर के साथ गणना की जाती है। ये राजस्थान के निवासी जाट थे। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में इनके नाम से चार पद संग्रहीत हैं।

पीपा

इनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि ये गगरौन गढ़ के राजा थे। आरम्भ में दुर्गा के उपासक थे परन्तु बाद में रामानन्द द्वारा दीक्षित किये जाने पर निर्गुण ब्रह्म के उपासक बन गए थे। इनकी दो पंक्तियाँ उदाहरणार्थ द्रष्टव्य हैं—

'जो ब्रह्मंडे, सोई पिंडे, जो खोजै सो पावै।
पीपा प्रणवै परम ततु है, सत गुरु होइ लखावै॥'

कबीर पंथियों में इनका विशेष महत्त्व माना जाता है।

रैदास (रविदास)

सहजता, सरलता और अनुभूति की गहनता की दृष्टि से सन्त-कवियों में इनका विशेष स्थान माना जाता है। एक किम्वदन्ती के अनुसार ये अवस्था में कबीर से बड़े ठहरते हैं परन्तु दूसरी तरफ इन्हें मीराबाई का गुरु माना जाता है जो उन्हें कबीर का परवर्ती सिद्ध कर देता है। साधारणतः इनका समय सं० १४४५-१५७५ के मध्य माना जाता है। ये बनारस के आस-पास के रहने वाले और जाति के चमार थे। ये भी कबीर के समान अपढ़ परन्तु बहुश्रुत, गृहस्थ परन्तु वीतराग थे। चमार जाति के अधिकांश कबीर-पंथी अपने को 'रविदासी' कहते हैं। इनकी रची कोई भी पूरी पुस्तक अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। इनके पद इधर-उधर बिखरे हुए मिलते हैं। कहते हैं राजस्थान में इनकी बहुत-सी रचनाएँ हस्तलिखित रूप में मिलती हैं। 'गुरु ग्रन्थ-साहिब' में इनके लगभग सौ पद संग्रहीत हैं। इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'रैदास की बानी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

इनके काव्य के सम्बन्ध में विद्वानों का यह मत है कि इन्होंने सगुण-मार्ग का विरोध तो नहीं किया है, परन्तु इनका स्वर निर्गुणवादी ही रहा है। इनका मूल रूप एक अत्यन्त शान्त, निरीह भक्त का रहा है। एक भक्त-हृदय की सम्पूर्ण दीनता, कातरता, विह्वलता इनके काव्य में मिल जाती है। कबीर के समान इनका समाज-सुधारक का रूप नहीं मिलता। ये प्रमुख रूप से भक्त हैं, और कुछ भी नहीं। इनमें न तो ज्ञान की जटिल चर्चा मिलती है और न हठयोग, साधना के गूढ़ तत्त्व आदि सम्बन्धी रूढ़ पारिभाषिक शब्दावली तथा उलट-बाँसियों आदि के ही दर्शन होते हैं। ये जब अद्वैत, ज्ञान, निर्गुण, निरंजन आदि की भी बातें करते हैं, तब भी इनमें

जटिलता नहीं आ पाती। सीधी-सादी भाषा में, सहज रूप से अपनी बात कह जाते हैं। प्रेमानुभूति इनमें अत्यन्त गहन परन्तु सरल मिलती है। इनकी समझ में इसका रहस्य नहीं आ पाता कि भगवान तो इन्हें देख रहे हैं, परन्तु ये भगवान को नहीं देख पाते—

'तू मोहिं देखै, हौं तोहिं देखौं, प्रीत परस्पर होई।
तू मोहि देखै, तोहि न देखौं, यहि मति बुधि सब खोई॥'

इनमें अपने आराध्य के प्रति अपूर्व निष्ठा और पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना मिलती है।

जैसे—

'तीरथ बरत न करौं अदेशा, तुम्हरे चरन कमल भरोसा।
जहँ-जहँ जाओ तुम्हारी पूजा, तुमसा देव और नहिं दूजा॥'

इनके इसी सहज रूप से प्रभावित हो, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनके काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"अनाडम्बर, सहज शैली और निरीह आत्म-समर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम सन्तों की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निस्सन्देह रैदास के भजन इस गुण से समृद्ध हैं।....उनका आत्म-निवेदन, दैन्य भाव और सहज भक्ति—इसी श्रेणी के भाव पाठक के हृदय में संचारित करते हैं। इसी को काव्य में प्रेषणीयता का गुण कहते हैं।"

दादू दयाल

इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि इनका जन्म सम्वत् १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक नगर में और मृत्यु सम्वत् १६६० में भूतपूर्व जयपुर राज्य में स्थित नरौना नामक स्थान में हुई थी। इनके जन्म और जाति के सम्बन्ध में अनेक किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। इनके अनुसार कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण और कुछ धुनिया जाति का बताते हैं। दादू-पंथी इन्हें ब्राह्मण वंशी ही मानते हैं। इन्हें मुसलमान धुनिया जाति का मानने वालों का कहना है कि इनका असली नाम दाऊद था। कबीर के समान ये भी गृहस्थ और बाल-बच्चे वाले थे। इन्होंने भ्रमण भी खूब किया था। दादू पंथियों के अनुसार इन्होंने बुड्ढन बाबा या वृद्धानन्द नामक गुरु से दीक्षा ली थी और फिर आगे चलकर स्वयं 'ब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना की थी। कहते हैं अकबर ने इन्हें फतहपुर सीकरी बुलाया था और इनके उपदेशों से बहुत प्रभावित हुआ था। इनकी रचनाओं का संग्रह इनके दो शिष्य—सन्तदास और जगन्नाथदास ने 'हरडे वाणी' के नाम से किया था। रज्जब साहब ने 'अंग वधू' के नाम से इनकी वाणी का संग्रह किया है। काशी-नागरी प्रचारिणी सभा ने भी इनकी रचनाओं का एक संग्रह प्रकाशित किया है जिसमें २६२३ साखियाँ और ४४५ पद हैं। बंगाल के बाउल सम्प्रदाय में दादू को बहुत

सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। सन्त-काव्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भी दादू की बानियों का एक संग्रह सम्पादित कर प्रकाशित कराया है। इनके अतिरिक्त भी विभिन्न स्थानों से इनकी बानियों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

चिन्तन-धारा और साधना-विधि—दोनों दृष्टियों से कबीर और इनमें बहुत समानता मिलती है। ये भी कबीर के ही समान परम तत्त्व को अपना आदि गुरु अर्थात् आराध्य मान उसे 'शून्य', 'परम पद', 'निर्वाण' आदि कहते हैं। परन्तु फिर भी कबीर और दादू में सूक्ष्म-सा अन्तर मिलता है। डा० दयानन्द श्रीवास्तव के अनुसार—कबीर आत्म-प्रत्यय में विश्वास करते हैं और दादू आत्म-समर्पण में। इन दोनों में दूसरा अन्तर यह है कि उन्होंने कबीर के समान सामाजिक-अन्याय—जाति-पाँति, मूर्तिपूजा, बाह्याडम्बर आदि का खंडन उग्र भाषा में नहीं किया है। उनमें समाज का विरोध करने का भाव कबीर की अपेक्षा कम मिलता है। वे जब विरोध करते हैं तब कबीर के समान उग्र न होकर विनम्र और स्नेहशील बने रहते हैं। उनकी इसी विनम्रता और स्नेहिल स्वभाव ने उन्हें बहुत लोकप्रिय बना दिया था। वस्तुतः दादू एक सरल, निरीह, स्नेहिल स्वभाव के भक्त थे। उनके भक्त-हृदय की कातरता, आतुरता और विह्वलता उनके निम्नांकित पद में साकार हो उठी है—

'अजहूँ न निकसे प्राण कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारहु जुग बीते, रैन गँवाई भोर।
अवधि गए अजहुँ नहिं आए, कतहूँ रहे चित चोर।
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत तोर।
दादू अइसहिं आतुर बिरहिनि, जैसेहि चन्द चकोर।'

सुन्दरदास

इनका जन्म संवत् १६५३ में जयपुर के पास द्यौसा नामक स्थान पर एक खंडेलवाल वैश्य-परिवार में हुआ था। छः वर्ष की अवस्था में ही इन्हें दादूदयाल का शिष्य बना दिया गया था। ये सन्त रज्जब के समकालीन थे और उन्हीं के साथ इन्होंने काशी में संस्कृत साहित्य, दर्शन, व्याकरण आदि का अध्ययन किया था। काशी से लौटकर ये राजस्थान के फतहपुर नामक गाँव में आकर रहने लगे। वहाँ का नवाब इन्हें बहुत मानता था। वहीं कार्तिक शुक्ल अष्टमी, संवत् १७४६ में इनका देहान्त हुआ था।

सन्त कवियों में सुन्दरदास ही एकमात्र ऐसे कवि हुए हैं जो विद्वान् और काव्य-शास्त्र से परिचित थे। इसी कारण इनकी रचनाएँ साहित्यिक और सरस, भाषा परिष्कृत और प्रांजल है। इनके रचे ग्रन्थों की संख्या लगभग ४२ बताई जाती है जिनमें 'सुन्दर विलास' और 'ज्ञान समुद्र' नामक ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण

हैं। इन्होंने अन्य निर्गुणिया सन्त कवियों के समान गेय पद और दोहों के साथ कवित्त और सवैये भी लिखे हैं जिनमें अलंकारों की छटा दर्शनीय है। वस्तुतः समस्त सन्त-काव्य में अकेले इन्हीं की रचनाएँ ऐसी हैं जो काव्य-शास्त्रीय परम्परा के ढंग पर रची गई हैं और इस दृष्टि से इन्हें एक सफल कवि माना जाता है। इन्हें व्यर्थ की ऊट-पटाँग तुकबन्दियाँ पसन्द नहीं थीं। ऐसा लगता है कि इनका ध्यान कथ्य की अपेक्षा उसे सुन्दर, आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने की ओर ही अधिक रहता था। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—"इसका परिणाम यह हुआ कि इनकी कविता के बाह्य उपकरण तो शास्त्रीय दृष्टि से कदाचित् निर्दोष हो सके पर वक्तव्य विषय का स्वाभाविक योग, जो इस जाति के सन्तों की सबसे बड़ी विशेषता है, कम हो गया।"

सुन्दरदास ने अपने निर्गुण सम्प्रदाय से सम्बन्धित काव्य तो रचा ही है, साथ ही सामाजिक रीति-नीति और व्यवहार आदि सम्बन्धी कविताएँ भी लिखी हैं। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के आचार-व्यवहार पर इन्होंने बड़ी सुन्दर, विनोद भरी उक्तियाँ लिखी हैं। जैसे दक्षिण भारतीयों पर—"राँधत प्याज, बिगारत नाज, न आवत लाज, करैं सब भच्छन।" पूर्वी प्रदेशों के निवासियों पर—"बाम्हन छत्रिय बैसर, सूदर चारोइ बर्न के मच्छ बघारत।" आदि। आचार्य शुक्ल के अनुसार इनके काव्य में अन्य सन्त-कवियों के काव्य के समान लोकधर्म की उपेक्षा नहीं मिलती। इन्होंने पतिव्रता नारियों और कठिन कर्त्तव्य करने वाले शूरवीरों की खूब प्रशंसा की है। इन्होंने सृष्टितत्त्व का जो विवेचन किया है वह मनमाना न होकर शास्त्रानुकूल है। 'ज्ञान समुद्र' नामक इनके ग्रन्थ में इसी प्रकार की रचनाएँ संग्रहीत हैं। समस्त सन्त-कवियों में आचार्य शुक्ल सबसे अधिक प्रसन्न इन्हीं से रहे हैं। उन्होंने इनकी खूब प्रशंसा की है, इन्हें एक सफल कवि माना है। इनकी कविता सम्बन्धी मान्यता इस प्रकार रही है—

'बोलिए तो तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तो तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिए।।'

उपर्युक्त पंक्तियों से ऐसा भासित होता है कि सुन्दरदास ऊटपटाँग तुकबन्दी करने वाले अशिक्षित सन्त कवियों पर व्यंग्य कर रहे हों। इसमें सन्देह नहीं कि सुन्दरदास के काव्य में कहने का सहज ढंग, सरलता, सरसता और काव्य-कला की सहज मनोरमता है। इन विशेषताओं का उद्‌घाटन करने वाला इनका एक छन्द द्रष्टव्य है—

'गेह तज्यो अरु नेह तज्यो, पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत सहे तन, धूप समै जो पंचागिनि बारी।।
भूख सही रहि रूख तरे, पर सुन्दरदास सबै दुख भारी।
डासन छाँड़िकै कासन ऊपर आसन मार्‌यो, पै आस न मारी।।'

मलूकदास

मलूकदास तुलसीदास के समकालीन थे। इनका जन्म वैशाख कृष्ण पंचमी, सम्वत् १६३१ में इलाहाबाद जिले के कड़ा नामक स्थान पर लाला सुन्दरदास खत्री के यहाँ हुआ था। इनकी मृत्यु १०८ वर्ष की अवस्था में सम्वत् १७३९ में हुई मानी जाती है। ये अपने समय के अत्यन्त प्रसिद्ध सन्त माने जाते थे और देश के विभिन्न भागों—कड़ा, गुजरात, मुल्तान, पटना, नेपाल, काबुल आदि—में इनकी गद्दियाँ स्थापित हुई थीं। इनके चमत्कारों के सम्बन्ध में अनेक किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। आलसियों से सम्बन्धित प्रसिद्ध इस उक्ति के रचयिता यही माने जाते हैं—

'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम॥'

इनकी रचनाओं की संख्या नौ बताई जाती है, जो इस प्रकार है—(१) ज्ञान-बोध, (२) रतनखान, (३) भक्त वच्छावली, (४) भक्त विरुदावली, (५) पुरुष विलास, (६) दस रत्न ग्रन्थ, (७) गुरु प्रताप, (८) अलख बानी, (९) रामावतार लीला। इनकी भाषा अन्य सन्त-कवियों की अपेक्षा अधिक स्वच्छ, सुव्यवस्थित और सुन्दर है। इन्होंने ब्रज और खड़ीबोली—दोनों में कविता की है। परम तत्त्व की उपलब्धि इनकी साधना का परम ध्येय रहा है। इनकी खड़ीबोली में रची एक कविता उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

'नाम हमारा खाक है, हम खाकी बन्दे।
खाकहि से पैदा किए, अति गाफिल गन्दे॥
कबहूँ न करते बन्दगी, दुनिया में भूले।
आसमान को ताकते, घोड़े चढ़ फूले॥'

हिन्दी की सन्त-काव्य-धारा में अन्य अनेक प्रसिद्ध सन्त कवि हुए हैं, जैसे—अक्षर अनन्य, जम्भनाथ, हरिदास निरंजनी, रज्जब जी, बावरी साहिबा, यारी साहब, दरिया (बिहार वाले), दरिया साहब (मारवाड़ वाले), बुल्ला साहब, धरनीदास, सहजो बाई, दया बाई, गुलाल साहब, चरनदास, भीखा साहब, गरीबदास, दूलन दास, पलटू साहब, तुलसी साहब आदि। इनमे से कुछ भक्ति-काल में हुए हैं और कुछ उसके परवर्ती शृंगार-काल में। इन सबके काव्य में न्यूनाधिक वे ही विशेषताएं मिलती हैं जो कबीर आदि के काव्य की रही हैं। सन्तों की उपर्युक्त सूची में स्त्रियाँ भी हैं—सहजो बाई, दया बाई। इन्हें सन्त-मार्गी सम्प्रदायों में दीक्षित किया गया था। इस वर्ग में इन नारियों की उपस्थिति यह सिद्ध करती है कि सन्तों ने नारी-निन्दा नहीं की थी। लगभग सभी सन्त ग्रहस्थ थे।

सन्तों की एक दूसरी परम्परा पंजाब में मिलती है। सिख-धर्म का जन्म इन्हीं सन्तों द्वारा हुआ था, जो सन्त और कवि—दोनों ही थे। यहाँ हम इनका पृथक् रूप से संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

पंजाब के हिन्दी सन्त-कवि

गुरु नानक देव

डा० द्विवेदी के अनुसार—"मध्ययुग के जिन महात्माओं ने भारतीय धर्म-साधना और समाज-व्यवस्था को गम्भीर भाव से प्रभावित किया है, उनमें गुरु नानक देव का स्थान प्रमुख है।" वस्तुतः मध्यकालीन सन्त-साहित्य में गुरु नानक का महत्त्व कबीर के समान ही रहा है। कबीर के समान ही इन्होंने "व्यष्टि के लिए विवेक, वैराग्य, भक्ति और ज्ञान की अनिवार्यता का सम्पादन किया। समष्टि के लिए सदाचार, संयम और सामाजिक उन्नयन की भावना का संस्थापन किया।"

—डा० दयानन्द श्रीवास्तव

गुरु नानक का जन्म सम्वत् १५२६ में पंजाब के तिलवंडी नामक गाव में कालूराम खत्री के यहाँ हुआ था। ये सिख-धर्म के प्रवर्त्तक माने जाते हैं, इसलिए इनका जन्मस्थान तिलवंडी, जो अब 'ननकाना साहेब' कहलाता है और पश्चिमी पाकिस्तान में है, सिखों का तीर्थ-स्थल माना जाता है। धर्मप्राण सिख प्रतिवर्ष वहाँ तीर्थ-यात्रा करने जाते हैं। बचपन से ही इनका रुझान शान्त, मननशील और साधु-जीवन की ओर रहा था। आगे चल कर इनका विवाह भी हुआ, दो पुत्र भी उत्पन्न हुए परन्तु इनका मन गृहस्थी और व्यवसाय में न लग सका। ये प्रायः देश भ्रमण के लिए निकल जाया करते थे और वहाँ विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों के साधु-सन्तों, विद्वानों आदि का सत्संग होता रहता था। इन्होंने बचपन में पंजाबी, हिन्दी, संस्कृत और फारसी भी पढ़ी थी। परन्तु आचार्य शुक्ल का कहना है कि ये भी कबीर के समान विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे। भ्रमणशील व्यक्ति बहुश्रुत तो होता ही है, साथ ही शास्त्रों की अपेक्षा अपने अनुभव से अर्जित ज्ञान पर ही अधिक अवलम्बित रहता है। नानक देव में भी हम यही विशेषता पाते हैं। सिख-धर्म का प्रवर्त्तक होने के कारण इनके सम्बन्ध में भी अनैतिहासिक किम्बदन्तियाँ प्रचलित हो गई हैं। जैसे—नामदेव, रैदास, कबीर आदि के साथ इनकी भेंट हुई थी, जबकि ये तीनों ही उनके पूर्ववर्ती थे। अस्तु,

गुरु नानक भक्त थे। भक्ति-भाव में विह्वल हो ये जो पद गाया करते थे, कालान्तर में, उनका संग्रह, सिखों के धर्म ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में किया गया था। उसके 'महला' शीर्षक प्रकरण में इनकी वाणी संग्रहीत है। कबीर के समान ये भी निर्गुण-निराकार ब्रह्म के उपासक थे। लोगों की धारणा तो यह है कि भक्ति-साधना के क्षेत्र में ये पूर्णतः कबीर के अनुयायी थे। कबीर के समान इन्होंने भी साकारोपासना, अवतारवाद, मूर्त्तिपूजा, सामाजिक-विभेद—ऊँच-नीच, वर्ण-व्यवस्था आदि का विरोध किया था। परन्तु उनके इस विरोध में कबीर की सी अक्खड़ता, कटुता और निर्ममता न होकर शान्त, सौम्य, उदार विरोध का रूप ही अधिक झलकता है।

अपने दर्शन में इन्होंने ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति का समन्वय किया है। कबीर अपने 'परम तत्त्व' को 'राम' कहते हैं और नानक 'शब्द' या 'वाणी मानते हैं। नानक का यह परम तत्त्व स्वयम्भू है, अजन्मा है, प्राप्त होने वाला है, उसकी प्राप्ति गुरु कृपा द्वारा ही होती है। नानक जीवन की सार्थकता भगवान के ध्यान और नाम-स्मरण में निरन्तर निरत बने रहने में ही मानते हैं। भगवान के भजन के सम्मुख अन्य सारे तत्त्व गौण हैं। उस परम तत्त्व को प्राप्त कर लेने से संसार के सारे क्लेश कट जाते हैं और साधक मुक्तात्मा बन जाता है। कबीर के समान इन्होंने भी राम को अपना प्रियतम माना है—'मेरा मनो, मेरा मनु, राता लाल पियारे राम।'

विनय-भावना, कोमलता, मृदुता आदि में इनकी तुलना सन्त रैदास से की जाती है। कबीर ने अपने समकालीन और परवर्ती युग पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला था। प्रभाव की दृष्टि से नानक कबीर से कहीं अधिक श्रेष्ठ और आगे बढ़े हुए दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने एक ऐसे धर्म की नींव डाली थी जिसमें सबको समान स्थान और समान अवसर प्राप्त है। वहाँ किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं है। न कोई बाह्य आडम्बर है, न आचारों का बन्धन है। यह धर्म मानव-मन में एक अद्‌भुत शक्ति का संचार करता है जिसमें उदारता, निश्छलता, कोमलता, विनय आदि भावनाओं के साथ अटूट निष्ठा, अद्‌भुत त्याग-भावना, अनुपम सहन-शक्ति का ओजपूर्ण समन्वय है। डा० द्विवेदी ने नानक के अनुयायिओं पर उनके इस अद्‌भुत और गहरे प्रभाव की प्रशंसा करते हुए कहा है—

"यदि इनके भक्तों की त्याग-भावना, दुख बर्दाश्त करने की शक्ति और अपार धैर्य को देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि जैसी अद्‌भुत प्रेरणादायिनी शक्ति इनकी वाणियों ने दी है, वैसी मध्य-युग के किसी अन्य सन्त की वाणियों ने नहीं दी है। इतिहास साक्षी है कि सिख-भक्तों को दीवार में चुन दिया गया है, फाँसी पर लटका दिया गया है और जितनी प्रकार की अमानुषिक पीड़ाएँ दी जा सकती हैं सब दी गईं हैं और फिर भी इन भक्तों ने निराशा या पराजय का भाव नहीं दिखाया। जिन वाणियों से मनुष्य के अन्दर इतना बड़ा अपराजेय आतमबल और कभी समाप्त न होने वाला साहस प्राप्त हो सकता है, उनकी महिमा निस्सन्देह अतुलनीय है। सच्चे हृदय से निकले हुए भक्त के अत्यन्त सीधे उद्‌गार और सत्य के प्रति दृढ़ रहने के उपदेश कितने शक्तिशाली हो सकते हैं, यह नानक की वाणियों ने स्पष्ट कर दिया है।"

नानक के जीवन-दर्शन का व्यक्त करने वाला उनका एक पद द्रष्टव्य है—

'जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानें॥
नहिं निन्दा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक तें रहै नियारो, नाहिं मान अपमाना॥

आसा मनसा सकल त्यागि कै, जग तें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिंन, तेहि घट ब्रह्म-निवासा॥
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्ही, तिन्ह यह जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविन्द सों, ज्यों पानी संग पानी॥

गुरु अंगद

सिख-गुरुओं में से इन्हें भी हिन्दी का अच्छा कवि माना जाता है। इनका जन्म सम्वत् १५६१ में फिरोजपुर जिले के 'मत्ता दी सराय' नामक स्थान में और मृत्यु सम्वत् १६०९ में हुई थी। कहा जाता है कि ये पहले शक्ति के उपासक थे, बाद में किसी असादीवार की कुछ पंक्तियाँ सुन नानक के प्रति आकर्षित हुए। इन्होंने ही गुरु नानक की रचनाओं का संग्रह तथा गुरुमुखी लिपि में संशोधन कराया था तथा लंगर द्वारा अतिथि-सत्कार की प्रथा चलाई थी। इनकी कुछ रचनाएँ 'गुरु ग्रन्थ-साहिब' में संग्रहीत हैं जिनमें सदाचार, भगवत्प्रेम और गुरु-भक्ति के भाव हैं।

गुरु अंगद के उपरान्त सिखों के दो गुरु और हुए थे—गुरु अमरदास, और गुरु रामदास। इन्होंने भी हिन्दी में कविताएँ की थीं जो 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में संग्रहीत हैं।

गुरु अर्जुन देव

काव्य की दृष्टि से सिखों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव का विशेष स्थान माना जाता है। इनकी सर्वप्रसिद्ध रचना 'सुखमनी' मानी जाती है। इनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह माना जाता है कि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती गुरुओं और अन्य सन्त कवियों की रचनाओं का, चारों ओर घूम-घूम कर संकलन किया था और फिर उन्हें 'गुरु ग्रन्थ-साहिब' में संग्रहीत कर दिया था। इस धर्म-ग्रन्थ में गुरु अर्जुनदेव की रचनाएँ ही सबसे अधिक संख्या में संग्रहीत हैं। इन्होंने ही इस ग्रन्थ को सबसे पहले गुरुमुखी लिपि में लिपिबद्ध कराया था।

इनके उपरान्त हुए सिखों के अन्य गुरु भी हिन्दी के कवि रहे थे। गुरु हरराय, गुरु हरकृष्णराय आदि। सिखों के नवें गुरु—गुरु तेग बहादुर थे।

गुरु गोविन्द सिंह

सिख-सम्प्रदाय के गुरुओं में कवि रूप में, गुरु नानक के उपरान्त सिखों के दसवें तथा अन्तिम गुरु—गुरु गोविन्दसिंह का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। ये स्वयं एक अच्छे कवि थे और कवियों के आश्रयदाता भी। सात वर्ष की अवस्था में इन्हें सिख-पंथ का दसवाँ गुरु नियुक्त किया गया था। इन्होंने सिख-पंथ को केवल धार्मिक पंथ के संकीर्ण दायरे से बाहर निकाल, उसमें राजनीति और समाज-नीति का प्रवेश कर सिख-पंथ को एक नवीन चेतना से अनुप्राणित कर दिया था। वस्तुतः सिख जाति इन्हीं के प्रयत्नों से योद्धा-जाति बनी थी। गुरु गोविन्द सिंह के साथ ही सिखों की गुरु-परम्परा समाप्त हो गई थी। गुरु गोविन्द सिंह ने गुरु के

स्थान पर 'गुरु ग्रन्थ साहिब' को स्थापना कर इस परम्परा को समाप्त कर दिया था। उन्हीं के समय में इस ग्रन्थ में दसों गुरुओं की वाणियों का संकलन कर उसे अन्तिम रूप प्रदान कर गुरुपद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया था। इस ग्रन्थ में सिख-गुरुओं के अतिरिक्त अन्य अनेक सन्तों की रचनाएँ भी संकलित हैं, जिनमें कुछ मुसलमान भी हैं।

गुरु गोविन्द सिंह की रचनाएँ सिखों के 'दसम' ग्रन्थ में संग्रहीत हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'चण्डी चरित्र' के नाम से 'दुर्गासप्तशती' का हिन्दी में अनुवाद किया था। इसके अलावा इनके रचे दो ग्रन्थ और बताए जाते हैं—'विचित्र नाटक' तथा 'चौबीस औतार वर्णन'। 'चौबीस औतार वर्णन' में इनकी भक्ति-भावना के वास्तविक रूप के दर्शन होते हैं और 'विचित्र नाटक' में उनके अनेक जन्मों की कथा कही गई है। अन्य गुरुओं की अपेक्षा इनकी भाषा अधिक परिमार्जित और प्रवाहपूर्ण रही है। इनकी रचना के दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'सूछम रूप न बरना जाई।
बिरध सरूपहिं कहौ बनाई।'

तथा— **'काह भयो दुहुं लोचन मुदि कै, बैठि रह्यो बक ध्यान लगायो।**
न्हात फिर्यो लियो सात समुद्रन, लोक गयो परलोक गँवायो।
बास कियो बिखियान सो बैठिके, ऐसेहि ऐस सु बैस बितायो।
साँचु कहौं, सुनि लेहु सबै, जिन प्रेम कियो तिन ही प्रभु पायो।'

शेख फरीद

शेख फरीद सन्त-परम्परा के उन कवियों में से हैं जिनकी रचनाओं का संकलन 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में किया गया है। इसमें इनके १३० दोहे और ४ पद संग्रहीत हैं। सामान्यत: इन्हें गुरु नानक आदि का समकालीन माना जाता है। परन्तु कुछ लोग इन्हें १२–१३ वीं सदी का शेख फरीदुद्दीन शकरगंजी मानते हैं।

सन्त-काव्य का पतन-काल

सन्त-काव्य का एक दुर्भाग्य रहा है। जब कबीर, नानक आदि सन्तों के उपदेशों और बानियों का काफी प्रचार हो रहा था, उसी समय उनके शिष्यों में अपना-अपना सम्प्रदाय स्थापित करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई और अल्पकाल में ही काफी प्रबल बन गई। कबीर की मृत्यु के उपरान्त कबीर पंथ की स्थापना की गई। इस पंथ द्वारा कबीर की बानियों का संकलन कर उनका प्रचार किया गया। साथ ही इन शिष्यों ने साम्प्रदायिक साहित्य भी रचा। कालान्तर में यह सम्प्रदाय अनेक उप-शाखाओं में विभाजित हो गया। साहेबदासी, टकेसरी, सत्य कबीर, दान कबीर, हंस-कबीर, मंगल कबीर, उदासी कबीर आदि विभिन्न पंथों की समय-समय पर स्थापना

होती रही। इसी प्रकार दादू पंथ की स्थापना सन्त दादू दयाल के ही जीवन-काल में हो चुकी थी और कालान्तर में यह अनेक उपशाखाओं में विभाजित हो गया। सन्त लालदास ने लाल-पंथ चलाया और बावरी साहिबा ने बावरी पंथ। दादू पंथी जग-जीवन साहब ने सत्तनामी सम्प्रदाय को जन्म दिया। सत्तनामियों ने औरंगजेब के समय में मुगल-साम्राज्य के खिलाफ विद्रोह किया था। इसी प्रकार शिवनारायणी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय, सहेनी सम्प्रदाय आदि अनेक सम्प्रदायों की स्थापना हुई जिनमें से बहुत से आजकल भी अस्तित्व में हैं।

इसी प्रकार सिख-सम्प्रदाय भी उदासी, नामधारी, निर्मल, सुथरा शाही, सेवा-पंथी, अकाली आदि अनेक उप-सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। उपर्युक्त सम्पूर्ण सम्प्र-दायों और उप-सम्प्रदायों में यथेष्ट साहित्य रचा गया परन्तु सभी साम्प्रदायिक होने के कारण साहित्यिक गुणों से शून्य रहा, इसलिए उसे साहित्य में स्थान नहीं मिल सका।

उस युग में केवल एक 'निरंजनी' नामक सम्प्रदाय ऐसा था जो कबीर पंथ से भी प्राचीन माना जाता है। सहजयान और नाथपंथ के समानान्तर इसका अस्तित्त्व मिलता है। इस सम्प्रदाय में भी काफी साहित्य हिन्दी में रचा गया। डा० बड़थ्वाल ने सर्वप्रथम इसकी ओर ध्यान आकर्षित किया था। कबीर पर भी इस सम्प्रदाय का प्रभाव माना जाता है। परन्तु उक्त सम्पूर्ण सम्प्रदाय ऐसे सशक्त साहित्य की रचना नहीं कर सके जो कबीर और नानक-साहित्य के समान अपना गहरा और व्यापक प्रभाव डालने में समर्थ होता। यह शुद्ध साम्प्रदायिक साहित्य बनकर रह गया जो सम्प्रदायों की रूढ़, साम्प्रदायिक बातों, विधानों आदि का वर्णन करने तक ही सीमित होकर रह गया था।

सन्त-काव्य का मूल्यांकन

सन्त-काव्य हिन्दी-साहित्य का एक ऐसा अंग है जिसे काव्य-शास्त्रीय सौन्दर्य की दृष्टि से उच्चकोटि का काव्य नहीं माना जा सकता परन्तु प्रभाव की दृष्टि से जिसका महत्त्व सर्वोपरि है। यद्यपि इसने अपने परवर्ती हिन्दी-साहित्य को प्रभावित नहीं किया, इसका साहित्यिक प्रभाव अपने युग तक ही सीमित होकर रह गया, इसका अनुसरण कर परवर्ती युग में जो रचनाएँ लिखी गईं, वे मात्र साम्पदायिक बनकर रह गईं और जिन्हें साहित्य में स्थान नहीं दिया जा सकता, परन्तु समाज पर सन्त-काव्य का जो प्रभाव आज भी दिखाई देता है, उसके महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। उत्तर भारत की तथाकथित निम्न श्रेणी की जनता, जिसे उच्च वर्ग वाले अछूत कहते आए हैं, आज भी इन सन्तों की मुरीद है। वह उन्हें ही अपना पथ-प्रदर्शक मानती है। जनसंख्या की दृष्टि से यह वर्ग भारत का सबसे बड़ा वर्ग है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सन्त-काव्य का यह प्रभाव समाज के इस वर्ग पर विगत पाँच सदियों से निरन्तर बना रहा है। उस युग में इस काव्य ने इस वर्ग में आत्म-विश्वास और

आत्म-गौरव की भावना जाग्रत की थी। धर्म के ठेकेदारों के प्रति एक उपेक्षा और अवहेलना की भावना उत्पन्न की थी। इस उपलब्धि को साधारण नहीं माना जा सकता। इसका अपना अनन्य ऐतिहासिक महत्त्व है।

उच्च कोटि के विद्वान् और दार्शनिक अपने मौलिक, प्रगतिशील चिन्तन द्वारा वैचारिक क्रान्ति को जन्म देते हैं, परन्तु उनका प्रभाव-क्षेत्र विद्वत्वर्ग तक ही सीमित रहता है। उनके इन विचारों का समाज में व्यापक प्रचार तभी होता है जब जन-नायक अपने प्रखर व्यक्तित्व, अद्‌भुत समन्वयकारी प्रतिभा और अपूर्व मेधा द्वारा उन विचारों को जनोपयोगी व्यावहारिक रूप प्रदान कर उन्हें सरल, सहज, सरस प्रभावशाली साहित्यिक माध्यम द्वारा समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। शंकर, रामानुज, रामानन्द, वल्लभ आदि के दार्शनिक विचार समाज में इतने अधिक लोकप्रिय न बन पाते यदि उन्हें कबीर, तुलसी, सूर आदि की सरस वाणी का सहारा न मिला होता। इसलिए समाज अनादि काल से उन्हीं प्रतिभाओं का अधिक सम्मान करता आया है जो उसके दुख-दर्द का उसके आनन्द-उल्लास का, उसकी अभिलाषा-आंकाक्षाओं का संवेदनशील चित्रण कर उसका मार्ग-दर्शन करती आई हैं। और कबीर, गुरु नानक आदि मध्यकालीन ऐसी हीं प्रतिभाएँ थीं।

प्रतिभा मौलिकता को जन्म देती है। परम्परा में जो अभाव रह जाते हैं, उन्हें दूर करने के उपाय सुझाती है। और इसी को वैचारिक परम्परा का विकास कहते हैं। कोई भी नया विचार किसी परम्परागत विचार का ही विकसित रूप होता है। विकास की यह प्रक्रिया सृष्टि के आदि से चली आ रही है। इसलिए यदि कोई परम्परागत विचारों, साधना-पद्धतियों, काव्य-प्रकारों का सम्बल ग्रहण कर एक नई वस्तु प्रस्तुत करता है तो उस पर मौलिकता के अभाव का लांछन लगाना न्याय-संगत नहीं माना जा सकता। हिन्दी-साहित्य के कुछ आलोचकों ने सन्त-काव्य पर यह लांछन लगाया है कि उसने कोई नई बात न कहकर सब कुछ वही कहा है जो सन्तों के पूर्ववर्ती सिद्ध, नाथपंथी, सहजयानी आदि कह चुके थे। इसलिए सन्त-काव्य को मौलिक नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से यदि सन्त-काव्य को मौलिक नहीं माना जा सकता तो रामकाव्य और कृष्णकाव्य को भी मौलिक नहीं मानना चाहिए। परन्तु उन्हें मौलिक मान उनकी प्रशंसा की जाती है, सूर-तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि और विचारक घोषित किया जाता है। क्या इन दोनों ने परम्परा का सम्बल ग्रहण नहीं किया था? फिर यह दृष्टि-भेद क्यों?

प्रतिभा सदैव शुभ का संचय और अशुभ का निराकरण करती है। सूर और तुलसी ने यही किया था और कबीर भी यही करने के लिए साहित्य क्षेत्र में उतरे थे। उन्होंने अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं को यथावत् स्वीकार न कर, प्रत्येक में से शुभ और उपादेय तत्त्वों का संचय कर समाज को एक ऐसी नवीन दृष्टि प्रदान की थी जो समस्त सामाजिक अन्यायों का प्रतिरोध कर एक स्वस्थ, सबके लिए समान

और सुलभ जीवन-मार्ग का निर्माण करने वाली थी। यदि सन्त कवियों ने कोई नई बात नहीं कही थी, सब कुछ वही कहा था जो उनके पूर्ववर्ती सिद्ध, नाथ आदि कह चुके थे, तो क्या कारण था कि सन्त कवि अपने समकालीन जन-मानस पर पूरी तरह से छा गए और समाज उनके पूर्ववर्तियों को भूल गया ? इसी प्रश्न के उत्तर में वह रहस्य छिपा हुआ है जिसने सन्त कवियों को इतना अधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली बना दिया था। और वह रहस्य यह था कि ये लोग व्यक्तिगत साधनाओं की उन उच्च भावभूमियों से, जो मात्र स्व का कल्याण करने वाली थीं, नीचे उतर कर समाज की उन भावभूमियों का स्पर्श करने में समर्थ हो सके थे जो लोक-कल्याण की धात्री होती हैं। सन्तों का सबसे क्रान्तिकारी कदम यह था कि उन्होंने इस लोक में रहते हुए, गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भी व्यक्तिगत साधना करते रहने का मार्ग प्रशस्त किया था। वे लोक-धर्म से पलायन में आस्था नहीं रखते थे। लोक में रहते हुए सामाजिक अन्याय का प्रतिरोध करने में विश्वास करते थे। उनके इस क्रान्तिकारी कदम ने समाज में दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही सन्यासियों की संख्या पर रोक लगा दी थी। और जब समाज में गृह-त्यागी सन्यासियों की संख्या अधिक बढ़ जाती है तो समाज आडम्बर, परमुखापेक्षिता, असत्य, ढोंग और अनाचार से पीड़ित हो उठता है। क्योंकि इन सन्यासियों में ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक होती है जो आकाश-बेल के समान दूसरों की उदारता और परिश्रम पर जीवन यापन करते हुए समाज में भ्रष्टाचार फैलाते रहते हैं। यद्यपि कालान्तर में सन्त-कवियों के नाम पर स्थापित विभिन्न सम्प्रदायों की भी यही नियति रही थी, परन्तु मध्य-युगीन सन्तों का यह अभिप्राय कभी नहीं रहा था।

सन्त-कवि किसी एक ही मत या विचारधारा को अपना कर आगे नहीं बढ़े थे। उन्होंने अद्वैतवाद से निर्गुण ब्रह्म की भावना ली थी, वैष्णवों से सगुण भक्ति के तत्त्वों को ग्रहण किया था, सिद्धों-नाथों आदि से प्राचीन शास्त्रों की अवहेलना, वर्ण-व्यवस्था का विरोध आदि की भावना ग्रहण की थी, परन्तु इन सबकी साधना-पद्धतियों से दूर रहते हुए ध्यान-चिन्तन की अपनी सहज-सरल नवीन साधना-पद्धति का नया मार्ग निकाला था जो सम्पूर्ण बाह्य विधि-विधानों के बन्धनों और आडम्बरों से मुक्त था। वस्तुतः उन्होंने एक ऐसे सर्वजन सुलभ, व्यापक, सरल साधना-मार्ग का प्रवर्त्तन किया था, जिसे बिना किसी भी प्रकार के भेदभाव के प्रत्येक व्यक्ति अपना सकता था और अपनाने में समर्थ भी हो सकता था। क्या इसे सन्तों की मौलिक उपलब्धि स्वीकार करने में किसी को संकोच हो सकता है ?

सन्तों की एक अन्य उल्लेखनीय उपलब्धि यह थी कि उन्होंने समाज को परम्परा और शास्त्र-प्रमाण के स्थान पर आत्मानुभूति को ही सब कुछ मान, उसे ही महत्त्व प्रदान करने की भावना प्रदान की थी। और परम्परागत अगतिशील रूढ़ियों और किसी वर्ग-विशेष की मानसिक दासता से मुक्ति पाने का एकमात्र साधन—स्वानुभव और स्वानुभूति ही होती है। विकास की यह

वैज्ञानिक प्रक्रिया होती है कि एक युग में विकास समझी जाने वाली प्रगति कालान्तर में अगति का रूप धारण कर लेती है और फिर नवीन युग के नवीन परिप्रेक्ष्य में उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में विद्वज्जन और युगद्रष्टा महापुरुष युग की आवश्यकताओं के अनुसार, परम्परा से सम्बद्ध रहते हुए विकास के नए मार्ग खोजते हैं। सन्त कवियों ने अपने युग में विकास का ऐसा ही नया मार्ग खोजा था। उन्होंने प्राचीन की मानसिक दासता से मुक्त होने का नारा बुलन्द कर मानव-मात्र की समानता की प्रतिष्ठा की थी। आधुनिक युग में गांधी जैसे युग-पुरुष ने, युगीन-सन्दर्भ में उसी समानता के स्वर को फिर बुलन्द किया था। जिस प्रकार सन्तों ने धर्म और समाज को अभिन्न घोषित किया था, वही पद्धति गांधी ने इस युग में अपनायी थी।

सामाजिक एकता की, सामाजिक न्याय की, व्यावहारिक स्तर पर सबसे पहले माँग उठाने वाले सन्त-कवि ही थे। उन्होंने सवर्ण-अवर्ण, हिन्दू-मुस्लिम, निर्गुण-सगुण आदि की एकता की माँग उठाई थी। सभी के शुभ और उपादेय तत्त्वों का संचय कर, सबको समान महत्त्व प्रदान कर, एक ऐसे जीवन-दर्शन को जन्म दिया था जिसका मूलाधार प्रेम था। सबसे प्रेम करने की भावना पारस्परिक कटुता, विरोध और संकीर्णता के उन्मूलन में समर्थ होती है। सन्तों की दृष्टि में ब्रह्म से प्रेम करना, जीव-मात्र से प्रेम करना था। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो व्यक्ति प्रेम करता है वह स्वभाव से उदार, सहिष्णु और व्यापक दृष्टिकोण वाला होता है। प्रेम मन के समस्त कलुष को भस्म कर मानव को सच्चे अर्थों में मानव बना देता है। और सन्तों ने प्रेम का सन्देश देकर मानव को सच्चा मानव बनने के लिए प्रेरित किया था।

सन्तों की एक अन्य विशेषता यह थी कि वे सत्पथ के निर्भीक, साहसी आरोही थे। वे इस सत्पथ पर जहाँ भी बाधाएँ पाते थे, उनका दृढ़ता, साहस और सम्पूर्ण शक्ति के साथ उन्मूलन करने में जुट जाते थे। और ऐसा करते समय वे किसी की भी परवाह नहीं करते थे—धर्म, परम्परा, शास्त्र, रूढ़ि, शासक आदि किसी की भी नहीं। उनके स्वभाव में अक्खड़ता थी। वे जातिगत हीनत्व भावना से पूर्णतः मुक्त हो चुके थे। कोई भी शक्ति उन्हें डराने, धमकाने या विचलित करने में असमर्थ थी। इसी कारण उन्होंने बिना किसी भेदभाव के समस्त सामाजिक अन्यायों, अनाचारों, आडम्बरों, बन्धनों आदि का डट कर विरोध किया था। वे अन्याय के किसी भी रूप को स्वीकार अथवा सहन नहीं करते थे। इतना दृढ़ आत्मबल कर्त्तव्य-मार्ग के सच्चे कर्मठ पथिकों में ही पाया जाता है। इस दृष्टि से इन सन्तों की तुलना क्रान्तिकारियों से की जा सकती है। जिस प्रकार क्रान्तिकारी सम्पूर्ण सांसारिक मोह-ममता से मुक्त हो, सिर पर कफन बाँध अपने लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त जुट जाते हैं और सामने खड़ी साक्षात् मृत्यु को देखकर भी अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होते, उसी प्रकार

ये सन्त भी 'सिर उतारै भुँइ धरै' की पद्धति को अपना कर सभी प्रकार के अन्याय का विरोध करने में जुटे रहते थे। सन्तों की ही भाषा में कहें तो ये सच्चे अर्थों में 'मरजीवा' थे।

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से सन्त-काव्य को विशेष स्पृहणीय नहीं माना जा सकता। वह युग भाषा-निर्माण का युग था। हिन्दी का काव्य-शास्त्र उस युग में बन नहीं सका था। साहित्यिक भाषा का भी कोई एक सुनिश्चित, परिष्कृत रूप सामने नहीं था। और सन्त-कवि अधिक पढ़े-लिखे भी नहीं थे। इसलिए उनके काव्य में भाषा का अनगढ़ रूप मिलता है, दोहे जैसे साधारण, छोटे से छन्द का भी सुन्दर निर्वाह सम्भव नहीं हो सका है। परन्तु सन्तों की सबसे बड़ी निधि रही है—अनुभूति की गहनता। और अनुभूति की इस गहनता ने ही उनके काव्य को अभिधा प्रधान न बनाकर लक्षणा और व्यंजना प्रधान बना दिया है। काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में यह एक चमत्कार ही माना जायेगा कि सन्त-काव्य में लाक्षणिकता और व्यंजनात्मकता का इतना अधिक समावेश कैसे हो सका। अनुभूति की तीव्रता ही इस चमत्कार का कारण रही है। और अनुभूति की इस तीव्रता ने ही सन्त-काव्य के उस अंश को साहित्यिक सौष्ठव और आकर्षण से मंडित कर दिया है जहाँ सन्तों ने प्रेम की गहनता में डूब, अपने प्रियतम के मिलन और विरह के गीत गाए हैं। ऐसे स्थलों पर अलंकार, भाषा, छन्द, शैली—सब कुछ मनोरम और उदात्त बन गए हैं।

प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा

सामान्य परिचय

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में हमें अनेक ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जो प्रबन्ध रूप में लिखी गईं हैं और जिनका मूल कथ्य प्रेम रहा है। वैसे तो भक्ति-काल के परवर्ती शृङ्गार काल (रीतिकाल) का भी मूल कथ्य प्रेम ही रहा है परन्तु उसका रूप विशुद्ध रूपेण लौकिक, वासनात्मक और घोर शृंगारी है। भक्ति-काल के उन प्रबन्ध-काव्यों में, जिनमें प्रेम का निरूपण हुआ है, प्रेम का उदात्त, भव्य, भावनात्मक और कुछ-कुछ अलौकिक रूप ही चित्रित हुआ है। मांसलता उसमें भी है (जिसे कुछ आलोचक अश्लीलता घोषित कर उपेक्षा की दृष्टि से देखते आए हैं), परन्तु इस मांसलता में भी एक उदात्त भव्यता है। हमारे हिन्दी-साहित्य के पुराने इतिहास-लेखकों—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास आदि तथा अन्य लेखकों ने प्रेमपरक इस साहित्य को 'प्रेममार्गी सूफी शाखा', 'प्रेममार्गी भक्ति शाखा', 'सूफी-प्रेमाख्यानक काव्य-धारा', 'सूफी प्रेम काव्य', 'प्रेम कथानकों का साहित्य', 'प्रेम गाथा', 'प्रेमाख्यानक', 'प्रेमाख्यान' आदि विभिन्न शीर्षक प्रदान किए हैं। इन सम्पूर्ण शीर्षकों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस साहित्य का मूल कथ्य 'प्रेम' रहा है।

कतिपय भ्रान्तियाँ

इस साहित्य का विवरण और मूल्यांकन प्रस्तुत करते समय हमारे शुक्ल जी जैसे विद्वान् कुछ ऐसी भ्रान्तियों की सृष्टि कर गए हैं, जिनसे हमारे अनेक विद्वान् अभी तक छुटकारा नहीं पा सके हैं। सब से पहली भ्रान्ति तो यह रही है कि यह सम्पूर्ण काव्य भारतीय सूफी मुस्लिम कवियों द्वारा लिखा गया था, और उन सूफियों ने अपने धर्म के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए अपने इन कथा-ग्रन्थों में लौकिक प्रतीकों के माध्यम से अलौकिक प्रेम का चित्रण किया था। इस निष्कर्ष के अनुसार ही शुक्ल जी ने इन कवियों की गणना भक्ति की निर्गुण-मार्गी धारा के अन्तर्गत की

थी। शुक्ल जी के अनुसार ये सूफी कवि ज्ञान और भक्ति के स्थान पर, प्रेम को ही ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र साधन मानते थे। इसीलिए शुक्ल जी ने इस धारा का नाम 'प्रेममार्गी सूफी शाखा' रख दिया।

इस सम्बन्ध में दूसरी भ्रान्ति यह रही कि इस प्रेम-प्रधान साहित्य का ढाँचा अथवा काव्य-रूप फारसी की मसनवी शैली के अनुरूप और उससे गहरे रूप से प्रभावित था। अतः इसे विदेशी विचारधारा, विदेशी धर्म-भावना और विदेशी काव्य-शैली में लिखा हुआ साहित्य मान लिया गया। और अभी तक अधिकांश विद्वज्जन इन निष्कर्षों को सत्य मानते आए हैं।

इस सबन्ध में तीसरी भ्रान्ति यह उत्पन्न की गई कि इसमें निराकार-निर्गुण ब्रह्म की उपासना की गई है और यह उपासना भक्ति का ही एक प्रकार है।

उपर्युक्त भ्रान्तियों का निराकरण करने से पूर्व हमें इस धारा के साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

संक्षिप्त परिचय

इस काल में दो प्रकार के प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए—(१) आध्यात्मिक प्रेम-परक काव्य, (२) विशुद्ध लौकिक प्रेम-काव्य। आध्यात्मिक प्रेम-परक काव्य को भी डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दो विभागों में विभक्त कर दिया है—(अ) सूफी-कवियों के लिखे हुए प्रेम-काव्य, और (आ) अन्य भक्त-कवियों द्वारा लिखे गए प्रेम-काव्य। सूफियों द्वारा लिखे गए प्रेम-काव्य हैं—कुतबन कृत 'मृगावती', मंझन कृत 'मधुमालती', जायसी कृत 'पदमावत', उसमान कृत 'चित्रावली', शेखनबी कृत 'ज्ञान-दीप', कासिमशाह कृत 'हंस जवाहिर', नूरमुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' और 'अनुराग-बाँसुरी'। इनके अतिरिक्त सत्रहवीं सदी के जान नामक एक कवि ने लगभग २१ प्रेम-गाथाएँ लिखी थीं, जिनमें मुख्य पाँच मानी जाती हैं—कनकावती, कामलता, मधुकर मालति, रत्नावति और छीता। भक्तिकाल के उपरान्त भी सूफी प्रेमाख्यानक-काव्यों की परम्परा चलती रही थी। शृंगार-काल में आलम शाह के समकालीन कवि शेख निसार ने 'यूसुफ जुलेखा' नामक प्रेम-काव्य लिखा था। आधुनिक काल में इस परम्परा में लिखे तीन ग्रन्थ मिलते हैं—ख्वाजा अहमद का 'नूरजहाँ', शेख रहीम का 'भाषा प्रेम-रस', और कवि नसीर का 'प्रेम-दर्पण'। 'प्रेम-दर्पण' की रचना सन् १९१७ में हुई थी। इस प्रकार सूफी कवियों के प्रेमाख्यानक-काव्यों की परम्परा चौदहवीं सदी से बीसवीं सदी तक प्रवहमान रही है।

अन्य भक्त कवियों द्वारा लिखे गए आध्यात्मिक प्रेमपरक काव्यों के अन्तर्गत सन्त कवि बाबा धरणीदास का 'प्रेम प्रगास', सन्त दुखहरन का 'पुहुपावती' और नन्ददास का 'रूपमंजरी' प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक वैष्णव कवियों ने पौराणिक प्रेम-गाथाओं के आधार पर काव्य रचे हैं जिनमें नल-दमयन्ती, कृष्ण-रुक्मिणी, उषा-

अनिरुद्ध आदि प्राचीन पौराणिक प्रेम-कथाओं का वर्णन किया गया है। इनका दृष्टि-कोण भक्ति का प्रतिपादन करना ही रहा है।

विशुद्ध लौकिक प्रेमकाव्य—इस काल में अनेक ऐसे प्रेमपरक काव्य लिखे गए थे जिनका उद्देश्य—किसी आध्यात्मिक सिद्धान्त का निरूपण करना न होकर विशुद्ध-रूपेण प्रेम के लौकिक प्रगाढ़ रूप का ही चित्रण करना रहा था। ऐसे ग्रन्थों में निम्नलिखित रचनाओं को सम्मिलित किया जा सकता है—

दामो कृत 'लखनसेन पद्मावती कथा', गणपति कृत 'माधवानल प्रबन्ध दोहा', ईश्वरदास कृत 'सत्यवती कथा', कुशललाभ कृत 'माधवानल काम कन्दला', चतुर्भुज दास कृत 'मधु मालती', परम्परा से प्रसिद्ध प्रेम-कहानी 'ढोला मारू रा दोहा', किसी अज्ञात कवि द्वारा रचित 'सारंगा सदा वृक्ष', आलम कृत 'माधवानल भाषा बन्ध', सुमति हंस कृत 'विनोद रस', सूरदास का 'नल दमन', निगम कायस्थ कृत 'मधु मालती', मुरली कृत 'मियाँ विनोद', हरसेवक मिश्र का 'कामरूप कथा', भद्रसेन नामक राजस्थानी कवि कृत 'चन्दन मलयागिरि की वात', प्रताप कुँवर लिखित 'चन्द कुँवर की बात', काशीराम का 'कनक मंजरी', किसी अज्ञात कवि द्वारा रचित 'मैनासत', नारायणदास कृत 'छिताई वार्ता'।

उपर्युक्त ग्रन्थों की सूची में एक बात द्रष्टव्य है कि इनमें से दो प्रेम-कथाएँ बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय रही हैं—'माधवानल काम-कन्दला', तथा 'मधु मालती'। 'माधवानल-काम कन्दला' के कथानक को लेकर सबसे पहले गणपति (सं० १५८४) ने 'माधवानल काम-कन्दला' 'प्रबन्ध दोहा)' लिखा, इसके उपरान्त माधव शर्मा (सं० १६००) ने 'माधवानल काम-कन्दला रस विलास' ब्रजभाषा में लिखा, कुशललाभ (सं० १६१६) ने 'माधवानल काम-कन्दला चउपई' लिखी, इसी कथा के आधार पर दामोदर कवि (सं० १७३७) ने 'माधवानल कथा' की रचना की, लाल कवि ने भी 'माधवानल कथा' लिखी थी, मगर उसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है। इसके अतिरिक्त आलम कवि (सं० १६४०) ने इस कथा को अवधी में लिखा था। सं० १७१७ में राजकेस कवि ने 'माधवानल' और जैसलमेर के जोशी गंगाराम (सं० १७४४) ने 'माधव-चरित्र' लिखा था।

इसी प्रकार 'मधुमालती' की कथा भी काफी प्रसिद्ध रही है। इसके कथानक को लेकर सूफी कवि मंझन ने सन् १५४५ में 'मधु मालती' नामक प्रेमाख्यान लिखा। इसके उपरान्त चतुर्भुज दास ने 'मधुमालती' की रचना की और दखिनी के कवि नुसरती ने इसी कथा को आधार बना 'गुलसने इश्क' नामक प्रेमाख्यान रचा।

उपर्युक्त प्रेम-कथाओं के अतिरिक्त उस युग में तथा उससे पूर्व पद्मावती और देवगिरि के राजा की कन्या छिताई की कथाएँ भी काफी प्रसिद्ध रही थीं। पद्मावती की कथा अनेक रूपों में प्रचलित रही है। छिताई की कथा को आधार बना नारायण-दास ने और जानकवि ने 'छिताई वार्ता' और 'छीता' नामक प्रेम-काव्यों की रचना की

थी। ये सम्पूर्ण प्रेमकथाएँ बहुत समय तक लोक में काफी लोकप्रिय रही थीं और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार आजकल के सस्ते ढंग के उपन्यासों का काम करती थीं। सत्रहवीं सदी के जैन कवि बनारसीदास ने लिखा है कि उन्हें 'मधुमालती' और 'मृगावती' नामक पुस्तकों के पढ़ने का ऐसा चस्का लग गया था कि वे अपना सारा काम-काज छोड़ घर में बैठे इन्हें ही पढ़ा करते थे। उन्हीं के अनुसार—

'अब घर में बैठे रहे, नाहिन हाट बाजार।
मधु-मालती मृगावती, पोथी दोइ उचार॥'

हम इस दोहे के ऐतिहासिक महत्त्व का विश्लेषण आगे चलकर करेंगे क्योंकि यह इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि मध्ययुग में ये प्रेम-कथाएँ अत्यन्त लोकप्रिय थीं और मनोरंजक साहित्य की पूर्ति करती थीं।

दखिनी हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य

इस युग में जिस प्रकार उत्तर भारत में हिन्दी में प्रेमाख्यान लिखे गए थे, उसी प्रकार दक्षिण की मुस्लिम-रियासतों में दखिनी हिन्दी के कवियों द्वारा भी अनेक प्रेमाख्यानों को आधार बना काव्य रचे गए थे। वहाँ इस परम्परा का सबसे पहला काव्य निजामी का 'कदमराव और पदम' माना जाता है। इसकी रचना सम्भवत: सन् १४५७ के बाद हुई अनुमान की गई है। अभी तक इसकी कोई प्रति नहीं मिली है। कहा जाता है कि इसकी एक प्राचीन प्रति 'अंजुमन तरक्किए-उर्दू' (पाकिस्तान) में सुरक्षित है। इसकी रचना सूफियों की मसनवी शैली की है, और इसका छन्द फारसी का बहर है।

इस परम्परा की दूसरी कृति मुल्ला बजही की 'कुतुब मुश्तरी' है। इसकी रचना सन् १६१० में हुई थी। मुल्ला बजही गोलकुंडा के शासक इब्राहीम कुतुबशाह का दरबारी कवि था। मुल्ला वजही की दूसरी कृति 'सबरस' है। इसकी रचना मुख्यत: गद्य में हुई है। यह भी एक सूफी प्रेम-कथा है। इसमें रूपक द्वारा अक्ल से इश्क को बड़ा ठहराया गया है और हुस्न से दिल का विवाह कराया गया है। आगे चलकर नूरमुहम्मद ने अपनी 'अनुराग बाँसुरी' में इसी प्रकार के रूपक का आश्रय लिया था। मुल्ला बजही के इन प्रेम-काव्यों की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इन्होंने जिन प्रेम-कथाओं का वर्णन किया है वे सब इस्लामी जीवन, मुस्लिम पात्रों तथा फारस, अरब और मिस्र देशों की कथाएँ हैं और इनमें उन्हीं के अनुसार वर्णन किया गया है। उनकी रचना-शैली भी फारसी की मसनवी शैली वाली ही रही है।

गोलकुंडा निवासी गवासी की रचना 'सैफुलमुलूक व वदीउल जमाल' भी इस परम्परा की एक उत्कृष्ट रचना मानी जाती है। इसकी रचना सन् १६१७ में हुई थी। इसमें मिस्र के बादशाह आसिमनवल के पुत्र सैफुल मुलूक तथा गुलिस्ताने ऐरम की राजकुमारी वदीउल जमाल की प्रेम-कथा का वर्णन किया गया है। इसकी कथा

का संगठन जायसी तथा अन्य उत्तर भारतीय सूफी कवियों के प्रेमाख्यान के अनुसार ही मिलता है। इसमें उन्हीं कथानक रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है जो उत्तर भारतीय सूफी प्रेमाख्यानों में अपनायी गई हैं। जैसे—किसी अन्य राजकुमारी की सहायता से नायक-नायिका का मिलन, समुद्र में जहाज का टूटना, दैत्य से राजकुमारी की रक्षा आदि। इस प्रेम-कथा के अतिरिक्त गवासी द्वारा रचित एक और कृति उपलब्ध हुई है—'चन्दा और लोरक'। इसकी कथा आरम्भिक काल के प्रेमाख्यान रचयिता मुल्ला दाऊद की रचना 'चन्दायन' की कथा के अनुसार ही है।

इस परम्परा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति बीजापुर के कवि मुकीमी की 'चन्दरबदन व महियार कथा' मानी जाती है। इसकी रचना सन् १६२७ में हुई थी। यह एक दुखान्त कथा है जिसमें नायक-नायिका परस्पर मिलने में असफल हो प्राण त्याग देते हैं। इसी परम्परा में नुसरती कृत 'गुलशने इश्क' भी उल्लेखनीय कृति है, जिसमें 'मधु मालती' की कथा को आधार बनाया गया है। यह कृति पूर्णतः फारसी मसनवी शैली में लिखी गई है। इस परम्परा की अन्य रचनाओं में इब्ननिशाती कृत 'फूलवन' (सन १६६५), हाशिमी कृत 'यूसुफ जुलेखा' (सन् १६६७), तथा गोलकुण्डा के तवई कृत 'मसनवी' और 'किस्से बहराम व गुलबदन' भी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। दक्षिण-भारत की इन प्रेमाख्यानक कृतियों की यह विशेषता रही है कि इन सभी में सूफी-सिद्धान्तों का प्रेम-कथा के माध्यम से निरूपण किया गया है। इनकी शैली भी अधिकांशतः फारसी की मसनवी पद्धति की रही है। इनमें कुछ कृतियों में फारस, अरब, मिस्र आदि की प्रेम-कथाओं का अंकन किया गया है। जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है, इनमें से अनेक के नाम भी विदेशी रहे हैं। इसलिए इन कृतियों को विशुद्ध रूप से फारसी मसनवी परम्परा की सूफी कृतियाँ माना जा सकता है।

विश्लेषण

प्रेमाख्यानक-काव्यों के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से उन भ्रान्तियों का खण्डन हो जाता है, जिनका उल्लेख हम इस अध्याय के आरम्भ में कर आए हैं। पहली भ्रान्ति यह थी कि सभी प्रेमाख्यानक-काव्यों के रचयिता सूफी मुसलमान कवि थे। इसके विपरीत, हमने देखा कि उस युग में अनेक ऐसे प्रेमाख्यान लिखे गए थे जिनके रचयिता हिन्दू कवि थे। उस काल में प्रचलित अनेक प्रेम-कथाओं को हिन्दू और मुसलमान—दोनों जातियों के कवियों ने अपनी कृतियों का माध्यम बनाया था। मुस्लिम सूफी कवियों ने इन प्रेम-कथाओं को सूफी रंग में रँग कर प्रस्तुत किया था और हिन्दू-कवियों ने उन्हें विशुद्ध प्रेम-कथा के रूप में चित्रित किया था। इसके अतिरिक्त उस युग में अनेक हिन्दू कवियों ने भी पौराणिक प्रेम-कथाओं के माध्यम से अपने आध्यात्मिक विचारों को अभिव्यक्त किया था। जैसे—बाबा धरणीदास का 'प्रेम-प्रगास' और अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास का 'रूप मंजरी'। परन्तु यह स्वीकार

करना पड़ेगा कि हिन्दू कवियों की अपेक्षा मुसलमान कवियों ने प्रेम-गाथाओं को अधिक अपनाया था और उन्हें अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के माध्यम के रूप में स्वीकार किया था।

शुक्ल जी ने जब हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखा था, उस समय तक दक्षिण भारत में दखिनी हिन्दी में रचे गए सूफी प्रेमाख्यानों का पता नहीं लग पाया था। शैली की दृष्टि से ये सभी फारसी मसनवी पद्धति पर रचे गए थे। इसके विपरीत, उत्तर भारत में हिन्दी के सूफी कवियों द्वारा रचे गए प्रेमाख्यानों की शैली इनसे भिन्न रही है। वे प्राकृत और अपभ्रंश के चरित-काव्यों की शैली में लिखे गए हैं। खींचतान कर उनमें भले ही मनसवी शैली की छाया ढूँढ़ ली जाय, परन्तु वास्तविकता यह है कि इनकी रचना विशुद्ध रूप से उसी शैली में हुई है जो प्राकृत और अपभ्रंश के प्रेम-कथा काव्यों की शैली रही है। इसलिए शैली की दृष्टि से इन्हें विदेशी नहीं माना जा सकता। हम आगे भारतीय प्रेम-गाथाओं की परम्परा का अध्ययन करते हुए इस तथ्य को विस्तार के साथ स्पष्ट करेंगे। तीसरी भ्रान्ति यह रही है कि इन्हें निर्गुण-मार्गी भक्ति की रचनाएँ मान, भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। प्रेमाख्यानक कथाओं के रूप में अनेक ऐसे ग्रन्थ रचे गए हैं, जिनका लक्ष्य विशुद्ध प्रेम-कथा का चित्रण करना रहा है। बाबा धरणीदास, नन्ददास आदि के प्रेमाख्यानक-काव्यों में भक्ति की स्थापना अवश्य मिल जाती है, उस भक्ति की, जिसमें शुक्ल जी के अनुसार—श्रद्धा, प्रेम-भावना का सम्मिश्रण आवश्यक मानते हुए भी श्रद्धा को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया गया है। परन्तु सूफियों द्वारा रचे गए प्रेमाख्यानों को भक्ति की इस परिभाषा के अनुसार, भक्ति का ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। इसका कारण है।

सूफियों का मूल कथ्य प्रेम-भावना का चित्रण करना रहा है। सूफी सिद्धान्तों के अनुसार आत्मा एकमात्र प्रेम का अवलम्ब ग्रहण कर ही परमात्मा से तादात्म्य कर सकती है। और उनके द्वारा चित्रित प्रेम का यह रूप विशुद्ध रूपेण प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक प्रेम का ही रूप है। उसमें हमें प्रेम के विश्वव्यापी, उदात्त, निर्मल, भव्य, अलौकिक रूप के तो दर्शन हो जाते हैं परन्तु वह प्रेम व्यक्तिगत और एकाकी ही बन कर रह जाता है। भारतीय भक्ति-भावना के अनुसार उसमें श्रद्धा का अनिवार्य अस्तित्व नहीं मिलता। यहाँ भक्ति का आलम्बन चाहे निराकार ब्रह्म हो या साकार अवतार रूप—सभी की भक्ति का समान रूप से आलम्बन रहता है। कृष्ण से अकेली राधा ही प्रेम नहीं करती थी, असंख्य गोपियाँ भी उन्हें उसी रूप में प्रेम करती थीं। परन्तु सूफी प्रेम-साधना में साधक ब्रह्म को प्रियतमा के रूप में स्वीकार कर उस पर अपना एकाधिकार जमा लेता है। यदि जायसी के 'पदमावत' की पद्मावती को ब्रह्म का प्रतीक स्वीकार कर लिया जाय तो रत्नसेन उससे विवाह कर उस पर अपना स्वामित्त्व स्थापित कर लेता है। और जब देवगिरि का राजा

पद्मावती पर कुदृष्टि डालता है तो उससे युद्ध करता है। वस्तुतः सूफी प्रेम-काव्यों में प्रतीक और रूपक इतने अधूरे, निर्बल और अस्पष्ट हैं कि उनके आधार पर कोई एक निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वहाँ प्रेम-भावना ही प्रधान है, वही ब्रह्म है, साधक केवल प्रेम की ही उपासना करता है, प्रतीक या माध्यम उसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं बन पाता। सूफियों की इस प्रेमोपासना में एकाग्र तन्मयता तो है परन्तु श्रद्धा का अभाव है। यदि श्रद्धा को भक्ति-भावना का मूलाधार न माना जाय तो सूफियों की इस प्रेमोपासना को भक्ति के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

जहाँ तक निराकारोपासना का सम्बन्ध है, सूफियों को उस अर्थ में निराकारोपासक नहीं माना जा सकता, जिस अर्थ में सन्त-कवियों को माना गया है। सन्तों का ब्रह्म सर्वत्र-सदैव निराकार ही रहता है। उसके नाम भले ही साकार रूप वाले राम, गोविन्द, केशव, कृष्ण रख दिए गए हों, परन्तु वह सरूप कहीं भी नहीं हो पाता। इसके विपरीत सूफियों का ब्रह्म जब प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो वह सरूप बन जाता है। यद्यपि सूफियों ने अपने ब्रह्म का वर्णन निराकार रूप में ही किया है परन्तु वह जब प्रतीक बन जाता है तो उसे निराकार नही माना जा सकता। सूर, तुलसी जैसे साकारोपासक भक्तों ने भी ब्रह्म का वर्णन निर्गुण-निराकार रूप में ही किया है परन्तु ऐसे ब्रह्म के ध्यान और उपासना को दुस्साध्य मान कर ही उन्होंने उसे राम और कृष्ण के साकार रूपों में उपास्य के रूप में अपनाया था। उनकी मूल-भावना निराकार ब्रह्म की ही रही थी। जब उन्हें साकारोपासक मान लिया गया है तो सूफियों को भी साकारोपासक के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए, न कि निराकारोपासक के रूप में।

सूफियों का धर्म-प्रचार : एक प्रश्न

अनेक उद्‌भट आलोचकों ने हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक-काव्य का मूल्यांकन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि सूफियों ने इन प्रेम-कथाओं के माध्यम से अपने सूफी सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहा था। यह एक भ्रान्त निष्कर्ष है। सूफी कवियों ने अपने इन प्रेम-काव्यों में कहीं भी स्पष्ट रूप से सूफी-सिद्धान्तों का नाम तक नहीं लिया है। जायसी का 'पदमावत' सूफी-काव्य-परम्परा का सर्वप्रधान ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ में आरम्भ से अन्त तक कहीं भी इस्लाम धर्म या सूफी-सिद्धान्तों का नाम तक नहीं लिया गया है। मुसलमान होने के नाते उन्होंने आरम्भ में अल्लाह की स्तुति अवश्य की है परन्तु क्या इसे धार्मिक संकीर्णता माना जा सकता है ? क्या हिन्दू-कवियों ने अपने ग्रन्थों में ईश्वर की स्तुति नहीं की है ? हिन्दू कवि तो स्पष्ट रूप से अपने धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन करते आए हैं परन्तु सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों में हम कहीं भी ऐसी प्रवृत्ति नहीं पाते। वे तो प्रेम के अनन्य उपासक हैं और प्रेम के ही गुण गाते रहे हैं। जायसी ने इस्लाम और सूफी-सिद्धान्तों का वर्णन किया है

परन्तु अपने 'पदमावत' और 'चित्ररेखा' जैसे प्रेमाख्यानों में नहीं, अपितु अपनी 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' जैसी छोटी मुक्तक रचनाओं में ही किया है। सूफी कवियों पर यह आरोप लगाना कि—वे इन प्रेमाख्यानों द्वारा सूफी-धर्म का प्रचार करना चाहते थे, असंगत और अनर्गल है। 'पदमावत' आदि में सूफी-सिद्धान्तों और साधना की विभिन्न अवस्थाओं का जो आरोप किया गया है, वह हिन्दी के विद्वानों द्वारा ही।

हिन्दू प्रेम-गाथाओं को अपनाने के कारण इन मुस्लिम सूफी कवियों को मुसलमानों द्वारा की गई भर्त्सना का सामना करना पड़ा था। कट्टर मुसलमानों को यह सन्देह होने लगा था कि हिन्दू प्रेम-गाथाओं के गायक ये मुसलमान कवि इस्लाम की अवहेलना कर रहे हैं। हिन्दी भाषा को अपनाना भी इसका एक प्रमाण है। सम्भवतः सहधर्मियों द्वारा लगाए गए ऐसे ही आरोपों के कारण 'इन्द्रावती' और 'अनुराग बाँसुरी' नामक प्रेम-कथाओं के रचयिता नूर मुहम्मद को 'अनुराग बाँसुरी' के आरम्भ में यह सफाई देने के लिए बाध्य होना पड़ा था कि—

'जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा॥
हिन्दू-मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिन्दी भाखेउँ॥
मन इसलाम मिरिकलैं माँजेउं। दीन जेंवरी करकस भाँजेउँ॥
जहँ रसूल अल्लाह पियारा। उम्मत को मुक्तावनहारा॥
तहाँ दूसरो कैसे भावै। जच्छ असुर सुर काज न आवै॥'

इसे भाग्य की विडम्बना ही कहा जायेगा कि हिन्दुओं की प्रेम-गाथाएँ और भाषा अपनाने पर इन सूफी कवियों को एक ओर तो अपने सहधर्मियों से लांछना मिली थी और दूसरी तरफ हिन्दुओं द्वारा उन पर यह लांछन लगाया गया था कि उन्होंने प्रच्छन्न रूप से इस्लाम का प्रचार करने का प्रयत्न किया था।

इसी सन्दर्भ में एक और बात भी विचारणीय है। इन सूफी कवियों को इस बात का भी श्रेय दिया जाता है कि इन्होंने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय करने का प्रयत्न किया था। हिन्दुओं की भाषा और हिन्दू प्रेम-गाथाओं को अपनाने के कारण इस श्रेय को प्रच्छन्न रूप में किए गए प्रयत्न के रूप में भले ही स्वीकार कर लिया जाय परन्तु उत्तर भारत के सूफी कवियों ने प्रत्यक्षतः ऐसा प्रयत्न कहीं भी नहीं किया है। जिस प्रकार कबीर आदि सन्त कवियों ने हिन्दू और मुसलमान—दोनों का नाम लेकर हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रत्यक्ष प्रयत्न किया था, वैसा सूफियों में कहीं भी नहीं मिलता। उनके द्वारा लिखे गए सम्पूर्ण प्रेमाख्यान विशुद्ध रूप से भारतीय परम्परा और पद्धति का अनुगमन करते हैं। उन पर विदेशी फारसी मसनवी शैली का रंचमात्र भी प्रभाव नहीं है। (हम इसे काव्य-रूप का विवेचन करते समय सिद्ध करने क प्रयत्न करेंगे।) इन प्रेमाख्यानों में से यदि आरम्भिक अंश अल्लाह, मुहम्मद शाह, शाहेवक्त आदि सम्बन्धी स्तुतियों को निकाल दिया जाय तो कोई भी यह नहीं कह

सकता कि ये ग्रन्थ मुसलमान कवियों द्वारा रचे गए हैं। और वह भी ऐसे मुसलमान कवियों द्वारा जो अपने धर्म का तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार करने के अभिलाषी थे। जब हम जायसी के 'पदमावत' को देखते हैं तो उसमें हमें उन स्थलों पर जहाँ मुसलमान अलाउद्दीन और हिन्दू रत्नसेन के सम्बन्धों का वर्णन किया गया है, हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों की ही अधिक प्रशंसा मिलती है। जायसी ने पर-नारी पर कुदृष्टि डालने वाले और मित्र बन रत्नसेन को धोखा दे गिरफ्तार कर लेने वाले अलाउद्दीन की कहीं भी बुराई न कर, सर्वत्र उसकी प्रशंसा ही की है और हिन्दू राजाओं को कायर कहा है। क्या ऐसे वर्णन हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतिपादक माने जायेंगे ?

परन्तु यहाँ हमारा अभिप्राय हिन्दी के इन सूफी कवियों पर धार्मिक विद्वेष और पक्षपात का आरोप लगाना नहीं है। अल्लाह, मुहम्मद साहब तथा मुस्लिम-शासकों की प्रशंसा आदि बातों को हमें स्वाभाविक रूप में ही ग्रहण करना चाहिए, न कि धार्मिक उन्माद या पक्षपात के रूप में। किसी भी धर्मावलम्बी द्वारा ऐसी बातें नितान्त स्वाभाविक ही मानी जानी चाहिए। वस्तुतः सूफी कवि धर्म के इन पचड़ों में पड़ने वाले जीव नहीं थे। वे हृदय के उदार, प्रेम-भावना में आकंठ निमग्न रहने वाले—प्रेम के अमर उपासक और गायक थे। सूफी धर्म इस्लाम के कठोर बन्धनों की प्रतिक्रिया स्वरूप उदय हुआ था, इसलिए उसमें संकीर्णता के लिए स्थान नहीं था। ये भावुक सूफी विश्व में प्रेम का अखंड साम्राज्य देखने के अभिलाषी थे। और यह मानते थे कि संसार में प्रेम ही सर्वोपरि उदात्त, व्यापक और एकमात्र श्रेय भावना है। इस भावना को व्यक्त करने के लिए उन्होंने हिन्दू प्रेम-गाथाओं को इसलिए अपनाया था कि वे सदियों से भारत में रहते-रहते पूर्णतः भारतीय बन गए थे। वे यहाँ के जन-जीवन और उसमें व्याप्त विभिन्न प्रकार की भावनाओं, विचारधाराओं, रीति-रिवाजों आदि से पूर्णतः परिचित थे। वे यहीं के थे इसलिए यहाँ के जन-जीवन को ही उन्हें अपनाना पड़ा था। चाहे उन्होंने ऐसा अनायास ही किया हो या जान-बूझ कर परन्तु उन्होंने कट्टर धर्मान्ध मुसलमानों के समान प्रेरणा के लिए विदेशों की ओर कभी नहीं ताका था। वे भारतीय थे—सच्चे अर्थों में भारतीय थे, इसलिए उनकी प्रेरणा भी भारतीय रही थी। उनमें तो हम उतनी भी साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं पाते जितनी कि हिन्दुओं के सनातनी और आर्य-समाजियों में मिलती है। फिर उन्हें साम्प्रदायिक दृष्टिकोण वाले कवि कैसे स्वीकार कर लिया जाय।

प्रेमाख्यान-परम्परा

भारत में प्रेमख्यानों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन और विशाल रही है। महाभारत तथा अनेक पुराण प्रेमाख्यानों से भरे पड़े हैं। कुछ इतिहासकारों का तो यहाँ तक कहना है कि प्रेमाख्यानों का मूल जनक भारत रहा है और यह परम्परा यहीं से विदेशों को प्राप्त हुई थी। उनके अनुसार यह परम्परा भारत में पनपी, फिर

यहाँ से फारस और अरब के प्रेमाख्यानों के रूप में होती हुई यूरोप पहुँची और वहाँ की विभिन्न भाषाओं में विकास पाती रही। यही कारण है कि भारतीय और पाश्चात्य प्रेमख्यानों में अनेक प्रवृत्तियाँ एक सी मिलती हैं। कुछ इतिहासकारों की यह धारणा है कि जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था तो उसके साथ ही यह परम्परा यहाँ से पहले यूनान में पहुँची और फिर वहाँ से सम्पूर्ण यूरोप में फैल गई। प्राचीन-काल में भारतीय नीतिपरक कहानियों 'पंचतंत्र' का अरबी-फारसी तथा यूरोप की भाषाओं में अनुवाद हो चुका था। अरब की चमत्कारपूर्ण कहानियों 'अरेबियन नाइट्स और सिन्दबाद जहाजी' की कथाओं को प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक कीथ भारत की ही देन मानते थे। यूरोप में प्राचीन काल से प्रचलित रोमान्स-कथाओं में पाए जाने वाले अनेक तत्त्व भारतीय सिद्ध हो चुके हैं। भारतीय कथाओं ने यूरोपिय कल्पना को गहरे रूप से प्रभावित किया था, इस सम्बन्ध में डब्ल्यू० पी० केर नामक एक अंग्रेज-विद्वान् ने लिखा है—

"पाश्चात्य कल्पनाओं पर सुदूर पूर्व का प्रभाव बहुत पहले से पड़ने लग गया था। केवल सिकन्दर द्वारा प्राप्त भारतीय चमत्कारपूर्ण कथाओं के माध्यम से ही नहीं बल्कि विभिन्न प्रकार की अन्य कहानियों द्वारा भी। अंग्रेजी रोमान्स-कथाओं में सर्व-प्रथम और सर्वश्रेष्ठ रोमान्स-कथा 'फ्लोरेस एण्ड ब्लान्सी फ्लोर' पर भी यही प्रभाव था। 'बारलम और जोसफ' बुद्ध की ही कथा है और 'राबर्ट ऑफ सिसली', 'द प्राउड किंग' आदि का मूल भी उसी प्रकार का (अर्थात् भारतीय) रहा है।"

अस्तु, इस बात को निस्संकोच कहा जा सकता है कि जिस प्रकार के प्रेमाख्यान फारसी-साहित्य में उपलब्ध होते हैं और जो वहाँ के सूफियों द्वारा रचे गए हैं, भारत कथा-साहित्य के लिए कोई नई चीज नहीं थी। भारत के सूफियों ने जिस प्रकार के प्रेमाख्यान लिखे हैं, उनकी तो भारत में एक लम्बी पूर्व-परम्परा रही है। महाभारत ऐसे प्रेमाख्यानों से भरा पड़ा है। भारतीय सूफी प्रेम-कथाओं में मुख्य कथ्य प्रेम और सौन्दर्य ही रहा है। उसके माध्यम से चाहे कहीं भी पहुँचना कवि का प्रच्छन्न लक्ष्य रहा हो परन्तु उसका सम्पूर्ण काव्य-वैभव, प्रतिभा और शक्ति प्रेम तथा सौन्दर्य का चित्रण करने में ही लगी रही हैं। प्रेम और सौन्दर्य के क्षेत्र में समाज, समाज के बन्धन आदि सब कुछ उपेक्षित बन गए हैं। नायक अपने अदम्य साहस, अटूट लगन और एकान्त प्रेम-निष्ठा द्वारा अपनी प्रियतमा को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहा है और अन्त में उसे सफलता मिली है। महाभारत में वर्णित शान्तनु-सत्यवती, अर्जुन-सुभद्रा, कृष्ण-रुक्मिणी, उषा-अनिरुद्ध, प्रद्युम्न-प्रभावती आदि इसी प्रकार के प्रेमाख्यान हैं। इन प्रेमाख्यानों में सौन्दर्य-प्रियता, स्वच्छन्द प्रेम, साहस, संघर्ष आदि रोमांचक तत्त्वों के साथ अनेक ऐसी कथानक-रूढ़ियाँ मिलती हैं जिनका परवर्ती प्रेमाख्यानों में यथावत् प्रयोग किया गया है। जैसे प्रथम दर्शन, स्वप्न-दर्शन या चित्र-दर्शन द्वारा प्रेम की उत्पत्ति, नायिका के पिता द्वारा विवाह में विघ्न डालना और नायक का उससे संघर्ष कर

नायिका की प्राप्ति, पक्षियों द्वारा सन्देशों का आदान-प्रदान, नायक का वेश परिवर्तन कर नायिका की खोज में निकलना आदि ऐसी कथानक-रूढ़ियाँ हैं, जिनका प्राचीन भारतीय प्रेमख्यानों में प्राय: प्रयोग हुआ है।

कालान्तर में प्राकृत-साहित्य में प्रेमाख्यान अधिक यथार्थवादी रूप धारण कर सामने आए। महाभारत तथा पुराणों में प्राप्त प्रेमाख्यानों की यह विशेषता रही थी कि उनमें नायक द्वारा नायिका की प्राप्ति के उपरान्त नायक नायिका के महत्त्व और प्रेम की एकाग्रता का विस्मरण कर अन्य साहसिक कार्यों में प्रवृत्त हो जाता था, इसलिए प्रेम उसके जीवन का एक गौण अंग बनकर रह जाता था—जिसमें प्रेम की अपेक्षा साहस और शौर्य की मात्रा ही अधिक रहती थी। परन्तु प्राकृत में रचित प्रेमाख्यानों में प्रेम को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया गया। यह यथार्थपरक रोमान्स-वादी दृष्टिकोण था जिसका विकास हमें अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानों में दिखाई पड़ा, संस्कृत के प्राचीन प्रेमाख्यानों का नहीं। प्राकृत में रचित 'बड्डकहा' (वृहत्कथा) में अनेक प्रेम-कथाओं का संग्रह किया गया। संस्कृत में इसी के आधार पर 'कथा-सरित्सागर' और 'वृहत्कथा मंजरी' नामक कथा-काव्यों का निर्माण हुआ। इन प्रेम-कथाओं में अनेक ऐसी कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग हुआ, जो कालान्तर में यथावत् प्रयुक्त होती रहीं। इनमें से कुछ प्रमुख कथानक-रूढ़ियाँ इस प्रकार हैं—

नायिकाओं के नाम प्राय: 'वती' प्रत्यय वाले, जैसे—शशांकवती, लीलावती, रत्नवती, मलयवती, पद्मावती, मृगांकवती आदि रहे। हिन्दी के प्रेमाख्यानों की अधिकांश नायिकाएँ भी प्राय: 'वती' प्रत्यय वाली ही रही हैं, जैसे—पद्मावती, मृगावती आदि। नायक-नायिका में प्रेम की उत्पत्ति प्राय: स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन, प्रथम दर्शन या किसी के मुख से रूप-वर्णन सुन कर होती है। नायिका प्राय: किसी-न-किसी द्वीप की वासिनी होती है, जैसे—सिंहलद्वीप, रत्नद्वीप, मलयद्वीप, स्वर्णद्वीप आदि की। नायक उसे प्राप्त करने के लिए समुद्र-यात्रा करता है, मार्ग में उस पर संकट आते हैं, जहाज टूटता है या जल-दस्यु या राक्षस उसे बन्दी बना लेते हैं। फिर नायक किसी दैवी कृपा से वहाँ से बच निकलता है। नायिका के द्वीप या देश में पहुँच (नायक प्राय: योगी आदि के वेश में ही वहाँ प्रवेश करता है) नायक-नायिका का मिलन किसी मन्दिर या फुलवारी में होता है। (यहाँ तक कि तुलसी के राम-सीता भी जनक की पुष्प-वाटिका में ही परस्पर प्रथम साक्षात्कार करते हैं।) इसके उपरान्त नायक नायिका के पिता या अभिभावक से संघर्ष कर नायिका को प्राप्त करता है। और नायिका की इस प्राप्ति में उसे भयकर साहस, शौर्य और शक्ति द्वारा संघर्ष करना पड़ता है जिसमें कोई सिद्ध योगी, वैताल या देवता उसकी सहायता करता है। आश्चर्य का विषय यह है कि ये कथानक-रूढ़ियाँ संसार के प्राय: समस्त प्राचीन प्रेमाख्यानों में समान रूप से अपनायी गई हैं। प्राचीन ग्रीक-साहित्य में इनका यथावत् प्रयोग मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये कथानक-रूढ़ियाँ प्राचीन काल में विश्व-प्रसिद्ध थीं और सभी देशों के साहित्य में इनका प्रयोग किया जाता था—भारत में, यूरोप में, अरब-फारस में,

अर्थात् सब कहीं। इसलिए इन कथानक रूढ़ियों को किसी एक ही देश की बपौती नहीं माना जा सकता।

प्राकृत में ऐसा कथा-साहित्य पहली सदी के आसपास रचा गया था। परवर्ती संस्कृत-साहित्य में अनेक ऐसे काव्य रचे गए जिनमें उपर्युक्त कथा-तत्त्वों के साथ-साथ एक भव्य साहित्यिक सूक्ष्म कल्पना, आलंकारिक शैली आदि के समावेश ने उन्हें उत्कृष्ट साहित्य-रूप प्रदान किया। सुबन्धु, वाण, दंडी आदि की रचनाएँ इसी साहित्यिक सौन्दर्य से मंडित थीं। परन्तु हम परवर्ती प्रेम-कथाओं पर इनका कोई विशेष और गहरा प्रभाव नहीं पाते। प्राकृत कथा-साहित्य का परवर्ती रूप हमें आगे चलकर अपभ्रंश के चरित-काव्यों में दिखाई पड़ा। णयकुमार चरिउ, जसहर-चरिउ, करकंड चरिउ, पउमसिरी चरिउ, जिणदत्त चरिउ आदि अपभ्रंश के चरित-काव्य एक प्रकार से रोमांचक प्रेम-काव्य ही थे। इनमें प्राकृत में उपलब्ध कथानक रूढ़ियों का यथावत् प्रयोग किया गया था। नायक-नायिकाओं के नाम, प्रेमोत्पत्ति के कारण, घटनाएँ आदि सभी वैसी ही रहीं। अपभ्रंश के ये चरित-काव्य प्राय: सभी जैन-धर्मानुयायी कवियों द्वारा रचे गए थे। इनकी रचना का मूल उद्देश्य--जैन धर्म के महापुरुषों के प्रभाव और प्रताप का अंकन कर जैन धर्म का प्रचार करना रहा था। इसलिए जहाँ कहीं धर्म के तत्त्वों के विवेचन या किसी दैवी शक्ति के प्रभाव और सहायता करने के वर्णन का अवसर आता था, वहाँ ये जैन-कवि जैन धर्म के तत्त्वों तथा जैन तीर्थङ्करों के चमत्कारपूर्ण दैवी शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्व का वर्णन करने लगते थे। इस प्रकार इन जैन कथाओं के माध्यम से जैन-धर्म का प्रचार होता था। कथा का मूल रूप वही पुराना अर्थात् रोमांच, शौर्य, साहस और प्रेम की धुरी पर ही घूमता रहता था। अपने धार्मिक प्रचार के उद्देश्य की सफलता के लिए जैन-कवि अपने इन कथानकों को नायक-नायिका के मिलन में ही समाप्त न कर उसे और आगे बढ़ा देते थे। वे यह दिखाते थे कि नायक-नायिका भोग-विलासपूर्ण यौवनावस्था समाप्त हो जाने पर वृद्धावस्था के आगमन के साथ सांसारिक भोग-विलासों के प्रति विरक्त हो जैन-धर्म में दीक्षित हो जाते थे। और ऐसा करने से इन कवियों का धर्म-प्रचार का उद्देश्य भी पूरा हो जाता था।

हम हिन्दी के प्रेमाख्यानों पर अपभ्रंश के चरित-काव्यों की इस परम्परा का गहरा प्रभाव पाते हैं—रचना-पद्धति; कथा-संगठन, कथानक रूढ़ि आदि सभी दृष्टियों से। अन्तर केवल इतना है कि इनमें जैन-काव्यों का सा धर्म-प्रचार का प्रत्यक्ष उद्देश्य कहीं भी नहीं स्पष्ट हो पाता। खींचतान कर भले ही उनकी धर्म-परक (अध्यात्म-परक) व्याख्या कर ली जाय, यह दूसरी बात है। इस दृष्टि से हिन्दी के प्रेमाख्यान प्राकृत की प्रेम-कथाओं के ही अनुगामी रहे हैं। इनमें वे सारे तत्त्व मिल जाते हैं जो हिन्दी-प्रेमख्यानों के मूलाधार रहे हैं। हिन्दी में इस कथा-परम्परा के दो स्पष्ट विभाग हो गए हैं: पहला, सूफी कवियों द्वारा रचित प्रेमाख्यान, जिनमें कहीं-कहीं अतिशयोक्ति-

पूर्ण शैली के प्रयोग के कारण अलौकिक से प्रतीत होने वाले तत्त्वों का समावेश हो गया है और कवि प्रेम और सौन्दर्य का अनन्य पुजारी होने के कारण सम्पूर्ण विश्व में नायिका के सौन्दर्य की ही प्रतिच्छवि देखने लगा है और कहीं-कहीं वैराग्य-भावना से प्रेरित हो वैराग्य-परक उक्तियाँ कहने लगता है। परन्तु उसका एकमात्र उद्देश्य प्रेम और सौन्दर्य का ही चित्रण करना रहा है। दूसरा, उन प्रेमाख्यानों का वर्ग है जिनमें धार्मिक या अन्य प्रकार की आध्यात्मिक भावनाओं से सर्वथा मुक्त रहते हुए कवि विशुद्ध सरस लौकिक प्रेम-कथा का वर्णन करता है। इन दोनों ही वर्ग के कवियों का मूल उद्देश्य सरस प्रेम-काव्यों का निर्माण करना ही रहा है।

फारसी प्रभाव : एक समस्या

आचार्य शुक्ल ने जब हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखा था, उस समय तक हिन्दी के गिने-चुने आठ-दस प्रेमाख्यान ही उपलब्ध हो सके थे और उनमें से अधिकांश के लेखक मुसलमान सूफी कवि थे। और इन सूफी कवियों में से अधिकांश ऐसे थे जो गृह-त्यागी, विरक्त संन्यासी थे। इसी कारण इनकी रचनाओं में वैराग्य-सम्बन्धी, प्रेम-स्वरूप ब्रह्म सम्बन्धी ऐसी उक्तियाँ मिल जाती थीं जिन्हें आसानी से आध्यात्मिक और सूफी साधना-पद्धति से सम्बद्ध किया जा सकता था। दूसरी बात यह थी कि प्राकृत और अपभ्रंश में रचित प्रेमाख्यानक चरित-काव्यों की पूर्व-परम्परा का समुचित ज्ञान न होने के कारण हिन्दी के ये नवीन प्रेमाख्यान आरम्भिक कालीन तथाकथित वीर रस-प्रधान काव्यों तथा भक्तिकालीन सन्त-काव्य के मध्य अनोखे और एक नितान्त नवीन सी परम्परा के अनुगामी प्रतीत होते थे। साथ ही इनके रचयिता मुसलमान सूफी होने के कारण इन्हें सरलता पूर्वक फारस की सूफी-प्रेमाख्यानक-काव्य-परम्परा से जोड़ इन्हें विदेशी साहित्य से प्रभावित मान लिया गया था। उस समय तक इस काव्य-धारा से सम्बन्धित जितना साहित्य उपलब्ध था, उसके आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकाल बैठना असम्भव या सर्वथा असंगत नहीं माना जा सकता। परन्तु आगे चलकर जब हिन्दी के पूर्ववर्ती प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की खोज कर उसका अध्ययन किया गया तो यह दिखाई पड़ा कि यह नवीन सा प्रतीत होने वाला साहित्य प्रेमाख्यानों की एक समृद्ध और लम्बी परम्परा का ही विकसित रूप था। इसे विदेशी अर्थात् फारसी की मसनवी काव्य-परम्परा का अनुगामी मान लेने का एक कारण यह भी रहा था कि ऐसा मानने वाले विद्वानों ने फारसी मसनवी काव्य-परम्परा का समुचित अध्ययन न कर, कुछ ऊपरी तत्त्वों की समानता देखकर ही हिन्दी की इस प्रेमाख्यान परम्परा को उसका अनुगामी घोषित कर दिया था।

भ्रान्ति के आधार तत्त्व

आचार्य शुक्ल तथा उनके परवर्ती अनेक लेखकों ने अग्रलिखित कारणों का उल्लेख कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि हिन्दी के ये प्रेमाख्यान फारसी मसनवी शैली के ढंग पर लिखे गए थे—

(१) मसनवी शैली के काव्यों में कथा सर्गों में विभक्त नहीं होती। उसका विभाजन पात्रों या घटनाओं के नामों के आधार पर किया जाता है। सम्पूर्ण काव्य की रचना एक ही छन्द में होती है। आरम्भ में ईश्वर, पैगम्बर और समकालीन बादशाह की स्तुतियाँ की जाती हैं। इसके उपरान्त कवि अपने वंश और गुरु का परिचय देता है।

(२) इनमें ऐकान्तिक अर्थात् लोक-बाह्य प्रेम का चित्रण होता है। इनमें नायक को ही विरह-पीड़ित दिखाया जाता है, न कि नायिका को। इसका कारण यह है कि इनमें नायक आत्मा का प्रतीक होता है और नायिका ब्रह्म का प्रतीक होती है।

(३) हिन्दी के प्रेमाख्यानों में उपर्युक्त सम्पूर्ण लक्षण मिल जाते हैं।

उपर्युक्त लक्षणों का हिन्दी के प्रेमाख्यानों में पूर्ण निर्वाह हुआ है या नहीं? ये लक्षण हिन्दी के पूर्ववर्ती प्रेमाख्यानों में मिल जाते हैं अथवा नहीं? इनमें चित्रित प्रेम का स्वरूप फारसी है अथवा भारतीय? इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—

भारतीय परम्परानुसार महाकाव्यों का तो सर्गबद्ध होना आवश्यक माना गया है परन्तु अन्य कथा-रूपों का नहीं। 'अग्नि पुराण' में कथा का सर्गों में विभाजित होना आवश्यक नहीं माना गया है। कथारम्भ में ईश्वर, पैगम्बर, समकालीन नरेश, गुरु आदि की वन्दना करने का विधान आचार्य रुद्रट बहुत पहले कर चुके थे। उन्होंने कथा के लक्षणों का विवरण देते हुए लिखा है—"कथारम्भ में देवता या गुरु की वन्दना होनी चाहिए, फिर ग्रन्थकार को अपना और अपने कुल का परिचय देना चाहिए।" जहाँ तक एक ही छन्द के प्रयोग का प्रश्न है, इसे अन्य प्रमाणों के अभाव में मसनवी शैली का लक्षण माना जा सकता है।

हिन्दी के प्रेमाख्यानों में चित्रित प्रेम-पद्धति को शुक्ल जी आदि ने विदेशी प्रेम-पद्धति माना था क्योंकि इनमें नायिका की अपेक्षा नायक को अधिक विरह-व्यथित चित्रित किया गया है, जब कि भारतीय-परम्परानुसार नायिका ही विरह-व्यथित होती आई है। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। भारतीय काव्यों में भी नायकों को अत्यधिक विरह-व्यथित दिखाया गया है। क्या 'मेघदूत' का यक्ष इसका प्रमाण नहीं है? 'विक्रमोर्वशी' और 'कादम्बरी' के नायक नायिकाओं के विरह में या तो पागल हो जाते हैं या घुल-घुल कर अपने प्राण दे देते हैं। दूसरी समस्या प्रेम-पद्धति के चित्रण की है। फारसी के सूफी काव्यों की प्रेम-पद्धति हिन्दी के प्रेमाख्यानों की प्रेम-पद्धति से भिन्न है। फारसी की प्रसिद्ध प्रेम-कथाओं—लैला-मजनूँ, शीरी-फरहाद, यूसुफ-जुलेखा आदि में प्रेम साहचर्य सम्भूत है। वह भारतीय प्रेम-कथाओं के समान गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन या प्रथम दर्शन द्वारा एकाएक नहीं उत्पन्न हो जाता। लैला और मजनूँ का पारस्परिक प्रेम एकाएक उदय नहीं होता। पाठशाला में पढ़ते समय मजनूँ लैला के प्रति आकर्षित होता है। फिर धीरे-धीरे इस प्रेम में तीव्रता और गहराई आती

जाती है। यह देख लैला के माता-पिता लैला को मजनूँ से दूर कर देते हैं। मजनूँ उसके विरह में उन्मत्त हो पागल सा हो जाता है और उसे सर्वत्र लैला ही लैला दिखाई देने लगती है। कुछ समय बाद लैला का विवाह एक अन्य व्यक्ति के साथ कर दिया जाता है। यह सुन मजनूँ बस्ती त्याग जंगल-पहाड़ों में भटकता फिरता है। कालान्तर में लैला के पति की मृत्यु हो जाती है। लैला पवित्र भाव से मजनूँ से मिलती है, फिर उसकी मृत्यु हो जाती है। मजनूँ उसकी कब्र पर अपने प्राण दे देता है। अन्त में दोनों का स्वर्ग में मिलन होता है। यह फारसी सूफी पद्धति का प्रेम-चित्रण रहा है।

भारतीय-सूफी प्रेम-चित्रण पद्धति इससे नितान्त भिन्न रही है। यहाँ प्रेम का क्रमिक विकास नहीं होता। वह साधारण से असाधारण की ओर नहीं बढ़ता। इसके विपरीत वह असाधारण रूप में आरम्भ होता है और अन्त तक प्रायः इसी रूप में बना रहता है।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि मसनवियों में नायिका का विवाह नायक के साथ न होकर प्रतिनायक के साथ होता है, जब कि भारतीय सूफी-काव्यों में नायिका नायक के साथ ही ब्याही जाती है। फारसी नायिका विवाह के उपरान्त भी अपने प्रेमी से प्रेम करती रहती है। यह स्थिति अधिक विषम और यंत्रणादायक होती है। नायक और नायिका का परस्पर न मिल सकना दोनों को प्रेम-वेदना की चरम अनुभूति कराता रहता है और निराकार-अरूप ब्रह्म की उपासना में ऐसी स्थिति का रहना नितान्त स्वाभाविक है। वहाँ नायक-नायिका का मिलन भी अन्त समय में ही होता है। इसलिए प्रेमानुभूति की अत्यधिक गहन तीव्रता वहाँ सदैव विद्यमान रहती है। इसलिए उन मसनवी प्रेम-कथाओं को आध्यात्मिक विरह की कथा मान लेने में दुविधा नहीं होती। परन्तु भारतीय सूफी प्रेमाख्यानों में प्रेम और उसके विकास का जो रूप चित्रित किया गया है वह इससे नितान्त भिन्न है। यहाँ प्रेम का जन्म और विकास साहचर्य-सम्भूत न होकर, किसी अन्य के द्वारा नायिका का रूप-वर्णन सुन एकाएक उत्पन्न हो जाता है और इतनी तीव्रगति से उत्पन्न होता है कि नायक मूच्छित हो जाता है। (रत्नसेन हीरामन तोता के मुँह से पद्मावती का रूप-वर्णन सुन मूच्छित हो गया था।) इस स्थिति को आध्यात्मिक चश्मे से भले ही सम्भाव्य मान लिया जाय परन्तु स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। इसके उपरान्त नायक योगी का वेश धारण कर अनेक संकट उठाता हुआ नायिका के देश पहुँच, उसके पिता से संघर्ष कर नायिका को प्राप्त कर लेता है और दोनों सुख-पूर्वक रहने लगते हैं। बीच-बीच में कवि नायिका के अलौकिक, विश्वव्यापी से सौन्दर्य तथा प्रेम-भावना का गुणगान करता जाता है। प्रेम-चित्रण की यह पद्धति फारसी-पद्धति से भिन्न और भारतीय प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा का ही प्रेम-चित्रण है। भारतीय नायकों का

नायिकाओं के प्रति प्रेम मजनूँ के लैला के प्रति प्रेम के समान साहचर्य-सम्मूत अर्थात् अर्जित न होकर, गुरु के माध्यम से, ईश्वर प्रदत्त-सा प्रतीत होता है। यह तो वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग की सी माधुर्य-भक्ति का रूप प्रतीत होता है, जिसके अनुसार प्रभु का अनुग्रह होने पर ही भक्त के हृदय में प्रभु के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है।

भारतीय सूफी प्रेमाख्यानों में प्रेम के अस्वाभाविक और अलौकिक रूप का चित्रण हुआ है, जिसे भक्ति का ही एक प्रकार माना जा सकता है। फारसी मसनवियों में नायक-नायिका जीवन भर एक-दूसरे के लिए तड़पते रहते हैं, तब कहीं अन्त में जाकर उनका मिलन हो पाता है और उसके साथ ही उनका जीवन भी समाप्त हो जाता है। उनका वास्तविक मिलन तो स्वर्ग में ही होता है। परन्तु हमारे सूफी कवि तो नायक-नायिका का कुछ समय उपरान्त ही मिलन करा कर उन्हें संयोग-सुख का आनन्द भोगते दिखा देते हैं। बाद में वियोग होता भी है तो क्षणिक ही। इसलिए इनमें न तो प्रेम की वह तीव्रता मिलती है और, न शाश्वत विरह-वेदना जिसने फारसी सूफी-प्रेमाख्यानों को आध्यात्मिक रूप प्रदान करने में पूर्ण सफलता पाई थी।

प्रतीक पद्धति में अन्तर

फारसी और भारतीय सूफी कवियों की प्रतीक योजना में भी पर्याप्त अन्तर मिलता है। फारसी के हाफिज, रूमी, अत्तार, निजामी आदि सूफी कवियों ने शराब, साकी, जाम के प्रतीकों को अपनाया है। परमात्मा को उन्होंने लौकिक प्रेयसी के रूप में ही चित्रित किया है। उनके नायकों की तड़पन, मूर्च्छा तथा मिलनोत्कंठा सांसारिक न होकर उसी परमात्मा के प्रति होती है। ईश्वरीय सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए वे अपनी नायिका के सौन्दर्य को अनुपम रूप में चित्रित करते हैं। साथ ही अपनी आध्यात्मिक यात्रा की विभिन्न मंजिलों को भी वे प्रतीकों के माध्यम से ही प्रकट करते हैं। इसके विपरीत, हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों में भिन्न प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया गया है। उन्होंने शराब, साकी या जाम का कहीं उल्लेख तक नहीं किया है। इसके लिए उन्होंने सर्वथा उन भारतीय प्रतीकों को ही अपनाया है जिन्हें सिद्ध और सन्त तक अपनाते चले आये थे। इसका दूसरा यह है कि मूल सूफी साधना में साधना की जो सात मंजिलें मानी गई हैं उनका हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों में निर्वाह नहीं मिलता। तीसरा अन्तर यह है कि भारतीय सूफियों ने जो हठयोग साधना को अपनाया है, वह फारसी सूफियों के लिए अपरिचित रही है।

इतने अधिक अन्तरों के रहते हुए यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान फारसी के सूफी प्रेमाख्यानों से प्रभावित थे। हम यह बात पूर्ण दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि जायसी आदि उत्तर भारत के सूफी कवि फ़ारसी की मसनवी शैली से प्रभावित नहीं थे। हाँ, दक्षिण भारत के दखिनी भाषा के सूफी-कवियों पर इस शैली का गहरा प्रभाव पड़ा था।

यदि हिन्दी के सूफी कवि फारसी मसनवी काव्य-परम्परा से प्रभावित होते तो वे भी लैला-मजनूँ, शीरीं-फरहाद जैसी प्रसिद्ध सूफी प्रेम-कथाओं को ही अपनाते। परन्तु उन्होंने ऐसा न कर, उन प्रेम-कथाओं को ही अपनाया जो युगों से भारत के लोक-जीवन में प्रसिद्ध थीं और जिनका आधार लेकर यहाँ अनेक कथा-ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। जायसी के 'पदमावत' की कथा यहाँ जायसी से पूर्व प्रसिद्ध थी। प्राकृत में रचित एक 'रयण शेखर कहा' नामक काव्य मिला है, जिसकी कथा वही है जो 'पदमावत' की है। इसी प्रकार 'माधवानल कामकन्दला' तथा 'मधुमालती' की कथाएँ भी काफी लोक प्रसिद्ध और लोकप्रिय रही थीं। इस सम्बन्ध में एक बात यह विचारणीय है कि हिन्दी के सूफी कवियों ने यह कहीं नहीं कहा है कि वे मसनवी लिख रहे हैं या अपनी कथा द्वारा सूफी-साधना का अंकन कर रहे हैं। 'पदमावत' का उपसंहार वाला वह प्रसिद्ध पद, जिसमें इस कथा को रूपक कहा गया है, प्रक्षिप्त सिद्ध हो चुका है। इन कवियों ने अपनी इन कथाओं को स्पष्ट रूप से प्रेमकथा कहा है और साथ ही यह भी कहा है कि वे कोई नई कथा न कहकर, युगों से लोक में प्रसिद्ध कथाओं को ही कह रहे हैं। इस सम्बन्ध में हम कतिपय सूफी कवियों की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना यथेष्ट समझते हैं। जैसे—

'प्रेमकथा एहि भाँति बिचारहू। बूझि लेउ जौ बूझै पारहु॥'—(जायसी : पदमावत)
'नूरमोहम्मद यह कथा, अहै प्रेम की बात।'—(नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी)
'कथा जगत जेती कवि आई। पुरुष मारि ब्रज सती कराई॥'—(मंझन : मधुमालती)
'कथा संस्कृत सुनि कछु थोरी। भाषा बाँधि चौपाई जोरी॥'—(आलम : माधवानल-काम कन्दला)

जायसी ने अपने से पूर्व रचित जिन प्रेम-कथाओं—विक्रम-सपनावती, मधु-मुग्धावती, राजकुँवर-मृगावती, खंडावत, मधु-मालती, प्रेमावती, उषा-अनिरुद्ध—का जिक्र किया है, वे सब प्रसिद्ध भारतीय लोक-कथाएँ ही थीं। अतः हिन्दी के सूफी-कवियों द्वारा रचित प्रेमाख्यानों को विशुद्ध भारतीय प्रेम-कथाओं की परम्परा में ही मानना चाहिए, न कि फारस की मसनवी प्रेम-कथाओं की परम्परा में। दूसरी बात यह है कि इन्होंने विशुद्ध रूपेण प्रेम-कथाएँ ही कही हैं क्योंकि ये प्रेम को मानव की सर्वोपरि उदात्त, भव्य, निर्मल और प्रांजल भावना मानते थे और प्रेम-साधना को ही जीवन की सार्थकता समझते थे। ये विचारों से सूफी थे, अतः इन प्रेम-कथाओं में, बीच-बीच में प्रेम के अलौकिक रूप का चित्रण हो जाना स्वाभाविक था। परन्तु इनका उद्देश्य—अपने धर्म का प्रचार करना नहीं था। कम-से-कम आरम्भिक सूफी-प्रेमाख्यानों के सम्बन्ध में यह बात दृढ़ता पूर्वक कही जा सकती है। बाद में अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी मे सूफियों द्वारा रची गई प्रेम-गाथाओं में सूफी-सिद्धान्तों का प्रभाव झलकने लगा था।

हिन्दी-प्रेमाख्यानों में दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं : (१) सूफी-कवियों द्वारा रचे गए प्रेमाख्यान, तथा (२) असूफी कवियों द्वारा रचे गए प्रेमाख्यान। इन दोनों

प्रकार की रचनाओं की विशेषताओं तथा उनके पारस्परिक अन्तर को समझने के लिए हमें पहले सूफी-मत का संक्षिप्त सा परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

सूफी-मत (संक्षिप्त परिचय)

विभिन्न विद्वानों ने 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न प्रकार से मानी है। इनमें से एक सर्व-मान्य सी धारणा यह है कि 'सूफी' शब्द का अर्थ होता है—'ऊन'। इसी के आधार पर उन लोगों को 'सूफी' कहा जाने लगा जो सफेद ऊन के वस्त्र धारण कर, एकान्त जीवन व्यतीत करते हुए साधना किया करते थे। कुछ लोग सूफी का सम्बन्ध 'सूफिया' से मानते हैं, जिसका अर्थ है—'ज्ञान'। कुछ विद्वान् इसकी उत्पत्ति 'सफ' शब्द से मानते हैं जिसका अर्थ है—पंक्ति, कतार। अर्थात् जो लोग कयामत के दिन सबसे पहली कतार में खड़े होंगे अर्थात् जो अल्लाह के सबसे ज्यादा प्यारे होंगे। कुछ लोग उन फकीरों को सूफी कहने लगे थे—जो मदीना की मस्जिद के सामने बने 'सुफ्फा' (चबूतरा) पर बैठे रहते थे। कुछ विचारक इसका सम्बन्ध 'सफा' शब्द से जोड़ते हैं, जिसका अर्थ है—पवित्र और शुद्ध। उपर्युक्त मतों में से पहला मत ही अधिक संगत और सार्थक प्रतीत होता है। क्योंकि सूफी लोग ऊन के मोटे वस्त्र पहन कर ईसाई सन्तों के समान, एकान्त साधना किया करते थे। इनका जीवन सरल, सादा और आचरण वीतरागियों का सा पवित्र और निस्पृह होता था।

कहा जाता है कि सूफी-मत का उदय इस्लाम के अत्यधिक कठोर, नियमानुशासित विधि-विधानों की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। इन्होंने शरीयत के कर्मकाण्ड का विरोध कर स्वच्छन्द मानसिक-साधना पर बल दिया था। इनकी यह साधना रहस्यपरक थी, अतः कालान्तर में इन रहस्यवादी साधकों को 'सूफी' कहा जाने लगा। इस्लाम धर्म के अनुसार रहस्यवादी भावना को 'तसव्वुफ' कहा गया। सच्चा सूफी उसे माना गया जो अपवित्रता का परित्याग कर साधना की उच्च-भूमि का आधार ग्रहण करता है। और सूफी धर्म उसे माना गया जिसमें ईश्वर के सत्य का साक्षात्कार और जीवन में रहते हुए जीवन से मुक्त हो जाना, प्रधान लक्ष्य स्वीकार किया गया। सूफी ऐसे साधक को कहते हैं जो परमात्मा के संस्पर्श से अपने हृदय को पवित्र करते हैं।

वस्तुतः सूफी-मत का उदय इस्लाम पर शामी विचारधारा के प्रभाव के फलस्वरूप हुआ था। शामी साधना-पद्धति में जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों का निरूपण दाम्पत्य-भाव और विरह के माध्यम से किया जाता था। सूफी-साधना की 'इलहाम' नामक अवस्था भी शामी जाति के विचारकों की ही देन मानी जाती है। सूफियों का मादक भाव, रहस्य, हाल और इलहाम आदि अवस्थाओं के पूर्व रूप शामी साधना-पद्धति में मिल जाते हैं। कुछ विद्वानों का यह कहना है कि सूफी-मत का विकास हजरत मुहम्मद साहब के जन्म से पूर्व ही हो चुका था। मुहम्मद साहब ने इस्लाम की स्थापना कर दास्य-भावना वाली भक्ति का प्रवर्त्तन किया। उन्होंने ईमान और दीन की अपेक्षा इस्लाम पर अधिक बल दिया। परन्तु सूफी मादक-भाव से ही ईश्वर की भक्ति

करने में आस्था रखते थे। अरब और फारस के आरम्भिक सूफी-सन्तों में इब्राहीम बीन अधम, फुजायल बिन अजाय, राबिया अल अदाबिया विशेष प्रसिद्ध रहे हैं। इस्लाम के कट्टर अनुयायी खलीफाओं ने सूफी-मत को इस्लाम का विरोधी मत मान सूफियों पर भयंकर अत्याचार किए थे। उन्होंने मंसूर नामक प्रसिद्ध सूफी सन्त को 'अनलहक' (मैं खुदा हूँ) कहने पर सूली दे दी थी। मुसलमानों के भारत आगमन के साथ सूफी-सन्त भी भारत आए। शेख इस्माइल, नथर शाह, शाह सुल्तान रूमी, अब्दुल्लाह, दाता गन्जबक्श आदि सूफी भारत में सूफी-धर्म का प्रचार करने के लिए आए। तेरहवीं-चौदहवीं सदी तक भारत में सूफी साधना एक विशिष्ट साधना-पद्धति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। यहाँ इनके कई सम्प्रदाय स्थापित हो चुके थे जिनमें से चार प्रमुख थे—चिश्तिया सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, नक्शबन्दी सम्प्रदाय, कादरी सम्प्रदाय।

सूफी-मत के सिद्धान्त

सूफी-मत के अनुसार ब्रह्म के साथ तादात्म्य का एकमात्र साधन 'प्रेम' है। हृदय में प्रेम की पीर उदय होने पर साधक अपने अहंभाव और समस्त सांसारिक वासनाओं का परित्याग कर ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। यही 'अन-अल्-हक' (अहं ब्रह्मास्मि) की स्थिति होती है। सूफी समस्त विश्व में ब्रह्म की झलक देखता है। वह ईश्वर को जगत के बाहर भी और भीतर भी—दोनों रूप से लीन मानता है। समस्त विश्व के कण-कण में उसी का सौन्दर्य प्रतिभासित है; और सूफी उसी मूल सौन्दर्य के दर्शन कर उसी में लीन हो जाना चाहता है। सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने अपने गूढ़ रहस्य को प्रकट करने के लिए किया। मानव उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना और ईश्वर का प्रतिरूप है। सूफियों के अनुसार 'नफस' (जड़ आत्मा) जीव को पाप की ओर उन्मुख करती है और 'रूह' (चेतन आत्मा) हृदय के स्वच्छ दर्पण में ईश्वरीय शक्ति के दर्शन कर प्रियतम ईश्वर से मिलन कराती है। इस नफस को मारना ही सूफी-साधना का मूल लक्ष्य है। ईश्वर का साक्षात्कार बिना पीर या सद्गुरु की सहायता मिले असम्भव है। 'फना' मानवीय गुणों का विनाश, और 'बका' ईश्वरीय गुणों की प्राप्ति है। सूफियों का ईश्वर के प्रति प्रेम 'इश्क मजाजी' (लौकिक) से 'इश्क हकीकी' (अलौकिक) की ओर उन्मुख होता है। जब प्रेम 'इश्क हकीकी' की स्थिति तक पहुँच जाता है तो साधक बाह्य संसार को भूल अपने प्रियतम के साथ एकाकार हो जाता है। सूफी साधक को प्रियतम और ईश्वर को प्रियतमा के रूप में स्वीकार करते हैं।

सूफियों की साधना-प्रक्रिया

सूफी-साधना में सात मंजिलें मानी गई हैं—अनुताप, आत्म-संयम, वैराग्य, दारिद्रय, धैर्य, विश्वास, सन्तोष। और इनकी साधना करने से प्रेम की प्राप्ति होती है। इस साधना द्वारा अलौकिक आध्यात्मिक ज्ञान का उदय होता है। और इसी ज्ञान

द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होती है। सूफी-साधना के चार पड़ाव अर्थात् अवस्थाएँ मानी गई हैं—

१. **शरीअत**—धर्म-ग्रन्थों के विधि-निषेध का पूर्ण पालन।

२. **तरीकत**—बाह्य क्रियाओं और आडम्बरों से मुक्त रह हृदय की शुद्धि का अभ्यास और ईश्वर की ओर उन्मुख होना।

३. **हकीकत**—भक्ति और साधना के समन्वय से सत्य का सम्यक् बोध। यह बोध होने पर साधक तत्त्व-दृष्टि-सम्पन्न हो जाता है और त्रिकालज्ञ भी।

४. **मारिफत**—यह पूर्ण सिद्धावस्था होती है। इसमें साधक साध्य—ब्रह्म में लीन हो जाता है।

सूफी-काव्य की सामान्य विशेषताएँ

सभी सूफी प्रेमाख्यान प्रबन्ध रूप में रचे गए हैं। इनके सम्बन्ध में कहा तो यह जाता है कि इनमें इन लौकिक कहानियों द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की गई है। यह सत्य है कि सूफी कवियों ने प्रेम को प्रायः अलौकिक रूप में ही चित्रित किया है और सम्पूर्ण विश्व को इस प्रेम-भावना के ही प्रकाश में देखा है। परन्तु इनके द्वारा अपनाई गईं प्रेम-कथाओं द्वारा यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाता कि ये इनके द्वारा ईश्वर के प्रति अपने प्रगाढ़ प्रेम की व्यंजना कर रहे हैं। हमारी धारणा यह है कि ये इन प्रेम-कथाओं द्वारा केवल प्रेम के उदात्त, गहन स्वरूप का ही अंकन करने के अभिलाषी थे। इसी कारण इन्हें इन प्रेम-कथाओं को प्रस्तुत करने में आशातीत सफलता मिली है। ये प्रेम के अनन्य चितेरे थे। इन प्रेम-कथाओं की नायिकाएँ अलौकिक सौन्दर्य से मण्डित हैं। उनके प्रेमी उन्हें प्राप्त करने के लिए भयंकर विघ्न-बाधाओं को पार कर उन्हें प्राप्त करते हैं। प्रेमिका की प्राप्ति ही—उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य रहता है। और इस सब का चित्रण करने के लिए सूफी कवियों ने प्राचीन प्रचलित कथानक-रूढ़ियों को ही अपनाया है। मूल प्रेम-कथा सहज गति से आगे बढ़ती है। और बीच-बीच में जहाँ अनुकूल अवसर प्राप्त होता है, उनका प्रेम अलौकिकता की सीमा का स्पर्श करने लगता है। यदि मानने का आग्रह ही हो—तो इन्हीं स्थलों को आध्यात्मिक स्थल माना जा सकता है। कथा के सहज प्रवाह में सौन्दर्य का प्रभावशाली, अलौकिक सा प्रतीत होने वाला चित्रण, साधारण सांसारिक वैराग्य पूर्ण उक्तियाँ आदि का आध्यात्मिक अर्थ मान लेना मुश्किल नहीं है। किसी भी पद की आध्यात्मिक व्याख्या करना सहज कार्य है। परन्तु जब हम सम्पूर्ण प्रेम-कथा को एक विस्तृत रूपक मान लेने का आग्रह करने लगते हैं, तब हमें निराशा ही हाथ लगती है। इनकी नायिकाएँ ईश्वर का प्रतिरूप सिद्ध न होकर प्रेम-भावना मण्डित, अनिन्द्य सुन्दरी मात्र रह जाती हैं। नायक और नायिका में वह सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता जो भक्ति-भावना तथा जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध के अनुरूप होना चाहिए।

इनका कथा-निर्वाह वैसे सहज गति से चलता है। परन्तु ये कवि अतिशयोक्ति की भावना से इतने आक्रान्त रहे हैं कि अनुकूल अवसर पाते ही, कथा-संगठन और कथा की गति की चिन्ता भूल उन विषयों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करने में जुट जाते हैं। इसके साथ ही अपने को विभिन्न विषयों का ज्ञाता सिद्ध करने की प्रवृत्ति भी कथा-प्रवाह मे व्याघात उत्पन्न कर देती है। युद्ध, हथियार, भोजन सामग्री, नायिकाओं के प्रकार, पशु-पक्षी, वृक्ष, फूल, शकुन-विचार आदि का विस्तृत वर्णन इनकी बहुज्ञता को तो प्रकट कर देता है परन्तु कथा की गति और रोचकता नष्ट हो जाती है। जब ये अतिशयोक्तिपूर्ण कथन कहने पर उतरते हैं तो फिर औचित्य का ध्यान भूल जाते हैं। यह इनकी प्रेम-कथाओं की बहुत बड़ी कमजोरी है।

इनका मूल कथ्य प्रेम रहा है। और इसके लिए इन्होंने लोक-प्रचलित भारतीय प्रेम-कथाओं को अपना आधार बनाया है। इन सम्पूर्ण प्रेम-कथाओं की एक विशेषता यह रहो है कि इन सब में एक अद्‌भुत यांत्रिक सी समानता मिलतो है। यदि इनके नायक-नायिकाओं का नाम हटा दिया जाय तो इनमें उल्लेखनीय अन्तर नहीं मिलेगा। सभी नायक अपनी प्रियतमा को प्राप्त करने के लिए वेश बदल घर से निकल पड़ते हैं और एक-सी ही बाधाओं का सामना करते हुए उसे प्राप्त कर लेते हैं। इनके प्रेम का विकास भी स्वाभाविक रूप में न होकर, अलौकिक से और अस्वाभाविक रूप में होता है। अतः इनकी इन कथाओं में मौलिकता नहीं मिलती। वस्तुतः इनके लिए कथा का अधिक महत्त्व भी नहीं रहा है। महत्त्व रहा है केवल प्रेम और सौन्दर्य, तथा इनसे सम्बन्धित मिलन-विरह की भावनाओं और स्थितियों का हृदयग्राही, रोचक वर्णन करने का। इस वर्णन को ही इनकी मूल उपलब्धि माना जा सकता है। और इस क्षेत्र में ये अनन्य हैं। इनका हृदय प्रेम की गहन अनुभूति से आप्लावित था और इन कथाओं के माध्यम से इन्होंने अपनी इसी प्रेमानुभूति का मार्मिक, हृदय स्पर्शी चित्रण किया है। जब ये विरहानुभूति का चित्रण करते हैं तो सम्पूर्ण औचित्य, मर्यादा और सीमा का विस्मरण कर बैठते हैं। इनके इस विरह-चित्रण पर निश्चित रूप से फारसी की ऊहात्मक शैली का गहरा प्रभाव रहा है। इसके साथ ही इन्होंने प्रसंग आने पर उत्साह, द्वेष, ईर्ष्या, वैर, कपट, दया, सहृदयता आदि मानव की शुभाशुभ भावनाओं का भी यथार्थपरक और प्रभावशाली अंकन किया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इनके पात्र एकांगी रहे हैं। इन्होंने अपने नायक-नायिकाओं के उसी चारित्रिक पक्ष को प्रस्तुत किया है जो प्रेम से सम्बन्धित रहा है। उनमें जीवन के विभिन्न पक्षीय घात-प्रतिघातों का रूप नहीं मिलता। इसलिए समस्त सूफी प्रेम-गाथाओं के नायक और नायिकाएँ एक ही साँचे में ढले से दिखाई पड़ते हैं। किसी में एक भी ऐसी चारित्रिक विशेषता नहीं मिलती जो उन्हें एक विशिष्ट और अन्य नायक-नायिकाओं से भिन्न रूप प्रदान करने में सफल हो सके। सब एक ही यांत्रिक साँचे में ढले हुए प्रतीत होते हैं। इसलिए इनके चरित्र-चित्रण को स्वाभाविक नहीं माना जा सकता।

इन प्रेम-कथाओं का उत्स भारतीय लोक-जीवन में प्रसिद्ध-प्रचलित लोक-कथाएँ ही रहा है। इसलिए इनमें भारतीय समाज और जीवन का चित्रण हुआ है। इसी कारण इनमें भारतीय लोक-जीवन में व्याप्त समस्त विश्वास, आस्थाएँ, रीति-नीति, व्यवहार, उत्सव, आदि का विस्तृत और यथार्थपरक चित्रण हुआ है। मुसलमान सूफी कवियों द्वारा भारतीय अर्थात् संकुचित अर्थ में हिन्दू लोक-जीवन का चित्रण किए जाने को कुछ आलोचकों ने इन सूफियों की उदारता का प्रतीक माना है। परन्तु यह मानना वैसा ही मानना और घातक है जिसके कारण भारत के दो टुकड़े हुए थे। ऐसे विचारक यह सोच भी नहीं पाते कि मुसलमान भी भारतीय और भारतीय जीवन का अनुरागी हो सकता है। इनकी संकुचित दृष्टि मुसलमान मात्र को विदेशी मानने की घातक भावना से उबर नहीं पाती। इसी कारण ये लोग सूफी कवियों को विदेशी मानकर ही भारतीय लोक-जीवन के चित्रण को उनकी उदारता का प्रमाण मानते हैं। परन्तु हम पीछे कह आए हैं कि सूफी कवि सम्पूर्णतः भारतीय थे। उनका धर्म भिन्न होते हुए भी सामाजिक-भावना पर उस धर्म का कोई प्रभाव नहीं था। परन्तु दक्षिण भारत के, दखिनी भाषा में प्रेम-काव्य रचने वाले सूफी कवियों ने, मिस्र, अरब या फारस की प्रेम-गाथाओं को अपनाया है, वहीं के सामाजिक जीवन का चित्रण किया है। अतः सामाजिक जीवन का चित्रण मूल कथा पर ही आधारित रहता है।

सूफी कवियों का नारी-चित्रण सहज-स्वाभाविक न रहकर अलौकिक और यांत्रिक सा बन गया है। वहाँ नारी एक ओर तो अलौकिक सौन्दर्य से मंडित होती है और दूसरी तरफ नायक की सम्पूर्ण चेतना का आधार बन जाती है। परन्तु इस चित्रण में हम सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं पाते। भारतीय परिवेश के अनुरूप ही उसका पूर्ण पालन किया जाता है। इसीलिए नायक-नायिका मिलन विवाहोपरान्त ही होता है। परकीया की भावना को इनके यहाँ प्रश्रय नहीं मिला है। ये सम्पूर्ण ग्रन्थ नायिका-प्रधान रहे हैं और नायिकाओं का रूप प्रेम और सौन्दर्य से मंडित रहा है, इसलिए प्रधान रस शृंगार है। इनकी विशेषता यह है कि इनमें शृंगार रस का उसके सम्पूर्ण उपादानों के साथ पूर्ण परिपाक हुआ है। अन्य रस गौण रहे हैं।

प्रतीक-विधान की दृष्टि से इन काव्यों को असफल ही माना जायेगा, क्योंकि इनमें कहीं भी स्पष्ट प्रतीक-विधान नहीं मिलता। इनमें प्रतीक का उपयोग होना वही लोग मानते हैं जो इन काव्यों को अन्योक्ति या रूपक कहते हैं। और ऐसे लोगों द्वारा अत्यधिक खींचतान करने पर भी प्रतीक खरे नहीं उतरते। इनमें वहाँ समासोक्ति को स्वीकार किया जा सकता है, जहाँ कवि भावातिरेक में अलौकिक-सा प्रतीत होने वाला वर्णन करने लगता है। और इसका मूल कारण—अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन रहा है।

इन सूफी प्रेम-कथाओं की भाषा प्रायः अवधी ही रही है। लोकोक्ति और मुहावरों के प्रयोग ने इनकी भाषा को सरस और प्रभावशाली बना दिया है। परन्तु

इनमें अवधी के उस साहित्यिक रूप के दर्शन नहीं होते जो आगे चलकर तुलसी के 'मानस' में प्रस्फुटित हुआ था। इनका मूल छन्द दोहा-चौपाई रहा है। कुछ रचनाओं में सोरठा, सवैया, बरवै जैसे छन्द भी प्रयुक्त हुए मिल जाते हैं।

संक्षेप में, सूफी प्रेम-गाथाओं की यही विशेषताएँ रही हैं।

असूफी प्रेमाख्यान : तुलनात्मक अध्ययन

हिन्दी में सूफियों के अतिरिक्त अन्य ऐसे कवियों ने भी प्रेमाख्यान लिखे हैं जो सूफी नहीं थे। हम इन कवियों और इनके काव्यों का नामोल्लेख पीछे कर आए हैं। संख्या की दृष्टि से इनकी संख्या सूफी प्रेमाख्यानों से कम नहीं है। असूफी प्रेम-कथाएँ सूफी प्रेम-कथाओं से कई बातों में भिन्न हैं। इसलिए हम सूफी प्रेमाख्यानों के साथ इनका तुलनात्मक अध्ययन करते हुए इनकी विशेषताओं का उद्‍घाटन करने का प्रयत्न करेंगे।

शील निरूपण—हिन्दी के असूफी प्रेमाख्यानों के नायकों में सूफी प्रेमाख्यानों के नायकों की सी एकरूपता न होकर विविधता मिलती है। सूफी प्रेमाख्यानों के सभी नायक प्रेम पंथ के एकान्त पथिक हैं। 'मृगावती' का राजकुँवर, 'पदमावत' का रत्नसेन, 'मधुमालती' का मनोहर, 'चित्रावली' का सुजान, 'ज्ञानदीप' का ज्ञानदीप आदि सभी प्रेममार्ग के दीवाने हैं। इसलिए इनके चरित्रों में अद्‍भुत समानता रही है। परन्तु असूफी प्रेमाख्यानों के नायक विविध प्रकार के रहे हैं। इन प्रेमाख्यानों की रचना विभिन्न उद्‍देश्यों से हुई है, अतः इनके नायकों के चरित्रों में भिन्नता होना स्वाभाविक है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है। 'बीसलदेव रासो' और 'ढोला मारू रा दोहा'—दोनों के नायक परस्पर भिन्न हैं यद्यपि दोनों में ही दाम्पत्य-भावना का अंकन किया गया है। बीसलदेव अपनी पत्नी राजमती की उपेक्षा कर उड़ीसा चला जाता है और राजमती उसके वियोग में कष्ट उठाती रहती है। इसके विपरीत 'ढोला मारू रा दोहा' का नायक मारवणी अनजान में उपेक्षिता बनी हुई अपनी पत्नी मारू की सुधि लेता है और अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उठाकर उसे प्राप्त करता है। 'मैनासत' का नायक—मैना का पति लोरिक चन्दा नामक एक अन्य स्त्री के साथ भाग जाता है और मैना उसके विरह में तड़पती रहती है। इसके विपरीत 'छिताई वार्ता' का नायक सौरसीं उस समय अपनी पत्नी छिताई को पुनः प्राप्त करने के लिए योगी बनकर निकलता है, जब अलाउद्दीन छिताई का अपहरण कर ले जाता है।

जिन असूफी प्रेमाख्यानों में केवल काम-भावना का चित्रण हुआ है, उनके नायक कामदेव के अवतार से प्रतीत होते हैं। 'माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध' (गणपति), 'मधुमालती' (चतुर्भुज दास), 'रसरतन' (पुहुकर) आदि सभी के नायक अपूर्व पुरुष-सौन्दर्य से मंडित और काम-कला में प्रवीण हैं। जिन असूफी प्रेमाख्यानों में आध्यात्मिक चित्रण किया गया है उनके नायक सौन्दर्य, शक्ति और शील के प्रतीक हैं। नन्ददास की 'रूपमंजरी' तथा पृथ्वीराज की 'बेलि-क्रिसन रूक्मिणीरी' के

नायक श्रीकृष्ण इन गुणों से विभूषित हैं। परन्तु धरणीदास के 'प्रेम प्रगास' और दुखहरनदास के 'पुहुपावती' के नायक मनमोहन और राजकुँवर अपनी प्रियतमाओं की प्राप्ति के लिए सूफी प्रेमाख्यानों के नायकों के समान घर छोड़ कर निकल पड़ते हैं।

उपर्युक्त दोनों पद्धतियों के नायकों की यह चारित्रिक भिन्नता इस कारण रही है क्योंकि सूफियों द्वारा चित्रित नायक एक यांत्रिक ढाँचे के से नायक रहे हैं इसलिए उनमें परस्पर अधिक साम्य मिलता है। यही कारण है कि उनमें मानवीय रूप अपनी स्वाभाविक गति और मुद्रा के साथ नहीं उभर पाता। इसके विपरीत असूफी कवियों के नायक स्वाभाविक और मानवीय हैं। वे मानव हृदय की सम्पूर्ण अनुभूतियों से सम्पन्न हैं। उनके चरित्रों में स्वाभाविक मानवीय गुणों और दुर्बलताओं का सुन्दर और औचित्यपूर्ण समावेश मिलता है। दूसरा अन्तर यह है कि सूफियों के सभी नायक राजा या राजकुमार रहे हैं। और असूफियों के नायक ब्राह्मण, अहीर आदि विभिन्न जातियों और वर्गों के व्यक्ति रहे हैं। इसके साथ ही ये नायक अपनी परिस्थितियों के निर्माता स्वयं रहे हैं।

डा० श्याम मनोहर पांडेय ने इन दोनों पद्धतियों के नायकों का सबसे महत्त्वपूर्ण और मौलिक अन्तर बताते हुए लिखा है—"·········कि सूफी कवियों के नायकों में नायिकाओं की अपेक्षा अधिक प्रेम, अधिक विरह, अधिक सहिष्णुता तथा अधिक द्रवणशीलता है। उनमें विनम्रता और कोमलता का समुच्चय भी है, पर कठिनाइयों के समक्ष वे घुटने नहीं टेकते। उनमें शौर्य भी कम नहीं है। वे राक्षसों का सामना करते हैं। प्रेम के मार्ग में बाधा पहुँचाने वालों का डटकर मुकाबला करते हैं। परन्तु असूफी नायकों की अपेक्षा नायिकाओं में अधिक प्रेम, अधिक विरह, अधिक संवेदनशीलता और अधिक सहिष्णुता रही है। यहाँ नायिकाएँ अधिक कोमल, सहृदय और संवेदनशील हैं। बीसलदेव अपनी पत्नी की उपेक्षा कर परदेश चला जाता है। और 'नल-दमयन्ती' में नल आपत्तिकाल में दमयन्ती को सोता छोड़कर भाग जाता है।"

सूफी-असूफी नायिकाओं की तुलना

कुछ आलोचकों की यह धारणा है कि सूफी नायिकाएँ ब्रह्म के सौन्दर्य के प्रतीक के रूप में चित्रित की गई हैं इसलिए अनिन्द्य सुन्दरी हैं। इसलिए ये नायिकाएँ सामान्य न रहकर असाधारण बन गई हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिए इनके प्रेमियों को अत्यन्त कठिन बाधाओं का सामना करना पड़ता है। ऐसा प्रेममार्ग की दुरूहता प्रदर्शित करने के लिए ही किया गया है। ईरान के सूफी कवियों ने भी अपनी नायिकाओं को इसी रूप में चित्रित किया है। वहाँ मजनूँ जीवन पर्यन्त विरह कष्ट झेलकर लैला को प्राप्त कर पाता है और फरहाद तो शीरीं के लिए तड़प-तड़प कर अपने प्राण ही दे देता है। सूफियों के नायक इन नायिकाओं की 'अपेक्षा अधिक भावप्रज्ञ, सहृदय तथा सहनशील हैं।' असूफी प्रेमाख्यानों की नायिकाएँ भी अनिन्द्य

सुन्दरी हैं। पर उनके सौन्दर्य में अलौकिकता का समावेश नहीं हो पाया है। इनमें सूफी नायिकाओं की अपेक्षा अधिक प्रेम, अधिक तड़पन और अधिक वेदना है। इस क्षेत्र में इनकी तुलना केवल जायसी की नागमती से ही की जा सकती है। मारवणी, सावलिगा, लखमसेन, छिताई, पद्मावती, रूपमंजरी, रुक्मिणी, रम्भावती आदि सम्पूर्ण नायिकाएँ अपने नायकों की अपेक्षा अधिक एकनिष्ठ, स्नेहमयी और कष्ट-सहिष्णु हैं। इन्हें नायकों की अपेक्षा अधिक कष्ट सहना और भोगना पड़ता है। इन नायिकाओं में अपने नायकों के ही समान चारित्रिक भिन्नता मिलती है। परन्तु इस भिन्नता के रहते हुए भी इन दोनों वर्गों की नायिकाओं में एक अद्भुत समानता भी मिलती है। और वह समानता यह है कि ये समान रूप से गतिहीन हैं। इनके चरित्र का विकास नहीं होता। ये अपने नायकों के समान संघर्षों का सामना करने के लिए आगे कदम नहीं बढ़ातीं। घुट-घुट कर विरह-व्यथा को झेलती रहती हैं। इसलिए इन्हें निष्क्रिय कोटि की नायिका ही मानना पड़ेगा। इनके चरित्र में कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य नहीं झलक पाता। इन दोनों ही वर्गों की नायिकाएँ गतिहीन बनी अपने घर में बैठी रहती हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए नायकों को ही संघर्ष करने और झेलने पड़ते हैं। नायिकाएँ नायकों के पास सन्देश भिजवाने और छिपकर मन्दिरों में उनसे क्षणिक मुलाकात करने तक ही सीमित रहती हैं।

भाषा और शैली—भाषा और शैली की दृष्टि से भी सूफी और असूफी-प्रेमाख्यानों में अन्तर मिलता है। समस्त सूफी प्रेमाख्यानों की शैली और छन्द लगभग एक से ही रहे हैं। इनमें प्रधानतः दोहा-चौपाई छन्द और अवधी भाषा का प्रयोग हुआ है। असूफी प्रेमाख्यान इस दृष्टि से दो प्रकार के मिलते हैं—(१) स्वतन्त्र शैली के प्रेमाख्यान, और (२) सूफी प्रेमाख्यान-शैली से प्रभावित प्रेमाख्यान। स्वन्तत्र शैली के प्रेमाख्यानों में 'ढोला मारू रा दोहा', 'लखमसेन पद्मावती', 'माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध', 'मधुमालती' (चतुर्भुजदास कृत), 'सदयवत्स सावलिंगा' आदि माने जा सकते हैं। सूफी प्रेमाख्यानों की शैली से प्रभावित असूफी प्रेमाख्यानों में 'माधवानल कामकन्दला' (आलम कृत), जान कवि रचित लगभग २० प्रेमाख्यान, 'रसरतन', 'नलदमन', 'प्रेम प्रगास', 'पुहुपावती' आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इनमें अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग हुआ है। दोहा-चौपाई के अतिरिक्त सोरठा, संस्कृत का अनुष्टुप, गाहा, नराच, वस्तुबन्ध आदि अनेक प्रकार के छन्दों को अपनाया गया है। दक्षिण के प्रेमाख्यानों में अरबी-फारसी से प्रभावित दखिनी हिन्दी का प्रयोग हुआ मिलता है।

दो समानान्तर परम्पराओं का विकास

हम भक्तिकाल के तीन सौ वर्षों के लम्बे-चौड़े व्यवधान में उपर्युक्त सूफी और असूफी प्रेमाख्यान परम्पराओं का समानान्तर विकास पाते हैं। सूफी परम्परा के प्रेमाख्यानों की मूल भावभूमि भारतीय ही रही है—कथा-संगठन, चरित्रांकन, काव्य-

रूप आदि सभी दृष्टियों से हल्का सा अन्तर प्रेम-निरूपण पद्धति में दिखाई पड़ता है। इसे स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि इनके प्रेम-निरूपण पर ईरानी सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की प्रेम-पद्धति का प्रभाव पड़ा है। इसका कारण इन कवियों का सूफी होना ही रहा है। ऊहात्मक अतिशयोक्तिपूर्ण शैली निश्चित रूप से फारसी-परम्परा की ही देन है। वस्तुतः भारतीय सूफी कवियों में हमें फारसी और भारतीय दोनों ही प्रेमाख्यानक परम्पराओं का मिश्रित रूप मिलता है। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ सूफी कवि जायसी ने भारतीय प्रेमाख्यानों का तो उल्लेख किया परन्तु फारसी प्रेमाख्यानों का नाम तक नहीं लिया है। दखिनी भाषा के सूफी-कवियों ने निस्सन्देह फारसी सूफी परम्परा को अपनाया और उसका उल्लेख भी किया है। इन समस्त सूफी कवियों का मूल उद्देश्य—प्रेम के उदात्त रूप का चित्रण करना रहा है, सरस, अलंकृत काव्य की रचना करना नहीं। इसके विपरीत असूफी प्रेमाख्यानों की रचना प्रधानतः काव्य की दृष्टि से की गई है। सरस काव्य की रचना करना ही असूफी कवियों का प्रधान उद्देश्य रहा है। ये लोग किसी एक बद्ध दृष्टि-से बंधे हुए नहीं थे, इसी कारण इनकी रचनाओं में प्रेम-चित्रण के विविध रूप सामने आते हैं। इन्होंने दाम्पत्य, काम, सत, अध्यात्म आदि सभी दृष्टियों से प्रेमाख्यान लिखे हैं। डा० श्याम नारायण पांडेय के शब्दों में—"ये प्रेमाख्यान मानवीय हृदय की नैसर्गिक भावनाओं के काव्य हैं। इनमें प्रेम की स्निग्ध पुकार है, विरह की तड़प है, आत्मसमर्पण का आग्रह है, इसीलिए ये सहज ही हमारे हृदय को स्पर्श करते हैं।"[1]

वस्तुतः हिन्दी की इस प्रेमाख्यानक परम्परा के मूल्यांकन में अभी तक हिन्दी के आलोचकों ने बहुत अन्याय किया है। अभी तक विशेष ध्यान सूफी प्रेमाख्यानों पर ही दिया जाता रहा है। अनेक लेखकों ने तो असूफी प्रेमाख्यानों का उल्लेख तक नहीं किया है। सूफी प्रेमाख्यानों का मूल्यांकन बद्ध दृष्टि द्वारा ही अधिक हुआ है। आलोचकों के एक वर्ग ने इन्हें विदेशी परम्परा की उपज सिद्ध कर इन्हें अभारतीय घोषित कर दिया है। और दूसरे वर्ग ने इन्हें इस्लाम का प्रचारक कहकर इन पर अनुचित और असंगत लांछन लगाया है। और ऐसा अन्याय इसी कारण होता आया है क्योंकि ऐसी घोषणा करने वाले इस परम्परा के मूल उत्स की खोज करने में असमर्थ रहे हैं। इसी अन्याय के प्रति संकेत करते हुए डा० श्याम नारायण पांडेय ने उचित ही लिखा है कि—

"इन कवियों की मूल भावनाओं को न पकड़ पाने के कारण इनके साथ अन्याय कम नहीं किया गया है। इन्हें इस्लाम का प्रचारक कहा गया है और अनुदार होकर इसी प्रकार के अन्य आक्षेप लगाए गए हैं।........सूफियों की दृष्टि सदैव मानवतावादी रही है।........सूफी-मत सदैव आत्मा के शुद्धिकरण और प्रेम पर जोर देता रहा है। उन्होंने संकीर्णताओं से ऊपर उठ कर जीवन को उदात्त बनाने का

---

१. **मध्ययुगीन प्रेमाख्यान**—डा० श्याम नारायण पांडेय।

सन्देश दिया है। असूफी प्रेमाख्यानक साहित्य का भी अध्ययन हिन्दी में अत्यल्प हुआ है। यह हिन्दी-साहित्य के इतिहास की एक मुख्य धारा है। इसमें सामान्य जीवन का उदात्त प्रेम, दाम्पत्य, सतीत्त्व और एकनिष्ठता का निश्छल रूप सामने आया है।………हमें अपनी इन सांस्कृतिक उपलब्धियों की ओर दृष्टिपात करना पड़ेगा जिसमें जीवन को सजाने, सँवारने तथा हमारी मनोवृत्तियों का संस्कार करने की शक्ति है।"

वस्तुत: सूफी प्रेमाख्यानों के साथ एक अन्याय सबसे घातक और भयंकर यह हुआ है कि आलोचक गण इन्हें अन्योक्ति या समासोक्ति सिद्ध करने के चक्कर में पड़, इनकी मूल संवेदना और सहज, अनगढ़ काव्य-सौन्दर्य का उचित मूल्यांकन करने का अवसर नहीं निकाल सके हैं। ये प्रेमाख्यान प्रेम की सुन्दर कहानियाँ हैं जिनमें प्रेम ही सब कुछ है। इनकी मूल भावभूमि प्रेम की ही रही है। इस प्रेम-चित्रण की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें प्रेम का मानसिक-भावात्मक रूप ही अधिक उभर कर सामने आया है। संयोग के मांसल चित्रणों में भी उसका मानसिक रूप ही प्रधान रहा है। ये सूफी प्रेम को एक सार्वभौम भावना मानते हैं।

भक्तिकालीन प्रधान प्रेमाख्यानक रचनाएँ

आरम्भिक रचनाएँ

हम 'आरम्भिक काल' के विवेचन में हिन्दी-साहित्य के सर्वप्रथम माने जाने वाले प्रेमाख्यान मुल्ला दाऊद कृत 'चन्दायन' का उल्लेख कर आए हैं। चन्दायन का रचना-काल सन् १३७९ ई० माना गया है। परन्तु इधर एक और प्रेमाख्यान का पता चला है जिसका रचना-काल 'चन्दायन' से ९ वर्ष पूर्व सन् १३७० ई० माना गया है। यह प्रेमाख्यान है 'हंसावली' और इसका रचयिता है असाइत नामक कवि। परन्तु ये दोनों रचनाएँ 'आरम्भिक काल' की हैं अत: इनका विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं है। नीचे हम काल-क्रमानुसार हिन्दी के प्रमुख प्रेमाख्यानों का परिचय प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

लखमसेन-पद्मावती कथा

यह मध्यकालीन प्रेमाख्यानक-परम्परा का सबसे पहला ग्रन्थ है। इसका रचयिता दामो नामक कवि और रचना-काल सम्वत् १५१६ (सन् १४५९ ई०) माना गया है। इसकी भाषा राजस्थानी है। कवि दामो का परिचय अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। इस ग्रन्थ में लखनौती के राजा लखमसेन और गढ़ सामौर के राजा हंस की कन्या पद्मावती की प्रणय-गाथा कही गई है। लखमसेन रूपगर्विता पद्मावती को अपने पुरुष सौन्दर्य से आकर्षित कर उससे विवाह कर लेता है। फिर सिद्धनाथ योगी द्वारा उनके प्रथम पुत्र की बलि माँगने पर वह अपने पुत्र के चार खंड कर देता है और फिर उसके विरह में रानी को त्याग, वन-वन भटकता रहता है। अन्त में

पद्मावती से उसका पुनः मिलन होता है और दोनों सुख-पूर्वक रहने लगते हैं। इस कथा में प्रथम मिलन में प्रेम की उत्पत्ति होना, नायक का योगी वेश में बाहर निकलना, नायिका के पिता तथा नायिका के अभिलाषी अन्य राजाओं से उसका युद्ध करना, और क्षणिक वियोग के उपरान्त पुनः नायक-नायिका का मिलन होना—आदि उन सब कथानक रूढ़ियों का उपयोग किया गया है जो भारतीय प्रेमाख्यानों में प्रयुक्त होती आई थीं। कथारम्भ में कवि द्वारा दिया गया आत्म-परिचय, मंगलाचरण, गणेश-स्तुति, रचना-काल और उसका उद्देश्य आदि का वर्णन किया गया है। दोहा, सोरठा आदि अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। पं० परशुराम चतुर्वेदी इसे हिन्दी का सर्वप्रथम असूफी प्रेमाख्यान मानते हैं।

सत्यवती कथा

इसका रचना-काल सम्वत् १५५८ (सन् १५०१ ई०) और रचयिता ईश्वरदास कायस्थ माना गया है। इसका नायक राजकुमार ऋतुपर्ण सत्यवती को टकटकी बाँध देखने के अपराध में उसी के द्वारा दिए गए शाप के कारण कोढ़ी हो जाता है। एक दिन अपनी आज्ञा की अवहेलना करने के कारण सत्यवती का पिता क्रुद्ध हो उसे उसी कोढ़ी को सौंप देता है। सत्यवती निष्ठापूर्वक ऋतुपर्ण की सेवा करने लगती है। एक बार तीर्थयात्रा करते समय एक तपस्यारत ऋषि ध्यान में बाधा पड़ने के कारण क्रुद्ध हो उन दोनों को यह शाप दे देते हैं कि कल तुम्हारा जीवन समाप्त हो जायेगा। सती सत्यवती अपने सत की दुहाई देती है जिससे विचलित हो देवतागण ऋतुपर्ण को स्वस्थ कर देते हैं। फिर दोनों का विवाह होता है और वे सुखपूर्वक रहने लगते हैं।

वस्तुतः यह पौराणिक पद्धति पर रचा गया एक आदर्शवादी काव्य है जिसमें प्रेम के बजाय सतीत्त्व की महिमा प्रदर्शित की गई है। अतः इसे प्रेमाख्यान नहीं माना जा सकता। इसकी भाषा अवधी और छन्द दोहा, चौपाई है। जायसी के 'पदमावत' में अपनायी गई दोहा-चौपाई-शैली के सन्दर्भ में इस कृति का प्रायः उल्लेख किया जाता रहा है। साहित्यिक दृष्टि से यह एक निम्न कोटि की कृति है। यह भी असूफी-परम्परा की कृति मानी जाती है।

मृगावती

इसका रचना-काल सन् १५०३ ई० तथा रचयिता कुतुबन माने जाते हैं। यह भक्तिकाल का प्रथम उपलब्ध प्रामाणिक प्रेमाख्यान है। कुतुबन जौनपुर के शासक सुल्तान हुसैनशाह के दरबारी कवि थे। इनके गुरु सुहरवर्दिया सम्प्रदाय के सूफी सन्त बूढ़न माने जाते हैं। इसकी कथा इस प्रकार है—

चन्द्रगिरि के राजा गनपतिदेव का पुत्र राजकुमार एक दिन आखेट करने गया और एक हरिणी के पीछे घोड़ा दौड़ाता हुआ अपने साथियों से बिछुड़ गया। मृगावती ही हरिणी के रूप में राजकुमार को भटका ले गयी थी। राजकुमार उसके विरह में

व्याकुल रहने लगा। एक दिन जब मृगावती अपनी सखियों सहित सरोवर में स्नान कर रही थी तो राजकुमार ने उसके वस्त्र चुरा लिए। अन्त में उसने मृगावती को अन्य वस्त्र दे दिए और उसके वस्त्र छिपा लिए। मृगावती उड़ना जानती थी परन्तु अपने वस्त्रों में ही। उसने राजकुमार को आत्म-समर्पण कर दिया और दोनों का विवाह हो गया। एक दिन राजकुमार की अनुपस्थिति में मृगावती ने अपने चुराए हुए वस्त्र खोज लिए और उन्हें पहन उड़ गई। राजकुमार उसके विरह में योगी-वेश धारण कर भटकता-भटकता मृगावती के नगर कंचनपुर जा पहुँचा, जहाँ मृगावती शासन कर रही थी। बीच में राजकुमार ने रुक्मिनी नामक एक राजकुमारी को एक राक्षस के चंगुल से मुक्त कर उससे विवाह कर लिया था। राजकुमार मृगावती और रुक्मिनी को साथ ले अपने देश लौट आया। बाद में एक दिन शिकार करते समय गिर जाने पर उसकी मृत्यु हो गई और दोनों रानियाँ उसके साथ सती हो गईं।

कवि ने अपनी इस कथा के सम्बन्ध में कहा है कि—'पहले यह कथा हिन्दुओं में प्रचलित थी। फिर वहाँ से तुर्कों के साथ गई। मैंने इस कथा का रहस्य समझाया है। इसमें योग तथा शृङ्गार और वीर रस है।' यह सूफी प्रेमाख्यानक परम्परा का प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है। इसकी भाषा अवधी है तथा दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग किया गया है।

पदमावत

मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पदमावत' हिन्दी प्रेमाख्यानक परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। जायसी ने इसके रचना काल का निर्देश करते हुए लिखा है—'सन् नौ सै सैंतालिस अहै। कथा आरम्भ बैन कवि कहै॥' अर्थात् जायसी ने हिजरी सन् नौ-सौ सैंतालीस (सन् १५४० ई) में इस कथा का कहना आरम्भ किया था। परन्तु 'पदमावत' की कुछ प्राचीन प्रतियों में—'सन नौ सौ सैंतालिस' के स्थान पर 'सन नव सै सत्ताइस' पाठ मिलता है जिसके आधार पर इसका रचना-काल हिजरी सन् ९२७ अर्थात् सन् १५२० ई० सिद्ध होता है। इसलिए इसके प्रामाणिक रचनाकाल के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ है। बँगला के कवि अलाओल ने इसका अनुवाद करते समय इसका रचनाकाल 'सप्तविंश नव शत' (९२७ हिजरी) ही लिखा है। इसलिए इसे ही प्रामाणिक मानना चाहिए। परन्तु जायसी ने शाहेवक्त (समकालीन नरेश) के रूप में बादशाह शेरशाह सूरी का गुणगान किया है और शेरशाह सन् १५४० ई० से पहले सिंहासन पर नहीं बैठा था। इसलिए अनेक विद्वान् हिजरी सन् ९४७ को ही इसका प्रामाणिक रचनाकाल मानते हैं।

इस सम्बन्ध में हमें जायसी द्वारा कही गई उपर्युक्त पंक्तियों को ध्यान से देखना चाहिए। कवि यह कह रहा है कि उसने हिजरी सन् ९२७ में इस कथा का कहना आरम्भ किया अथवा इसका आरम्भिक अंश कहा। सम्भव है इस कथा का लिखना धीरे-धीरे आगे बढ़ा हो और यह बीस वर्ष में जाकर पूरी हुई हो। और

उस समय शेरशाह बादशाह बन गया हो। यह भी सम्भव है कि जायसी ने शेरशाह के बादशाह बन जाने पर शाहेवक्त वाला पुराना अंश बदल कर नया जोड़ दिया हो। क्योंकि 'पदमावत' में जिस रूप में शेरशाह की प्रशंसा की गई है, उससे यह प्रतीत होता है कि उस समय तक शेरशाह का शासन पूरी तरह से जम चुका था और उसके राज्य में सर्वत्र सुख, समृद्धि और शान्ति का साम्राज्य था। इसलिए उपर्युक्त दोनों ही तिथियों को स्वीकार कर लेने से हिन्दी-साहित्य की कोई विशेष हानि होने की सम्भावना नहीं प्रतीत होती। ऐसे निरर्थक विवाद आलोच्य ग्रन्थ के सौन्दर्य के रसास्वादन में घातक ही सिद्ध हुए हैं, सहायक नहीं। अस्तु,

जायसी सूफी फकीर थे। ये अवध के 'जायस' नामक कस्बे के रहने वाले थे। इसी कारण इनका उपनाम जायसी पड़ा। कुछ लोग यह मानते हैं कि पहले ये गृहस्थ थे, बाल-बच्चेदार थे, मगर एक दुर्घटना में सम्पूर्ण परिवार का विनाश हो जाने पर विरक्त हो गए थे। 'पदमावत' में इन्होंने अपने चार मित्रों का तो उल्लेख किया है, मगर अपने परिवार के सम्बन्ध में एक भी शब्द नहीं कहा है। इनके गुरु भी दो माने जाते हैं—शेख सैयद अशरफ और शेख मेहदी बुरहान। जायसी ने इन दोनों को ही गुरु रूप में स्मरण किया है। सूफियों में एक से अधिक गुरु बनाने की परम्परा का भी विधान मिलता है। डा० रामखेलावन पांडेय ने गुरु सम्बन्धी इस विवाद को सुलझाने का एक समझौतावादी मार्ग निकाल यह सिद्ध कर दिया है कि शेख सैयद अशरफ जायसी के कुल-पूज्य गुरु और शेख मेहदी बुरहान दीक्षा-गुरु थे। कहते हैं इनकी बाँयी आँख और बाँया कान चेचक की बीमारी में मारे गए थे। इनके लिखे चार ग्रन्थ बताए जाते हैं—पदमावत, चित्ररेखा, अखरावट, आखिरी-कलाम। इनमें से प्रथम दो प्रेम-गाथाएँ हैं। 'अखरावट' में हिन्दी वर्णमाला के अक्षरों के क्रम से चौपाइयों में इस्लाम-धर्म के सिद्धान्तों का तथा 'आखिरी कलाम' में मुहम्मद साहब और सृष्टि का वर्णन किया गया है। जायसी की प्रसिद्धि का मूलाधार उनका 'पदमावत' माना जाता है।

जायसी ने 'पदमावत' का कथासार इस प्रकार दिया है—

'सिंहलदीप पदुमनी रानी। रतनसेन चितउरगढ़ आनी॥
अलादीन दिल्ली सुल्तानूं। राघौ चेतन कीन्ह बखानूं॥
सुना साहि गढ़ छेंका आई। हिन्दू तुरकहिं भई लराई॥
आदि अन्त जस कथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै॥'

'पदमावत' एक प्रेम-कथा है जिसमें सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती या पद्मिनी तथा चित्तौड़गढ़ के राजा रत्नसेन की प्रेम-कथा का वर्णन किया गया है। रत्नसेन पद्मावती के तोते हीरामन से पद्मावती के रूप का वर्णन सुन उसके प्रेम में विरहाकुल हो उठता है और फिर राज-पाट त्याग, योगी-वेश धारण कर, अनेक राजकुमारों को साथ ले, वन-पर्वत, सात समुद्रों को पार करता हुआ सिंहलद्वीप

पहुँच, पद्मावती के पिता से युद्ध कर, प्रेम के बल से पद्मावती को प्राप्त करता है। इधर चित्तौड़ में उसकी पहली रानी नागमती उसके विरह में व्याकुल हो एक पक्षी द्वारा उसे लौट आने का सन्देश भेजती है। उस सन्देश को सुन रत्नसेन पद्मावती को साथ ले सिंहलद्वीप से चित्तौड़ के लिए चल पड़ता है। मार्ग में एक राक्षस के चक्कर में पड़ जहाज टूट जाते हैं और रत्नसेन पद्मावती एक-दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। मगर समुद्र की पुत्री लक्ष्मी की कृपा से पुनः उनमें संयोग हो जाता है और वे चित्तौड़ लौट आते हैं। चित्तौड़ लौटने पर नागमती और पद्मावती में पहले तो झगड़ा होता है, मगर फिर दोनों पति के साथ सुख पूर्वक रहने लगती हैं। यहाँ तक 'पदमावत' की कथा का पूर्वार्द्ध माना जाता है जो किसी प्रचलित लोक-कथा पर आधारित और कल्पित है।

इसके उपरान्त इस कथा का उत्तरार्द्ध प्रारम्भ होता है, जो इस प्रकार है—राजा रत्नसेन के दरबार में राघव चेतन नामक एक विद्वान् पंडित रहता था जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। एक दिन अपने योगबल से प्रतिपदा को द्वितीया सिद्ध करने के अपराध में राजा उसे देश निकाला दे देता है। चित्तौड़ से जाते-जाते उसे पद्मावती के दर्शन हो जाते हैं और वह दिल्ली पहुँच बादशाह अलाउद्दीन से पद्मावती के रूप का वर्णन कर, उसे सेना सहित चित्तौड़ पर चढ़ा लाता है। युद्ध होता है परन्तु रत्नसेन पराजित नहीं होता। तब अलाउद्दीन मित्रता का ढोंग रच, छल द्वारा उसे बन्दी बना दिल्ली ले जाता है और भयंकर यातनाएँ देता है। पद्मावती अपने वीर सरदार गोरा और बादल को साथ ले, सेना सहित दिल्ली जाती है और धोखा दे रत्नसेन को छुड़ा लाती है। अलाउद्दीन फिर आक्रमण करता है। इसी बीच पद्मावती पर कुदृष्टि डालने के कारण कुम्भलनेर के राजा देवपाल और रत्नसेन में युद्ध होता है और दोनों मारे जाते हैं। पद्मावती और नागमती रत्नसेन के साथ सती हो जाती हैं। जब अलाउद्दीन सेना सहित दुबारा चित्तौड़ पहुँचता है तो वहाँ भयङ्कर युद्ध होता है जिसमें गोरा, बादल मारे जाते हैं। विजय के उपरान्त जब अलाउद्दीन गढ़ में प्रवेश करता है तो वहाँ चिता की राख के अलावा उसके हाथ और कुछ भी नहीं लगता। यहीं कथा समाप्त हो जाती है।

कथा का यह द्वितीय भाग ऐतिहासिक है। परन्तु इसमें भी कल्पना का काफी मिश्रण रहा है। इस प्रकार 'पदमावत' की कथा को अर्द्ध-ऐतिहासिक कथा माना जा सकता है, जिसका पूर्व भाग कल्पित अर्थात् अनैतिहासिक और उत्तर भाग अर्द्ध-ऐतिहासिक है। सम्पूर्ण भारतीय प्रेमाख्यानों में दो ही ऐसे हैं जिनमें इतिहास का सहारा लिया गया है—'पदमावत' और 'छिताई वार्ता'। 'पदमावत' के सम्बन्ध में सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि अनेक आलोचकों ने इस प्रेम-कथा को एक रूपक-कथा मान इसे अन्योक्ति माना है। इनका कहना है कि इसमें रत्नसेन आत्मा का, पद्मावती परमात्मा का, हीरामन तोता गुरु का, नागमती सांसारिक प्रपंच का,

राघव चेतन शैतान का और अलाउद्दीन माया का प्रतीक है। और इसका आधार उन्होंने 'पदमावत' के उपसंहार का यह पद माना है—

''मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा।।
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माँहीं।।
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा।।
गुरु सुवा जेहि पन्थ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।।
नागमती यह दुनियाँ धन्धा। बाँचा सोइ न एहि चित बन्धा।।'

इस पद के सम्बन्ध में हमें पहली बात तो यह कहनी है कि 'पदमावत' का पाठ-शोध करने वाले विद्वान् डा० माताप्रसाद गुप्त, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस पद को प्रक्षिप्त सिद्ध कर दिया है क्योंकि 'पदमावत' की अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में उन्हें यह पद नहीं मिला है। अतः इस पद के आधार पर 'पदमावत' को रूपक या अन्योक्ति सिद्ध करने का समस्त आधार ही समाप्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि यदि इस पद को प्रामाणिक मान भी लें तो यह सम्पूर्ण प्रेम-कथा इस रूपक पर खरी नहीं उतरती। प्रतीक अधूरे और अटपटे रह जाते हैं। न तो पद्मावती ब्रह्म की प्रतीक सिद्ध हो पाती है और न अन्य प्रतीक ही स्पष्ट और खरे उतरते हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जायसी ने पद्मावती को ब्रह्म का प्रतीक न मान उसे 'बुद्धि' कहा है। वैसे बुद्धि का दूसरा अर्थ 'ज्ञान' होता है और ब्रह्म ज्ञानमय माना गया है। इस तरह पद्मावती को ब्रह्म का प्रतीक माना जा सकता है। परन्तु जब हम पद्मावती के चरित्र का अनुशीलन करते हैं तो वह एक अपरूप रूपगर्विता सुन्दरी, आरम्भ में काम से व्याकुल पति की आकांक्षा करने वाली, बाद में सौतिया डाह से दग्ध हो नागमती के साथ लड़ने वाली और फिर रत्नसेन के बन्दी बन जाने पर सहायता के लिए इधर-उधर दौड़-भाग करने वाली एक साहसी, पतिव्रता, त्यागमयी सांसारिक नारी का ही रूप प्रतीत होती है। दूसरी ओर नागमती है—जिसे कवि सांसारिक गोरख-धन्धा कहता है। परन्तु जिसका चरित्र पद्मावती के चरित्र की तुलना में अधिक भव्य, अधिक उदात्त और अधिक स्वाभाविक है। उसका यह रूप किसी भी दशा में पद्मावती से न्यून सिद्ध नहीं होता। रत्नसेन उससे भी प्रगाढ़ प्रेम करता है। ऐसी स्थिति में उसे गर्हित सांसारिक आकर्षण का प्रतीक नहीं माना जा सकता। अतः 'पदमावत' को सूफी-साधना-पद्धति के अनुसार एक रूपक-कथा स्वीकार करने में संकोच होता है। हाँ, यह सत्य है कि इसमें बीच-बीच में, जहाँ कवि पद्मावती के रूप और उसके विश्वव्यापी प्रभाव तथा नागमती के हृदय-द्रावक विरह का वर्णन करता है वहाँ वह आध्यात्मिकता की सीमा का स्पर्श करने लगता है। सम्भव है, ऐसे अवसरों पर कवि की सूफी-भावना उद्बुद्ध हो उठी हो और वह उसके प्रवाह में कहानी और उसके पात्रों की लौकिकता का विस्मरण कर बैठा हो।

यदि इस सरस प्रेम-कथा को रूपक मानने का अधिक आग्रह ही हो तो इसे उसी प्रकार रूपक माना जा सकता है, जैसे 'कामायनी' को माना जाता है। 'कामायनी'

के सम्बन्ध में प्रसाद जी ने स्पष्ट कर दिया था कि लोग इस पौराणिक कथा को रूपक मानना चाहें तो मान सकते हैं, उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। उपर्युक्त पद के आधार पर इसका जो रूपक माना जा सकता है, वह 'कामायनी' का सा ही रूपक सिद्ध होता है। इस रूपक को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

चित्तौड़=शरीर का, रत्नसेन=मन का, सिंहल=हृदय का, पद्मावती=बुद्धि का, तोता=गुरु का, नागमती=दुनिया धन्धा या सांसारिक आकर्षण का, राघव-चेतन और अलाउद्दीन=ज्ञान प्राप्ति के मार्ग की अवरोधक शक्तियों के प्रतीक।

अर्थात् रत्नसेन रूपी मन चित्तौड़ रूपी शरीर का उपभोग करता हुआ नागमती रूपी सांसारिक आकर्षणों में लिप्त था। इस बीच उसकी भेंट हीरामन तोता रूपी सद्‌गुरु से हुई। सद्‌गुरु ने उसे पद्मावती रूपी ज्ञान का परिचय कराया। ज्ञान के प्रकाश की किरण प्राप्त करते ही वह उस ज्ञान को सम्पूर्णतः प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठा। इस व्याकुलता का परिणाम यह निकला कि वह नागमती रूपी सांसारिक आकर्षण तथा चित्तौड़ रूपी शरीर का मोह त्याग, विरक्त हो, मन को ज्ञान प्राप्ति के लिए एकाग्र कर ज्ञान-प्राप्ति के साधना-मार्ग पर चल पड़ा। इस साधना-मार्ग की कठिनाइयों को पार करता हुआ अन्त में वह ज्ञान के प्रदेश (सिंहल द्वीप) में पहुँच गया। वहाँ उसे ज्ञान-प्राप्ति का अवसर भी प्राप्त हुआ, जब ज्ञान पद्मावती के रूप में उसके पास शिव मंदिर में आया। परन्तु साधना-मार्ग की कठिनाइयों से क्लान्त उसका मन और शरीर ज्ञान के इस सहसा उद्‌बुद्ध हुए आलोक को सहन न कर सका और निश्चेत बन गया। चेतना आने पर उसे बड़ा पश्चाताप हुआ परन्तु सद्‌गुरु ने उसे ज्ञान प्राप्ति के लिए और अधिक साधना करने का उपदेश दिया और बताया कि हठयोग-साधना द्वारा शरीर और मन को शुद्ध एवं एकाग्र करने पर ही वह ज्ञान-क्षेत्र (सिंहलगढ़) में प्रवेश कर सकता है, और ऐसा करने पर ही उसे ज्ञान की प्राप्ति हो सकेगी। अन्त में वह हठयोग-साधना द्वारा पद्मावती रूपी ज्ञान (सद्‌बुद्धि) को प्राप्त करने में सफल हो जाता है। यह ज्ञान-साधना का पूर्वार्द्ध है। अभी तक रत्नसेन अर्थात् मन पूर्ण ज्ञानी नहीं बन पाया है। उसके हृदय के गहनतम प्रदेश में सांसारिक आकर्षणों का अज्ञात मोह बचा रह गया है।

इसके उपरान्त ज्ञान-साधना का उत्तरार्द्ध प्रारम्भ होता है। सद्‌गुरु (तोता) मन (रत्नसेन) को आगे प्रबोध नहीं देता। सद्‌गुरु की छत्रछाया हट जाने पर सांसारिक आकर्षण (नागमती के सन्देश के रूप में) मन को पुनः आकर्षित करते हैं। वह उनके प्रति आकर्षित होता है। अभी उसकी ज्ञान-साधना कच्ची और अधूरी है, परन्तु उसके द्वारा उसे जितनी ज्ञान-समृद्धि मिलती है, उसे पा वह गर्व से भर उठता है। मन में गर्व का उदय होते ही ज्ञान उसका साथ छोड़ जाता है—पद्मावती और रत्नसेन जहाज टूट जाने से बिछुड़ जाते हैं। ज्ञान से बिछुड़ जाने पर मन पश्चाताप करता है और दैवी कृपा (लक्ष्मी की कृपा) से दोनों का पुनः संयोग हो जाता। गर्व

के कारण भटका हुआ मन पुनः ज्ञान-पथ पर लौट आता है। मन ज्ञान का सम्बल ले पुन: अपने शरीर की (चित्तौड़ की) ओर लौटता है। यहाँ तक ज्ञान-साधना के उत्तरार्द्ध का प्रथम अंश समाप्त होता है। यहाँ तक मन इतना दृढ़ बन चुकता है कि अब उसे निवृत्ति मार्ग की साधना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ज्ञान की असली साधना वही मानी जाती है जिसमें साधक सांसारिक जीवन का भोग करता हुआ भी पूर्ण ज्ञानी बना रहता है। विदेह जनक ऐसे ही ज्ञानी थे। कबीर आदि सन्त भी ऐसे ही ज्ञानी थे। ऐसे लोग ज्ञान के अंकुश से अपने भोग को सन्तुलित और संयमित रखते हैं। रत्नसेन रूपी मन सिंहल से लौट नागमती रूपी प्रवृत्ति और पद्मावती रूपी निवृत्ति भावनाओं का सुखद समन्वय करता हुआ कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। बीच में वह सांसारिक आसुरी बाधाओं के (अलाउद्दीन और देवपाल) के जाल में फँस जाता है और सदबुद्धि (पद्मावती) की सहायता से उसका उद्धार होता है। अन्त में उसे निर्वाण प्राप्त होता है और उसकी ये दोनों शक्तियाँ—प्रवृत्ति रूपी नागमती और निवृत्ति रूपी पद्मावती—उसी में समा जाती हैं।

संक्षेप में, जायसी के इस रूपक को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, यदि 'पदमावत' को रूपक मानने का ही आग्रह हो। अन्यथा इसकी कथा महाकाव्य-शैली में विस्तारपूर्वक कही गई एक ऐसी प्रेम-गाथा है जो युगों से लोक में एक आदर्श प्रेम-कथा के रूप में प्रचलित रही थी। इसका रचयिता—क्योंकि सूफी था, इसलिए सूफियों की 'प्रेम की गहरी पीर' ने इस कथा को और भी अधिक हृदयस्पर्शी और संवेदनशील बना दिया है और इसी कारण इसमें कहीं-कहीं आध्यात्मिकता अपनी झलक दिखा जाती है। आत्मा-परमात्मा वाला रूपक तो इस पर सही रूप में घटित ही नहीं हो पाता। इसमें यथार्थ लोक-जीवन का रंग इतना अधिक गहरा रहा है कि उसके आलोक में अस्पष्ट आध्यात्मिक रंग उभर नहीं पाता। 'प्रेम' इस कथा का मूल कथ्य रहा है—अपने समग्र प्रभाव, सौन्दर्य और मार्मिकता के साथ।

महाकाव्यत्त्व की दृष्टि से 'पदमावत' की गणना रोमांचक महाकाव्यों की श्रेणी में की जाती है। यह 'पृथ्वीराज रासो' के समान विकसनशील परम्परा का महाकाव्य न होकर अलंकृत या साहित्यिक परम्परा का महाकाव्य है। परन्तु इसे विशुद्ध रूप से अलंकृत काव्य भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें विकसनशील परम्परा के महाकाव्यों के अनेक तत्त्व, जैसे—अलौकिक और अतिप्राकृत शक्तियों में विश्वास, कथात्मकता का प्राधान्य आदि मिल जाते हैं। उद्देश्य की दृष्टि से इसका उद्देश्य—लौकिक प्रेम के माध्यम से प्रेम के विश्वव्यापी, उदात्त और आध्यात्मिकता की कोटि तक पहुँचे हुए रूप की परोक्ष अनुभूति का आभास देकर मानव-मोक्ष की प्राप्ति करना माना जा सकता है। और कवि ने इस उद्देश्य की सिद्धि मनोवैज्ञानिक और प्रतीकात्मक ढंग से परोक्ष रूप में करायी है। व्यावहारिक और साहित्यिक दृष्टि से इसका उद्देश्य—मानवता की स्थापना; प्रेम, उदारता, त्याग और सहिष्णुता की उदात्त

व्यापक भूमि पर कर, व्यापक उदार मानवता का प्रसार और मानव-हृदय का विस्तार और परिष्कार करना रहा है। डा० शम्भूनाथ सिंह के अनुसार—"जायसी का अध्यात्मवाद व्यावहारिक दृष्टि से उदार और प्रेम-प्रवण मानवतावाद है; और उसी की प्रतिष्ठा करना अर्थात् मानव-मानव को एक ही उच्च मनोभूमि पर खड़ा करके धर्म, जाति आदि की कृत्रिम दीवारों को तोड़कर मानव मात्र को एक सूत्र में बाँधना ही 'पदमावत' का महान् उद्देश्य है।"

जायसी ने अपने दार्शनिक विचारों, आध्यात्मिक अनुभूतियों और चरित्रों की विशिष्टता द्वारा इस ग्रन्थ में गुरुता, गाम्भीर्य और महत्त्व की प्रतिष्ठा की है। इसमें इस प्रकार की गम्भीर व्यंजनाएँ हैं जो कथाक्रम में व्यवधान डाले बिना गम्भीर दार्शनिक चिन्तन और आध्यात्मिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं। इसके अनेक पात्र, जैसा कि हम पीछे दिए हुए रूपक द्वारा सिद्ध कर आए हैं, मानव-मनोवृत्तियों के प्रतीक हैं और इस प्रतीकात्मक शैली ने इस काव्य में पर्याप्त गुरुता का समावेश कर दिया है। इसका गाम्भीर्य इसकी विविध मनोदशाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति और अनुभूतियों की सच्चाई और गहराई में निहित है। वस्तुतः यह अपभ्रंश के चरित-काव्यों के ढंग का महाकाव्य है, जिसमें नायक-नायिका के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण हुआ है। इसमें महाकाव्योचित व्यापकता और इसके चित्रों में युग-जीवन की विविधता विस्तार के साथ मिलती है। यह अपने समाकालीन युग-जीवन का बहुत कुछ यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें घटना, रूप, प्रकृति-चित्रण, वस्तु, ज्ञान, उपदेश तथा मनोदशाओं के विविध चित्र मिलते हैं। कथानक सुसंगठित और जीवन्त है। नाटकीय सन्धियों और कार्यावस्थाओं का भी पूर्ण निर्वाह हुआ है। नायक और नायिका महत्त्वपूर्ण हैं तथा अन्य पात्र भी गौरवशाली हैं। शैली गरिमामयी और उदात्त है। प्रभावान्विति और गम्भीर रस-व्यंजना की दृष्टि से इसे एक सफल महाकाव्य माना जा सकता है, यदि इसे अन्योक्ति या समासोक्ति सिद्ध करने का अधिक आग्रह न किया जाय।

मधुमालती

इसका रचना-काल सन् १५४५ ई० तथा रचयिता मंझन नामक कवि माना जाता है। इसमें गढ़ कनयगिरि के राजकुमार मनोहर और महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की प्रणय-गाथा का चित्रण किया गया है। एक रात नृत्य देख, प्रेम में मुग्ध मनोहर सो रहा था कि कुछ अप्सरायें उसे उठाकर मधुमालती के पास छोड़ आईं। दोनों एक-दूसरे पर मुग्ध हो गए। इसके उपरान्त मनोहर को पुनः उसके घर छोड़ गईं और मनोहर मधुमालती के वियोग में व्याकुल हो, जोगी बन घर से निकल पड़ा। मार्ग में उसने प्रेमा नामक मधुमालती की एक सखी का एक राक्षस के चंगुल से उद्धार किया। कृतज्ञ प्रेमा ने उसे मधुमालती की चित्रसारी में पहुँचा दिया। मनोहर को वहाँ देख मधुमालती की माँ रूपमंजरी ने क्रुद्ध हो मधु-

मालती को एक पक्षी बना दिया । ताराचन्द नामक एक राजकुमार उसे पकड़ ले गया । पक्षी रूपिणी मधुमालती ने जब उसे अपनी दुखगाथा सुनाई तो वह उसे उसकी माँ के पास ले गया । माँ ने उसे क्षमा कर पुनः राजकुमारी बना दिया और फिर उसका और मनोहर का विवाह हो गया । ताराचन्द और प्रेमा भी पति-पत्नी बन गए ।

इस प्रेम-कथा की यह विशिष्टता है कि इसमें नायक अपनी प्रेमिका के प्रति आरम्भ से अन्त तक एकनिष्ठ बना रहता है । प्रेमा उससे प्रणय-याचना करती है परन्तु वह उसे स्वीकार नहीं करता । प्रेम की यही एकनिष्ठता इसे प्रेम के अत्यन्त प्रगाढ़ और उदात्त स्वरूप की प्रतिष्ठा करने वाला एक अत्यन्त सरस और मार्मिक काव्य बना देती है । अन्य सूफी प्रेमाख्यानों की भाँति इसका अन्त शान्त रस में न होकर श्रृंगार रस में होता है । भाषा अवधी और छन्द दोहा-चौपाई हैं । यह भी सूफी प्रेमाख्यान परम्परा का काव्य माना जाता है ।

ढोला मारू रा दोहा

यह एक असूफी प्रेमाख्यानक काव्य है । इसके मूल रचयिता का अभी तक ठीक पता नहीं चल पाया है । कुछ लोग इसे कुशललाभ की कृति मानते हैं और कुछ कल्लोल नामक राजस्थानी कवि की । यह वस्तुतः एक अत्यन्त प्राचीन लोक-कथा रही है, जो समय-समय पर संशोधित-परिवर्द्धित होती रही है । इसका जो अन्तिम रूप पाया जाता है उसका रचयिता कल्लोल माना गया है । नरोत्तम स्वामी इसका रचना-काल सम्वत् १४५० से पूर्व और मोतीलाल मेनारिया संवत् १५३० (सन् १४७३ ई०) मानते हैं । इसमें अनेक ऐसे दोहे मिलते हैं जो 'कबीर-ग्रन्थावली' में भी संग्रहीत हैं । इसी प्रकार कुशल लाभ की 'माधवानल चउपई' के भी कुछ दोहे इसमें मिल जाते हैं । अतः इसके सम्बन्ध में अभी निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

इसमें नरवर के राजकुमार ढोला और पूँगल देश की राजकुमारी मारवणी की प्रणय-गाथा का चित्रण किया गया है । ढोला और मारवणी का विवाह बचपन में ही हो गया था परन्तु यौवनावस्था से पूर्व दोनों का मिलन नहीं हो सका । इस बीच ढोला का दूसरा विवाह मालवणी के साथ हो जाता है । मारवणी एक दिन स्वप्न में ढोला को देख उसके विरह में व्याकुल हो उठती है । उसको इस सत्य का पता सखियों द्वारा ही लगता है कि ढोला ही उसका पति है । यह जानकर मारवणी ढाढ़ियों द्वारा ढोला के पास सन्देश भेजती है कि वह उसके विरह में तड़प रही है, वह आकर उसे ले जाए । सन्देश सुनकर ढोला उसके प्रेम में व्याकुल हो उठता है और मालवणी के बार-बार रोकने पर भी ऊँट पर सवार हो मारवणी के पास चल देता है । पूँगल में उसका स्वागत होता है और वह मारवणी को विदा करा अपने साथ ले, घर की ओर लौट पड़ता है । मार्ग में साँप द्वारा काटे जाने से मारवणी की

मृत्यु हो जाती है परन्तु शिव-पार्वती की कृपा से वह पुनः जीवित हो उठती है। अन्त में अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए दोनों अपने घर पहुँच जाते हैं और ढोला दोनों पत्नियों के साथ सुखपूर्वक रहने लगता है। इस काव्य का सर्वाधिक मार्मिक अंश मारवणी का वह सन्देश है जो उसने ढोला को भेजा था। इसमें विह्वलता, उपालम्भ, व्यंग्य, दैन्य, आत्म-समर्पण आदि की भावनाओं का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। यह शृङ्गार-प्रधान रचना है। भाषा राजस्थानी है।

माधवानल कामकन्दला

हम पीछे असूफी प्रेमाख्यानों का संक्षिप्त परिचय देते हुए बता आए हैं कि माधवानल कामकन्दला की प्रेम-गाथा उस काल में अत्यन्त लोकप्रिय कथा रही थी। इसी कारण अनेक सूफी और असूफी कवियों ने इस कथा को आधार बना अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इनमें माधव नामक एक सुदर्शन कलाविद् ब्राह्मण युवक और एक कलाविद् नर्तकी कामकन्दला की प्रणय-गाथा का वर्णन किया गया है। मूल कथा लगभग सभी ग्रन्थों में एक सी मिलती है, जिसे डा० श्यामनारायण पांडेय ने इस रूप में प्रस्तुत किया है—

१. पुष्पावती नगरी में, जहाँ का राजा गोविन्दचन्द्र है, माधव नामक एक सुन्दर और कलाविद् ब्राह्मण का रहना।

२. उसके सौन्दर्य पर नगर की रमणियों का मुग्ध होना, फलतः राजा द्वारा उसका नगर से निर्वासन।

३. नगर छोड़कर माधव का कामसेन के राज्य कामावती (अमरावती भी) में पहुँचना, जहाँ राजनर्तकी कामकन्दला के नृत्य का आयोजन है।

४. राज द्वार पर प्रहरियों द्वारा माधव का रोका जाना। माधव का राजा के यहाँ खबर कराना कि बारह मृदंग बजाने वालों में से एक का अँगूठा कटा हुआ है। वह बेसुर बजा रहा है। राजा द्वारा माधव को सम्मान और पुरस्कार देना। कामकन्दला के वक्षस्थल पर एक भ्रमर के आ बैठने से नृत्य में विक्षेप होना, जिसे केवल माधव समझ पाता है। नृत्य समाप्त होने पर कामकन्दला की कला पर रीझ कर माधव द्वारा राजा से प्राप्त भेंट का कामकन्दला को दिया जाना, दोनों में प्रगाढ़ प्रेम होना।

५. राजा कामसेन का क्रुद्ध होना और माधव का नगर से बहिष्कृत होना। विरही माधव का परदुख-भंजन विक्रमादित्य के राज्य उज्जयिनी में जाना। राजकीय मन्दिर में शरण लेना और दीवार पर अपनी विरह-गाथा अंकित कर देना। विक्रमादित्य द्वारा विरही माधव की खोज कराना और उसकी परीक्षा लेना।

६. कामकन्दला की प्राप्ति के लिए कामसेन पर विक्रमादित्य की चढ़ाई। कामकन्दला की परीक्षा।

७. विक्रमादित्य द्वारा प्रेमी-युगल की परीक्षा कराना।

मूल-कथा यही रही है। परन्तु कुछ कवियों ने इसमें पूर्वजन्म की कथाएँ भी जोड़ दी हैं।

छिताई वार्ता

यह भी अपने युग की पर्याप्त प्रसिद्ध प्रेम-कथा रही है। नारायणदास, रत्नरंग देवचन्द, तथा जान कवि ने इसके आधार पर ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें देवगिरि के राजा रामदेव की राजकुमारी छिताई और द्वारसमुद्र के राजकुमार सौरसीं की अमर प्रणय-गाथा का वर्णन किया गया है। इसकी कथा इस प्रकार है—

छिताई अनन्य सुन्दरी थी। दोनों पक्षों की सहमति से छिताई और सौरसीं का विवाह कर दिया गया। एक दिन शिकार करते समय एक मृग को बलात् पकड़ने के अपराध में एक ऋषि ने सौरसीं को शाप दे दिया कि उसकी स्त्री किसी अन्य के वश में पड़े। इससे पूर्व की कथा यह थी कि छिताई के पिता राजा रामदेव अलाउद्दीन से पराजित हो कुछ समय तक अलाउद्दीन के राज-दरबार में दिल्ली रहे थे। वहाँ से देवगिरि जाते समय वह अपने साथ वहाँ के एक चित्रकार को ले आए थे। इस चित्रकार ने छिताई का चित्र बनाया था और उस पर मुग्ध हो उठा था। छिताई के विवाह के चार वर्ष उपरान्त यह चित्रकार उदास मन दिल्ली लौटा और उसने बादशाह को छिताई का चित्र दिखाया। बादशाह छिताई पर मुग्ध हो गया और प्रेमावेग के कारण उसे मूर्च्छा आ गई। इसके उपरान्त छिताई को प्राप्त करने के लिए उसने देवगिरि पर आक्रमण कर दिया। परन्तु उसे विजय न मिली। इस पर उसने राघव-चेतन ('पदमावत' का प्रसिद्ध शैतान) की सहायता से एक दिन उस समय छिताई का अपहरण कर लिया जब वह एक सुरंग द्वारा बाहर एक मन्दिर में पूजा करने आई थी। दिल्ली आकर छिताई अत्यन्त दुखी रहने लगी। अलाउद्दीन उसे प्राप्त करने में असफल रहा। इधर सौरसीं छिताई के वियोग में व्याकुल हो योगी बन भटकने लगा और भटकता हुआ दिल्ली जा पहुँचा। सौरसीं वीणा बजाने में पारंगत था। उधर छिताई ने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो उसकी वीणा बजा देगा, वह उसकी परिणीता बन जायेगी। छिताई की वीणा गोपाल नामक एक संगीतज्ञ के यहाँ थी। सौरसीं ने उस वीणा को बजा दिया। दासी ने यह खबर छिताई को दी और सौरसीं का रूप-रंग बताया। छिताई समझ गई कि वह उसका पति था। योगी वेशधारी सौरसीं ने अलाउद्दीन को अपनी संगीत कला से प्रभावित कर बादशाह से छिताई की माँग की। बादशाह को जब असलियत का पता चला तो उसने छिताई को सौरसीं को सौंप दिया और दोनों बिछुड़े हुए प्रेमी प्रसन्न मन से अपने घर लौट आए।

यह प्रेमकथा भी 'पदमावत' के समान कल्पना और इतिहास के सम्मिश्रण द्वारा गढ़ी गई हैं। इसमें छिताई के पिता राजा रामदेव, अलाउद्दीन और उसके द्वारा देवगिरि पर किया गया आक्रमण आदि ऐतिहासिक है। अन्य सब कुछ कल्पना द्वारा गढ़ा गया है।

चित्रावली

इसका रचना-काल सन् १६१३ ई० तथा रचयिता उसमान माने जाते हैं। उसमान गाजीपुर के रहने वाले सूफी कवि थे। इन्हें अपनी इस रचना पर इतना गर्व था कि इन्होंने अन्य कवियों को इससे अच्छी रचना करने की चुनौती दे डाली थी—

'मेरी बुद्धि जहाँ लहु अही। जहँ लहु सूझि कमा मैं कही॥
जाकी बुद्धि होई अधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई॥'

कवि ने आरम्भ में ईश्वर स्तुति, आत्म-परिचय, समकालीन नरेश का परिचय आदि देते हुए नैपाल के राजा धरनीधर के राजकुमार सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की प्रेम-गाथा का वर्णन किया है। एक दिन राजकुमार सुजान आखेट के समय रास्ता भूल एक देवपर्वत पर जा पहुँचा। वहाँ सोते हुए रामकुमार को दो देव उठाकर राजकुमारी चित्रावली की चित्रसारी में पहुँचा आए। नींद खुलने पर सुजान ने चित्रावली के चित्र को देखा और उस पर आसक्त हो गया। उसने वहीं अपना चित्र भी बना दिया और सो गया। देव उसे उठाकर पुनः देवपर्वत पर ले गए। इधर चित्रावली भी सुजान का चित्र देख उस पर मुग्ध हो गई। उसने सुजान को ढूँढ़ने अपने दूत भेजे जो उसे रूपनगर लिवा ले गए। शिवमन्दिर में दोनों का मिलन हुआ। परन्तु चित्रावली से द्वेष रखने वाले एक कुटीचर ने सुजान को अन्धा कर एक गुफा में छिपा दिया जहाँ एक अजगर उसे निगल गया और उसके विरहताप को सहन न कर सकने के कारण उसे उगल दिया। एक वनमानुष की कृपा से उसकी आँखें भी ठीक हो गईं। फिर उसे एक हाथी ने पकड़ लिया और हाथी को एक पक्षी उड़ा ले गया और सुजान समुद्र में गिर पड़ा। वहाँ से निकल कर वह सागर गढ़ पहुँचा और वहाँ की राजकुमारी बेला से विवाह कर पुनः चित्रावली के देश को चल पड़ा। रूपनगर में उसके पहुँचने पर चित्रावली के पिता ने लोक-लज्जा से बचने के लिए उसका वध करवाना चाहा परन्तु वह बच गया। अन्त में अनेक विपत्तियों के उपरान्त उसका और चित्रावली का विवाह हो गया और दोनों अपने घर लौट आए।

यह एक सुखान्त प्रेम-कथा है। अवधी भाषा में दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग किया गया है।

रूप मंजरी

इसका-रचना काल सन् १५६८ ई० और रचयिता अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि

नन्ददास माने जाते हैं । इसकी नायिका रूप मंजरी विवाहिता होते हुए भी कृष्ण को उपपति के रूप में स्वीकार करती है । इसमें स्वप्न में कृष्ण के दर्शन कर रूप-मंजरी उन पर आसक्त हो जाती है और फिर अनेक प्रयत्न कर उन्हें प्राप्त कर लेती है । इसमें कवि ने प्रेममार्ग, प्रेम रस और प्रेम के प्रभाव का बार-बार वर्णन किया है । रूप और विरह के वर्णन भी सूफी प्रेमाख्यानक शैली के अनुरूप अतिशयोक्तिपूर्ण रहे हैं । इसी कारण इसकी गणना प्रेमाख्यान परम्परा के अन्तर्गत की जाती है ।

यहाँ तक हमने प्रेमाख्यान परम्परा के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि ग्रन्थों में से कुछ का परिचय देकर उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला है । वैसे इस परम्परा में इतने अधिक ग्रन्थ लिखे गए हैं कि उनमें से प्रत्येक का परिचय देना यहाँ असम्भव है । इसलिए हम नीचे उनका और उनके रचयिताओं का उल्लेख कर देना ही अलम् समझते हैं । यह सूची इस प्रकार है—

असूफी काव्य—प्रेम विलास प्रेम लता (संवत् १६१३, जटमल नाहर), उषा-अनिरुद्ध (संवत् १६३०, परशुराम), बुद्धि रासो (सं० १६२५, जल्ह कवि), रस रतन (सम्वत् १६७५, पुहुकर कवि), प्रेम प्रगास (सं० १७१३, बाबा धरणीदास), पुहुपावती (सं० १७२६, सन्त दुखहरनदास), चन्द्र कुँवर की बात (सं० १७४०, हंस कवि), नलदमन (सं० १७१४, सूरदास लखनवी), मैनासत (सं० १६२४, साधन), नलदमयन्ती कथा, (सं० १६८२, नरपति व्यास), उषा चरित्र (सन् १७८० ई०, जनकुंज), मधुमालती (सन् १७८० ई०, चतुर्भुजदास), नलदमयन्ती चरित्र (सन् १७९६ ई०, सेवाराम), रुक्मिणी परिणय (सन् १६५० ई०, रघुराजसिंह), प्रेम पयोनिधि (सन् १८५५ ई०, मृगेन्द्र) ।

सूफी काव्य—चित्रलेखा (जायसी), ज्ञानदीप (सन् १६१९ ई०, शेखनवी), जानकवि रचित लगभग ६० प्रेम-काव्य; इन्द्रावती और अनुराग बाँसुरी (सन् १६८७-१७०७, नूरमुहम्मद), यूसुफ जुलेखा (सन् १७७९, शेख निसार), हंस जवाहिर (सन् १७९३ ई०, कासिमशाह) प्रेम चिनगारी (सन् १८०९, नजफ अली) । इसी वर्ग में दखिनी के प्रेम-गाथाकारों की रचनाओं भी गणना होनी चाहिए जो इस प्रकार हैं—

कुतुब मुश्तरी (सन् १६१०, मुल्ला वजही), सबरस (मुल्ला वजही), सैफुलमुलूक व वदीउल जमाल (सन् १६१६, गवासी) चन्दरबदन व महियार कथा (सन् १६२७, कवि मुकीमी), गुलनशे इश्क (सन् १६५८, नुसरती) फूलवन (सन् १६६५, इब्न निशाती), यूसुफ जुलेखा (सन् १६९७, हाशिमी), किस्सए बहराम व गुलबदन (तबई) ।

प्रेमाख्यानों की उपर्युक्त तालिका से सिद्ध होता है कि प्रेमाख्यानों की यह परम्परा काफी विशाल और समृद्ध रही है ।

हिन्दी प्रेमाख्यानक परम्परा : एक मूल्यांकन

हम इस अध्याय के आरम्भ में हिन्दी प्रेमाख्यानक परम्परा की पृष्ठभूमि, उसके भारतीय रूप, फारसी प्रभाव की समस्या, कथानक रूढ़ियों, सूफी मत—आदि का संक्षिप्त परिचय दे आए हैं। इसके बाद हम यहाँ इस परम्परा का साहित्यिक मूल्यांकन करने का प्रयत्न करेंगे।

कवियों का मूल उद्देश्य—मध्ययुगीन प्रेमगाथाकारों में बहुसंख्या हिन्दू कवियों की रही है, इसलिए उनसे तो यह अपेक्षा की ही नहीं जा सकती कि उन्होंने सूफीमत का प्रचार करने के लिए अपने ग्रन्थ रचे होंगे। जहाँ तक मुस्लिम प्रेमगाथाकारों का सम्बन्ध है, उनमें से अधिकांश ने अपनी रचना का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। यहाँ हम उनकी रचनाओं में से कुछ उदाहरण देकर उनके रचना-उद्देश्य को स्पष्ट करने कर प्रयत्न करेंगे। जैसे—

'औ मैं जानि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा ।।
केइ न जगत जस बेचा, केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सँवरै दुइ बोल ।।'

—पदमावत : जायसी

'मित्र महाशय गुन सदन, चित बहलावन हेत।
कहौं कहानी प्रेम की, होइ कै सुनो सचेत ।।'

—भाषा प्रेम रस : शेख रहीम

'नूर मुहम्मद यह कथा, अहै प्रेम की बात।
जेहि मन होइ प्रेम रस, पढ़ै सोइ दिन रात ।।'

—नूर मुहम्मद

'तरुनन्ह के मन काम बढ़ावा। भोगी कहँ सुख भोग बढ़ावा।
प्रीतिवन्त ह्वै सुनै सो कोई। बाढ़ै प्रीति हिए सुख होई।'

—उसमान

'कामी पुरिष रसिक जे सुनहीं। ते या कहा रैनि दिन सुनहीं।'—आलम
'वीर है प्रेम दुख सुख या माँही। को सु सुवाद जुआ मँहि नाहीं ।।'

—जान कवि

'कासिम यौवन हाथ है, चहै सो काज संवार।'—कासिम शाह

उपर्युक्त उद्धरणों से इन कवियों के विभिन्न उद्देश्य स्पष्ट हो जाते हैं। किसी ने यशाकांक्षा से प्रेरित हो, किसी ने प्रेमरस की मादक धारा प्रवाहित करने के लिए इन प्रेमगाथाओं की रचना की थी। एक भी कवि ने, कहीं भी यह नहीं कहा कि वह आध्यात्मिक निरूपण या इस्लाम का प्रचार करने के लिए ग्रन्थ रच रहा है। और

प्रेमरस में आकंठ डूबे इन सरल, सहृदय कवियों से यह आशा तो की ही नहीं जा सकती कि इनका कोई छद्म उद्देश्य रहा हो।

कथानक रूढ़ियाँ—इन कवियों ने प्रायः एक-सी ही उन कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग किया है जो पूर्ववर्ती भारतीय और फारसी कथा-काव्यों में समान रूप से व्यवहृत होती आई थीं। जैसे—नायिका का किसी द्वीप की वासिनी और अपरूप सुन्दरी होना, स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन, गुण-श्रवण या प्रथम दर्शन से प्रेमोत्पत्ति का होना; तोता, मैना, हंस आदि पक्षियों द्वारा सन्देशों का आदान-प्रदान; अतिप्राकृत शक्तियों द्वारा नायक को नायिका के पास पहुँचा देना; नायक का छद्म वेश में नायिका की खोज में निकलना; समुद्र-यात्रा में जहाज का टूटना; नायक द्वारा अन्य भयानक संकटों का सामना करना; मन्दिर या फुलवारी में नायक-नायिका का मिलन होना; नायिका के पिता से नायक का संघर्ष और अन्त में दोनों का विवाह होना। कुछ काव्यों में कथा यहीं समाप्त हो जाती है परन्तु कुछ काव्यों में नायक-नायिका में पुनः बिछोह होता है और वे कुछ समय बाद पुनः मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ काव्यों का अन्त नायक-नायिका के मिलन में सुखान्त, और कुछ में दोनों की मृत्यु या नायिका का नायक के साथ सती हो जाने में दुखान्त होता है। उपर्युक्त सम्पूर्ण कथानक-रूढ़ियाँ आंशिक परिवर्तन के साथ लगभग सभी प्रेमाख्यानक काव्यों में अपनायी गई हैं।

ज्ञान-प्रदर्शन की भावना—इन प्रेमगाथाकारों, और विशेष रूप से सूफी प्रेमगाथाकारों में अपने ज्ञान-प्रदर्शन की भावना का प्राबल्य मिलता है। कथा कहते समय उन्हें जहाँ भी किसी विशिष्ट विचार या ज्ञान से सम्बन्धित कोई प्रसंग मिल जाता है, वे कथा कहना छोड़ उस विषय सम्बन्धी अपने ज्ञान का विस्तारपूर्वक प्रदर्शन करने जमकर बैठ जाते हैं। विषय चाहे दार्शनिक हो या घोड़ों अथवा पकवानों का, वे उससे सम्बन्धित अपने सम्पूर्ण ज्ञान का प्रदर्शन करने का मोह सँवरण नहीं कर पाते। यही कारण है कि हमें इन ग्रन्थों में विभिन्न दार्शनिक-सिद्धान्तों, नीतिपरक नियमों, शकुन-विचार, पाक-शास्त्र, युद्ध-शास्त्र, अश्व-सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान आदि से लेकर रीति-शास्त्र, नायिका-भेद अर्थात् सम्पूर्ण कामशास्त्र का विस्तृत विवरण मिल जाता है। और अपने इस ज्ञान को प्रदर्शित करने का यह लोभ कोई सीमा नहीं जानता। ऐसे स्थलों पर कथा का विकास रुक जाता है और पाठक ऊबने लगता है। साथ ही इस प्रकार के वर्णनों में सम्बन्धित विषय सम्बन्धी ज्ञान का उथला, अधकचरा रूप ही अधिक मिलता है।

दार्शनिक पृष्ठभूमि—इन प्रेमगाथाओं में प्रदर्शित दार्शनिक सिद्धान्तों को एक सुपठित, चिन्तक और गहन मननशील विचारक के सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार तुलसी जहाँ दार्शनिक विवेचन करते हैं वहाँ उस विवेचन में उनका अगाध पांडित्य और मौलिक विवेचन और स्वस्थ समन्वय की जो क्षमता दिखाई पड़ती है,

उस क्षमता के दर्शन इन प्रेमगाथाकारों में कहीं भी नहीं होते। वस्तुतः इनका दार्शनिक ज्ञान सन्त-कवियों के दार्शनिक ज्ञान की कोटि का और स्वाध्याय द्वारा अर्जित न होकर सुना-सुनाया ही अधिक है। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के मोटे सिद्धान्त जनता में जिस रूप में प्रचलित होते हैं, वही रूप इनके दार्शनिक सिद्धान्तों का रहा है। इनमें न हमें भारतीय दर्शनों का सूक्ष्म-सन्तुलित विवेचना द्वारा पुष्ट रूप मिलता है, और न सूफी-सिद्धान्तों का ही। इनमें भारतीय अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद, माधुर्य भाव की साकारोपासना, निर्गुणियों की निराकारोपासना, हठयोगियों की हठयोग-साधना आदि सभी के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु ये वर्णन यह निर्धारित करने में सहायक नहीं हो पाते कि कवि को किस दार्शनिक-मत का प्रतिपादक माना जाय। वस्तुतः इन दार्शनिक सिद्धान्तों को भी इनके ज्ञान-प्रदर्शन की भावना का ही एक अंग मानना चाहिए। इसका कारण यह है कि इन दार्शनिक-विवेचनों में जो विरोधाभास मिलता है, वह उसके रूप को धूमिल और अग्राह्य बना देता है। सूफी कवि एक ओर तो एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते दिखाई पड़ते हैं, और दूसरी ओर विशिष्टाद्वैतवाद का, जब कि ये दोनों ही मत परस्पर विरोधी हैं। फिर भी एक बात यह स्पष्ट है कि लगभग समस्त प्रेमगाथाकारों ने मूलतः भारतीय दर्शन को ही अपनाया है, न कि विदेशी-दर्शन को।

हठयोग का गहरा प्रभाव—एक विशिष्ट प्रवृत्ति जो अधिकांश प्रेमगाथाओं में मिलती है, वह है—इन सब पर हठयोग-साधना का गहरा प्रभाव होना। लगभग सभी नायक हठयोग-साधना के विश्वासी प्रतीत होते हैं। जब वे अपनी नायिका को खोजने निकलते हैं तो योगी का वेश धारण करके ही। कुछ नायक तो बाकायदा योग-मार्ग में दीक्षा लेते हैं और हठयोग की साधना कर नायिका की खोज में निकलते हैं। अनेक ग्रन्थों में योग-साधना से प्राप्त चमत्कारों का भी वर्णन मिलता है। हठयोगियों के आदिगुरु शिव भी अधिकांश काव्यों में नायक की सहायता करते दिखाई पड़ते हैं। 'पदमावत' में शिव पद्मावती के पिता राजा गन्धर्वसेन को रत्नसेन की बात मान लेने के लिए समझाते हैं। इस प्रकार ये प्रेमगाथाकार भक्ति के प्रकार की दृष्टि से सन्त-कवियों की श्रेणी में जा खड़े होते हैं। अब यह कहना मुश्किल है कि इन कवियों ने हठयोग के इस गहरे प्रभाव को हठयोग में अपनी दृढ़ आस्था के कारण स्वीकार किया था या जन-साधारण में प्रचलित तथा कथानक-रूढ़ियों में उपलब्ध हठयोगियों सम्बन्धी किम्वदन्तियों से प्रभावित होकर। 'पदमावत' में तो विशेष रूप से हठयोग-साधना-पद्धति का विस्तृत वर्णन किया गया है।

प्रतीक-योजना—जहाँ तक प्रतीक-योजना का सम्बन्ध है, इनमें प्रतीकों का वह स्पष्ट रूप नहीं मिलता जो सन्त-काव्य की विशेषता रही है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह द्रष्टव्य है कि जब कवि प्रतीकों के माध्यम से कोई बात कहने का प्रयत्न करता है तो उसके काव्य में चिन्तन का आधिक्य रहने से उस काव्य में सरसता और सहजता नहीं आ पाती। कवि का ध्यान निरन्तर इस बात के प्रति सचेत रहता

है कि प्रतीक-निर्वाह में कहीं असंगति न आ जाये। इसलिए वह किसी भाव में विभोर होकर काव्य-रचना नहीं कर पाता, भले ही उसमें सरस-काव्य-रचना की प्रतिभा और क्षमता हो। सन्त कवियों ने जहाँ भी प्रतीकों का माध्यम ग्रहण किया है, वहाँ उनकी कविता नीरस, रूखी और उक्ति-मात्र बनकर रह गई है। उसे काव्य नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत प्रेमगाथाकार प्रेम के अनन्य उपासक और चितेरे थे। और प्रेम की भावना इतनी अधिक तन्मय कर देने वाली होती है कि उसके क्षेत्र में प्रतीकों का आश्रय ग्रहण कर सरस काव्य-रचना नितान्त असम्भव है। अगाध तन्मयता के क्षणों में चिन्तन अपंगु सा हो जाता है। और इन प्रेमगाथाकारों में हमें इसी अगाध तन्मयता के दर्शन होते हैं। इसलिए उनसे यह अपेक्षा करना कि उन्होंने प्रतीकों के माध्यम से अपनी कथाएँ कहीं होंगी, नितान्त असम्भव अपेक्षा है। हम देखते हैं कि कथा कहते-कहते जहाँ उनकी ज्ञान-प्रदर्शन की भावना जोर मारती है, वहाँ अमृतलाल नागर की शब्दावली में समस्त तन्मयता 'फौक्स' हो जाती है अर्थात् मारी जाती है। परन्तु उन विद्वानों के लिए क्या कहा जाय जो साधारण-सरस-सरल-प्रेमगाथाओं में भी प्रतीक-योजना ढूँढ़ते फिरते हैं। अन्य आलोचकों के समान हमने भी 'पदमावत' की प्रतीक-योजना का निरूपण किया है, वह केवल इसीलिए कि यदि इस कथा को अन्योक्ति मानने का अधिक आग्रह ही हो तो इसे उन प्रतीकों के माध्यम से अधिक प्रभावशाली रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है, न कि उस आध्यत्मिक प्रतीक-योजना के माध्यम से—जिसे अधिकांश आलोचक अपनाते आए हैं। हम अपने द्वारा प्रस्तुत उस प्रतीक-योजना की एक असंगति की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। हमने उसमें पद्मावती को बुद्धि अर्थात् सद्‌बुद्धि का प्रतीक माना है। परन्तु पद्मावती के दो रूप इस प्रतीक को स्वीकार करने में बाधा डालते हैं। सबसे पहले हम पद्मावती को कामोद्वेलित और पति की आकांक्षा करने वाली एक ऐसी नारी के रूप में पाते हैं जिसे अपने पिता से यह शिकायत है कि वह उसका विवाह नहीं करता। उसका दूसरा साधारण-सांसारिक नारी का रूप वहाँ सामने आता है जब वह सौतिया डाह में भर नागमती से लड़ती है और उसे गालियाँ सुनाती है। पद्मावती के इन दोनों रूपों का सद्‌बुद्धि के प्रतीक से सामंजस्य नहीं बैठ पाता। इसी कारण हमारा यह कहना है कि इन सरस प्रेमगाथाओं में प्रतीकों की खोज करना, इनकी सरसता के प्रति घोर अन्याय है। ये तो ऐसो प्रेम कथाएँ हैं जिनमें प्रेम अपने उदात्त, भव्य, निर्मल, सरस-सरल रूप में वर्णित हुआ है। इनका मूल लक्ष्य नारी-सौन्दर्य और लौकिक प्रेम-भावना का ही चित्रण करना रहा है। इन काव्यों में नारी का प्राधान्य होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि ये सम्पूर्ण कथा-काव्य नायिका-प्रधान रहे हैं, नायक-प्रधान नहीं।

प्रेम-भावना का चित्रण—इन कवियों का मूल कथ्य प्रेम रहा है। और प्रेम भी ऐसा जिसे स्वच्छन्द या 'रोमान्टिक' कहा जाता है। इस स्वच्छन्द या रोमान्टिक प्रेम की यह विशेषता होती है कि यह अत्यन्त गहन और ऐसा प्रभावशाली होता है

कि सम्बन्धित व्यक्तियों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आत्मसात कर उन्हें केवल प्रेम-रूप ही बनाकर छोड़ता है। प्रेम ही उनका आराध्य और सर्वस्व बन जाता है। वे प्रेम की इस आराधना में समाज, धर्म, नीति आदि किसी की भी मर्यादा को स्वीकार नहीं करते। गोपियों का प्रेम इसी प्रकार का था और इन प्रेमगाथाकारों के नायक-नायिकाओं का प्रेम भी इसी प्रकार का है। परन्तु गोपियों का प्रेम भक्ति-मार्गी प्रेम है जिसमें दैन्य, उपालम्भ, करुणा आदि कोमल भावनाओं का ही अस्तित्व रहता है न कि शौर्य, साहस, द्वारा संघर्षों पर विजय प्राप्त कर अपने प्रेमास्पद से मिलन की तीव्राकांक्षा। हमें इन प्रेमगाथाओं मे प्रेम के इन दोनों रूपों का समन्वित रूप मिलता है। इनकी नायिकाएँ तो गोपियों के समान प्रायः निष्क्रिय और निरन्तर रुदन करती रहने वाली ही बनी रहती हैं, परन्तु नायक विरह में जितने अधिक व्याकुल रहते हैं, संयोग के लिए उतने ही अधिक साहसी, त्यागी, कष्ट-सहिष्णु और प्रयत्नशील बन जाते हैं। भारतीय स्वच्छन्द प्रेम की यही परम्परा और पद्धति प्राचीन काल से चली आई है और प्रेमगाथाओं में इसी का निरूपण किया गया है। इसी कारण इनमें सौन्दर्य के अलौकिक प्रभाव, उसे प्राप्त करने की अदम्य आकांक्षा, और उस आकांक्षा की पूर्ति के लिए अद्‌भुत सहस, शौर्य, त्याग और कष्ट-सहिष्णुता का अंकन किया गया है। इस दृष्टि से इनके सभी पात्र नितान्त स्वाभाविक मानव हैं। पुरुष विरहाकुल होता है, परन्तु उस आकुलता के कारण निष्क्रिय होकर नहीं बैठ जाता। वह आरम्भ से अन्त तक निरन्तर गतिशील बना रहता है। नारी अपने सहज स्वभाव के कारण अधिक विरहाकुल होती है, परन्तु निष्क्रिय बनी बैठी रहती है। सारा प्रयत्न पुरुष को ही करना पड़ता है। परन्तु कहीं-कहीं हम नारी को भी सक्रिय होता हुआ देखते हैं। वह भी तब, जब उसमें प्रेम के साथ कर्त्तव्य-बुद्धि का संचार होता है। अलाउद्दीन द्वारा रत्नसेन के पकड़े जाने पर हम पद्मावती का ऐसा ही नया रूप देखते हैं। परन्तु सम्पूर्ण प्रेमगाथा-काव्य में ऐसे उदाहरण एकाध ही मिलते हैं।

मगर इस प्रेम-चित्रण की एक विशेषता यह भी रही है कि इसमें सामाजिक मर्यादाओं का पूर्ण उल्लंघन न होकर उनके प्रति सम्मान भी प्रदर्शित किया गया है। नायक जिससे प्रेम करता है उसके प्रति सच्चा रहता है, भले ही उसका प्रेम एकनिष्ठ न रहता हो। इसका कारण बहु-विवाह की प्रथा का प्रभाव माना जा सकता है। कई नायक ऐसे हैं जो दो-दो नायिकाओं से विवाह करते हैं। कुछ नायक और नायिकाएँ ऐसे भी हैं जो अन्य किसी के भी प्रति आकर्षित नहीं होते। नायक एकपत्नीव्रती तथा नायिकाएँ पूर्ण पतिव्रता रहती हैं। यहाँ इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि नायक-नायिकाएँ परस्पर विवाह होने से पूर्व आपस में मिलते हैं, एकान्त में भी परन्तु उनमें सम्भोग पति-पत्नी बनने के उपरान्त ही होता है, पहले नहीं।

इस प्रेम-चित्रण की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें शृंगार के दोनों पक्षों का विस्तृत, मार्मिक और प्रभावशाली चित्रण हुआ है। पहले हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है, फिर प्रेमास्पद के दूर रहने के कारण विरह का संचार होता है।

और जब विरह का संचार होता है तो कवि सम्पूर्ण सीमाओं को भुला बैठता है। पात्रों का विरह विश्वव्यापी बन जाता है और ऐसे ही स्थलों पर आध्यात्मिकता की छाया उत्पन्न कर देता है। पुरुष हो या नारी—उनका विरह इतना अतिशयोक्तिपूर्ण बन जाता है कि वहाँ आध्यात्मिक अनुभूति सी होने लगती है। इसके उपरान्त जब संयोग का अवसर आता है तो कवि विरह की ज्वाला से सर्वथा मुक्त हो, अमित, अगाध आनन्द में डूब संयोग का ऐसा मांसल और स्वस्थ वर्णन करता है कि उसे शील या अश्लीलता की चिन्ता नहीं रह जाती। इस संयोग-चित्रण की एक विशेषता यह है कि इसमें स्थूलता और मांसलता के रहते हुए भी मानसिक भावों का ही प्राधान्य रहता है। मिलन के समय नायक-नायिका के मानसिक भाव कैसे रहते हैं, इन्हीं का वर्णन अधिक किया गया है।

सौन्दर्य-वर्णन—प्रेम-भावना का मूलाधार सौन्दर्य होता है। सौन्दर्य ही हृदय में प्रेम-भावना उत्पन्न करता है। इसी कारण इन कवियों ने सौन्दर्य का खूब विस्तार के साथ चित्रण किया है। और यह सौन्दर्य-चित्रण भी परम्परा-बद्ध ही रहा है। सूफी-कवियों के नख-शिख वर्णन को फारसी-परम्परा का, इस आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था कि इन्होंने नारी-सौन्दर्य का वर्णन भारतीय परम्परानुसार नख अर्थात् चरणों के नखों से आरम्भ न कर शिख अर्थात् सिर से किया है। परन्तु ऐसा सिद्ध करने वाले यह क्यों भूल जाते हैं कि इन कवियों ने सौन्दर्य के समस्त उपमान भारतीय ही अपनाए हैं, न कि फारसी। दूसरी बात यह है कि हमारे यहाँ सौन्दर्य का वर्णन चरणों से वहीं आरम्भ किया गया है जहाँ नायक या नायिका कवि के श्रद्धास्पद रहे हैं; जैसे—राधा और कृष्ण, राम और सीता। चरणों से सौन्दर्य का वर्णन करना श्रद्धा का ही प्रतीक माना जा सकता है, न कि वास्तविक सौन्दर्य-भावना का। क्योंकि मुखमण्डल की अपेक्षा चरणों में अधिक सौन्दर्य देखना संगत नहीं माना जा सकता। प्रेमगाथाकारों की नायिकाएँ सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमूर्त्ति तो अवश्य थीं, परन्तु श्रद्धास्पद नहीं। इसीलिए उन्होंने सौन्दर्य-वर्णन की स्वाभाविक प्रक्रिया को अपनाते हुए ही उनके सौन्दर्य का वर्णन मुखमण्डल से आरम्भ किया था, न कि विदेशी फारसी परम्परा के अन्धानुकरण के कारण। इन कवियों ने सौन्दर्य-भावना में आकण्ठ निमग्न होकर ही यह वर्णन किया है परन्तु फिर भी वह परम्पराबद्ध ही रहा है। उसमें कोई उल्लेखनीय मौलिकता नहीं मिलती। इस सौन्दर्य-वर्णन के अन्तर्गत नायिका-भेद, काम-दशा की विभिन्न अवस्थाओं और सौन्दर्य के विश्वव्यापी प्रभाव के वर्णन का ही प्राधान्य रहा है। और ऐसे स्थलों पर भी ये कवि अपनी अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति से आक्रान्त रहे हैं।

काव्य रूप—समस्त प्रेमाख्यान प्रबन्ध-काव्य के रूप में लिखे गए हैं। इनमें से केवल एक ही ग्रन्थ ऐसा रहा है, जिसे आचार्य शुक्ल तथा उनके अधिकांश परवर्ती आलोचकों ने महाकाव्य माना था। और वह ग्रन्थ है जायसी का 'पदमावत'। और

'पद्मावत' को महाकाव्य सिद्ध करने के मोह में ग्रस्त हो उन्होंने इसे फारसी 'मसनवी' शैली का महाकाव्य प्रमाणित किया था, क्योंकि उन्हें इसमें भारतीय महाकाव्यों के लिए निर्धारित शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह नहीं मिला था। परन्तु डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे महाकाव्य न मान अपभ्रंश चरित-काव्यों की परम्परा का कथा-काव्य माना है। अर्थात् यह उसी परम्परा का चरित-काव्य था। महाकाव्य मूलतः और सिद्धान्ततः आदर्शवादी होता है। उसका लक्ष्य—मर्यादा और आदर्श की स्थापना करना माना जाता है। उसका मूलभाव–वीरता और कर्त्तव्यपरायणता द्वारा एक ऐसे आदर्श की स्थापना करना होता है जो समाज में नैतिकता और कल्याण की भावना उद्बुद्ध करे। इसके विपरीत कथा-काव्य मात्र स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण कर रोमांच और आल्हाद के उपादान प्रस्तुत करते हैं और ऐसा करते हैं—पात्रों की अपेक्षा रोमांचक, आश्चर्यपूर्ण घटनाओं की योजना द्वारा। क्योंकि उनका मूल लक्ष्य ही मानव की सर्वाधिक प्रबल भावना—प्रेम का उन्मुक्त चित्रण कर सौन्दर्य एवं उससे उद्भूत आनन्द की कोमल, प्रेरणाप्रद, शान्तिदायिनी किरणें विकीर्ण करना रहा है। और हिन्दी के प्रेमाख्यानों का मूल लक्ष्य यही रहा है, इसलिए इन्हें महाकाव्य न मान चरित-काव्यों की शैली का कथा-काव्य ही मानना चाहिए।

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने कथा-काव्य के जो लक्षण निर्धारित किए हैं, वे इन पर पूर्णतः खरे उतरते हैं। यथा—इनका मूल प्रतिपाद्य सुन्दरियों की उपलब्धि—चाहे वह अपहरण द्वारा हो या संघर्ष द्वारा; कवि द्वारा कथारम्भ में देव-स्तुति, गुरु-स्तुति का विधान कर स्वकुल और ग्रन्थ के उद्देश्य को स्पष्ट करना; शृंगार के दोनों पक्षों का चित्रण परन्तु वियोग-पक्ष का प्राधान्य; कथा का विभाजन सर्गों में होना अनिवार्य नहीं; और सर्वोपरि यह कि कथा का प्रेम-प्रधान और सरस होना। उपर्युक्त लक्षण इन प्रेमाख्यानों में प्रचुरता से मिल जाते हैं। अपभ्रंश के चरित-काव्यों में दो नवीन प्रवृत्तियों का समावेश और हुआ है। धार्मिक तत्वों और भावना का निरूपण—क्योंकि अपभ्रंश के चरित-काव्यों के रचयिता अधिकांश जैन-कवि ही रहे थे जो इन कथा-काव्यों द्वारा जैन-धर्म का प्रचार करने के अभिलाषी थे। इसी कारण इन्होंने नायक-नायिका के विवाहोपरान्त, अन्त में वृद्धावस्था आने पर उन्हें उन्हें जैन धर्म को स्वीकार करते हुए दिखाया है। परन्तु जैन-कवियों ने अपने इस उद्देश्य को कहीं भी छिपाया नहीं है। हिन्दी के प्रेमाख्यानों में कहीं-कहीं, जहाँ कवि अधिक भावावेश में आ जाते हैं, लौकिकता को छोड़ अलौकिकता का चित्रण करने लगते हैं और ऐसे ही स्थलों को आलोचकों ने समासोक्ति मान लिया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विशेष रूप से सूफी कवियों ने कहीं भी स्पष्ट रूप से अपनी सूफी-धर्म भावना का चित्रण नहीं किया है। भावावेश की अकल्पनीय उड़ान ही उन्हें क्षण भर के लिए उस मनोलोक में पहुँचा देती है जो अलौकिक सा प्रतीत होता है। नायक-नायिका के विवाहोपरान्त, वृद्धावस्था में हम उन्हें अपभ्रंश के चरित-काव्यों के

समान किसी धर्म या मत-विशेष का आलिंगन करते नहीं पाते। प्रतीक और रूपक के हिमायती चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, उनमें कोई भी रूपक या प्रतीक ऐसा नहीं खोज पाते जो अपनी संज्ञा सार्थक कर सके। अस्तु,

जिस काव्य-रूप को हमारे पुराने आलोचकों ने फारसी की मसनवी-शैली का मान लिया था, वह वस्तुतः परम्परागत विशुद्ध भारतीय काव्य-रूप ही था। हिन्दी-प्रेमाख्यानों में लगभग वे सभी अथवा उनसे मिलती-जुलती प्रबन्ध-रूढ़ियाँ मिल जाती हैं जो प्राचीन भारतीय चरित-काव्यों में प्रयुक्त हुई हैं। आचार्य शुक्ल ने इन्हें फारसी मसनवी शैली का काव्यरूप सिद्ध करने के लिए एक प्रबल तर्क यह दिया था कि इनमें कथा सर्गबद्ध न होकर मसनवियों के समान निरन्तर चलती रहती है और विस्तार की सानुपातिकता का बिना ध्यान रखे घटनाओं या प्रसंगों के शीर्षक दे दिए जाते हैं। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। अनेक सूफी प्रेमाख्यान ऐसे हैं जो शीर्षकों में विभक्त नहीं हैं। कथा अवान्तर चलती रहती है। 'पदमावत' और 'मधुमालती' की अनेक ऐसी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं जिनमें शीर्षकों द्वारा कथा-विभाजन की यह पद्धति नहीं मिलती। अतः काव्य-रूप की दृष्टि से इन्हें विशुद्ध भारतीय मानना पड़ेगा।

शैली—शैली की दृष्टि से भी हिन्दी के प्रेमाख्यान संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के कथा-काव्यों की शैली का ही अनुसरण करते दिखाई पड़ते हैं। इनमें एक प्रधान प्रवृत्ति अतिशयोक्ति की मिलती है और फारसी सूफी मसनवियों की विरह-विषयक उहात्मकता अर्थात् अतिशयोक्ति को देख लोगों ने इन प्रेमगाथाकारों की इस अतिशयोक्ति प्रधानता को उसी का प्रभाव मान लिया था। परन्तु ललित-काव्य अतिशयोक्ति के बिना आगे बढ़ ही नहीं सकता। भारतीय काव्यों में इस अतिशयोक्ति के दर्शन दो अलंकारों के प्रयोगों में मिलते हैं—रूपक और उत्प्रेक्षा। ये दोनों ही अलंकार अतिशयोक्ति द्वारा वर्णन में अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। संस्कृत के बाण, सुबन्धु, दंडी आदि कवियों ने उत्प्रेक्षाओं की ऐसी झड़ी बाँधी है कि उनकी कल्पना कितनी दूर तक की कौड़ी ला सकती है, यह देख आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। और चमत्कार उत्पन्न करने की इस प्रवृत्ति के मूल में अपनी काव्य-प्रतिभा और ज्ञान के प्रदर्शन की भावना प्रधान रहती है। यही प्रतिभा और ज्ञान-प्रदर्शन की भावना हमें हिन्दी प्रेम गाथाकारों में मिलती है। जहाँ ये कवि भावावेग से आक्रान्त हो उठते हैं, वहाँ किसी भी प्रकार की सीमा का बन्धन स्वीकार नहीं करते। ऐसे स्थलों पर औचित्य का उन्हें कतई ध्यान नहीं रहता। और इस अतिशयोक्ति को ही अनेक लोगों ने रहस्यवाद की संज्ञा प्रदान कर दी है।

हम ऊपर कह आए हैं कि इन कवियों में ज्ञान-प्रदर्शन की भावना प्रमुख रही है। प्रतिभा का प्रदर्शन तो ये अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णनों द्वारा करते हैं। ज्ञान का प्रदर्शन उस समय करते हैं जब किसी वस्तु या विषय का सामान्य वर्णन करने बैठते हैं।

पकवानों, पशुओं, अस्त्र-शस्त्रों, नायिका-भेद, शकुन-विचार, वैद्यक, फल-फूलों आदि का वर्णन करते समय ये उनकी लम्बी-लम्बी सूचियाँ प्रस्तुत कर देते हैं। जायसी ने 'पदमावत' में अन्य प्रकार के ऐसे वर्णनों के साथ माँस और मछली द्वारा पकाए जाने वाले खाद्य-पदार्थों का जो वर्णन किया है वह पाक-शास्त्र के मर्मज्ञों को भी आश्चर्य में डाल देने वाला है। ऐसे वर्णन कथा में व्याघात डाल नीरसता उत्पन्न कर देते हैं। अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन चमत्कार द्वारा अनुरंजन करने में तो सफल हो जाते हैं परन्तु ज्ञान-प्रदर्शन हेतु किये जाने वाले वर्णन ऊब और नीरसता ही उत्पन्न करते हैं। वैसे कथा की गति में व्याघात दोनों ही डालते हैं।

अन्योक्ति या समासोक्ति—विशेष रूप से सूफी कवियों द्वारा रचित प्रेमाख्यानों को लेकर यह विवाद चलता रहा है कि इन्हें समासोक्ति माना जाय, या अन्योक्ति। जहाँ प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषणों का प्रयोग कर अप्रस्तुत का बोध कराया जाय वहाँ 'समासोक्ति' मानी जाती है। और जहाँ अप्रस्तुत वर्णन द्वारा प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना की जाय वहाँ 'अन्योक्ति'। यह समस्या विशेष रूप से जायसी के 'पदमावत' को लेकर ही उठाई गई है। 'पदमावत' के उपसंहार वाले जिस पद के आधार पर इसे अन्योक्ति सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी, अब वह पद प्रक्षिप्त सिद्ध हो गया है, अतः यह समस्या यहीं समाप्त हो जाती है। यदि इसे अन्योक्ति सिद्ध करने का प्रयत्न भी करें तो भी उसका पूर्ण निर्वाह नहीं हो पाता क्योंकि 'पदमावत' में अप्रस्तुत (कथा और रसात्मकता) प्रस्तुत (दर्शन) से अधिक शक्तिशाली है। साथ ही हठयोग और वेदान्त-दर्शन के समावेश से भी अन्योक्ति खण्डित हो जाती है।

अब समस्या रह जाती है—समासोक्ति की। समासोक्ति केवल उन स्थलों पर मिलती है जहाँ कवि लौकिक कथा को छोड़ एकाएक अध्यात्म की गोद में जा बैठता है। जायसी सूफी थे, अतः उनमें आध्यात्मिक भावना होना स्वाभाविक है। इसी कारण कथा-प्रसंग में उन्हें जहाँ कहीं अपनी दिव्य अलौकिक अनुभूति को व्यक्त करने का अवसर मिला है, उन्होंने उसका पूरा-पूरा उपयोग किया है। जायसी के अतिरिक्त अन्य सूफी प्रेमाख्यानों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। डा० शम्भूनाथ सिंह ने इसे 'एलीगोरी' अर्थात् प्रतीकात्मक काव्य माना है, क्योंकि उनके अनुसार, इसके अनेक पात्र और घटनाएँ प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत की गई हैं। परन्तु जैसा कि हम पीछे कह आये हैं, इसमें प्रतीकों का निर्वाह भी पूर्ण रूप से नहीं हो पाया है। अतः 'पदमावत' को एक ऐसा प्रेमगाथात्मक काव्य माना जा सकता है, जिसमें भावावेग की अतिशयता के कारण कहीं-कहीं आध्यात्मिकता की सी झलक दिखाई पड़ जाती है, परन्तु कवि का मूल कथ्य और उद्देश्य प्रेम के विश्वव्यापी और उदात्त रूप का ही चित्रण करना रहा है।

महत्त्व—यदि ये प्रेमाख्यान, विशेष रूप से सूफी प्रेमाख्यान, किसी आध्यात्मिक भावना का प्रतिपादन करने के, या किसी व्यक्ति-विशेष, जैसे—आश्रयदाता आदि को

प्रसन्न करने अथवा भगवद् भजन कर मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं लिखे गये हैं, तो आखिर इनकी रचना का उद्देश्य क्या रहा है ? यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ खड़ा होता है । लगभग सभी प्रेमगाथाकार स्वतंत्र रूप से जीवन-यापन और साहित्य-साधना करने वाले प्रेम के दीवाने मस्त मौला कवि थे, इसलिए आश्रयदाता आदि को रिझाने या उनकी प्रशंसा करने का प्रश्न ही नहीं उठता । रही बात भक्ति की, तो विशुद्ध रूप से उस अर्थ में इन्हें भक्त नहीं माना जा सकता जिस अर्थ में कबीर, सूर, तुलसी आदि को माना जाता है, यद्यपि इनकी प्रेम-साधना भक्ति की अत्युच्च भाव-भूमि का स्पर्श करती दिखाई पड़ती है । परन्तु अपनी साहित्य-रचना द्वारा ये ऐसी किसी अलौकिक, आध्यात्मिक उपलब्धि के आकांक्षी नहीं थे । इनका मूल और महान् उद्देश्य—प्रेम के उदात्त, भव्य रूप का चित्रण कर, लोक-रंजन के माध्यम से प्रेम के विश्वव्यापी, मानवतावादी स्वरूप की स्थापना करना रहा था। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा था—

"अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा, जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सामान्य प्रभाव दिखलाई पड़ता है । इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखलाया । कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था । प्रत्यक्ष जीवन की एकता का आभास नहीं दिया था । प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी रही । यह जायसी द्वारा पूरी हुई ।"

शृंगार के नाम मात्र से नाक-भौं सिकोड़ने वाले नीतिवादी आलोचक इन प्रेम-काव्यों का महत्त्व नहीं समझ सकते । उनकी दृष्टि में शृङ्गार या प्रेम एक ऐसी दूषित भावना है जो जन-मानस को अश्लीलता के पंक में डुबो देती है—उनका यह दृष्टिकोण केवल स्वाभाविक, लौकिक प्रेम-भावना के ही प्रति है । यदि यह प्रेम-भावना मानव की मानव के प्रति न होकर भगवान के प्रति होती है तो वह उनके लिए सहज ग्राह्य बन जाती है और वे उसका गुणगान करने लगते हैं । इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर अनेक आलोचकों ने इन सरस, ललित, सुन्दर प्रेमगाथाओं को आध्यात्मिक अर्थ प्रदान करने की चेष्टा की है । परन्तु ऐसे आलोचक यह भूल जाते हैं कि प्रेम-भावना मानव की सर्वाधिक प्रबल, उदात्त और सर्वव्यापी भावना होती है । मानव इस भावना से रहित हो, सच्चे अर्थ में मानव नहीं रहता । और इस भावना का सर्वाधिक मनोरम, उदात्त रूप इसके लौकिक रूप में ही मिलता है । हमें हिन्दी की इन प्रेमगाथाओं में प्रेम का यही स्वाभाविक लौकिक रूप मिलता है । इसी कारण मध्य-काल में ये प्रेमगाथाएँ इतनी अधिक लोकप्रिय रही थीं । इस प्रेम-चित्रण की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि इसमें प्रेम के स्वच्छन्द रूप का अंकन होते हुए भी

वह सामाजिक मर्यादा का कहीं भी अतिक्रमण नहीं करता। वह आरम्भ से अन्त तक गहन, एकनिष्ठ, उदात्त और भव्य बना रहता है। और उसके इस रूप से मानव-मन का उसी प्रकार परिष्कार और उदात्तीकरण होता है जिस प्रकार भक्ति द्वारा। इसलिए इस प्रेम-चित्रण को किसी भी रूप में भक्ति से कम नहीं माना जा सकता। इन प्रेमगाथाकारों का महत् उद्देश्य इस प्रेम-भावना के रूप की स्थापना कर मानव-मात्र के हृदय का परिष्कार करना था। और अपने इस प्रयत्न में इन्हें पूरी सफलता मिली है। हमारे सामने सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि अधिकांश पाठक या लेखक पुराने आलोचकों के वक्तव्यों को ही वेद-वाक्य मान, इनका मूल्यांकन करने का प्रयत्न करते हैं और इनके वास्तविक मूल्य को नहीं समझ पाते। इसी कारण इस प्रेम-काव्य के असली रूप और उसके महत्त्व को समझने में असमर्थ रहते हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि अमर प्रेम के इन अमर गायकों द्वारा रचित साहित्य के अध्ययन की सुचारु व्यवस्था हो, और तब इनका सही मूल्यांकन किया जाय।

सगुण भक्ति-धारा

राम-भक्ति का साहित्य

हिन्दी राम-काव्य की पृष्ठभूमि

हिन्दी में राम-काव्य के मुख्य प्रेरणा-स्रोत स्वामी रामानन्द माने जाते हैं। आचार्य शुक्ल ने उनका समय विक्रम की पन्द्रहवीं सदी के चतुर्थ और सोलहवीं सदी के तृतीय चरण के भीतर माना है। उन्होंने विष्णु के अन्य रूपों में से 'राम-रूप' को ही लोक-कल्याणकारक मान, उन्हीं की भक्ति का प्रचार किया। हिन्दी के निराकारोपासक कबीर आदि सन्तों तथा साकारोपासक तुलसी आदि भक्तों ने राम के इसी स्वरूप को अपनी भक्ति-भावना का आधार बनाया था। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि रामानन्द स्वयं निर्गुण मार्ग के उपासक नहीं थे। उनके द्वारा लिखे ग्रन्थों से उनका सगुणोपासक होना ही सिद्ध होता है। सम्भवतः यही कारण है कि राम के सगुण रूप के उपासक भक्तों के काव्य में राम के जैसे लोक-कल्याण-कारक रूप का प्रस्फुटन हुआ है, वैसा निराकार रूप के उपासकों के काव्य में नहीं हो सका।

हिन्दी में राम-भक्ति के उदय के पूर्व भी 'राम' काव्य के विषय बन चुके थे। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में उन्हें विभिन्न रूपों में चित्रित किया गया था। उत्तर-भारत में भक्ति के आदि प्रतिष्ठापक आचार्य रामानुज माने जाते हैं। उन्होंने नारायण की उपासना का विधान किया था। रामानुज की शिष्य-परम्परा में हुए राघवानन्द ने आगे चलकर राम के रूप में नारायण या विष्णु की उपासना का प्रतिपादन किया। रामानन्द इसी शिष्य-परम्परा में थे। उन्होंने लक्ष्मण और सीता से युक्त राम की उपासना का प्रचार किया। इनके अनुसार राम ईश्वर-तत्त्व, लक्ष्मण जीव-तत्त्व और सीता प्रकृति-रूपा हैं।

राम-भावना का विकास

'राम' को उपास्य का रूप धारण करने में सहस्रों सदियों का समय लगा था। वेदों में राम एक असुर हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में राम कहीं ब्राह्मण, कहीं याज्ञवल्क के समकालीन, कहीं शंग शास्यायनि आत्रेय के शिष्य माने गए हैं। यहाँ तक राम का व्यक्तित्व साधारण ही रहा है। राम को साहित्य में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित करने का सर्वप्रथम श्रेय महर्षि वाल्मीकि को दिया जाता है। उन्होंने ही राम-कथा को एक दृढ़, साहित्यिक भूमि प्रदान की थी। वाल्मीकि-रामायण के उपरान्त महाभारत में राम-कथा और रामावतार का उल्लेख मिलता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में राम को विष्णु का अवतार स्वीकार किया गया और ग्यारहवीं सदी में आकर आचार्य रामानुज ने राम को सर्वप्रथम परम ब्रह्म का अवतार घोषित किया। परन्तु इनसे पूर्व भी ग्रन्थों में राम का जो रूप अङ्कित किया गया था उसमें अवतार के लक्षण मिलने आरम्भ हो गए थे। आलवारों के भक्ति-ग्रन्थ 'नालायिर प्रबन्धम्' में राम को भगवान विष्णु का अवतार माना गया है। संस्कृत के 'विष्णु पुराण', 'वायु पुराण' और 'ब्रह्म-पुराण' में राम को एक प्रकार से अवतारी पुरुष ही माना गया है। राम को पूर्ण अवतार कब से माना गया, इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। डा० हरदेव बाहरी गुप्त-काल में तथा डा० भण्डारकर ईसा से ५०० वर्ष पूर्व राम को पूर्णावतार के रूप में प्रतिष्ठित हुआ मानते हैं। छठी सदी के उपरान्त रचित संस्कृत-ग्रन्थों—'राम पूर्ण तापनीय उपनिषद्', 'अध्यात्म रामायण', 'अगस्त्य सुतीक्ष्ण संहिता', 'भागवत पुराण' आदि में राम ब्रह्म के अवतार मान लिए गए थे।

दूसरी ओर बौद्धों द्वारा रचित प्राकृत-साहित्य में भी राम-कथा का विभिन्न रूपों में अंकन किया गया था। 'दशरथ जातक' में गौतम बुद्ध राम का रूप धारण करते हैं। 'अनामकं जातकम्', 'दशरथ कथानकम्' आदि बौद्ध-ग्रन्थों में भी राम-कथा का चित्रण किया गया है, परन्तु इनमें चित्रित राम वाल्मीकि के राम से भिन्न हैं। अपभ्रंश के जैनाचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों में भी राम-कथा को अपनाया गया है। विमल सूरि के 'पउम चरिउ', स्वयम्भू की रामायण (पउम चरिउ), मुमुक्ष के 'पुण्याश्रवकथा कोष', गुणभद्र के 'उत्तर पुराण' आदि जैन ग्रन्थों में राम-कथा का वर्णन किया गया है। ब्रह्म जिनदास ने 'रामचरित या रामरास' और 'हनुमन्त रास' तथा कुछ अन्य कवियों ने 'हनुमन्तगामी कथा', तथा 'हनुमान चरित' नामक ग्रन्थ लिखे थे। परन्तु प्राकृत और अपभ्रंश के इन ग्रन्थों में प्रायः राम को वृद्धावस्था में बौद्ध और जैन धर्म को स्वीकार करते हुए दिखाया गया है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में राम-कथा

भारत की आधुनिक अनेक भाषाओं में राम-कथा को दसवीं सदी से लेकर निरन्तर अपनाया जाता रहा है। इनमें राम-चरित्र का मूलाधार 'वाल्मीकि-रामायण' रही है। तमिल में दसवीं सदी में 'द्रविड़ रामायण' की और तेलुगु में

तेरहवीं सदी में 'द्विपाद रामायण' की रचना की गई थी। इसी प्रकार कन्नड़ और मलयालम भाषाओं में भी रामायण रची गई थीं। बँगला भाषा में पन्द्रहवीं सदी में कृत्तिवास ने रामायण की रचना की थी। सोलहवीं सदी में बलरामदास ने उड़िया भाषा में रामायण लिखी थी। मराठी में सन्त एकनाथ की रची 'भावार्थ रामायण' मिलती है। गुजराती में पन्द्रहवीं सदी में भालण नामक कवि ने 'राम विवाह' और 'राम बाल चरित्र' नामक ग्रन्थ लिखे थे। असमी भाषा में चौदहवीं सदी में माधव कन्दील नामक कवि ने 'वाल्मीकि रामायण' का असमी में पद्यानुवाद किया था। इनके समकालीन दुर्गावर ने 'गीत रामायण' की रचना की थी। सोलहवीं सदी में माधव देव ने 'रामायण आदि काण्ड', तथा अनन्त आता ने 'राम कीर्त्तन' नामक ग्रन्थ रचे थे।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राम-कथा भारतीय साहित्य का अत्यन्त व्यापक और लोकप्रिय विषय रहा है। लगभग सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं द्वारा इसे समान रूप से अपनाया गया है। भारत के अतिरिक्त यह राम-कथा भारत के दक्षिण-पूर्वी देशों—मलाया, थाईदेश, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया में भी काफी लोकप्रिय रही थी। इन देशों के प्राचीन साहित्य में इसके प्रचुर प्रमाण मिल जाते हैं। अस्तु,

राम-कथा के दो रूप

उपर्युक्त समस्त भाषाओं में, और विशेष रूप से प्राचीन भारतीय काव्य-भाषाओं में राम के दो प्रकार के रूप मिलते हैं। आरम्भ में राम हमें एक वीर क्षत्रिय योद्धा के रूप में चित्रित मिलते हैं, और बाद में उन्हें पहले विष्णु का और फिर परमब्रह्म का अवतार मान लिया जाता है। इस प्रकार राम का एक रूप लौकिक रहा है, और दूसरा अलौकिक। इस दूसरे अलौकिक रूप पर ही राम-भक्ति का विशाल प्रासाद खड़ा किया गया था। परन्तु इसमें राम का लौकिक रूप भी सर्वथा उपेक्षित नहीं रहा। राम के लौकिक रूप का चित्रण करने वाली रचनाओं में राम एक वीर, कर्त्तव्यनिष्ठ योद्धा और श्रृङ्गार प्रिय नायक रहे हैं। वाल्मीकि-रामायण में उनका यही रूप मिलता है। उसमें राम-सीता के पूर्वानुराग, विहार-वर्णन आदि का श्रृङ्गारिक चित्रण किया गया है। कालान्तर में, तुलसी के उपरान्त, राम-काव्य में 'स्वसुखी सम्प्रदाय' आदि के रूप में जिस श्रृङ्गार-भावना का समावेश किया गया था, उसका मूल इन प्रसंगों में भी खोजा जा सकता है। इसे सर्वथा कृष्ण-भक्तों की श्रृङ्गार-भावना का ही प्रभाव नहीं मान लेना चाहिए। सम्भव है परवर्ती राम-भक्तों ने राम के अलौकिक रूप के साथ उनके उपर्युक्त लौकिक रूप का समन्वय कर राम को कृष्ण के समान ही मनोरंजक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया हो। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों—'उदार राघव', 'अध्यात्म रामायण', 'आनन्द रामायण' आदि में राम से सम्बन्धित भक्ति-भाव-पूरित रचनाओं का प्राधान्य रहा है, और

इन्हीं से प्रेरित होकर भारतीय भाषाओं में राम को परम ब्रह्म का अवतार स्वीकार कर भक्ति-भाव-पूरित ग्रन्थों की रचना की गई थी।

हिन्दी का राम भक्ति-काव्य

साधारणतः हिन्दी में राम-काव्य के आदि प्रणेता गोस्वामी तुलसीदास माने हैं। परन्तु उनसे पूर्व भी हिन्दी में राम-काव्य रचा गया था जो विशेष महत्त्वपूर्ण तो नहीं परन्तु उल्लेखनीय अवश्य है। कहा जाता है कि पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ में ग्वालियर के विष्णुदास नामक एक कवि ने 'वाल्मीकि रामायण' का हिन्दी पद्य में अनुवाद किया था। इनकी महाभारत और कृष्ण-चरित से सम्बन्धित अनेक रचनाएँ तो मिलती हैं परन्तु अभी तक उपर्युक्त पद्यानुवाद का मात्र उल्लेख ही मिल सका है। तुलसी के 'मानस' से पूर्व केवल एक ही कृति ऐसी मिलती है जिसे तुलसी द्वारा अपनायी गई राम-कथा का पूर्वरूप माना जा सकता है। यह कृति है ईश्वरदास कृत 'भरत मिलाप'। परन्तु यह ग्रन्थ काफी विवादास्पद रहा है। इसकी जो प्राचीन प्रतियाँ मिलती हैं उनमें पाठ-भेद के अन्तर के साथ ही रचयिता के नामों में भी अन्तर मिलता है। और ये नाम हैं—तुलसीदास, ईश्वरदास, सूरजदास। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल तुलसीदास को गोस्वामी तुलसीदास से भिन्न और प्राचीन मानते हैं। परन्तु डा० शिवगोपाल मिश्र 'भरत मिलाप' का रचयिता ईश्वरदास को ही इसलिए स्वीकार करते हैं क्योंकि उन्हें ईश्वरदास की अन्य कृतियों के साथ इसकी भी एक प्राचीन प्रति मिली थी और उन्होंने इसका सम्पादन कर ईश्वरदास के नाम से ही इसका प्रकाशन करवा दिया था। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की अनेक पंक्तियों में ईश्वरदास के नाम का उल्लेख है। जैसे—"ना साँचे वचन सुनहु जो काना। ईसरदास कवि कहहिं बखाना।" यदि इन पंक्तियों को प्रामाणिक मान लिया जाये तो ईश्वरदास ही 'भरत-मिलाप' के रचयिता सिद्ध होते हैं। इस ग्रन्थ की सरल भाषा और शैली के प्रमाण-स्वरूप दशरथ-मरण प्रसंग से सम्बन्धित इसकी कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"काहे भरत करौ लरिकाई। पिता क दाहु देहु अब जाई॥
सुनत भरत परे मुरछाई। भरै हिया फटि कैकई माई॥
पापिन तै बड़ अजगुत कीन्हा। राम लछन सीता वन दीन्हा॥
भल तुम कीन्ह अयोध्या आई। राज करहु आपन घर जाई॥"

तुलसीदास

हिन्दी-साहित्य में राम-कथा को एक लोक-व्यापी प्रसिद्ध कथा और राम को परम ब्रह्म के पूर्णावतार के रूप में प्रतिष्ठित करने का एकमात्र, सर्वप्रथम और अन्तिम श्रेय 'रामचरित मानस' के अमर रचयिता गोस्वामी तुलसीदास को ही है। राम-काव्य को पूर्ण उत्कर्ष इन्होंने प्रदान किया था और एक प्रकार से उनके बाद ही राम-काव्य समाप्त हो गया था। संसार के इतिहास में ऐसा एक भी दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता कि एक कवि ने किसी भाषा-विशेष में एक सर्वथा अछूते विषय को मौलिक

रूप से पहली बार अपने काव्य का विषय बनाया हो और फिर उसे उत्कर्ष, श्रेष्ठता प्रभविष्णुता और संवेदनशीलता की उस चरम सोमा तक पहुँचा दिया हो कि उसके उपरान्त कोई भी श्रेष्ठ, प्रतिभा सम्पन्न कवि उस विषय को अपनाने का साहस न कर सका हो और उस विषय का चरम उत्कर्ष उसी कवि के काव्य में मान लिया गया हो। गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी-साहित्य के ही नहीं, अपितु विश्व-साहित्य के ऐसे ही अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न लोकप्रिय और युग-निर्माता ही नहीं, युग-युग निर्माता कवि थे। इसी कारण 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास ने इन्हें 'कलिकाल का वाल्मीकि'; बिन्सेन्ट स्मिथ ने 'मुगल-काल का सबसे महान् व्यक्ति' तथा सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'बुद्धदेव के बाद सबसे बड़ा लोकनायक' माना था। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तुलसी की इसी महानता और अद्भुत काव्य-प्रतिभा से प्रभावित हो लिखा है—

"वैसे तो सगुणमार्गी रामभक्ति के क्षेत्र में भी महान् साधकों की कमी नहीं थी परन्तु साहित्य के माध्यम से इस साधना के प्रकाश के विकीर्ण होने में कुछ समय लगा। सन् ईसवी की सोलहवीं शताब्दी के अन्त में यह सुयोग प्राप्त हुआ। परन्तु जब वह प्राप्त हुआ तो उसे ऐसे शक्तिशाली महापुरुष का सहयोग मिला कि साधना के क्षेत्र के साथ ही साहित्य का क्षेत्र भी धन्य हो गया। विरले अवसरों पर ऐसा शुभ संयोग प्राप्त होता है जब मनुष्य के 'सर्वोत्तम' को प्रकट होने के लिए इस प्रकार भाव और भाषा का सहारा प्राप्त होता है।....तुलसीदास ऐसे ही असाधारण शक्तिशाली कवि, लोकनायक और महात्मा थे।....अत्यन्त विनम्र भाव, सच्ची अनुभूति के साथ अपने आराध्य पर अटूट विश्वास—उनके व्यक्तित्व के प्रधान तत्त्व हैं। आराध्य की ऐसी एकनिष्ठ भक्ति, ऐसा अनन्य विश्वास और इतनी अखंड आस्था संसार के इतिहास में दुर्लभ है। निरन्तर विषपान करने से जो व्यक्ति नील-कंठ हो गया था, उसके मुँह से आशा और विश्वास की यह अद्भुत वाणी निकली है।....अपने अखंड विश्वास और गम्भीर अध्ययन के योग से वे एकदम नवीन जगत् का निर्माण कर सके हैं।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते ही हैं। उन्होंने तुलसी का परिचय देते हुए लिखा है—

"यद्यपि स्वामी रामानन्दजी की शिष्य-परम्परा के द्वारा देश के बड़े भाग में रामभक्ति की पुष्टि निरन्तर होती आ रही थी और भक्त लोग फुटकल पदों में राम की महिमा गाते आ रहे थे, पर हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में इस भक्ति का परमोज्ज्वल प्रकाश विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी की वाणी द्वारा स्फुरित हुआ। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने भाषा-काव्य की सारी प्रचलित पद्धतियों के बीच अपना चमत्कार दिखाया। सारांश यह है कि रामभक्ति का वह परम विशद साहित्यिक सन्दर्भ इन्हीं भक्त-शिरोमणि द्वारा संघटित हुआ जिससे हिन्दी-काव्य की प्रौढ़ता के युग का आरम्भ हुआ।....वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सब के सौन्दर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्य वाणी में दिखाकर साहित्य क्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए।"

हिन्दी के विधेयवादी साहित्यिक इतिहास के सर्वप्रथम लेखक सर जार्ज ग्रियर्सन तुलसी की प्रतिभा से इतने अधिक अभिभूत हुए थे कि उन्होंने तुलसी को सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित करते हुए लिखा था—

"....शताब्दियों के तरु-राजि वेष्टित आन्तर पथ से पीछे दृश्यावलोकन करने पर हमें अपने उज्ज्वल प्रकाश में खड़ी हुई उसकी उदात्त प्रतिभा हिन्दुस्तान के रक्षक और पथ-प्रदर्शक के रूप में दिखाई देती है। जब हम तंत्रारोहित बंगाल के भाग्य के सम्बन्ध में अथवा रात्रि के उत्सव के रूप में मनाई जाने वाली उन चंचल यात्राओं के सम्बन्ध में सोचते हैं, जो कृष्ण-भक्ति के नाम पर निकाली जाती हैं, तब हम निश्चय ही और उचित रूप में इस महापुरुष की प्रशंसा करते हैं; जिसने बुद्ध के अनन्तर पहली बार मनुष्य को अपने पड़ोसियों के प्रति स्व-कर्त्तव्य सिखाया और अपने उपदेश को ग्रहण कराने में पूर्ण सफल भी हुआ।"

गोस्वामी तुलसीदास की ऐसी प्रशंसा इन विद्वानों ने अकारण ही नहीं की थी। तुलसी सचमुच ऐसे ही महान् और युग-प्रवर्त्तक महापुरुष थे। सदियों के बाद उनके रूप में भारत को एक ऐसा भाग्य-विधाता मिला था जिसने रूढ़ि-रोग-ग्रस्त पतनशील समाज का सही मार्ग-निर्देश कर उसे हताशा और परमुखापेक्षिता के भयंकर अन्धकार से बाहर निकाला था और उसे वह संजीवनी शक्ति प्रदान की थी जो उसकी प्राण-शिराओं में आज तक प्रवाहित हो रही है। ऐसा जागरूक समाज-द्रष्टा, स्नेहमयी सशक्त वाणी में उद्‌बोधन का अमर मंत्र देने वाला ऐसा युग-निर्माता भारत को सहस्रों सदियों उपरान्त मिला था। इसलिए तुलसी का महत्त्व मात्र साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अतुलनीय है। सम्भव है काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से तुलसी की समता करने वाला एकाध कवि मिल जाय, परन्तु साहित्यिक प्रभाव की दृष्टि से तुलसी अनुपम हैं, अद्वितीय हैं। सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में अभी तक ऐसे किसी भी दूसरे व्यक्तित्व के दर्शन नहीं हुए हैं, भविष्य में होंगे—इसे भविष्य जाने।

जीवन-वृत्त

ऐसे महान् तुलसी का प्रामाणिक जीवन-वृत्त अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया है और हो भी पाएगा—इसमें सन्देह है, क्योंकि अन्तःसाक्ष्य और बाह्य साक्ष्यों के रूप में अभी तक जो सामग्री—प्राचीन ग्रन्थों, किम्वदन्तियों, ऐतिहासिक उल्लेखों आदि के रूप में—प्राप्त हो सकी है, उसके आधार पर किसी निश्चित और सर्व-सम्मत प्रामाणिक निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव है। विशाल और लम्बे वाद-विवाद, विचार-मन्थन के उपरान्त भी अभी तक उनके जन्मस्थान, जन्म-तिथि, मृत्यु-तिथि, ग्रन्थ-संख्या आदि का कोई निश्चित निर्धारण नहीं हो पाया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस बात से खिन्न हैं कि इस विवाद के बवण्डर में पड़ जाने के कारण तुलसी-साहित्य का उचित मूल्यांकन करने में विद्वान् या तो असमर्थ रहे हैं या उन्होंने इस

ओर कम ध्यान दिया है। उन्होंने इस स्थिति से क्षुब्ध हो यथार्थ ही लिखा है कि—"नए-नए दावे और नई गढ़ी हुई अनुश्रुतियाँ इतिहास लेखक के मार्ग को निरन्तर कंटकाकीर्ण करती जा रही हैं। तुलसीदास के साहित्य के उन शक्तिशाली तत्त्वों की आलोचना गौण हो जाती है, जो इतने दिनों से लोक-चित्त को प्रभावित, उन्नीत और महिमान्वित करते रहे हैं, और केवल उनकी भौतिक काया के कपोल-कल्पित सम्बन्धों पर ही विचार मुख्य हो उठता है। झूठी पुस्तकों, अर्थहीन दावों और बेबुनियाद स्थापनाओं को महत्त्व देने का परिणाम यह हुआ कि नित्य नवीन दावों की बाढ़ आती जा रही है। इतिहास की पुस्तकों में ऐसी पुस्तकों की उपेक्षा ही वांछनीय है।"

वस्तुतः डा० द्विवेदी का उपर्युक्त कथन हमारे विचारकों और शोधकों की आँखें खोल देने वाला है। हम विभिन्न तिथियों, परस्पर विरोधी कवि-सम्बन्धी उल्लेखों आदि के जाल में इतने अधिक उलझ जाते हैं कि यह निर्णय करने के लिए कि तुलसी की मृत्यु श्रावण शुक्ला सप्तमी को हुई थी या श्रावण कृष्ण तीज को, अध्याय के अध्याय रंग डालते हैं और फिर भी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते। इसलिए यहाँ हम तुलसी के जीवन-वृत्त का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर उनके साहित्य का परिचय देने पर ही अधिक बल देंगे। अस्तु,

बाबा वेणीमाधवदास कृत 'मूल गोसाईं चरित' नामक ग्रन्थ में तुलसी की जन्म-तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी, सम्वत् १५५४ लिखी मिलती है। परन्तु विद्वान्‌गण इसे प्रामाणिक नहीं मानते। जनश्रुति के अनुसार पं० रामगुलाम द्विवेदी ने तुलसी का जन्म-सम्वत् १५८९ विक्रमी माना है। डा० ग्रियर्सन भी इससे सहमत थे। कूछ विद्वानों ने अन्य सम्वत् भी माने हैं। किसी निश्चित प्रामाणिक तिथि और सम्वत् के अभाव में तुलसी का आविर्भाव मध्य सोलहवीं सदी मान लेना चाहिए। हमारा काम उसी से चल सकता है। दस-बीस वर्ष का अन्तर कोई महत्त्व नहीं रखता क्योंकि दस-बीस वर्ष में युग में कोई भी उल्लेखनीय और अप्रत्याशित परिवर्तन होना असम्भव है। तुलसी ने 'रामचरितमानस' की रचना करना सम्वत् १६३१ में आरम्भ किया था—यह मानस की प्राचीन प्रतियों से प्रमाणित हो जाता है। अतः द्विवेदी जी के अनुसार इससे तीस-चालीस वर्ष पूर्व तुलसी का जन्म हुआ माना जा सकता है।

तुलसी के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी काफी विवाद रहा है। कुछ लोग उनका जन्म-स्थान अवध के राजापुर को मानते हैं और कुछ एटा जिले में स्थित प्रसिद्ध तीर्थ सोरों को। राजापुर उत्तर-प्रदेश के बाँदा जिले में स्थित है। बाँदा जिले के गजेटियर में तुलसी को सोरों से आया हुआ और राजापुर को बसाने वाला बताया गया है। जो कुछ भी हो, इन दोनों को तुलसी का जन्मस्थान सिद्ध करने वाले प्रमाण काफी सबल हैं, फिर भी कुछ लोगों ने राजापुर को ही तुलसी का जन्मस्थान सिद्ध कर दिया है और अब वहीं तुलसी की प्रस्तर प्रतिमा खड़ी कर तुलसी-स्मारक का निर्माण किया जा रहा है।

परिवार, बाल्यकाल और विद्याध्ययन

जनश्रुति के अनुसार इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। ज्ञाति के ये ब्राह्मण थे—चाहे सरयूपारीण रहे हों अथवा सनाढ्य या कान्यकुब्ज—इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। कहते हैं इनका जन्म अशुभ नक्षत्र में हुआ था और जन्म के समय इनके पाँच वर्ष के बालक के से दाँत और बाल थे। इसलिए माता-पिता ने इन्हें राक्षस और अपने लिए अशुभ समझ त्याग दिया था। तुलसी-साहित्य में प्राप्त अनेक उल्लेखों से यह प्रमाणित हो जाता है कि जन्म होते ही माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था और इनका बचपन बड़े कष्टों में व्यतीत हुआ था। यह भी सम्भव है कि जन्म होते ही इनके माता-पिता का देहान्त हो गया हो। इसलिए इन्हें पेट के लिए द्वार-द्वार भीख माँगनी पड़ी हो। कुछ बड़े होने पर नरहरिदास ने इन्हें अपने पास रख लिया और पढ़ाया-लिखाया। काशी निवासी महात्मा शेष सनातन ने इन्हें वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि में प्रवीण बना दिया। विद्याध्ययन के उपरान्त घर लौटने पर दीनबन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली के साथ इनका विवाह हो गया। कहा जाता है कि ये अपनी पत्नी के प्रति इतने अधिक आसक्त थे कि उसे क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ते थे। और अन्त में अपनी इसी आसक्ति के कारण इन्हें पत्नी से वह भर्त्सना मिली थी जिसने इनके हृदय में विरक्ति का भाव उत्पन्न कर दिया था और जिसने हिन्दी ही नहीं, भारत को एक युग-प्रवर्त्तक कवि और विचारक प्रदान किया था। तुलसी सम्बन्धी ये सारी घटनाएँ इतनी अधिक प्रसिद्ध हैं कि यहाँ इनका उल्लेख करना व्यर्थ है। रत्नावली-सम्बन्धी इस घटना को आधार बनाकर आधुनिक युग के महाकवि निराला ने 'तुलसीदास' नामक एक अनुपम, अद्वितीय खण्डकाव्य रच डाला था। अस्तु,

तुलसी के जीवन-सम्बन्धी उपर्युक्त बातों के सम्बन्ध में भी विद्वानों में यथारूप मतभेद कायम हैं। कोई कहते हैं कि तुलसी का विवाह ही नहीं हुआ था। और अपने मत के समर्थन में तुलसी की यह पंक्ति उद्धृत करते हैं—"ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं।" इससे यह अर्थ भी तो निकाला जा सकता है कि तुलसी के कोई सन्तान नहीं थी, इसलिए उन्हें उसके विवाह के लिए किसी की जाति-पाँति की अपेक्षा नहीं थी। उन्होंने यह भी तो कहा है—"काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब।" कुछ लोगों का यहाँ तक कहना है कि तुलसी ने एक ही नहीं, अपितु तीन-तीन विवाह किए थे। सत्य जो कुछ भी हो, परन्तु तुलसी-साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है उन्हें गृहस्थ-जीवन का गहरा—कटु और मधुर—दोनों प्रकार का अनुभव रहा था। हिन्दी-साहित्य के अनेक शीर्षस्थानीय कलाकारों के सम्बन्ध में किसी-न-किसी रूप में यह प्रवाद प्रचलित रहा है कि वे अपने आरम्भिक जीवन में नारी के प्रति गहरे रूप से आसक्त रहे थे और नारी द्वारा उपेक्षित किए जाने पर, मर्माहत हो भक्त बन गए थे। तुलसी, सूर, नन्ददास, घनानन्द आदि के सम्बन्ध में ऐसे प्रवाद प्रचलित रहे हैं। और इनकी सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। कलाकार स्वभाव से अतिवादी, दृढ़ और

अपने प्रति निर्मम होते हैं। जब कोई घटना उनके जीवन में भयंकर उथल-पुथल उत्पन्न कर देती है तो वे प्रतिक्रिया से त्रस्त हो एक अति की सीमा को त्याग दूसरी अति की सीमा तक जा पहुँचते हैं। बीच में खड़ा होना—उनके स्वभाव के विपरीत होता है। हमें इन कवियों के जीवन में ऐसी ही तीव्र प्रतिक्रियाओं की झलक मिलती है। अस्तु,

तुलसी भी पत्नी द्वारा भर्त्सना मिलने पर और इस भर्त्सना में राम-भक्ति की ओर उन्मुख होने का संकेत पाकर गृहत्याग विरक्त बन गए। विरक्त होने के उपरान्त इन्होंने खूब भ्रमण किया, ज्ञानार्जन और अध्ययन तथा साधु-महात्माओं का सत्संग किया। चित्रकूट, अयोध्या और काशी—इनके प्रिय स्थान रहे थे। अयोध्या में ही सम्वत् १६३१ में इन्होंने 'रामचरितमानस' का लिखना आरम्भ किया था। उनका शेष जीवन राम-भक्ति और साहित्य-साधना में ही व्यतीत हुआ था। इन्होंने अपने साहित्य में एक नवीन चिन्तन का, जो पूर्ववर्ती एवं संस्कृतज्ञों के रूढ़ चिन्तन से भिन्न था, प्रवर्त्तन किया था। एक ऐसे मानव-धर्म और उपासना-पद्धति का प्रचार किया था जो मानव मात्र की समता और मानसिक उपासना का विधान करने वाली थी। इससे काशी के रूढ़िवादी पंडित इनसे चिढ़ गए थे, और कहा जाता है कि—उन्होंने तुलसी को बहुत सताया था। नए चिन्तन और नई सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं का प्रतिपादन करने वाले महापुरुषों को सदैव रूढ़िवादियों का विरोध सहन करना पड़ता रहा है। वही तुलसी ने भी किया था। गांधी को तो धर्मान्ध रूढ़िवादियों ने गोली मार दी थी। तुलसी सब सहन करते रहे, परन्तु अपनी मान्यताओं से विचलित नहीं हुए।

तुलसी का अन्त समय बड़े कष्ट में बीता था। अम्लपित्त के वे शुरू से ही रोगी रहे थे जिसके कारण उनके सिर के सारे बाल झड़ गए थे। कहते हैं उनकी मृत्यु किसी महामारी, सम्भवतः प्लेग (ताऊन) में हुई थी। उससे पूर्व उनकी बाँह में भयंकर पीड़ा उठी थी। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने इस भयंकर बाहुशूल के शमन के लिए हनुमान की स्तुति करते हुए 'हनुमान बाहुक' की रचना की थी। फिर यह पीड़ा उनके सम्पूर्ण शरीर में व्याप गई थी। उन्होंने स्वयं लिखा था—''पाँय पीर, पेट पीर, बाहु पीर, मुँह पीर, जर्जर सकल शरीर पीर मई।'' डा० द्विवेदी इस बीमारी को प्लेग की बीमारी मानते हैं और उनके अनुसार इसी बीमारी में तुलसी की मृत्यु हुई थी। तुलसी ने अपनी रचनाओं—'दोहावली' और 'कवितावली' में एक महामारी का वर्णन किया है और इस सम्बन्ध में दो तिथियों का उल्लेख किया है—'रुद्र बीसी' और 'मीन का शनि।' जैसे—रुद्रबीसी का उल्लेख—

'अपनी बीसी आपही, पुरिहि लगाए हाथ।
केहि विधि बिनती बिस्व की, करौं बिस्व के नाथ॥'—दोहावली

मीन के शनि का उल्लेख—

'एक तौ कराल कलिकाल, सूल मूल तामें ।
कोढ़ में की खाजु सी, सनीचरी है मीन की ।।"—कवितावली

ज्योतिष की गणनानुसार रुद्रबीसी और मीन के शनि का सम्मिलित प्रकोप सम्बत् १६७१ में पड़ता है । यदि इस सम्मिलित प्रकोप को प्लेग की महामारी मान लिया जाये तो तुलसी की मृत्यु इसी वर्ष हो जानी चाहिए थी । परन्तु अन्य प्रमाणों के अनुसार उनका निधन सम्वत् १६८०, श्रावण सुदी ३, शनिवार को हुई मानी जाती है । अर्थात् महामारी के नौ वर्ष उपरान्त । अतः इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तुलसी को महामारी का प्रकोप तो सहना पड़ा था परन्तु उसमें उनकी मृत्यु नहीं हुई थी । उन्होंने 'हनुमान बाहुक' की रचना उसकी पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए ही की थी और अपनी परवर्ती रचनाओं में उसी महामारी का वर्णन किया था । इससे यह भी सिद्ध होता है कि 'दोहावली' और 'कवितावली' उनके परवर्ती अन्तिम समय की अर्थात् सम्वत् १६७१ के बाद की रचनाएँ थीं ।

तुलसी के जीवन-सम्बन्धी बाह्य साक्ष्य

तुलसी के बाद हिन्दी में कुछ ऐसे ग्रन्थ रचे गए थे, जिनमें तुलसी के जीवन-सम्बन्धी सामग्री मिलती है । इनमें तीन रचनाएँ प्रधान मानी जाती हैं—(१) नाभा-दास का 'भक्तमाल', (२) गोस्वामी गोकुलनाथ की 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' तथा (३) बाबा वेणीमाधव दास कृत 'मूल गोसाईं चरित' । एक ऐसी ही अन्य रचना का भी उल्लेख मिलता है—बाबा रघुवरदास कृत 'तुलसी चरित' । परन्तु इन ग्रन्थों में दिए गए सम्वत्, घटनाएँ आदि प्रामाणिक सिद्ध नहीं होते । इनमें प्रक्षिप्त अर्थात् बाद में बढ़ाए गए अंश इतने अधिक हैं कि उनसे अनेक भ्रान्तियों की सृष्टि हुई है; जैसे—तुलसी और प्रसिद्ध कृष्णभक्त नन्ददास का परस्पर भाई होना, सूरदास का गोस्वामी गोकुलनाथ का पत्र लेकर तुलसी से मिलना—आदि । हमारी समझ में यह कार्य उन परवर्ती भक्तों द्वारा किया गया है जो इन महापुरुषों का आपस में सम्बन्ध जोड़ किसी को श्रेष्ठ और किसी को उससे छोटा सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे थे । इस सम्बन्ध में अनेक किम्वदन्तियों, दोहों आदि के ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किए जाते रहे हैं, जिनसे किसी उचित निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव है । अस्तु,

तुलसी-रचित साहित्य

वैसे तो तुलसी द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या लगभग ३०-३५ कही जाती है, परन्तु विद्वानों ने उनके निम्नलिखित १२ ग्रन्थों को ही प्रामाणिक माना है—(१) राम-चरितमानस, (२) रामलला नहछू, (३) वैराग्य संदीपनी, (४) बरवै रामायण, (५) पार्वती मंगल, (६) जानकी मंगल, (७) रामाज्ञा प्रश्न, (८) दोहावली, (९) कविता-वली, (१०) गीतावली, (११) कृष्ण गीतावली, (१२) विनय-पत्रिका ।

इनके अतिरिक्त कुछ लोग 'हनुमान बाहुक' तथा 'कलिकाल धर्म निरूपण' को भी इनकी प्रामाणिक रचनाएँ मानते हैं। 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास ने तुलसी द्वारा रचित सात रामायणों का उल्लेख किया है—"त्रेता काव्य निबन्ध करी सत-कोटि रामायण।" इस पंक्ति के आधार पर ये सात रामायणें मानी गई हैं—'छप्पय-रामायण', 'वरवै रामायण', 'कड़खा रामायण', 'रोला रामायण', 'झूलना रामायण', 'कुण्डलियाँ रामायण', और 'दोहा रामायण'। इन नामों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका नामकरण इनमें प्रयुक्त छन्दों के आधार पर किया गया है। तुलसी की संदिग्ध रचनाओं में अंकावली, बजरंगवाण, भरत मिलाप, हनुमान चालीसा, हनुमान पंचक, भाषा गीता, आदि का उल्लेख किया जाता है।

'हनुमान बाहुक' को कुछ लोग एक स्वतंत्र रचना मानते हैं और कुछ 'कवितावली' का ही परिशिष्ट। 'कवितावली' की अधिकांश प्राचीन प्रतियों में यह अन्त में जुड़ा हुआ मिलता है। इसके अतिरिक्त 'कवितावली' के उत्तरकांड में 'बाहुक' के अनेक अंश उपलब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार 'बाहुक' को एक स्वतंत्र रचना स्वीकार करना सन्देहास्पद है। 'कलिकाल धर्म निरूपण' को डा० रामकुमार वर्मा आदि कुछ ही लोग प्रामाणिक मानते हैं, अन्य नहीं।

तुलसी रचित उपर्युक्त बारह प्रामाणिक ग्रन्थों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : (१) प्रबन्ध काव्य, तथा (२) मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत—रामचरितमानस, रामलला नहछू, पार्वती मंगल, और जानकी मंगल आते हैं, शेष अन्य आठ रचनाएँ मुक्तक हैं। इन आठ मुक्तक रचनाओं के भी दो भेद किए जा सकते हैं—गीतिकाव्य, तथा मुक्तक काव्य। गीतिकाव्य में गीतावली, कृष्ण गीतावली, और विनय-पत्रिका, तथा मुक्तक काव्य के अन्तर्गत वैराग्य संदीपनी, वरवै रामायण, रामाज्ञा प्रश्न, दोहावली, कवितावली की गणना की जा सकती है।

तुलसी-साहित्य का मूल काम्य

तुलसी ने उपर्युक्त रचनाओं में से, योजनाबद्ध रूप से और पूर्ण मनोयोग के साथ केवल दो ही ग्रन्थों की रचना की थी—'रामचरित मानस' और 'विनयपत्रिका'। इन दोनों ही रचनाओं में एक निश्चित रचना-विधान और क्रम मिलता है। इनमें से 'मानस' प्रत्यक्ष रूप में लोक-जीवन को साथ लेकर चला है और 'विनयपत्रिका' कवि के व्यक्तिगत साधनात्मक भक्त-रूप को लेकर। और तुलसी के विशाल, विराट व्यक्तित्व का रूप इन दोनों के सम्मिलन से ही स्पष्ट हो पाता है, एकाकी रूप में नहीं। 'मानस' उनके लोकनायक रूप का प्रतिनिधित्व करता है, और 'विनयपत्रिका' उनके उस भक्त-रूप का उद्घाटन करती है—जो मानव मात्र के कल्याण के लिए अहर्निशि व्याकुल रह साधना का सरलतम मार्ग प्रस्तुत करने में प्रयत्नशील है। 'मानस' में कवि व्यासगद्दी पर आसीन हो एक युग-द्रष्टा के स्वर में समाज का नियमन करता दिखाई देता है, और 'पत्रिका' में वही उस उच्चासन से नीचे उतर,

मानव के अन्तस में प्रवेश कर उसके 'शुभ' को उभारने का अप्रत्यक्ष प्रयत्न करता है। यहाँ वह कहीं-कहीं विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का भी विवेचन करता दिखाई पड़ता है, परन्तु शीघ्र ही इस दार्शनिक ऊहापोह से दूर हट मानव-मन के शुद्धिकरण द्वारा मानव-कल्याण का सन्देश देता है। और इस शुद्धिकरण के लिए उसके पास केवल एक ही अमोघ-मंत्र है—'राम' का मानसिक चिन्तन। इससे ही मन अपने सम्पूर्ण विकारों को त्याग पूर्ण मानव बन सकता है। और इस स्थिति को ही तुलसी राम द्वारा अपनाए जाने की स्थिति और मानव का एकमात्र काम्य मानते हैं। उन्होंने इस स्थिति के लक्षण बताते हुए 'विनयपत्रिका' में लिखा है—

'तुम अपनायो तब जानि हौं जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाव विषयनि लग्यो, तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि, छल करिहै॥
सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरिहै।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँ विधि चातक ज्यों एक टेकते नहिं टरिहै॥
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।
हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित, हित अनहित कलि-कुचाल-परिहरिहै॥
प्रभु-गुन सुनि मन हरषिहै, नीर नयननि ढरिहै।
तुलसिदास भयो राम को विस्वास प्रेम लखि आनन्द उमगि उर भरिहै॥'

आदर्श मानव, पूर्ण मानव की कल्पना तुलसी ने अपनी इस एकमात्र कामना के माध्यम से की है—

'कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें सन्त सुभाव गहौंगो॥
जथालाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो॥
विगत मान, सम सीतल मन, परगुन, नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह-जनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरि-भक्ति लहौंगो॥'

यदि मानव इस आदर्श के अनुरूप अपने को ढाल ले तो विश्व स्वर्ग की तुलना में लाखों गुना अधिक स्पृहणीय और रहने योग्य बन जाय। 'मानस' में तुलसी ने एक स्थान पर यह पंक्ति लिखी है—'परहित सरिस धरम नहिं भाई।' और यही पंक्ति तुलसी के सम्पूर्ण साहित्य, सम्पूर्ण भक्ति और सम्पूर्ण कामना का निचोड़ है। यही उनका मानवतावाद है जो जीवन के विविध क्षेत्रों में संकुचित धर्म की सीमा पार करता हुआ विशाल और विस्तृत, सार्वभौम रूप धारण कर लेता है। यही तुलसी

की असली साधना-पद्धति है जो मानव को निरन्तर लघु से विराट की ओर उन्मुख करने की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करती रहती है।

जब व्यक्ति और समाज का पार्थक्य समाप्त हो जाता है, जब दोनों आपस में घुलमिल कर एकाकार हो जाते हैं, तभी सामाजिक-न्याय और व्यक्तिगत चरमोपलब्धि की सम्भावना प्रकट होती है। विश्व के महामानव अद्यावधि इसी की स्थापना का प्रयत्न करते आए हैं और तुलसी-साहित्य में हमें इसी प्रयत्न के दर्शन होते हैं। इसीलिए तुलसी महामानव थे। और वे महामानवों की उस लम्बी परम्परा से भिन्न भी थे। इस भिन्नता का कारण यह था कि उन्होंने अपनी बात साहित्य के सरस माध्यम से कही थी, कान्ता सम्मित आत्मीयतापूर्ण ढंग से कही थी। इसीलिए तुलसी आज भी उसी प्रकार लोकप्रिय, प्रभावशाली और लोक बन्द्य हैं जैसे कि अपने युग में रहे होंगे। आज तीन लम्बी सदियाँ बीत जाने पर भी उनके प्रभाव में रंचमात्र भी अन्तर नहीं आ पाया है। उनकी इस अद्भुत लोक-प्रियता का रहस्य उनके उस सरस साहित्य में छिपा हुआ है जो उदात्त, सुन्दर, सरस, कलापूर्ण और अनुपम प्रेरणा प्रदान करने वाला है।

परम्पराशीलता

तुलसी की इस अद्भुत सफलता और प्रभाव का एक और रहस्य भी रहा है। लोक और व्यक्ति के कल्याण की कामना कबीर आदि सन्तों में भी अत्यन्त प्रबल थी। इसीलिए उन्होंने हर स्तर पर सामाजिक अन्याय का विरोध किया था। परन्तु उनका यह विरोध 'अराजकतावादी' पद्धति का विरोध था, जिसमें अशुभ के विध्वंस की उग्र कामना और शक्ति तो होती है परन्तु स्वस्थ निर्माण की चेतना और ढंग नहीं होता। इसलिए वह विद्रोह का बिगुल तो फूँक सकती है परन्तु उसका नियमन नहीं कर पाती। कबीर ने विद्रोह का शंख तो फूँक दिया था परन्तु उस विद्रोह के परिणामों को संयमित कर उन्हें एक स्वस्थ निर्माण का स्वरूप देने वाला मंत्र नहीं सीख पाया था। और तुलसी उस मंत्र के द्रष्टा और प्रयोक्ता थे। इस प्रकार हम तुलसी को कबीर का पूरक मान सकते हैं। कबीर ने जिस कार्य को आरम्भ किया था, तुलसी ने उसे संयमित, संतुलित रूप में उसकी अत्यधिक उग्रता और उश्रृंखलता का शमन कर एक स्वस्थ निर्माण का रूप प्रदान कर दिया था।

तुलसी इस कार्य को करने में क्यों समर्थ हो सके थे, इसका रहस्य भारतीय चिन्तन की उस विशाल चिन्तन-परम्परा के अनुगमन में निहित था, जिसकी कबीर ने अवहेलना की थी। और वह परम्परा थी—मर्यादाश्रित चिन्तन की। तुलसी ने परम्परा से कट कर, उसकी अवहेलना कर, कोई ऐसी नई बात नहीं कही थी जो समाज को चौंका देती। उन्होंने बातें तो लगभग वही कही थीं जो उनके पूर्वज सदियों से कहते आये थे परन्तु केवल एक परिवर्तन कर दिया था कि उन्हें युग की बदलती हुई परिस्थितियों के लिए उपादेय और व्यावहारिक बनाकर कहा था।

कहने में यह बात जितनी सरल मालूम पड़ती है, व्यवहार में उतनी ही कठिन और जटिल बन जाती है। इसलिए इसे क्रियात्मक रूप प्रदान करने के लिए अद्भुत प्रतिभा, अनुपम सारग्राहिणी और समन्वयात्मक दृष्टि और गहन अध्ययन तथा ज्ञान की अपेक्षा होती है। और तुलसी इन गुणों से विभूषित थे। उनकी अद्भुत प्रतिभा ने उनकी बात को कलात्मक, सरल रूप प्रदान किया था; उनकी सारग्राहिणी दृष्टि ने विविध मत-मतान्तरों, उपासना-पद्धतियों, वैचारिक-परम्पराओं के विशाल बीहड़ वन में से शुभ की संजीवनी ढूँढ़ निकाली थी और अपनी समन्वयशीलता की अद्भुत क्षमता द्वारा उसे सबके लिये ग्राह्य बना दिया था। और यह सब सम्भव होता है विस्तृत अध्ययन और ज्ञानार्जन द्वारा। तुलसी इस क्षेत्र में सर्वमान्य प्रमाणित हुए थे।

उन्होंने कबीर आदि के समान पूर्व-परम्पराओं का निरादर नहीं किया था। वेद, शास्त्र, पुराण, काव्य आदि को उनका उचित महत्व प्रदान करते हुए एक ऐसे नवीन लोक-धर्म का निर्माण किया था जो समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों के लिए उपादेय और कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने वाला था। इसी कारण उन्हें लोकनायक और लोकद्रष्टा कहा गया है। यदि तुलसी भी कबीर की भाँति परम्परागत-चिन्तन, सामाजिक मान्यताओं का उग्र विरोध कर एक परम्परा-विरोधी, सशक्त चिन्तन से रहित आधार वाले नए लोक-धर्म की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न करते तो उन्हें इतनी अप्रत्याशित सफलता न मिल पाती। उन्होंने परम्परागत चिन्तन को ही नवीन युग की नई परिस्थितियों और उनसे उद्भूत नवीन जीवन-मूल्यों के अनुरूप नया रूप प्रदान किया था। यही उनकी मौलिकता थी।

दार्शनिक सिद्धान्त

तुलसी की इस मौलिकता को समझने के लिए हमें पहले उनके दार्शनिक-सिद्धान्त को समझ लेना चाहिए। इस सम्बन्ध मे विद्वानों में बहुत मतभेद है। कोई उन्हें अद्वैतवादी मानता है, कोई विशिष्टाद्वैतवादी। पंडित गिरिधर शर्मा, डा० बल्देव प्रसाद मिश्र, पंडित श्रीधर पन्त आदि उन्हें अद्वैतवादी; और आचार्य शुक्ल, वियोगी हरि, रामकुमार वर्मा, बाबू गुलाबराय आदि विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं। परन्तु स्वयं तुलसी ने इनमें से किसी भी एक वाद का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं किया है। वे समस्त प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तों को आंशिक सत्य का ही प्रतिपादक मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

'कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि माने।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचाने।।'

अर्थात् जगत को सत्य, मिथ्या, और सत्य तथा मिथ्या का मिश्रण मानने वाले तीनों ही मत भ्रमात्मक हैं। जो साधक इन तीनों प्रकार के भ्रमों से मुक्ति पा जायेगा वही अपने असली आत्म-स्वरूप को पहचान सकेगा। अर्थात् आत्मज्ञान केवल भक्ति द्वारा

ही सम्भव है । यहाँ तुलसी स्पष्टतः अद्वैत और विशिष्टाद्वैत तथा द्वैताद्वैत आदि सिद्धान्तों का खंडन कर रहे हैं ।

तुलसी-साहित्य में अनेक ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती हैं जिन्हें उद्धृत कर विद्वानों ने उन्हें विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का अनुयायी सिद्ध कर दिया है परन्तु तुलसी की उपर्युक्त दो पंक्तियाँ इसका विरोध कर रही हैं । वे सम्पूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों को एकांगी, अतः भ्रम में डाल देने वाला, मानते हैं । वे मानव का सही मार्ग-निर्देश न कर उसे सत्य का आंशिक, एकांगी रूप दिखाकर ही उसे पूर्ण सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं । यही इन सिद्धान्तों की अपूर्णता अतः निर्बलता है । तुलसी के अनुसार पूर्ण सत्य केवल राम हैं । और उन्हें निर्मल, निष्काम भक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । और भक्ति का मूलाधार है—सत्संग, सदाचार, परोपकार, आराध्य के प्रति अनन्यता तथा लोक-कल्याण । इस प्रकार तुलसी मानव को विभिन्न, परस्पर विरोधी तर्कों पर आधारित दार्शनिक सिद्धान्तों के मायाजाल से मुक्त कर उसे भक्ति के विस्तृत, सुगम, निर्विघ्न राजपथ का अनुसरण करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं । उनके अनुसार सदाचार पर आधारित भक्ति ही मानव-जीवन की चरम उपलब्धि है । तुलसी भक्ति और सदाचार को अन्योन्याश्रित बना देते हैं । यही उनकी मौलिक देन है ।

यहाँ यह शंका उठ खड़ी होती है कि यदि तुलसी इन विभिन्न दार्शनिक-सिद्धान्तों को भ्रामक मानते थे तो उनके काव्य में हमें कहीं-कहीं इन सिद्धान्तों की झलक क्यों मिल जाती है ? परन्तु हम पीछे कह आए हैं कि तुलसी इन्हें पूर्णतः भ्रामक न मानकर आंशिक रूप से ही सत्य मानते थे। प्रत्येक सिद्धान्त में सत्य का न्यूनाधिक अंश अवश्य रहता है । और तुलसी सत्य के संग्रहकर्त्ता थे । इसलिए उन्होंने प्रचलित सिद्धान्तों की अच्छी बातों को स्वीकार कर, उनके भ्रम उत्पन्न करने वाले अंशों का ही विरोध किया है । उन्होंने अद्वैतवाद के कुछ सिद्धान्तों द्वारा संसार की असारता सिद्ध की परन्तु उसकी सम्पूर्ण स्थापनाओं को स्वीकार नहीं किया । इस प्रकार तुलसी ने सम्पूर्ण दार्शनिक-सिद्धान्तों का मंथन कर जो भक्ति रूपी नवनीत निकाला, वही उनका एकमात्र सिद्धान्त था ।

तुलसी का सम्प्रदाय

कुछ विद्वानों ने यह प्रश्न भी उठाया है कि तुलसी किस सम्प्रदाय के अनुयायी थे ? कुछ उन्हें 'स्मार्त वैष्णव' मानते हैं और यह प्रमाण देते हैं कि तुलसी ने जिस दिन 'रामचरितमानस' का लिखना आरम्भ किया था, उस दिन स्मार्तों की रामनवमी थी, न कि वैष्णवों की । इसके विपरीत वियोगी हरि उन्हें रामानन्दी सम्प्रदाय के श्रीवैष्णव मानते हैं, न कि स्मार्त वैष्णव । रामानन्दी सम्प्रदाय के रामनाम और राम-भक्ति को स्वीकार करने के कारण कोई भले ही उन्हें रामानन्दी-सम्प्रदाय का श्रीवैष्णव मान ले परन्तु वास्तविकता यह है कि तुलसी जैसे महामानव किसी भी

व्यक्ति, पंथ, मत, सम्प्रदाय विशेष के अन्धानुयायी न होकर स्वतन्त्र विचारक, शुभ का संग्रह करने वाले और शुभ के एक नितान्त सर्वग्राह्य स्वरूप की मौलिक उद्भावना करने वाले होते हैं। जिस प्रकार सूर में पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का नीरस पिष्ट-पेषण नहीं मिलता, उसी प्रकार तुलसी में भी किसी विशिष्ट सम्प्रदाय से बँधकर रहने की प्रवृत्ति नहीं मिलती।

तुलसी का मत

तुलसी एक उदार विचारक थे। इसी कारण सम्प्रदाय आदि की वैचारिक संकीर्णता उन्हें पसन्द नहीं थी। उन्होंने ऐसे लोगों की खूब भर्त्सना की है जो पंथों या सम्प्रदायों का निर्माण किया करते हैं—

'श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, संजुत बिरति बिवेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥'

इस दोहे में तुलसी ने एक तरफ तो पंथों अथवा मतों की कल्पना करने वालों को मोहग्रस्त अर्थात् मूढ़ कहा है, और दूसरी ओर अपने सिद्धान्त—हरिभक्ति की ओर संकेत भी कर दिया है। तुलसी का साधना-मार्ग है—विवेक और वैराग्य से संयुक्त श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ। यही तुलसी का मत है। इस पन्थ को अन्य पन्थों की कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इसके लिए किसी भी प्रकार के साम्प्रदायिक विधि-विधान की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए अपने परम्परागत धर्म या सम्प्रदाय को छोड़ना भी जरूरी नहीं है। यह मत इतना व्यापक है कि इसमें सभी धर्मों, मतों आदि का सार सन्निविष्ट हो जाता है और फिर भी यह अपनी मौलिक विशेषताओं को भी बनाए रखता है।

इस मत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें बुद्धि और हृदय अर्थात् ज्ञान और भावना—दोनों का सन्तुलित समन्वय हुआ है। बुद्धिवादियों के लिए ज्ञान की गम्भीर विवेचना तथा रहस्यात्मकता का समावेश है और भावनावादियों के लिए भक्ति की निर्मल गंगा प्रवाहित हो रही है। तुलसी ही इस तथ्य की घोषणा कर सके थे कि—

'ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव सम्भव खेदा॥'

बुद्धिवादी प्रायः किसी मत की बाह्याचार सम्बन्धी क्रियाओं का ही विरोध करते हैं। तुलसी ने राम-नाम का जाप करने के अतिरिक्त अन्य किसी भी बाह्य विधि-विधान की बात नहीं कही है। सर्वत्र उनका यही प्रयत्न रहा है कि कहीं भी पाखंड को प्रश्रय देने वाली बात न आ जाय।

मूल रूप से शंकर के अद्वैतवाद में सभी धर्मों का सार आ जाता है। तुलसी-मत और शंकर-मत में प्रधान अन्तर यह है कि शंकर का साध्य—मुक्ति और साधना ज्ञानाश्रित भक्ति है किन्तु तुलसी के लिए भक्ति ही साध्य और साधन—दोनों ही है।

कुछ बुद्धिवादियों का कहना है कि तुलसी ने राम की पाप-नाशकता पर जोर देकर पापियों को पाप करने की खुली छूट दे दी है। पर तथ्य इसके विपरीत है। तुलसी ने स्पष्ट लिखा है—

'करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना ॥
काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ और असुभ करम फलदाता ॥'

तुलसी मोह को सारे पापों का मूल कारण मानते हैं—'मोह सकल पापन कर मूला।' इसलिए उन्होंने अपनी पूर्ण मेधा-शक्ति द्वारा पापों से छूटने का उपाय बताने का प्रयत्न किया है।

हम पीछे कह आए हैं कि तुलसी-मत में ज्ञान और भवना का समन्वय है। भावना के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

१. अभीष्ट विषय के प्रति एकाग्रता,
२. विघ्न-बाधाओं में भी अडिग भाव से उस एकाग्रता को बनाए रखना, तथा
३. विरोधी विषयों के परित्याग के लिए पर्याप्त मनोबल अर्थात् आत्म-निग्रह का होना।

इन सबके लिए तुलसी ने चातक के प्रेम को आदर्श माना है। प्रेम में चातक की सी अनन्यता, कष्ट-सहिष्णुता और सहजता होनी चाहिए। साथ ही इसमें लोक-कल्याण की भावना का होना अनिवार्य है। बिना लोक-कल्याण-भावना के व्यक्ति सीमित, संकीर्ण और आदर्शहीन हो जायेगा। और लोक-कल्याण के लिए विवेक और वैराग्य का होना आवश्यक है, क्योंकि अविवेक और आसक्ति से जब जीव का ही कल्याण नहीं हो सकता तो लोक का कल्याण क्या होगा। इसलिए तुलसी की राम-भक्ति में विवेक और वैराग्य के तत्त्वों का समावेश हो जाने से लोक-कल्याण का साधन स्वतः ही समाविष्ट हो जाता है।

तुलसी-मत की एक विशेषता यह भी है कि वह सनातन हिन्दू-धर्म का विशुद्ध रूप है। सनातन धर्म बड़ा व्यापक है क्योंकि उसमें भारतीय संस्कृति और मानव-धर्म—दोनों परस्पर घुल-मिल कर एकाकार हो जाते हैं। मानवता ही उसका आधार है। तुलसी-मत मानव के सीमित क्षेत्र से भी अधिक व्यापक बन जीव-मात्र को अपनी परिधि में समेट लेता है। यहीं तक नहीं, वह जीव के साथ जड़ में भी राम के स्वरूप के दर्शन करता है—

'जड़ चेतन जग जीव गत, सकल राममय जानि।
बन्दउ सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि ॥'

तुलसी ने वर्णाश्रम-धर्म और ब्राह्मण-पूजा की ओर भी संकेत किया है। परन्तु इसके कारण तुलसी को ब्राह्मणवादी या रूढ़िवादी सिद्ध नहीं किया जा सकता। तुलसी ने इस बात की स्पष्ट चर्चा की है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि स्व-कर्त्तव्य-च्युत

हो अनाचारी हो उठे हैं, इसीलिए वर्णाश्रम-धर्म की पुनः स्थापना आवश्यक है। तुलसी जातिगत वैषम्य से ऊपर उठ राम-भक्त को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, फिर चाहे वह शूद्र हो या ब्राह्मण—

'स्वपच, सवर, खस, जमन, जड़, पाँवर, कोल, किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात॥
कोटि विप्र वध लागइ जाहू। आए सरन तजउँ नहिं काहू।
कह रघुपति सुनि भामिनि बाता। मानहुँ एक भगति करि नाता॥'

इन वाक्यों को पढ़कर भी यदि कोई तुलसी को ब्राह्मणवादी या रूढ़िवादी कहे तो उसकी बुद्धि पर तरस आता है।

तुलसी-मत इसकी आज्ञा नहीं देता कि लोग अज्ञात स्वर्ग के सुखों की आशा में लोक-कर्त्तव्यों को भुला दें। वह सदाचार पर आश्रित ऐसा मत है जहाँ साधुमत और लोकमत का समन्वय हो जाता है। उसका प्रचार ही लोक-कल्याण की दृष्टि से किया गया है। लोक की सेवा ही प्रभु की सेवा है, और यह भावना बिना शील के नहीं आ सकती। इसलिए तुलसी ने शील पर ही अधिक बल दिया है। आचार्य शुक्ल ने शील की परिभाषा देते हुए कहा है—"शील हृदय की वह स्थायी स्थिति है जो सदाचार की प्रेरणा आप ही आप करती है।" ऐसे शील की प्रतिष्ठा होने से ही हृदय में स्वतः ही ऐसी प्रेरणा उत्पन्न होती है जो समस्त वैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष से बचकर आत्म-कल्याण के साथ लोक-कल्याण की ओर प्रेरित करती है।

सारांश यह है कि तुलसी-मत में हरि-भक्ति प्रधान है और हरि-भक्ति ऐसी है जो श्रुतिसम्मत तथा वैराग्य और विवेक से संयुक्त हो मानव ही नहीं, जीवमात्र के कल्याण की साधिका बन जाती है। उसमें व्यक्ति और मानव-धर्म के मूल सिद्धान्तों का कल्याणकारी समन्वय हो जाता है। साहित्य को लोक-कल्याण का विधायक मानने वाले शुक्लजी ने इसी कारण तुलसी-साहित्य को अपना निकष स्वीकार कर समस्त हिन्दी-साहित्य का उसी के आधार पर मूल्यांकन किया था और तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया था। काव्य-सौन्दर्य का अपना मूल्य होता है, प्रभाव होता है, परन्तु जब काव्य-सौन्दर्य लोक-कल्याण-विधायक बनकर आता है तब उसका मूल्य और सौन्दर्य अनुपम और अमूल्य हो जाता है। तुलसी-साहित्य ऐसा ही है। काव्य-रसिक उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होते रहे हैं और जागरूक चिन्तक उसके लोक-कल्याण-विधायक रूप का गुणगान करते आए हैं। यही तुलसी के व्यापक प्रभाव का रहस्य है।

समन्वय-भावना

तुलसी-साहित्य की एक अनन्य विशेषता यह है कि उन्होंने जीवन और काव्य दोनों ही क्षेत्रों में अद्‌भुत सहिष्णुता और समन्वय-शक्ति का परिचय दिया है।

इसी कारण उन्हें लोकनायक माना गया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—"उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय, 'रामचरितमानस' शुरू से आखिर तक समन्वय-काव्य है।" समन्वयों के इन घटाटोप में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तुलसी समझौतावादी नहीं थे। अशुभ या अग्राह्य के साथ उन्होंने कभी भी समझौता नहीं किया था। और यदि कहीं समझौता किया भी है तो अपनी मान्यता को ही सर्वोपरि रखा है। हम पहले कह चुके हैं कि तुलसी शुभ के संग्राहक थे। उन्होंने जहाँ भी शुभ के दर्शन पाए, उसे समेट लिया। और इस विशाल संग्रह द्वारा अपने साहित्य के माध्यम से उस विराट शुभ का रूप प्रस्तुत किया जो व्यक्ति और लोक—दोनों का समान रूप से शुभ-कर्त्ता बना।

लोकनायक उसे माना जाता है जो सामयिक सम्पूर्ण परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन कर समाज की घातक प्रचलित मान्यताओं का विरोध करता है और एक नवीन, स्वस्थ लोक-जीवन का आदर्श प्रस्तुत कर समाज का सही मार्ग-निर्देश करता है। वह प्राचीन प्रचलित घातक मान्यताओं का निराकरण कर समय के अनुकूल नवीन, उचित और लोक-कल्याणकारी मान्यताओं की स्थापना करता है। उसके इस शुभ प्रयत्न में अपने युग के कल्याण के साथ युग-युग के कल्याण की कामना निहित रहती है। इसीलिए वह भविष्य को भी प्रभावित करने में समर्थ होता है। तुलसी ऐसे ही लोकनायक थे। उन्होंने अपने 'मानस' द्वारा लोक-जीवन का वह आदर्श रूप संघटित किया था जो आज भी प्रेरणा का अजस्र स्रोत बना हुआ है।

तुलसी-कालीन परिस्थितियाँ

तुलसी को एक नए लोक-धर्म की स्थापना करने की प्रेरणा उनकी समसामयिक परिस्थितियों ने प्रदान की थी। वे परिस्थितियाँ अत्यन्त विषम थीं और साधारण-जन त्रस्त और परेशान थे। इतिहासकारों ने अकबर के शासन-काल को समृद्धि और शान्ति का युग माना है। परन्तु सामन्तवादी शासन-व्यवस्था शासक-वर्ग की ही समृद्धि और शान्ति की विधायक होती है। साधारण जनता शोषण, अत्याचार, अभाव और विभिन्न प्रकार की विकृतियों की ही शिकार बनी रहती है। अकबर का युग भी ऐसा ही था और तुलसी अकबर के लगभग समकालीन थे। उस युग का शासक और उच्च वर्ग विलासिता, कला-साधना आदि में व्यस्त रहता था या युद्ध करने में। और इन सारे कार्यों के लिए धन प्राप्त करता था—जन-साधारण का शोषण करके। इसलिए जनता त्रस्त और दुःखी थी। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए तुलसी की ये चार पंक्तियाँ पर्याप्त होंगी—

'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न, चाकर को चाकरी।

जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बंस,
कहैं एक-एकन सौं, कहाँ जाँय का करी ।।'

तुलसी की उपर्युक्त पंक्तियाँ अकबर-कालीन तथाकथित समृद्धि का नंगा रूप प्रस्तुत कर देती हैं। जनता त्रस्त और दुखी थी परन्तु उसका कोई मार्ग-निर्देश नहीं कर रहा था। धर्म के अन्य ठेकेदार—हठयोगी, विभिन्न सन्त-सम्प्रदाय, रूढ़िवादी धर्मध्वज आदि परम्पराओं के प्रति अवज्ञा की भावना उत्पन्न कर, चमत्कारों तथा अन्य साधारण उपायों द्वारा जनता को प्रभावित कर अपने-अपने मत में दीक्षित करने का प्रयत्न कर रहे थे। कबीर आदि सन्तों के उत्तराधिकारी भी पथ-भ्रष्ट हो चुके थे। कृष्ण-भक्त समाज की उपेक्षा कर व्यक्तिगत भक्ति-भावना में डूबे रहते थे। जनता के वास्तविक दुःखों और समस्याओं की किसी को भी चिन्ता नहीं थी। ऐसी ही विषम परिस्थितियों में तुलसी राम के शक्ति-शील-सौन्दर्य समन्वित रूप को लेकर जनता के सामने आए और ऐसे राम के माध्यम से उन्होंने जनता को उद्बोधन दिया कि घबड़ाने, निराश और हताश होने की जरूरत नहीं—प्रभु सबकी रक्षा करेंगे। उन्होंने घोषणा की कि—

'जब जब होइ धरम की हानी। बाढ़हिं असुर महा अभिमानी ।।
तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा। हरहिं सकल सज्जन भवपीरा ।।'

यह घोषणा सुन जनता को साहस बँधा। उसे विश्वास हो गया कि सर्व-शक्तिमान, दीन-प्रतिपालक दयालु राम उसकी रक्षा करने के लिए अवश्य अवतार धारण करेंगे। तुलसी की यह उद्बोधन-शक्ति अनुपम थी। उन्होंने जन-जन के दुख को अपना ही दुख माना था और उसका निवारण करने के लिए उनके कण्ठ से वीणा-धारिणी के ऐसे सशक्त स्वर फूटे थे जिन्होंने हताश समाज को संघर्ष की अजेय शक्ति प्रदान कर उसमें अद्भुत साहस का संचार कर दिया था। महाकवि निराला तुलसी की इसी उद्बोधन-शक्ति से चमत्कृत हो गा उठे थे—

'देश काल के शर से बिंध कर,
यह जागा कवि अशेष छविधर,
इसका स्वर भर भारती मुखर होएगी ?
निश्चेतन निज तन मिला विकल
छलका शत-शत कल्मष के छल
बहतीं जो, वे रागिनी सकल सोयेंगी ।'

और

हुआ भी यही।

व्यावहारिक आदर्शवाद

जनता ने तुलसी को अपना नायक और त्राता इसलिए माना था क्योंकि उन्होंने कल्पित स्वर्ग और मोक्षपरक आदर्शवाद के स्थान पर व्यावहारिक आदर्शवाद

की स्थापना की थी। 'मानस' की धर्मभूमि 'सत' के समर्थन और 'असत' के निराकरण वाले सिद्धान्त पर खड़ी हुई है। कबीर के समान तुलसी ने भी निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय कर इसी जगत को महत्त्व प्रदान किया था। जीवन सत-असत के समुच्चय और संघर्ष का ही दूसरा नाम है। तुलसी का व्यावहारिक आदर्शवाद इसी को सार्थकता प्रदान करता हुआ स्वार्थ-परमार्थ, प्रवृत्ति-निवृत्ति, व्यक्ति-समष्टि सम्बन्धी व्यवधानों को दूर कर हमारे सम्मुख अन्तरसाम्य, समरसता और सहजता का रूप प्रस्तुत करता है। इसमें व्यवहार-जगत की सम्पूर्ण विषमताओं का शमन हो जाता है। व्यवहार जगत में विष के शत-शत घूँट पी, नीलकण्ठ बनकर तुलसी ने भक्ति और प्रेम की जन-कल्याणकारी सुधा से लोक-मानस को आप्लावित कर दिया था। तुलसी के राम वर्ग-स्वार्थों से मुक्त त्याग की साक्षात मूर्त्ति थे। इसी से वे जनता के आदर्श बन सके।

व्यापक लोकधर्म की स्थापना

मानस की धर्मभूमि व्यापक विश्वधर्म पर आधारित है। मानव के कर्मक्षेत्र के विस्तार के अनुरूप ही ब्रह्म की व्यापक सत्ता का अनुभव होता है, जिसकी चरम परिणति विश्वबन्धुत्व की भावना में मिलती है। 'मानस' में इसी कारण व्यापक विश्वधर्म के लिए भरत द्वारा सीमित गृह-धर्म का उल्लंघन कराया गया है, क्योंकि व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की स्थापना के लिए परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं माना जा सकता। इसी कारण संकुचित गृहधर्म की तुलना में विभीषण ने व्यापक लोकधर्म का पक्ष ग्रहण कर अपने अत्याचारी भाई रावण का वध कराया था। इसके लिए शक्ति-शील-सौन्दर्य समन्वित आदर्श की स्थापना होनी चाहिए थी। तुलसी ने राम के रूप में यही आदर्श प्रस्तुत कर लोक को जन-कल्याण का मार्ग दिखाया था। तुलसी ऐसा आदर्श उपस्थित करने में इसलिए और अधिक समर्थ हो सके कि उन्होंने कला से अधिक कला के विषय को, और कला के विषय से अधिक लोक-मंगल की भावना को प्रश्रय दिया था। यदि वे ऐसा न करते तो उनका 'मानस' भी केशव की 'रामचंद्रिका' बनकर रह जाता। तुलसी लोक-जीवन के कट्टर समर्थक और शोषकों के विरोधी थे। तत्सम्बन्धी यह दोहा द्रष्टव्य है—

'तुलसी जगजीवन अहित, कतहुँ होउ हित हानि।
सोषक भानु कृसानु महि, पवन एक धन जानि॥'

जग-जीवन के इस अमर कलाकार की इसी साधना से अभिभूत हो हमारे ललित गीतकार वीरेन्द्र मिश्र के कंठ से इस सत्य का उद्घोष हो उठा है—

'गीत तुलसी ने लिखे, तो आरती सब की उतारी।
राम का तो नाम है, गाथा-कहानी है हमारी॥'

रामराज्य की कल्पना

गांधी जी स्वराज्य का स्वरूप 'रामराज्य' बताया करते थे और उनके इस रामराज्य का प्रेरक 'मानस' में वर्णित 'रामराज्य' ही रहा था। उनके रामराज्य में—

'दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज काहू नहिं व्यापा॥
बैर न करहिं काहु सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥'

तुलसी को ऐसे रामराज्य की कल्पना इसलिए करनी पड़ी थी क्योंकि उस समय समाज और शासन की स्थिति इसके नितान्त विपरीत थी। इसी कारण उन्होंने अनाचारी, अन्यायी, अत्याचारी राजाओं की भर्त्सना करते हुए कहा था—

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'

'मानस' के अयोध्या कांड में चित्रकूट पर हुई सभा के माध्यम से तुलसी ने राजनीति, समाज नीति, धर्म-नीति आदि सम्बन्धी अपने विचार प्रकट करते हुए समाज के सम्मुख एक व्यापक आदर्श की प्रतिष्ठा की थी।

समझौतावादी समन्वय नहीं

तुलसी समन्वयकारी तो अवश्य थे परन्तु उन्होंने अशुभ के साथ कहीं भी समझौता नहीं किया है। उन्होंने शाक्तों, श्रुति-सम्मत पथ का विरोध करने वाले निर्गुणिए सन्तों की उश्रृंखल स्थापनाओं का दृढ़ विरोध करते हुए उनकी भर्त्सना की है। वे सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा परम्परा और मर्यादा वेष्टित रूप में करने के विश्वासी थे। उनका विश्वास था कि परम्परा से कट जाने पर सहस्रों वर्षों के चिन्तन और अनुभव द्वारा निर्मित मर्यादा का विनाश हो जाता है और अराजकता की स्थिति आ जाती है। इसीलिए उन्होंने ऐसी मान्यताओं का डटकर विरोध किया था जिन्हें वे समाज के नियमन और प्रगति के लिए घातक समझते थे। धार्मिक क्षेत्र में उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों, विचारधाराओं आदि में जो समन्वय किया है उसकी एक विशेषता और विचित्रता यह रही है कि उन्होंने अन्य धर्मों के सिद्धान्तों, आराध्यों आदि की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी उन्हें अपने आराध्य और सिद्धान्त का ही एक अंग बना दिया है और इस प्रकार उनकी स्वतंत्र और पृथक् सत्ता और महत्त्व का उन्मूलन करने का चातुर्यपूर्ण प्रयास किया है। शाक्तों की आराध्य 'शक्ति' सीता में अन्तर्भुक्त हो जाती है और शैवों के शिव राम के पूज्य होते हुए भी एक प्रकार से राम के अनन्य भक्त का रूप धारण कर लेते हैं। कापालिकों आदि के भैरव पवन-सुत हनुमान में समा जाते हैं और हनुमान राम के अनन्य भक्त हैं ही। इस प्रकार तुलसी सर्वोपरि सत्ता राम की ही घोषित करते हैं। ज्ञान और भक्ति के द्वन्द्व का शमन करने के लिए दोनों के समन्वय की घोषणा करते हुए भी अन्त में भक्ति की ही श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। यह तो वही मसल हुई कि बात तुम्हारी भी ठीक है और हमारी भी, मगर

हमारी ज्यादा ठीक है, इसलिए तुम्हें हमारी ही बात माननी चाहिए। इसी कारण हमने कहा है कि तुलसी समझौतावादी नहीं थे। उनके अपने दृढ़ और निश्चित सिद्धान्त थे और वे उनसे रंचमात्र भी हटना नहीं जानते थे।

तुलसी का साहित्यिक महत्त्व

प्रभाव की दृष्टि से समस्त हिन्दी-साहित्य में हमें कोई भी दूसरा ऐसा साहित्यकार नहीं मिलता जो तुलसी के समान इतना व्यापक और स्थायी प्रभाव डालने में समर्थ हो सका हो। इस क्षेत्र में तुलसी अद्‌भुत, अनन्य और अद्वितीय हैं। जहाँ तक काव्य-प्रकार, काव्य-सौन्दर्य आदि का सम्बन्ध है, तुलसी इस क्षेत्र में भी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों के मध्य बिल्कुल निराले, विशिष्ट और अनुपम दिखाई पड़ते हैं। यहाँ एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि तुलसी प्राचीन और समकालीन भारतीय साहित्य के गम्भीर विद्वान्, सतत अध्येता और अत्यन्त जागरूक कलाकार थे। और अपनी अद्‌भुत प्रतिभा का संयोग कर उन्होंने अपने अर्जित ज्ञान द्वारा ऐसे साहित्य का निर्माण किया था जो प्रभाव, सौन्दर्य, शिल्प-विधान, काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्त, भाषा-रूप आदि सभी दृष्टियों से अपने युग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता है। उनका रचित साहित्य तीन प्रकार का है—एक, योजनाबद्ध रूप से रचित, दूसरा; मन की तंरग में आकर स्वच्छन्द रूप से रचित; तीसरा, परम्परा और काव्य-रूपों का अनुकरण मात्र करने के लिए रचित।

योजनाबद्ध रूप से रचित साहित्य के अन्तर्गत 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' ही प्रमुख ग्रन्थ हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ निश्चित उद्देश्य और योजनाबद्ध रूप से रचे गए थे। 'मानस' द्वारा तुलसी ने परम्परा, संस्कृति, समाज, राजनीति, धर्म-नीति, दर्शन, लोकधर्म आदि की समस्याओं, स्थितियों तथा उनके समाधान का रूप प्रस्तुत किया था। और 'विनयपत्रिका' द्वारा भक्ति के स्वरूप और महत्व का विश्लेषण किया था। इसी कारण 'मानस' सामाजिकों में और 'विनयपत्रिका' भक्तों में अधिक लोकप्रिय हुई। तुलसी के दूसरे प्रकार के साहित्य के अन्तर्गत कवितावली, दोहावली, गीतावली आदि की गणना की जा सकती है। हमारा यह अनुमान है कि ये ग्रन्थ आज जिस रूप में उपलब्ध हैं, उनका मूल रूप वही नहीं था। ये फुटकल छन्दों के रूप में लिखी गईं थीं और फिर विषयानुसार उनका संकलन कर ग्रन्थों का रूप दे दिया गया था। इसका प्रमाण यह है कि 'दोहावली' में अनेक ऐसे दोहे संकलित हैं जो 'मानस' में भी मिलते हैं। 'कवितावली' आदि में राम-चरित्र के उन पक्षों का विस्तृत, भावपूर्ण चित्रण किया गया है जिनका 'मानस' की प्रबन्धात्मकता के कारण अपेक्षाकृत सीमित क्षेत्र में विस्तृत चित्रण करना सम्भव और उचित नहीं था। इसी कारण इनमें कहीं हम वात्सल्य का चित्रण पाते हैं तो कहीं वीर, रौद्र, भयानक आदि रसों का। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इनका अपना विशेष महत्त्व है। इनमें तुलसी का कवि उनके विचारक की अपेक्षा अधिक सक्रिय रहा है। तीसरे प्रकार का तुलसी-साहित्य ऐसा

है जिसकी रचना परम्परा और विभिन्न काव्य-शैलियों का अनुकरण करने के निमित्त की गई है। कृष्ण-गीतावली, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, रामलला नहछू आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। सूर ने राम-काव्य भी लिखा था, इसलिए तुलसी ने कृष्ण-गीतावली लिखी। उस युग में मंगल-काव्य की पद्धति प्रचलित थी, इसलिए तुलसी ने मंगल-काव्य रचे। ऐसी रचनाओं में तुलसी का कवि और विचारक अधिक नहीं रमा है। इसीलिए ये साधारण कोटि की रचनाएँ बनकर रह गई हैं। इन्हें तुलसी-साहित्य के विवेचन का आधार नहीं बनाया जा सकता।

साहित्यिक रूपों और शैलियों पर अबाध अधिकार

तुलसी का साहित्य काव्य-रूपों और शैलियों की दृष्टि से बहुमुखी है। उन्होंने प्रबन्ध, मुक्तक, गीत आदि सभी प्रकार का काव्य रचा है। परन्तु उनकी काव्य-प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट रूप और विकास उनके प्रबन्ध-काव्य 'मानस' में ही दिखाई पड़ता है। शैलियों की दृष्टि से उन्होंने चन्द बरदाई के छप्पय, कुंडलिया; कबीर के दोहे और पद; सूर और विद्यापति की गीत-पद्धति; ईश्वरदास-जायसी की दोहा-चौपाई पद्धति; रहीम की बरवै पद्धति; गंग आदि की कवित्त-सवैया पद्धति; मंगल-काव्यों की मंगल-पद्धति आदि विभिन्न प्रकार की काव्य-शैलियों में ग्रन्थ लिखे हैं। इन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो तुलसी ढूँढ़-ढूँढ़ कर विभिन्न शैलियों में रचना कर युग का प्रतिनिधि बनने का सायास प्रयास कर रहे हों।

काव्य-भाषा

तुलसी के युग में दो प्रधान काव्य-भाषाएँ प्रचलित और सम्मानित थीं—ब्रज और अवधी। तुलसी ने इन दोनों को ही समान रूप से अपनाया था। उन्होंने 'मानस', 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' की रचना अवधी में की थी। उनके द्वारा प्रयुक्त अवधी के भी दो रूप मिलते हैं। 'मानस' में साहित्यिक अवधी का प्रयोग हुआ है जो जायसी आदि की अवधी से परिष्कृत, संस्कृत, कलापूर्ण और सशक्त-सौन्दर्यमयी है। दोनों मंगल काव्यों में ठेठ ग्रामीण अवधी का प्रयोग हुआ है। इस बात में संदेह नहीं कि अवधी को तुलसी ने ही साहित्यिक रूप प्रदान कर साहित्यासन पर ब्रज के समकक्ष स्थापित कर दिया था। परन्तु तुलसी के परवर्ती अवधी भाषा के कवि उसके तुलसी द्वारा स्थापित और प्रदत्त उस गौरव की रक्षा न कर सके और उसका पतन हो गया। तुलसी के बाद अवधी में एक भी ऐसा कवि नहीं हुआ जिसका सहारा पाकर वह ब्रज के समान आगे बढ़ती।

तुलसी की अन्य सम्पूर्ण रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं। यदि परिमाण की दृष्टि से देखा जाय तो उन्होंने ब्रजभाषा में ही अधिक साहित्य रचा है। उनके तीनों प्रबन्ध काव्य अवधी में हैं तथा समस्त मुक्तक और गीत-काव्य ब्रज में। सम्भवतः इस विभेद का कारण इन दोनों भाषाओं की प्रकृति में छिपा हुआ है। अवधी आरम्भ से ही प्रबन्ध-काव्यों की भाषा रही है। ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' से लेकर तुलसी

के 'मानस' तक हम उसे प्रबन्ध-काव्यों अर्थात् सुशृंखलित कथा-काव्यों में ही प्रयुक्त होता हुआ देखते हैं। इसके विपरीत ब्रजभाषा आरम्भ से ही मुक्तकों और गीतों की भाषा रही है। हम ब्रज में रचित ऐसा एक भी प्रबन्ध-काव्य नहीं पाते, जिसे श्रेष्ठ काव्य माना जा सके। उसमें कथात्मकता का प्रवाह आ ही नहीं पाता। इसकी प्रकृति मुक्तक की ही रही है। इसमें रचित अधिकांश प्रबन्ध-काव्य भी उनमें व्याप्त मुक्तक के सौन्दर्य के कारण ही प्रसिद्ध रहे हैं। सम्भवतः तुलसी इन दोनों भाषाओं की इस प्रकृति से परिचित थे, इसी कारण उन्होंने अपने प्रबन्ध-काव्य अवधी में और मुक्तक-काव्य ब्रज में लिखे। और काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उनकी ब्रजभाषा की रचनाएँ ही अधिक श्रेष्ठ और सौन्दर्यमयी रही हैं। 'मानस' प्रबन्ध-सौष्ठव, वैचारिक विवेचन, सामाजिक विश्लेषण और स्थापनाओं, चरित्र-चित्रण, और सर्वोपरि प्रभाव के कारण महत्त्वपूर्ण है। परन्तु विशुद्ध काव्य-सौन्दर्य, गहन अनुभूति, स्वच्छन्द कल्पना-विलास, मार्मिक रस-वर्णन, अलंकार-छन्द आदि के उत्कर्ष और चमत्कार आदि की दृष्टि से तुलसी की मुक्तक रचनाएँ अद्भुत सौन्दर्य से मंडित हैं।

ब्रज और अवधी के तुलसी द्वारा अपनाए गए रूपों की एक विशेषता यह है कि उन पर संस्कृत का गहरा प्रभाव रहा है। तुलसी की भाषा जितनी लौकिक है, उतनी ही शास्त्रीय भी है। इसी कारण वह भाषा का एक ऐसा सर्वग्राह्य रूप प्रस्तुत करने में समर्थ हो सके थे तो पंडितों और सामान्यों—दोनों द्वारा प्रशंसित और ग्राह्य रहा है। वह पात्र और विषय के अनुरूप अपना रूप बदलती हुई चलती है। द्विवेदी जी ने उसकी इसी विशेषता को लक्ष्य कर लिखा है—"तुलसीदास के पहले किसी हिन्दी कवि ने इतनी मार्जित भाषा का प्रयोग नहीं किया था। काव्योपयोगी भाषा लिखने में तो वे कमाल करते हैं। उनकी 'विनयपत्रिका' की भाषा में जैसा जोरदार प्रवाह है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है, वहाँ तुलसीदास की उक्तियाँ तीर की तरह चुभ जाती हैं; और जहाँ शास्त्रीय और गम्भीर होती है, वहाँ पाठक का मन चील की तरह मँडरा कर प्रतिपादित सिद्धान्त को ग्रहण कर लेता।"

पात्र-योजना की विशिष्टता

तुलसी-साहित्य का एक अंग ऐसा विशिष्ट है जो हमें सहज रूप से प्रभावित कर लेता है। समस्त मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में इसके अन्यत्र कहीं भी दर्शन नहीं होते। और यह विशिष्टता है—तुलसी की अद्भुत पात्र-योजना। समाज को जितना अधिक 'मानस' के विभिन्न पात्रों ने प्रभावित किया है, उतना अन्य कोई भी नहीं कर सका है। समस्त कृष्ण-काव्य में हमें केवल दो ही पात्र प्रभावित कर पाते हैं—कृष्ण और राधा। परन्तु तुलसी के राम और सीता जितना प्रभावित करते हैं, उतने ही भरत, लक्ष्मण, हनुमान आदि भी प्रभावित करते हैं। यहाँ तक कि राम के विरोधी रावण, मेघनाद, सुलोचना और मन्दोदरी भी कम प्रभावित नहीं करते। इन समस्त

पात्रों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि ये अलौकिक से प्रतीत होते हुए भी सहज मानवीय पात्र बने रहते हैं। तुलसी अपने पात्रों के इस सहज मानव रूप से स्वयं भी प्रभावित से प्रतीत होते हैं, तभी वे रह-रहकर हमें यह स्मरण कराते चलते हैं कि राम पूर्ण ब्रह्म हैं, मानव नहीं। तुलसी का प्रत्येक पात्र किसी-न-किसी विशिष्ट मानवीय-गुण का प्रतीक या प्रतिनिधि बनकर ही हमारे सामने आता है।

'मानस' के अधिकांश पात्र मानवीय सर्वोच्च गुणों के समुच्चय के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे विरोधी शक्तियों का प्रतिरोध कर आगे बढ़ते हैं, सहिष्णुता, त्याग और उदारता द्वारा मानव-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। उनकी अलौकिकता हमारे मन में हीनता की भावना न उत्पन्न कर उन्हीं के समान अशुभ के विरुद्ध सतत् संघर्ष करते रहने की आकांक्षा और शक्ति प्रदान करती है। इसे तुलसी की महानतम उपलब्धि माना जा सकता है। अपने साहित्य द्वारा तुलसी ने एक ऐसे आदर्श की प्रतिष्ठा की थी जिसे समस्तत: स्वीकार कर लेने से यह संसार सुख, शान्ति और सभी प्रकार की समृद्धि का आगार बन सकता है। इसी कारण गांधी जी ने स्वतंत्रता का अर्थ—रामराज्य की स्थापना माना था। तुलसी-साहित्य में मानव का संघर्ष चित्रित हुआ था; उसने मानव-विकास में संघर्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका का अंकन कर उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया था। इसी कारण तुलसी हमें सर्वाधिक प्रभावित करते हैं। आचार्य शुक्ल ने तुलसी-साहित्य की इसी शक्ति और प्रभाव को समझ उन्हें हिन्दी का सर्वाधिक सशक्त और सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया था, जो अनुचित नहीं था।

तुलसी का परवर्ती राम-काव्य

तुलसी के बाद भी अनेक कवियों ने राम-काव्य रचा था परन्तु वह तुलसी-साहित्य की तुलना में नगण्य सा बनकर ही रह गया। या तो यह कहिए कि तुलसी का परवर्ती राम-काव्य इसलिए महत्त्वपूर्ण न बन सका क्योंकि वह तुलसी के राम-काव्य की उदात्त, कलात्मक और जनवादी परम्परा का निर्वाह करने में असमर्थ रहा या उसमें न तो श्रेष्ठ साहित्य के गुण थे और न जन-मानस को प्रभावित करने की शक्ति ही थी। तुलसी के उपरान्त साहित्यिक दृष्टि के उल्लेखनीय केवल एक ही ग्रन्थ मिलता है—केशवदास की रामचन्द्रिका। परन्तु इसका मूल प्रतिपाद्य राम-चरित्र होते हुए भी इसकी मुख्य भावना भक्तिमूलक नहीं है, इसलिए इसकी गणना राम-भक्ति काव्य के अन्तर्गत नहीं की जा सकती। काल-क्रमानुसार केशवदास का समय भक्ति-काल के अन्तर्गत ही आता है, क्योंकि ये तुलसी के समकालीन थे परन्तु काव्य-रचना और प्रवृत्ति के अनुसार इनकी गणना श्रृंगार काल (रीतिकाल) के अन्तर्गत ही होनी चाहिए। कुछ आलोचक तो इन्हें हिन्दी-रीति-काव्य का प्रवर्त्तक तक मानते हैं। इसलिए इनका विवेचन करते समय यह दुविधा उठ खड़ी होती है कि इनका विवेचन किस युग के अन्तर्गत किया जाय। इन्होंने 'रामचन्द्रिका' में राम के चरित्र का वर्णन

किया है, इसलिए उनके इस ग्रन्थ का विवेचन राम-काव्य-परम्परा में ही होना चाहिए।

रामचन्द्रिका

केशवदास की 'रामचन्द्रिका' का मूलाधार 'वाल्मीकि रामायण' रही है। उसके अतिरिक्त उस पर संस्कृत के रामकाव्य सम्बन्धी ग्रन्थों 'प्रसन्न राघव' और 'हनुमन्नाटक' का भी गहरा प्रभाव लक्षित होता है। इसकी रचना के सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती प्रचलित है कि केशवदास ने तुलसी के 'रामचरितमानस' की प्रतिद्वन्द्विता में इस ग्रन्थ की रचना एक ही रात में कर डाली थी। इसका कारण यह था कि तुलसी केशव को प्राकृत जनों का गुणगान करने वाला कवि मान उनकी उपेक्षा करते थे। उन्होंने ग्रन्थ में इसकी मूल प्रेरणा का उल्लेख करते हुए कहा है कि महर्षि वाल्मीकि ने उन्हें स्वप्न में राम-चरित्र लिखने को कहा था। वस्तुस्थिति जो कुछ भी रही हो, परन्तु केशव की 'रामचन्द्रिका' तुलसी-काव्य की पद्धति से नितान्त भिन्न एक अनूठी और श्रेष्ठ साहित्यिक कृति है। यह ग्रन्थ दो भागों—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध तथा उन्तालीस प्रकाशों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में राम-जन्म से रावण-वध तक का तथा उत्तरार्द्ध में राम के वन से लौटने से लेकर सीता-वनबास एवं पुनः राम-सीता-मिलन तक की घटनाओं का वर्णन किया गया है।

केशव संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे और काव्य-शास्त्रीय मान्यता की दृष्टि से अलंकारवादी थे। अतः 'रामचन्द्रिका' पर संस्कृत और अलंकार-शास्त्र—दोनों का ही गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसमें छन्द इतने अधिक हैं और इतनी जल्दी-जल्दी बदलते हैं कि कुछ आलोचकों ने इसे छन्दों की प्रदर्शिनी तक कह डाला है। इसमें छन्दों का वही रूप और चमत्कार मिलता है जो 'पृथ्वीराज रासो' की विशेषता माना जाता है। वस्तुतः 'रामचन्द्रिका' संस्कृत के चरितात्मक महाकाव्यों और हिन्दी के आरम्भिक, अपभ्रंश से गहरे रूप से प्रभावित 'पृथ्वीराज रासो' जैसे कथा-काव्यों की परम्परा का काव्य है। इसी कारण उसमें सहज, गहन अनुभूति की अपेक्षा रचना-चमत्कार, पांडित्य और काव्य-कौशल के प्रदर्शन की भावना, विभिन्न प्रकार के विस्तृत वर्णनों का वैभव, संवाद-पटुता आदि के अधिक दर्शन होते हैं। इसकी रचना विशुद्ध रूप से काव्य-वैभव का बाह्य रूप और प्रभाव प्रदर्शित करने के उद्देश्य से ही हुई जान पड़ती है। इसमें कवि अपने आचार्यत्व संस्थापन के प्रति ही अधिक आग्रहशील रहा है। यही कारण है कि केशव का कवि मार्मिक, संवेदनशील स्थितियों के अंकन में न रमकर राज-वैभव आदि का विस्तृत चित्रण करने में ही अधिक रमा है। कवि अलंकारों के बिना तो एक पग आगे नहीं रख पाता। सम्पूर्ण ग्रन्थ मानो छन्द और अलंकारों का लक्षण-ग्रन्थ सा बनकर रह गया है। इसमें काव्य-वैभव तो मिलता है परन्तु काव्य को जन-मानस का लाड़ला बना देने वाली वह गहन और मार्मिक अनुभूति नहीं मिलती जो काव्य को लोक-जीवन और लोकहित से जोड़ने वाली प्रधान कड़ी होती है। लोकपक्ष की दृष्टि से इसे महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता।

वस्तुतः राम-चरित्र का यह क्षेत्र केशव का स्वाभाविक क्षेत्र था ही नहीं। वह तो मुक्तक के कवि थे और उसी क्षेत्र में उनकी प्रतिभा का वास्तविक उन्मेष मिलता है। उनके मुक्तक ग्रन्थों 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' में ही उनकी यथार्थ प्रतिभा प्रकट हुई है। वे स्वभाव से दरबारी और रसिक थे। इसके अतिरिक्त काव्य-चमत्कार प्रदर्शित करने की भावना उनमें अत्यधिक प्रबल थी और इसी कारण आचार्य शुक्ल ने उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा था। दरबारों और कवि-समाज में बहुत दिनों तक यह धारणा प्रचलित रही थी कि केशव की कविता के अर्थ को समझ लेना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। 'रामचन्द्रिका' में भी उनकी उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं, इसी कारण वह सरस-सहज-भाव प्रवणशील काव्य बनने में असमर्थ रही है।

सेनापति

भक्तिकाल में हमें केशव के उपरान्त एक और कवि ऐसा मिलता है जिसने राम-चरित्र का बखान किया है। और वह हैं—सेनापति। सेनापति भक्ति और शृंगार कालों के सन्धि-युग के कवि थे। इसी कारण उनमें भक्ति और शृंगार—दोनों ही प्रवृत्तियों का मिला-जुला रूप मिलता है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवित्त-रत्नाकर' मे दो तरंगों में राम का वर्णन किया है। इन दोनों तरंगों के शीर्षक हैं—'रामायण वर्णन' और 'राम रसायन वर्णन'। उन्होंने राम-चरित्र का अंकन वाल्मीकि-रामायण के अनुसार किया है। भक्ति सिद्धान्त की दृष्टि से उनमें और तुलसी में बहुत समानता मिलती है। उनके लिखे एक और ग्रन्थ 'काव्य कल्पद्रुम' का भी उल्लेख मिलता है परन्तु वह अप्राप्य है। अनेक विद्वान् उन्हें भक्तिकाल का कवि न मान, शृंगारकाल का ही कवि मानते हैं और अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित कारण देते हैं—(१) रीतिकालीन कवियों के समान ऋतुवर्णन, (२) अलंकारों के प्रति विशेष झुकाव, (३) राज्याश्रय प्राप्त कवि, (४) अश्लील शृंगार का चित्रण। परन्तु काल-क्रमानुसार इनकी गणना भक्ति-काल के अन्तर्गत ही होनी चाहिए क्योंकि इनका जन्म सम्वत् १६४६ के लगभग माना जाता है तथा इनमें भक्ति-भावना भी मिलती है।

महाराज पृथ्वीराज

राम-भक्ति से सम्बन्धित इनकी एक कृति 'दशरावउत' की चर्चा मिलती है, जिसकी रचना सम्वत् १६५७ के लगभग हुई थी। इसमें राम-स्तुति सम्बन्धी ५० दोहे मिलते हैं।

प्राणचन्द चौहान

इन्होंने 'रामायण महानाटक' नामक अपने ग्रन्थ में संवाद-शैली में राम-कथा लिखी है। इसका रचना-काल सम्वत् १६६७ माना जाता है।

इनके अतिरिक्त माधवदास चरण के 'गुनरामरासो' (सम्वत् १६७५), और 'अध्यात्म रामायण' नामक राम-चरित सम्बन्धी दो ग्रन्थ; हृदयराम पंजाबी का 'हनुमन्नाटक' (सं० १६८०), नरहरिदास चरण के 'अवतार चरित्र' आदि ग्रन्थ भी राम-काव्य-परम्परा में उल्लेखनीय माने जाते हैं।

नाभादास

नाभादास ने भगवान का यश:गान न कर उनके भक्तों का ही कीर्त्ति गान किया है। इनके रचे तीन ग्रन्थ पाए गए हैं—'अष्टयाम' 'राम चरित संग्रह' और 'भक्त-माल'। 'भक्तमाल' में भक्तों का वर्णन किया गया है। नाभादास रामानन्दी सम्प्रदाय के राम-भक्त थे। इन्होंने 'भक्तमाल' में अपने पूर्ववर्ती और समकालीन २०० सन्तों और भक्तों का वर्णन किया है। इसका रचना-काल सं० १६८० माना गया है। मध्य युगीन वैष्णव-भक्ति के अध्ययन के लिए विद्वान् इसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य ग्रन्थ मानते हैं। 'भक्तमाल' की परम्परा आगे भी विकसित हुई थी।

प्रियादास

प्रियादास नाभादास के शिष्य थे। इन्होंने कवित्त-सवैयों में 'भक्तमाल' की विस्तृत टीका लिखी थी। इस टीका की विशेषता यह थी कि इसमें भक्तों के जीवन-चरित की अपेक्षा उनके द्वारा किए गए चमत्कारपूर्ण कृत्यों का ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की इस सम्बन्ध में यह धारणा है कि समाज में व्याप्त नाथपंथी योगियों के योग-सम्बन्धी चमत्कारों के प्रभाव की प्रति-द्वन्द्विता में भक्तों के चमत्कारों का वर्णन कर भक्तों की महत्ता की स्थापना का प्रयत्न किया गया था। यह टीका इसी प्रयत्न का रूप था। भगवान अपने भक्तों की सदैव रक्षा किया करते थे और यह रक्षा-प्रक्रिया चमत्कारों का रूप धारण कर लेती थी। प्रियादास की इस टीका द्वारा समाज में भक्तों का महत्त्व योगियों की अपेक्षा बहुत बढ़ गया था। यह टीका इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि इसके बँगला, उड़िया, मराठी आदि भाषाओं में भी अनुवाद किये गए थे। इसकी इसी लोकप्रियता को देख भक्तमाल पद्धति पर अन्य अनेक सम्प्रदायों में भी अनेक ग्रंथ रचे गये। दादू पंथियों, शैव-भक्तों आदि ने अपने-अपने सम्प्रदाय के भक्तों के जीवन-चरित इसी पद्धति पर लिखे। इस प्रकार प्रियादास की इस टीका ने समाज में भक्ति और भक्तों के महत्त्व का विस्तार करने में ऐतिहासिक कार्य किया था।

राम-भक्ति धारा का रसिक-सम्प्रदाय

तुलसी ने दास्य-भाव की भक्ति का प्रचार किया था और सूर आदि कृष्णभक्तों ने मधुर-भाव की भक्ति का। तुलसी की भक्ति में शृङ्गार का मर्यादावेष्टित, सन्तुलित, संयमित रूप में चित्रण किया गया था। उसमें लौकिक वासना का अंश नहीं था। राम का अतुलित सौन्दर्य श्रद्धा की भावना उत्पन्न करने वाला था, न कि माधुर्य की

भावना। तुलसी के पश्चात् राम-भक्तों में एक ऐसे सम्प्रदाय का उदय हुआ जो माधुर्य भाव से राम की उपासना करने में आस्था रखता था। अनेक आलोचकों ने राम-भक्ति शाखा में इस माधुर्य-उपासना के समावेश का उत्तरदायित्व केवल कृष्ण-भक्तों पर ही डाल, इसके लिए उनकी निन्दा की है। क्योंकि राम की इस नवीन उपासना-पद्धति के कारण राम का वह उज्ज्वल, उदात्त, लोकरक्षक रूप तिरोहित हो उठा था जिसको तुलसी ने स्थापना की थी। परन्तु ऐसा आक्षेप लगाना एकांगी और अनुचित है। माधुर्य-भाव से राम की उपासना करने का प्रमाण, अथवा ऐसे प्रमाण जिनमें राम और सीता का उन्मुक्त विलास चित्रित किया गया है, तुलसी से पहले भारतीय-साहित्य में मिल जाते हैं।

रसिक राम-भक्ति धारा का पूर्व रूप

दक्षिण के प्रसिद्ध आलवार भक्त शठकोप ने अपने ग्रन्थ 'सहस्रगीति' में राम के प्रति कान्ता-भाव को अभिव्यक्त किया है। तमिल की प्रसिद्ध 'कम्बन रामायण' में राम-सीता के प्रेम का खुलकर वर्णन किया गया है। संस्कृत में रचित 'आनन्द-रामायण' में राम-सीता के सम्भोग का वर्णन नग्न रूप में किया गया है। यह पन्द्रहवीं सदी की रचना मानी जाती है। सत्रहवीं सदी के आरम्भ में रचित 'रामलिङ्गामृत' नामक एक संस्कृत ग्रन्थ में राम-सीता का संयोग-वर्णन अष्टयाम पद्धति पर किया गया है। 'भुशुंडि रामायण' में राम द्वारा सीता और उनकी एक सखी के साथ की गई रासलीला का वर्णन रसिक-वृत्ति के साथ किया गया है। सोलहवीं सदी के एक ग्रन्थ 'हनुमत्संहिता' में हनुमान को राम की प्रधान सखी 'चारुशीला' के रूप में प्रस्तुत कर राम की रहस्यमयी माधुर्यरसपूर्ण लीलाओं का अंकन किया गया है।

अतः यह निस्संकोच पूर्वक कहा जा सकता है कि राम का रस-केलि-प्रवीण रसिक रूप बहुत पहले से साहित्य में चित्रित होता आया था। कालान्तर में जब तुलसी के परवर्ती रामभक्तों ने राम का रसिक के रूप में चित्रण करना आरम्भ किया तो उन्होंने रामचरित सम्बन्धी उपर्युक्त ग्रन्थों का प्रभाव अवश्य स्वीकार किया होगा। राम-काव्य में रसिक भक्ति-पद्धति के उदय का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी माना जा सकता है। तुलसी राम-भक्ति का ऐसा रूप प्रतिष्ठित करने के प्रति प्रयत्न-शील रहे थे जिसमें श्रद्धा का एकछत्र राज्य था। उसमें हृदय के मधुर-भाव के पोषण के उपादान नहीं थे। माधुर्य भाव मानव को सहज प्रवृत्ति होती है। जिसे हम चाहते हैं, प्रेम करते हैं, उसके प्रति हमारा माधुर्य-भाव ही प्रधान रहता है। माधुर्य-भाव की यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल और प्रधान होती है कि इसके अभाव में भक्ति का पूर्ण रूप प्रस्फुटित नहीं हो पाता। कबीर जैसे निर्गुणोपासक भक्त को भी राम को अपना 'भरतार' और स्वयं को उनकी 'दुलहिन' मानने के लिये विवश होना पड़ा था। इस प्रकार कबीर राम-नाम के साथ रसिकता का सम्पर्क स्थापित कर चुके थे। तुलसी भी इस माधुर्य-भाव से पूर्णतः अछूते नहीं रह पाए थे। 'गीतावली' के उत्तरकांड

में वह भी इसके प्रति आकृष्ट हो उठे थे। इसमें राम के सुन्दर रूप के प्रति सीता की सखियों का वैसा ही मधुर आकर्षण दिखाई देता है जैसा कि कृष्ण के प्रति गोपियों का रहा है। इसलिए रामभक्ति-शाखा में रसिक-सम्प्रदाय की शृंगारिकता के समावेश का उत्तरदायित्व केवल कृष्ण-भक्त-कवियों पर डालना अनुचित और एकांगी दृष्टिकोण है। यह शृंगारिक भावना माधुर्य भाव के रूप में आरम्भ से ही दोनों भक्ति-सम्प्रदायों पर अपना गहरा प्रभाव डालती रही थी।

रसिक-सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति

'रसिक' शब्द वैसे तो अपने व्यापक और संकुचित विभिन्न अर्थों में ग्रहण किया जाता रहा है, परन्तु रसिक-सम्प्रदाय में इसका अर्थ यह माना जाता है—राम-सीता की शृंगारिक लीलाओं का रसमय वर्णन। तुलसी के परवर्ती राम-भक्तों ने अपने आराध्य के इसी शृंगारमय रूप का ध्यान करना ही राम-भक्ति का एकमात्र उपाय मान लिया था। ये लोग रामानन्द और तुलसी—दोनों को इसी मधुर भाव का उपासक मानते थे। उनके मतानुसार रामानन्द का आध्यात्मिक नाम 'रामानन्ददायिनी' और तुलसी का 'तुलसी सहचरी' था। यहाँ तक कि इन्होंने रामभक्त हनुमान जैसे अखंड ब्रह्मचारी का आध्यात्मिक नाम 'चारुशीला' माना है। अर्थात् ये सब लोग राम को एकमात्र पुरुष और स्वयं को नारी मान राम की उपासना करने में आस्था रखते थे। आधुनिक फ्रायडवादी और मनोविज्ञानशास्त्री इसके मूल में मानव की किस दमित कुंठा का विस्फोट मानेंगे, यह तो वे ही जानें, परन्तु इसे स्वस्थ दृष्टिकोण किसी भी रूप में नहीं माना जा सकता। रसिक-सम्प्रदाय के रसिक-भक्तों का आदर्श लक्षण अपने आराध्य के रूप-सौन्दर्य, प्रेम एवं विरह में तल्लीन रहना ही माना गया है। आगे चलकर इस रसिक-साधना ने गुह्य-साधना का रूप धारण कर लिया था। इसी कारण परवर्ती बाल अली, रामचरणदास आदि रसिक-भक्तों ने प्रत्येक व्यक्ति के सामने राम-सीता की गुह्य केलि-क्रीड़ाओं की चर्चा करने एवं उन्हें इस रस का अनुभव बताने का निषेध किया था। कालान्तर में इस सम्प्रदाय ने ऐसा अस्वाभाविक रूप धारण कर लिया कि उसे देखकर हँसी, आश्चर्य और ग्लानि का अनुभव होता है। ये रसिक-भक्त नारी-वेश धारण कर नारियों के समान शृङ्गार करते थे, घूँघट निकालते थे और यहाँ तक कि रजस्वला होने तक का अभिनय करते थे। अस्तु,

रसिक-सम्प्रदाय के आदि प्रतिष्ठापक

उपलब्ध साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर प्रसिद्ध रामभक्त कृष्णदास पयहारी के शिष्य अग्रदास रामभक्ति-रसिक-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता सिद्ध होते हैं। अग्रदास ने जयपुर के समीप 'रैवासा' नामक स्थान पर अपनी गद्दी स्थापित कर विधिवत् और सुनियोजित रूप से इस नई उपासना-पद्धति का प्रचार किया था। अग्रदास के रचित चार ग्रन्थ माने जाते हैं—हितोपदेश उपखाण बावनी, ध्यान-

मंजरी, रामध्यान मंजरी, और कुंडलिया। इनका जन्म सम्वत् १६७५ के लगभग माना जाता है। इन्होंने 'ध्यान मंजरी' में अपनी इस नवीन उपासना-पद्धति का विधिवत् प्रतिपादन किया है। इन्हें राम की रसिक-भक्ति के सम्मुख ज्ञान, योग, तप आदि सब कुछ फीके और निस्सार लगते हैं—

'अमल अमृत रसधार रसिक जन यहि रस पागे।
तेहि को नीरस ज्ञान, योग तस छोई लागे॥'

अग्रदास के उपरान्त इस सम्प्रदाय का खूब प्रचार हुआ। भिन्न-भिन्न स्थानों पर इसकी गद्दियाँ स्थापित की गईं। अयोध्या, मिथिला, चित्रकूट आदि इसके गढ़ बन गए। परन्तु यहाँ यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि यह नवीन उपासना-पद्धति गुह्य और सीमित बनकर ही रह गई थी। जनसाधारण में इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। कुछ लोग 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास को भी इसी सम्प्रदाय का अनुयायी मानते हैं। ये अग्रदास के शिष्य थे। इन्होंने 'अष्टयाम' और 'रामचरित-संग्रह' नामक अपने अन्य दोनों ग्रन्थों में राम की दैनन्दिन क्रीड़ाओं का वर्णन किया है जो माधुर्य भाव से ओतप्रोत है। भक्तिकाल की सीमा-परिधि में इस सम्प्रदाय के अन्तिम उल्लेखनीय साधक और कवि बालकृष्ण माने जाते हैं जो अपने साम्प्रदायिक नाम 'बालअली' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका रचना-काल सत्रहवीं सदी का उत्तरार्द्ध माना गया है। इनके रचे आठ ग्रन्थ माने जाते हैं—ध्यान मंजरी, नेह प्रकास, सिद्धान्त तत्त्व दीपिका, दयाल मंजरी, ग्वाल पहेली, प्रेम पहेली, प्रेम परीक्षा, और परतीत परीक्षा। बालअली ने राम को कृष्ण की अपेक्षा अधिक उच्चकोटि का रसिक-सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार जहाँ ईश्वरता होती है, वहाँ रसिक भाव की उपासना सम्भव ही नहीं होती। जैसे—'कहाँ तहाँ माधुर्य सवादा। प्रगट ईशता की मरजादा।' बालअली के राम महलों में भिन्न-भिन्न रमणियों के साथ रमण करते रहते हैं—

'भिन्न भिन्न रमणि महलन राखी। रमहिं राम तिनमें मृदु भाषी॥'
तथा—'ह्वै सुतन्त्र निज महलनि माँही। रमहिं रमावहिं हँसहिं हँसाहीं॥
नहिं कछु ईश्वरता तहँ चहिए। राज्य विभव सहजहिं सुख लहिए॥'

कृष्णभक्तों से प्रतिद्वन्द्विता

रसिक-सम्प्रदाय के इन कवियों में राम की तुलना में कृष्ण को कम रसिक सिद्ध करने की प्रवृत्ति सर्वत्र मिलती है। सम्भव है कृष्ण के रसिक शिरोमणि रूप के व्यापक प्रभाव के कारण ही इन लोगों ने राम के रसिक रूप की स्थापना करने का इतना गहरा प्रयत्न किया था। बालअली ने कृष्ण पर व्यंग्य करते हुए कहा है—

'जनकराज कन्या छवि भारी। इहाँ राम दुलहिन अनुहारी॥
उहाँ राधिका गोप कुमारी। जसतस करी जतन करि भारी॥'

कुछ परवर्ती रसिक राम-भक्त सियारामशरण, रामचरणदास, रसिक अली आदि ने तो राम और कृष्ण की यह तुलना बड़े भौंड़े ढंग से की है। उन्होंने कृष्ण को सर्वत्र राम की अपेक्षा हेय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। तत्सम्बन्धी कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'राम सींव मरजाद को कृष्ण जु बे मरजाद।
राम चरण परनारि रत कब श्रुति कहहिं सद्‌वाद ।।'
'कृष्ण शरन गई गोपिका, तजि सुत, पति, धन, धाम।
तिन अबलन का वन लुटेउ, तदपि कछु की न काम ।।'

—रामचरणदास

'कृष्णचन्द्र ब्रज योषिता, मोही गाय सुतान।
नहिं कछु रूप विशेषता, मृगिहु मोह सुनि गान ।।
मिथिलापुर की तियन को रघुवर मोह सुभाय।
केवल रूप विशेषता, नहिं कछु युक्ति दिखाय ।।'

उपर्युक्त पंक्तियाँ यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि इन कवियों का दृष्टिकोण कितना संकुचित और अनुदार था। राम को कृष्ण से श्रेष्ठ रसिक सिद्ध करने की झोंक में इन लोगों ने राम का जो घोर विलासी रूप चित्रित किया है, उसे देख मन सिहर उठता है। कहीं-कहीं अश्लील और नग्न वर्णन करने में ये लोग शृंगारकालीन घोर शृंगारी कवियों से भी बाजी मार ले गए हैं। राम-भक्ति-काव्य के भावी विकास में इन रामभक्त कवियों का साहित्य भी एक बहुत बड़ा रोड़ा रहा है। इन्होंने सबसे भयानक गल्ती यह की थी कि राम के पूर्ण ब्रह्म वाले स्वरूप को नष्ट कर उन्हें घोर विलासी और लौकिक जन के रूप में चित्रित किया था। क्योंकि ये लोग ईश्वरत्व और माधुर्य भाव में कोई सम्बन्ध नहीं मानते थे। इसके विपरीत कृष्ण-भक्तों के रसिक-शिरोमणि कृष्ण सर्वत्र पूर्ण ब्रह्म बने रहते हैं।

परवर्ती विकृत रूप

तुलसी ने रामभक्ति के मर्यादाश्रित और अतिशय श्रद्धा-समन्वित रूप की स्थापना की थी। उनके राम मर्यादा के रक्षक, अत्याचारियों के वधकर्त्ता, सशक्त और न्यायप्रिय शासक थे। इसलिए जनता उनके प्रति श्रद्धालु थी, उनसे भय खाती थी। लोक में प्रेम-भावना का प्राधान्य अनादि काल से चला आ रहा है। तुलसी के पूर्ववर्ती भक्तों ने ब्रह्म या राम और कृष्ण के साथ अपना प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर उपासना की थी। परन्तु तुलसी द्वारा प्रतिपादित रामभक्ति में इसकी गुंजायश नहीं थी। दूसरी ओर माधुर्य-भावाश्रित कृष्ण-भक्ति समाज में अधिक प्रचार पा रही थी। जहाँ तक लोक-कल्याण, मर्यादा और सामाजिक-न्याय का प्रश्न था, जनता तुलसी के राम की ओर देखती थी, परन्तु व्यक्तिगत-साधना के लिए रसिक-शिरोमणि कृष्ण की ओर ही अधिक झुकती थी। कृष्ण-भक्ति में मानव की सहज-

स्वाभाविक माधुर्य-भावना को पोषण मिलता था, इसलिए कृष्ण-भक्ति समाज में अधिक लोकप्रिय हो उठी थी । तुलसी के परवर्ती राम-भक्तों ने इस स्थिति को देखा और समझा । अतः अपनी भक्ति-पद्धति को जनता में अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए उन्होंने अपने आराध्य राम-सीता को भी रस-केलि-विलास-निपुण रूप प्रदान कर दिया ।

कृष्ण-भक्ति माधुर्य-भावाश्रित होते हुए भी मर्यादा का सम्मान करती थी । उसका स्वाभाविक विकास हुआ था । जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति आदि इस माधुर्य-भावनाश्रित भक्ति को काफी लोकप्रिय और संयमित बना चुके थे । सूर आदि कृष्ण-भक्तों ने उसी परम्परा को स्वस्थ विकास प्रदान किया था । उसका शृंगार उश्रृंखल रूप नहीं धारण कर पाया था । जब राम-भक्तों ने उनकी प्रतिद्वन्द्विता में राम-भक्ति को रसराजाश्रित बनाने का प्रयत्न किया तो वे संयम और स्वाभाविकता की रक्षा न कर सके । जब बन्धन बहुत कठोर हो उठते हैं तो उनके विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया बड़ी उग्र होती है । वह अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न कर देती है । हम राम-भक्ति के रसिक-सम्प्रदाय में इसी उग्र प्रतिक्रिया का भयानक रूप देखते हैं । इन रसिक-सम्प्रदाय के भक्तों ने तुलसी द्वारा निर्मित राम के उज्ज्वल, उदात्त रूप पर इतनी कीचड़ पोती कि राम-काव्य का प्रवाह ही रुक गया । इन्होंने राम और सीता को राधा-कृष्ण से भी अधिक रसिक सिद्ध करने की धुन में कामशास्त्र के स्वाभाविक नियमों की भी इतिश्री कर डाली । राम-भक्त पुरुष नारी-वेश धारण कर राम-सीता के केलि-विलासों का आनन्द लेने लगे । सम्भव है परवर्ती कृष्ण-भक्तों में 'सखी-सम्प्रदाय' का उद्भव भी इसी रसिक-सम्प्रदाय की देखा-देखी हुआ हो ।

'स्वसुखी' सम्प्रदाय

राम की माधुर्य भाव से उपासना करने वाले अयोध्या के परवर्ती रामोपासकों ने 'स्वसुखी' सम्प्रदाय की स्थापना की । ये लोग नारी-वेश धारण कर लाल साहब (राम) को नाना प्रकार की शृंगारिक चेष्टाओं से प्रसन्न करने वाली साधना में प्रवृत्त हुए । सीता इनकी सपत्नी (सौत) बन गईं । अयोध्या के रामचरणदास ने इस स्वसुखी-सम्प्रदाय की स्थापना की थी । इनके लिखे छः ग्रन्थ बताए जाते हैं—द्रष्टान्त-बोधिका, कवितावली रामायण, पदावली, रामचरित्र, रस मालिका, और रामायण की टीका । इनके अनन्तर जानकीचरण, बनादास आदि ने भी अपने ग्रन्थों द्वारा इसी उपासना-पद्धति को आगे बढ़ाया ।

तत्सुखी शाखा

कुछ रसिक राम-भक्तों ने 'तत्सुखी' शाखा की स्थापना की । इसके प्रवर्त्तक जीवाराम माने जाते हैं, जिनका उपासक नाम युगल प्रिया था । इनकी दो रचनाएँ मिलती हैं—पदावली और अष्टयाम । बाल अली, रसिक अली आदि इसी शाखा के भक्त थे ।

जानकी-उपासक भक्त

अयोध्या के भक्तों ने राम को महत्त्व प्रदान किया था, परन्तु जनकपुर के भक्तों ने जानकी को प्राधान्य देते हुए काव्य रचे। सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रामप्रियाशरण ने 'सीतायन' नामक एक काव्य लिखा। अन्य अनेक भक्तों ने भी इसी प्रकार का साहित्य रचा था।

महाराज विश्वनाथ सिंह

मध्ययुगीन काव्य-परम्परा में राम-काव्य के अन्तिम उल्लेखनीय कवि रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह माने जाते हैं। इन्होंने कबीर के 'बीजक' की पांडित्यपूर्ण टीका लिखी थी। इन्होंने रामचरित-सम्बन्धी भी अनेक ग्रन्थ लिखे थे जिनमें 'आनन्द-रघुनन्दन' नामक नाटक बहुत प्रसिद्ध है। इसकी गणना भारतेन्दु-पूर्व लिखे गए इने-गिने हिन्दी-नाटकों में की जाती है।

उपर्युक्त विवरण द्वारा हमने देखा कि तुलसी के उपरान्त महत्त्वपूर्ण राम-काव्य की रचना नहीं हो सकी थी। तुलसी के परवर्ती राम-भक्तों ने रामभक्ति को घोर साम्प्रदायिक रूप दे डाला था और वे उसी के नवीन विकृत रूप का प्रचार करने में दत्तचित्त रहे थे। उनमें तुलसी की सी साम्प्रदायिक उदारता का नितान्त अभाव था। इसलिए वे श्रेष्ठ साहित्य की रचना करने में असमर्थ रहे। भक्तिकाल के परवर्ती शृंगार काल में कृष्ण तो किसी-न-किसी रूप में काव्य के आलम्बन बने रहे परन्तु राम के दोनों रूपों—तुलसी के राम और रसिक भक्तों के राम—में से एक भी रूप काव्य का आलम्बन न बन सका। अतः राम-काव्य का विकास रुक गया। वस्तुतः राम-काव्य पर पूर्ण विराम तो तुलसी ही लगा चुके थे—अपनी अनन्य प्रतिभा, लोक-कल्याणपरक दृष्टिकोण और साहित्यिक चरमोत्कर्ष प्रदान कर। काव्य-सौन्दर्य, साहित्य के शुभ और सत रूप, व्यापक प्रभाव आदि की दृष्टि से तुलसी का परवर्ती राम-काव्य कोई महत्त्व नहीं रखता। वह विशुद्ध रूप से साम्प्रदायिक साहित्य बनकर रह गया।

राम-काव्य का विकास क्यों नहीं हुआ ?

तुलसी के अनन्तर राम-काव्य का अपेक्षित विकास क्यों नहीं हो सका ? यह प्रश्न विचारणीय है। हम गत पृष्ठों में तुलसी के परवर्ती राम-काव्य का विवेचन करते हुए इसके कारणों के प्रति संकेत करते आए हैं। यहाँ हम संक्षेप में पुनः इन सम्पूर्ण कारणों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

राम में लोकरंजक गुण का अभाव

हमारी समझ में तुलसी द्वारा प्रतिपादित राम के स्वरूप में उस मूल गुण का अभाव था जो लोक-मानस को आकृष्ट कर अपना अभिन्न बना लेता है। राम अद्भुत सौन्दर्यशाली होते हुए भी मादन भाव को उद्बुद्ध करने में असमर्थ थे। वह श्रद्धा के

आलम्बन तो बन सके थे परन्तु प्रेम के नहीं । और काव्य अनादि काल से प्रेम का चितेरा रहा है । कलाकार प्रेम के उन्मुक्त, स्वच्छन्द रूप के ही उपासक रहे हैं । उन्हें प्रेम-मार्ग में किसी भी प्रकार का बन्धन स्वीकार्य नहीं । तुलसी-रचित राम-काव्य इस दृष्टि से अशक्त और मर्यादावादी था । तुलसी का पूर्ववर्ती, समकालीन या परवर्ती कोई भी कवि राम-चरित की ओर आकृष्ट नहीं हुआ था । इसका कारण यह था कि युगों से राम के जिस रूप की प्रतिष्ठा होती आई थी, उस रूप में माधुर्य-भाव का आलम्बन बनने के गुण और शक्ति का अभाव था । इसके विपरीत कृष्ण का चरित्र बहुत पहले से माधुर्य-भाव का आलम्बन बन चुका था । हम काव्य का अध्ययन रसास्वादन के लिए करते हैं, लोक-पक्ष हमारे सामने बाद में आता है । काव्य का अध्ययन उपदेश या ज्ञान प्राप्त करने के लिए नहीं किया जाता । तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम होने के कारण हमें उपदेश देते हैं, आतंकित करते हैं, इसलिए हमारे सरस माधुर्य-भाव के आलम्बन नहीं बन पाते । कृष्ण हमें आतंकित नहीं करते, हमें अपने और प्यारे लगते हैं क्योंकि वे अपनी क्रीड़ाओं द्वारा हमारे माधुर्य भाव को पोषण देते हैं । कवि या कलाकार उपदेशक नहीं होता । उसका मूल उपजीव्य माधुर्य-भाव ही रहता है । यही कारण है कि कृष्ण का रूप और चरित्र कवियों को अधिक आकर्षित करता रहा है । तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम मात्र तुलसी के ही बनकर रह गए । परवर्ती रामभक्तों ने राम को जब अपने माधुर्य-भाव का आलम्बन बनाया तो एक तरफ राम का यह नवीन रूप तुलसी के राम के सम्मुख जनता द्वारा गृहीत न हो सका, और दूसरी ओर राम के इस नवीन घोर अश्लील, कामरत घिनौने रूप के प्रति कोई भी श्रेष्ठ कलाकार आकर्षित नहीं हुआ । केवल रसिक-सम्प्रदायी राम-भक्त, जिनमें उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा का अभाव था, इस नवीन रूप का अंकन करते रहे । अतः राम-काव्य का श्रेष्ठ-काव्य के रूप में आगे विकास न हो सका । कविगण जय-देव, चण्डीदास, विद्यापति, सूर, नन्ददास आदि द्वारा निर्मित भक्ति और माधुर्य भाव का समान रूप से आलम्बन बनने की क्षमता रखने वाले कृष्ण रूप की ओर ही आकर्षित होते रहे ।

राम-काव्य की मर्यादा और गम्भीरता

तुलसी का राम-काव्य सामाजिक मर्यादा के रक्षण का साहित्य था । इसमें सामाजिक विधि-निषेध की ओर विशेष ध्यान दिया गया है । मर्यादा की इस गम्भीरता, गुरुता और उच्च नैतिक स्तर के कारण जनता उससे मार्ग-दर्शन तो पाती रही परन्तु वह कवि या जन-मानस की कोमल भावनाओं का आलम्बन न बन सका । उसके प्रति मात्र श्रद्धा की भावना बनी रही । तुलसी ने अपने सन्तुलित दृष्टिकोण और अद्भुत काव्य-प्रतिभा द्वारा राम के लोकरक्षक और लोकरंजक रूपों में जो समन्वय स्थापित किया था, उनके परवर्ती कवि ऐसा करने में असमर्थ रहे ।

कृष्णकाव्य की लोकप्रियता

कृष्ण का परम्परा-पोषित लोकरंजक रूप अपनी माधुर्य-भावना के कारण जनता की स्वाभाविक चित्तवृत्ति के अधिक अनुकूल था। जनता राम की याद संकट के क्षणों में ही अधिक करती है, क्योंकि वे लोक-उद्धारक हैं। परन्तु अनुभूति की तन्मयता के क्षणों में कृष्ण ही हमारी कोमल भावनाओं को प्रश्रय प्रदान करते हैं। कवि स्वभाव से ही अनुभूतिजन्य तन्मयता में निमग्न रहता है। इसलिए कृष्ण का सौंदर्य-प्रेमी, ललित, कोमल रूप ही कवि को अधिक आर्कषित करने की क्षमता रखता है। कृष्णभक्ति के प्रचारक वल्लभाचार्य आदि मानव-स्वभाव के इस पक्ष से परिचित थे। इसीलिए उन्होंने अपनी उपासना-पद्धति में कृष्ण के कोमल और मधुर रूप की उपसना का ही विधान रखा था। कृष्ण का यह रूप कवि और माधुर्य-भावना के उपासकों के लिए ग्राह्य और अनुकूल था। इसी कारण भक्त और कवि इस रूप के प्रति अधिक आर्कषित हुए थे। यही कारण है कि हिन्दी का कृष्ण-काव्य परिमाण, प्रभाव, सौन्दर्य और श्रेष्ठता की दृष्टि से, राम-काव्य की तुलना में श्रेष्ठ रहा है। राम-काव्य-परम्परा में तुलसी के अतिरिक्त एक भी उल्लेखनीय कवि नहीं मिलता, जबकि कृष्ण-काव्य-परम्परा में दर्जनों श्रेष्ठ कवि मिल जाते हैं। क्योंकि कृष्ण का वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित रूप भक्त और कवि—दोनों का समान रूप से आलम्बन बनने की क्षमता रखता है। इसी कारण कृष्णकाव्य का रामकाव्य की तुलना में अधिक प्रचार हुआ।

भाषागत काव्य-रूपों की भिन्नता

राम-चरित्र आरम्भ से ही कथा-काव्य के रूप में प्रस्तुत होता आ रहा था। 'वाल्मीकि रामायण' में इसका जो रूप प्रस्तुत किया गया था, वही किंचित् परिवर्तनों के साथ परवर्ती कवियों द्वारा अपनाया जाता रहा। परन्तु कृष्ण का चरित्र इस प्रकार सुव्यवस्थित कथा-रूप में नहीं अपनाया गया था। महाभारत में भी कृष्ण एक प्रमुख पात्र बनकर ही रह गए थे। उसमें भी उनका वह जीवन नहीं आया था जो कृष्णभक्तों का उपास्य बना। महाभारत में द्वारिकाधीश कृष्ण ही सामने आए थे, न कि नन्द-यशोदा और राधा तथा गोपियों के लाड़ले कृष्ण। सबसे पहले श्रीमद्भागवत में कृष्ण के इस नवीन मोहक रूप की स्थापना की गई थी। परवर्ती कृष्णभक्तों ने उनके इसी रूप को अपनाया था। इसमें कृष्ण के बाल और किशोर रूपों को ही प्रधानता मिली थी जो विस्तृत प्रबन्धों का आश्रय न बनकर, केवल मुक्तक का ही विषय बनने की क्षमता रखता था। भावुक भक्तों को कृष्ण का यही रूप अधिक प्रिय था। इसलिए कृष्ण आरम्भ से ही, हिन्दी में तो निश्चित रूप से, मुक्तक-काव्य के आलम्बन बने रहे। हिन्दी में कृष्ण-चरित्र का प्रस्फुटन मुक्तक-काव्य के रूप में ही अधिक हुआ और राम-चरित्र का प्रबन्ध-काव्य के रूप में।

हमारी धारणा है कि अवधी भाषा की प्रकृति प्रबन्ध-काव्य के अनुरूप ही

अधिक रही है। अधिकांश प्रेमाख्यान अवधी में ही लिखे गए थे और तुलसी ने 'राम-चरितमानस' की रचना अवधी में ही की थी। अवधी में रचा गया मुक्तक-काव्य कभी भी लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सका है। इसके विपरीत ब्रजभाषा की प्रकृति मुक्तक-काव्य के अनुरूप अधिक रही है। हम आरम्भ से ही, हिन्दी के आरम्भिक विकास के समय से ही, ब्रजभाषा में मुक्तक-काव्य की रचना होते हुए पाते हैं। आरम्भिक-कालीन प्रबन्ध-काव्यों में भी जहाँ ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है, उसकी प्रकृति मुक्तक की ही अधिक रही है। सम्भवतः तुलसी इन दोनों भाषाओं की इन भिन्न प्रकृतियों को पहचानते थे। इसी कारण उन्होंने प्रबन्ध-काव्यों की रचना अवधी में और मुक्तक काव्य की रचना ब्रजभाषा में की थी। कृष्ण-चरित्र मुक्तक-काव्य का ही आलम्बन बना था। ब्रजभाषा में सफलतापूर्वक प्रबन्ध-काव्य नहीं लिखे जा सकते, इसका सबसे बड़ा प्रमाण सूरदास का 'सूरसागर' है। उसमें सूर जहाँ कथा कहते हैं, वे स्थल त्अयन्त नीरस और अकलात्मक हैं। शृंगार काल में लगभग साढ़े तीन सौ प्रबन्ध-काव्य रचे गए थे परन्तु एक भी लोकप्रिय न हो सका क्योंकि वे सब ब्रजभाषा में रचे गए थे। कृष्ण-काव्य की प्रधान भाषा ब्रज रही है और भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल के आरम्भ तक कृष्ण-चरित्र की अवतारणा प्रधानतः मुक्तक काव्य के रूप में ही होती रही है।

राम-भक्ति की तुलना में कृष्ण-भक्ति की अधिक लोकप्रियता ने इन दोनों भाषाओं की लोकप्रियता पर भी गहरा प्रभाव डाला था। कृष्ण-भक्ति के उत्कर्ष के साथ ही ब्रजभाषा की उन्नति और अवधी की उपेक्षा होनी आरम्भ हो गई थी। यदि तुलसी 'मानस' की रचना अवधी में न करते तो शायद अवधी का इतना उत्कर्ष भी न हो पाता। कृष्ण के लोकरंजक रूप ने कवियों को अधिक आकृष्ट किया और कृष्ण-चरित मुक्तक-काव्य का उपादान बन जन-मानस पर छा गया। फलतः ब्रज-भाषा प्रधान काव्य-भाषा बन गई और कृष्ण-चरित्र को लेकर आगे बढ़ी। जब ब्रज प्रधान काव्य-भाषा बन गई तो श्रेष्ठ और सामान्य सभी प्रकार के कवि इसी को अपना कर आगे बढ़े और हिन्दी के भंडार को मुक्तकों से आपूरित कर दिया। राम-चरित्र प्रबन्ध-काव्य का विषय था, इसलिए भी ब्रजभाषा के उस अदम्य प्रवाह में उसकी उपेक्षा अनायास ही होती रही। यह भी राम-काव्य का विकास न होने का एक प्रधान कारण रहा था।

राम-काव्य की सामान्य विशिष्टताएँ

उत्तर भारत में राम-भक्ति के मुख्य प्रवर्त्तक, पहले रामानुजाचार्य और बाद में रामानन्द माने जाते हैं। इन्होंने राम के सगुण और निर्गुण—दोनों रूपों की उपासना का विधान किया था। इस उपासना में दास्य-भाव की प्रधानता थी, यद्यपि कबीर आदि निर्गुणोपासकों ने राम के प्रति माधुर्य-भाव भी व्यक्त किया था। परन्तु तुलसी ने दास्य-भाव की भक्ति की प्रतिष्ठा कर राम-भक्ति को एक निश्चित दिशा की

ओर उन्मुख कर दिया था। तुलसी ने राम के लोकरक्षक और लोकरंजक—दोनों रूपों का समन्वय कर समाज के सम्मुख एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया था जो लोक और भक्ति—दोनों का आलम्बन बनने में समर्थ था। इस भक्ति-पद्धति में साधनावस्था को मान्यता प्रदान करते हुए प्रयत्न पक्ष को प्रधान माना गया था। इसमें लोक-जीवन गहरे रूप से सम्बद्ध था। व्यक्ति की अपेक्षा लोक को अधिक मान्यता प्रदान की गई थी। राम लोकरक्षक के रूप में ही अधिक लोकप्रिय हुए थे।

इसमें प्रबन्ध और मुक्तक—दोनों प्रकार की रचनाएँ हुई थीं। राम के चरित्र का वर्णन दोनों ही रूपों में किया गया था। तुलसी काव्य के इन दोनों रूपों को पर्याप्त उत्कर्ष प्रदान करने में समर्थ रहे थे। परन्तु उनके परवर्ती राम-भक्त कवि इनमें से एक भी रूप का समुचित निर्वाह करने में असमर्थ रहे। राम-चरित्र ब्रज और अवधी—दोनों भाषाओं में लिखा गया था। अवधी में राम सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्य लिखे गए थे और ब्रज में मुक्तक रूप में राम का वर्णन किया गया था। तुलसी ने इन दोनों भाषाओं को उत्कर्ष प्रदान किया था। तुलसी के परवर्ती कवियों ने भी न्यूनाधिक रूप में इन दोनों भाषाओं को और काव्य-रूपों को अपनाया था, परन्तु उनकी रचनाएँ साधारण कोटि की ही बनकर रह गईं। भाषा-विकास और काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से तुलसी के परवर्ती रामभक्तों की रचनाओं का विशेष महत्त्व नहीं माना जा सकता, ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही रहा हो। राम-काव्य में अनेक प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया गया। अकेले तुलसी ने ही पूर्ववर्ती एवं समकालीन हिन्दी-साहित्य में प्रचलित लगभग सभी शैलियों में काव्य-रचना की थी। तुलसी के परवर्ती रामकथाकारों ने प्रायः दोहा-चौपाई और पदों की शैलियों को ही अपनाया था। राम-काव्य में यद्यपि संगीत का समावेश तो किया गया था परन्तु वह विशुद्ध रूप से गीतिकाव्य न बन सका। गीतिकाव्य में संगीत की जिस परिमाण में आवश्यकता होती है, वह राम-काव्य में न आ सकी।

राम-काव्य का उद्गम वाल्मीकि रामायण, रघुवंश, उत्तर राम-चरित, अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक आदि संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थ माने जाते हैं। राम-काव्य मूलतः मर्यादावादी रहा है। उसमें सामाजिक और शास्त्रीय मर्यादाओं के पालन पर अधिक बल दिया गया है। इस काव्य की—विशेष रूप से तुलसी-रचित रामकाव्य की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि यह लोक-जीवन के समानान्तर चला है। रामकाव्य की रचना में तुलसी का मूल उद्देश्य—लोक का चित्रण कर लोक-जीवन के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना रहा था। परन्तु तुलसी का परवर्ती रामकाव्य लोक-जीवन से विच्छिन्न हो व्यक्तिगत, गुह्य साधना का चितेरा बनकर ही रह गया।

रामकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास थे। बल्कि कहना चाहिए कि यदि रामकाव्य में से तुलसी-रचित काव्य को हटा दिया जाय तो लोक और साहित्य की दृष्टि से शेष समस्त रामकाव्य का कोई भी महत्त्व नहीं रह जाता।

कृष्ण-भक्ति काव्य

कृष्ण का सार्वभौम व्यक्तित्त्व

सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में कृष्ण का चरित्र—एक ऐसा चरित्र है जो अपने विविध मुखी परस्पर-विरोधी व्यक्तित्त्व, लोक नायकत्त्व, रूढ़ मान्यताओं का भंजक, घोर विलासी होते हुए भी योगिराज, राजनीति और कूटनीति का दक्ष प्रयोक्ता, असुर संहारक, उद्भट विद्वान् और युगद्रष्टा, और भक्ति के सबसे ललित, आकर्षक और मोहक रूप का अधिकारी रहा है। कृष्ण के ये रूप परस्पर इतने भिन्न रहे हैं कि उन्हें एक ही व्यक्ति का रूप मानने में सहज ही विश्वास नहीं हो पाता। वह मंत्रद्रष्टा ऋषि हैं, राजनीति के कुशल संचालक सर्वश्रेष्ठ योद्धा हैं, भीष्म पितामह जैसे वयोवृद्ध उन्हें युग का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति और भगवान का अवतार घोषित करते हैं, यही कृष्ण बचपन में गोकुल में दूध-दही की चोरी करते फिरते हैं, किशोर वय में राधा और गोपियों के साथ रास-लीला रचाते हैं, और फिर अत्याचारी कंस का वध करने के लिए इस सम्पूर्ण राग से मुक्त और निर्लिप्त बन राजनीति का संचालन करने मथुरा चले जाते हैं। कुछ विद्वानों ने कृष्ण के इन तीनों रूपों को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का रूप माना है। उनका मत है कि कालान्तर में नाम-साम्य के कारण कृष्ण के इन तीनों रूपों का एकीकरण कर दिया गया था।

ऋग्वेद में कृष्ण का उल्लेख एक मंत्रद्रष्टा ऋषि के रूप में हुआ है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में कृष्ण देवकी के पुत्र, घोर आंगिरस के शिष्य और एक वैदिक-ऋषि के रूप में उल्लिखित हैं। महाभारत में कृष्ण पांडवों के सखा और सम्बन्धी, कुशल राजनीतिज्ञ और विष्णु के अवतार के रूप में अपने युग के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष बन जाते हैं। यदि प्रचलित विश्वास के अनुसार गीता को महाभारत का ही अंश स्वीकार कर लिया जाय तो कृष्ण एक धर्म-संस्थापक ऋषि, पूर्ण ब्रह्म के अवतार का भी रूप धारण कर लेते हैं। महाभारत में कृष्ण के बाल-जीवन, गोकुल में नन्द-यशोदा और गोप-गोपियों के साथ बिताए गए जीवन का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।

केवल शिशुपाल उन्हें गाली देते समय इस जीवन के प्रति हल्का सा संकेत करता दिखाई पड़ता है।

पुराणों में आकर कृष्ण का वह रूप प्रस्फुटित होता दिखाई पड़ता है, जो आगे चलकर भक्ति का आलम्बन बनता है। हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, ब्रह्म पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण और भागवत पुराण में कृष्ण के बाल-जीवन का रूप उत्तरोत्तर उभरता चला जाता है। श्रीमद्‌भागवत (भागवत पुराण) में तो उनके बाल और किशोर जीवन की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है। और उनका यही रूप, आगे चलकर, भक्ति का आलम्बन बनता है। कृष्ण का महाभारत वाला रूप, राम के समान लोक-नायक का रूप बन सकता था परन्तु माधुर्य-भाव की भक्ति का नहीं। कृष्ण के बाल और किशोर रूप में माधुर्य-भक्ति के उपासकों को अपना मनोवांछित उपास्य मिल गया था, इसलिए उन्होंने कृष्ण के महाभारत वाले रूप को अधिक महत्त्व नहीं दिया।

कृष्ण एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। बौद्ध और जैन-साहित्यों में कृष्ण का उल्लेख एक क्षत्रिय वीर के रूप में मिलता है। विष्णु के विभिन्न अवतारों में कृष्ण की गणना होती आई है। परन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि कृष्ण की पूजा या उपासना कब से आरम्भ हुई थी। ईसा पूर्व चौथी सदी में मथुरा के आस-पास कृष्ण की पूजा होने का उल्लेख मेगास्थनीज ने किया है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष (पहली सदी) के 'बुद्ध-चरित' में गोपाल कृष्ण की लीलाओं का उल्लेख हुआ है। हाल की 'गाथा सप्तशती' में कृष्ण, राधा, गोपी, यशोदा आदि का कृष्ण की अनेक लीलाओं के सन्दर्भ में उल्लेख मिलता है। राधा का सर्वप्रथम उल्लेख इसी ग्रन्थ में हुआ है। आठवीं सदी में रचित भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नामक नाटक के मंगलाचरण में राधा और कृष्ण के रास का वर्णन किया गया है। श्रीमद्‌भागवत (आठवीं-नवीं सदी) में राधा एक विशिष्ट गोपी के रूप में सामने आती है। इसके उपरान्त ऐसे अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें राधा की भक्ति को महत्त्व प्रदान किया गया है। दक्षिण-भारत में सातवीं-आठवीं सदी तक आलवार भक्तों में कृष्ण की उपासना का प्रचार हो चुका था और उसी का पल्लवित रूप हमें श्रीमद्‌भागवत में मिलता है। बारहवीं सदी तक कृष्ण और राधा पूर्णरूपेण भक्ति के आलम्बन बन चुके थे। और इसके उपरान्त तो लोकभाषाओं में राधा-कृष्ण विषयक भक्तिभावपूर्ण परन्तु शृंगार-प्रधान ग्रन्थों की अबाध शृंखला मिलती है।

कृष्ण और राधा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक देशी और विदेशी विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। कोई कृष्ण को अहीरों का देवता और राधा को उन्हीं की देवी मानते हैं। कुछ विदेशी विद्वान् कृष्ण को 'क्राइस्ट' का पर्याय मान कृष्ण के बाल रूप पर क्राइस्ट के बाल-रूप की छाया सिद्ध करते हैं। परन्तु ये सारी कल्पनाएँ मात्र कल्पनाएँ ही बनकर रह गई हैं। कोई भी विद्वान् ठोस ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा अपनी बात सिद्ध नहीं कर सका है। अस्तु, उन पर विचार करना व्यर्थ है।

कृष्ण-भक्ति की पूर्व परम्परा

साधारणतः यह माना जाता है कि उत्तर भारत में वल्लभाचार्य ने ही कृष्ण-भक्ति का प्रणयन किया था और सूर हिन्दी के पहले कृष्ण-भक्त कवि थे। सूर को भले ही हिन्दी का पहला कृष्ण-भक्त कवि मान लिया जाय, यदि विद्यापति को भक्त-कवि न माना जाय तो, परन्तु उत्तर भारत में वल्लभाचार्य से पूर्व भी कृष्ण-भक्ति प्रचलित थी। यहाँ कृष्ण-कथा दीर्घकाल से गाई जाती रही थी। कृष्ण-कथा को कृष्ण-भक्ति-गाथा का रूप भागवत पुराण द्वारा बहुत पहले प्रदान किया जा चुका था। परन्तु उत्तर-भारत में कृष्णलीला-गान की जो परम्परा बारहवीं सदी के आसपास जयदेव के 'गीतगोविन्द' में मिलती है वह भागवत की लीलागान परम्परा से भिन्न रही है। इसी को लक्ष्य कर डा० द्विवेदी ने अनुमान लगाया है कि—"सम्भवतः दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में भागवत-परम्परा से भिन्न भी कोई लीलागान की शास्त्रीय परम्परा थी। जयदेव का 'गीतगोविन्द' पूर्णरूप से भागवत-परम्परा का ग्रन्थ नहीं है। उसमें राधा प्रमुख गोपी हैं जो भागवत में अपरिचित हैं। फिर 'गीतगोविन्द' का रास वसन्त-रास है जबकि भागवत का शरद-रास।"

बौद्ध-सिद्धों के गेय पदों के रूप में उत्तर भारत में, और विशेष रूप से पूर्वी भारत—बंगाल, बिहार, उड़ीसा आदि में गेय पदों की एक समृद्ध परम्परा बहुत पहले से चली आ रही थी। जयदेव बंगाल के ही थे। जयदेव ने सर्वप्रथम कृष्ण-लीला को अपने गेय पदों का माध्यम बनाया था। जयदेव का गहरा प्रभाव उनके अनेक परवर्ती कवियों पर लक्षित होता है। उनके परवर्ती विद्यापति और चण्डीदास ने गेय पदों में कृष्णलीला का वर्णन किया। विद्यापति पर तो जयदेव का इतना गहरा प्रभाव था कि उन्हें 'अभिनव जयदेव' की उपाधि प्रदान की गई। इनके पदों में तन्मयता इतनी अधिक थी कि महाप्रभु चैतन्य उन्हें गाते-गाते मूर्च्छित हो जाते थे। विद्यापति के कृष्णलीला सम्बन्धी पदों को यद्यपि भक्ति के पद नहीं माना जाता परन्तु उनमें श्रृङ्गार का संगीत के सहयोग से ऐसा प्रभावशाली और मादक चित्रण हुआ कि उनके परवर्ती कृष्णभक्त कवि उनके इस प्रभाव को अस्वीकार करने में असमर्थ रहे। सूरदास के पदों पर विद्यापति का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। कुछ विद्वानों का यह मत रहा है कि गेय पदों की कृष्ण-भक्ति विषयक परम्परा का श्रीगणेश सूरदास ने ही किया था। परन्तु उपर्युक्त तथ्यों से यह प्रमाणित हो जाता है कि कृष्ण-लीला विषयक काव्य और गेय पदों की परम्परा उत्तर भारत में सूर से पहले से चली आ रही थी। वह सूरदास के साहित्य में एकाएक नहीं प्रकट हुई थी। सूर ने उस परम्परा को समृद्ध विकास दिया था। वस्तुतः हिन्दी में कृष्णलीला-सम्बन्धी गेय पदों के आदि प्रवर्त्तक सूर ही थे।

कृष्ण-भक्ति का उद्भव और विकास

कृष्ण को जब ब्रह्म का अवतार मान लिया गया तो उनकी भक्ति का प्रचार

भी आरम्भ हो गया। अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में कृष्ण का रूप भिन्न-भिन्न विकास पाता रहा। परन्तु कृष्णभक्ति का मूल उद्‌गम सगुण भक्ति का प्रतिपादन करने वाला प्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्रीमद्‌भागवत' ही माना जाता है। महाभारत में जो कृष्ण विष्णु के अवतार माने गए थे, 'भागवत' में उन्हें पूर्ण ब्रह्म के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। महाभारत के कृष्ण लोक-रक्षण और लोक-कल्याण करने वाले थे। परन्तु भागवत में उनके उस बाल और किशोर रूप की प्रतिष्ठा की गई, जो गहरे प्रेम का आलम्बन बनने में समर्थ था। इसी कारण भागवत को कृष्ण-भक्ति का सर्वप्रथम और सर्वप्रधान ग्रन्थ माना गया। मध्वाचार्य ने अपने द्वैत-सिद्धान्त में भागवत के आधार पर कृष्णोपासना पर विशेष बल दिया। इस समय तक राधा कृष्ण का अभिन्न अङ्ग नहीं बन पाई थी। आगे चलकर विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य ने राधा की पूर्ण प्रतिष्ठा की। निम्बार्क-सम्प्रदाय में ही जयदेव हुए जिन्होंने राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं का वर्णन करते हुए 'गीतगोविन्द' की रचना की। कालान्तर में चैतन्य स्वामी और वल्लभाचार्य ने राधा-कृष्ण-भक्ति के प्रचार-प्रसार में ऐतिहासिक योग प्रदान किया। इन्होंने राधा की उपासना पर विशेष बल दिया।

चैतन्य और वल्लभाचार्य का योगदान

सर्वप्रथम निम्बार्काचार्य ने विष्णु के स्थान पर कृष्ण का सगुण-रूप भक्ति के लिए उपस्थित किया और राधा को उनकी शक्ति मान राधा-कृष्ण के युगल-रूप की उपासना का विधान किया। चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य ने इसे समस्त उत्तर-भारत में व्यापक बनाया। चैतन्य का प्रचार-क्षेत्र बंगाल रहा। उनकी भक्ति ने सौंदर्यमय मुदित प्रेम का रूप धारण किया। वल्लभाचार्य ने ब्रज-प्रदेश को अपना केन्द्र बनाया और उनके प्रभाव से हिन्दी-साहित्य में कृष्ण-भक्ति-काव्य फूला-फला। उन्होंने कृष्ण की माधुर्य भक्ति का प्रचार किया। उनकी भक्ति-पद्धति में कृष्ण के बाल और किशोर रूप की उपासना सखा-रूप में की गई। वल्लभाचार्य के उपरान्त उनके पुत्र और उत्तराधिकारी गोस्वामी विट्ठलनाथ ने कृष्ण-भक्ति का नेतृत्व ग्रहण कर हिन्दी के आठ प्रमुख कृष्णभक्त कवियों को सम्मानित करने के लिए 'अष्टछाप' की स्थापना की। 'अष्टछाप' के कवियों ने राधा और गोपियों का वर्णन 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' और 'श्रीमद्‌भागवत' के आधार पर किया। इन्होंने राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष माना। इन्होंने राधा और गोपियों के दो रूप माने। **पहला**—आनन्द विधायिनी तथा सृष्टिकारिणी शक्ति रूपा; **दूसरा**—कान्ता-भाव से ईश्वर भक्ति करने वाली रस-शक्ति-सिद्ध रूपा। इन्होंने राधा और गोपियों को स्वकीया के रूप में चित्रित किया, न कि गौड़ीय वैष्णव भक्तों के समान परकीया रूप में।

प्रेम-लक्षणा भक्ति

हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों को प्रेम-लक्षणा भक्ति का अनुयायी माना जाता है। प्रेम-लक्षणा भक्ति में माधुर्य भाव से अपने आराध्य की उपासना की जाती है।

इसलिए आराध्य को पुरुष सौंदर्य का पूर्ण प्रतीक बना उसे माधुर्य-भाव का आलम्बन बनाया जाता है। प्रेम-भावना इस भक्ति की मूलाधार होती है। और इस प्रेम का पूर्ण रूप प्रस्तुत करने के लिए आराध्य के युगल-रूप अर्थात् नर-नारी समन्वित रूप की स्थापना के लिए आराध्य के साथ उसकी शक्ति के रूप में नारी को जोड़ दिया गया है। नर-नारी का युगल रूप ही पुरुष और प्रकृति का प्रतिनिधि बन भक्तों के सम्मुख उपस्थित होता है। कृष्ण-भक्ति में इस युगल-रूप की उपासना का ही विधान रहा है। कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति राधा भक्तों के माधुर्य-भाव के पोषण का माध्यम बन जाती है और इसी के कारण इस भक्ति-पद्धति में शृङ्गार का प्राधान्य रहा है।

तुलसी जैसे रामभक्तों और सूर जैसे कृष्णभक्तों में हमें शृंगार की न्यूनता और अतिशयता का जो रूप मिलता है उसका मूल कारण यह रहा है कि तुलसी ने सीता को राम की शक्ति मानते हुए भी उन्हें राम की तुलना में कम महत्त्व दिया है। तुलसी राम के उपासक हैं। वह सारे विश्व को 'सीयाराममय' भले ही मानते हों परन्तु 'विनयपत्रिका' में सीता से यह आग्रह करते हैं कि वे राम से उनकी सिफारिश कर उन्हें राम की भक्ति का अधिकारी बना दें। यहाँ तुलसी सीता को राम से अलग कर देते हैं। यहाँ राम-सीता युगल-रूप होते हुए भी तुलसी की भक्ति के आलम्बन केवल राम ही बनते हैं। और राम के प्रति तुलसी का भाव दास का सा है। इसलिए वहाँ शृंगार के लिए अधिक गुंजायश नहीं रह जाती। इसके विपरीत सूर आदि कृष्णभक्त राधा-कृष्ण के युगल रूप की उपासना सखा-भाव से करते हैं। वे राधा और कृष्ण; दोनों को समान महत्त्व प्रदान करते हैं। राधा उनके माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाती है। राधा के साथ गोपियों का समावेश इस माधुर्य भाव को और अधिक उत्तेजना प्रदान करता है। कृष्णभक्तों की कृष्ण के प्रति वैसी ही प्रेम-भावना रही है जैसी कि राधा और गोपियों की कृष्ण के प्रति है। इस प्रकार कृष्णभक्त राधा और गोपियों के माध्यम से अपने माधुर्य भाव को ही अभिव्यक्ति प्रदान करते रहे हैं। अभिव्यक्ति के लिए नारी जैसा सरस माध्यम मिल जाने के कारण कृष्ण-काव्य शृंगार रस से ओतप्रोत हो उठा है। रामभक्ति में इसकी गुंजायश नहीं थी इसलिए उसमें शृंगार अपने अत्यन्त सीमित और सन्तुलित रूप में ही स्थान पा सका।

प्रेमभावना की तुष्टि का साधन

कृष्णभक्ति एक प्रकार से मानव की प्रेम-भावना की तुष्टि का साधन बन गई थी। प्रेम-भावना अपनी तुष्टि के लिए कोई-न-कोई साधन खोजती रहती है। संसार का अधिकांश साहित्य इसी भावना की तुष्टि का प्रयत्न रहा है। हिन्दी के रासो-ग्रन्थों में हमें इसका यही रूप मिलता है। कबीर आदि सन्तों ने भी अपनी भक्ति-भावना में इसका समावेश किया था और प्रेमगाथाकार तो एकमात्र इसी भावना को लेकर

साहित्य-क्षेत्र में उतरे थे। और आगे चल कर कृष्ण-भक्तों ने भी यही किया था। अन्तर केवल अभिव्यक्ति के रूपों में रहा। मूल-भावना वही थी। प्रेम-भावना मानव की सर्वाधिक सशक्त और व्यापक भावना होती है। साहित्य के माध्यम से जब वह लौकिक वासना जन्य रूप में प्रकट होती है तो उसे अश्लील साहित्य कहने लगते हैं। और वही जब उदात्त रूप धारण कर अलौकिक रूप में प्रकट होती है तो हम उसे 'भक्ति' मान लेते हैं। मूल भाव वही रहता है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति के रूपों में अन्तर आ जाता है।

प्रेम का उदात्तीकरण

भक्ति में प्रेम का उदात्तीकरण हो जाता है। 'नारदीय भक्ति सूत्र' में प्रेम-भक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि वासनाजन्य लौकिक प्रेम में स्वसुख की कामना होती है, परन्तु ईश्वरोन्मुख प्रेम में इस सुख का परित्याग किया जाता है। 'भक्ति के प्रेम का कोई गुण नहीं होता, उसमें कामना का संस्पर्श नहीं होता, उसका विकास प्रतिक्षण होता है, उसका विच्छेद नहीं होता। वह सूक्ष्म है। उसकी केवल अनुभूति होती है।' कृष्णभक्तों ने प्रेम के इसी उदात्त रूप को भक्ति का आलम्बन बनाया था। और जनता ने उनके इस प्रेमरससिक्त काव्य में अपनी प्रेम-भावना की तुष्टि का आधार पाया था। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कृष्ण-भक्तों के साहित्य की इसी मूल भावना को पहचान, उसका मूल्यांकन करते हुए लिखा है—

"श्रीकृष्ण-भक्ति का साहित्य मनुष्य की सबसे प्रबल भूख का समाधान करता है। वह मनुष्य को बाह्य विषयों की आसक्ति से तो अलग कर देता है, लेकिन उसे शुष्क तत्त्ववादी और प्रेमहीन कथनी का उपासक नहीं बनाता। वह मनुष्य की सरसता को उद्बुद्ध करता है, उसकी अन्तर्निहित अनुराग-लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है, और उसे निरन्तर रससिक्त बनाता रहता है। यह प्रेम-साधना ऐकान्तिक है, वह अपने भक्त को जागतिक द्वन्द्व और कर्त्तव्यगत संघर्ष से हटा कर भगवान के अनन्य-गामी प्रेम की शरण में ले जाती है।"

वल्लभाचार्य का पुष्टि-मार्ग

हिन्दी के कृष्णभक्त कवियों के मूलाधार वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त रहे हैं। माधुर्य भाव की उपासना पुष्टिमार्ग का आधार थी। इसमें कृष्ण के लोकरक्षक रूप की उपेक्षा कर उनके केवल बाल और किशोर रूप की माधुर्य-पूर्ण उपासना पर ही बल दिया गया था। इसके अनुसार बालकृष्ण की लीला में भाग लेना ही भक्त का सर्वस्व है। इसमें माधुर्य भाव का प्राधान्य होने के कारण यह माधुरी-भक्ति कहलाती है। इस भक्ति का पूर्ण-परिपाक राधा-कृष्ण और गोपियों के प्रेम में ही होता है। ये सब लीलाएँ भक्त और भगवान एवं जीव और ब्रह्म के अन्तर को दूर करने का साधन हैं। इसके अनुसार भगवान का अनुग्रह होने पर ही भक्त को भगवान की भक्ति

प्राप्त होती है और उसका उद्धार होता है अन्यथा नहीं। डा० दयानन्द श्रीवास्तव ने पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(१) भक्ति के लिए भगवान का अनुग्रह (पोषण) अनिवार्य है।

(२) भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है।

(३) राधा कृष्ण की आत्मशक्ति हैं।

(४) श्रीकृष्ण का बालरूप ही उपास्य है। इसके साथ माधुर्य भाव से प्रेरित राधा-कृष्ण का युगल रूप भी उपास्य है।

(५) भक्ति दो प्रकार की है—(i) मर्यादा-भक्ति, (ii) पुष्टि-भक्ति। साधन-सापेक्ष्य भक्ति 'मर्यादा भक्ति' है, और साधन-निरपेक्ष भक्ति 'पुष्टि भक्ति' है, जो भगवान के अनुग्रह पर ही आधारित है। अपनी लीला के विलास के लिए भगवान सृष्टि की रचना करते हैं।

(६) पुष्टि के चार रूप हैं—(क) प्रवाह पुष्टि—अर्थात् संसार के मध्य ही भक्ति करना; (ख) मर्यादा पुष्टि—संसार से अनाकर्षित रहकर कृष्ण का गुण-गान करना; (ग) पुष्टि-पुष्टि—कृष्ण के अनुग्रह से प्राप्त भक्ति; (घ) शुद्धि पुष्टि—केवल प्रेम-अनुग्रह के आधार पर कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करना।

यह भक्ति-पद्धति माधुर्य-भाव की भक्ति-पद्धति है। वल्लभाचार्य माधुर्य-भाव के अन्तर्गत वात्सल्य भाव को श्रेष्ठ मानते हैं। परन्तु वे बाद में किशोर कृष्ण की युगल-लीलाओं को भी महत्त्व प्रदान करने लगे थे। वल्लभाचार्य के उपरान्त कृष्ण-भक्ति में कान्ता-भाव का समावेश और प्राधान्य होता हुआ दिखाई देता है। विट्ठल स्वामी ने कान्ता-भाव के प्रति विशेष आग्रह प्रकट किया था। रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी ने अपनी भक्ति-भावना में दाम्पत्य-भाव का समावेश किया था। हितहरिवंश ने भी इसी भाव को विकास दिया था। और हमें इस कान्ता-भाव के विकास की चरम परिणति स्वामी हरिदास के 'सखी सम्प्रदाय' में मिलती है। यह 'सखी-सम्प्रदाय' रामभक्तों के 'रसिक-सम्प्रदाय' का ही प्रतिरूप था। माधुर्य-भाव की भक्ति जब कम प्रतिभावान आचार्यों और भक्तों के हाथ में पड़ जाती है तो उसका परिणाम अश्लीलता के रूप में ही दिखाई पड़ता है। तुलसी की परवर्ती राम-भक्ति की यही परिणति रही थी और परवर्ती कृष्ण-भक्तों ने भी कृष्ण-भक्ति की यही दुर्दशा कर डाली थी। साम्प्रदायिक संकीर्णता इस प्रवृत्ति को खुलकर खेलने का बढ़ावा देती है। कालान्तर में इसमें भक्ति का भाव गौण और लौकिक शृंगार का चित्रण प्रधान स्थान प्राप्त कर लेता है। भक्त लोग इसके माध्यम से अपनी रुद्ध काम-भावना को अभिव्यक्त करने लगते हैं। और इसका अन्तिम परिणाम यह निकलता है कि लौकिक प्रेम के चितेरे कवि भक्तों की उपास्य-मूर्तियों को अपनी उद्दाम शृङ्गार भावना के प्रकाशन का माध्यम बना लेते हैं। शृङ्गार-कालीन शृङ्गारी कवियों ने इसी कारण भक्तों के राधा-कृष्ण को कामशास्त्र का आलम्बन बनाकर घोर शृङ्गारी साहित्य की रचना की थीं।

ऐकान्तिक भक्ति : लोक की अवहेलना

कृष्णभक्तों के आराध्य रसिक-शिरोमणि होने के कारण भक्तों की शृङ्गारिक भावना के ही आलम्बन बनकर रह गए। इस भक्ति-पद्धति में उनके केवल 'सुन्दर' रूप की ही प्रतिष्ठा हो सकी, उनके शक्ति और शील-समन्वित रूप की नहीं। क्योंकि यह माधुर्य-भाव की उपासना थी इसलिए इसमें पौरुष के लिए कोई स्थान नहीं था। 'सूरसागर' में सूर जहाँ कृष्ण के असुर-संहारक रूप और क्रियाओं का वर्णन करते हैं, वहाँ उनकी रुचि इस प्रकार के वर्णनों में रमती नहीं दिखाई पड़ती। इसलिए ऐसे स्थलों पर न तो काव्य-सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है, और न अनुभूति की गहनता ही मिलती है। परन्तु जहाँ सूर कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं या किशोर वय की प्रेम-क्रीड़ाओं का अंकन करते हैं, वहाँ सूर का भक्त और कवि—दोनों ही अपने श्रेष्ठतम रूप में प्रकट हो जाता है। ऐसे स्थलों पर सूर वात्सल्य और प्रेम-रस की ऐसी स्रोतस्विनी प्रवाहित करते हैं कि उससे जन-मानस आकंठ रस-सिक्त हो उठता है। अपनी इसी प्रवृत्ति और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण कृष्ण-भक्त कवि कृष्ण के सुन्दर रूप के साथ शक्ति और शील का समावेश करने में असमर्थ और अनमने रहे हैं। कृष्ण-काव्य में लोक की अवहेलना का यही प्रधान कारण रहा है। कृष्णभक्त तुलसी के समान राजनीति, धर्म, समाज के मंगल आदि की चिन्ता न कर, स्वयं को 'तीन लोक से न्यारी मथुरा' और वृन्दावन तक ही सीमित रख, वहीं आसन मारकर जम गए थे। वे तो 'तन-मन-धन गुरुनई जी के अर्पण' वाले सम्प्रदाय में दीक्षित थे। उनकी मर्यादा सम्प्रदाय की मर्यादा थी, लोक या समाज की नहीं। उन्हें अहर्निशि अपने भगवान का चिन्तन और उनकी क्रीड़ाओं का वर्णन करने में ही आनन्द मिलता था। अपने लोक को भगवान स्वयं सम्हाल लेंगे, भक्त उसकी चिन्ता क्यों करें। ये लोग सामाजिक मर्यादाओं के प्रति इसलिए भी उदासीन रहे थे, क्योंकि इनके आराध्य कृष्ण स्वयं रूढ़ सामाजिक मर्यादाओं के भंजक थे। गोपियाँ इन मर्यादाओं की अवहेलना कर कृष्ण की रास-लीला में सम्मिलित होती थीं। इसीलिए कृष्ण-भक्तों ने समाज की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वे समाज को भूल अपनी ऐकान्तिक उपासना में डूबे रहते थे। इसी कारण भक्ति की तन्मयता के क्षेत्र में ये अनन्य प्रतीत होते हैं। ऐसी तन्मयता और एकाग्रता अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलती। और इसी तन्मयता और एकाग्रता ने कृष्ण-काव्य को काव्य-सौन्दर्य और प्रभाव की दृष्टि से अद्भुत रूप प्रदान किया था।

कृष्ण-भक्ति काव्य की उपलब्धि

यह सत्य है कि इस काव्य में लोक-पक्ष की अवहेलना हुई है। परन्तु यह भी सत्य है कि इस काव्य में प्रेमाश्रित माधुर्य भाव की भक्ति का ऐसा उदात्त, उज्ज्वल और गहन रूप प्रकट हुआ है जो अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। प्रेम और भक्ति—मानव-मन की दो ऐसी उदात्त भावनाएँ हैं जो मन को एकाग्र कर उसे निर्मल,

निस्पृह और उदात्त बना देती हैं। कृष्णभक्तों ने प्रकारान्तर से यही कार्य किया था। जब व्यक्तिगत रूप से मानव का मन निर्मल और उदात्त बन जायेगा तो फिर उसके द्वारा किसी भी प्रकार के अनुचित, विकृत, गर्हित कार्य करने की सम्भावना नहीं रह जाती। और जब समाज में ऐसे व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है तो मानव का जीवन सुखी और सन्तुष्ट बन जाता है। कृष्ण-काव्य हमें अप्रत्यक्ष रूप से यही सन्देश देता है। तुलसी ने जो कार्य प्रत्यक्ष-पद्धति द्वारा सम्पन्न करने का प्रयत्न किया था, कृष्णभक्तों ने वही कार्य अप्रत्यक्ष रूप से किया था। दोनों का ही लक्ष्य मानव-मन का परिष्कार कर, उसे उदात्त बनाना रहा है। और भक्ति का मूल उद्देश्य भी यही होता है। स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति—भक्ति का प्रधान लक्ष्य कभी भी नहीं रहा है। इसी कारण सभी भक्तों ने अपने-अपने आराध्य से केवल उनकी भक्ति की ही याचना की है, न कि मोक्ष या मुक्ति की।

अपने विषय के प्रति पूर्ण तन्मयता और एकाग्रता ऐसे साहित्य को जन्म देती है जो अपने सौन्दर्य और प्रभाव में पूर्ण होता है। और हिन्दी के कृष्णभक्ति-काव्य में हमें यही एकाग्रता और तन्मयता मिलती है। इसी कारण काव्य-सौन्दर्य और प्रभाव की दृष्टि से यह साहित्य हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ साहित्य बन गया है। इसमें शृङ्गार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—का ऐसा भव्य और मार्मिक चित्रण हुआ है कि उसकी तुलना में प्रेमगाथाकारों का चित्रण भी फीका पड़ जाता है।

इस साहित्य की एक उपलब्धि ऐसी है जो इसे लोक-जीवन से सम्बद्ध कर देती है। कृष्ण और गोपियाँ रूढ़ सामाजिक मान्यताओं का खुलकर उल्लंघन करती हैं। राम-चरित्र के समान उनका जीवन बद्ध, रूढ़ धारणाओं से ग्रस्त और आतंकित नहीं रहता। वे वही कहते हैं, जो उन्हें अच्छा लगता है, या जिसे वे अच्छा समझते हैं। इस प्रकार इस साहित्य में लोक की सामान्य भावनाओं का उन्मुक्त प्रकाशन कर इन कवियों ने लोक की उस विद्रोही प्रकृति को अभिव्यक्ति प्रदान की है जो रूढ़ लोक-मान्यताओं से सदैव घृणा करती आई है परन्तु लोकभय के कारण उनका उल्लंघन करने का साहस नहीं कर पाती। इसके अतिरिक्त 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध गोपी-उद्धव-सम्वाद ज्ञानमार्गी योगियों, कृच्छ साधना के उपासक हठयोगियों आदि का उपहास कर भक्ति के सरल, निश्छल मार्ग की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करता है।

रागानुगा भक्ति

इस काव्य में प्रेम के उन्मुक्त रूप का चित्रण हुआ है और यह प्रेम सामाजिक बन्धनों की वश्यता स्वीकार करना नहीं जानता। प्रेम का यह रूप नितान्त स्वाभाविक और लौकिक होते हुए भी अपनी गहनता के कारण अलौकिक रूप धारण कर लेता है। समस्त कृष्णभक्त कवि प्रेम के इसी रूप के उपासक थे। कृष्णभक्ति माधुर्य-

भाव की होने के कारण रागानुगा थी, वैधी नहीं। रागानुगा भक्ति में प्रेम का ही महत्त्व रहता है और वैधी भक्ति में लोकाचार और विधि-विधानों के पालन की अनिवार्यता। रागानुगा भक्ति का यह प्रेम का आदर्श गोपियों के प्रेम के रूप में चरम विकास को प्राप्त हुआ है। यद्यपि वल्लभ-सम्प्रदाय की भक्ति में नन्द-यशोदा के वात्सल्य-भाव का भी पर्याप्त स्थान रहा है परन्तु भक्ति का पूर्ण परिपाक कृष्ण, राधा और गोपियों के पारस्परिक प्रेम के रूप में ही होता है। प्रेम में व्यवधान नहीं रहता। इसी कारण सम्पूर्ण लीलाओं में राधा, कृष्ण और गोपियाँ पूर्ण तन्मय रहते हैं। ये सब लीलाएँ भक्त और भगवान् एवं जीव और ब्रह्म के व्यवधान को लोप करने के साधन हैं।

भक्तों की निराली दुनियाँ : आध्यात्मिक रूप

ब्रज में हुई कृष्ण की लीला शाश्वत है। वृन्दावन गोलोक का प्रतीक है, जहाँ सदैव आनन्दमय रास होता रहता है। कृष्ण ब्रह्म हैं, राधा उनकी शक्ति और गोपियाँ आत्माएँ हैं। प्रत्येक कृष्णभक्त स्वयं को इस लीला का अंश समझता है और इसी रूप में कृष्ण की दैनन्दिन लीलाओं का वर्णन करता है। कृष्ण सुबह उठते, कलेवा करते, गाय चराते, घर लौटते और शयन करते हैं। प्रतिदिन, प्रतिमास और प्रति ऋतु में उनके जीवन की विशेष-विशेष बातों के लिए उत्सव होते हैं। भक्त सदैव इन्हीं के वर्णन में डूबा रहता है। इसलिए अपने आराध्य का मन्दिर ही उसके लिए एक अलग दुनियाँ बन जाता है, जहाँ से बाहर निकलने की उसे फुर्सत ही नहीं मिल पाती। जब उसके आराध्य मन्दिर छोड़कर बाहर नहीं जाते, तो वह स्वयं कैसे बाहर जा सकता है। आराध्य को अकेला छोड़कर स्वयं बाहर चला जाना, भक्ति के अभाव का द्योतक माना जाता है। परन्तु अपने इस सीमित क्षेत्र में कृष्णभक्तों ने निगूढ़ भक्ति-भावना और प्रेम के आनन्द की जो सरिता प्रवाहित की है, वह सम्पूर्ण विश्व को रससिक्त कर देने की क्षमता रखती है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यदि कृष्णभक्तों ने लोक की चिन्ता नहीं की थी तो स्वयं अपनी चिन्ता भी नहीं की थी। वे अपने जीवन की सार्थकता अपने आराध्य का लीलागान करने में ही मानते थे। प्रतिदान में उन्होंने अपने प्रभु से किसी भी चीज की याचना नहीं की थी, तुलसी के समान भक्ति प्राप्त करने के लिए भी अपने आराध्य के सम्मुख नहीं गिड़गिड़ाए थे। आराध्य का लीलागान ही उनका एकमात्र काम्य था। और इस लीलागान में वे इतने अधिक डूब जाते थे कि उन्हें अपनी या अपने कल्याण की सुधि तक नहीं रहती थी।

आचार्य शुक्ल का नीतिवादी आलोचक कृष्णभक्तों की इस तन्मयता और निस्पृहता का सम्मान नहीं कर सका था। उसने लोक और उससे सम्बद्ध नीति की तराजू लेकर इन्हें तौलने का प्रयत्न किया था, और इसीलिए इनके साथ अन्याय कर बैठा था। इसी कारण शुक्ल जी ने इनकी आलोचना करते हुए लिखा था—

"सब सम्प्रदायों के कृष्ण-भक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की बाल-लीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेम-लक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर स्वरूप ही पर्याप्त समझा। महत्त्व की भावना में उत्पन्न श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयव छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोकरक्षक और धर्म-संस्थापक स्वरूप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होंने न समझी।....उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गम्भीर पक्षों के मार्मिक रूप स्फुरित हुए, न अनेक रूपता आई।"

हिन्दी संसार शुक्ल जी की इस प्रकार की आलोचनाओं और दृष्टिकोणों से बहुत दिनों तक प्रभावित रहा है और कुछ अंशों में आज भी है। परन्तु शुक्ल जी की इस अतिशय नीतिवादी आलोचना ने हिन्दी-साहित्य का कितना अहित किया है और हिन्दी के अनेक शीर्ष स्थानीय कलाकारों के साथ जो अन्याय हुआ है, उसने साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी ही बदल डाली है। क्या लोक-हित ही साहित्य का सब-कुछ है ? वहाँ व्यक्ति की अनुभूतियों, लालसाओं और आनन्दोक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है ? यदि ऐसा है तो हमें तुलसी-साहित्य के अतिरिक्त सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य से हाथ धो लेना पड़ेगा। क्योंकि तुलसी की सी स्पष्ट लोक-संग्रह की भावना तुलसी-साहित्य के अतिरिक्त अन्य कहीं भी नहीं मिलती। अस्तु,

कृष्ण-काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

मूल प्रतिपाद्य कृष्ण-लीला गान—सम्पूर्ण कृष्णभक्त कवियों का मूल प्रतिपाद्य अपने आराध्य बाल और किशोर कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का गान करना रहा है। और इस लीलागान का उद्देश्य—लीलागान से प्राप्त आत्मिक आनन्द के, जिसे आध्यात्मिक परिपूर्णता की अभिव्यंजना भी कहा जा सकता है, अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। इस लीलागान में माधुर्य भाव की प्रधानता रहने के कारण शृंगार का प्राधान्य रहा है। सूर, नन्ददास आदि भक्त-कवि तो शृंगार की मर्यादा का निर्वाह करते हुए उसके स्वस्थ रूप का अंकन करने में सफल रहे हैं परन्तु अधिकांश, और विशेष रूप से सूर के परवर्ती बहुत से कृष्णभक्त कवि शृंगार की मर्यादा का अतिक्रमण कर बैठे हैं जिससे लौकिक वासनाजन्य प्रेम का चित्रण प्रधान बन गया है। इस लीलागान का आदि स्रोत 'भागवत' को माना गया है परन्तु मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य भागवत का आश्रय लेते हुए भी अपनी मौलिक उद्भावनाओं के कारण अनुपम और स्पृहणीय बन गया है। भागवत के कृष्ण का ईश्वरत्त्व और अलौकिक रूप कृष्ण-काव्य में बहुत ही कम प्रस्फुटित हुआ है। यहाँ कृष्ण एक मानव-शिशु और मानव-किशोर के रूप में ही नाना प्रकार की मनोरम क्रीड़ाएँ करते हुए हमारे सामने आते हैं। इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें राधा, कृष्ण, गोपियों आदि का लौकिक रूप में वर्णन होते हुए भी सर्वत्र एक आध्यात्मिक सूक्ष्मता और संयम बना रहता है। कृष्ण का ईश्वरत्त्व केवल वहीं प्रकट होता है जहाँ कृष्ण चमत्कार पूर्ण अलौकिक कर्म करते हैं। जैसे मिट्टी खाने पर यशोदा माता को अपना

मुँह फाड़कर विराट रूप के दर्शन कराना आदि। इसके अतिरिक्त कृष्ण सर्वत्र लौकिक ही बने रहते हैं। और कृष्ण की यह लौकिकता ही उनके भक्तों को उनका पूर्ण आत्मीय बना देती है। सूर आदि के विनय-सम्बन्धी पदों में आराध्य की जिस अलौकिकता के दर्शन होते हैं, वह उनके वल्लभ-मत में दीक्षित होने से पहले की रचनाएँ हैं।

शृंगार रस—एक मात्र रस

सम्पूर्ण कृष्णकाव्य का एकमात्र रस 'शृंगार रस' हो रहा है। सूर आदि की कृष्णभक्ति सख्य-भाव की भक्ति रही है। और सख्य-भाव की भक्ति में माधुर्य-भाव की प्रधानता रहने के कारण शृंगार रस का चित्रण अनिवार्य बन जाता है। तुलसी की सी दास्य भाव की भक्ति में दैन्य की प्रधानता रहने के कारण आराध्य के शृंगारिक पक्ष का उद्‌घाटन सम्भव नहीं था। परन्तु सख्य-भाव का भक्त अपने आराध्य रसिक-शिरोमणि कृष्ण की शृंगारिक चेष्टाओं का निस्संकोच अंकन करना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य समझता है। इसी कारण कृष्णकाव्य शृंगार रस-प्रधान रहा है। इसमें निर्वेद भाव के जनक शान्त रस को कोई स्थान नहीं मिल सका है। प्रेम में जो आत्मीयता होती है वह दैन्य भाव में नहीं आ पाती। इसीलिए कृष्णभक्ति के प्रतिष्ठापक आचार्यों ने अपनी भक्ति-पद्धतियों में दैन्य को कोई स्थान नहीं दिया है। वात्सल्य रस भी शृंगार-रस का ही अंग माना जाता है। परन्तु सूर ने वात्सल्य-भाव का ऐसा मार्मिक, प्रभावशाली चित्रण किया है कि काव्यशास्त्र के आचार्यों को वात्सल्य-रस की पृथक् सत्ता स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया है। इस काव्य में शृंगार के दोनों पक्ष—संयोग और विप्रलम्भ—अपने पूर्ण वैभव, गहनता और मार्मिकता के साथ अंकित हुए हैं। इस शृंगार-चित्रण की यह विशेषता रही है कि वह लौकिक रहते हुए भी आध्यात्मिक भावनाओं के उच्चतम शिखरों पर आसीन दिखाई पड़ता है। यदि इसमें यह भव्यता, उदात्तता और अलौकिकता न रहती तो यह भी परवर्ती शृंगारी कवियों के शृंगार रस के समान मलिन और पंकिल बन जाता।

भक्ति-भावना

हम पीछे कह आए हैं कि कृष्णभक्तों की भक्ति रागानुगा थी, वैधी नहीं। रागानुगा भक्ति में आराध्य के प्रेमपूर्ण सौन्दर्यमय रूप की ही उपासना की जाती है। यह भक्ति किसी भी प्रकार के विधि-निषेधों को स्वीकार नहीं करती, इसी कारण इसमें लोक-संग्रह की भावना को स्थान नहीं मिल सका है। साधना की दृष्टि से वैधी भक्ति का आरम्भ और रागानुगा-भक्ति—भक्ति की चरम परिणति मानी जाती है। इसी कारण मर्यादा वेष्टित वैधी-भक्ति के उपासक तुलसी अन्त में सबसे राम-भक्ति प्राप्त कराने की ही याचना करते दिखाई पड़ते हैं जबकि एक भी कृष्णभक्त ऐसी याचना करता नहीं मिलता। इस रागानुगा भक्ति में कान्ता-भाव का प्राधान्य रहा है। कृष्ण-भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों में इस कान्ता-भाव के दो रूप मिलते हैं—स्वकीया

भाव वाला और परकीया भाव वाला। निम्बार्क, वल्लभ, राधा वल्लभी आदि सम्प्रदायों में राधा और गोपियों को स्वकीया मान सामाजिक मर्यादा की रक्षा कर ली गई है परन्तु चैतन्य-सम्प्रदाय में राधा को परकीया ही माना गया है। लेकिन यह परकीया वाला भाव आदर्श प्रेम का ही रूप प्रस्तुत करता है। कुछ आलोचकों ने इस परकीया भाव को अनैतिकता और अश्लीलता का जनक माना है। परन्तु यदि अपनी असामर्थ्य के कारण कोई उच्च शिखर पर चढ़ने में असफल हो नीचे गिर पड़े तो इसमें दोष उस शिखर का माना जायेगा या उस व्यक्ति का ?

प्रकृति का उन्मुक्त भव्य रूप

कृष्ण ब्रज के उन्मुक्त प्रांगण में, प्रकृति के सान्निध्य में क्रीड़ारत रहते हैं। वह राम के समान महलों के राजकुमार न होकर गाँव के गोप कुमार हैं जो सतत् उन्मुक्त प्रकृति की गोद में विचरते रहते हैं। इसी कारण इस काव्य में प्रकृति के विविध भव्य और उन्मुक्त रूप चित्रित हुए हैं। यद्यपि आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण बहुत कम हुआ है, अधिकांश प्रकृति-चित्रण उद्दीपन रूप में ही मिलता है। परन्तु इस उद्दीपन रूप में किए गए प्रकृति-चित्रण में प्रकृति के कोमल और कठोर, मनोरम और भयानक सभी रूपों के बड़े सुन्दर दृश्य अंकित हुए हैं। वहाँ प्रकृति पात्रों (विशेष रूप से गोपियों) की मानसिक दशा के अनुरूप ही विविध रूप धारण करती दिखाई पड़ती है। समस्त मध्यकालीन साहित्य में जायसी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी ऐसा प्रभावशाली प्रकृति-चित्रण नहीं मिलता। रूपकों के रूप में सूर ने प्रकृति के कई मार्मिक चित्र अंकित किए हैं। डा० ब्रजेश्वर वर्मा के अनुसार—"दृश्यमान जगत का कोई भी सौन्दर्य उनकी आँखों से नहीं छूट सका। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, जलाशय, वनप्रान्त, यमुना-कूल, तथा कुंज-भवन की सम्पूर्ण शोभा इन कवियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में निःशेष करदी है।"

भक्ति का स्वरूप

कृष्ण-भक्ति-काव्य में भक्ति को एक स्वतंत्र रस के रूप में स्वीकार किया गया है। सूरदास के 'साहित्य लहरी' में तथा नन्ददास के 'मान मंजरी' तथा 'रूप मंजरी' नामक ग्रन्थों में भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या के प्रयत्न मिलते हैं। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण—दोनों रूपों को स्वीकृति प्रदान की गई है, यद्यपि विधान सगुण रूप की उपासना का ही किया गया है। क्योंकि सगुण रूप अनुभूति का विषय होने के कारण अधिक ग्राह्य है। निर्गुण रूप अगम्य होता है। भक्त को भक्ति की प्राप्ति भगवान का अनुग्रह होने पर ही सम्भव है। वल्लभाचार्य ने नवधा-भक्ति को भी स्वीकार किया है। कृष्णभक्तों में इसके प्रकारों का विस्तृत विवेचन मिलता है।

कृष्णकाव्य में मोटे रूप से भक्ति के चार स्वरूप मिलते हैं—सख्य भक्ति, वात्सल्य-भक्ति, मधुर भक्ति, और शान्ता भक्ति। सख्य-भक्ति के अन्तर्गत कृष्ण की

उपासना सखा भाव से की गई है। इसमें गोचारण, माखन-चोरी, क्रीड़ा आदि के समय गोप-बालकों के साथ की गईं कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया गया है। वात्सल्य भक्ति में संयोग और वियोग के मार्मिक चित्र अंकित हुए हैं। संयोग में यशोदा और नन्द बालकृष्ण की विविध क्रीड़ाओं को देख स्वर्गिक आनन्द की अनुभूति करते हैं और जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तब नन्द-यशोदा उनके विरह में मछली के समान तड़पते रहते हैं। इसमें स्मृति के रूप में कृष्ण की विभिन्न क्रीड़ाओं की आंशिक पुनरावृत्ति हो जाती है। परन्तु अष्टछाप के कृष्ण-भक्तों का साध्य मधुर भक्ति ही रही है। इसमें कवि अपने आराध्य के प्रति प्रत्यक्ष रूप में प्रणाय-निवेदन न कर गोपियों के माध्यम से ही अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। इस गोपी-भाव में संयोग और वियोग—दोनों भावों का समावेश हो गया है। अष्टछाप के कवियों ने मधुर-भक्ति के अन्तर्गत प्रायः स्वकीया-भाव को ही अपनाया है परन्तु कहीं-कहीं परकीया भाव का भी समावेश हो गया है, जैसे—विवाहिता गोपियों का कृष्ण से प्रेम करना। मधुर-भक्ति के अन्तर्गत विरह को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। विरह द्वारा भक्त का आत्म-परिष्कार होता है। प्रेम की तीव्रता विरहावस्था में ही चरम सीमा का स्पर्श करती है। इसी कारण कृष्ण काव्य में विरह को इतना महत्त्व मिला है। परन्तु कुछ कृष्ण-भक्त सम्प्रदायों में विरह को स्थान नहीं मिला है। वहाँ केवल संयोग ही प्रधान रहा है।

शान्ता-भक्ति शान्त-रस का ही दूसरा नाम है। सत्संग, उपदेश, भक्ति आदि इसके उद्दीपन विभाग हैं। भक्त संसार त्याग, मोह-माया से मुक्त बन, शान्त चित्ता-वस्था में परमानन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। यही शान्ता-भक्ति मानी गई है। परन्तु कृष्णभक्ति-काव्य में भक्ति का यह रूप कहीं-कहीं ही मिलता है। सूर के विनय के पदों में इसके दर्शन हो जाते हैं। भक्ति के उपर्युक्त चारों प्रकारों में से कृष्णभक्त-कवियों ने मधुर-भक्ति को ही प्रधान रूप से अपनाया है।

भाषा और शैली

कृष्णभक्ति-काव्य की प्रधान और एकमात्र भाषा 'ब्रजभाषा' रही है। यद्यपि ब्रजभाषा सूर आदि कृष्णभक्तों से पूर्व भी काव्य में व्यवहृत होती आई थी परन्तु अपनी वास्तविक समृद्धि के साथ वह कृष्णभक्ति-काव्य में ही पहली बार प्रकट हुई। डा० द्विवेदी इसी कारण सूर को ब्रजभाषा का प्रथम कवि और उनके 'सूरसागर' को ब्रज-भाषा का प्रथम काव्य मानते हैं। कृष्ण काव्य का माध्यम बनते ही ब्रजभाषा प्रांजल, कोमल, ललित, भावाभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ बन, सम्पूर्ण उत्तर भारत में व्याप्त हो गई और अपने युग की सर्वप्रधान काव्य-भाषा बन गई। कृष्ण-काव्य में ब्रजभाषा का विकासोन्मुख, उन्नतिशील रूप मिलता है। रूढ़ प्रयोगों से मुक्त और कवियों की मन-मानी से युक्त इस भाषा में एक सहज प्रवाह, अनुपम सौन्दर्य और उन्मुक्त विलास मिलता है। यह भाषा धीरे-धीरे साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करती दिखाई पड़ती है।

तत्सम् शब्दों के साथ तद्भव और देशज शब्दों का प्रयोग करने में कवियों को कोई संकोच नहीं रहा है। वे विभिन्न भाषाओं और बोलियों के शब्दों का मुक्त रूप से व्यवहार करते हैं। जनभाषा की यही विशेषता होती है और इस अर्थ में कृष्ण-काव्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा उस युग की जनभाषा ही रही है।

सम्पूर्ण कृष्णकाव्य मुक्तक काव्य है। जहाँ कथा का वर्णन किया गया है, वहाँ भी उसकी मूल प्रवृत्ति मुक्तक की ही रही है। मुक्तक-काव्य में भी इसमें प्रधानतः गीति-शैली को अपनाया गया है। सम्पूर्ण कृष्णकाव्य गेय पदों का एक विशाल भण्डार है। अनुभूति की तीव्रता, भावात्मकता, संक्षिप्तता, संगीत की प्रधानता—गीति शैली के इन सम्पूर्ण तत्वों का इसमें पूर्ण निर्वाह हुआ है। इस शैली में इन कवियों ने अनेक प्रकार की अभिव्यंजना-शैलियों का प्रयोग किया है। डा० व्रजेश्वर वर्मा ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है—"जहाँ एक ओर वर्णनात्मक प्रसंगों में विषय के अनुकूल सरल ग्रामीण अथवा धार्मिक पदावली में वाच्यार्थ ही प्रधान है, वहाँ दूसरी ओर गम्भीर भाव-चित्रण में—विशेष रूप से विरह के प्रसङ्ग में लाक्षणिकता की भरमार है तथा अत्यन्त सरल और ठेठ शब्दों में भी ऐसी गूढ़ और मार्मिक व्यंजनाएँ की गई हैं कि कवि की अनुभूति की गम्भीरता तथा उसके भाषा-अधिकार पर आश्चर्य होता है।" कृष्ण-काव्य में संगीत का प्राधान्य रहा है। मीरा, सूर, नन्ददास आदि के पद इस दृष्टि से अनुपम हैं। परन्तु परवर्ती कृष्ण-काव्य में भावात्मकता के स्थान पर इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य हो जाने से संगीत का वह मोहक रूप तिरोहित हो गया है जिसने सूर आदि के पदों को जन-जन में इतना अधिक लोकप्रिय बनाया था।

काव्य-शास्त्र की दृष्टि से भी इस काव्य की भाषा पूर्ण समृद्ध और सम्पन्न दिखाई पड़ती है। शब्द-शक्ति, अलङ्कार, गुण आदि के विविध सशक्त रूपों ने इस काव्य की समृद्धि को बढ़ाया है। भाव, भाषा, अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य, छन्द-योजना, संगीतात्मकता आदि की दृष्टि से कृष्ण-काव्य हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अनन्य पद का अधिकारी है। वस्तुतः भक्ति-काल को हिन्दी-साहित्य के 'स्वर्ण-युग' की संज्ञा प्रदान कराने वाला कृष्ण-काव्य ही रहा है। यद्यपि तुलसी-रचित राम-काव्य ने भी इसमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

कृष्ण-काव्य के तीन प्रधान संस्थान

समष्टि रूप से मध्ययुगीन कृष्णभक्ति-काव्य तीन प्रधान दार्शनिक विचारधाराओं से प्रभावित रहा है। इनके प्रवर्त्तक और प्रचारक कृष्णभक्ति के तीन सम्प्रदाय रहे हैं—(१) वल्लभ सम्प्रदाय, (२) चैतन्य सम्प्रदाय, और (३) राधा-वल्लभी सम्प्रदाय। वल्लभाचार्य उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति के प्रधान प्रचारक रहे हैं। चैतन्य सम्प्रदाय का कृष्णभक्तों पर कोई विशेष प्रभाव लक्षित नहीं होता। जिन कवियों ने इससे प्रभावित होकर काव्य-रचना की है, वे साधारण कोटि के ही कवि हैं। इसके विपरीत राधा-वल्लभी सम्प्रदाय ने उत्तरकालीन कृष्णभक्त-कवियों को काफी प्रभावित

किया था। यहाँ हम संक्षेप में, इन तीनों सम्प्रदायों की दार्शनिक स्थापनाओं का विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

वल्लभ सम्प्रदाय

हम पीछे वल्लभ सम्प्रदाय की पुष्टिमार्गीय भक्ति का संक्षिप्त परिचय दे आए हैं। इसलिए यहाँ केवल उसके दार्शनिक पक्ष पर ही विचार करेंगे। वल्लभाचार्य का मत 'शुद्धाद्वैतवाद' कहलाता है। इसमें शंकर के अद्वैत-सिद्धान्त का खंडन और ईश्वर के सगुण रूप की भक्ति की स्थापना की गई है। वल्लभ स्वामी ने माया की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार करते हुए ब्रह्म, जीव और जगत—तीनों की अभिन्नता घोषित की है। तीनों ही सत्य और एक हैं—अन्तर केवल अवस्था या स्थिति के कारण प्रतीत होता है। माया ब्रह्म की इच्छा-शक्ति है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जीव और ब्रह्म एक होते हुए भी उनकी शक्ति में अन्तर है, जीव ब्रह्म पर ही निर्भर है। ब्रह्म के अनुग्रह द्वारा ही वह अपनी शक्ति और गुणों में अभिवृद्धि करता है। अतः ब्रह्म का अनुग्रह ही जीव के लिए एकमात्र काम्य है। इसी अनुग्रह को 'पुष्टि' कहा गया है। इसी कारण वल्लभाचार्य का भक्ति-सिद्धान्त 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है।

वल्लभाचार्य ने वृन्दावन के निकट गोवर्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथ जी के मन्दिर को अपने मत के प्रचार का प्रधान केन्द्र बनाया और स्वयं देश-देशान्तरों में घूम-घूमकर अपने मत का प्रचार करने लगे। उन्होंने भगवान के नाम-कीर्त्तन के लिए कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास जैसे भक्तों को नियुक्त किया और मन्दिर की पूजा का भार बंगाली वैष्णवों को सौंप दिया। मन्दिर की व्यवस्था का अध्यक्ष अधिकारी कृष्णदास नामक एक भक्त को बनाया। इस प्रकार यह व्यक्ति प्रमुख स्थान प्राप्त कर गया। वल्लभाचार्य के देहावसान के उपरान्त क्रमशः उनके दो पुत्र गद्दी पर बैठे—गोपीनाथ और विट्ठलनाथ। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने आठ प्रमुख कृष्णभक्त कवियों को सम्मिलित कर 'अष्टछाप' की स्थापना की। ये आठ कवि थे–कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी, चतुर्भुजदास, और नन्ददास। ये सभी पुष्टिमार्गी भक्त थे।

कृष्णदास अधिकारी श्रीनाथ जी के मन्दिर के प्रबन्धक थे। उन्होंने मन्दिर और भगवद्विग्रह के ऐश्वर्य में आशातीत वृद्धि की। ऐश्वर्य के साथ रास-रंग पूर्ण श्रृङ्गारिकता का प्रभुत्व बढ़ा। और इस श्रृङ्गारिकता ने परवर्ती कृष्णभक्ति-काव्य को काफी प्रभावित कर उसके आध्यात्मिक स्वर को मध्यम बना उसे लौकिक वासना की अभिव्यक्ति का माध्यम बना दिया। विट्ठल स्वामी के निधन के उपरान्त वल्लभ-सम्प्रदाय विभिन्न शाखाओं में विभक्त हो छिन्न-भिन्न और प्रभावहीन हो गया।

चैतन्य सम्प्रदाय

इसके प्रचारक और प्रसारक बंगाल के महाप्रभु चैतन्य माने जाते हैं। इनसे पूर्व बड़ गोस्वामी गौड़ीय वैष्णव धर्म की स्थापना का प्रयत्न कर चुके थे।

चैतन्य स्वामी ने इसी मत का प्रसार किया था। कहा जाता है कि चैतन्य स्वामी दार्शनिक मत-मतान्तरों के चक्कर में न पड़ अपने प्रभु की प्रेमाराधना में ही डूबे रहते थे। उनके अनन्तर रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी नामक दो दार्शनिक भक्तों ने चैतन्य मत के दार्शनिक-सिद्धान्तों का निर्धारण किया था। कुछ लोग चैतन्य-सम्प्रदाय को 'माधव-सम्प्रदाय' का ही एक अंग मानते हैं परन्तु इन दोनों की चिन्तनधारा में अन्तर रहा है। चैतन्य के अनुसार कृष्ण के दो रूप हैं—सगुण और निर्गुण। इनके "कृष्ण अद्वय राग, आश्रय तत्त्व, नराकृति, लीलामय, लीला पुरुषोत्तम और माधुर्य-मण्डित हैं।" एकमात्र आराध्य श्रीकृष्ण हैं। व्रज-गोपियों का कृष्ण के प्रति अनन्य अनुराग इस उपासना का आदर्श है। ब्रह्म सगुण रूप है। जीव की उससे पृथक् सत्ता रहती है। जगत सत्य है और उसका उत्पत्तिकर्त्ता ब्रह्म है। ब्रह्म के अनुग्रह से ही मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है। मूलरूप में चैतन्य-मत द्वैतवादी है।

चैतन्य-मत के अनुयायी कृष्ण-भक्तों–रूप गोस्वामी, कृष्णदास आदि ने भक्ति-रस की शास्त्रीय प्रतिष्ठा कर उसके भेदोपभेदों का विवेचन किया। रूप गोस्वामी ने इसका विवेचन करते हुए इसे 'उज्ज्वल रस' की संज्ञा प्रदान की। मधुर-भक्ति को ही उन्होंने सर्व-प्रधान माना। इसलिए शृङ्गार इसमें प्रमुख स्थान प्राप्त कर गया। परवर्ती कृष्ण-भक्तों ने शृङ्गार-रस की शास्त्रीय व्याख्या कर उसे इस भक्ति-पद्धति का प्राण घोषित किया। इस प्रकार कृष्ण-भक्ति में शृङ्गार-रस की पूर्ण प्रतिष्ठा—शास्त्रीय और नैतिक आधार पर—करने का श्रेय चैतन्य-मतावलम्बी भक्तों को ही मिला। परवर्ती शृङ्गार कालीन रीति-बद्ध काव्य-परम्परा पर इस मत का गहरा प्रभाव पड़ा था। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि यह भक्ति-मत प्रतिभाशाली कवियों को आकर्षित करने में असमर्थ रहा।

राधावल्लभी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के संस्थापक गोस्वामी हित हरिवंश (जन्म सं० १५५९) माने जाते हैं। कहते हैं कि हितहरिवंश पहले माध्व-सम्प्रदाय के अनुयायी थे, परन्तु एक रात राधा ने इन्हें स्वप्न में एक मंत्र दिया और उसी से प्रेरणा पाकर इन्होंने एक नए सम्प्रदाय 'राधा-वल्लभी सम्प्रदाय' की स्थापना की। सम्वत् १५८२ में इन्होंने वृन्दावन में राधा-वल्लभ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की और वहीं विरक्त-भाव से रहने लगे। इनकी इस उपासना-पद्धति में मधुर-भक्ति का परम स्वरूप विकसित हुआ है। इनके अनुसार राधा ही परम उपास्या और आराध्या हैं। कृष्ण राधा के अनुषंग हैं। राधा की उपासना को ये 'रसोपासना' मानते हैं। ये भी अन्य कृष्ण-भक्तों के समान ज्ञान और कर्म का खंडन कर भक्त के लिए केवल यह आवश्यक मानते हैं कि वह अहर्निशि राधा-कृष्ण की सतत् केलि-क्रीड़ा के ही ध्यान में डूबा रहे। इन्होंने राधा को स्वकीया रूप में ही माना है। इस मत की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें केवल संयोग-शृङ्गार को ही स्वीकार किया गया है, विरह को नहीं।

मांगलिक प्रेम को ही ये 'हित' का पर्याय मानते हैं। और इस दृष्टि से केवल संयोग-सुख ही मांगलिक हो सकता है, न कि वियोग-दुख। इसलिए इन्होंने राधा-कृष्ण की युगल-मूर्ति को ही मांगलिक-प्रेम का प्रतीक माना है। वस्तुतः इस सम्प्रदाय में मात्र संयोग-सुख की भावना होने के कारण शृङ्गार का उन्मुक्त रूप स्वीकार किया गया है। हित हरिवंश विश्व में मात्र हित या प्रेम की ही सत्ता मानते हैं। सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत इसी का रूप है। प्रेम रसमय होता है। उन्होंने इसके दो रूप माने हैं—ब्रजरस और निकुंजरस। ब्रजरस की नायिका गोपियाँ हैं जो उपपति भाव से कृष्ण की उपासना करती हैं। यहाँ गोपियाँ परकीया बन जाती हैं। परन्तु निकुंजरस में राधा स्वकीया रूप में अखंड केलिक्रीड़ा में निमग्न रहती है। इसमें राधा-कृष्ण दोनों 'स्व', 'पर' के भाव से ऊपर उठ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। यहाँ दोनों का सिद्ध अर्थात् स्थायी अद्वैत रूप स्थापित हो जाता है। इसीलिए दार्शनिक दृष्टि से इस सम्प्रदाय को 'सिद्धाद्वैत सम्प्रदाय' कहते हैं। इस सम्प्रदाय के भक्त भक्ति या मुक्ति किसी की भी कामना न कर राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ारत युगल-मूर्ति के ध्यान और मानसिक दर्शन में डूबे रहते हैं। इस सम्प्रदाय ने अनेक परवर्ती कृष्ण-भक्त कवियों को प्रभावित किया था।

उपर्युक्त तीन प्रधान सम्प्रदायों के अतिरिक्त उस युग में एक और नए सम्प्रदाय का उदय हुआ था जो 'टट्टी सम्प्रदाय' या 'सखी सम्प्रदाय' कहलाता है।

सखी-सम्प्रदाय

'सखी-सम्प्रदाय' भी मधुर-भक्ति का ही एक उप-सम्प्रदाय है। कुछ लोग आसधीर नामक एक कृष्ण-भक्त को इसका प्रवर्त्तक मानते हैं, परन्तु सामान्यतः इसका आरम्भ स्वामी हरिदास से ही माना जाता है। इस सम्प्रदाय की मूल भावनाएँ इस प्रकार हैं—

१. सतत् क्रीड़ारत युगल मूर्ति (राधाकृष्ण) का ध्यान।
२. सखी भाव से इस युगल मूर्ति की उपासना।

स्वामी हरिदास को ललिता सखी का अवतार माना जाता है। उन्हें कृष्ण के बाल-रूप की उपासना मान्य न होकर केवल सतत् केलि-क्रीड़ारत राधाकृष्ण की उपासना ही मान्य है। इस सम्प्रदाय पर निम्बार्क और राधावल्लभी—दोनों की मान्यताओं का प्रभाव है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी दार्शनिक ऊहापोह में न पड़ केवल मधुर भाव की उपासना में ही आस्था रखते हैं। इसीलिए ये लोग अपने को किसी भी दार्शनिक-सिद्धान्त का अनुयायी न मान एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का अनुयायी घोषित करते हैं। हरिदास के एक शिष्य भगवत रसिक ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना, जुगल मंत्र को जाप॥

नाहीं द्वैताद्वैत हरि, नहीं विशिष्टाद्वैत।
बँधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छा द्वैत ॥"

इस सम्प्रदाय को 'टट्टी-सम्प्रदाय' और 'हरिदासी सम्प्रदाय' भी कहा जाता है। बाँस की जाफरी (टटिया या टट्टी) से घिरा होने के कारण इस सम्प्रदाय का नाम 'टट्टी सम्प्रदाय' पड़ गया। वस्तुतः यह सम्प्रदाय राम-भक्ति शाखा के रसिक-सम्प्रदाय का कृष्णमार्गी-संस्करण है। इन दोनों की मान्यताओं में आराध्य की भिन्नता के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेखनीय भिन्नता नहीं मिलती। यह कहना बड़ा कठिन है कि इन दोनों में से किसने किसको प्रभावित किया था। सखी-सम्प्रदाय की भावी परिणति भी घोर शृङ्गारी भावना के रूप में हुई थी। अस्तु,

प्रमुख कृष्ण-भक्त कवि

कुम्भनदास

इनकी गणना 'अष्टछाप' के आठ प्रसिद्ध कवियों में की जाती है। कहा जाता है कि वल्लभाचार्य से इन्हीं ने सबसे पहले दीक्षा ली थी। इनका जन्म सं० १५२५ और मृत्यु सं० १६४० में हुई थी। ये गोवर्द्धन पर्वत के निवासी और जाति के क्षत्रिय थे। इनका बड़ा परिवार था—पत्नी, सात पुत्र तथा अन्य अनेक आश्रित जन। ये खेती-बाड़ी द्वारा धनार्जन करते हुए भगवद्भक्ति में लीन रहते थे। स्वभाव से ये पूर्ण विरक्त, धन-मान-मर्यादा की लिप्सा से नितान्त निर्लिप्त निरभिमानी भक्त थे। इनके सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती प्रसिद्ध है कि इनकी प्रसिद्धि को सुन अकबर ने राजा मानसिंह को इन्हें सीकरी बुलाने भेजा था। परन्तु एकमात्र आराध्य कृष्ण के सम्मुख ही शीश झुकाने वाले इस निस्पृह भक्त को अकबर के सम्मुख शीश झुकाना मंजूर नहीं था। परन्तु फिर भी इन्हें सीकरी जाना पड़ा और अकबर को सलाम भी करना पड़ा। इसका इन्हें अत्यन्त खेद हुआ और अपने मन की ग्लानि को व्यक्त करते हुए इन्होंने यह पद कहा—

'संतन कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरिनाम ॥
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिनु, और सबै बेकाम ॥'

कुम्भनदास सम्पूर्णतः भक्त थे। ये अहर्निशि श्रीनाथ जी की सेवा में डूबे रहते थे। श्रीनाथजी का वियोग इन्हें क्षण भर के लिए भी सहन नहीं होता था। इन्हें निकुंज लीला रस अर्थात् मधुर-भाव की भक्ति प्रिय थी। इसलिए इनके रचे पदों में इसी भाव की भक्ति से सम्बन्धित पद मिलते हैं। इनका अभी तक कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिला है। इनके पद, जिनकी संख्या लगभग ५०० है, विभिन्न संग्रहों—'राग-कल्पद्रुम', 'राग-रत्नाकार' तथा वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तन-संग्रहों में संग्रहीत

मिलते हैं। इन पदों में इन्होंने अपने आराध्य कृष्ण की दैनन्दिन लीलाओं और क्रियाओं का वर्णन किया है। यद्यपि इनके कुछ पदों में बाल-लीला का भी वर्णन हुआ है परन्तु बहुलता उन्हीं पदों की रही है, जिनमें राधा-कृष्ण के सौन्दर्य और प्रेम का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त कृष्ण-चरित्र से सम्बन्धित विभिन्न उत्सवों और घटनाओं का भी अंकन हुआ है। साथ ही कुछ पदों में अपने गुरु वल्लभाचार्य और उनके परिजनों की भी स्तुति गाई गई है। सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से इनमें सूर आदि की अपेक्षा वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अधिक पालन किया गया है। इधर काँकरोली से 'कुम्भनदास' शीर्षक से इनके पदों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। कवित्व की दृष्टि से इनका काव्य किसी विशिष्ट मौलिकता का प्रदर्शन नहीं करता।

सूरदास

'अष्टछाप' के मुकुटमणि, श्रीनाथ जी के प्रधान कीर्तनिया, कृष्ण-काव्य के सर्वश्रेष्ठ अनन्य कवि, ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान करने वाले सर्वप्रथम कवि, प्रभु के अनन्य भक्त, गोपियों के रूप में विरह की साक्षात् प्रतिमा महाकवि सूरदास हिन्दी-साहित्य की ही नहीं, अपितु विश्व-साहित्य की एक अनन्य विभूति हैं। इन्हें वात्सल्य-रस का तो सर्वश्रेष्ठ कवि माना ही जाता है, साथ ही विरह रस का अगाध मर्मज्ञ भी। ऐसे इन सूरदास का प्रामाणिक जीवन-चरित्र अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। इनके जन्मस्थान, वंश, परिवार, जन्म और मृत्यु तिथि आदि के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। हिन्दी-साहित्य में सूरदास नामक अन्य कवि भी हुए हैं। विद्वानों ने भ्रमवश नामसाम्य के कारण उनके जीवन-वृत्त को इनके जीवन-वृत्त से मिलाकर काफी गड़बड़ पैदा कर दी है।

जन्म, वंश और आरम्भिक जीवन

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'भाव प्रकाश', स्वयं सूर की रचना 'साहित्य-लहरी' आदि में सूर के जीवन-सम्बन्धी जो वृत्तान्त मिलते हैं, वह काफी परस्पर-विरोधी और विवादास्पद हैं। सामान्यतया सूर का जन्म सम्वत् १५३० से १५५० के मध्य अनुमानित किया गया है। कहा जाता है कि सूर और वल्लभाचार्य का जन्म-दिवस एक ही था या सूर वल्लभाचार्य से १० दिन छोटे थे। इसी आधार पर प्रभुदयाल मीतल ने इनका जन्म संवत् १५४५ माना है। अन्य लोग सम्वत् १५३५, १५४३ आदि भी मानते हैं। इनके जन्मस्थान भी दो माने गए हैं—आगरा से १५-२० मील दूर रुनकुता तथा दिल्ली से ८ मील दूर सीही नामक गाँव। इधर कुछ लोग रुनकुता के पास स्थित 'साही' नामक गाँव को इनका जन्मस्थान मानने का आग्रह कर रहे हैं। इनके वंश और जाति के सम्बन्ध में भी काफी मतभेद है। हरिराय के 'भाव-प्रकाश' के अनुसार सूर सारस्वत ब्राह्मण और जन्म से अन्धे थे। 'साहित्य लहरी' के एक पद के अनुसार ये चंद बरदाई के वंशज ब्रह्म भट्ट प्रमाणित होते हैं। कुछ लोगों का मत

है कि ये सात भाई थे। इनके छः भाई मुसलमानों से युद्ध करते हुए मारे गये थे और सूर विरक्त हो भगवद्भजन करने लगे थे।

क्या सूर जन्मान्ध थे?

इसके सम्बन्ध में यह विवाद काफी प्रचलित रहा है कि सूर जन्म से अन्धे थे या बाद में अन्धे हुए थे। इनके साहित्य में प्राप्त कुछ उल्लेखों के अनुसार इन्हें जन्मान्ध माना जाता है। वहाँ सूर ने स्वयं को 'जन्म को आँधरो' कहा है। अन्य स्थानों पर भी सूर अपने अन्धे होने का उल्लेख करते हैं। इस सम्बन्ध में कई जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं; जैसे—ये एक रूपवती नारी पर आसक्त थे और उसके द्वारा ही इन्होंने अपनी आँखें फुड़वा ली थीं। ये एक बार कुए में गिर पड़े थे। वहाँ से स्वयं भगवान कृष्ण ने इन्हें बाहर निकाला था। और भगवान के दर्शन कर लेने के बाद ये अन्य किसी को भी नहीं देखना चाहते थे, इसलिए इन्होंने या तो स्वयं अपनी आँखें फोड़ ली थीं या भगवान से अन्धा होने का वरदान माँग लिया था। उपर्युक्त जनश्रुतियों से यह ध्वनि निकलती है कि सूर जन्मान्ध नहीं थे, बाद में अन्धे हुए थे। परन्तु 'भाव प्रकाश' के रचयिता हरिराय और 'संस्कृतवार्ता मणिमाला' के रचयिता श्रीनाथ भट्ट के अनुसार ये जन्मान्ध थे।

लेकिन सूर-साहित्य में उपलब्ध प्रकृति चित्रण, बाल-लीला, रूप-वर्णन आदि को देखकर इस बात पर विश्वास करना असम्भव है कि ये वर्णन एक जन्मान्ध व्यक्ति द्वारा किए गए हैं। इन वर्णनों में इतनी भव्यता, सूक्ष्म-निरीक्षक दृष्टि का ऐसा चमत्कार और यथार्थता है कि बिना आँखों से देखे ऐसे वर्णन करना सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। ऐसे वर्णन परम्पराभुक्त काव्य-रूढ़ियों को सुनकर नहीं किए जा सकते। जहाँ सूर ने स्वयं को जन्मान्ध या अन्धा कहा है वहाँ उसका शाब्दिक अर्थ न ग्रहण कर व्यंजित अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। कोई गल्ती करने पर अच्छे खासे दो सूझती आँखों वाले व्यक्ति को भी अन्धा कह दिया जाता है। सूर ने अपने कर्मों का स्मरण कर ही, ग्लानिवश स्वयं को अन्धा कहा है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का स्पष्ट मत है कि—"सूरदास का साहित्य कभी जन्मान्ध व्यक्ति का लिखा साहित्य नहीं हो सकता।"

वल्लभाचार्य से गुरु-दीक्षा प्राप्त करना

कहा जाता है कि सूर अपने आरम्भिक जीवन में रुनकता के पास, यमुना किनारे, गऊघाट नामक स्थान पर रहते थे और विनय के पद गाया करते थे। एक बार वल्लभाचार्य वहाँ पधारे। सुनकर सूर भी उनके दर्शन करने गए। आचार्य जी ने इन्हें भगवद्भजन गाने की आज्ञा दी। सूर ने दो भजन गाए—"प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ", तथा "हौं हरि सब पतितन कौ नायक।" सख्य-भाव की भक्ति के प्रतिष्ठापक आचार्य जी को सूर की यह कातर दीनता और घिघियाना अच्छा नहीं लगा। इसलिए उन्होंने सूर की भर्त्सना करते हुए कहा—"सूर ह्वै कैं ऐसो घिघियात काहे को

हौ, कछु भगवत लीला वर्णन कर।" (यहाँ 'सूर' का अर्थ अन्धा न मानकर वीर—शूर ही मानना चाहिए, जो मानव के स्वाभिमान का अभिव्यंजक है।) इसके उपरान्त आचार्य जी ने उन्हें दीक्षा दी और उनके मधुर कंठ से प्रभावित हो उन्हें श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्त्तन मंडली का अध्यक्ष बना दिया। बस, इसके उपरान्त सूर जीवन-पर्यन्त वहीं बैठे अपने आराध्य की लीलाओं का गान करते रहे।

सूर के जीवन के सम्बन्ध में केवल इतना ही वृत्त अभी तक ज्ञात हो सका है। सूर के देहान्त के सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं, जैसे—इनका और वल्लभाचार्य का निधन एक ही समय हुआ था। अपने जीवन के अन्तिम समय में श्रीनाथ जी के मन्दिर के प्रबन्धाधिकारी कृष्णदास की उश्रृंखलताओं के कारण सूर मन्दिर को छोड़ पारसौली गाँव चले गए थे और वहीं उनकी मृत्यु हुई थी। यहीं कुछ लोगों के अनुसार सम्वत् १६२० में तथा कुछ के अनुसार सम्वत् १६४२ में इनका देहान्त हुआ था। इनके देहान्त के समय गोस्वामी विट्ठलनाथ इनके पास उपस्थित थे। और उसी समय सूर ने अपने गुरु की स्तुति करते हुए एक पद गाया था।

सूर-साहित्य

काशी नागरी प्रचारिणी सभा तथा अन्य आधुनिक अनुसन्धानों के अनुसार सूर-प्रणीत ग्रन्थों की संख्या २५ सिद्ध होती है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) सूरसागर, (२) सूर-सारावली, (३) साहित्य लहरी, (४) भागवत भाषा, (५) दशम स्कन्ध भाषा, (६) सूरसागर सार, (७) सूर रामायण, (८) बाल लीला, (९) राधा रस-केलि कौतुक, (१०) गोवर्धन लीला, (११) दान लीला, (१२) भँवरगीत, (१३) नागलीला, (१४) ब्याहलो, (१५) प्राणप्यारी, (१६) दृष्टकूट के पद, (१७) सूर-शतक, (१८) सूर साठी, (१९) सूर पचीसी, (२०) सेवाफल, (२१) सूरदास के विनय के पद, (२२) हरिवंश टीका (संस्कृत), (२३) एकादशी माहात्म्य, (२४) नल-दमयन्ती या नल दमन, (२५) राम जन्म।

उपर्युक्त ग्रन्थों में से अनेक 'सूरसागर' के ही अंश हैं तथा कुछ ग्रन्थ सूरदास नामक अन्य कवियों द्वारा रचित हैं जिन्हें नाम-साम्य के कारण भ्रमवश सूर की रचनाएँ मान लिया गया है। हिन्दी में सूरदास नामक अनेक कवि हुए हैं, जैसे—रामानन्दी सूरदास, गायक सूरदास, संकेत निवासी सूरदास, बनारस निवासी सूरदास, लखनऊ निवासी सूरदास आदि। 'नलदमयन्ती' या 'नलदमन' तो निश्चित रूप से लखनऊ निवासी सूरदास की रचना मानी जाती है। इसके अतिरिक्त सूरदास मदन-मोहन नामक एक और कवि मिलते हैं। अभी प्रामाणिक रूप से सूर कृत केवल तीन ही ग्रन्थ माने जाते हैं—सूरसागर, सूर सारावली, और साहित्य लहरी। डा० व्रजेश्वर वर्मा केवल 'सूरसागर' को ही सूर की प्रामाणिक रचना मानते हैं परन्तु डा० मुंशीराम शर्मा, पारिख आदि विद्वान् 'सूर सारावली' और 'साहित्य लहरी' को भी सूर प्रणीत मानने के पक्ष में हैं। 'सूर सारावली' को कुछ लोग 'सूरसागर' की ही अनुक्रमणिका

मानते हैं तथा कुछ ऐसी स्वतंत्र रचना जिसमें सूरसागर में वर्णित लीलाओं को सिद्धान्त रूप से पृथक् शैली में लिखा गया है।

साहित्य लहरी

सूर के उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों में से 'साहित्य लहरी' सर्वाधिक विवादास्पद रचना मानी जाती है। इसकी विषय-वस्तु ही इस विवाद का कारण बनी है। यह ११८ पदों वाली एक छोटी सी रचना है जिसमें अलंकार, नायिका-भेद जैसे विशुद्ध शृंगारी विषयों का विवेचन किया गया है; और साथ ही कुछ दृष्टकूट पद भी हैं। यह सूर की अन्तिम, अर्थात् वृद्धावस्था में लिखी हुई कृति मानी जाती है। सूर ऐसा अनन्य कृष्ण-भक्त अपने अन्तिम समय में ऐसे विषयों पर लिख सकता था, इस पर सहज ही विश्वास नहीं किया जा सकता। उस युग में नायिका-भेद और अलंकारों के प्रति भक्त-कवियों का कोई आकर्षण नहीं था, इसका प्रमाण उस काल में रचित भक्ति-साहित्य से मिल जाता है। इसलिए सूर वृद्धावस्था में ऐसे निम्न श्रेणी के, शृंगारी और क्लिष्ट साहित्य की रचना करने की ओर प्रवृत्त हुए होंगे, यह सम्भव नहीं। इस ग्रन्थ में एक पद में सूर की वंशावली दी हुई है जिसके आधार पर सूर चन्द बरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट सिद्ध होते हैं जो अन्य प्रमाणों के आधार पर गलत सिद्ध हो चुका है। इसके अतिरिक्त इसमें ग्रन्थ का रचना-सम्वत् भी दिया गया है। यह दृष्टकूट के रूप में है जिसकी भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। इस पद की दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुवल संवत पेख॥'

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसका अर्थ सम्वत् १६०७ किया है। परन्तु डा० द्विवेदी ने सम्वत् १६७७ माना है। यदि सम्वत् १६७७ को इसकी रचना-तिथि मान लिया जाय तो यह सूर की रचना नहीं सिद्ध होती क्योंकि सूर का देहावसान इससे बहुत पहले हो चुका था। दूसरे, इस रचना में 'सूरजदास' नाम की छाप अनेक पदों में मिलती है जिससे यह सूरजदास नामक किसी अन्य कवि की रचना सिद्ध हो जाती हैं। विषय, शैली, भाषा-रूप आदि किसी भी दृष्टि से इसे सूर की रचना नहीं माना जा सकता।

सूरसागर

'सूरसागर' को सूर की प्रामाणिक रचना माना जा सकता है परन्तु साथ ही यह भी सम्भव है कि इसमें सूरदास नाम वाले अन्य कवियों द्वारा रचे गए अनेक पदों का भी समावेश हो गया हो। हरिराय ने इसमें सवा लाख पदों के होने का उल्लेख किया है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में 'सहस्रावधि' पद रचे जाने की बात कही गई है। परन्तु आज तक उपलब्ध इसकी प्रतियों में पाए जाने वाले पदों की संख्या

दस हजार के लगभग ही मिली है। बहुत समय तक यह समझा जाता रहा था कि सूरसागर 'भागवत' का अनुवाद है या भागवत में वर्णित कृष्ण-लीलाओं का ही इसमें विस्तृत वर्णन किया गया है। परन्तु इधर हुई नवीन शोधों के अनुसार यह सिद्ध किया जा चुका है कि यह भागवत का अनुवाद न होकर एक सर्वथा स्वतंत्र रचना है—इस रूप में कि इसमें भागवत में वर्णित प्रसंगों, सिद्धान्तों आदि से भिन्न या विस्तृत प्रसंगों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। अभी तक प्राप्त सूरसागर की प्राचीन प्रतियों में उसके दो रूप मिले हैं। सबसे प्राचीन प्रतियों में कृष्ण-लीलाओं का संग्रह स्वतंत्र रूप में मिलता है। इन प्रतियों से लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् की प्रतियों में इन लीलाओं को भागवत के अनुसार द्वादश स्कन्धों में विभाजित कर संग्रहीत किया गया है। डा० हरवंशलाल स्वतंत्र संग्रह के रूप में प्राप्त प्रतियों को ही भाषा की दृष्टि से अधिक शुद्ध, पुष्टिमार्गीय भक्ति-साधना के अधिक अनुरूप अतः प्रामाणिक मानते हैं। उनका मत है कि द्वादश-स्कन्धों में विभाजित प्रतियों में जो ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं, जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि सूरसागर भागवत का भाषा-अनुवाद है, प्रक्षिप्त हैं। इन्हें परवर्ती प्रतिलिपिकारों ने सूरसागर को भागवत के ही समान महत्व प्रदान करने के लिए जोड़ दिया होगा। यह भागवत का अनुवाद नहीं है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि भागवत में राधा थोड़े समय के लिए एक विशिष्ट गोपी के रूप में आती है परन्तु सूरसागर में राधा के जीवन की अनेक घटनाओं का, कृष्ण और राधा की बाल एवं किशोर वय की प्रेम-क्रीड़ाओं का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। पुष्टिमार्ग में राधा को बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है और सूर ने उसी के अनुसार कृष्ण-लीलाओं में राधा को प्रमुख स्थान दिया है। अतः सूरसागर को भागवत का अनुवाद नहीं माना जा सकता परन्तु सूरसागर भागवत से प्रभावित है और उसका मूल उद्गम भागवत ही रहा है, इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

सूरसागर रचना-शिल्प की दृष्टि से गेय मुक्तक काव्य है। यद्यपि इसमें कृष्ण-जीवन की सम्पूर्ण कथा— जन्म से लेकर उनके मथुरा-प्रवास तक की कथा का क्रमानुसार वर्णन किया गया है, परन्तु कथा कहने की यह शैली गेय मुक्तक की ही रही है। सूर की रुचि कथा कहने में नहीं रही है, उन्होंने कृष्ण की विभिन्न लीलाओं को मुक्तक की स्वच्छन्द शैली में ही कहा है। जिन प्रसंगों के वर्णन में, जो प्रधानतः कथात्मक रहे हैं, उनका मन नहीं रमा है, उन्होंने उनका चलता हुआ सा वर्णन कर तुरन्त छुट्टी पा ली है। परन्तु जिन प्रसंगों का वर्णन करने में उनका मन रमा है, वहाँ वह उन वर्णनों में ऐसे डूब हैं कि उन्हें सीमा का ध्यान तक नहीं रहा है। गोपी-उद्धव सम्वाद का जो प्रसंग भागवत में १०–१२ श्लोकों में ही समाप्त हो गया है, सूर ने उसी का वर्णन लगभग एक हजार पदों में किया है। यही स्थिति कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन करते समय रही है। सूर एक ही बात को बार-बार भिन्न-भिन्न ढंग से कहते हैं और फिर भी उनका मन नहीं भरता। सूरसागर की कथा को लेकर एक सफल महाकाव्य की रचना की जा सकती थी परन्तु सूर का सहज-भावप्रवण

भक्त हृदय महाकाव्य की रचना के लिए अवकाश नहीं निकाला पाता था। महाकाव्य की रचना के लिए सन्तुलन, धैर्य और प्रबन्ध-पटुता की आवश्यकता होती है परन्तु सूर का कृष्णभक्ति रस से आप्लावित भक्त हृदय इन गुणों का निर्वाह करने में असमर्थ था। सूर तो केवल भावुक भक्त थे जो अहर्निशि अपने प्रभु के लीला-गान में ही डूबे रहते थे, इसलिए कथा के क्रमिक निर्वाह की उनसे आशा करना व्यर्थ था। 'आगे चले बहुरि रघुराई। ऋष्यमूक पर्वत नियराई॥' जैसी कथात्मक पंक्तियाँ लिखना सूर के लिए नितान्त असम्भव था। इसी कारण सूरसागर महाकाव्य नहीं बन सका—केवल कथा-संगठन और वर्णन-शैली की ही दृष्टि से। इसके विपरीत अपने उदात्त गुण, महान् सन्देश, अप्रतिम काव्य-सौन्दर्य और अद्भुत जिजीविषा शक्ति के कारण यह ग्रन्थ श्रेष्ठतम महाकाव्यों से स्पर्द्धा करने की शक्ति से सम्पन्न है। इसके इन्हीं गुणों को लक्ष्य कर डा० द्विवेदी ने लिखा है कि इसके रूप में—"शिल्प में गीतिकाव्यात्मक मनोरागों को आश्रय करके महाकाव्यात्मक शिल्प का निर्माण हुआ है। ताजमहल ऐसा ही महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग गीतिकाव्यात्मक या 'लिरिकल' है। सूरसागर भी इसी प्रकार का महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग 'लिरिकल' या गीतिकाव्यात्मक है।"

वस्तुतः सूरसागर की प्रकृति ही महाकाव्य के अनुकूल नहीं रही है। यह मनोरागों का काव्य है जिसमें प्रबन्धात्मकता का निर्वाह होना असम्भव है। इसकी मूल संवेदना ही गीतिकाव्यात्मक रही है। सूर ने कृष्ण-चरित्र के जिस अंश को अपने काव्य का विषय बनाया है, वह महाकाव्य का विषय बन ही नहीं सकता। महाकाव्य का विषय तो महाभारतीय कृष्ण का चरित्र ही बन सकता है। महाकाव्य में कथा-क्रम, वर्णन, सामाजिक परिवेश, मनोरागों पर संयम, सन्तुलन के निर्वाह की आवश्यकता रहती है परन्तु जहाँ मात्र मनोराग ही मूल विषय बन जाय वहाँ इन सब बातों का निर्वाह होना असम्भव हो जाता है। और सूरसागर मनोरागों का ही काव्य रहा है। हिन्दी-साहित्य के आलोचकों में एक ऐसी प्रवृत्ति रही है जिसने हिन्दी-साहित्य का वास्तविक मूल्यांकन होने में बहुत बड़ी बाधा डाली है। वह प्रवृत्ति है—महाकाव्य को श्रेष्ठ और मुक्तक-काव्य को उससे हीन, निम्न स्तर का घोषित करने की प्रवृत्ति। आचार्य शुक्ल ने इसी दृष्टिकोण को मान्य मान महाकाव्य को विस्तृत वनस्थली और मुक्तक को एक चुना हुआ गुलदस्ता कह इसी प्रवृत्ति को जन्म दिया था। इसका परिणाम यह निकला कि मुक्तक काव्य को महाकाव्य की तुलना में हेय दृष्टि से देखा जाने लगा और हिन्दी के मुक्तक काव्य के साथ घोर अन्याय किया गया। यही कारण है कि शुक्लजी हिन्दी के समस्त मुक्तक-काव्य—सन्त काव्य, कृष्ण-काव्य, श्रृंगार काव्य, भारतेन्दु युगीन काव्य और छायावादी काव्य का उचित मूल्यांकन करने में असमर्थ रहे। दृष्टि की इस संकीर्णता ने ही उन्हें यह अन्याय करने के लिए बाध्य किया था। हम जानते हैं कि लोक-कल्याण साहित्य का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। साहित्य में इस लोक-कल्याण के दो रूप या पद्धतियाँ मिलती हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष-पद्धति

वह है जिसे तुलसी ने 'रामचरितमानस' में अपनाया है। वहाँ विषयों और उनसे सम्बन्धित समस्याओं का पात्रों के चरित्र-रूप में या प्रत्यक्ष विवेचन द्वारा समाधान प्रस्तुत किया गया है। इससे लोकरुचि का परिमार्जन होता है। अप्रत्यक्ष-पद्धति वह है जो मुक्तककारों द्वारा अपनाई जाती है। इसमें प्रधानतः मानव की कोमल भावनाओं और उनसे सम्बन्धित अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण किया जाता है। इसमें अपवाद स्वरूप वीरता, उत्साह, साहस जैसे परुष भावों का अंकन भी होता आया है परन्तु प्रधानता कोमल भावों की ही रही है। इस पद्धति द्वारा मानव की भावनाओं अर्थात् मनोरागों का परिष्करण कर उन्हें उदात्त बनाने का प्रयत्न किया जाता है। और जब भावनाएँ उदात्त बन जाती हैं तो लोक-कल्याण की प्रेरक शक्ति का रूप धारण कर लेती हैं। तुलसी की दैन्य-भावाश्रित भक्ति अथवा कृष्णभक्तों की मधुर भाव वाली भक्ति-भावना यही पुनीत कार्य करती है। इसलिए मुक्तक-काव्य को प्रबन्ध या महाकाव्य से न्यून नहीं माना जा सकता। काव्य का महत्त्व उसके प्रभाव से आँकना चाहिए, न कि उसके काव्य-रूप से।

सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में श्रेष्ठ महाकाव्यों की संख्या १० से अधिक नहीं है। और सगुण-भक्ति काव्य में केवल एक ही महाकाव्य रचा गया है—'रामचरितमानस'। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि शेष समस्त भक्तिकाव्य इसकी तुलना में हेय है। अस्तु,

सूरसागर का विषय

सूरसागर एक वृहद् काव्य है। विषय की दृष्टि से, इसे विवेचन की सुविधा के लिए दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध।

पूर्वार्द्ध के प्रारम्भिक खंड में मंगलाचरण कर कवि पहले निर्गुण ब्रह्म को अनुभूति की सीमा से परे मान, सगुण-लीला का गान करने की सफाई देता है। फिर कृष्ण-जन्म से लेकर माखन-चोरी, गोचारण तक का वर्णन कर पूतना, शकटासुर-तृणावर्त आदि असुरों के वध की कथाएँ कहता है। यहीं कृष्ण को ऊखल से बाँधे जाने वाले तथा मिट्टी खाने वाले प्रसंग में कृष्ण की आलौकिक लीलाओं के माध्यम से उन्हें पूर्ण व्रह्म का अवतार घोषित कर देता है। यह खंड कृष्ण की बाल-लीलाओं से सम्बन्धित है, अतः इसमें यशोदा माता के वात्सल्य-भाव का मार्मिक उद्घाटन हुआ है।

वात्सल्य का विस्तृत चित्रण करने के उपरान्त सूर श्रृंगार के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। कृष्ण और राधा सूर की श्रृंगारिक संवेदना के आलम्बन बन जाते हैं। सूर दोनों के रूप-सौन्दर्य का विभिन्न प्रकार से वर्णन करते हैं। साथ ही मुरली-स्तुति, राधाकृष्ण मिलन, चीर हरण, रास पंचाध्यायी, कृष्ण विवाह, गोपी-गीत, जल-क्रीड़ा, रासलीला और राधा-मान का विस्तृत वर्णन हुआ है। और इन सबके उपरान्त अक्रूर के गोकुल आगमन के साथ ही वियोग-श्रृंगार का वह ऐतिहासिक प्रसंग आरम्भ हो जाता है जो अपनी गहन और मार्मिक विरहानुभूति के कारण हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य-

निधि माना जाता है । अक्रूर गोकुल आते हैं और कृष्ण-बलराम उनके साथ मथुरा चले जाते हैं । यह प्रसंग सूरसागर का सबसे वृहद् और विस्तृत प्रसंग है । अक्रूर को आया हुआ देख और उनके आने के अभिप्राय को जान गोपियाँ उद्विग्न हो उठती हैं और कृष्ण के चले जाने पर विरह-व्याकुल हो विलाप करने लगती हैं । इस विरहानुभूति का दूसरा भाग उद्धव के गोकुल-आगमन से भिन्न रूप धारण कर आरम्भ होता है । भ्रमर गीत के सैंकड़ों पदों में उनकी यह विरहानुभूति अपनी विभिन्न अवस्थाओं में अभिव्यंजित हुई है । यहाँ तक सूरसागर का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है ।

उत्तरार्द्ध में द्वारिकाधीश कृष्ण का चित्रण होता है । कृष्ण मथुरा त्याग द्वारिका पहुँच वहाँ अपनी राजधानी स्थापित करते हैं । वह मगध-नरेश जरासन्ध के भय से ही मथुरा त्याग द्वारिका पहुँचे थे । इसलिए इस भाग में जरासन्ध के द्वारिका-आगमन से सम्बन्धित पदों से लेकर प्रद्युम्न-जन्म, वाणासुर-वध, सत्यभामा-विवाह, भौमासुर वध, सोलह हजार राजकुमारियों का उद्धार, उषा-अनिरुद्ध-विवाह, बलराम का ब्रज-आगमन, उनका विहार-विलास, नारद-मोह, जरासन्ध-वध आदि प्रसंगों का वर्णन होता है । इसी में कुरुक्षेत्र में कृष्ण, राधा, रुक्मिनी, यशोदा आदि के परस्पर मिलन तथा देवकी के छः पुत्रों के उद्धार की कथा, सुभद्रा हरण, अर्जुन-सुभद्रा विवाह, भृगु परीक्षा आदि से सम्बन्धित आख्यानों का वर्णन किया गया है ।

वस्तुतः सूरसागर का पूर्वार्द्ध ही सूरदास का प्रिय, मनोवांछित विषय रहा है । इसलिए इसी में अनन्य भक्त और कुशल-कवि सूर के दर्शन होते हैं । उत्तरार्द्ध में सूर का मन नहीं रमा है । सम्भवतः भागवत से प्रभावित होने के कारण ही उन्होंने इसे लिखा था ।

सूर-काव्य की विशिष्टता

सूर ने वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व विनय-भावना से ओतप्रोत भक्ति के पद रचे थे जिनमें उन्होंने तुलसी के समान स्वयं को अत्यन्त दीन, अगाध पापी और हीन घोषित करते हुए प्रभु से करुणा की याचना की थी । परन्तु पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के उपरान्त सूर इस प्रकार की दैन्य-भावना से मुक्त हो केवल आराध्य के लीलागान में ही डूबे रहे थे । उन्होंने भगवान से स्वयं अपने लिए किसी भी प्रकार की याचना नहीं की थी । वे एकमात्र अपने प्रभु के प्रेम में आंकठ निमग्न रहते थे । उनके हृदय में अपने आराध्य के प्रति प्रेम का अगाध सागर लहराता रहता था । प्रेम की इस भावना में भगवान भक्त के लिए विषयरूप आलम्बन बन जाते हैं । कृष्ण-भक्तों की ही नहीं, सम्पूर्ण वैष्णव भक्तों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने अपने आराध्य के प्रति अपना प्रेम-निवेदन सीधा न कर विभिन्न आश्रयों के माध्यम से किया है । कृष्ण-काव्य में गोपियाँ, यशोदा, नन्द, गोप, उद्धव आदि उनके आश्रय रूप आलम्बन रहे हैं । सूर ने उन्हीं के माध्यम से अपने आराध्य के प्रति अपने अनन्य, एकान्त अनुराग का चित्रण किया है । इन सब के रूप में सूर का हृदय शत-शत रस-स्रोतों में

उद्वेलित हो उठा है। यही कारण है कि सूर वर्णित बाल-लीला, गोपियों का विरह, यशोदा के मातृ-हृदय में पुत्र-विछोह के कारण उठने वाला भयानक उद्वेलन और मार्मिक व्यथा इतनी मर्म-स्पर्शिनी और अनन्त काव्य-सौन्दर्य से आपूरित हो उठी है।

बाल-लीला का अद्वितीय रूप

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कृष्णभक्तों की इस अनुभूति को समझा है और इसी के आधार पर सूर की बाल-लीला की मार्मिकता के रहस्य का उद्घाटन करते हुए लिखा है—

"संसार के साहित्य की बात कहना तो बहुत कठिन है, क्योंकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अंशमात्र हमारा जाना है। परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य में इतनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाल लीला अलभ्य है। बालकृष्ण की एक-एक चेष्टाओं के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म-निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दों की कमी होती है, न अलंकारों की, न भावों की, न भाषा की। क्यों ऐसा है ? क्या कारण है कि शताधिक पदों में बार-बार दुहराई हुई बात इतनी मनोरम हो गई है ? क्या कारण है कि उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं की जमात हाथ जोड़कर इस बार-बार दुहराई हुई लीला के पीछे दौड़ पड़ी है ? इसका कारण यशोदा का निखिलानन्द सन्दोह भगवान बालकृष्ण के प्रति एकान्त आत्म-समर्पण है। अपने आप को मिटाकर, अपना सर्वस्व निछावर करके जो तन्मयता प्राप्त होती है वही श्रीकृष्ण की इस बाललीला को संसार का अद्वितीय काव्य बनाए हुए है। यशोदा को उपलक्ष्य करके वस्तुतः सूरदास का भक्त चित्त ही शत-शत रस-स्रोतों में उद्वेल हो उठा है। वही चित्त गोपियों, गोपालों, और सबसे बढ़कर राधिका के रूप में ही अभिव्यक्त हुआ है। इसीलिए सूरदास की पुनरुक्तियाँ जरा भी नहीं खटकतीं और वाक्-चातुर्य इतना उतम कोटि का होकर भी व्यंग्यार्थ के सामने अत्यन्त तिरस्कृत हो गया है।"

सूर द्वारा वर्णित बाललीला अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ी है। और इसकी इसी विशेषता को लक्ष्य कर अनेक रस-सिद्ध आलोचकों ने इसे स्वभावोक्ति माना है। परन्तु डा० द्विवेदी इसे स्वभावोक्ति से भी अधिक मार्मिक और बड़ी चीज मानते हैं। क्यों मानते हैं ? उसका उत्तर उनके उपर्युक्त उद्धरण में मिल जाता है। इस बाललीला में सूर स्वयं माता यशोदा के माध्यम से, पूर्ण रससिक्त हो, उन बाललीलाओं का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार कोई माँ अपने लाड़ले लाल की विभिन्न क्रीड़ाओं का वर्णन करते नहीं अघाती, वही स्थिति सूर की बन गई है। इसीलिए विशद पुनरावृत्तियों के रहते हुए भी सूर बालकृष्ण के प्रति अपने अनन्य अनुराग और अगाध स्नेह के कारण हमें निरन्तर रसमग्न बनाए रखते हैं। यह शक्ति और यह कौशल बिरले ही भाग्यवान कवियों को मिल सका है।

विरह की गहनानुभूति

बाललीला के संयोग-सुख के उपरान्त सूर विरहानुभूति की भावभूमि पर उतरते हैं। भक्ति में विरह का सर्वप्रधान स्थान माना जाता है। विरहानुभूति ही भक्ति-भावना को चरम उत्कर्ष प्रदान करती है। विरहानुभूति की अग्नि में तपकर ही जायसी की नागमती अपने सम्पूर्ण रूपगर्व और अहं को त्याग अपने प्रियतम की ऐसी कातर विरहिणी बन जाती है कि उसकी विरह-वेदना से सम्पूर्ण विश्व त्रस्त-सा दिखाई पड़ने लगता है। विरह-वेदना मन के सम्पूर्ण कलुष को भस्म कर उसे निर्मल और उदात्त बना देती है। संयोग-सुख जितना गहन और पूर्ण होगा, विरह-दुख भी उतना ही अधिक गहन और मार्मिक बन जाता है। बालकृष्ण की मधुर क्रीड़ाओं के आनन्द में विभोर माता यशोदा से जब उनका लाड़ला लाल बिछुड़ जाता है तो उनका हृदय पुत्र-बिछोह की वेदना से व्याकुल हो वेदना और करुणा की ऐसी सरस धारा प्रवाहित कर उठता है कि पाठक यशोदा के साथ स्वयं विरह-वेदना से तड़पने लगता है। यहाँ यशोदा के रूप में सूर का हृदय ही करुण-क्रन्दन कर रहा है। पुत्र की बाल-क्रीड़ाओं की स्मृति माँ के हृदय को झकझोरती रहती है। उसे सन्देह है कि मैं अपने पुत्र को तंग किया करती थी, माखन-रोटी नहीं देती थी, शैतानी करने पर दंड देती थी, गाय चराने वन में भेजती थी, शायद इसी कारण मेरा पुत्र मुझे त्याग मथुरा चला गया है। यह सोच-सोच कर माँ का हृदय कलपता रहता है और वह विलाप करती हुई पुत्र को पुनः लौट आने के लिए पुकारती रहती है—

'मेरे कान्ह कमल दल लोचन।
अबकी बार बहुरि फिरि आबहु, कहा लगे जिय सोचन।।
यह लालसा होत जिय मेरे, बैठी देखत रैहों।
गाइ चरावन कान्ह कुँवर को कबहुँ जान न दैहों।।'

माँ को पूर्व स्मृतियाँ व्याकुल कर रही हैं। न जाने उनका लाड़ला परदेश में, माँ के बिना कैसे रहता होगा। लोग माँ को समझाते हैं, मगर माँ की वेदना को दूसरा कोई भी नहीं समझ सकता। यशोदा सोचती हैं—

'यद्यपि मन समुझावत लोग।
शूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुँह जोग।।
प्रातकाल उठि माखन रोटी को बिनु माँगै दैहे।
अब उठि मेरे कुँवर कान्ह को छिन-छिन अंक में लैहे।।'

प्रेम का अनन्य रूप

सूर के भक्त-हृदय की यही विरह-वेदना दूसरी ओर राधा और गोपियों के माध्यम से फूट पड़ी है। विरह-वेदना वही है, मात्र आश्रय बदल गए हैं। सूर पहले राधा-कृष्ण के बाल-प्रेम का चित्रण कर धीरे-धीरे उसे परिपक्व बनाते रहते हैं।

उनका यह प्रेम एकाएक उदय नहीं हो जाता। पहले परस्पर परिचय होता है, दोनों साथ-साथ खेलते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं और धीरे-धीरे साहचर्य-सम्भूत यह प्रेम पकता चला जाता है। दोनों इस स्थिति में पूर्व-राग की एक विचित्र वेदना का अनुभव करते हैं। क्षण-भर का बिछोह भी उनके लिए असह्य हो उठता है। दोनों परस्पर पूर्णरूपेण आत्म-समर्पित हैं। संयोग में जितने विभोर हो क्रीड़ा करते हैं, बिछोह होने पर उतने ही व्याकुल हो उठते हैं। परन्तु दोनों में एक अन्तर है। कृष्ण पुरुष हैं, इसलिए उद्धव से एकान्त में, अपनी विरह-व्यथा को कह उन्हें राधा को समझाने गोकुल भेज देते हैं। यहाँ राधा के माध्यम से स्वयं सूर का विरह-व्याकुल हृदय अभिव्यक्त हुआ है इसलिए सख्य-भाव का यह भक्त अपनी वेदना को शब्दों के रूप में कहीं भी मुखरित नहीं होने देता। राधा कृष्ण से बिछुड़ कर गम्भीर बन जाती है। रात-दिन चुपचाप आँसू बहाना ही उसका एकमात्र कार्य रह जाता है। उद्धव कृष्ण का सन्देश लेकर गोकुल आते हैं, सारी गोपियाँ उन्हें घेर लेती हैं, परन्तु राधा उनके पास भी नहीं आती। जब प्रिय ने ही उसके प्रेम का उपहास किया है तो वह अपनी इस लांछना और तिरस्कार का ढिंढोरा क्यों पीटती फिरे। उसकी विरह-व्यथित काया करुणा और दैन्य की साक्षात् मूर्ति बन गई है। उद्धव ने गोकुल से मथुरा लौटकर कृष्ण से राधा की इस मूर्ति का जैसा मार्मिक वर्णन किया है, वह वज्र कठोर हृदयों को भी द्रवित करने की सामर्थ्य रखता है।

डा० द्विवेदी का भाव-प्रवण हृदय राधा की इस वेदना की गहनता और उसके प्रेम की अनन्यता और उज्ज्वलता को पहचान सका है। तभी उन्होंने राधा की उस विरह-कातर मूर्त्ति के रूप में साकार हुए उस प्रेम की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"प्रेम का वही रूप जिसने संयोग में कभी विरहाशंका का अनुमान नहीं किया, वियोग में इस मूर्ति को धारण कर सकता है। वास्तव में सूरदास की राधिका शुरू से अखीर तक सरल बालिका है। उसके प्रेम में चण्डीदास की राधा की तरह पग-पग पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है। इस प्रेम में किसी प्रकार की जटिलता भी नहीं है। घर में, वन में, घाट पर, कदम्ब तले, हिंडोले पर—जहाँ कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है, वहीं पर अपने आप में ही पूर्ण है, मानो वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता और न कोई दूसरा ही उसकी खबर रखता है।......इसमें उस जाति के प्रेम की गन्ध भी नहीं है जो प्रिय की संयोगावस्था में उसकी विरहाशंका से उत्कंठित और वियोगावस्था में मिलन-लालसा से व्याकुल हुआ रहता है। वह संयोग में सोलह आना संयोगमय और वियोगावस्था में सोलह आना वियोगमय है।......प्रेम के इस स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य मे किसी और कवि ने नहीं किया। यह सूरदास की अपनी विशेषता है।"

वस्तुतः सूर के इस प्रेम-चित्रण की इसी विशेषता को न समझ पाने के कारण आचार्य शुक्ल जैसे नीतिवादी आलोचकों ने उसे एकांगी और लोक-बाह्य प्रेम घोषित किया था। सर्वत्र आदर्श और नीति पर आधारित लोक-कल्याण की ही खोज करने वाली आलोचक-दृष्टि प्रेम के इस महान् रूप को समझ नहीं सकी थी, इसी कारण इसका उचित और न्याय-संगत मूल्यांकन करने में असमर्थ रही थी।

प्रेम का लौकिक रूप

संयोगावस्था में चंचल, मुखर, लीलाप्रिय, हँसोड़ राधा को जब एकाएक अप्रत्याशित रूप से प्रिय का बिछोह झेलना पड़ता है तो वह स्तब्ध रह जाती है। यद्यपि जब कृष्ण मथुरा जाने को उद्यत होते हैं तो उस समय तो वह विद्रोह करने पर उतारू दिखाई देती है और कहती है—

'हौं साँवरे के संग जैहों।
होनी होइ सु होइ उभै लै हठ यश-अपयश काहू न डरैहौं॥'

परन्तु जब कृष्ण उसे छोड़ चले जाते हैं तो वह मूर्च्छित हो धरती पर गिर पड़ती है। उसकी यह मूर्च्छा स्तब्धता का रूप धारण कर लेती है। उसकी समझ में ही नहीं आता कि ऐसी अप्रत्याशित अनहोनी घटना कैसे घट सकी। और हम अन्त तक राधा को इसी प्रकार स्तब्ध, संज्ञाहीन सी ही देखते हैं। उसके मन का क्षोभ, आक्रोश, ग्लानि, स्नेह आदि मन के भीतर ही उद्वेलित होते रहते हैं। वह उद्धव के आने पर भी मूक और अश्रुपूरित बनी रहती है। परन्तु सूर ने उसकी इन भावनाओं के प्रकाशन का रास्ता भी निकाल लिया है। 'भ्रमरगीत प्रसंग' में गोपियों के माध्यम से राधा की यही भावनाएँ प्रबल वेग के साथ मुखरित हो उठी हैं। अनन्य प्रेम के क्षेत्र में विश्वासघात, कायरतापूर्ण पलायन, उपेक्षा आदि के लिए कोई स्थान नहीं होता। यदि कोई ऐसा करता है तो उसे इसके लिए दण्ड और भर्त्सना झेलनी पड़ती है। यहाँ यह दण्ड और भर्त्सना उद्धव के माध्यम से कृष्ण ही सहते हैं। इस प्रकार सूर अपने युगल आराध्य की अलौकिकता को भी बनाए रखते हैं; और साथ ही उन्हें प्रेम के लौकिक स्तर पर भी उतार लाते हैं। गोपियों के उपालम्भपूर्ण वचनों के माध्यम से प्रेम के लौकिक रूप की ही व्यंजना हुई है।

सूर सख्य-भावना वाली भक्ति में आस्था रखते थे, इसलिए भक्त के आत्म-सम्मान को सुरक्षित रखने का प्रयत्न गोपियों के माध्यम से करते हैं। इसी कारण सूर की गोपियाँ मुखरा और उद्धत बन जाती हैं। और यहीं आकर सूर मधुर-भक्ति को लौकिक-जीवन के स्तर पर उतार उसे लोक-ग्राह्य बनाने में सफल हो जाते हैं। इसके साथ ही सूर एक अन्य लोक-समस्या का समाधान भी प्रस्तुत कर देते हैं। क्या ज्ञान-योग से भक्ति-योग ही अधिक ग्राह्य और सरल है—यही समस्या उस युग में लोक-मानस को विक्षुब्ध बनाए रखती थी। इस प्रकार सूर भ्रमरगीत प्रसंग की उद्भावना द्वारा एक ओर तो मधुर-भक्ति को लौकिक रूप प्रदान कर उसे सर्वजन

सुलभ बनाने का प्रयत्न करते हैं और दूसरी ओर उस महत्त्वपूर्ण लोक-समस्या का उचित, सरल, ग्राह्य समाधान प्रस्तुत करने में भी सफल हो जाते हैं।

इस प्रसंग में राधा की मूक वेदना ही गोपियों के माध्यम से अपनी सम्पूर्ण शक्ति, क्षोभ, आक्रोश, ग्लानि आदि भावनाओं के साथ फूट पड़ती है। इसलिए गोपियों को राधा का ही प्रतिरूप मानना चाहिए। भ्रमरगीत प्रसंग को आचार्य शुक्ल सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश मानते हैं। इसमें गोपियाँ एक ओर तो कृष्ण द्वारा प्रेम के निर्मल क्षेत्र में किए जाने वाले विश्वासघात और कायरतापूर्ण पलायन के लिए, उद्धव के माध्यम से, खूब जली-कटी सुनाती हैं, अनेक प्रकार के उपालम्भ देती हैं, और दूसरी ओर निर्गुण ब्रह्म और योग-उपासना की जटिलता, अगम्यता अतः अव्यावहारिकता सिद्ध करती हुई भक्ति के सरल, सुबोध मार्ग की स्थापना करतो हैं। यहाँ सूर का भावुक कवि और लोक-चेतना का पारखी विचारक—दोनों घुले-मिले रूप में साथ-साथ चलते दिखाई पड़ते हैं। इस प्रसंग में सूर का हृदय इनना अधिक रमा है कि वह एक ही बात को बार-बार तरह-तरह से घुमा-फिरा कर कहते हैं और फिर भी उन्हें सन्तोष नहीं होता। वस्तुतः यदि सूर ने इतने विस्तृत रूप में भ्रमरगीत की मौलिक उद्‌भावना न की होती तो राधा-कृष्ण की कथा अलौकिक ही बनी रह जाती, लोक स्तर पर न उतर पाती। इस प्रसंग में प्रेम और प्रेमाश्रित मधुर-भक्ति अपने सम्पूर्ण अवयवों सहित पूर्ण स्वाभाविक और व्यावहारिक रूप में अभिव्यंजित हुई है।

सूर अपनी इस प्रेम-साधना में ही डूबे रहने वाले अनन्य भक्त थे। इसलिए उनके साहित्य का अध्ययन करने में उसका यह पक्ष ही एकमात्र विचारणीय और महत्त्वपूर्ण है। इसके सम्मुख उनके दार्शनिक विचारों, भक्ति-पद्धति आदि का कोई मूल्य नहीं रह जाता। इसलिए उनका विवेचन भी अपेक्षित नहीं है। हम पहले कह आए हैं कि सूर-काव्य में अभिव्यक्ति तो सूर के भक्त-हृदय की ही हुई है परन्तु उसका रूप प्रत्यक्ष न रह विभिन्न माध्यमों द्वारा ही व्यक्त हुआ है। और ये माध्यम इतने स्वाभाविक, इतने मनोरम और लोक-ग्राह्य रहे हैं कि सूर की बात मर्म पर चोट करती है। इसी कारण सूर हमें अलौकिक से प्रतीत होने वाले काव्यानन्द का रस-पान कराने में सफल रहते हैं। उनकी बातें पढ़ते या सुनते समय हम इतने अधिक तन्मय हो उठते हैं कि लौकिक चेतना का विस्मरण हो जाता है। वहाँ केवल हम रह जाते हैं और हमारे चतुर्दिक यशोदा, कृष्ण, राधा, गोपियाँ, गोप, उद्धव आदि साकार रूप में उपस्थित हो हमें अपने वातावरण में अपने साथ घुला-मिला लेते हैं। साहित्य-शास्त्री इसी मानसिक दशा को 'साधारणीकरण' कहते हैं। आज भी यशोदा की—'संदेसो देवकी सौं कहियो'—पंक्तियों को पढ़कर हमारा हृदय करुणा से विगलित और नेत्र अश्रुपूरित हो जाते हैं, और कृष्ण के इसी रूप की कल्पना कर मन करने लगता है कि हम भी गोपियों के साथ कृष्ण और उद्धव को कुछ जली-कटी बातें सुना डालें। पाठकों को इतना अधिक और इतने अधिक लम्बे समय तक इस प्रकार गहरे

रूप से प्रभावित करने की, आत्म-विस्मृत बना देने की शक्ति समस्त हिन्दी-साहित्य में कुछ इने-गिने कवियों में ही मिलती है और सूर उन सब में श्रेष्ठ हैं।

काव्य-सौन्दर्य

सूर ने ऐसी शक्ति अनायास ही नहीं प्राप्त कर ली थी। सशक्त अभिव्यक्ति के लिए सशक्त भाषा और समर्थ काव्य-शास्त्र की अपेक्षा होती है और सूर के पास में दोनों ही पूर्ण परिमाण में हैं। उन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक, संस्कृत, उन्नत रूप प्रदान करते हुए अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था और उसे अपने वाग्वैदग्ध्य, उपयुक्त शब्द-चयन, अलंकार और कथन के सरल परन्तु अनूठे ढंग से सुसज्जित कर समृद्ध बनाया था। उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होती हुई कोई भी भाषा संकीर्णता का त्याग करके ही आगे बढ़ती है। उसे अपना शब्द-भंडार बढ़ाना होता है, इसलिए वह अन्य भाषाओं के लोक-प्रचलित शब्दों को अपनाने में संकोच नहीं करती। हम सूर की ब्रजभाषा में यही विशेषता पाते हैं। उन्होंने इसी कारण अरबी-फारसी के लोक-प्रचलित शब्दों का व्यवहार करने में संकोच नहीं किया है। उनकी भाषा में तत्कालीन लोक-भाषा काव्य-भाषा के साथ घुल-मिलकर चलती दिखाई पड़ती है। इसी कारण उसका रूप सरल और सुबोध रहा है। मुहावरों, लोकोक्तियों आदि के प्रयोग ने उसे अधिक व्यंजक, प्रभावशाली और लोक-ग्राह्य बना दिया है। सूर के पदों की शैली सजीव, स्वाभाविक और चित्रमय तो है ही, परन्तु अपने तीखे तथा लक्षित व्यंग्यों और भावों की गम्भीरता में वे जयदेव और विद्यापति से भी आगे बढ़ गए हैं। अलंकार प्रयत्न-साध्य न होकर पूर्ण स्वाभाविक रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। उनके रूपकों के अनोखे बन्धान, उपमा-उत्प्रेक्षाओं की अद्‌भुत झड़ी उनके काव्य को एक अद्‌भुत सौन्दर्य, काव्य-चमत्कार और आभा से मंडित कर देती है।

गीतिकाव्य के अमर कवि

सूर कवि और गायक—दोनों थे। इसलिए उनके काव्य में काव्य और संगीत का नैसर्गिक समन्वय मिलता है। उनके अधिकांश पद किसी-न-किसी राग या रागिनी में बँधे हुए हैं। संगीत के समावेश ने उनके काव्य को और अधिक मर्मस्पर्शी और संवेदनशील बना दिया है। सूर में भावुकता और हार्दिक वृत्ति बहुत प्रबल है, इसलिए उनके गीतों में विदग्धता और तन्मयता की मात्रा बहुत गहरे रूप में उतरी है। उनके पदों में वात्सल्य, शान्त और श्रृंगार रसों की प्रधानता के साथ आत्म-निवेदन, वियोग-वर्णन और बाल तथा यौवन के श्रृंगारी चित्र अधिक हैं। प्रबन्धात्मकता के होते हुए भी हार्दिकता के योग के कारण उन पदों का गीत-सौन्दर्य विशेष रूप से निखर उठा है। आचार्य शुक्ल ने सूर के पदों की इसी विशेषता को लक्ष्य कर लिखा था कि—"इन पदों के सम्बन्ध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होते हुए भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह

रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठन सी जान पड़ती हैं।"

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी सूर-काव्य के अनन्य भक्त प्रतीत होते हैं। वह जितने सूर के भावपक्ष पर मुग्ध हैं, उतने ही उनके काव्य-पक्ष पर भी। उन्होंने सूर के कवित्त्व की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार-शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह बिरल है। पद-पद पर मिलने वाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता, कि कवि जान-बूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाइए : केवल उपमाओं और रूपकों की घटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुहराई जा रही है, फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ। जिसने सूरसागर नहीं पढ़ा उसे यह बात पढ़कर कुछ अजीब सी लगेगी, शायद वह विश्वास ही न कर सके, पर बात सही है। काव्य-गुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं, जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्त्व की याद दिलाया करता है—बल्कि उस अकृत्रिम वन-भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में ही घुल-मिल गया है।"

यहाँ अन्तिम पंक्ति का यह वाक्यांश द्रष्टव्य है—'जिसका रचयिता रचना में ही घुल-मिल गया है।' वस्तुतः इसी वाक्यांश में सूर-काव्य का सम्पूर्ण मर्म, सौन्दर्य और समृद्धि मुखर हो उठी है। यदि सूर के आरम्भिक विनय के पदों को छोड़ दिया जाय तो समस्त सूर-काव्य में हमें सूर का पृथक् अस्तित्व कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता। सूर ने नन्द-यशोदा, राधा, गोप-गोपियों के माध्यम से अपने हृदय की गहन भावानुभूतियों को ही काव्य-रूप में प्रकट किया है। इसी कारण सूर हमें पृथक्-पृथक् स्थलों पर भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं परन्तु उनकी मूल अनुचेतना, मूल अनुभूति एक ही रही है—अपने आराध्य में पूर्ण रूप से घुल-मिल जाना, एकाकार हो जाना।

नन्ददास

सूर के बाद कृष्ण-भक्ति-काव्य के दूसरे उल्लेखनीय कवि नन्ददास माने जाते हैं। अष्टछाप के कवियों में ये गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य और आयु में सबसे छोटे थे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार ये एटा के निवासी और तुलसीदास के छोटे भाई माने गए हैं। परन्तु आचार्य शुक्ल इन्हें तुलसी का भाई नहीं मानते। जो कुछ भी हो, परन्तु अभी तक इनका प्रामाणिक जीवन-चरित्र उपलब्ध नहीं हो पाया है। डा० कृष्णदेव झारी ('अष्टछाप के कवि नन्ददास' के रचयिता) के

अनुसार इनका जन्म सन् १५३३ में तथा मृत्यु सन् १५८३ में हुई थी । इनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि ये खत्री जाति की एक सुन्दरी पर आसक्त थे और चारों ओर उसके पीछे-पीछे लगे फिरते थे । एक बार वह स्त्री ब्रज आई तो यह भी उसके साथ लगे चले आए । यहीं गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इनका मोह भंग कर इन्हें कृष्ण-भक्ति के प्रति उन्मुख किया था और फिर ये जीवन-पर्यन्त वहीं रह अपने प्रभु के गुण-गान गाते रहे थे ।

नन्ददास के रचे ग्रन्थों में निम्नलिखित की गणना की जाती है—रास-पंचाध्यायी, सिद्धान्त पंचाध्यायी, रूपमंजरी, अनेकार्थ मंजरी, रुक्मिणी मंगल, विरह मंजरी, मान मंजरी, श्याम सगाई, भाषा दशम स्कन्ध, रस मंजरी, गोवर्द्धन लीला, पदावली, सुदामा-चरित, और भँवरगीत ।

इनमें से गोवर्द्धन लीला, सुदामा-चरित और पदावली का कुछ अंश—संदिग्ध माने गए हैं । मान मंजरी, अनेकार्थ मंजरी और रस मंजरी नामक ग्रन्थों में कवि ने कृष्ण-भक्ति के साथ-साथ अपने काव्य-शास्त्रीय ज्ञान का भी प्रदर्शन किया है । शेष अन्य ग्रन्थ कृष्ण भक्ति और कृष्ण चरित से सम्बन्धित हैं । इनमें से 'रास पंचाध्यायी' और 'भँवरगीत' की विशेष प्रसिद्धि रही है । 'रास पंचाध्यायी' में भागवत के पाँच अध्यायों का अनुवाद किया गया है । इसका प्रमुख वर्ण्य विषय रास-लीला है । इसी कारण इसमें शृंगार का प्राधान्य और भक्ति-भावना की अपेक्षाकृत न्यूनता मिलती है । परन्तु काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह नन्ददास की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जा सकती है । 'भँवरगीत' में सूर के 'भ्रमरगीत' के ही समान गोपी-उद्धव सम्वाद द्वारा ज्ञान पर भक्ति की विजय और गोपियों की हृदयस्पर्शी विरह-वेदना का अंकन किया गया है । 'रूप मंजरी' में एक विवाहिता नारी का कृष्ण के प्रति अनन्य अनुराग चित्रित कर 'परकीया भाव' को प्राधान्य देते हुए 'उपपति रस' की स्थापना की गई है ।

नन्ददास की सबसे विचित्र रचना 'रस मंजरी' है, जिसमें कामोद्दीपक शैली में नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण किया गया है । नन्ददास जैसा भक्त भी ऐसी रचना करने की ओर प्रवृत्त हो सकता था—इस पर सहज ही विश्वास नहीं होता । परन्तु नन्ददास की सम्पूर्ण कृतियों का अध्ययन इस रचना की प्रामाणिकता पर सन्देह नहीं करने देता । नन्ददास का स्वर भक्ति का रहते हुए भी उद्दाम शृंगार-भावना से ओतप्रोत रहा है । सम्भव है नन्ददास पर श्रीनाथजी के मन्दिर के उस वैभव-विलासपूर्ण वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ा हो जो कृष्णदास अधिकारी के समय मन्दिर का बन चुका था । नन्ददास का काव्य इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार कृष्णभक्ति-काव्य में लौकिक शृंगार-भावना का प्राधान्य बढ़ता चला जा रहा था, और जिसने कालान्तर में निकृष्ट कोटि के शृंगार का रूप धारण कर लिया था ।

नन्ददास एक विद्वान्, काव्यशास्त्र के अध्येता, कुशल कवि थे । हमें उनके काव्य में उनके अगाध पांडित्य के दर्शन होते हैं । 'भँवरगीत' में वर्णित उनकी गोपियाँ

सूर की गोपियों को अपेक्षा अधिक तार्किक और दार्शनिक प्रतीत होती हैं परन्तु उनकी उक्तियों में निर्मल प्रेम की वह निश्छल मर्मस्पर्शिनी अनुभूति नहीं मिलती जो सूर की एकान्त विशेषता रही है। फिर भी नन्ददास को इस बात का श्रेय तो मिलना ही चाहिए कि उन्होंने अपने दार्शनिक ज्ञान के बल पर कृष्णभक्ति-काव्य में साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की स्थापना करने में सफलता पाई थी। उनकी दूसरी उपलब्धि यह मानी जा सकती है कि उन्होंने सूर आदि द्वारा अपनाई गई एकमात्र पद-शैली के साथ ही अन्य अनेक प्रकार की प्रेमाख्यान शैली, मुक्तक शैली, गीति-शैली आदि विभिन्न प्रकार की शैलियों का समावेश कर कृष्णभक्ति-काव्य में शैली-वैविध्य का समावेश किया था। काव्य-रूप की दृष्टि से इसे नन्ददास की अपने क्षेत्र में ऐतिहासिक उपलब्धि माना जा सकता है नन्ददास की तीसरी मौलिक विशेषता भाषा-क्षेत्र में मिलती है। उन्होंने अनुप्रास, संस्कृत पद-विन्यास आदि के प्रयोग से ब्रजभाषा को एक नवीन साहित्यिक, सुसंस्कृत और प्रौढ़ रूप प्रदान किया था। अपने इसी भाषा-सौन्दर्य के कारण उनके सम्बन्ध में यह लोकोक्ति प्रचलित थी—'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया।'

वस्तुतः नन्ददास एक प्रतिभाशाली कवि हैं। उनमें गहन भावुकता भी है और उत्कृष्ट कोटि का काव्य-कौशल भी। 'भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित है, विचार-पद्धति शास्त्रीय और पुष्टिमार्ग-सम्मत है।' डा० द्विवेदी के शब्दों में—"शब्दानुप्रासों के झंकार से वे ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं कि पाठक अभिभूत हो जाता है। शब्दों की ध्वनि और अर्थ की गम्भीरता एक-दूसरे से स्पर्धा करती हुई आगे बढ़ती है। अष्टछाप के किसी भी दूसरे कवि में शब्द-गठन की और ध्वनि-निर्माण की ऐसी क्षमता नहीं है।"

अष्टछाप के अन्य कवि

हम गत पृष्ठों में 'अष्टछाप' के तीन कवियों—कुम्भनदास, सूरदास, और नन्ददास के काव्य का विवेचन कर आए हैं। इनके अतिरिक्त अष्टछाप के शेष पाँच कवि—कृष्णदास, परमानन्ददास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी, और गोविन्द स्वामी वल्लभीय सम्प्रदाय की दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण रहे हों परन्तु काव्य की दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं माना जा सकता। वे साधारण कोटि के कवि थे। **कृष्णदास** श्रीनाथजी के मन्दिर के प्रबन्धाधिकारी और ऐश्वर्य-विलास के प्रेमी कवि थे। इनके रचे केवल तीन ग्रन्थ बताए जाते हैं—जुगलमान चरित्र, भ्रमरगीत, और प्रेमतत्त्व निरूपण। इनकी कविता साधारण कोटि की है। सम्प्रदाय की दृष्टि से इनका केवल यह ऐतिहासिक महत्त्व माना जाता है कि इन्होंने कृष्णभक्ति-काव्य में बाह्य लौकिक शृंगार का समावेश कराने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। बस, इससे अधिक कुछ भी नहीं। **परमानन्ददास** सरस और श्रेष्ठ कवि थे। कहते हैं इनके एक पद को सुनकर वल्लभाचार्य कई दिन तक बेहोश बने रहे थे। इनका लिखा केवल एक

ही ग्रन्थ मिलता है—'परमानन्द सागर'; जिसमें ८३५ पद संग्रहीत हैं। भाषा-लालित्य इनके पदों की विशेषता रही है। **चतुर्भुजदास** कुम्भनदास के पुत्र थे। इनके लिखे तीन ग्रन्थ हैं—द्वादश यश, हितजू को मंगल, और भक्ति प्रताप या भक्ति प्रकाश। भाषा चलती और सुव्यवस्थित है। **छीतस्वामी** मथुरा के एक सुसम्पन्न, अक्खड़ और उद्दंड पंडा थे जिन्हें विट्ठलनाथ जी ने दीक्षा देकर शान्त, विनम्र भक्त बना दिया था। इनके कुछ फुटकल पद ही मिले हैं, कोई ग्रन्थ नहीं। इनके कुछ पदों में कृष्ण के साथ-साथ ब्रजभूमि के प्रति अनन्य प्रेम की व्यंजना मिलती है; जैसे—'हे बिधना तो सौं अँचरा पसारि मागौं, जनम-जनम दीजो याही ब्रज बसिबौ।' ब्रज के प्रति यही अनन्य भावना हमें आगे चलकर रसखान में भी मिलती है। **गोविन्द स्वामी** कवि और पक्के गवैए थे। प्रसिद्ध गायक तानसेन इनका गाना सुनने के लिए आया करते थे। इनके भी केवल कुछ फुटकल पद ही मिले हैं, कोई ग्रन्थ नहीं।

अष्टछाप के उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त अनेक अन्य कृष्णभक्त कवि ऐसे हुए हैं जिनमें से कुछ तो विशिष्ट सम्प्रदायों से आबद्ध या उनके प्रवर्त्तक रहे थे और कुछ ऐसे हैं जिन्होंने स्वच्छन्द रीति और उन्मुक्त भाव से, साम्प्रदायिक मान्यताओं और स्थापनाओं से सर्वथा मुक्त रहते हुए सुन्दर कृष्णभक्ति-काव्य का सृजन किया था। सम्प्रदाय-बद्ध कवियों में दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—'राधावल्लभीय सम्प्रदाय' के प्रवर्त्तक गोस्वामी हित हरिवंश, तथा 'सखी-सम्प्रदाय' या 'हरिदासी-सम्प्रदाय' के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदास।

गोस्वामी हित हरिवंश

हम गत पृष्ठों में 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' का विवेचन करते हुए इस सम्प्रदाय की मान्यताओं और विशिष्टताओं का उल्लेख कर आए हैं। यहाँ केवल इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक गोस्वामी हित हरिवंश के जीवन और काव्य पर ही प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। आचार्य शुक्ल के अनुसार इनका जन्म सम्वत् १५५९ में मथुरा से चार मील दक्षिण में स्थित बादगाँव में एक गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये कृष्ण के अनन्य भक्त और गृहस्थ थे। इन्होंने स्वप्न में राधा से प्रेरणा प्राप्त कर एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की जो 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने वृन्दावन में राधा-कृष्ण की युगल-मूर्त्ति की स्थापना की और जीवन-पर्यन्त उन्हीं के लीलागान में लगे रहे। इनका देहावसान सम्वत् १६०९ में हुआ माना जाता है।

हित हरिवंश हिन्दी और संस्कृत—दोनों भाषाओं के कवि थे। परन्तु इन दोनों ही भाषाओं में रचा हुआ इनका केवल एक-एक ग्रन्थ ही उपलब्ध है। संस्कृत का 'राधासुधा निधि' और ब्रजभाषा का 'हित चौरासी'। इनके द्वारा रचित 'यमुनाष्टक' नामक एक अन्य ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। 'हित चौरासी' में केवल ८४ पद संग्रहीत हैं। परन्तु केवल इस छोटे से संग्रह

के आधार पर ही इनकी गणना ब्रजभाषा के गण्यमान कवियों में की जाती है। डा० द्विवेदी के अनुसार तो—अनन्य भक्ति और मधुर पद-बन्ध—दोनों ही दृष्टियों से ये ब्रजभाषा के चोटी के दो-तीन कवियों में गिने जाने योग्य हैं। आचार्य शुक्ल भी इनकी रचना को 'बड़ी सरस और हृदयग्राहिणी' मानते हैं। इन्होंने राधा-कृष्ण के अभेद्य और अविच्छेद्य प्रेम का वर्णन करते हुए लौकिक शृंगार के माध्यम से अलौकिक या आध्यात्मिक धरातल की ओर संकेत किया है। इन्होंने अपनी आराध्या राधा के नख-शिख का वर्णन बड़ी ललित शैली में किया है।

हित हरिवंश अपने युग के अत्यन्त प्रभावशाली भक्त और कवि थे। परन्तु इनका रचित साहित्य इतना कम मिलता है कि इनके सम्बन्ध में किसी सुसंगत निर्णय पर पहुँचना कठिन है। डा० बल्देव उपाध्याय ने इनके रचे तीन अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है—आशास्तव, चतुःश्लोकी, और राधा तंत्र। डा० द्विवेदी इनकी रची दो और रचनाएँ मानते हैं—वृन्दावन शतक, और हित सुधासागर। ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

व्यापक प्रभाव

प्रभाव की दृष्टि से हित हरिवंश अपने युग में सर्वोपरि रहे हैं। इनके कई शिष्य ब्रजभाषा के अच्छे कवि हुए हैं। दामोदरदास (सेवक जी), ध्रुवदास आदि इनके शिष्यों ने बड़ी सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। हिन्दी में जिस प्रकार 'रामचरितमानस' और 'बिहारी सतसई' की अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं, उसी प्रकार इनके 'हित-चौरासी' ग्रन्थ की भी अनेक टीकाएँ लिखी गई थीं। इन टीकाओं में 'हित धरणीधर की टीका', 'गोस्वामी सुखलाल जी की टीका', 'जुगलदास की टीका', 'प्रेमदास की टीका', 'लोकनाथ की टीका' आदि प्रसिद्ध हैं। इनके स्वर्गवास पर हरिराम व्यास ने बड़े चुभते हुए पद कहे हैं। इनकी वन्दना करते हुए वृन्दावनदास ने 'हितजी की सहस्र-नामावली' और चतुर्भुजदास ने 'हितजू को मंगल' की रचना की थी। प्रेमदास ने ब्रज-भाषा गद्य में 'हित चौरासी' की लगभग ५०० पृष्ठों की एक विस्तृत टीका लिखी थी। नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में इनके ऊपर एक पद लिखा है जिसमें यह बताया गया है कि इनकी उपासना-पद्धति अन्य सम्प्रदायों से नितान्त भिन्न थी। इनके मत की प्रधान विशेषताएँ इस प्रकार मानी जाती हैं—श्री राधाचरण की प्रधानता, कुंजकेलि दम्पत्ति की खवासी अर्थात् किंकरी और सखी-भाव, महाप्रसाद की निष्ठा, विधि-निषेध का सर्वथा त्याग, अनन्य दास भाव।

इनके काव्य-सौन्दर्य का परिचायक एक पद द्रष्टव्य है—

'खंजन मीन मृगज पद मेटत कहा कहौं नैननि की बातें।
सुनि सुन्दरी कहाँ लौं सिखई मोहन बसीकरन की घातें।।
बंक निशंक चपल अनियारे, अरुण श्याम सित रचे कहाँ ते।
डरत न हरत परायौ सर्वसु, मृदु मधु मिल मादिक दृग पाते।।

नैंक प्रसन्न दृष्टि पूरण करि, नहिं मो तन चितयो प्रमदा तें।
हित हरिवंश हंस कल गामिनि भावै सो करहु प्रेम के नाते ।।'

राधावल्लभ सम्प्रदाय के अन्य कवि

कृष्णभक्ति काव्य में राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों का विशिष्ट योगदान रहा है। इस सम्प्रदाय के मानने वालों में अनेक प्रसिद्ध कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी सरस रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाया है। 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' के सैद्धान्तिक और धार्मिक निरूपण के लिए **दामोदरदास** (सेवक जी) का 'सेवक वाणी' नामक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण माना जाता है, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से इस रचना का महत्त्व गौण ही रहा है। **हरिराम व्यास** ने हिन्दी और संस्कृत—दोनों में ग्रन्थ लिखे थे। हिन्दी के उनके दो ग्रन्थ मिले हैं—'व्यास वाणी' और 'रागमाला'। 'व्यास वाणी' में भक्ति आदि का सैद्धान्तिक निरूपण और शृंगार रस का चित्रण किया गया है। व्यास जी परकीया-भाव और विरहानुभूति के विरोधी और केवल संयोग-भाव के ही उपासक थे। इसी कारण इनका शृंगार वर्णन स्थूल और अश्लीलता की सीमा का स्पर्श करने लगा है। इन्होंने कहीं-कहीं कलियुग के विषम प्रभाव और ढोंगी भक्तों की भी आलोचना की है। इनके काव्य में एक उच्चकोटि के कवि की सरसता और प्रांजलता मिलती है। **चतुर्भुजदास** नामक एक भक्त-कवि और हुए हैं, जिनका साहित्यिक दृष्टि से अधिक मूल्य नहीं माना जाता।

ध्रुवदास—इस प्रम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध भक्त और कवि हुए हैं। इनका एक ग्रन्थ मिला है—'ब्यालीस लीला'। इन्होंने भावात्मक शैली में भक्ति, प्रेम, साधना आदि विषयों का सैद्धान्तिक और भावात्मक वर्णन-विवेचन किया है। रूप-सौन्दर्य तथा प्रेमानुभूति के चित्रण में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। इन्होंने भी विरह का पूर्ण बहिष्कार कर संयोग को ही सर्वस्व माना है। यह 'सम्भोग' को ही प्रेम का पर्याय मानते हैं। काव्यत्त्व की दृष्टि से इन्हें मध्यम कोटि का ही कवि माना जा सकता है। **नेही नागरीदास** राधा के अनन्य उपासक भक्त-कवि थे। इनके रचे चार ग्रन्थ मिले हैं—राधाष्टक, सिद्धान्त दोहावली, पदावली, रस-पदावली। इनकी समस्त रचनाओं में भक्ति और शृंगार का—स्थूल शृंगार-भावना का ही प्राधान्य रहा है। ये साधारण कोटि के कवि थे। **कल्याण पुजारी** के लगभग २०० मुक्तक मिले हैं जिनमें प्रणय, विरह, भक्ति आदि भावनाओं की व्यंजना उत्कृष्ट काव्यात्मक रूप में हुई है। काव्यत्त्व की दृष्टि से इन्हें इस सम्प्रदाय का श्रेष्ठ कवि माना जाता है।

ग्रन्थों की अधिक संख्या की दृष्टि से **चाचा वृन्दावनदास** का इस सम्प्रदाय के कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। डा० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार इनके लिखे १५८ छोटे-बड़े ग्रन्थ मिले हैं। इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'लाड सागर' है, जिसमें राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन किया गया है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इन्हें साधारण कोटि का कवि माना जाता है। उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त

इस सम्प्रदाय में अन्य सैकड़ों कवि और हुए हैं जिन्हें साहित्यिक दृष्टि से अधिक उल्लेखनीय नहीं माना जा सकता ।

स्वामी हरिदास

स्वामी हरिदास 'टट्टी सम्प्रदाय' (सखी-सम्प्रदाय) के संस्थापक माने जाते हैं । हम इस सम्प्रदाय का विवेचन गत पृष्ठों में कर आए हैं । इनका रचना-काल सम्वत् १६०० से १६१७ के मध्य माना गया है । तानसेन इन्हें गुरु के समान मानते थे । 'हरिदासजी को ग्रन्थ', 'स्वामी हरिदास जी के पद', 'हरिदास जी की बानी' आदि नाम से प्रसिद्ध संग्रहों में इनकी कविताएँ संग्रहीत मिलती हैं । ये अपने समय के प्रसिद्ध गवैए थे । आचार्य शुक्ल के अनुसार इनके पद कठिन राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं, पढ़ने में कुछ-कुछ ऊबड़-खाबड़ लगते हैं । पद-विन्यास भी सर्वत्र मधुर और कोमल नहीं है । इनका महत्त्व काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उतना अधिक नहीं माना जाता जितना कि सम्प्रदाय-संस्थापन की दृष्टि से ।

श्री भट्ट

भट्ट जी चैतन्य-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भक्त-कवि थे । कहते हैं कि ये चैतन्य-स्वामी को भागवत सुनाया करते थे । शुक्लजी ने इनका रचना-काल सम्वत् १५८० और १६०० के बीच माना है । ये संस्कृत और हिन्दी के प्रकाण्ड पंडित थे । इनका एक ग्रन्थ मिला है जिसे 'आदिवाणी' और 'युगल शतक'—दोनों नामों से जाना जाता है । इसमें राधाकृष्ण की युगल-मूर्त्ति की उपासना-विधि का अंकन किया गया है । संस्कृत के पंडित होने के कारण इनका पद-विन्यास बहुत सुन्दर बन पड़ा है ।

सूरदास मदनमोहन

ये भी चैतन्य-सम्प्रदाय के भक्त-कवि थे । कहते हैं कि ये इतने दानी थे कि अपना और पराया सब कुछ साधु-सन्तों को दान कर दिया करते थे । एक बार संडीले के अमीन के रूप में इन्होंने मालगुजारी के तेरह लाख रुपए दान कर दिए और खजाने के सन्दूक में कंकड़-पत्थर भर एक कागज पर यह पंक्तियाँ लिखकर सम्राट अकबर के पास भेज दी—

'तेरह लाख संडीले आए, सब साधुन मिलि गटके ।
सूरदास मदनमोहन, आधी रातहि सटके ।।'

इसके उपरान्त ये वहाँ से भाग खड़े हुए और विरक्त बन वृन्दावन में रहने लगे । इनका रचा कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिला है, केवल कुछ फुटकल पद ही मिले हैं । इन्होंने भागवत के दशम स्कन्ध का भी भाषानुवाद किया था जो अपूर्ण ही रह गया ।

चैतन्य-सम्प्रदाय के अनुयायी भक्तों में अन्य अनेक कवि और हुए हैं, जो साहित्यिक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय नहीं माने जा सकते । इनका केवल नामोल्लेख

ही पर्याप्त है, जो इस प्रकार हैं—गदाधर भट्ट, चन्द्रगोपाल, भगवानदास, गरीबदास, विष्णुदास, जुगलदास, राधिकानाथ, किशोरीदास, केशवदास, मधुसूदनदास, रसिक मोहन राय, माधुरी, कृष्णदास, भगवत मुदित, गौरगणदास आदि। इनमें से केवल भगवत मुदित को इसलिए महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है क्योंकि इन्होंने नाभादास के 'भक्तमाल' की पद्धति पर 'रसिक अनन्य माल' नामक एक ग्रन्थ लिखा था जिसमें ३६ भक्तों का जीवन-चरित दिया गया है। भक्तों का विवेचन करते समय प्रायः इस ग्रन्थ को उद्धृत किया जाता है।

समस्त कृष्णभक्ति-काव्य में केवल एक ही व्यक्तित्व ऐसा मिलता है जो जो सम्पूर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं से निरपेक्ष रह जीवन-पर्यन्त अपने आराध्य के गुणगान में डूबा रहा था। और वह व्यक्तित्व है—मीराबाई का।

मीराबाई

मीराबाई कृष्ण की पतिरूप में एकान्त आराधना करने वाली हिन्दी साहित्य की एक ऐसी भक्त-कवियत्री हुई हैं जिनके बिना हिन्दी-काव्य का विवेचन अधूरा ही समझा जायेगा। नाभादास ने 'भक्तमाल' में मीरा का परिचय इस प्रकार दिया है—

'लोक लाज कुल शृंखला तजि मीराँ गिरिधर भजी।
सदृश गोपिका प्रेम प्रकट कलयुगहि दिखायो।
निरअंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो।
दुष्टिन दोष बिचारि मृत्यु को उद्यम कियो।
बार न बाँको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो।
भक्ति निसान बजाय कै, काहू ते नाहिंन लजी।'

उपर्युक्त पद से यह ध्वनि निकलती है कि मीरा ने लोक और कुल आदि की मर्यादाओं का उल्लंघन कर गोपियों के समान रसिक-शिरोमणि कृष्ण की आराधना करते हुए उनका गुणगान किया था। दुष्टों ने विष देकर उन्हें मार डालने की कोशिश की थी, परन्तु उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ था।

जीवन-परिचय

मीरा का जन्म राजस्थान के मेड़ता ठिकाने के राव राठौर रत्नसिंह के यहाँ सम्वत् १५५५ के लगभग हुआ था। १८ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह मेड़ता के इतिहास-प्रसिद्ध राणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र कुँवर भोजराज के साथ सम्वत् १५७३ में कर दिया गया। परन्तु विवाह के तीन-चार वर्ष उपरान्त ही ये विधवा हो गईं। मीरा आरम्भ से ही कृष्ण-भक्ति में लीन रहा करती थीं। पति का स्वर्गवास हो जाने के उपरान्त तो ये एकान्त भाव से कृष्ण के ध्यान में ही डूबी रहने लगीं। कहा जाता है कि ये प्रायः मन्दिर चली जाया करती थीं और वहीं भगवद्विग्रह

के सम्मुख भाव-विभोर हो नाचा और गाया करती थीं। राजवंश की पुत्रवधू का यह आचरण उनके परिवार वालों को बहुत खला। पहले तो उन्होंने मीरा को समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया, परन्तु उनके न मानने पर उनके देवर राणा विक्रमाजीत ने अपने दीवान महाजन बीजावर्गी द्वारा उन्हें विष दिलवा दिया परन्तु विषपान करने पर भी मीरा का बाल तक बाँका नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में पदमावती देवी 'शबनम' ने इधर यह खोज की है कि मीरा विधवा न होकर सुहागिन थीं और उनके पति कुँवर भोजराज ने ही उन्हें जहर दिया था। मीरा के कुछ पदों में इस षड्यन्त्र का उल्लेख मिलता है परन्तु वहाँ जहर देने वाले के लिए केवल 'राणा' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। इस घटना से खिन्न होकर मीरा तीर्थाटन के लिए निकल पड़ीं और मथुरा-वृन्दावन की यात्रा कर द्वारिका चली गईं और वहीं मृत्यु-पर्यन्त (निधन सम्वत् १६०२) रणछोड़ जी की आराधना में लीन बनी रहीं।

मीरा के सम्बन्ध में अनेक किम्वदन्तियाँ प्रचलित रही हैं जिनके अनुसार जीव-गोस्वामी, रैदास, तुलसीदास, कृष्णदास अधिकारी जैसे अपने युग के प्रसिद्ध सन्तों और भक्तों से या तो इनका पत्र-व्यवहार हुआ था या ये उनके सम्पर्क में आई थीं। एक किम्वदन्ती के अनुसार इन्होंने गृह-त्याग करने से पूर्व एक पत्र लिखकर तुलसीदास से इस सम्बन्ध में उनकी सम्मति माँगी थी, जिसके उत्तर में तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में संग्रहीत यह प्रसिद्ध पद लिखकर भेजा था—

'जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो नर तजिय कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥'—आदि

मीरा के सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध है कि इन्होंने जीव गोस्वामी से दीक्षा ली थी। यह भी प्रसिद्ध है कि सहजिया सम्प्रदाय के रूप गोस्वामी ने मीरा के साथ सहज-साधना सम्पन्न की थी। साथ ही मीरा के पदों में एक ऐसे गुरु की भी चर्चा मिलती है जो नाथपंथी साधु प्रतीत होता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' आदि वार्ता-साहित्य में मीरा से सम्बन्धित अनेक वार्ताएँ मिलती हैं। इनसे यह संकेत मिलता है कि मीरा पुष्टिमार्गी भक्त नहीं थीं। इसी कारण पुष्टिमार्गी भक्त इनका अपमान किया करते थे। इन किम्वदन्तियों, वार्ताओं आदि के आधार पर डा० द्विवेदी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि—"मीराबाई अत्यन्त उदार मनोभावापन्न भक्त थीं। उन्हें किसी पंथ-विशेष पर आग्रह नहीं था। जहाँ कहीं भी उन्हें भक्ति या चारित्र्य मिला है, वहीं उन्होंने उसे सिरमाथे चढ़ाया है।"

रचनाएँ

मीरा की समस्त रचनाएँ 'मीराबाई की पदावली' के नाम से संग्रहीत हैं। इसके अतिरिक्त 'गीत गोविन्द की टीका', 'नरसी जी को माहेरो', 'राग सोरठ', 'राग-गोविन्द' आदि भी इन्हीं की रचनाएँ कही जाती हैं। परन्तु मोतीलाल मेनारिया भाषा-भेद के आधार पर इन्हें मीरा की रचनाएँ नहीं मानते। मीरा का गुजराती भाषा में

रचा गया एक ग्रन्थ भी बताया जाता है—'सत्य भामाजी नू रूसणू' । मीरा के पदों का एक बृहद् संग्रह 'मीरा सुधा-सिन्धु' के नाम से किया गया है, जिसमें १३१२ पद संग्रहीत हैं । इस संग्रह के पदों में भाषा-वैविध्य बहुत मिलता है । इन पदों की भाषा गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, ब्रज, भोजपुरी आदि कई प्रकार की है। मीराबाई राजस्थान की थीं, इसलिए उनके पदों की प्रधान भाषा राजस्थानी ही होनी चाहिए । साथ ही उसमें उस युग की व्यापक काव्य-भाषा ब्रज का भी समावेश सम्भव है। अपने अन्तिम समय में वह गुजरात (द्वारिकापुरी) में रही थीं । इसलिए यदि उन्होंने गुजराती में भी पद रचे हों, तो उसे असम्भव नहीं माना जा सकता । वैसे भी पश्चिमी-राजस्थानी और गुजराती परस्पर मिलती-जुलती हुई भाषाएँ हैं । पंजाबी का भी थोड़ा सा प्रभाव मीरा की भाषा पर स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि दक्षिणी पंजाब और राजस्थान की सीमाएँ भी परस्पर मिलती हैं । परन्तु मीरा ने भोजपुरी में पद रचे होंगे, इस पर विश्वास करना असम्भव है क्योंकि भोजपुरी इन सबसे भिन्न भाषा है ।

मीरा के पदों में इस भाषा-मिश्रण या विभिन्न भाषा-रूपों के मिलने का प्रधान कारण यह रहा है कि मीरा के पद गेय पद रहे हैं । और गेय पदों की भाषा, जिनका संकलन रचयिता के काफी समय पश्चात् होता है, लोक-मुख में जीवित रहने के कारण बदलती रहती है । कबीर के पदों की भी भाषा बदलती रही थी और मीरा के पदों की भाषा में भी स्थान-भेद के अनुसार यही परिवर्तन होता रहा होगा । हमारा अनुमान है कि मीरा के पदों की मूल भाषा राजस्थानी और गुजराती ही रही होगी ।

भावना की एकाग्रता

मूल रूप से मीरा की भक्ति-भावना माधुर्य-भाव की रही है । कृष्ण उनके प्रियतम पति हैं और वे स्वयं अपने प्रियतम की एकान्त आराधिका । इनकी दृष्टि में संसार में एकमात्र पुरुष इनके प्रियतम कृष्ण ही हैं, अन्य कोई भी नहीं । भावना की यह एकरूपता और एकाग्रता मीरा के पदों में सर्वत्र एक-सी मिलती है । इन पदों में अपूर्व भाव-विह्वलता और आत्म-समर्पण का भाव है । इनके काव्य में प्रियतम की विरह-वेदना और मिलन की तीव्र आकांक्षा मूल प्रतिपाद्य रही है । मीरा अपने प्रियतम के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पिता हैं । इसी कारण उनमें विरह की तीव्रता अधिक रही है । यह प्रेम-दीवानी अनन्य भाव से अहर्निशि अपने प्रियतम के ही गीत गाती रही है । जो भाव-प्रवण, कोमल हृदया नारी अपने आराध्य के लिए कुल, वंश, जगत आदि सबकी अवहेलना कर दर-दर भटकती फिरी थी उसकी उस अनन्य निष्ठा, अगाध प्रेम और असह्य विरहानुभूति की सहज ही कल्पना की जा सकती है । इनके पदों में एक ऐसा तीखा दर्द है जो मर्म पर आघात कर तिलमिला देता है । अभिव्यक्ति में सर्वत्र एक सहज स्वाभाविकता, मर्म को स्पर्श करने की अद्भुत क्षमता और ऐसी अकृत्रिम कला

मिलती है जो अपने ग्राम्य से प्रतीत होने वाले रूप में भी अद्‌भुत प्रभाव डालने की शक्ति रखती है।

मीरा अपने प्रभु की अनन्य उपासिका है। उसमें न कहीं मानाभिमान की भावना है और न अन्तर्मुखी रहस्यात्मकता। उसमें सर्वत्र एक सहजता है। इसी कारण मीरा की यह सहजानुभूति सहृदयों को सहज ही उद्वेलित कर देती है। मीरा के कुछ पदों में निर्गुण-भावना भी मिलती है। इनके कुछ पद किसी जोगी को सम्बोधित कर लिखे गए हैं; जैसे—'जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पाऊँ परूँ मैं तेरी चेरी हौं।' 'जोगिया जी निशिदिन जोऊँ बाट।' आदि। इन पदों के आधार पर कुछ प्रकांड पंडितों(?) ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मीरा किसी जोगी के प्रति आसक्त थीं। पांडित्य का दावा करने वाले भी कैसे-कैसे अनर्गल, विचित्र निष्कर्ष निकाल बैठते हैं, यह निष्कर्ष इसका प्रमाण है। यदि इस निष्कर्ष को सही मान लिया जाये तो मीरा का सम्पूर्ण काव्य, उसकी मूल सम्वेदना—सब कुछ धराशायी हो जाती है। यहाँ 'जोगी' या 'जोगिया' सम्बोधन प्रियतम कृष्ण के प्रति ही रहा है, न कि किसी जोगी के प्रति। मीरा ने अपने प्रियतम की उपासना निर्गुण और सगुण—दोनों ही रूपों में की है परन्तु प्रधानता सगुण रूप की ही रही है। जब हम मीरा के इन दोनों प्रकार की भावनाओं वाले पदों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुभूति की जो गहनता उनके सगुण-भावना वाले पदों में मिलती है वह निर्गुण भावना वाले पदों में नहीं है। मीरा के आराध्य सर्वत्र मोरमुकुट-पीताम्बरधारी, वंशी बजैया के रूप में आते हैं। उन्होंने निर्गुणिए भक्तों के समान प्रकृति में अपने प्रियतम के सौन्दर्य के दर्शन नहीं किए हैं। उनके काव्य में प्रकृति जहाँ आई भी है, वहाँ विरह को उद्दीप्त करने वाले दाहक रूप में ही, न कि अपने मोहक रूप में।

वस्तुतः मीरा की भक्ति-भावना प्रणय-भावनाश्रित ही रही है। उसमें भक्ति के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित श्रद्धा की भावना नहीं मिलती। इसी कारण मीरा की यह भावना प्रायः लौकिक प्रणय-भावना का सहज, अकृत्रिम रूप धारण कर लेती है, इसीलिए अधिक प्रभावित करती है। उसमें सर्वत्र सौन्दर्यानुभूति, अगाध प्रणय-वेदना और विरह की गम्भीरता का ही साम्राज्य छाया रहता है। यह सब कुछ रहते हुए भी मीरा का काव्य लौकिक वासना से सर्वथा असम्पृक्त रहता है। लगभग सभी कृष्णभक्तों में न्यूनाधिक रूप में लौकिक वासना कहीं न कहीं प्रकट हो ही उठी है परन्तु मीरा इस दोष से सर्वथा मुक्त है। वह सर्वत्र आध्यात्मिक भावना से मंडित रही है। डा० द्विवेदी के अनुसार—"भगवद् विरह की पीड़ा को कम कवियों ने इतना मादक और प्रभावोत्पादक बनाकर प्रकट किया होगा।" मीरा का एक पद उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—

'आड़ी री म्हारे नैना बाण पड़ी।
चित्त चढ़ी म्हारे माधुरी मूरति, हियड़ा अणी गड़ी।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी।

अटक्यां प्राण साँवरो प्यारो, जीवन मूर जड़ी।
मीरा गिरधर हाथ बिकाणी, लोक कह्या बिगड़ी ॥'

नरोत्तमदास

इनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है। केवल इतना ही संकेत मिलता है कि इन्होंने सम्वत् १५८२ में अपना छोटा-सा बहुप्रसिद्ध खंडकाव्य 'सुदामा चरित्र' लिखा था। इसी एक छोटी-सी रचना द्वारा ये हिन्दी-साहित्य में अमर हो गए हैं। छोटा-सा ग्रन्थ होते हुए भी इसकी साहित्यिक महत्ता इसके सहज-भाषा-सौन्दर्य और मार्मिक मनमोहक वर्णन के कारण बहुत अधिक मानी जाती है। इस ग्रन्थ की रचना कर नरोत्तमदास ने यह सिद्ध कर दिया था कि अलंकार आदि सौन्दर्य के बाह्य विधायक उपादानों के बिना भी सरल-सरस भाषा में अगाध सौन्दर्य-रस की सरिता प्रवाहित की जा सकती है।

रसखान

इनके जीवन के सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञात है कि ये जाति के मुसलमान सैयद पठान थे। अपने आरम्भिक जीवन में ये एक सुन्दर वैश्य के लड़के पर आसक्त थे किन्तु गोस्वामी विट्ठलनाथ के सम्पर्क में आने पर इनका यह लौकिक प्रेम कृष्ण के प्रति अलौकिक प्रेम में बदल गया। इसके उपरान्त ये आजीवन अपने आराध्य कृष्ण के गुण गाते हुए व्रज में रमे रहे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में इस घटना का उल्लेख मिलता है। इन्होंने विट्ठलनाथ जी से दीक्षा भले ही ली हो, परन्तु इनका काव्य पुष्टिमार्गी भक्ति-पद्धति से प्रभावित नहीं है। इनकी दो रचनाएँ प्राप्त हैं— 'सुजान रसखान' और 'प्रेम वाटिका'। 'सुजान रसखान' में १२३ कवित्त-सवैयों तथा दोहों में एकनिष्ठ प्रेम की मार्मिक व्यंजना मिलती है। 'प्रेम वाटिका' में दोहों में प्रेम का विविध प्रकार से निरूपण हुआ है। इन ग्रन्थों में कवि ने अपनी सहज प्रेम-भावना को व्यक्त किया है। इनकी सी अनुभूति की सरसता बहुत कम कवियों में मिलती है। इन्होंने कृष्णभक्ति-काव्य की सामान्य पद-शैली को न अपना कर कवित्त-सवैयों को ही अपनाया है, इसलिए इनके काव्य में संगीताश्रित गेयता का अभाव रहा है।

इन पर सूफी प्रेम-भावना का भी प्रभाव लक्षित होता है। इन्होंने संयोग और वियोग—दोनों प्रेम-दशाओं के मनोहारी चित्र अंकित किए हैं। इनके आराध्य किशोर कृष्ण ही रहे हैं। इन्होंने अपने आराध्य की विलोकन और मुसकान को ही अधिक अंकित किया है। दान-लीला का भी सुन्दर वर्णन किया है। बाल-लीला, रास-लीला आदि इन्हें अधिक आकर्षित नहीं कर पाई हैं। इनके काव्य की एक विशेषता यह रही है कि उसमें अपने आराध्य की लीलाभूमि ब्रज के प्रति कवि का अनन्य अनुराग अभिव्यक्त हुआ है। हिन्दी में बहुत कम कवि ऐसे मिलते हैं, जिनमें यह अनुराग इतने प्रगाढ़ रूप में प्रकट हुआ हो।

अभी तक इस सम्बन्ध में काफी विवाद रहा है कि रसखान की गणना भक्त-कवियों में की जाय अथवा घनानन्द जैसे रीतिमुक्त स्वच्छन्दतावादी कवियों के साथ। कुछ लोग इनकी भावना को भक्ति मूलक नहीं मानते। यह सत्य है कि इनकी अभिव्यक्ति-पद्धति घनानन्द आदि शृङ्गारकालीन स्वच्छन्दतावादी कवियों से अधिक मिलती है। परन्तु जहाँ तक भक्ति-भावना का सम्बन्ध है, वह यद्यपि किसी सम्प्रदाय विशेष से प्रभावित नहीं रही है, परन्तु अपनी गहनता, सहज-आत्म-समर्पण-भाव अखंड विश्वास और अनन्य निष्ठा के कारण भक्ति की चरम सीमा का स्पर्श करने वाली है। आलम्बन कृष्ण हैं ही। और भक्ति-भावना के लिए इन्हीं उपादानों की आवश्यकता होती है। अतः रसखान को भक्त कवि ही मानना चाहिए।

इनके काव्य में प्रेम की इतनी गहन और सरस व्यंजना हुई है कि शुक्ल जी के अनुसार—जनसाधारण इनके प्रेम या शृंगार सम्बन्धी कवित्त-सवैयों को ही रसखान कहने लगे—जैसे कोई रसखान सुनाओ। इनकी भाषा बहुत चलती, सरस और शब्दाडम्बर मुक्त होती थी। शुद्ध ब्रजभाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानन्द की रचनाओं में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भारतेन्दु ने सम्भवतः इन्हीं के काव्य से प्रभावित हो यह पंक्ति कही होगी—'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिक हिन्दुन वारिए।' इनके सरस काव्य के दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पिताम्बर लै लकुटी बन, गोधन ग्वालन संग फिरौंगी॥
भावतो सोई मेरो रसखान, सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की, अधरान-धरी अधरा न धरौंगी॥'

\+ \+ \+

'सेस महेस गनेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
आदि अनादि अनन्त अखंड, अछेद, अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥'

भक्तिकालीन दरबारी कवि

भक्तिकाल में अनेक ऐसे प्रतिभाशाली कवि हुए थे जो किसी-न-किसी दरबार से सम्बद्ध थे। इन कवियों के काव्य में शृंगार, नीति, भक्ति, आश्रयदाताओं की प्रशंसा आदि विभिन्न विषयों का समावेश हुआ है। इन दरबारी कवियों में डिंगल (राजस्थानी) और पिंगल (ब्रजभाषा) दोनों में रचना करने वाले कवि हुए हैं। डिंगल के कवियों में चारण, बारहट, भाट आदि दरबारों में रहने वाले उन कवियों की बहुलता मिलती है जो अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा के गीत गाया करते थे।

डिंगल के कवि

डिंगल के दरबारी कवियों में बारहट आसा, बारहट ईश्वरदास, बारहट शंकर, जैसलमेर के रंगरेलो बीठू, सिरोही के दादू आसिया, बारहट लक्खा दल्ला आसिया, अल्लूजी कविया आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनकी रचनाओं में पुरुष के शौर्य, नारी की त्याग-तपस्या, प्रेम-निष्ठा, आश्रयदाताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा, हास्य, व्यंग्य, नीति आदि अनूठे शब्द-चयन, ध्वन्यात्मकता, भावों की मौलिकता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं। इन कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा राजस्थानी भाषा को शक्ति, सौन्दर्य और समृद्धि से आपूरित किया है। यहाँ स्थानाभाव के कारण इनका विस्तृत विवेचन सम्भव नहीं है।

ब्रजभाषा के कवि

वैसे तो इस काल में हुए ब्रजभाषा के दरबारी कवियों की संख्या बहुत बड़ी है, परन्तु हम प्रतिनिधि कवियों के रूप में इनमें से केवल तीन कवियों का उल्लेख करना ही समुचित और पर्याप्त समझते हैं। प्रकारान्तर से अन्य समकालीन कवियों के काव्य-वैशिष्ट्य का प्रतिनिधित्व करने में ये पूर्णतया सक्षम प्रतीत होते हैं। ये तीन कवि हैं—अब्दुर्रहीम खानखाना, नरहरि बन्दीजन, और गंग कवि।

अब्दुर्रहीम खानखाना (सं० १६१३-१६८३ वि०)

काव्य-क्षेत्र में 'रहीम' नाम से विख्यात अब्दुर्रहीम खानखाना, अकबर के इतिहास-प्रसिद्ध संरक्षक बैराम खाँ के पुत्र और अकबर तथा जहाँगीर के दरबारी कवि थे। ये अरबी, फारसी, संस्कृत, हिन्दी आदि के प्रकांड पंडित, उद्‌भट योद्धा और प्रतिभाशाली कवि थे। इनकी रचनाओं में 'रहीम दोहावली, बरवै नायिका-भेद, नगर-शोभा, मदनाष्टक, शृंगार सोरठ, रास पंचाध्यायी, नीति कुण्डल, खेटकौतुकम्, रहीम-रत्नावली, रहिमन विनोद, रहीम-काव्य' आदि अनेक ग्रन्थों की गणना की जाती है। इन हिन्दी रचनाओं के अतिरिक्त फारसी भाषा में लिखा इनका एक दीवान और तुर्की के ग्रन्थ 'वाकयात बाबरी' का फारसी अनुवाद भी मिलता है। अमीर खुसरो के समान इन्हें भी भाषा-खिलवाड़ करने का शौक था। 'रहीम-काव्य' में हिन्दी-संस्कृत और 'खेट कौतुकम्' में संस्कृत-फारसी का एक साथ प्रयोग कर भाषा-खिलवाड़ किया गया है। इन्होंने संस्कृत में भी कुछ श्लोक रचे थे। 'रहीम दोहावली' में इनके नीति और उपदेश सम्बन्धी दोहे संकलित हैं। शेष रचनाओं में शृंगार के विभिन्न पक्षों का चित्रण किया गया है। 'नगर शोभा' और 'बरवै नायिका-भेद' नायिका-भेद-सम्बन्धी रचनाएँ हैं। 'मदनाष्टक' में नायिकाओं की उक्तियाँ मौज, आश्चर्य और कौतूहल उत्पन्न करने वाली हैं। 'बरवै नायिका-भेद' इतनी सरस रचना है कि उसने तुलसीदास को 'बरवै रामायण' की रचना करने के लिए प्रेरणा प्रदान की थी।

रहीम जीवन-रस से ओतप्रोत मनमौजी कवि थे। कहते हैं इनमें और तुलसीदास में परस्पर बड़ा प्रगाढ़ स्नेह-सम्बन्ध था। ये अपने समय के दानी कर्ण समझे

जाते थे। एक बार गंग कवि के एक छन्द पर मुग्ध हो इन्होंने उन्हें छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे। दरबारी जीवन ने इन्हें जीवन का गहन और विस्तृत अनुभव कराया था। इनकी संवेदनशील जागरूक कवि-दृष्टि मानव-जीवन के रहस्यों को पकड़ कर उन्हें उद्घाटित करने में सतत् प्रयत्नशील रही थी। इसी कारण इनकी उक्तियों में जीवन की विभिन्न परिस्थितियों और तज्जन्य अनुभूतियों का अत्यन्त मार्मिक और सफल चित्रण मिलता है। इनके काव्य में 'अनुभूति की तरलता, व्यंजना की कुशलता और भाषा की कोमलता'—काव्य के तीनों गुण प्रचुर परिमाण में मिलते हैं। डा० द्विवेदी के शब्दों में—"मानसिक औदार्य, सांस्कृतिक विशालता और धार्मिक सहिष्णुता के विषय में रहीम की तुलना गिने-चुने लोगों में की जा सकती है।.... निस्सन्देह इस कवि का हृदय मानवीय रस से परिपूर्ण और अनासक्त तथा अनाविल सौन्दर्य दृष्टि से समृद्ध था।" इनके नीति-विषयक दोहे बहुत लोकप्रिय हैं। यहाँ इनका एक शृंगार-विषयक पद द्रष्टव्य है—

'जाति हुती सखि गोहन में, मनमोहन को लखि ही ललचानो।
नागरि नारि नई ब्रज की, उनहूँ नंदलाल को रीझिबो जानो॥
जाति भई फिरि कै चितई, तब भाव रहीम यहै उर आनो।
ज्यों कमनैत दमानक में, फिरि तीर सों मारि लै जात निसानो॥'

वस्तुत: रहीम जैसे कवियों ने साहित्य-क्षेत्र में विषयों की विविधता, सहिष्णुता, मानवता आदि गुणों का प्रसार-प्रचार करने में ऐतिहासिक योग प्रदान किया है।

नरहरि बन्दीजन (सं० १५६२-१६६७ वि०)

इन्हें अकबर ने 'महापात्र' की उपाधि से विभूषित किया था। ये बाबर से लेकर जहाँगीर तक के दरबारी कवि रहे थे। इनके लिखे तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—'रुक्मिणी मंगल', 'छप्पय नीति', और 'कवित्त संग्रह'। इनके काव्य में अपने आश्रय-दाताओं की प्रशंसा के साथ-साथ स्वामिभक्ति और स्पष्ट-कथन का गुण भी मिलता है। इनके लिखे कई अन्य ग्रन्थ भी कहे जाते हैं, जैसे--'वादु लोहे सोने का', 'नैन-कान वादु', 'तेल-तंबोल वादु', 'मंगनि-दानि का वादु', 'लज्जा और भूख का वादु' आदि। इन छोटे-छोटे से ग्रन्थों के शीर्षक ही इनके विषयों को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। इनकी रचनाओं में कुछ ऐतिहासिक तथ्यों की भी पुष्टि मिल जाती है। इनका काव्य राज-दरबार में अपनी स्पष्टोक्ति, सरल शैली, स्वाभाविकता और प्रभावात्मकता के कारण सम्मान का अधिकारी बन गया था। भावानुभूति और सशक्त अभिव्यंजना-शैली—दोनों ही दृष्टि से इन्हें एक प्रौढ़ और गम्भीर कवि माना जा सकता है। कहते हैं इनके निम्नलिखित छप्पय को सुनकर अकबर ने अपने साम्राज्य में गो-वध पर प्रतिबन्ध लगा दिया था—

'अरिहु दन्त तिनु धरै, नहिं मारि सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, वचन उच्चरहिं दौन होइ॥

अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छ महि थंभन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहिं ।।
कह कवि नरहरि अकबर सुनौ, विनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन ।।'

गंग कवि (सन् १५३८-१६२० ई०)

'गंग' अकबर के दरबारी कवि थे। ये इतने प्रभावशाली कवि थे कि इन्होंने अपनी रचनाओं से प्रभावित कर रहीम, बीरबल, राजा मानसिंह आदि से अगणित पुरस्कार प्राप्त किए थे। इन्होंने शृङ्गार और वीर—दोनों रसों की कविताएँ की थीं। ये अपनी रचनाओं में हास्य का पुट देने में बड़े कुशल थे। इनकी कुछ अन्योक्तियाँ बड़ी मार्मिक बन पड़ी हैं। 'घोर अतिशयोक्तिपूर्ण वस्तु-व्यंग्य-पद्धति पर विरहताप का वर्णन भी इन्होंने किया है। उस समय की रुचि को रंजित करने वाले सब गुण इनमें वर्तमान थे।' गंग की अत्यधिक लोकप्रियता का यही रहस्य था। आचार्य शुक्ल के अनुसार इन्हें नर-काव्य की रचना करने वाला, अपने समय का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता था। सम्भवतः शृङ्गारकालीन दास कवि ने इसी कारण इनकी प्रशंसा करते हुए यह पंक्ति कही थी—

'तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।'

इनके लिखे ग्रन्थों में 'गंग पदावली', 'गंग पच्चीसी' और 'गंग रत्नावली' का उल्लेख किया जाता है, जिनमें से प्रथम दो अप्राप्य हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने एक ग्रन्थ गद्य में भी लिखा था—'चन्द छन्द बरनन की महिमा'। इनके काव्य में शृंगार, वीर, भक्ति, नीति, आश्रयदाताओं' की प्रशंसा आदि विभिन्न विषय मिलते हैं। इन्होंने बीरबल, रहीम, राजा मानसिंह, टोडरमल, तानसेन आदि अपने समय के प्रसिद्ध व्यक्तियों की प्रशंसा करते हुए भी अनेक कविताएँ लिखीं थीं।

गंग का सबसे बड़ा गुण खरी भाषा में, खरी बात कह देने का था। ये जिस बात को उचित समझते थे, उसे कहने में कभी हिचकिचाते नहीं थे। अपने इसी स्पष्ट कथन के स्वभाव के कारण इन्हें अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था। कहते हैं एक बार नूरजहाँ के एक निकट सम्बन्धी ने इनके गाँव के ब्राह्मणों का कत्लेआम करवा दिया था। इस घटना से मर्माहत हो इन्होंने उस सरदार की निन्दा करते हुए एक कविता लिखी थी जिससे रुष्ट हो जहाँगीर ने इन्हें हाथी से कुचलवा कर मरवा डाला था। जहाँगीर द्वारा प्राणदण्ड की आज्ञा सुनाए जाने पर इन्होंने अपना अन्तिम मुक्तक लिखा था—

'कबहुँ न भड़ुआ रन चढ़ै, कबहुँ न बाजी बंब।
सकल सभाहि प्रनाम कर, बिदा होत कवि गंग ।।'

जो कवि प्राणदंड सुनाए जाने पर भी इतने निर्भीक स्वर में अन्याय का प्रतिरोध करने का जीवट रखता था, उसके साहस और शौर्य की कल्पना सहज ही की जा सकती है।

राष्ट्र-स्वाभिमानी कवि

जिस प्रकार आगे चलकर शृंगार-काल में भूषण ने हिन्दू-राष्ट्र के गौरव का गान किया था, उसी प्रकार इस युग में भी कई राजस्थानी कवि ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने समकालीन हिन्दू-राष्ट्र के प्रतीक महाराणा प्रताप आदि हिन्दू वीरों की प्रशस्तियाँ गाई थीं। इनमें दो कवि अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न और उच्चकोटि के कवि हुए हैं—महाराज पृथ्वीराज, और कवि दुरसा।

महाराज पृथ्वीराज

पृथ्वीराज बीकानेर के राठौड़-वंशी नरेश और कवि थे। (आचार्य शुक्ल ने जोधपुर का नरेश माना है।) ये राजस्थानी भाषा के कवि थे। हिन्दी-साहित्य में इनकी प्रसिद्धि—इनकी अमर कृति 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' के कारण ही अधिक रही है। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के परिणय-कथा का वर्णन करने वाली यह रचना प्रौढ़ और मार्मिक मानी जाती है। इन्होंने भक्ति-सम्बन्धी काव्य की रचना भी की थी। ये अकबर और महाराणा प्रताप के समकालीन थे और अकबर के दरबार में भी कभी-कभी रहते थे। इन्होंने महाराणा प्रताप की वीरता, स्वातन्त्र्य-संघर्ष और कष्ट-सहिष्णुता के लिए उनकी प्रशंसा करते हुए अनेक दोहे, सोरठे और गीत लिखे थे। यह प्रसिद्ध दोहा इन्हीं का लिखा हुआ बताया जाता है—

"माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओझ कै, जाण सिराणे साँप॥'

कहते हैं एक बार क्षणिक निर्बलता के वशीभूत हो महाराणा प्रताप अकबर से सन्धि करने को प्रस्तुत हो गए थे। जब पृथ्वीराज ने इस समाचार को सुना तो उन्होंने मर्माहत हो राणा के पास ये दो पंक्तियाँ लिख भेजीं—

'पटकूं मूंछा पाण कै, पटकूँ निज तन करद।
दीजे लिख दीवाण, इन दो महली बात इक॥'

अर्थात्—मैं (गर्व से) अपनी मूछों को ताव दूँ या (लज्जावश) अपने शरीर में तलवार भोंक लूँ? हे दीवान! इन दोनों में से एक बात लिख भेजना।

राणा प्रताप इस पत्र को पढ़कर तिलमिला उठे और उन्होंने अकबर से सन्धि करने का विचार त्याग दिया। पृथ्वीराज के काव्य में सर्वत्र इसी राष्ट्रीय चेतना, जाति-स्वाभिमान, निर्भय हो न्याय का समर्थन करना आदि उच्च भावनाओं का प्रकाशन हुआ है। सम्भव है परवर्ती भूषण आदि वीरकाव्य प्रणेताओं ने इनके काव्य से प्रेरणा ग्रहण की हो।

कवि दुरसा

दुरसा अपने समय के अत्यन्त प्रसिद्ध कवि थे। राजस्थानी-साहित्य के मर्मज्ञ मोतीलाल मेनारिया के अनुसार इन्हें अपने काव्य से भूषण से भी अधिक मान,

यश और धन प्राप्त हुआ था। ये अकबर के विशेष कृपापात्र थे परन्तु प्रशंसक थे राणा प्रताप के। ये राणा को हिन्दुत्व का रक्षक मानते थे। इन्होंने जहाँ एक ओर राणा प्रताप की वीरता और शौर्य के गुण गाए हैं वहीं अकबर को सहिष्णु और उदार चित्रित किया है। इनकी अन्य रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनमें राजस्थान के अनेक वीरों का प्रशस्ति-गायन किया गया है। साथ ही इनकी कुछ भक्तिरस पूर्ण कविताएँ भी मिलती हैं। परन्तु इनका मूल स्वर 'वीरत्व और स्वदेशाभिमान' का ही प्रशंसक रहा है। इन्होंने कुछ दोहों में अकबर और राणा प्रताप—दोनों को सम्बोधित करते हुए राणा की महत्ता की स्थापना की है। ऐसे दो दोहे द्रष्टव्य हैं—

'अकबर गरव न आँण, हींदू सह चाकर हुवा।
दीठो कोइ दीवाण, करतो लटका कटहड़े ॥'

× × ×

'अकबर पाथर अनेक, कै भूपत भेला किया।
हाथ न लोगो हेक, पारस राणे प्रताप सी ॥'

इसके अतिरिक्त इन्होंने अकबर की कुटिल, अन्यायपूर्ण नीति की भर्त्सना करते हुए राणा प्रताप की वंश-मर्यादा पालन की प्रशंसा की है। जैसे—

'अकबर कुटिल अनीत और बीटल सिर आदरै।
रघुकुल उत्तम रीत, पालै राण प्रताप सी ॥'

इस काल के अन्य उल्लेखनीय कवि

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त इस काल में अन्य अनेक कवि ऐसे हुए हैं, जिन्होंने विविध विषयों से सम्बन्धित काव्य-रचना की थी। रायबरेली के **लालचदास** नामक एक कवि ने 'हरि चरित्र' और 'भागवत दशम स्कन्ध भाषा' नामक दो ग्रन्थ दोहा-चौपाई शैली में अवधी-मिश्रित ब्रजभाषा में लिखे थे। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से ये साधारण रचनाएँ है। काव्यशास्त्र सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हित-तरंगिणी' के रचयिता **कृपाराम** इसी युग में हुए थे। इस ग्रन्थ में इन्होंने दोहा छन्द में रस-रीति का सुन्दर चित्रण किया है। यह ग्रन्थ हिन्दी का उपलब्ध प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ माना जाता है। इसके कई दोहे बिहारी के दोहों से मिलते-जुलते हैं। इनके दोहे बहुत ही सरस और भावपूर्ण हैं। भाषा परिमार्जित ब्रजभाषा है। अकबर के राजस्व-मंत्री **राजा टोडरमल** भी हिन्दी के अच्छे कवि थे। इनका रचा कोई ग्रन्थ तो नहीं मिला है, परन्तु नीति-सम्बन्धी फुटकल कवित्त इधर-उधर संग्रहीत मिले हैं। **राजा बीरबल भी,** जो अकबर-बीरबल सम्बन्धी चुटकुलों के नायक रहे हैं, हिन्दी के अच्छे कवि थे और हिन्दी के कवियों का बहुत सम्मान करते थे। इनके रचे कई सौ कवित्तों का एक संग्रह मिला है जिसके आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि इनकी रचना काव्यांगों से पूर्ण और सरस होती थी। इनका निधन होने पर अकबर इतना दुखी हुआ था कि उसने भावावेग में यह सोरठा कहा था—

'दीन देखि सब दीन, एक न दीन्हों दुसह दुख।
सो अब हम कहँ दीन, कछु नहिं राख्यो बीरबल॥'

बलभद्र मिश्र प्रसिद्ध केशवदास के बड़े भाई थे। इन्होंने 'नखशिख' शृंगार का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा था, जिसमें विभिन्न अलंकारों के माध्यम से नायिका के अंगों का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त इनके लिखे चार ग्रन्थ और बताए जाते हैं—बलभद्री व्याकरण, हनुमन्नाटक, गोवर्द्धन सतसई टीका, और दूषण विचार। इनकी रचना बहुत प्रौढ़ और परिमार्जित है। इस काल में **जमाल**, **कादिर** और **मुबारक** नामक तीन ऐसे कवि हुए थे जिन्होंने नीति और शृंगार-विषयक कविताएँ लिखी थीं। इनके रचे स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं मिल सके हैं, यत्र-तत्र बिखरे कुछ फुटकल पद ही मिले हैं। इनमें से **मुबारक** संस्कृत, अरबी, फारसी के विद्वान् और हिन्दी के अच्छे कवि हुए हैं। इनके 'अलक शतक' और 'तिलशतक' नामक दो ग्रन्थ मिले हैं जिनमें शृंगार-रस का चित्रण हुआ है। कहा जाता है कि इन्होंने नायिका के दस अंगों को लेकर एक-एक अंग पर सौ-सौ दोहे रचे थे। इनके काव्य में अलंकारों का सौन्दर्य दर्शनीय है।

हिन्दी में आत्म-कथा लिखने की प्रवृत्ति नहीं मिलती। परन्तु इस युग में इसका एक अपवाद जौनपुर के **बनारसीदास** नामक कवि के 'अर्द्धकथानक' नामक आत्म-चरितात्मक ग्रन्थ के रूप में मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि ये पहले शृंगार रस की कविताएँ लिखा करते थे परन्तु बाद में ज्ञानोदय होने पर इन्होंने अपनी ऐसी सारी कविताएँ नष्ट कर डालीं और ज्ञानोपदेशपूर्ण कविताएँ लिखने लगे। इन्होंने ब्रज-भाषा गद्य में भी कुछ साहित्य रचा था। **सुन्दर** कवि शाहजहाँ के दरबारी कवि थे और सम्राट् ने इन्हें महाकविराज की उपाधि प्रदान की थी। इनका लिखा 'सुन्दर शृंगार' नामक ग्रन्थ नायिका-भेद-सम्बन्धी है। इसके अतिरिक्त इनकी लिखी दो पुस्तकें और मिली हैं—'सिंहासन बत्तीसी' और 'बारहमासा'। इनकी रचना अनुप्रास-प्रधान और शब्द-चमत्कारपूर्ण है। **लालचन्द या लक्षोदय** नामक एक मेवाड़ी कवि ने सम्वत् १७०० में 'पद्मिनी-चरित्र' नामक एक आख्यानक काव्य लिखा था जिसमें चित्तौड़-नरेश राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मिनी की वही कथा वर्णित है जो जायसी के 'पदमावत' में कही गई है। परन्तु इसकी कथा और 'पदमावत' की कथा में बहुत अन्तर रहा है। इसमें राजा अपनी रानी प्रभावती के एक व्यंग्य से मर्माहत हो पद्मिनी का वरण करने चल देता है और औघड़नाथ नामक एक सिद्ध की सहायता से सिंहलद्वीप पहुँच अपने पराक्रम द्वारा पद्मिनी को प्राप्त करता है। यह ग्रन्थ गेय-गीत के रूप में रचा गया है। भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है।

आख्यानक काव्य

इस काल में अनेक अन्य आख्यानक काव्य भी रचे गये थे, जिनमें से कुछ प्रेमोपाख्यान-पद्धति के थे और कुछ ऐतिहासिक और पौराणिक पद्धति के। हम इनमें

से आलम कृत 'माधवानल कामकन्दला' और पुहकर कृत 'रसरतन' नामक प्रेमोपाख्यानों का उल्लेख प्रेमगाथा-काव्य के अन्तर्गत कर आए हैं। पौराणिक आख्यानक काव्यों के अन्तर्गत तुलसी के 'मानस', लालचदास के 'हरि-चरित्र', नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित', केशव की 'रामचन्द्रिका', पृथ्वीराज राठौड़ की 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' की गणना की जा सकती है। ऐतिहासिक आख्यान केवल एक ही मिलता है—केशवदास का 'वीरसिंह देव चरित'। इसके अतिरिक्त इस काल में कुछ कल्पित प्रेमाख्यान भी लिखे गए थे; जैसे—'ढोला मारू रा दोहा' (कवि का नाम अज्ञात है), दामो कवि का 'लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा', ईश्वरदास कृत 'सत्यवती कथा', लालचन्द्र कृत 'पद्मिनी-चरित्र', काशीराम कृत 'कनकमंजरी'।

उपर्युक्त आख्यानक काव्यों के रहते हुए भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह काल मुक्तक-प्रधान काल रहा है।

उत्तर-कालीन भक्तियुग : एक यथार्थपरक मूल्यांकन

मूल प्रतिपाद्य : भक्ति

सम्पूर्ण भक्तिकाल का—कबीर से लेकर सत्रहवीं सदी के अन्त तक—मूल प्रतिपाद्य भक्ति-भावना ही रही है। इस काल में रचित साहित्य का बहुलांश भक्ति-भावना का ही प्रतिपादक है। और इस भक्ति-भावना में भी माधुर्य-भाव की भक्ति का स्वर और रूप सर्वाधिक प्रबल रहा है। कबीर जैसे निर्गुणोपासक को भी अपनी गहन भक्ति-भावना के प्रकाशन के लिए अन्ततः मधुर-भावना का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ा था। वह राम की 'बहुरिया' बन उनके साथ सेज-सुख का आनन्द लेने लगे थे। यदि जायसी आदि सूफियों को भक्त मानने में संकोच न हो तो उनकी ब्रह्माराधना प्रेमोपासना ही रही है। और प्रेम—दाम्पत्य-प्रेम, नर-नारी का प्रेम मधुर-भक्ति का मूलाधार है। इस क्षेत्र में, आगे चलकर, केवल तुलसी ही एक ऐसे अपवाद मिलते हैं जो मधुर-भक्ति भावना को न अपना कर आदर्शपरक मर्यादावादी बने रहे थे परन्तु 'गीतावली' के उत्तरकांड में वह भी इस मधुरा-भक्ति के प्रति आकर्षित होते दिखाई पड़ते हैं। और सम्पूर्ण कृष्ण भक्ति-काव्य तो एकमात्र मधुरा-भक्ति से ही ओतप्रोत रहा है। भक्ति-साहित्य में परिमाण की दृष्टि से कृष्ण भक्ति-काव्य ही सर्वाधिक विस्तृत और विशाल रहा है। इसका एकमात्र स्वर उत्कट प्रेम-भावना के रूप में मुखरित हुआ है। तुलसी-साहित्य में प्रेम-भावना की जो अवहेलना हुई थी, उसकी भयंकर प्रतिक्रिया तुलसी-परवर्ती राम-भक्त रसिक-सम्प्रदाय के रूप में दिखाई पड़ी जिसमें राम को कृष्ण से ही अधिक रसिक, रस-केलि निपुण सिद्ध करने का प्रयास महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार तुलसी के बाद राम-भक्ति भी मधुरा भक्ति का रूप धारण कर लेती है। अतः यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि भक्ति-कालीन साहित्य

का मूल स्वर मधुरा-भक्ति का ही रहा है। और मधुरा-भक्ति और शृंगार-भावना का चोली-दमन का सम्बन्ध है। शृंगार-भावना के बिना मधुरा-भक्ति एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती। जिन लोगों ने भक्ति के क्षेत्र में मधुर-भावना की उपेक्षा की है, उन लोगों की वाणी अकाल ही काल-कवलित हो गई है। गोरख आदि नाथ-पंथियों ने सिद्धों की नारी-उपासना का विरोध किया था और आज गोरख आदि नाथ-पंथियों का साहित्य मात्र अनुसन्धान का ही विषय बनकर रह गया है।

भक्ति और प्रेम : आधार का अन्तर

भक्ति के क्षेत्र में मधुर-भावना अर्थात् शृंगार-भावना का कितना अधिक महत्त्व रहा है, उसका प्रमाण हमारे जगन्नाथ जी के मन्दिर तथा ऐसे ही अन्य मन्दिरों के ऊपर उत्कीर्ण उन युग-नद्ध काम-रत युगल मूर्त्तियों के रूप में मिल जाता है जिन्हें देख सांसारिक जन आनन्द लाभ करते हैं और रूढ़िवादी नाक-भौं सिकोड़ते हैं। मधुर-भावना की अवहेलना करने के कारण ही बौद्ध मत, भयंकर प्रतिक्रियास्वरूप, कालान्तर में अनेक प्रकार के तांत्रिक मत-मतान्तरों में विकसित हुआ था जिनमें नारी-साधना उपासना का प्रमुख अंग मान ली गई थी। अतः यह स्वयंसिद्ध है कि मधुर अर्थात् शृंगार भावना मानव की सर्वाधिक प्रबल नैसर्गिक भावना है, जिसके अभाव में कोई भी ऐसा काम करना सम्भव नहीं जिसका मन से सम्बन्ध हो। मन सदैव 'मनोरम' का ही उपासक रहता है। चाहे वह भगवान की भक्ति में तल्लीन रहता हो या किसी लौकिक नारी के चिन्तन में निरत, उसकी भावना मनोरम की ही उपसना करती रहती है। जब यह भावना भगवान के प्रति रहती है तो उसे भक्ति मान लिया जाता है, आदर, सम्मान, श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है, उसकी प्रशंसा की जाती है। परन्तु जब यही भावना किसी नारी के प्रति रहती है तो उसे प्रेम कहा जाता है, उसमें वासना खोजी जाती है और अन्त में उसे बुरा घोषित कर त्याज्य सिद्ध कर दिया जाता है। परन्तु यदि भक्ति-भावना में से भगवान का नाम हटा दिया जाय तो इस अलौकिक, आध्यात्मिक प्रेम-भावना और लौकिक प्रेम-भावना में कोई अन्तर नहीं रह जाता। कृष्ण-भक्तों का साहित्य इसका प्रमाण है। यदि राधा-कृष्ण या कृष्ण-गोपी के संयोग-वर्णनों में से कृष्ण, राधा और गोपी के नाम हटा दिए जायँ, और साथ ही यह आग्रह भी न रहे कि इनके रचयिता सूर आदि भक्तराज थे, तो इन वर्णनों और परवर्ती शृंगारकालीन ऐसे ही वर्णनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। फिर ऐसे ही वर्णनों के लिए शृंगारकालीन शृंगारी कवियों को क्यों गालियाँ दी गईं और कृष्ण भक्तों को क्यों श्रद्धा और प्रशंसा मिली ? हिन्दी-साहिय के इतिहासकारों तथा अधिकांश आलोचकों द्वारा किए गए इस अन्याय का प्रतिकार होना चाहिए। एक ही अपराध के लिए एक को पुरस्कृत किया जाय और दूसरे को कठोर दंड दिया जाय—इसे न्याय नहीं माना जायेगा।

परन्तु तर्कशास्त्री यह तर्क देंगे कि अपराध के मूल में निहित भावना अथवा

उद्देश्य के अनुसार ही न्याय का निर्धारण किया जाता है, और किया जाना चाहिए। तर्क वज़नदार है। परन्तु जब हम इस दृष्टि से भी इन दोनों कालों के कवियों की, जिन्होंने श्रृंगारिक वर्णन किए हैं, तुलना करते हैं तो भी उनमें रंचमात्र भी अन्तर नहीं मिल पाता। डा० रमेशकुमार शर्मा,[1] डा० राजकुमारी मित्तल[2] ने समानान्तर उदाहरण देकर इस अन्याय का विरोध किया है। भक्ति-काल में हमें वे सम्पूर्ण प्रधान प्रवृत्तियाँ अत्यन्त प्रौढ़, परिष्कृत और रूढ़िबद्ध रूप में मिल जाती हैं जो परवर्ती श्रृंगार-कालीन साहित्य का मूल विवेच्य रही हैं। अन्तर केवल इतना ही रहा है कि भक्त-कवियों ने उन सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का विवेचन अपने अलौकिक आराध्यों के माध्यम से किया है और श्रृंगारिक कवियों ने उनका अंकन लौकिक नायक-नायिका के माध्यम से, यद्यपि उनका नाम प्रायः राधा-कृष्ण ही रहा है। परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विचारणीय अन्तर यह रहा है कि इन परवर्ती श्रृंगारिक कवियों में उस भक्ति-भावना का गहन उन्मेष नहीं मिलता जो भक्त-कवियों का मूल प्रतिपाद्य रहा है। बस, इस अन्तर के अतिरिक्त इन दोनों कालों के कवियों में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं मिलता।

भक्तिकाल की प्रधान विशेषताएँ

जब हम भक्तिकालीन काव्य का उसके परवर्ती श्रृंगार-कालीन काव्य के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करने बैठते हैं, तो विशेष रूप से कृष्णभक्ति-काव्य, में जो इन दोनों कालों को जोड़ने वाली कड़ी रही है, हमें उन समस्त विशेषताओं के रूप मिल जाते हैं जो श्रृंगार-काव्य की विशेषताएँ मानी गई हैं। ये विशेषताएँ हैं—श्रृंगार का अतिशय उन्मुक्त चित्रण, रूढ़िबद्ध श्रृंगार प्रणाली, रीति का स्वरूप, लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा, रीतिबद्ध अभिव्यंजना शैली, अलंकार आदि। कृष्णभक्ति-काव्य में हमें ये सारी विशेषताएँ और परम्पराएँ अत्यन्त सुललित, सशक्त, पुष्ट रूप में मिलती हैं। साथ ही यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि इन सारी विशेषताओं और परम्पराओं का आविष्कारक या जनक भक्ति-काव्य ही नहीं रहा था। हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक-युगीन साहित्य में भी हमें अतिशय श्रृंगारिकता और काव्य-अलंकरण की ये प्रवृत्तियाँ काफी पुष्ट रूप में उपलब्ध होती हैं और वही कालान्तर में भक्ति-काव्य और श्रृंगार-काव्य में क्रमशः विकसित होती रही हैं।

इन विशेषताओं का पूर्व रूप

यहाँ हम सबसे पहले सर्वप्रधान विशेषता 'श्रृङ्गार की अतिशयता' को ही लेंगे। आधुनिक हिन्दी कविता पर रीतिकालीन प्रभाव का विवेचन करते हुए डा० रमेशकुमार शर्मा ने लिखा है—"रीतिकाल में जो श्रृङ्गार-वर्णन है, वह उसी

---

१. **रीतिकाल और आधुनिक हिन्दी कविता**—डा० रमेश कुमार शर्मा।
२. **कृष्णभक्ति-साहित्य में रीतिकाव्य-परम्परा**—डा० राजकुमारी मित्तल।

काल में उत्पन्न और विकसित नहीं हुआ था, अपितु वह तो शताब्दियों से क्रमशः विकसित होने वाली शृङ्गार-परम्परा का विकास-मात्र था और उसके वर्णन की पद्धति (रीति) भी प्राचीन काल से चली आ रही थी तथा रीतिकालीन कवियों ने केवल भक्तिकालीन कृत्रिम (अलौकिक) शृङ्गार-भावना को मानवीय बनाया।" इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि शृङ्गार-कालीन अतिशय शृङ्गार-भावना के लिए केवल कृष्णभक्ति-काव्य ही अकेला उत्तरदायी नहीं था, बल्कि यह परम्परा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और आरम्भिक युगीन हिन्दी-काव्य में क्रमशः विकसित होती हुई कृष्ण-काव्य में पूर्ण उन्मेष के साथ प्रकट हुई थी और वही किंचित् भिन्न रूप में शृंगार काल में प्रमुख स्थान पा गई थी। हिन्दी के पूर्ववर्ती संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-काव्य में यह भावना पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। प्राकृत की 'गाहा सत्तसई' (गाथा सप्तशती), संस्कृत के आर्या सप्तशती, अमरुक शतक, शृङ्गार शतक तथा अपभ्रंश के चरित-काव्यों और प्रेमकाव्यों में शृङ्गार का उन्मुक्त चित्रण हुआ है।

हिन्दी के आरम्भिक कालीन रासो-ग्रन्थों में शृङ्गार और वीर के मिश्रण ने शृङ्गार को एक नया मनोरम रूप प्रदान किया, जिसका विकास समकालीन एवं परवर्ती राजस्थानी साहित्य में मिलता है। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि रासो-काव्यों की वीर-भावना का प्रेरक शृङ्गार ही रहा है। 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित प्रत्येक युद्ध का मूल कारण—कोई-न-कोई रमणी ही रही है। और इन रमणियों के वर्णन में शृङ्गार सम्बन्धी उन सम्पूर्ण उपादानों का अस्तित्व मिल जाता है जो परवर्ती विद्यापति, सूर, बिहारी, देव आदि कवियों के काव्य में अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ प्रकट हुए हैं। वस्तुतः काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से रासो-काव्यों के वही स्थल विशेष आकर्षक और रमणीय दिखाई पड़ते हैं जिनमें नर-नारी के शृङ्गारिक सम्बन्धों को अङ्कित किया गया है। पृथ्वीराज चौहान ऐसा नायक है जो 'कामान्ध वृषभ के समान अहर्निशि रति-क्रीड़ा में मस्त' बना रहता है।

जयदेव के 'गीत-गोविन्द' (संस्कृत) और विद्यापति की 'पदावली' के कृष्ण और राधा इसी काम-भावना के चिन्तन और क्रियान्वयन में डूबे दिखाई पड़ते हैं। प्रेमाख्यानकों के नायक-नायिका तो प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी भावना से परिचित तक नहीं प्रतीत होते। वहाँ परकीया, स्वकीया आदि नायिकाओं के विभिन्न भेदोपभेदों का वर्णन हुआ है। इन कवियों की शृङ्गार-भावना तो इतनी प्रबल रही है कि इन्होंने काम-क्षेत्र की गोपन-क्रिया (रति-क्रीड़ा) का खुला वर्णन किया है। उदाहरण के लिए जायसी के 'पदमावत' का वह अंश द्रष्टव्य है जहाँ विवाहोपरान्त रत्नसेन और पद्मावती का प्रथम-समागम होता है। सन्त-काव्य और तुलसी विरचित राम-काव्य में हमें शृङ्गार-भावना संयमित और दमित रूप में मिलती है। सन्तों के समक्ष सामाजिक अन्याय का प्रतिरोध—प्रधान लक्ष्य था और तुलसी सामाजिक-मर्यादा के पोषक थे। इसी कारण इनका ध्यान मानव की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रधान

भावना—शृङ्गार-भावना—के चित्रण की ओर अधिक नहीं रह पाया। परन्तु इस मर्यादा के बन्धन की जो घोर प्रतिक्रिया हमें तुलसी के परवर्ती राम-काव्य में—उद्दाम, उश्रृङ्खल, अस्वाभाविक शृङ्गार के रूप में दिखाई पड़ी, हम उसका विवेचन रसिक-सम्प्रदाय के सन्दर्भ में कर आए हैं।

कृष्णभक्ति-काव्य में शृंगार-वर्णन

कृष्ण-भक्ति माधुर्य-भाव की भक्ति थी। इसमें प्रेम-भावना का प्राधान्य था। और प्रेम शृंगार के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। इसी कारण कृष्ण-भक्ति का मूलाधार शृंगार-भावना बनी। प्रेम सामाजिक मर्यादाओं और बन्धनों का भंजक होता है। सूफी प्रेम-भावना और कृष्ण-भक्तों की प्रेमाश्रित भक्ति-भावना इसका प्रमाण है। कृष्णभक्ति-काव्य में हमें इसी कारण सामाजिक मर्यादाओं के भंजक प्रेम के स्वच्छन्द रूप के दर्शन होते हैं। उनके आराध्य प्रेममूर्त्ति कृष्ण लोक-लीला-विलास पटु ऐसे नायक हैं जो निरन्तर विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के साथ क्रीड़ा-रत बने रहते हैं। जब उनके आराध्य ही ऐसे काम-रस-प्रवीण हैं तो उनका चित्रण करने में उनके भक्तों को किस प्रकार संकोच हो सकता था। फलतः कृष्णभक्ति-काव्य शृङ्गार रस का—उसके सम्पूर्ण अंगों का—एक कला-निपुण, कुशल चितेरा बन गया। जिन लोगों का अध्ययन सूर, नन्ददास आदि के चुने हुए पदों तक ही सीमित रहा है, वे इसकी कल्पना नहीं कर सकते कि इन लोगों ने शृङ्गार के कैसे उद्दाम रूपों का चित्रण किया है। इन्होंने राधा-कृष्ण और कृष्ण-गोपियों के सम्भोग-शृङ्गार के विभिन्न प्रकार से जैसे लौकिक वर्णन किए हैं, उनके सामने शृंगार-कालीन घोरातिघोर अश्लील समझे जाने वाले शृंगार-वर्णन भी फीके पड़ जाते हैं।

कृष्णभक्ति के आरम्भ में हमें स्वकीया-प्रेम के ही वर्णन मिलते हैं। परन्तु मनोविज्ञान शास्त्रियों का कहना है कि स्वकीया-प्रेम इतना गहन, प्रबल और उद्दाम नहीं होता जितना कि परकीया-प्रेम। प्रेम-गहनता की चरम-सीमा परकीया प्रेम में ही दिखाई पड़ती है। इसी कारण सूर के जीवन-काल में ही कृष्णभक्ति में परकीया-प्रेम की स्थापना हो चुकी थी। सूर ने स्वयं परकीया नायिका और उसके प्रेम का वर्णन किया है। नन्ददास ने तो 'उपपति रस' की स्थापना कर परकीया-प्रेम को साम्प्रदायिक मान्यता प्रदान की थी। आगे चलकर जब राधा-वल्लभ सम्प्रदाय की स्थापना के साथ कृष्ण-भक्ति में राधा का प्राधान्य बढ़ा तो उसमें शृंगार का और भी अधिक उद्दाम रूप प्रकट हुआ। कृष्णभक्त कवियों ने शृंगार के कैसे उन्मुक्त, स्वच्छन्द और स्वाभाविक रूप का चित्रण किया था, इसके लिए हम भक्तराज सूरदास के सम्भोग शृंगार-सम्बन्धी पदों को उद्धृत करना अलम् समझते हैं।

'स्याम करि भामिनी मुख संवार्यौ।
वसन तन दूरि करि, सबल भुज अंक भरि, काम रिस बस
बाम निंदिर धारियौ॥

अधर दसनिन भरे, कठिन कुच उर लरे, परे सुखसेज मुरछि दोऊ।
मनौं कुम्हिलाइ रहे मैंन सों मल्ल दोउ, कोक परबीन घटि नाँहि कोऊ।।
अंग विहाल भए, नैन नैननि नए, लजति रति अंत तिय कंत भारी।
सूरदास धनि धन्य, सुखमा नारि बस स्याम, जामजुग, भई पति तैं, न न्यारी।'

× × ×

सघन कुंज अलि पुंज तहाँ हरि किसलय सेज बनाई।
आतुर जानि मदन मोहन तन काम केलि चलि आई।
हँसि गोपाल अंक भरि लीन्हीं मानहुँ रंक निधि पाई।
अति रस रीति प्रीति पिय प्यारी छुटत नाहिं छुटाई।
आलिंगन, चुंबन, परिरंभन, दियौ सुरति रस पूरौ।
बुझत जानि मनमथ चिनगी, फिरि मानौ देत मरबूरौ।
आलस मगन बदन कुम्हिलानौ, बाला निर्बल कीन्हीं।
थकित जान मनमोहन, भुज भरि तिया अंक गहि लीन्हीं।
इत नागरि नबल नागर उत, भिरे सुरति रन दोऊ।
नैन कटाच्छ बानि असि बर नख, बरषि सिराने बोऊ।
टूटे हार, कंचुकी दरकी, घायल मुरे न कोऊ।
छूटे बन्द, छुटी अलकावलि, मरगजे तन के बागे।
अंजन अधर भाल जावक रंग, पीक कपोलनि लागे।
बिनु गुन माल, पीठि गढ़े कंकन, उपटि परे उरि लागे।
रसिक राधिका के सुख कौ सुख बिलसे स्याम सभागे।
विविध विलास कला रस के विधि उभय अंग भरलीने।
अति हित मानि, मान तजि मानिनि मनमोहन मुख दीने।'

यदि उपर्युक्त पदों में से श्याम, मदनमोहन, सूर आदि के नाम हटा दिए जाँये तो इनमें वर्णित सम्भोग-शृंगार के स्वस्थ-स्वाभाविक रूप को देख हमारे आदर्शवादी आलोचक और पाठक नाक-भौं सिकोड़ने लगेंगे। भक्ति का आवरण रहते हुए भी ऐसे वर्णन ऐन्द्रिक विषय-भावनाओं से ही ओतप्रोत दिखाई पड़ते हैं। क्या भक्ति का पुट होने के कारण ही ऐसे वर्णनों को ग्राह्य और भक्ति-भावना रहित ऐसे ही स्पष्ट खुले शृंगारकालीन वर्णनों को अग्राह्य मान लेना चाहिए? डा० राजकुमारी मित्तल के शब्दों में—"शृंगार का ऐसा नग्न रूप भक्तों को भक्ति की उच्च भावभूमि पर पहुँचा कर भले ही भाव-विभोर बना दे, पर साधारण व्यक्तियों के लिए तो काम-वासना को उत्तेजित करने के लिए आलम्बन रूप ही सिद्ध होगा।"

इस शृंगार वर्णन की एक विशेषता यह रही है कि इसके नायक कृष्ण बाल्यकाल से ही नारी-लोलुप और रसिक के रूप में चित्रित किए गए हैं। उनमें यह

शृंगार-भावना बचपन से ही इतनी प्रबल रही है कि बड़े होने पर उसका यह उद्दाम रूप आश्चर्यचकित नहीं कर पाता। हम उसका स्वाभाविक विकास होते देखते हैं। सूर को आगे चलकर अपने आराध्य को इसी रस-केलि-कला-विदग्ध शृंगारी नायक के रूप में चित्रण करना था इसलिए उन्होंने कृष्ण को बचपन से ही अतिशय रसिक दिखाया है। एकान्त स्थल है। राधा-कृष्ण—दोनों का मिलन होता है। हजरत कृष्ण अपनी हरकतों पर उतर आते हैं। उसी समय माता यशोदा का आगमन रंग में भंग कर देता है। और दोनों अपनी प्रत्युत्पन्नमतित्त्व और वाक्-चातुर्य द्वारा अपनी स्थिति को सम्हाल ले जाते हैं। सूर का तद्विषयक पद द्रष्टव्य है—

'नीबी ललित गही जदुराइ।
जबहिं सरोज धर्‌यौ श्रीफल पर, तब जसुमति गयी आइ॥
ततछन रुदन करत मनमोहन, मन में बुधि उपजाइ।
देखौ ढीठि देति नहिं माता, राख्यो गेंद चुराइ॥
तब वृषभानु सुता हँसि बोली, हम पै नाहिं कन्हाइ।
काहे को झकझोरत नोखे, चलहुँ न देउँ बताइ॥
देखि विनोद बाल सुत कौ तब, महरि चली मुसुकाइ।
सूरदास के प्रभु की लीला को जानें इहि भाइ॥'

'नीवी मोचन' की यह क्रिया कृष्णभक्तों का प्रिय वर्ण्य-विषय रही है। हरिराम व्यास की तत्सम्बन्धी पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'नागर नीबी बन्धन मोचत, चरन गहि करत निहोर।
नागरि नेति नेति नहिं कर सौं कर पेलत गहि डोर।
मत्त मिथुन मैथुन दोऊ, प्रकटत बरवट जोबन जोर।
व्यास स्वामिनी की छवि निरखति, भाए सखि लोचन चोर॥'

ऐसे पदों को न तो आध्यात्मिक माना जा सकता है और न अलौकिक, उदात्त प्रेम-क्रीड़ा का वर्णन। यह विशुद्ध-रूपेण लौकिक और स्वाभाविक रति-क्रीड़ा के चित्र हैं। परवर्ती शृंगार-कालीन कवियों ने भी ऐसे ही वर्णन किए हैं।

शृंगार के प्राधान्य का कारण

यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि आखिर कृष्णभक्त-कवि शृंगार के ऐसे लौकिक, मदमत्त बना देने वाले स्वाभाविक रूप को लेकर भक्ति-भावना की ओर क्यों प्रवृत्त हुए थे? वल्लभाचार्य का एक ग्रन्थ है—'कृष्णाश्रय'। आचार्य शुक्ल के अनुसार इस ग्रन्थ में उन कारणों पर प्रकाश डाला गया है, जिनसे प्रभावित हो आचार्य ने कृष्ण की मधुरा-भक्ति का प्रचार किया था। इन कारणों में एक कारण यह भी था कि उस युग में लोक-रुचि शृंगार-भावना की ओर अधिक झुकी हुई थी, इसी कारण आचार्य को उस लोक-भावना की तुष्टि के निमित्त शृंगारपरक भक्ति की स्थापना

करनी पड़ी थी। आचार्य शुक्ल के अनुसार—"अतः वल्लभाचार्य ने अपने 'पुष्टिमार्ग' का प्रवर्त्तन बहुत-कुछ देश-काल देख कर किया।"

इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण भी रहा होगा। मानव की किसी भी स्वाभाविक, प्राकृतिक प्रवृत्ति पर अत्यधिक अंकुश लगाने से कुंठाओं और विकृतियों को जन्म मिलता है। 'काम' मानव की बहुत प्रबल प्रवृत्ति है। इसका विरोध करने से जो भयंकर प्रतिक्रिया होती है वह मानव-स्वभाव और शरीर—दोनों को अपंगु बना देती है। 'गोपन' के प्रति मन में एक सहज जिज्ञासा रहती है। और जब काम-भावना जैसी प्रबल भावना को गोपन बना दिया जाता है और जब मन और शरीर की स्वाभाविक जिज्ञासा का स्वाभाविक शमन नहीं हो पाता तो विकृतियाँ जन्म ले लेती हैं। सम्भवतः हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि इस मनोवैज्ञानिक सत्य से परिचित थे। इसी कारण वात्स्यायन के काम-सूत्र की रचना हुई थी और उसके पठन-पाठन का विधान किया गया था। हमारे आदि-युगीन वैदिक आदि साहित्यों में काम-भावना पर अवांछित अंकुश नहीं मिलता। बौद्धों ने इस भावना पर अंकुश लगाया था परन्तु बुद्ध को अपने जीवन-काल में ही अपने संघ में नारी को स्थान देना पड़ा था। वल्लभ स्वामी इस मनोवैज्ञानिक सत्य से परिचित थे। इसी कारण उन्होंने अपने 'पुष्टिमार्ग' में शृंगाराश्रित भक्ति का विधान किया था। आराध्य के माध्यम से भक्त-हृदय की शृंगार भावना को तुष्टि का मार्ग मिला जाता था। और तुष्टि ही जीवन में सरसता और सन्तुलन बनाए रखती है।

अनिन्द्य सौन्दर्य : प्रधान उपकरण

मन की एकाग्रता और रमण के लिए मन का चिन्त्य रमणीय होना चाहिए। मन रमणीय में ही रमता है। तुलसी के राम 'कोटि कन्दर्प लजावन हारे' थे और सूर के कृष्ण अपने रूप से सारी व्रज बालाओं को उद्विग्न बनाए रहते थे। राधा अनिन्द्य सुन्दरी थी। नारी सौन्दर्य पुरुष मन को अधिक आकर्षित करता है, इसलिए राधा-वल्लभ सम्प्रदाय में राधा का महत्त्व बढ़ा। और इस प्रकार कृष्णभक्त राधा-कृष्ण के अपरूप सौन्दर्य पर मुग्ध हो उनके ध्यान में डूबे रहे और उन्हीं के माध्यम से भक्तों की काम-भावना उदात्त शृंगार का रूप धारण कर अभिव्यक्ति के लिए निकास पाती रही। और इस निकास और मनःतुष्टि के लिए उस शृंगार भावना का लौकिक रूप धारण करना आवश्यक था। सम्पूर्ण उपलब्ध कृष्णभक्ति-काव्य में हमें आरम्भ से ही कभी काम-भावना के व्यक्तीकरण पर अवांछित अंकुश लगा हुआ नहीं मिलता। इसी कारण उसमें शृंगार के उन्मुक्त, स्वाभाविक और स्वस्थ रूप का चित्रण हुआ है।

विपरीत स्थिति : रसिक सम्प्रदाय

इससे बिल्कुल भिन्न स्थिति हमें रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय में मिलती है। तुलसी ने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के जिस मर्यादा-वेष्टित रूप की स्थापना की थी,

उसमें शृंगार-भावना के उन्मुक्त निकास के लिए गुंजायश नहीं थी । इस बन्धन ने इस भक्तिमार्ग में कुंठाओं को जन्म दिया, जिनके कारण ऐसे भक्ति-सम्प्रदायों की स्थापना हुई जिनके अनुयायी स्त्री-वेश धारण कर स्त्री-रूप में पुरुष रूप आराध्य राम की उपासना करने लगे । यह पद्धति कितनी अस्वाभाविक और अप्राकृतिक थी । कृष्णभक्तों के सखी-सम्प्रदाय में भी हमें इसी प्रतिक्रिया जनित कुंठा का रूप मिलता है । कुछ पुरुष स्वभाव और भावना से ही स्त्री जैसे होते हैं । और सम्भवतः ऐसे ही पुरुषाकार परन्तु मन से नारी-रूप वाले व्यक्ति इन सम्प्रदायों के अनुयायी बने होंगे ।

मानव-मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति

'काम-भावना' मानव मन की स्वाभाविक रमणीय प्रवृत्ति है । पुरुष-मन अनादि काल से इसके अभिव्यक्तीकरण में आनन्द पाता रहा है । इसी में उसका मन रमा है । वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक इस शृंगार-भावना का निरवधि प्रकाशन होता रहा है । और यह भावना बहुलांश में मुक्तक काव्य के रूप में ही प्रकट हुई है । जहाँ इसने प्रबन्ध को प्रकाशन का माध्यम बनाया है, वहाँ भी उसका समष्टि रूप मुक्तक का सा ही एकान्त और पूर्ण रहा है । उसने जीवन के विशाल क्षेत्र को स्पर्श करने का प्रयास नहीं किया है । उसका मूल कथ्य शृंगार रहा है । 'मानस' जैसे महाकाव्य सदियों में एकाध रचे जाते हैं और समाज को प्रभावित करने की दृष्टि से उनका अपना पृथक् ऐतिहासिक और युगपरक मूल्य रहता है । महाकाव्य जीवन के पुनर्निर्माण की प्रेरणा देते हैं । परन्तु काव्य, और विशेष रूप से मुक्तक-काव्य, मानव-हृदय की स्वाभाविक और रमणीय वृत्ति का प्रकाशक होता है । इसलिए प्रत्येक युग में ऐसे ही काव्य की रचना अधिक होती है और ऐसा ही काव्य जनमनरंजनकारी होने के कारण जन-जन के गले का कंठहार बना रहता है । कृष्णभक्ति-काव्य ऐसा ही काव्य था और उसका परवर्ती शृंगारपरक काव्य भी ऐसा ही काव्य था । नीतिवादियों की अनवरत भर्त्सना का पात्र बनते हुए भी यही काव्य जनता में निरन्तर लोकप्रिय बना रहा है ।

नीति के आधार पर रचित साहित्य हमारे विवेक को जाग्रत कर सुमार्ग पर सन्तुलित रूप से चलने की प्रेरणा देता है । इसे हम 'काव्य' न कहकर 'साहित्य' कहना ही अधिक पसन्द करेंगे । परन्तु 'काव्य' हमारी सरस, रमणीय भावनाओं को तुष्ट करता है इसलिए वह हमें अधिक प्रिय लगता है, भले ही जीवन में उसकी अधिक प्रत्यक्ष उपादेयता न हो । नीतिपरक रचनाएँ—चाहे वे 'मानस' जैसे विशाल रूप में हों या गिरिधर आदि के नीति-वाक्यों के रूप में, 'साहित्य' ही कहलाएँगी । परन्तु कृष्णभक्ति-काव्य और शृङ्गार-कालीन शृङ्गारपरक काव्य सच्चे अर्थों में 'काव्य' ही माना जायेगा । मानव-हृदय के रंजनकारी ऐसे काव्य को हेय दृष्टि से देखना न्याय संगत नहीं माना जा सकता—फिर चाहे वह कृष्ण-भक्तों द्वारा रचित हो या बिहारी, देव आदि शृङ्गारी कवियों द्वारा । आचार्य शुक्ल का

वश चलता तो वह कृष्णभक्तों की अतिशय श्रृङ्गारिकता की भी उसी प्रकार भर्त्सना करते, जैसे उन्होंने श्रृङ्गारकालीन श्रृङ्गारपरक कवियों की थी। परन्तु शुक्लजी ऐसा साहस इसलिए नहीं कर सके क्योंकि सूर आदि कृष्णभक्त जन-मानस में सदियों से भक्त के रूप में प्रतिष्ठित थे। अस्तु,

रीति-परम्परा : लक्षण-ग्रन्थ

कृष्णभक्ति काव्य में विशेष रूप से, और सम्पूर्ण भक्तिकाल में सामान्य रूप से उस रीति-परम्परा का सशक्त रूप मिलता है, जिसका विकास श्रृङ्गारकालीन लक्षण-ग्रन्थों के रूप में हुआ था। परन्तु इसमें एक अन्तर था। श्रृङ्गार-काल में रस, काव्य, शब्द-शक्ति, अलंकार, छन्द आदि काव्य के विविध अंगों का विवेचन किया गया था और भक्तिकाल के लक्षण-ग्रन्थ श्रृङ्गार रस, नायिका-भेद आदि तक ही सीमित रह गए थे। कृष्णभक्ति में श्रृङ्गार की प्रधानता रहने के कारण कृष्ण-भक्तों ने अपने लक्षण-ग्रन्थों में श्रृङ्गार रस और उसके उपांग—संयोग, वियोग, नायिका-भेद आदि का ही सोदाहरण विवेचन किया है।

भक्तिकाल में लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा का विकास हो चुका था। कृपाराम का 'हित तरंगिणी' हिन्दी का प्रथम उपलब्ध लक्षण-ग्रन्थ माना जाता है। इसके अतिरिक्त करनेस कवि के 'कर्णाभरण', 'भूप भूषण' और 'श्रुति भूषण'; मोहनलाल मिश्र का 'श्रृङ्गार सागर'; रहीम का 'बरवै नायिका-भेद'; सूरदास का 'साहित्य लहरी'; और नन्ददास का 'रस मंजरी' आदि लक्षण-ग्रन्थ इसी काल में रचे गये थे। कुछ विद्वान् 'साहित्य लहरी' को भक्तराज सूरदास की रचना नहीं मानते। यदि यह भक्तिराज सूरदास की रचना न होकर किसी अन्य 'सूरदास' नामक कवि की रचना है, तो भी लक्षण-ग्रन्थ के रूप में इसका महत्त्व निर्विवाद है। उपर्युक्त लगभग सभी ग्रन्थों में श्रृङ्गार रस का, और विशेष रूप से श्रृङ्गार रस के उपांग नायिका-भेद का ही विवेचन किया गया है। महत्त्व की दृष्टि से उपर्युक्त ग्रन्थों में से 'हित-तरंगिणी,' 'साहित्य-लहरी' और 'रस मंजरी' को ही विशेष उल्लेखनीय माना जा सकता है।

कृपाराम ने 'हित-तरंगिणी' में यह कहा है कि उन्होंने इसकी रचना भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर की है—'कृपाराम यों कहत हैं, भरत ग्रन्थ अनुमानि।' इसके नायक राधा-कृष्ण हैं। कवि ने आरम्भ में श्रृङ्गार रस के भेदापभेदों का उल्लेख कर विस्तार के साथ नायिका-भेद का वर्णन किया है। साथ ही सखी, दूती आदि का चित्रण कर, नायिकाओं के विभिन्न भेदोपभेदों का वर्णन करते हुए सुरत, सुरतांत, विपरीत रति आदि का भी वर्णन किया है। नायिका में उन्होंने स्वकीया, परकीया और सामान्या—तीनों प्रकार की नायिकाओं पर प्रकाश डाला है। डा० राजकुमारी मित्तल के अनुसार—"वस्तुतः यह ग्रन्थ नायिका-भेद पर एक पूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें सभी प्रकार की नायिकाओं की लक्षण व उदाहरण सहित मीमांसा प्राप्त

होती है। यह ग्रन्थ अन्य कवियों को शास्त्रीय मार्ग-प्रदर्शन के हेतु रचा गया था।" इस ग्रन्थ ने परवर्ती कवियों को प्रभावित किया था।

सूरदास की 'साहित्य-लहरी' में भी प्रधान रूप से नायिका-भेद का ही वर्णन किया गया है। नायिका-भेद में उन सभी बातों का वर्णन किया गया है जो इस विषय से सम्बन्धित और आवश्यक मानी जाती हैं। परन्तु इसकी एक विशेषता यह रही है कि इन्होंने 'सामान्या' नायिका का वर्णन नहीं किया है, क्योंकि राधा को सूर एक सामान्य नायिका का रूप नहीं प्रदान कर सकते थे। इस ग्रन्थ में शृंगार के अतिरिक्त वीर, भयानक, रौद्र, अद्भुत आदि रसों का भी विवेचन हुआ है। साथ ही अलङ्कारों के भी लक्षण-उदाहरण दिए गए हैं। इस प्रकार रस, अलङ्कार, नायिका-भेद, संचारी-भाव आदि के विवेचन के कारण 'साहित्य-लहरी' काव्यशास्त्र का एक सुन्दर लक्षण-ग्रन्थ बन गया है। इसके अतिरिक्त इसमें 'दृष्टकूट' आदि का विवेचन कर चमत्कार-प्रधान, क्लिष्ट काव्य के भी उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। ये पद और उदाहरण इतने जटिल और क्लिष्ट हैं कि इनका अर्थ निकाल लेना अद्भुत मेधा-शक्ति का ही प्रमाण माना जायेगा।

नन्ददास का 'रस-मंजरी' भी नायिका-भेद सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थ है। उन्होंने इसकी रचना अपने किसी मित्र को नायिका-भेद समझाने के लिए की थी—

'एक मीत हमसों अस गुन्यो, मैं नाइका भेद नहिं सुन्यौ।'

× × ×

'तू तौ सुनि लै रसमंजरी, नख-सिख परम प्रेम रस भरी।'

परन्तु नन्ददास ने इस नायिका-भेद को भक्ति की भावमयी पृष्ठभूमि प्रदान कर लिखा है :—

'है जो कछु रस इहि संसार, ताकहूँ प्रभु तुमही आधार।'

× × ×

'ऐसेहि रूप प्रेमरस जो है, तुम ते है तुम ही करि सो है।'

नन्ददास ने सभी प्रकार की नायिकाओं का लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन किया है। नन्ददास का 'विरह-मंजरी' भी लक्षण-ग्रन्थ माना जा सकता है। इसमें उन्होंने विरह के भेदोपभेदों का वर्णन करते हुए विरह का सांगोपांग चित्रण किया है। और इसी के अन्तर्गत 'बारहमासा' का भी चित्रण हो गया है।

उपर्युक्त भक्तिकालीन लक्षण-ग्रन्थ संस्कृत रीतिशास्त्र से प्रभावित रहे हैं। कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' से तथा नन्ददास की 'रस-मंजरी' भानुमिश्र की 'रस-मंजरी' से प्रभावित है।

इस प्रकार हमें भक्तिकाव्य में लक्षण-ग्रन्थों के रूप में संस्कृत काव्यशास्त्र की

उस परम्परा का पुष्ट रूप मिल जाता है जो परवर्ती शृंगार-कालीन 'रीतिकाव्य' के रूप में और अधिक विकसित हुआ था। इस विवेचन से वह टूटी हुई कड़ी जुड़ जाती है, अन्यथा जो शृंगार-काल में एकाएक उत्पन्न और विकसित होती दिखाई पड़ती थी।

अलंकार : रीति

सूरदास ने 'साहित्य लहरी' में अलंकारों का विवेचन किया है। इससे यह प्रकट होता है कि कृष्णभक्त काव्य में अलंकारों के महत्त्व से अपरिचित नहीं थे। उनके काव्य में प्रयुक्त विविध प्रकार के सरल, स्वाभाविक और साथ ही जटिल अलंकारों का प्रचुर प्रयोग इसका प्रमाण है। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग भावाभिव्यक्ति में, चित्र-निर्माण में, चमत्कार-प्रदर्शन में, विरह के ऊहात्मक रूप के प्रदर्शन में, अतिशय अलंकरण की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर विविध प्रकार और उन्मुक्त भाव से किया है। कहीं-कहीं तो यह प्रवृत्ति इतनी अधिक उभर आई है कि वहाँ भाव-पक्ष तिरोहित सा हो उठा है। नन्ददास ने अपने ग्रन्थों—'अनेकार्थ मंजरी' और 'नाममाला' में अलंकारों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया है। अलंकारों द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति कृष्णभक्तों में प्रायः दिखाई पड़ जाती है। सूरदास ने 'सारंग' शब्द का अगणित पदों में विभिन्न अर्थों में प्रयोग कर अपनी इसी चमत्कार प्रियता और प्रदर्शन-वृत्ति का परिचय दिया है। नन्ददास में भी यही प्रवृत्ति मिलती है। उनका कहना है कि एक ही शब्द अपने भीतर अनेक अर्थों को भरे रहता है। दृष्टकूट पदों के रूप में शब्द और अर्थ-चमत्कार का खूब प्रदर्शन किया गया है। यह सब इनके पांडित्य-प्रदर्शन का ही एक रूप था।

अतिशय अलंकार-प्रियता

सम्भवतः चमत्कार-प्रदर्शन की भावना ने ही कृष्णभक्तों में अतिशय अलंकरण की प्रवृत्ति को उत्पन्न किया था। इन कवियों ने शब्दालंकार और अर्थालंकार—दोनों प्रकार के अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, यमक, अनुप्रास विषम, विरोध, असंगति, रूपक, सम आदि अलंकारों के प्रयोग द्वारा इन्होंने अपने काव्य को मनोरम, जटिल, दुरूह, भावाभिव्यक्ति में पूर्ण सक्षम, चमत्कार-पूर्ण आदि विभिन्न प्रकार के रूप प्रदान किए हैं। परवर्ती शृंगार-कालीन कवियों में भी हमें यह प्रवृत्ति यथावत् मिलती है। हमें कृष्णभक्ति-काव्य में अलंकारों का परम्परागत रूप प्राप्त हो जाता है। अन्तर केवल इतना रहा है कि कृष्णभक्तों के लिए अलंकार साधन थे और शृंगार-कालीन कवियों के लिए साध्य बन गए थे। उन्होंने बहुलांश में अलंकारों का चमत्कार दिखाने के लिए ही काव्य-रचना की थी।

अभिव्यंजना शैली

कृष्ण-भक्ति मधुरा-भक्ति होने के कारण कोमल व्यंजना की अपेक्षा रखती थी।

इसलिए इसमें प्रयुक्त भाषा में माधुर्य गुण की प्रधानता रहना अनिवार्य था। कोमल-कान्त पदावली के अभाव में इस भक्ति-भावना का मार्मिक प्रकाशन होना सम्भव नहीं था। इसी कारण कृष्णभक्तों ने स्वभाव से ही कोमल ब्रजभाषा को कोमल-कान्त पदावली से सज्जित कर उसे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था। वस्तुतः ब्रजभाषा में इस गुण का समावेश कर उसे सर्वजन प्रिय व्यापक काव्य-भाषा बनाने का एकमात्र श्रेय सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों को ही रहा है। और यह कार्य सहज ही नहीं हो गया था। इसके लिए इन कवियों को काव्य-सज्जा के अनेक उपकरणों का समावेश कर, भाषा और उसके शब्दों को अपनी मनोरम भावानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए कोमल, मसृण और लावण्यमय रूप प्रदान करना पड़ा था। भाषा-परिष्कार के साथ ही उन्होंने पद-लालित्य, वाग्वैदग्ध्य, उक्ति-वैचित्र्य आदि का समावेश कर भाषा में एक अद्भुत व्यंजना-शक्ति भर दी थी। सूर के परवर्ती राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में तो भाषा-अलंकरण की यह प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ी हुई दिखाई पड़ती है कि वे भाव की उपेक्षा कर काव्य के बहिरंग को ही सजाने-सँवारने का प्रयत्न करते दिखाई पड़ते हैं।

भाषा को सहज, सरल, स्वाभाविक और कोमल रूप प्रदान करने के लिए इन कवियों ने तत्सम्, तद्भव, देशज, विदेशी आदि शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया है। अरबी, फारसी के शब्दों को भी ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप ढाल उन्हें पूर्ण स्वदेशी सा बना, उनके विदेशीपन को बहुत कुछ दूर कर—उन्हें लोकग्राह्य बना दिया है। संस्कृत के तत्सम् शब्दों का प्रयोग प्रायः भक्ति के शास्त्रीय विवेचन और अप्रस्तुत योजना के समय ही अधिक हुआ है। शब्दों के क्षेत्र में इन कवियों ने सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य यह किया था कि तद्भव शब्दों को ब्रजभाषा के अनुरूप ढाल ऐसा आकर्षण और रूढ़ रूप प्रदान किया है कि परवर्ती साहित्य में सदियों तक उनका उसी रूप में प्रयोग होता रहा है। परवर्ती बिहारी आदि कवियों ने कृष्णभक्ति-काव्य में प्रयुक्त हुए तद्भव शब्दों का ही प्रयोग किया है।

डा० राजकुमारी मित्तल ने कृष्णभक्ति-काव्य की अभिव्यंजना-शैली का विवेचन करते हुए उचित ही लिखा है कि—"कृष्ण-भक्तों के काव्य में भी कला-पक्ष को उतनी ही प्रधानता व मुख्यता प्राप्त थी—जैसी परवर्ती रीतिकालीन कवियों में पाई गई। कृष्णभक्तों ने अभिव्यंजना के समस्त अंगों का सांगोपांग चित्रण किया है और अपनी पद-योजना को अधिक से अधिक अलंकृत, चमत्कृत, पांडित्य से पूर्ण रीतिबद्ध एवं कवि-परम्परानुसार निर्मित करने का सूक्ष्म प्रयास किया है। उन्होंने ऋतु-वर्णन में भी उन्हीं उपमानों और कवि-प्रसिद्धियों को अपने पदों का सार बनाया है जो परम्परा से चली आ रही थीं। जहाँ भक्ति-प्लावित पद हैं, वहाँ भक्ति में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं है, लेकिन जहाँ नख-शिख-वर्णन, नायक-नायिका-भेद, शृंगार के संयोग व विप्रलम्भ, ऋतु-वर्णन, मान आदि विषयों का चित्रण है, वहाँ भक्त-कवियों

ने उसी रीतिबद्ध मार्ग का अनुसरण किया है जो संस्कृत के आचार्यों द्वारा प्रदर्शित हुआ था, और जो परवर्ती कवियों के काव्य का प्राण बना। अतः रीतिकाल की अभिव्यंजना के लिए भी भक्तिकालीन कृष्णभक्त कवियों ने ही परिपाटी का निर्माण किया था।"[१]

सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि : गहन, मार्मिक विरहानुभूति

कृष्णभक्त कवियों की गहन, मार्मिक विरहानुभूति को उनकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि माना जा सकता है। उनका विप्रलम्भ शृंगार का चित्रण उनके संयोग-शृंगार की तुलना में अधिक प्रभावशाली, अधिक मार्मिक और सूक्ष्म भावापन्न रहा है। वस्तुतः उनके भक्तरूप की प्रतिष्ठा का आधार इसी को मानना चाहिए। इस विरहानुभूति के चित्रण में ही उनके हृदय में अपने आराध्य के प्रति उत्पन्न उत्कट विरह-भावना का रूप मिलता है। और इस विरह-भावना की यह विशेषता रही है कि यह लौकिक धरातल पर रहते हुए भी अलौकिक आध्यात्मिक भावना का स्पर्श कर लेती है। यदि ये भक्तगण अपनी इस विरहानुभूति का वर्णन लौकिक धरातल पर न करते तो इतना कदापि प्रभावित न कर पाते। यदि ये भी कबीर आदि के समान अलौकिक, निराकार आराध्य के प्रति ही अपनी विरहाकुल अनुभूतियों का चित्रण करते तो उस व्यापक प्रभाव और प्रसिद्धि के स्वामी न बन पाते, जिसके कि बने हैं।

इन कवियों का विरह सर्वत्र लौकिक स्तर पर ही अभिव्यंजित हुआ है। मथुरा पहुँच कर कृष्ण को ब्रज, अपने परिजनों, गोप-सखाओं, गोपियों, राधा, गायों, पूर्व-क्रीड़ाओं और विहारों की याद सताती है। दूसरी ओर माता यशोदा और पिता नन्द अपने लाड़ले पुत्रों के बिछोह में व्याकुल-प्राण बने रहते हैं। मलिन वसना राधा प्रियतम की स्मृति में निरन्तर आँसू बहाती रहती है, परन्तु मुख से कुछ भी नहीं कहती। उसकी यह मौन-व्यथा अपने एकाकी रूप में इतना गहन प्रभाव डालती है, जितना गोपियों का सामूहिक विरह-विलाप भी नहीं डाल पाता। सम्पूर्ण कृष्ण-विरह-व्यथित ब्रज में दो ही प्राणी ऐसे हैं जिनकी विरह-व्यथा वज्रहृदयों को भी द्रवित करने और रुलाने की शक्ति रखती है—राधा और यशोदा। इनके विरह-चित्रण में यह प्रभावक शक्ति इसीलिए उत्पन्न हो सकी है कि इनकी विरह-व्यथा सर्वत्र लौकिक और यथार्थ बनी रहती है, कहीं भी अलौकिकता का स्पर्श नहीं कर पाती।

दूसरी ओर गोपियों की सामूहिक आकुल-प्राण, कातर, मुखर, उपालम्भों से भरी परन्तु दैन्य की परिणति प्राप्त वह विरह-व्यंजना है जो गहनता और मार्मिकता में तो राधा की विरह-व्यथा की समता नहीं कर पाती परन्तु अपनी मनोरमता, सहजता और मार्मिकता के कारण हिन्दी-साहित्य का एक अद्वितीय सौन्दर्य-शाली अंग बन गई है। यशोदा और राधा की विरह-व्यथा के चित्रण में सूर की वाणी वाग्वैदग्ध्य,

---

१. **कृष्ण भक्ति-काव्य में रीतिकाव्य-परम्परा**—डा० राजकुमारी मित्तल।

काव्य-चमत्कार आदि के प्रति उदासीन रह मात्र संकेतों द्वारा ऐसे मार्मिक प्रभाव की सृष्टि करती है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। 'अति मलीन ब्रजभानु कुमारी' और 'संदेसो देवकी सों कहियो' जैसे मार्मिक पद अपने आराध्य की गहन विरह-व्यथा से पीड़ित अनन्य भक्त सूर के प्राणों से ही उद्‌गारित होने की क्षमता रखते थे। यहाँ सूर स्थिति-चित्रण द्वारा ही सब कुछ कह जाते हैं।

इसके विपरीत गोपियों का विरह है। गोपियाँ मुखरा हैं। 'भ्रमरगीत' के सैकड़ों पद गोपियों के इसी मुखर रूप के प्रतीक बन गए हैं। गोपियाँ भी कृष्ण-विरह में बुरी तरह से पीड़ित हैं परन्तु वे उद्धव और साथ ही कृष्ण को भी खूब खरी-खोटी सुनाकर अपने मन को बहुत कुछ हल्का कर लेती हैं। साथ ही भक्ति और ज्ञान-सम्बन्धी विवाद उनके एकान्त कृष्ण-प्रेम को ही व्यंजित करता है, न कि उनकी गहन विरहानुभूति को। वस्तुतः गोपी-उद्धव-सम्वाद में सूर का विरहाकुल भक्त-हृदय उतना अधिक नहीं उभर पाया है जितना कि उनका काव्य-कुशल, वाक्-विदग्ध कवि उद्‌बुद्ध हुआ है। इस प्रसंग में सूर का कवि-कौशल ही अधिक दर्शनीय है। परन्तु उनका वर्ण्य-विषय सर्वत्र लौकिक धरातल पर ही बना रहता है, इसलिए गोपियों के वाक्-चातुर्य के नीचे छिपे उनके विरहाकुल हृदय की भो पूर्ण व्यंजना हो जाती है। गोपियाँ उद्धव पर वाक्-प्रहार करते-करते एकाएक अत्यन्त कातर और दीन बन उनसे मात्र यह प्रार्थना करने लगती हैं कि हमें केवल एक बार प्रियतम का रूप दिखा दो। गोपियों की यह कातर-व्यंजना साधारण नहीं है। यह भक्त के एकनिष्ठ प्रेम की प्रतीक है। नन्ददास की गोपियाँ भी उद्धव को खूब जली-कटी सुनाकर एकाएक अत्यन्त कातर हो विलाप करने लगती हैं। विरह-चित्रण की यह मार्मिकता परवर्ती कवि अपनाने में असमर्थ रहे थे। क्योंकि एक भावुक भक्त-हृदय ही इस मार्मिकता का अधिकारी बन सकता था, न कि मनोरंजन और काव्य-चमत्कार उत्पन्न करने का अभिलाषी कवि। इसी कारण हमें परवर्ती काव्य में विरह के वे मार्मिक चित्रण नहीं मिलते जो कृष्ण-भक्तों की अपनी अनन्य विशेषता रही है।

भक्ति का व्यापक क्षेत्र

कृष्ण-भक्ति ही नहीं अपितु समस्त भक्ति-युग में भक्ति-भावना मानव के सम्पूर्ण जीवन को अपने अंक में समेट कर आगे बढ़ी थी। उसमें नीति, उपदेश, लौकिक-शृंगार, अतिशय अलंकरण, चमत्कार-प्रदर्शन, काव्य-विवेचन, भाषा-परिष्कार आदि की प्रवृत्ति अवश्य थी परन्तु इन सब पर भक्ति का ऐसा गहरा आवरण चढ़ा दिया गया था कि भक्ति-भावना के सम्मुख ये सब प्रवृत्तियाँ गौण प्रतीत होती थीं। प्रतिभाशाली भक्त-कवियों ने नए आदर्श और नए जीवन-दर्शन से ओतप्रोत काव्य को एक ऐसे नए मार्ग पर मोड़ दिया जिसमें भक्ति के सम्मुख या तो और कुछ था ही नहीं, या यदि था भी तो उसने भक्ति का ही रूप धारण कर लिया था। लोकगीत-परम्परा को इन कवियों ने आत्म-समर्पण मूलक और अनन्य भक्ति के पदों में ढाल कर प्रस्तुत किया था।

नीति और श्रृङ्गार के दोहों और पारिवारिक-सामाजिक उत्सवों को भी अपने आराध्य राम और कृष्ण के रंग में रंग कर प्रस्तुत किया। अलौकिक आराध्य का आलम्बन पाकर ये अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए। इनकी सफलता के इस रहस्य को इनके परवर्ती श्रृङ्गार काल के कवि नहीं पहचान पाए थे। इसलिए जब उन्होंने इन्हीं विषयों का वर्णन भक्ति-भावना से रहित होकर किया तो वे उतनी सफलता न प्राप्त कर सके। यदि उद्देश्य या लक्ष्य शुभ होता है तो संसार का ध्यान उसे प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किए गए साधनों की उत्कृष्टता या निकृष्टता की ओर कम ही जाता है। भक्त कवियों का, विशेष रूप से कृष्ण-भक्त कवियों का उद्देश्य शुभ था—भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति कर मानव-हृदय का परिष्कार करना। इसलिए उनके द्वारा किया गया घोर श्रृंगार का वर्णन, चमत्कार-प्रदर्शन और अतिशय अलंकरण आदि की प्रवृत्तियों को भी समाज ने शिरसा स्वीकार कर लिया था, परन्तु जब श्रृंगार-कालीन कवियों ने अपने काव्य का प्रणयन इसी पद्धति पर किया तो उन्हें नीतिवादियों की भर्त्सना का शिकार होना पड़ा। इस अन्तर को नगण्य नहीं माना जा सकता। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तर है। और इसी अन्तर ने इन दोनों कालों में रचित काव्य के मध्य एक निश्चित विभाजक रेखा खींच दी है। यदि भक्ति-भावना के इस अन्तर को बीच में से हटा दिया जाय तो श्रृंगार-युगीन साहित्य कृष्ण-भक्ति-साहित्य का ही विकसित, परिवर्द्धित रूप सिद्ध हो जायेगा।

अवधी-कृष्णकाव्य

ब्रजभाषा में कृष्णकाव्य और रामकाव्य—दोनों ही लिखे गए थे, यद्यपि प्रधानता कृष्णकाव्य की ही रही। अवधी को सामान्यतः रामकाव्य की ही भाषा माना जाता रहा है, यद्यपि तुलसी के 'रामचरितमानस' आदि कतिपय रामचरित-सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त अवधी में ऐसे अन्य ग्रन्थों की रचना बहुत कम हुई है जिनमें राम-चरित का भक्ति-भावपूर्ण वर्णन हुआ हो। अवधी मूलतः प्रेमकाव्यों की भाषा रही है। हिन्दी के अधिकांश प्रेमगाथाकारों की भाषा अवधी ही है। परन्तु तुलसी के 'मानस' के कारण अवधी को रामकाव्य की ही भाषा मानने का भ्रम बहुत दिनों तक प्रचलित रहा है। हिन्दी-साहित्य के बहुत कम पाठक इस तथ्य से अवगत हैं कि अवधी में कृष्णकाव्य का प्रणयन भी प्रचुर मात्रा में हुआ था। इसकी परम्परा सोलहवीं सदी से लेकर बीसवीं सदी तक निरन्तर विकासमान रही है। सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में लालचदास द्वारा प्रणीत 'हरि-चरित्र (रचनाकाल सम्वत् १५८७) इस परम्परा का प्रथम उपलब्ध काव्य है और द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' आधुनिक काल का अन्तिम काव्य है। लक्षदास अवधी कृष्णकाव्य के अत्यन्त प्रसिद्ध कवि रहे हैं। डा० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस' ने अपने प्रकाशित शोध-प्रबन्ध—'अवधी कृष्णकाव्य और उसके कवि' में इस विषय का विस्तृत आधिकारिक विवेचन किया है।

इस अवधी भाषा में रचे गए कृष्णकाव्य की कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ रही हैं जो ब्रजभाषा में रचित कृष्णकाव्य से भिन्न हैं। पहली विशेषता यह है कि यह अधिकांशतः प्रबन्ध-काव्य के रूप में रचा गया है, न कि ब्रजभाषा के समान मुक्तक-काव्य के रूप में। दूसरी विशेषता यह है कि इसका मूल स्वर दास्य भाव की भक्ति का रहा है, न कि ब्रजभाषा-कृष्णकाव्य के समान सख्य या मधुर भाव का। इसे राम-काव्य का प्रभाव माना जा सकता है। इसकी तीसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें ज्ञान और भक्ति, या निराकार और साकार का वह द्वन्द्व नहीं उभरा है जो ब्रजभाषा कृष्णकाव्य की भ्रमरगीत-परम्परा का प्रधान उपजीव्य रहा है। चौथी विशेषता यह है कि इसमें कृष्णभक्ति के विशिष्ट सम्प्रदायों—पुष्टिमार्ग आदि के सिद्धान्तों का वर्णन नहीं हुआ है। इसका कारण या तो यह रहा होगा कि ये कवि किसी विशिष्ट भक्ति-सम्प्रदाय के अनुयायी या समर्थक न होकर, स्वतन्त्र रूप से कृष्णकाव्य की रचना करने में प्रवृत्त हुए होंगे, या इन्होंने तुलसी के समान समन्वय-वादी रूप अपनाया होगा, अथवा भागवत आदि को ही प्रधान आधार मान उन्हीं के अनुसार कृष्ण-चरित का अंकन कर दिया होगा। असली कारण चाहे जो कुछ भी रहा हो, मगर जहाँ तक कि भावाभिव्यक्ति की तन्मयता का सम्बन्ध है, यह इनमें पर्याप्त गहन मिलती है। इसलिए इन्हें कृष्णभक्त-कवि, निस्संकोच रूप से स्वीकार किया जा सकता है। केवल इनकी भावाभिव्यक्ति का भाषा-माध्यम ही दूसरा रहा है।

क्रमबद्ध प्रबन्ध-कथा के रूप में अवधी में कृष्ण-चरित का अंकन सर्वप्रथम लालचदास के 'हरि चरित्र' में मिलता है। इस ग्रन्थ की रचना सम्वत् १५८७ में हुई थी। इसका आधार भागवत का दशम् स्कन्ध रहा है। कहा जाता है कि लालचदास इस ग्रन्थ को अपने जीवन में पूरा नहीं कर पाए थे। बाद में आसानन्द ने इसे पूरा किया था। इस ग्रन्थ में कृष्ण-जन्म से लेकर कंस-वध तक की कथा विस्तार के साथ दी गई है। इसमें कृष्ण को आदि ब्रह्म मान राम, कृष्ण और शिव में अभेदत्व माना गया है। कहीं-कहीं निर्गुण ब्रह्म का भी वर्णन कर सगुण रूप को ही पुष्ट किया गया है। अद्भुत, शान्त और श्रृंगार—इसके प्रधान रस रहे हैं। यद्यपि आचार्य शुक्ल इसे साधारण कोटि का ग्रन्थ मानते हैं, परन्तु अपने समय में यह सम्पूर्ण उत्तरापथ में प्रचलित और प्रसिद्ध रहा था। आधुनिक काल के आरम्भ में इसका फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद होना, इसकी प्रसिद्धि और श्रेष्ठता का एक प्रमाण है। 'हरि चरित्र' में बोली जाने वाली अवधी का प्रयोग हुआ है जो जायसी के 'पदमावत' की भाषा से बहुत कुछ मिलती-जुलती हुई है। कृष्ण के रूपवर्णन का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'बेनु बिषान वंशी कर लीन्हे। शोषित मनिगन भूषन कीन्हे ॥
गुंजाफल सोभित बनमाला। मंद मंद गति चलत गुपाला ॥

कर कंकन कटि किंकिनि बाजे । मोर पक्ष सिर मुकुट बिराजे ।।
कर तन बेनु कमल दल लोचन । उर वन माल बनित भे मोचन ।।
भौंहन बीच तिलक पत्रावलि । कुंडल लोल कंठ मुकुतावलि ।।
प्रान जिवत मन हरन मुरारी । चरन रेनु लालच बलिहारी ।।'

अधिकांश अवधी कृष्णकाव्य प्रबन्धात्मक होने के कारण दोहा-चौपाई छन्दों में ही लिखा गया है । ये दोनों छन्द अवधी के बहु-प्रचलित छन्द रहे हैं ।

लालचदास की मृत्यु के उपरान्त आसानन्द ने उनके 'हरिचरित्र' को ४६वें अध्याय से आरम्भ कर ९० अध्यायों में समाप्त किया परन्तु कहीं भी अपने नाम का उल्लेख न कर सर्वत्र लालच या जनलालच उपनामों का ही प्रयोग किया है । आसानन्द के उपरान्त 'भीम' नामक एक कवि का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने 'हरि लीला सोलह-कला', 'डंगवै पर्व' और 'चक्र व्यूह कथा' नामक ग्रन्थ लिखे थे, परन्तु इनके ग्रन्थों का रचना-काल और भाषा विवादास्पद और बहुत-कुछ संदिग्ध है । 'हरि लीला सोलह-कला' की भाषा को कुछ राजस्थानी मानते हैं और कुछ अवधी । इनके उपरान्त बलवीर का उल्लेख मिलता है जिन्होंने अपने 'दंगव पर्व' नामक ग्रन्थ में महाभारत के युद्ध का अवधी भाषा में वर्णन किया है । यह साधारण कोटि की रचना है । इस ग्रन्थ का रचनाकाल सम्वत् १९०८ बताया जाता है । गोविन्ददास नामक एक कवि ने भी कृष्ण-चरित सम्बन्धी कुछ फुटकर पदों की रचना की थी, परन्तु उनका अभी तक कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका है ।

अवधी में रचित कृष्णकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि लक्षदास माने जाते हैं । इनके सम्बन्ध में इतना ही ज्ञात हो सका है कि ये तुलसीदास के समकालीन थे । तुलसीदास इनकी प्रसिद्धि से प्रभावित हो इनसे मिलने के लिए इनके गाँव गए थे । इनके रचित उपलब्ध ग्रन्थ—कृष्णरससागर, भागवत पुराणसार, दोहावली तथा कुछ फुटकर पद माने जाते हैं । कुछ लोग 'कृष्णायन' नामक एक ग्रन्थ को भी इन्हीं की रचना मानते हैं । इन ग्रन्थों में कृष्ण-चरित के विभिन्न पक्षों का चित्रण किया गया है । इनमें अवधी-कृष्णकाव्य का विकसित और प्रौढ़ रूप मिलता है । लक्षदास के काव्य में भागवत को ही आधार बनाया गया है, इसी कारण उसमें श्रृंगार और वात्सल्य रस प्रधान रहे हैं । यद्यपि इन्होंने राधा-कृष्ण का वर्णन लौकिक नर-नारी के रूप में ही किया है, परन्तु ये बीच-बीच में कृष्ण को आदि ब्रह्म और राधा को उनकी आह्लादिनी शक्ति घोषित करते हुए आगे बढ़े हैं । इनके कृष्ण कर्मयोगी हैं जो समाज के दुख-दर्द को दूर करने के लिए मर्यादा भाव से लीलाएँ करते हैं । इसी कारण इनमें ब्रजभाषा के कवियों द्वारा वर्णित विलासी कृष्ण का घोर श्रृंगारी, अश्लील रूप नहीं मिलता । यह राम-काव्य के मर्यादावाद का प्रभाव प्रतीत होता है । लक्षदास मर्यादा और लोकधर्म के, तुलसी के ही समान कट्टर समर्थक थे । इसके अतिरिक्त उन्होंने ब्रजभाषा-कृष्णकाव्य की अन्य समस्त परम्पराओं—षट्ऋतु वर्णन, बारहमासा, भ्रमरगीत प्रसंग, स्तोत्र तथा

नामावली आदि को यथावत् अपनाया है। साथ ही लोक-प्रचलित विभिन्न काव्य-शैलियों का भी प्रयोग किया है। 'बरवै' छन्द उस युग का अत्यन्त लोकप्रिय छन्द था। लक्षदास ने बरवै छन्द में भी 'कृष्णलीला' लिखी थी।

इनकी रचनाओं में दास्य, वात्सल्य, शृंगार, सखी-भाव आदि भक्ति के विविध रूप प्रस्फुटित हुए हैं। साथ ही दोहा-चौपाई के अतिरिक्त हरिगीतिका, बरवै, अति-बरवै, छप्पय, लावनी, चौबोला, सोरठा आदि छन्दों का भी मुक्तभाव से प्रयोग किया है। संक्षेप में, लक्षदास रचित यह कृष्णकाव्य भाव, भाषा, अभिव्यक्ति, छन्द, अलंकार, रस आदि सभी दृष्टियों से प्रौढ़ रहा है। भक्ति-भावना की गहनता और तन्मयता इसमें अत्यन्त पुष्ट रूप में मिलती है।

लक्षदास के उपरान्त अनेक अन्य कवियों ने अवधी में कृष्णकाव्य की रचना की थी। इनमें से कुछ केवल अवधी के ही कवि हैं और कुछ ने ब्रजभाषा के साथ ही अवधी में भी कुछ छन्द कह दिए हैं। नरहरि महापात्र ने अपने कुछ छप्पयों में कृष्ण-चरित का वर्णन करते समय अवधी का प्रयोग किया है। इसी प्रकार अब्दुर्रहीम खानखाना ने भी बरवै छन्द में कृष्ण का वर्णन करते हुए अवधी का प्रयोग किया है। सदानन्द नामक एक कवि ने, जिनका समय सम्वत् १६८० के लगभग बताया जाता है, पूर्वी अवधी में 'जैमुनि पुराण' नामक एक ग्रन्थ लिखा था जिसमें महाभारत की कथा के प्रसंग में कृष्ण-चरित का भी थोड़ा-सा उल्लेख हुआ है। बाबा रघुनाथ राम-सनेही के 'विश्रामसागर' नामक ग्रन्थ के 'कृष्णायन' खंड को कुछ लोग अवधी-कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत मानते हैं। परन्तु इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में ब्रजभाषा और अवधी का मिला-जुला रूप प्रयुक्त हुआ है जिसमें प्रधानता ब्रजभाषा की ही रही है और 'कृष्णायन' खंड तो ब्रजभाषा में ही लिखा गया है, इसलिए इसकी गणना अवधी-कृष्णकाव्य के अन्तर्गत नहीं की जानी चाहिए।

सबलसिंह चौहान के प्रसिद्ध विशाल ग्रन्थ 'महाभारत' (रचना-काल सम्वत् १७२४ से १७७४ तक) में कृष्ण-चरित का वर्णन विस्तार के साथ हुआ है। इस ग्रन्थ की रचना दोहा-चौपाई छन्दों और अवधी भाषा में हुई है। इसमें कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का विवरण आ गया है, इस कारण इसमें भागवत के माधुर्य-भाव के उपास्य कृष्ण और महाभारत के कूटनीतिज्ञ योद्धा और योगिराज कृष्ण—कृष्ण के इन दोनों परस्पर-विरोधी से लगने वाले रूपों का एक समन्वित रूप मिल जाता है। सारी कथा वर्णनात्मक शैली में, जन-सामान्य की बोलचाल की अवधी में कही गई है। इनका दृष्टिकोण ब्रजभाषा के कृष्णभक्त कवियों से भिन्न रहा है क्योंकि यह ग्रन्थ व्यास-रचित संस्कृत-महाभारत का ही पद्यबद्ध हिन्दी-अनुवाद है। गोविन्द कवि और गोपाल कवि ने भी कृष्ण-चरित सम्बन्धी कुछ रचनाएँ की थीं परन्तु इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में अधिक प्रमाण नहीं मिलते।

इनके उपरान्त अवधी-कृष्णकाव्य के रचयिताओं में चन्ददास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका समय सम्वत् १८०२ के आसपास माना जाता है। इनके लिखे

कृष्ण सम्बन्धी तीन ग्रन्थ मिलते हैं —कृष्ण विनोद, यदुवीर सुयश (भागवत दशम्-स्कन्ध), तथा भगवत गीता ज्ञान । 'कृष्ण विनोद' में देवकी-विवाह, कृष्ण-जन्म से लेकर कंस-वध तक की कथा का ६० अध्यायों में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है । इसके उपरान्त द्वारिका वासी कृष्ण के जीवन की विभिन्न प्रधान घटनाओं का वर्णन हुआ है । 'यदुवीर सुयश' श्रीमद्भागवत पुराण के आधार पर रचित ग्रन्थ है और 'भगवत गीता ज्ञान' श्रीमद्भागवत का भाषानुवाद है । इनकी भाषा में ब्रज और अवधी का मिश्रित रूप मिलता है । चन्ददास के पदों में सूर, तुलसी, मीरा, लक्षदास आदि के पदों के समान गेयता, माधुर्य और प्रसाद गुण मिलता है । रसों में शान्त और शृंगार का प्राधान्य है । सरयूराम पंडित का 'जैमिनि पुराण' नामक एक ग्रन्थ मिला है जिसमें महाभारत की घटनाओं के प्रसंग में कृष्ण का उल्लेख हुआ है । क्षेमकरन मिश्र नामक एक कवि ने अपने 'कृष्ण-चरितामृत' नामक ग्रन्थ में कृष्ण-जन्म, राधा कृष्ण विहार, बारहमासा आदि का विभिन्न छन्दों में बहुत ही सरस वर्णन किया है ।

भावन कवि (रचना-काल सम्वत् १८५१ से १८९१ तक) ने अपने 'कुबरी-विनोद' में कुब्जा द्वारा राधा और गोपियों की कटूक्तियों के मार्मिक एवं उपालम्भपूर्ण उत्तर दिलाए हैं । यह 'विष्णुपद' नामक छन्द में लिखा गया है । भाषा बैसवाड़ी है, जिस पर अवधी और ब्रजभाषा का गहरा प्रभाव रहा है । राजेन्द्र प्रसाद ने विशुद्ध अवधी में अपने ग्रन्थ 'दानलीला' में कृष्ण द्वारा गोपियों से दान माँगने की कथा का वर्णन किया है । ज्वाला प्रसाद मिश्र ने अपने 'विश्राम सागर' नामक विशाल ग्रन्थ के 'कृष्णायन' खंड में प्रौढ़ शैली में कृष्ण-कथा का वर्णन किया है । भाषा बैसवाड़ी है । कवि विसाहूराम ने अपनी रचना 'कृष्णायन' में तुलसी के 'मानस' के अनुसार कृष्ण-कथा को सात कांड—बाल, रहस्य, मथुरा, मंगल, पांडव, युद्ध, और उत्तर काण्डों में विभाजित कर, दोहा-चौपाई छन्दों में सरस वर्णन किया है । इसी पद्धति को अपनाते हुए नारायण प्रसाद मिश्र ने भी, इसी प्रकार अपने 'विश्रामसागर' के 'कृष्णायन' खंड में कृष्णकथा का सात कांडों में वर्णन किया है और श्रीलाल उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ और उसके खंडों के यही नाम रख, इसी प्रकार कृष्णकथा का वर्णन किया है ।

इस परम्परा में मध्य-प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री पंडित द्वारिका प्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' अवधी की अन्तिम रचना है । यह एक महाकाव्य है जिसमें नए युग के परिप्रेक्ष्य में कृष्णकथा का वर्णन किया गया है । वह भी 'मानस' के समान विभिन्न काण्डों में विभाजित है । 'कृष्णायन' के कृष्ण गोपीजन-वल्लभ, गोपालक, धर्म-संस्थापक और युग-प्रवर्त्तक महापुरुष हैं । राधा-कृष्ण की प्रेमकथा सामाजिक नियमों के भीतर सीमित रही है । भाषा संस्कृत-गर्भित अवधी है । वस्तुतः 'कृष्णायन' को अवधी-कृष्ण-काव्य परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जा सकता है ।

अवधी-कृष्णकाव्य के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय द्वारा कई बातें सामने आती हैं । यह सम्पूर्ण काव्य राम काव्य की शैली और मर्यादा से गहरे रूप में प्रभावित रहा

है । इन कवियों में साम्प्रदायिक आग्रह रंचमात्र भी नहीं रहा है । अनेक कवियों ने 'विश्राम सागर' नामक ग्रन्थ रचकर उन्हें तीन खंडों में विभाजित किया है—ऐतिहासायन, कृष्णायन, और रामायन । अर्थात् इन्होंने कृष्णकथा और रामकथा का समान भाव से वर्णन किया है । दोनों ही आराध्यों के प्रति इनकी पूज्य-भावना समान रही है । रामकथा के प्रभाव के कारण ब्रजभाषा के कृष्णभक्तों के चंचल, विलासी, रस-लोलुप कृष्ण अवधी के इन कवियों के काव्य में मर्यादावादी बन गए हैं । इसी कारण इस काव्य में शृंगार का अश्लील पक्ष तिरोहित रहा है । लगभग सम्पूर्ण अवधी-कृष्णकाव्य प्रबन्धात्मक रहा है जो प्रधानतः दोहा-चौपाई छन्दों में वर्णित है । इस काव्य में यद्यपि कृष्ण को आदि ब्रह्म माना गया है परन्तु उनके प्रति कवियों की सम्प्रदाय-बद्ध भक्ति-भावना नहीं रही है । यह भक्ति-भावना राम-भक्ति भावना के ही अनुरूप स्वच्छन्द, शालीन और मर्यादित है । इस प्रकार अवधी-कृष्णकाव्य हिन्दी-साहित्य का उल्लेखनीय अंश रहा है । यद्यपि इसमें तुलसी या सूर जैसे उच्च काव्यत्व के दर्शन नहीं होते, अधिकांश रचनाएँ साधारण कोटि की ही हैं, परन्तु फिर भी यह काव्य कृष्ण-चरित का एक ऐसा पक्ष प्रस्तुत करता है, जो ब्रजभाषा में वर्णित कृष्ण के चरित्र से भिन्न, मर्यादित और शालीन है, भले ही वैसा रोचक और प्रभावशाली न रहा हो ।

शृंगार काल

(सत्रहवीं से उन्नीसवीं सदी तक)

मूल वर्ण्य-विषय

इस काल में रचित काव्य का प्रधान वर्ण्य-विषय (कथ्य) शृंगार ही रहा है। इसी कारण हम शुक्लजी के समान इसे 'रीतिकाल' न कहकर 'शृंगार काल' कहना ही उचित समझते हैं। शुक्ल जी ने इस काल का नामकरण काव्य-रचना में एक पद्धति-विशेष के प्रयोग के आधार पर 'रीतिकाल' किया है। इस काल के कवियों ने भले ही लक्षण-ग्रन्थों के रूप में हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा को पल्लवित किया हो परन्तु फिर भी उनका मूल कथ्य शृंगार ही रहा है। साथ ही यह भी सत्य है कि लक्षण-ग्रन्थों की रचना करने वाले कवियों का मूल उद्देश्य—काव्य के अंगों-उपांगों का विवेचन करना ही रहा था। अलंकार, शब्द-शक्ति, रस, नायिका-भेद आदि का विवेचन करने में इनकी काव्य-प्रतिभा का प्रचुर उपयोग हुआ था। इस दृष्टि से इनका मूल वर्ण्य-विषय काव्य-शास्त्र ही माना जा सकता है। और तब 'रीतिकाल' शब्द को स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए, क्योंकि 'रीति' शब्द काव्यशास्त्र का ही पर्याय माना जाता है। परन्तु यहाँ यह बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि इस काल के समस्त कवियों ने लक्षण-ग्रन्थों की रचना नहीं की थी। उन्होंने रीतिमुक्त स्वतन्त्र काव्य का भी प्रणयन किया था। यहाँ तक कि बिहारी जैसे प्रतिभाशाली कवि ने कोई रीति-ग्रन्थ (लक्षण ग्रन्थ) नहीं लिखा था। स्वच्छन्द प्रेम-भावना के उपासक घनानन्द भी इस प्रवृत्ति से दूर रहे थे। ऐसी स्थिति में यदि हम 'रीतिकाल' नाम को स्वीकार कर लेते हैं तो इस काल की रीति से इतर रचनाएँ और उनके रचयिता उपेक्षित से रह जाते हैं। हमारा सारा ध्यान लक्षण-ग्रन्थों के रचयिताओं का विवेचन करने में ही रम जाता है। साथ ही इस काल में जो सैकड़ों प्रबन्ध-काव्य रचे गए थे, उनके साथ पूरा न्याय नहीं किया जा सकता। इसके

अतिरिक्त इस काल में रचित भक्ति, नीति, वीरता आदि विविध विषयों से सम्बन्धित साहित्य का भी उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता।

हमने काल-विभाजन का मूलाधार 'कथ्य' माना है। अर्थात् किसी भी काल का नामकरण उस काल में पाई जाने वाली सर्वप्रधान प्रवृत्ति के आधार पर हो किया जाना चाहिए। इस सम्बन्धित काल में हम जिस सर्वप्रधान प्रवृत्ति का आलेखन पाते हैं, वह निर्विवाद रूप से 'श्रृंगार' की ही प्रवृत्ति रही है। चाहे कवियों ने काव्य-शास्त्र का विवेचन किया हो, या स्वच्छन्द रूप से प्रेमाभिव्यक्ति की हो, सर्वत्र श्रृंगार की ही प्रधानता रही है। चाहे केशव, चिन्तामणि, मतिराम आदि लक्षण-ग्रन्थकार हों, या बिहारी जैसे रीतिबद्ध काव्य रचना करने वाले अथवा घनानन्द जैसे स्वच्छन्द भाव से प्रेम-भावना का निरूपण वाले—उनमें सर्वत्र श्रृंगार का ही प्राधान्य रहा है। लक्षण-ग्रन्थकारों की वृत्ति भी नायिका-भेद तथा श्रृंगार-रस के निरूपण में ही अधिक रमी है। इस प्रकार इस काल का सर्वप्रधान काव्य-स्वर श्रृंगार का ही रहा है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि इस काल में अन्य रसों या विषयों से सम्बन्धित कविता हुई ही नहीं। परन्तु कुल मिलाकर श्रृंगार को अपना उपजीव्य बनाकर काव्य-रचना करने वाले कवियों की संख्या ही, इस काल में, संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक एवं काव्य-रचना की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रही है। इसी कारण हम इस काल को 'श्रृंगार काल' कहना ही अधिक संगत समझते हैं। आचार्य शुक्ल ने भी इस सत्य को स्वीकार करते हुए 'श्रृंगार काल' नाम पर आपत्ति नहीं की है। उनका कथन द्रष्टव्य है—"वास्तव में श्रृंगार और वीर—दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता श्रृंगार की ही रही थी। इस काल को रस के विचार से कोई 'श्रृंगार काल' कहे तो कह सकता है।"

'रीति' से अभिप्राय

अभी तक इस काल को शुक्ल जी द्वारा प्रदत्त नाम 'रीतिकाल' ही अधिक प्रचलित और लोकप्रिय रहा है। इसलिए इस नाम द्वारा अभिव्यक्त होने वाले अभिप्राय को समझने के लिए हमें 'रीति' शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिए। हमारे प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने काव्य की आत्मा का अनुसन्धान करते हुए छः काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदायों की स्थापना की थी—रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, और औचित्य। विद्वानों ने इन्हीं को काव्य की आत्मा या प्रमुख तत्त्व के रूप में ग्रहण किया था। इनमें से 'रीति-सम्प्रदाय' रीति, मार्ग या शैली को ही काव्य की आत्मा मानता है। डा० भगीरथ मिश्र ने 'रीति' की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"इसके अनुसार 'रीति' विशिष्ट विलक्षण या चमत्कारिक पद-रचना है। परन्तु जब हम हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत 'रीति' शब्द का व्यवहार करते हैं, तब हमारा तात्पर्य इस प्रकार की विशिष्ट पद-रचना से नहीं होता, वरन् उपर्युक्त सभी काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर काव्यांगों के लक्षण सहित या उनके आधार पर लिखे

गए उदाहरणों से होता है। अतएव हिन्दी में 'रीति' काव्य का अपना एक विशिष्ट अर्थ है—'लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य।' सामान्य भाषा में रीति का अर्थ होता है—'प्रकार'। 'रीति' शब्द का यदि शाब्दिक अर्थ लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि 'काव्य-रचना का ढंग या प्रकार'। किन्तु हिन्दी में यह शब्द बड़े व्यापक रूप में गृहीत हुआ है। काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों की रचना की जाती है तो उसे 'रीति-ग्रन्थ', और जब उन नियमों के अनुसार काव्य-रचना की जाती है तो उसे 'रीतिकाव्य' की संज्ञा दी जाती है।"

हमारे इस विवेच्य काल में दोनों प्रकार के ग्रन्थ लिखे गए थे। काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों की रचना करने वाले ग्रन्थ, जैसे—चिन्तामणि का 'कविकुलकल्पतरु' या 'छन्द विचार'। निर्धारित काव्य-नियमों के अनुसार रचित ग्रन्थ, जैसे—बिहारी की 'सतसई'। इस काल में ऐसे ग्रन्थों की प्रचुरता देखकर ही आचार्य शुक्ल ने इस काल को 'रीतिकाल' कहना उचित समझा था।

विभिन्न नाम

हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने वाले विभिन्न विद्वानों ने इस काल को विभिन्न नामों से विभूषित किया है। मिश्रबन्धु इसे **'अलंकृत काल'** कहते हैं किन्तु इस नाम से उनका तात्पर्य अलंकरण के व्यापक अर्थ से रहा है, जिसके अन्तर्गत दशांग कविता आ जाती है। आचार्य शुक्ल इसे **'रीतिकाल'** कहते हैं। यह नाम तत्कालीन लक्षण-उदाहरण शैली की प्रमुख प्रवृत्ति को तो व्यक्त करता है परन्तु रीतिबद्ध शैली से इतर रचनाएँ इस नाम द्वारा उपेक्षित होती हैं। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे **'शृंगार काल'** कहा है। यह नाम इस युग की अधिसंख्य कृतियों को समेट कर चलने में समर्थ है। आचार्य शुक्ल को भी इस नाम से परहेज नहीं रहा था। शृंगार की प्रवृत्ति—तत्कालीन समाज और वातावरण की प्रधान और व्यापक प्रवृत्ति थी। काव्य का कोई भी अंग इससे अछूता न बचा था। डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' इसे **'कला-काल'** कहते हैं क्योंकि काव्य के कला पक्ष का जितना उत्कर्ष इस काल में हुआ उतना पहले कभी नहीं हुआ था। सम्भवतः कला-पक्ष के इस उत्कर्ष के कारण ही आचार्य शुक्ल ने इस काल को पूर्ण प्रौढ़-काव्य का युग माना था। अस्तु, इस युग में अलंकरण, रीति-शैली, कलात्मक अथवा शृंगार-भावना का प्राधान्य रहा था और इन्हीं पृथक्-पृथक् विशेषताओं के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने इसके उपर्युक्त विभिन्न नाम निर्धारित किए थे। परन्तु इन सब में शृंगार की प्रवृत्ति ही सर्वप्रधान रही थी, उसी का आधार ग्रहण कर अन्य सारी प्रवृत्तियाँ आगे बढ़ी थीं, इसी कारण हमने इसका 'शृंगार काल' नाम ही सर्वाधिक उपयुक्त और संगत माना है।

रीतिकाल की पूर्व-पीठिका

हम कृष्णभक्ति-साहित्य का मूल्यांकन करते हुए यह स्पष्ट कर आए हैं कि उसका परवर्ती शृंगार-कालीन साहित्य उत्तराधिकार में उन्हीं प्रवृत्तियों और काव्य-

रूपों को लेकर आगे बढ़ा था जो भक्ति-साहित्य में प्रसार पा चुकी थीं। वही प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप में शृंगारकालीन साहित्य में विकास पा रही थीं। लक्षण-ग्रन्थों की काव्यशास्त्रीय परम्परा, शृंगार का प्राधान्य, अतिशय अलंकरण की प्रवृत्ति, भाषा-परिष्कार, कला-पक्ष का उत्कर्ष आदि इस काल के साहित्य की प्रधान प्रवृत्तियाँ रही हैं। शुक्ल जी ने इस काल की प्रधान प्रवृत्तियाँ दो मानी हैं—काव्य-शास्त्र की और शृंगार की। इन दोनों ही प्रवृत्तियों का पर्याप्त विकास हम कृष्णभक्ति साहित्य में देख चुके हैं। भक्ति-युग में काव्यशास्त्र-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ रचे गए थे। जैसे—

कृपाराम की 'हिततरंगिणी (सं० १५९८), गंग के स्फुट पद, मोहनलाल का 'शृंगार सागर' (सं० १६१६); करनेस के 'करणाभरण', 'श्रुतिभूषण', 'भूपभूषण' (सं० १६३७); बलभद्र का नख-शिख वर्णन (सं० १६४०), रहीम का 'बरवै नायिका-भेद' (सं० १६४०), केशवदास के 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' (सं० १६५०); नन्ददास का 'रसमंजरी' आदि। इनमें रस, नायक-नायिका, अलंकार आदि का शास्त्रीय विवेचन किया गया था और शृंगार-रस के विवेचन का प्राधान्य रहा था। इस प्रकार हमें भक्तिकाल में यथेष्ट परिमाण में काव्यशास्त्रीय विवेचन मिल जाता है।

जहाँ तक शृंगार के प्राधान्य का प्रश्न है, कृष्णभक्ति-साहित्य इसके लिए एक दृढ़ आधार प्रदान कर चुका था जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और आरम्भिक कालीन हिन्दी-साहित्य में प्राप्त शृंगारिक भावना का ही विकसित रूप था। शृंगार-कालीन कवियों में हम इसी परम्परा का विकसित रूप पाते हैं। अन्तर केवल यह रहता है कि भक्तिकाल के शृंगार-वर्णन में प्राप्त तन्मयता और उदात्तता का रूप इस काल में कला-प्रदर्शन और कुछ सीमा तक संकुचित शृंगार का अतिशयोक्ति पूर्ण रूप धारण कर लेता है। इसमें हमें अपूर्व तन्मयता का अभाव और चमत्कार-प्रदर्शन की भावना का प्राधान्य मिलता है। अन्य बातों में शृंगारकालीन शृंगारिक वर्णन कृष्णभक्ति-काव्य का ही अनुवर्ती रहा है।

शृंगारकालीन काव्य में कला-पक्ष की प्रधानता रहने के कारण भाषा-परिष्कार, अतिशय अलंकरण, अलंकारों का प्रचुर प्रयोग आदि विशेषताएँ आ गई थीं। कृष्ण-भक्ति-काव्य में हम इन सम्पूर्ण विशेषताओं का अस्तित्व प्रमाणित कर आए हैं। शृंगारकालीन काव्य में हम उन्हीं का विकास होता हुआ देखते हैं।

गौण प्रवृत्तियाँ—उपर्युक्त प्रधान प्रवृत्तियों के अतिरिक्त शृंगार-काल में हम कुछ गौण प्रवृत्तियों का भी रूप देखते हैं। जैसे—भक्ति-भावना, वीर-भावना, नीति, हास्य, प्रकृति-चित्रण, प्रबन्ध-काव्य रचना आदि। इनमें से भक्ति-भावना के सम्बन्ध में तो कहना ही व्यर्थ है। यद्यपि भक्ति-भावना का इस युग में प्राधान्य नहीं रहा है, फिर भी इस युग में कुछ कवि ऐसे हुए हैं जिन्हें विशुद्ध रूपेण भक्त-कवि माना जा सकता है, जैसे—चाचा हित वृन्दावनदास, रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह, मधुसूदनदास, नवलसिंह कायस्थ आदि। इनमें राम-भक्त और कृष्ण-भक्त—दोनों रहे हैं।

भक्ति-काल में हमें वीर-भावना का अधिक स्पष्ट और प्रखर रूप नहीं मिलता। उस समय राजस्थान में ही प्रधानतः वीर-काव्य रचे गए थे। शृंगार काल में हम आरम्भिक युगीन हिन्दी के रासो-ग्रन्थों एवं भक्तिकालीन राजस्थानी वीर-काव्यों का प्रभाव भूषण, सूदन, लाल, पद्माकर आदि की रचनाओं में पाते हैं। रहीम, तुलसी आदि के नीतिपरक साहित्य का विकास गिरधर कविराय, दीनदयाल गिरि आदि की नीति-काव्य-सम्बन्धी रचनाओं में मिल जाता है। शृंगारकालीन कवियों ने प्रकृति-चित्रण की वही परम्परा अपनाई थी जो चन्द बरदाई, जायसी, तुलसी, सूर आदि द्वारा उन्हें विरासत में मिली थी। अर्थात् उद्दीपनकारी रूप में प्रकृति का चित्रण। प्रबन्ध-काव्य-रचना की आरम्भिक-कालीन एवं भक्तियुगीन परम्परा का भी इस युग में पर्याप्त विकास हुआ था। इस युग में लगभग तीन-चार सौ प्रबन्ध-काव्य लिखे गए थे जिनमें कई महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। परन्तु सामान्य धारणा यही रही है कि शृंगार काल मुक्तक-काव्य का युग था और प्रबन्ध-रचना की ओर कवियों का रुझान नहीं रहा था। परन्तु प्रबन्ध-काव्यों की उपर्युक्त विशाल संख्या यह प्रमाणित कर देती है कि इस युग में अपने पूर्ववर्ती दोनों ही युगों की प्रबन्ध और मुक्तक—दोनों परम्पराओं का पर्याप्त विकास हुआ था।

कतिपय अपवाद

परन्तु शृंगार काल में हमें कुछ ऐसे विषयों से सम्बन्धित रचनाएँ भी मिल जाती हैं जिनका पूर्वरूप हमें हिन्दी-साहित्य में नहीं मिलता। इस युग में हास्य, राजनीति, कामशास्त्र, शालिहोत्र, ज्योतिष, रमल, सामुद्रिकशास्त्र, पाक-शास्त्र, सुरापान, मैत्री, संगीतशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए थे। उपर्युक्त विषयों में से हास्य के अतिरिक्त अन्य विषयों सम्बन्धी रचनाओं को यद्यपि साहित्यिक रचनाएँ नहीं माना जा सकता परन्तु इनसे यह सिद्ध हो जाता है कि इस युग का साहित्य लोक-जीवन से कटा हुआ नहीं था। कवियों में सामाजिक जीवन से सम्बन्धित विषयों का विवेचन करने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। यह दूसरी बात है कि वे कविगण तुलसी के समान अपने उस विवेचन को उन्नत साहित्यिक परिवेश में ढाल कर प्रस्तुत नहीं कर सके थे। परन्तु यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि इस युग में केवल शृंगार ही कवियों का एकमात्र प्रिय विषय नहीं रहा था। कवि जीवन-सम्बन्धी अन्य समस्याओं को भी महत्त्व देते थे। अभी तक हमारे कतिपय आलोचकों और हिन्दी-साहित्य के लेखकों की कृपा से हम लोग यही समझते आ रहे थे कि शृंगार-कालीन साहित्य केवल शृंगार में ही सिमट कर रह गया था। यह सत्य है कि इस युग में शृंगार की प्रधानता रही है परन्तु एकमात्र वही सब कुछ नहीं रहा है। हम शृंगार के अत्यधिक प्रचार और उसकी चकाचौंध में इस युग में रचित अन्य विषयों से सम्बन्धित रचनाओं की ओर ध्यान नहीं दे सके हैं और इस युग के कवियों को शृंगार के कुत्सित, घिनौने रूप का ही चितेरा मानते आए हैं। विषय-वैविध्य की दृष्टि से यह युग अपने पूर्ववर्ती भक्ति-युग से बहुत अधिक समृद्ध रहा है। अस्तु,

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि इस युग का काव्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य का ही विकसित रूप था। परन्तु उसमें विकास-सम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर आ गया था। इसी अन्तर के कारण इसे एक पृथक् काल के रूप में स्वीकार करना पड़ा है। इसे इस प्रकार समझ लीजिए कि हमारी भक्तियुगीन आध्यात्मिक प्रवृत्ति इस नए युग की परिस्थितियों से प्रभावित हो भौतिकवादी बन गई थी, यद्यपि अध्यात्म से पूरी तरह पल्ला नहीं छुड़ा सकी थी। इसी कारण हमें विशुद्ध रूप से शृंगारी माने जाने वाले बिहारी आदि में भक्ति-सम्बन्धी आध्यामित्क उक्तियाँ यथेष्ट परिमाण में मिल जाती हैं। अन्तर केवल अनुभूति की गहनता, तन्मयता और मात्रा का ही रहा है।

परिस्थितियाँ

परिस्थितियाँ अपने युग के जन-जीवन को पूरी तरह से प्रभावित करती हैं। यथार्थपरक साहित्य में उन परिस्थितियों और उनके प्रभावों का अंकन होता है। परन्तु जो साहित्य अधिक कला-प्रिय अतः प्रदर्शन प्रिय होता है उसमें युग-जीवन को पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं मिल पाती, यद्यपि कला-प्रधान साहित्य भी प्रच्छन्न रूप से युगीन प्रभाव को अभिव्यक्त करता है। ऐसे साहित्य में कला-साधना का स्वर ही सर्वोपरि और सर्वप्रधान रहता है। हिन्दी-साहित्य का शृंगारयुगीन साहित्य प्रधानतः कला-प्रिय अतः कला-प्रधान रहा था। इसकी इसी विशेषता को लक्ष्य कर शुक्ल जी ने इस युग का सामान्य परिचय देते हुए पहला वाक्य यह लिखा था—"हिन्दी-काव्य अब पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया था।" शुक्लजी का यह वाक्य इस युग के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि शुक्ल जी साहित्य का आदर्शमूलक अर्थात् लोकहित की दृष्टि से मूल्यांकन करने वाले आलोचक थे परन्तु साथ ही साहित्य में कला के उत्कर्ष को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने में संकोच नहीं करते थे। शृंगारकालीन साहित्य के मूल्यांकन में उनके परवर्ती आलोचक इस तथ्य को नजरन्दाज कर गए हैं, इसी कारण शुक्लजी के नाम और मत की दुहाई देते हुए उन्होंने इस काल के साहित्य में मात्र शृंगारिक अश्लीलता के हीं दर्शन कर उसकी घोर अन्यायपूर्ण भर्त्सना की है। उन्हें इस काल में अश्लीलता के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नहीं दिया है। परन्तु शुक्लजी जैसी गहरी अन्तर्दृष्टि, तथ्य को पकड़ने की यथार्थपरक अद्भुत क्षमता असामान्य व्यक्तियों में ही कभी-कभी, सदियों में एक बार दिखाई पड़ती है। शुक्ल जी ने इस युग के साहित्य की कला-साधना की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और साथ ही उसकी लोक-विमुख दृष्टि की भर्त्सना भी। शुक्ल जी के इस परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिए तत्कालीन परिस्थितियों का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है, जो इस प्रकार है—

१. राजनीतिक परिस्थिति

राजनीतिक दृष्टि से शृंगार-काल शक्तिशाली मुगल-साम्राज्य के पतन और ह्रास का काल था। अकबर से लेकर शाहजहाँ तक मुगल-दरबार कला-साधना का प्रमुख केन्द्र और प्रेरणा स्रोत बना रहा था। उनके समय में साहित्य, संगीत, स्थापत्य, चित्र, वास्तु आदि विभिन्न कलाओं की पर्याप्त उन्नति हुई थी। छोटे-मोटे स्थानीय विद्रोहों को यदि महत्त्व न दिया जाय तो लगभग सम्पूर्ण देश में सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित था और ऐसा ही वातावरण कला-साधना के लिए उपयुक्त होता है। मुगल-युग में रामभक्ति, कृष्णभक्ति, निर्गुणोपासक, नीतिपरक, काव्य-शास्त्रीय आदि विभिन्न प्रकार के साहित्य का निर्माण हुआ था, तानसेन और बैजू बावरा जैसे संगीत सम्राट संगीत-साधना में निरत रहे थे, अनेक सुन्दर, भव्य इमारतों का निर्माण हुआ था, राजपूत शैली, मुगल-शैली, काँगड़ा-शैली जैसी चित्र-शैलियों का उद्भव और विकास हुआ था। परन्तु औरंगजेब की धर्मान्ध, पक्षपात पूर्ण नीति, साम्राज्य-विस्तार-लिप्सा ने देश की शान्ति को भंग कर विद्रोहों और निरन्तर चलने वाले युद्धों को जन्म दे दिया था, जिसका अन्तिम परिणाम एक ओर मराठा राज्यशक्ति के उदय और दूसरी ओर शक्तिशाली मुगल-साम्राज्य के विघटन में दिखाई पड़ा। केन्द्रीय राज्य-शक्ति के निर्बल हो जाने से हिन्दू राजा और प्रान्तीय शासक स्वतन्त्र हो गए। वस्तुतः उस युग में इन राजाओं और शासकों की वही स्थिति थी जो अंग्रेजी शासन के युग में भारतीय राजाओं की रही थी। इसकी दो विशेषताएँ थीं—निरंकुश शासन, जनता की उपेक्षा, विलासपूर्ण वातावरण और कला-साधना। दरबारों में कवि, संगीतज्ञ, अन्य गुणी जनों को आश्रय मिलता था और वे अपनी कला-प्रतिभा द्वारा अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन करते थे। यहाँ प्रतिभा द्वारा मनोरंजन करना प्रधान उद्देश्य रहता था, इसलिए इस प्रदर्शन में चमत्कार उत्पन्न करने की भावना प्रधान रहती थी। इसी कारण हमें इस युग में रचित काव्य में चमत्कार-प्रदर्शन और शृंगार के लौकिक रूप का चित्रण करने वाली प्रवृत्ति का प्राधान्य मिलता है।

परन्तु इस राजनीतिक स्थिति का एक दूसरा पक्ष भी था। जो हिन्दू राजा विलास को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य न मान, मुसलमानों के अत्याचारों का विरोध कर हिन्दू-राज्य की स्थापना का प्रयत्न कर रहे थे, उनके आश्रय में रहने वाले कविगण हिन्दू-गौरव का प्रशस्ति-गायन करते हुए अपने आश्रयदाताओं की वीरता के गान गाया करते थे। भूषण, लाल, सूदन आदि इस युग के ऐसे ही वीर रस-पूर्ण काव्य की रचना करने वाले कवि थे। इन दोनों ही प्रकार की काव्य-रचनाओं में एक समान विशेषता मिलती है—अतिशयोक्ति पूर्ण कथन की। राजनीतिक परिस्थिति ने केवल इसी रूप में इस युग के साहित्य को प्रभावित किया था।

२. सामाजिक स्थिति

राजनीतिक विघटन ने सामाजिक स्थिति को भी प्रभावित किया था।

अराजकतापूर्ण स्थिति ने सामाजिक जीवन को आक्रान्त कर रखा था। न किसान की खेती सुरक्षित थी और न व्यापारी का व्यापार। मुसलमान शासक हिन्दू जनता पर मनमाना अत्याचार करते थे। समाज का उच्च धनी, सामन्त वर्ग विलास में डूबा रहता था और सामान्य जनता शोषित और पीड़ित थी। इस स्थिति ने जनता को हताश बना दिया था। वह अन्ध-विश्वासी बन गई थी। ज्योतिष, शकुन-विचार, सामुद्रिक शास्त्र आदि पर उसका विश्वास बढ़ गया था। सम्भवतः इसी कारण इस युग के कुछ सामान्य कोटि के कवियों ने उपर्युक्त विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना की थी। सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में एक तथ्य यह उल्लेखनीय है कि इस युग के काव्य में युग का सामाजिक जीवन—सामान्य जनता का सामाजिक जीवन प्रतिबिम्बित होता हुआ नहीं मिलता। इसके कारण थे। दरबारी कवियों की काव्य-साधना दरबारी जीवन, उसकी आशा-आकांक्षाओं और रुचियों तक ही सीमित होकर रह गयी थी। वीर रस के कवि अपने आश्रयदाता वीर नरेशों के प्रशस्ति-गायन में डूबे रहते थे। घनानन्द आदि स्वच्छन्द प्रेम-भावना वाले कवि अपनी एकान्त प्रेम-साधना में मग्न रहते थे। और इस युग के सगुण-निर्गुण—दोनों रूपों के उपासक भक्तों को अपने आराध्यों से ही फुर्सत नहीं मिलती थी। केवल नीति-काव्य की रचना करने वाले कुछ कवियों के नीति-वाक्यों में सामाजिक जीवन की थोड़ी सी झलक मिल जाती है, मगर वह भी प्राचीन नीति-वाक्यों का अनुकरण मात्र है। इस प्रकार इस युग का काव्य, इस अर्थ में, लोक-जीवन से कटा हुआ दिखाई पड़ता है।

३. धार्मिक परिस्थिति

धार्मिक स्थिति की दृष्टि से इस युग को 'पतन का काल' माना जा सकता है। भक्ति-युग में जिन गहन, उदात्त धार्मिक भावनाओं का उत्कर्ष दिखाई पड़ा था, उन सब में घुन लग गया था। रामभक्ति रसिक-सम्प्रदाय के मायाजाल में उलझ घोर विलासमयी बन गई थी। कृष्ण-भक्ति की भी यही परिणति हुई थी। निर्गुण-सम्प्रदाय के भक्त सम्प्रदाय-स्थापना के चक्कर में पड़ भौतिक-साधन जुटाने में लगे रहते थे। इस युग के सूफी-कवियों का शृंगार-वर्णन अतिशय स्थूल हो गया था। वस्तुतः ये विभिन्न भक्ति-सम्प्रदाय जनता के मार्ग-दर्शन की क्षमता खो, बाह्य प्रदर्शन के साधन बन गए थे। परन्तु इस युग में हमें एक विशेषता मिलती है। रात-दिन शृंगार-साधना में डूबे रहने वाले कवि भी कहीं-कहीं वैराग्य भावना से आक्रान्त हो भक्ति और वैराग्य की बातें कहते दिखाई पड़ते हैं। इसे अतिशय मानसिक विलास की प्रतिक्रिया ही समझना चाहिए।

४ साहित्यिक परिस्थितियाँ

इस युग का साहित्य—विलासपूर्ण, अतिशय अलंकरण-प्रधान, चमत्कार और बाह्य-प्रदर्शन की दरबारी-भावना से प्रभावित साहित्य था। राज-दरबारों के संरक्षण में रहने वाले कवियों की रचनाओं में इन्हीं प्रवृत्तियों का प्राधान्य मिलता

है । वीरता की भावना से सम्बन्धित साहित्य में भी हमें बाह्य-प्रदर्शन और अतिशयोक्ति पूर्ण कथनों की ही प्रधानता मिलती है । इस युग का भक्ति-साहित्य भी आन्तरिक अनुभूतियों के स्थान पर बाह्य-प्रदर्शन का ही अधिक प्रेमी रहा है । शृंगार इस युग के काव्य का प्रधान स्वर माना जा सकता है । परन्तु शृंगार के चित्रण में भी अनुभूति की वह गहनता, विरह की वह हृदय-स्पर्शी तड़प और तन्मय कर देने वाली उस स्वस्थ, मांसलता का रूप नहीं मिलता जो कृष्ण-भक्ति काव्य की विशेशता रही थी । यह अन्तर केवल परिमाण का ही माना जा सकता है । यह सब कुछ होते हुए भी इस युग का काव्य भाव और कला—दोनों ही पक्षों की दृष्टि से समृद्धि की ओर अग्रसर होता रहा था । काव्य और भाषा का नियमन और परिष्कार करने के लिए काव्य-शास्त्र का विवेचन किया गया । यह प्रवृत्ति इस युग की एक प्रधान प्रवृत्ति थी । यह सिद्ध करती है कि इस युग के अनेक कवियों का ध्यान काव्य को एक सुव्यवस्थित, शुद्ध, कलात्मक रूप प्रदान करने की ओर गया था । आधुनिक उन्नत आलोचना-शास्त्र की तुलना में जब हम उसका मूल्यांकन करने का प्रयत्न करते हैं तो हमें उन कवियों का वह प्रयास अपूर्ण और बचकाना सा प्रतीत होता है, परन्तु उस युग में उसका अपना महत्त्व था । उनके इस प्रयास का ही यह परिणाम रहा था कि इस युग में काव्य के कला-पक्ष का उल्लेखनीय उत्कर्ष हुआ था । इस दृष्टि से इस युग के कवि हमारे अभिनन्दनीय हैं । घनानन्द आदि के काव्य में भाव और कला का सुन्दर समन्वयजनित उत्कर्ष मिलता है । काव्य-सौन्दर्य की परिपूर्णता की दृष्टि से घनानन्द का काव्य एक अनुपम उदाहरण है । उसमें भावना की अपूर्व तन्मयता की कला का पूर्ण निखार है ।

अतः संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि इस युग के कवियों की कला-दृष्टि अत्यन्त जागरूक थी । वे काव्य की समस्याओं को समझते थे और उन्हें सुलझाने के लिए काव्य-रचना करते थे । सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में हमें इस युग के साहित्य में ही इस प्रवृत्ति का इस स्पष्ट, उद्देश्यपूर्ण रूप में विकास और सम्वर्द्धन होता हुआ पहली बार दिखाई पड़ता है । जो युग साहित्य-समस्याओं का सुचारु विवेचन करने की सामर्थ्य रखता है । जो युग में काव्य-कला का उन्नत विकास होना एक सहज सम्भाव्य सत्य बन जाता है । यही कारण है कि इस युग का साहित्य काव्योत्कर्ष, काव्य-सौन्दर्य, भाषा-परिष्कार, सुरुचिपूर्ण काव्य-दृष्टि, अनुभूति की गहनता आदि की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध और उन्नत रहा है । परन्तु इस युग का दुर्भाग्य यह रहा है कि अधिकांश आलोचकों की दृष्टि इस युग के काव्य में वर्णित शृंगार तक ही सीमित होकर रह गई है, इसी कारण वे इस काव्य की इस उपलब्धि का मूल्यांकन नहीं कर सके हैं । अस्तु,

शृंगार-कालीन काव्य की प्रधान और सामान्य प्रवृत्तियाँ

हम गत पृष्ठों में इस युग की पूर्व-पीठिका का विश्लेषण करते हुए इस युग की

प्रधान प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय दे आए हैं। यहाँ हम उन्हें पुनः विस्तार के साथ देखने का प्रयत्न करेंगे। पुनरावृत्ति से बचने के लिए हम यहाँ उन प्रवृत्तियों का प्रकाशन करने वाले साहित्य और उसके रचयिताओं का भी परिचय देते हुए आगे बढ़ेंगे। इस युग के साहित्य की प्रधान और सामान्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार मानी जा सकती हैं—

(१) लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण, (२) लौकिक शृंगार की व्यंजना, (३) कला-पक्ष की प्रधानता, (४) प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण, (५) मुक्तक काव्य-रचना, (६) भक्ति-भावना, (७) वीर-काव्य का प्रणयन, (८) प्रबन्ध-काव्य रचना, (९) नीति-काव्य रचना।

लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण

यद्यपि भक्ति-काल में लक्षण-ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हो गई थी परन्तु वे शृंगार के नख-शिख, नायक-नायिका-भेद-निरूपण तक ही सीमित रहे थे। उनमें काव्यशास्त्र के अन्य पक्षों का विवेचन नहीं किया गया था। काव्यशास्त्र के अन्य अंगों का बहुत ही कम विवेचन हुआ था। परन्तु शृंगार युग के आरम्भ से ही काव्य-शास्त्र शृंगार के संकुचित क्षेत्र को भी साथ ले अन्य काव्यशास्त्रीय समस्याओं का विवेचन करने की ओर अग्रसर हुआ। उसमें रस, रीति, अलंकार, छन्द, शब्द-शक्ति आदि का विस्तृत विवेचन किया गया। इस युग के आरम्भ तक संस्कृत का काव्य-शास्त्र अपनी पूर्ण प्रौढ़ावस्था को पहुँच चुका था। इस युग के कवियों द्वारा काव्य-शास्त्र को एक विषय के रूप में अपना लेने से यह प्रमाणित हो जाता है कि ये कवि-गण संस्कृत काव्यशास्त्र का गम्भीर अध्ययन करते थे और उससे प्रभावित थे। उन्होंने संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्राप्त विवचना के आधार पर ही हिन्दी काव्यशास्त्र का निर्माण करने का प्रयत्न किया था। भामह, उद्भट, आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ आदि के ग्रन्थ उनके आधार और प्रेरणा-स्रोत रहे थे।

आचार्य केशवदास के दो ग्रन्थ इस काव्यशास्त्रीय-परम्परा के आदि ग्रन्थ माने जा सकते हैं—'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया'। केशव ने 'कविप्रिया' में अलंकारों का विवेचन किया है और 'रसिक प्रिया' में रस-सिद्धान्त के सभी अंगों और भेदों का। इस प्रकार केशव काव्य में 'अलंकार' और 'रस'—दोनों का समान महत्त्व मानते हैं।

केशव सम्बन्धी दो विवाद—आचार्य केशव को लेकर हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों में दो विवाद रहे हैं—एक प्रधान और दूसरा गौण। गौण विवाद यह रहा है कि काल-क्रमानुसार केशव की गणना भक्तिकाल के अन्तर्गत होनी चाहिए, न कि शृंगार-काल के अन्तर्गत। यह तर्क ठीक है। परन्तु हम केशव को शृंगार-काल के अन्तर्गत इस कारण सम्मिलित करने के आग्रही हैं कि हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थों की सुव्यवस्थित, काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों का स्पर्श करने वाली परम्परा का प्रणयन

उन्हीं के द्वारा किया गया था। और उनकी इस परम्परा का विकास भी हुआ था। इसलिए वस्तुतः शृंगारकाल अर्थात् शुक्लजी के रीतिकाल का आरम्भ केशव से ही मानना चाहिए। जब केशव के ५० वर्ष उपरान्त चिन्तामणि से रीतिकाल का आरम्भ माना जा सकता है तो चिन्तामणि से ५० वर्ष पूर्व केशव से मान लेने में कौन-सी बाधा आ सकती है। यहाँ यह तथ्य विचारणीय है कि मध्ययुगीन साहित्य में हम प्रधान प्रवृत्तियों को एकाएक परिवर्तित होते हुए नहीं देखते। इसलिए उस काल के विवेचन में ५० वर्ष का अन्तर कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।

केशव सम्बन्धी दूसरा विवाद यह है कि शुक्लजी के 'रीतिकाल' का प्रवर्त्तक किसे माना जाय—केशव को या चिन्तामणि को? शुक्ल जी चिन्तामणि को काव्य-शास्त्रीय लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा का प्रवर्त्तक मानते हैं और केशव को इस परम्परा का आदि आचार्य। उनका तर्क है कि केशव ने संस्कृत काव्यशास्त्र के अलंकारवादी आचार्यों, भामह, उद्भट—दंडी आदि की मान्यताओं को स्वीकार किया था, न कि परवर्ती रसवादी आचार्यों आनन्द वर्धन, मम्मट, और विश्वनाथ की रसवादी परम्परा को। शुक्ल जी इस सम्बन्ध में आगे यह तर्क देते हैं कि केशव की अलंकारवादी परम्परा का उनके परवर्ती कवियों द्वारा अनुगमन नहीं किया गया। इसके विपरीत अनुगमन उस रसवादी परम्परा का किया गया, जो केशल से ५० वर्ष बाद चिन्तामणि द्वारा स्थापित की गई थी। अतः चिन्तामणि को ही रीतिकाव्य-परम्परा का प्रवर्त्तक मानना चाहिए, न कि केशव को। क्योंकि प्रवर्त्तक उसे ही माना जाता है जिसके द्वारा स्थापित परम्परा का परवर्ती कवियों द्वारा अनुगमन किया जाय।

परन्तु हम पीछे देख आए हैं कि केशव ने रस और अलंकार—दोनों को महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने 'कविप्रिया' में अलंकारों का विवेचन करते हुए अलंकारों को काव्य के लिए अनिवार्य माना है। और 'रसिक प्रिया' में रस-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए विभिन्न रसों के सोदाहरण लक्षण दिए हैं। इस प्रकार यह कहना गलत है कि केशव मात्र अलंकारवादी थे। हाँ, अलंकारों के प्रति उनका विशेष झुकाव अवश्य रहा था। परन्तु काव्य में अलंकारों का स्थान और महत्त्व तो इस काल के सभी कवियों ने स्वीकार किया है। तत्सम्बन्धी चिन्तामणि का एक दोहा द्रष्टव्य है—

'सगुन अलंकारन सहित, दोष-रहित जो होइ।
शब्द अर्थ वारौ कवित, बिबुध कहत सब कोइ॥'

केशव ने अलंकारों को आभूषणों के समान सौन्दर्यवर्द्धक माना है, न कि उन्हें ही काव्य मान लिया है। भिखारीदास भी रस को कविता का अंग और अलंकारों को आभूषण मानते हैं। इसलिए केशव पर यह लांछन लगाना अनुचित है कि केशव मात्र अलंकारवादी थे। इसके अतिरिक्त केशव ने 'रसिक प्रिया' में जो रस-विवेचन, नायक-नायिका-भेद आदि का विश्लेषण किया है वह मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' और विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' के अनुसार ही किया है। वस्तुतः केशव के प्रति, उन्हें

मात्र अलंकारवादी घोषित करने का यह अन्याय इसलिए हो गया था कि शुक्ल जी आदि ने उनका मूल्याङ्कन केवल 'कविप्रिया' के आधार पर ही किया था। यदि वे 'रसिक प्रिया' का भी सुचारु अध्ययन करते तो ऐसी भ्रान्त धारणा के शिकार न बन पाते।

शुक्ल जी का इस सम्बन्ध में दूसरा तर्क यह है कि केशवदास द्वारा प्रवर्त्तित लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा का आगे विकास न हो सका। परन्तु यह कथन भी गलत है। केशव और चिन्तामणि के बीच के समय में अनेक लक्षण-ग्रन्थ लिखे गए थे, जो यह सिद्ध करते हैं कि केशव द्वारा आरम्भ की गई लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा बीच में खंडित नहीं हुई थी। ये लक्षण-ग्रन्थ निम्नलिखित थे—बालकृष्ण कृत 'रस चन्द्रिका' (सं० १६५७); मुबारक कृत 'अलक शतक' और 'तिल शतक' (सं० १६७०); व्रजपति भट्ट कृत 'रंगभाव माधुरी' (सं० १६८०); सुन्दर कृत 'सुन्दर शृंगार' (सं० १६८८); क्षेमराज कृत 'फतेह प्रकाश' (सं० १६८५); तोष कवि कृत 'सुधानिधि' (सं०१६९१); जसवन्त सिंह कृत 'भाषा भूषण' आदि।

केशव ने लक्षण-पद्धति की यह प्रणाली अपनाई थी कि पहले एक दोहे या छन्द-विशेष में लक्षण लिखा था और उसके बाद अलग से उसका उदाहरण दिया था। इस परम्परा के कुछ परवर्ती कवियों ने एक ही छन्द में लक्षण और उदाहरण—दोनों एक साथ देने की शैली को अपनाया था। यह भेद कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं है। अतः केशव को रीति-काव्य परम्परा का आदि आचार्य और प्रवर्त्तक मानने में संकोच नहीं होना चाहिए।

केशव परवर्ती लक्षण-ग्रन्थ परम्परा—हिन्दी रीतिकाव्य के लक्षण-ग्रन्थ रचयिताओं में केशव के उपरान्त **चिन्तामणि** का नाम महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने संस्कृत काव्य-शास्त्र की भरत मुनि, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों द्वारा स्थापित और समर्थित रसवादी परम्परा का अनुसरण करते हुए अत्यन्त सरल रूप में काव्यशास्त्र की व्याख्या की। आचार्य शुक्ल के अनुसार लक्षणकारों में चिन्तामणि से बढ़कर सुगम, स्पष्ट और रमणीय लक्षण देने वाला और दूसरा कोई आचार्य नहीं हुआ। इनके प्राप्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में—'पिंगल', 'रस मंजरी', 'शृंगार मंजरी', 'कविकुल कल्पतरु', 'काव्य विवेक', 'काव्य प्रकाश' और 'छन्द विचार' आदि प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों के शीर्षक यह सिद्ध कर देते हैं कि चिन्तामणि ने काव्य के लगभग सभी प्रधान अंगों का विवेचन किया था।

चिन्तामणि के भाई **भूषण** और **मतिराम** ने भी इस परम्परा को विकसित करने में पर्याप्त योग दिया था। भूषण वैसे तो वीर रस के कवि थे परन्तु युग की परम्परा और प्रवाह से प्रभावित हो उन्हें भी लक्षण-ग्रन्थ लिखने पड़े। इनका 'शिवराज भूषण' लक्षण-ग्रन्थ ही है। इसमें दोहों में लक्षण देकर उनके उदाहरण कवित्त

और सवैयों में दिए गए हैं। 'शिवा बावनी' में भी उनका झुकाव अलंकारों की ओर ही अधिक रहा है। भूषण ने काव्यांगों में केवल अलंकारों को ही लिया है। रस, शब्द-शक्ति, नायिका-भेद आदि उपेक्षित रहे हैं। संक्षेप में, भूषण के लक्षण-ग्रन्थ अव्यवस्थित और गड़बड़ी से भरे हुए हैं। उनके लक्षणों की तुलना में उदाहरण अधिक सुन्दर हैं। वस्तुतः इस परम्परा में भूषण का उल्लेखनीय महत्त्व नहीं माना जा सकता। **मतिराम** इस परम्परा के महत्त्वपूर्ण कवि माने जाते हैं। इनके 'छन्दसार', 'ललित-ललाम', 'रसराज', 'साहित्यसार', 'लक्षण श्रृंगार'—इस परम्परा के ही ग्रन्थ हैं। इनमें से 'रसराज' और 'ललित-ललाम' काव्य-प्रेमियों में अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं। इनमें क्रमशः रस और अलंकारों का विवेचन किया गया है। इनके लक्षण और उदाहरण—दोनों ही स्पष्ट और सरस हैं। यही सरसता और स्पष्टता—इनकी लोकप्रियता का कारण रही है। आचार्य शुक्ल के अनुसार—"रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़कर और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती। भावों की मनोरम सुकुमारता में मतिराम अद्वितीय हैं।"

इनके उपरान्त प्रसिद्ध लक्षणकारों में **कुलपति**, **सुखदेव** और **देव** की गणना की जाती है। इस काल की प्रथम अर्द्ध-शताब्दी में यही तीन महत्त्वपूर्ण लक्षणकार हुए हैं। **कुलपति** ने मम्मट के 'काव्य प्रकाश' के आधार पर 'रस रहस्य' नामक ग्रन्थ लिखकर ध्वनि का विवेचन किया। पद्य में शास्त्रीय-विवेचन कठिन होता है, यह अनुभव कर इन्होंने कहीं-कहीं ब्रजभाषा-गद्य का भी प्रयोग किया, परन्तु यह गद्य परिमार्जित नहीं था इसलिए इस ग्रन्थ का अपेक्षित प्रभाव न पड़ सका। वस्तुतः 'रस-रहस्य' 'काव्य प्रकाश' का छायानुवाद है। इसलिए शब्दशक्ति और भावादि निरूपण में इन्होंने लक्षण और उदाहरण—दोनों 'काव्य-प्रकाश' से ही लिए हैं, परन्तु अलंकारों के उदाहरण देते समय अपने आश्रयदाता महाराज रामसिंह की प्रशंसा में स्वरचित छन्द रखे हैं। **सुखदेव** ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें छन्दों और रसों का विवेचन किया गया है। 'वृत्त विचार', 'छन्द विचार', 'रसार्णव', 'फाजिल-अली प्रकाश', 'श्रृंगार लता' आदि इनके ऐसे ही ग्रन्थ हैं। ये संस्कृत के प्रकांड विद्वान् और हिन्दी के प्रौढ़ कवि थे। इनके श्रृंगार रस के उदाहरण बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। **देव** ने वैसे तो लगभग ७२ ग्रन्थ लिखे थे परन्तु 'भाव-विलास', 'रस-विलास, 'काव्य रसायन या शब्द-रसायन' आदि ग्रन्थों में नायिका-भेद, पिंगल शास्त्र, रस, अलंकार शब्द-शक्ति आदि का विवेचन किया गया है। इस काल के लक्षणकारों में देव का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इनके विवेचन में विचार की स्पष्टता, वर्गीकरण की मौलिकता और उदाहरणों की रमणीयता द्रष्टव्य है। इनके लक्षणों से इनके उदाहरण अधिक मौलिक, सरस, मार्मिक और स्पष्ट बन पड़े हैं। इन्हें शब्द-शक्ति का मर्मज्ञ माना जाता है। शब्द और वर्णों का सन्तुलन कर, उनकी भावानुकूल गति की व्यवस्था करना—देव की उल्लेखनीय विशेषता है। डा० श्यामसुन्दरदास ने देव को पांडित्य

की दृष्टि से आचार्य केशव से कुछ ही न्यून स्वीकार कर उनकी काव्य-प्रतिभा की प्रशंसा की है ।

उपर्युक्त लक्षणकारों के उपरान्त बिहारी, कालिदास, सूरति मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ आदि इस परम्परा के महत्त्वपूर्ण लक्षणकार माने गए हैं । इनमें से **बिहारी** की स्थिति सबसे भिन्न रही है । इन्होंने कोई लक्षण-ग्रन्थ नहीं लिखा है, परन्तु फिर भी इनकी गणना लक्षणकारों में की जाती है । इनका 'बिहारी सतसई' लक्षण रहित रीतिग्रन्थ माना जाता है । इसमें लक्षण तो नहीं दिए गए मगर लगभग सभी पद्धतियों के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं । अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के बड़े सरस और सुन्दर उदाहरण—इनके इस ग्रन्थ में भरे पड़े हैं । बिहारी के उपरान्त रीति-काव्य का खूब विस्तार हुआ । **कालिदास** ने 'वारवधू विनोद' नामक नखशिख-वर्णन और नायिका-भेद सम्बन्धी एक ग्रन्थ लिखा । कालिदास का महत्त्व अन्य कवियों की रचनाओं का संग्रह करने के कारण ही माना जाता है । इन्होंने अपने 'कालिदास-हजारा' में एक हजार कवियों की रचनाओं का संग्रह किया है । यद्यपि इसमें काव्य-शास्त्र का विवेचन नहीं किया गया है परन्तु इस प्रकार के संग्रहों को भी काव्य-शास्त्र का ही एक अंग मानना चाहिए । **सूरति मिश्र** ने 'अलंकार माला', 'रसरत्न माला', 'सरस रस', 'रस ग्राहक चन्द्रिका', 'नखशिख', 'काव्य सिद्धान्त', 'रस रत्नाकर' आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखकर इस परम्परा को आगे बढ़ाया था । 'काव्य-सिद्धान्त' में काव्यशास्त्र के सभी अंगों का सुन्दर और अधिकारपूर्ण विवेचन किया गया है । इन्होंने अलंकारों के उदाहरण और लक्षण प्रायः एक ही दोहे में रख दिए हैं । **श्रीपति** की प्रसिद्धि उनके रीतिग्रन्थ 'काव्य सरोज' पर ही आधारित है । इसमें काव्य-स्वरूप, काव्य-कारण, प्रयोजन, दोष-गुण, अलंकार आदि का विवेचन किया गया है । इस परम्परा के श्रीपति पहले आचार्य हैं जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती केशव आदि की रचनाओं के दोषों का विवेचन किया है । इससे इनके विचार-स्वातंत्र्य और साहित्यिक विषयों का सम्यक् और स्पष्ट बोध प्रकट होता है । आचार्य शुक्ल ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—" 'काव्य सरोज' बहुत ही प्रौढ़ ग्रन्थ है । काव्यांगों का निरूपण जिस स्पष्टता के साथ इन्होंने किया है, उससे इनकी स्वच्छ बुद्धि का परिचय मिलता है । यदि गद्य में व्याख्या की परिपाटी चल गई होती तो आचार्य्यत्त्व ये और भी अधिक पूर्णता के साथ प्रदर्शित कर सकते ।" **सोमनाथ** ने 'रस पीयूष निधि' नामक एक विशाल रीति-ग्रन्थ लिखा था, जिसमें काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला गया है । ये व्यंग्य को ही काव्य का प्राण मानते हैं । इन्होंने पद्य में लक्षण देकर गद्य में उनकी व्याख्या की है । कुलपति और सोमनाथ द्वारा ब्रजभाषा गद्य में विवेचन करने से यह ज्ञात होता है कि उस युग के कवि काव्यशास्त्र का विस्तृत विवेचन करने के अभिलाषी तो थे परन्तु ब्रजभाषा गद्य परिमार्जित नहीं था, इस कारण उनका यह प्रयास सफल नहीं हो सका ।

काव्यशास्त्रीय परम्परा के अन्तिम प्रतिनिधि लक्षणकार—भिखारीदास और पद्माकर को रीतिकाव्य-परम्परा का अन्तिम प्रसिद्ध लक्षण-ग्रन्थकार माना जा सकता है। भिखारीदास ने, जो 'दास' या 'दास जी' के नाम से प्रसिद्ध हैं, 'रस सारांश', 'छन्दोर्णव पिंगल', 'काव्य निर्णय', 'शृंगार निर्णय', 'काव्य निर्माण', 'छन्द प्रकाश' आदि रीति-ग्रन्थों की रचना की थी। आचार्यत्त्व की दृष्टि से इनकी काफी चर्चा की जाती है। इनकी प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण—इनके द्वारा किया गया काव्यांगों का निरूपण ही रहा है। ये काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ और काव्य-प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इनका विवेचन स्पष्ट और वैज्ञानिक रहा है। इन्होंने रस, अलंकार, छन्द, रीति, गुण, दोष, शब्द-शक्ति आदि सभी का विवेचन किया है। कतिपय नवीन प्रसंगों, जैसे—अलंकारों का वर्गीकरण, काव्य-भाषा और तुक आदि पर इन्होंने मौलिक रूप से प्रकाश डाला है। संस्कृत में अन्त्यानुप्रास या तुक का प्रचलन नहीं था, इसलिए संस्कृत काव्य शास्त्र में उस पर विचार नहीं किया गया है, परन्तु हिन्दी में तुक का प्रचलन आरम्भ से ही मिलता है, अतः भिखारीदास ने इसका विवेचन कर यह सिद्ध कर दिया था कि उनमें नए विषयों की उद्‌भावना करने की मौलिकता थी। इसके साथ ही उन्होंने काव्यभाषा के स्वरूप का भी विवेचन किया। **पद्माकर** रीति-परम्परा के अन्तिम प्रतिभा-सम्पन्न प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। इनके 'पद्माभरण' और 'जगद्विनोद' इसी परम्परा के ग्रन्थ हैं। वर्ण-साम्य और शब्द-मैत्री—इनकी विशेषता है। 'पद्माभरण' अलंकार ग्रन्थ है और 'जगद्विनोद' में शृंगार रस का सांगोपांग विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त इस युग में अन्य अनेक ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने रीति-ग्रन्थों का निर्माण किया था; जैसे—बेनी कवि (नवरस तरंग), मंडन (रस-रत्नवली, रस विलास), राम (शृंगार सौरभ), श्रीधर या मुरलीधर (नायिका-भेद, चित्रकाव्य), कवीन्द्र उदयनाथ (रस चन्द्रोदय), वीर (कृष्ण चन्द्रिका), रसिक सुमति (अलंकार चन्द्रोदय), गंजन (कमरुद्दीन खाँ हुलास), भूपति (कंठाभूषण, रस-रत्नाकर), दलपतिराय और बंसीधर (अलंकार रत्नाकर), रसलीन (रस प्रबोध), रघुनाथ (रसिक मोहन, काव्य कलाधर), दूलह (कविकुल कंठाभरण), कुमारमणि भट्ट (रसिक रसाल), शम्भुनाथ मिश्र (रस कल्लोल, रस तरंगिणी, अलंकार दीपक), ऋषि-नाथ (अलंकार मणि मंजरी), बैरीसाल (भाषाभरण), दत्त (लालित्य लता), रतन कवि (फतेह भूषण), हरिनाथ (अलंकार दर्पण), मनीराम मिश्र (छन्द छप्पनी), चन्दन (शृंगार सागर, काव्याभरण, कल्लोल तरंगिणी), देवकीनन्दन (अवधूत भूषण, सरफराज-चन्द्रिका, शृंगार चरित्र), महाराज रामसिंह (अलंकार दर्पण, रस निवास, रस-विनोद), भान कवि (नरेन्द्र भूषन), थान कवि (दलेल प्रकाश), बेनी बन्दीजन (रस-विलास, टिकैतराय प्रकाश), बेनी प्रवीन (नवरस तरंग, नानाराव प्रकाश), जसवन्त-सिंह द्वितीय (शृंगार शिरोमणि), यशोदानन्दन (बरवै नायिका-भेद), करन कवि (साहित्य रस, रस कल्लोल), गुरदीन पाँडे (बाग मनोहर), ब्रह्म प्रकाश (दीप प्रकाश),

ग्वाल कवि (रसिकानन्द, रस तरंग, दूषण दर्पण, कृष्ण जू को नख-शिख), प्रतापसाहि (व्यंग्यार्थ कौमुदी, काव्य विलास, शृंगार मंजरी, अलंकार चिन्तामणि, काव्य-विनोद), रसिक गोविन्द (रसिक गोविन्दानन्दघन, रसिक गोविन्द, पिंगल)—आदि ।

रीति-ग्रन्थों के प्रणेता कवियों और उनकी रचनाओं की उपर्युक्त तालिका यह सिद्ध कर देती है कि इस युग में रीति-ग्रन्थों का प्रचुर परिमाण में प्रणयन हुआ था । इसी प्रचुरता को लक्ष्य कर शुक्ल जी ने इस युग का नाम 'रीतिकाल' रखा था । इस युग के बहुसंख्य कवियों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने शृंगार तथा अन्य विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ लिखते हुए भी लक्षण-ग्रन्थ लिखे हैं ।

लक्षण-काव्य परम्परा का मूल्यांकन

लक्षण-ग्रन्थों की विशाल संख्या यह सिद्ध करती है कि इस युग के जागरूक कवि काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन कर, साहित्य का नियमन करने के अभिलाषी थे । उनसे पूर्व यथेष्ट समृद्ध काव्य का निर्माण किया जा चुका था । ये कवि उसके गुण-दोषों का विवेचन करते थे । परन्तु इनके सम्मुख सबसे बड़ी कठिनाई—गद्य का अभाव था । विवेचन गद्य में ही सुचारु रूप से सम्भव हो सकता है । कुछ कवियों ने इस विवेचन के लिए ब्रजभाषा गद्य का उपयोग किया था परन्तु ब्रजभाषा गद्य अपरिमार्जित था, इसलिए इनका यह प्रयोग सफल न हो सका । यदि उस युग में खड़ीबोली गद्य का विकास हो गया होता तो इसमें सन्देह नहीं कि ये कवि अत्यन्त सशक्त काव्यशास्त्र का प्रणयन करने में समर्थ होते । क्योंकि इनका माध्यम ब्रजभाषा पद्य ही रहा, इसलिए इन्हें उसकी सीमा में ही बँधकर चलना पड़ा । इसका परिणाम यह निकला कि इनके विवेचन में वह विस्तार, वह तर्कपूर्ण विवेचन न आ सका जो संस्कृत-काव्यशास्त्र में मिलता है, क्योंकि संस्कृत के आचार्यों के पास विवेचन के लिए गद्य का आधार था । इस युग के कवियों की इसी मजबूरी को अच्छी तरह से न समझ पाने के कारण ही आलोचकों की यह धारणा बन गई है कि इन कवियों ने एक साथ ही आचार्य और कवि—दोनों का कार्य सम्पादन करने की चेष्टा की परन्तु वे कवि का दायित्व तो अच्छी तरह निभा ले गए, मगर आचार्यत्व की कसौटी पर खरे न उतर सके ।

आचार्य शुक्ल ने इन कवियों की इस मजबूरी को समझते हुए भी उन पर यह लाँछन लगा दिया कि इन कवियों की गणना आचार्य-कोटि में नहीं की जा सकती । तत्सम्बन्धी आचार्य शुक्ल के दोनों वक्तव्य इस प्रकार हैं—

"संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य–दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे । हिन्दी-काव्यक्षेत्र में यह भेद लुप्त सा हो गया । इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा । आचार्य्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्य्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है, उसका विकास नहीं हुआ । कवि लोग एक दोहे में अपर्य्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जाते थे । काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन-

मंडन, नए-नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस युग में गद्य का विकास नहीं हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था, वह पद्य में ही लिखा जाता था। पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा या उस पर तर्क-वितर्क नहीं हो सकता। इस अवस्था में 'चन्द्रालोक' की यह पद्धति ही सुगम दिखाई पड़ी कि एक श्लोक या एक चरण में ही लक्षण कहकर छुट्टी ली।"

यहाँ शुक्ल जी इन कवियों की मजबूरी को समझ रहे हैं परन्तु साथ ही यह निष्कर्ष भी निकालते हैं कि—"उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थ की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए वे आचार्य्य-कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे। उनमें आचार्य्यत्व के गुण नहीं थे। उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्य-शास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ हैं।····यह सब लिखने का अभिप्राय यहाँ केवल इतना ही है कि यह न समझा जाय कि रीतिकाल के भीतर साहित्य-शास्त्र पर गम्भीर और विस्तृत विवेचन तथा नई-नई बातों की उद्‌भावना होती रही।"

यह तो किसी ने भी नहीं कहा कि इस युग मे साहित्य-शास्त्र की गम्भीर विवेचना हुई थी। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि इस युग में सर्वप्रथम काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों और समस्याओं पर विचार किया गया था। इसके पूर्व रचे गए लक्षण-ग्रन्थ नायिका-भेद, शृंगार रस और अधिक से अधिक छन्द-विचार तक ही सीमित रहे थे। इस युग के कवियों ने इस सीमित काव्यशास्त्र को विस्तार दिया था। उन्होंने पहली बार रस, अलंकार, छन्द, ध्वनि, रीति, शब्द-शक्ति, गुण, दोष आदि साहित्यांगों का विवेचन किया था। शुक्ल जी ने यह भी कहा है कि इन कवियों ने श्रव्य काव्य का तो विवेचन किया परन्तु दृश्य-काव्य का स्पर्श तक नहीं किया। परन्तु जब उस समय तक हिन्दी में नाटक लिखे ही नहीं गए थे तो ये कवि लक्ष्य-ग्रन्थों के अभाव में उनका विवेचन कहाँ से और कैसे कर देते। इसलिए इन कवियों को इन्हीं उथले कारणों के आधार पर आचार्य न स्वीकार करना असंगत है। क्या एक ही साथ आचार्य और कवि होना बुरी या असम्भव बात है? शुक्ल जी काव्यशास्त्र के प्रकांड पंडित और आचार्य थे, और साथ ही कवि भी थे और जैसे सफल कवि थे, इसे सभी जानते हैं। डा० रामविलास शर्मा भी प्रकांड आलोचक होने के कारण आचार्य पद के पूर्ण अधिकारी हैं, यद्यपि अभी तक उन्हें किसी ने भी आचार्य नहीं कहा है, परन्तु साथ ही कवि भी हैं। लोक में यह कहावत प्रचलित है कि असफल कवि आलोचक अर्थात् आचार्य बन जाता है। परन्तु शृंगार युग के कवि—सफल कवि और कुछ सीमा तक आचार्य—दोनों ही थे।

कोई भी विधा या परम्परा एकाएक उन्नत और समृद्ध नहीं हो जाती। इसमें काफी समय लगता है। संस्कृत काव्यशास्त्र को पूर्णता प्राप्त करने में हजारों सदियाँ लगी थीं। इसलिए हमें संस्कृत काव्यशास्त्र की उस पूर्ण, प्रौढ़, उन्नत परम्परा से

इस काल के कवियों की तुलना नहीं करनी चाहिए। यह हिन्दी काव्यशास्त्र के जन्म और शैशव का युग था। इसको जन्म देने और दुलराने वाले साहित्यिक मँजे हुए कवि और चिन्तक भी थे। उन्होंने अपनी शक्ति और सीमा के अनुसार काव्य-शास्त्र का विवेचन किया था। तर्कपूर्ण विवेचन के लिए उनके पास गद्य का सशक्त माध्यम नहीं था। इसीलिए वे अपनी सीमित परिधि में ही विवेचन करते रहे। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उनमें मौलिक विवेचन की सामर्थ्य नहीं थी। दास जी ने अन्त्यानुप्रास (तुक) का विवेचन कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया था इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से इन कवियों का महत्त्व स्वीकार करना ही पड़ेगा। उनका विवेचन करते समय यह समस्या गौण हो उठती है कि वे आचार्य थे या केवल कवि ?

चार प्रकार के लक्षण-ग्रन्थ

इस युग का हिन्दी काव्य-शास्त्र मूलतः संस्कृत काव्यशास्त्र का ही अनुगामी रहा है। इस काल के पूर्व तक संस्कृत काव्यशास्त्र विवेचना के स्थान पर पूर्व स्थापित सिद्धान्तों का प्रचार करने में व्यस्त रहा था। भानुदत्त की 'रस मंजरी और 'रस-तरंगिणी' तथा जयदेव (गीतिगोविन्दकार जयदेव नहीं) के 'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' नामक काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ी। और इन ग्रन्थों ने शृंगार कालीन हिन्दी के लक्षणकारों को खूब प्रभावित किया था। इन ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए इस काल में चार प्रकार के हिन्दी लक्षण-ग्रन्थ लिखे गए—

(१) **सम्पूर्ण काव्यांगों का विवेचन करने वाले ग्रन्थ**—इस प्रकार के ग्रन्थों में भिखारीदास का 'काव्य निर्णय' नामक ग्रन्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसमें काव्य के लक्षण, शब्द-शक्ति, गुण-दोष, रस, भाव, ध्वनि, अन्त्यानुप्रास की समस्या आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस पर मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' और विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' जैसे ग्रन्थों का प्रभाव माना जाता है।

(२) **रसों का विवेचन करने वाले ग्रन्थ**—इस प्रकार के ग्रन्थों में यद्यपि विवेचन तो सभी रसों का किया गया है परन्तु प्रधानता शृंगार रस की ही रही है। इस विवेचन में रसों के आलम्बन-उद्दीपन विभाव, स्थायी और संचारी भाव आदि के लक्षण और उदाहरण दिए जाते रहे हैं। कुछ कवियो ने तो केवल शृंगार रस का ही विवेचन कर छुट्टी पा ली है। केशव की 'रसिक प्रिया', तोष कवि का 'सुधानिधि' कुलपति का 'रस रहस्य', सुखदेव मिश्र का 'रसार्णव आदि ग्रन्थ इसी कोटि के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनका आधार भानुदत्त की 'रस तरंगिणी' रही है।

(३) **नायक-नायिका भेद-सम्बन्धी ग्रन्थ**—इन ग्रन्थों में शृंगार रस के आलम्बनों के सूक्ष्म भेदोपभेदों के साथ विभिन्न प्रकार के नायक-नायिकाओं के लक्षण और उदाहरण दिए जाते रहे हैं। यह विषय उस युग के कवियों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा था। चिन्तामणि की 'शृंगार मंजरी,' देव का 'सुखसागर तरंग', 'जाति-

विलास', भिखारीदास का 'शृंगार निर्णय' आदि ग्रन्थ इस कोटि के प्रसिद्ध ग्रन्थ रहे हैं। इन पर भानुदत्त की 'रस मंजरी' का प्रभाव माना जाता है।

(४) **अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थ**—इन ग्रन्थों में केवल अलंकारों का ही लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन किया गया है। जयदेव का 'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द'—इन ग्रन्थों के आधार रहे हैं। जसवन्तसिंह का 'भाषा भूषण', मतिराम का 'ललित-ललाम' इस कोटि के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।[1]

इस युग में कुछ ग्रन्थ केवल छन्दों पर भी लिखे गए थे, जिनमें हिन्दी और संस्कृत के विभिन्न छन्दों का लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन किया गया है।

परम्परा का भावी विकास न होने के कारण

यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि जब इस युग में काव्यशास्त्रीय विवेचन की परम्परा आरम्भ हो गई थी तो उसका विकास क्यों न हो सका? हमें हिन्दी के आधुनिक आलोचना-शास्त्र में आधुनिक-युग के प्रथम चरण (भारतेन्दु युग) तक शृंगार-युगीन काव्य-शास्त्र का प्रभाव दिखाई पड़ता है परन्तु हिन्दी का आधुनिक आलोचना-शास्त्र एक नितान्त भिन्न रूप लेकर आगे बढ़ा है, जिसमें संस्कृत-काव्यशास्त्र और पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र का गहरा प्रभाव और समन्वित रूप रहा है। नवीन विधाओं के उदय ने भी उसके रूप को प्रभावित और परिवर्तित किया है। परन्तु फिर भी आधुनिक कालीन आरम्भिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में लक्षण-उदाहरणों के जो रूप मिलते हैं वह शृंगार युगीन कवियों से ही उद्धृत किए गए हैं। गद्य का सशक्त माध्यम उपलब्ध हो जाने के कारण भी आधुनिक युग का आलोचना-शास्त्र अपने पूर्ववर्ती आलोचना-शास्त्र से भिन्न और अधिक समृद्ध बन गया है।

लौकिक शृंगार की व्यंजना

मूल-स्रोत

शृंगार-कालीन साहित्य का सर्वप्रधान स्वर 'लौकिक शृंगार' का रहा है। भक्तिकाल में भी शृंगार की व्यंजना प्रधान रूप से रही थी परन्तु उस पर अध्यात्म का आवरण चढ़ा हुआ था। यद्यपि शृंगार-कालीन शृंगार-भावना कृष्ण-भक्ति-साहित्य से ही विकसित हुई थी परन्तु इन दोनों कालों की शृंगार-भावना के स्रोत भिन्न रहे थे। भक्ति-काव्य संस्कृत के धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य से प्रभावित था जबकि परवर्ती शृंगार-काव्य संस्कृत, प्राकृत के लौकिक साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर आगे बढ़ा था। इस युग की शृंगार-भावना के विकास में भक्ति-काव्य का इतना ही योग रहा था कि भक्ति-काव्य ने एक ओर तो यह उदाहरण प्रस्तुत कर दिया था

---

१. **उपर्युक्त विवेचन डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'हिन्दी-साहित्य' पर आधारित है।**

कि भक्ति के आवरण में लौकिक श्रृंगार की उन्मुक्त, स्वस्थ, मांसल व्यंजना ग्राह्य हो सकती है । और साथ ही कृष्ण और राधा जैसे अहर्निशि रस-केलि में मग्न रहने वाले नायक-नायिका भी अपने उत्तराधिकारियों को सौंप दिए थे । श्रृंगार-कालीन कवियों ने इन दोनों विरासतों का भरपूर उपयोग किया था । उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में नायिकाओं के सूक्ष्म वर्गीकरण पर आधारित श्रृंगारिक चेष्टाओं को व्यक्त करने वाली परिपाटी आरम्भ हो गई थी । कृष्णभक्त कवियों ने नायिका-भेद का निरूपण उसी के आधार पर किया था और वहीं से यह प्रभाव श्रृंगारयुगीन कवियों तक उतर आया । इस युग के कवियों ने इस दाय को तो ग्रहण किया ही था; साथ ही अपने स्वाध्याय द्वारा प्राचीन ग्रन्थों से भी पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की थी । प्राकृत के 'गाहा सत्तसई' (गाथा सप्तशती), भर्तृहरि के 'श्रृंगार शतक', जयदेव के 'गीत गोविन्द' तथा वात्स्यायन के 'कामसूत्र' आदि ग्रन्थों का इन कवियों पर गहरा प्रभाव रहा है । 'गाथा सप्तशती' और 'आर्या सप्तशती' के अनेक श्लोकों का भाव इस युग के कवियों की रचनाओं में यथावत् उतर आया है । विद्यापति की 'पदावली' का भी इन पर काफी प्रभाव पड़ा है । नायक-नायिका भेद, रति-क्रीड़ा, विरह-वर्णन, ऋतु चित्रण आदि के जो रूप इस युग के काव्य में मिलते हैं वे इसके पूर्ववर्ती साहित्यों में भी इसी रूप में उपलब्ध होते हैं । इसलिए यह कहना आंशिक सत्य ही कहलायेगा कि इन लोगों ने एकमात्र श्रृंगारपरक कृष्णभक्ति-काव्य से श्रृंगार काव्य-रचना की प्रेरणा ग्रहण की थी । परन्तु यह भी सत्य है कि कृष्णभक्तों ने श्रृंगार के उन्मुक्त चित्रण के लिए इनकी झिझक को बहुत कुछ दूर करने में ऐतिहासिक योग प्रदान किया था । समष्टि रूप से इस युग की लौकिक श्रृंगार चेतना और उसकी व्यंजना के तीन प्रधान स्रोत माने जा सकते हैं—

(१) संस्कृत का स्तोत्र-साहित्य, जयदेव-विद्यापति की श्रृंगारपरक रचनाएँ, और कृष्ण-भक्त कवियों का उन्मुक्त श्रृंगार चित्रण; (२) प्राकृत और संस्कृत का सप्तशती साहित्य; तथा (३) वात्स्यायन का कामसूत्र ।

और इन सबसे प्रधान कारण या स्रोत उस युग के उच्चवर्ग, आश्रयदाताओं आदि की मनोरंजन प्रिय विलासी वृत्ति रही थी । यदि ये लोग मनोरंजन प्रिय और विलासी न होते तो कवियों को प्रधान रूप से श्रृंगारपरक साहित्य-रचना की प्रेरणा न मिलती ।

परिवर्तित और भिन्न उद्देश्य

भक्ति-काव्य को छोड़, प्राकृत-संस्कृत के लौकिक साहित्य में श्रृंगार की जो व्यंजना हुई थी वह स्वस्थ, मांसल और यथार्थ थी । परन्तु कालान्तर में जब इस श्रृंगार-भावना ने भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश किया तो उसे भक्ति या अध्यात्म के नाम पर जन-ग्राह्य बनाने का प्रयत्न आरम्भ हो गया । जयदेव ने विलास कला-कौतूहल के मधुर आवरण में हरि-स्मरण को लोकप्रिय बनाने की घोषणा की थी—

'यदि हरि स्मरणे सरस मनो, यदि विलास कला सुकुतूहलम् ।
मधुर कोमलकान्त पदावली, शृणतदा जयदेव सरस्वतीम् ।।'

विद्यापति ने राधा-कृष्ण को नायिका और नायक बना इस आवरण को हटाने का प्रयत्न किया था, यद्यपि कुछ लोग मात्र राधा-कृष्ण का नाम होने के कारण ही विद्यापति को कृष्ण-भक्त सिद्ध करने का भरसक प्रयत्न करते रहे हैं । हमारे शृंगार-कालीन कवि राधा-कृष्ण के मोहक-रसिक रूप के आकर्षण में तो फँसे हुए थे परन्तु उनके माध्यम से अपनी शृंगार-भावना की अभिव्यक्ति करने में उन्हें संकोच होता था । इसी कारण एक तरफ तो उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रति अपना भक्ति-भाव प्रदर्शित किया और दूसरी ओर उन्हीं के माध्यम से अपनी शृंगार-भावना की उन्मुक्त अभिव्यक्ति करने लगे । ये लोग एक ही ढेले से दो चिड़ियों का शिकार करना चाहते थे और साथ ही इतने ईमानदार थे कि अपने इस द्विमुखी उद्देश्य को छिपाना भी नहीं चाहते थे । भिखारीदास ने अपने काव्य के सम्बन्ध में स्पष्ट घोषणा कर दी थी—

'आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई ।
नतु राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानो है ।।'

द्विजदेव की भी यही भावना रही थी—

'रसिक रीझिहैं जानि, तौ ह्वै है कविताई सफल ।
नतरु सदा सुखदानि, श्री राधिका हरि को सुजस है ।।'

शृंगार की व्यापक प्रवृत्ति

इस युग के काव्य का प्रधान कथ्य शृंगार रहा है । शृंगार का भी रूढ़ रूप ही अधिक ग्राह्य रहा है । चाहे रीतिबद्ध कवि रहे हों या रीतिमुक्त—सब ने शृंगार का एक-सा ही रूढ़िबद्ध चित्रण किया है, जिसकी परम्परा संस्कृत के शृंगार-साहित्य और हिन्दी के भक्ति-साहित्य में पहले से ही स्थापित हो चुकी थी । इसी कारण शृंगार का रूप स्थूल ही अधिक रहा । रूप-सौन्दर्य के चित्रण में भावों के स्थान पर अंगों-उपांगों का मोहक चित्रण ही प्रमुख स्थान पाता रहा । संयोग और वियोग—शृंगार के दोनों पक्षों में शारीरिक सौन्दर्य और कृशता का ही प्राधान्य बना रहा । केवल घनानन्द जैसे स्वच्छन्द प्रेम के चितेरों ने मानसिक भावों का उत्कर्ष भी प्रदर्शित किया । स्वतंत्र रूप से शृंगार का वर्णन करने वाले कवियों ने तो शृंगार को अपना मूल कथ्य बनाया ही था, काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों में भी शृंगार का स्वर ही सर्वप्रधान रहा । अन्य रसों की तुलना में शृंगार रस के विस्तृत विवेचन की ओर ही कवियों की अधिक रुचि रही ।

कला का आलम्बन नारी बन गई

इस युग में कला वासना-पूर्ति का साधन बन गई । नारी का सांगोपांग

चित्रण कलाकारों का आदर्श बना। भक्तिकाल में सृष्टि की मूल भावना 'रति' को जीवन के व्यावहारिक पक्ष से अलग कर अलौकिक पुरुष के प्रति समर्पित कर दिया था। उनके लिए रति मुक्ति का साधन थी। उसका आधार आध्यात्मिक था। परन्तु शृंगार युग की रति उस उच्च काल्पनिक स्तर से नीचे यथार्थ भूमि पर उतर भक्ति के छद्मवेशी आवरण को दूर फेंक यथार्थवादिनी बन गई थी। शृंगारी कवि इस रति की साधना को ही जीवन का और मुक्ति का एकमात्र साधन मानने लगे थे। जैसे—

'चमक-तमक, हाँसी ससक, यमक झपक लटकानि।
ए जिहि रति, सो रति मुकति, और मुकति सब हानि ॥'

और इस 'रति मुकति' के लिए इन लोगों ने राधा-कृष्ण की मनहर, सरस, रस-केलि जोड़ी को अपना नायक-नायिका बना लिया। उन्हें उपयुक्त रस के लिए उपयुक्त माध्यम मिल गए थे और फिर इन माध्यमों द्वारा उन्होंने शृंगार रस की जैसी उद्दाम, त्वरितगामिनी, मादक धारा बहाई वह सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में अनुपम और अनन्य है। नारी के प्रति इन कवियों की अनन्य आसक्ति थी। इन्होंने नारी की 'आँख मूँदिवो' खेलने की आयु से लेकर उसके निस्संकोच 'बालम सों दृग' जोड़ने तक की परिस्थितियों का, नख-शिख वर्णन के साथ, सांगोपांग चित्रण किया।

एक भ्रान्ति का निवारण

साहित्य में शृंगार के इस व्यापक चित्रण को हमारे कुछ आलोचकों ने भक्ति-साहित्य मे प्राप्त नारी के प्रति अत्यधिक उपेक्षापूर्ण और अपमानजनक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया माना है—उसी प्रकार जैसे कि वह आधुनिक छायावाद के मूल में द्विवेदी-युगीन स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह या प्रतिक्रिया मानते हैं। मनोविज्ञान द्वारा प्रदत्त इस 'प्रतिक्रिया' शब्द को लेकर लोगों ने अनेक भ्रान्तियों की सृष्टि कर डाली है। भक्तिकाव्य में से केवल सन्त-काव्य में नारी के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण रहा है। और सन्त-काव्य तथा शृंगार-काव्य में २०० वर्षों का अन्तर था। सगुण मार्गी भक्ति-काव्य में नारी प्रतिष्ठा का आलम्बन रही है। कृष्णभक्ति-काव्य में तो राधा की उपासना अत्यन्त प्रमुख स्थान प्राप्त कर चुकी थी। समस्त सगुण भक्ति-काव्य में युगल-विग्रह—राम-सीता और कृष्ण-राधा की ही उपासना का विधान था। कृष्णभक्ति-काव्य में शृंगार की अबाध सरिता प्रवाहित हुई थी। परन्तु कुछ आलोचकों ने इस सत्य को न समझ कर ऐसे फतवे दिए थे—"इस अत्यधिक आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया के रूप में शृंगार-साहित्य इन्द्रियों की पुकार है।"—(डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय)। डा० रामकुमार वर्मा, डा० सत्येन्द्र आदि ने भी शृंगार-साहित्य को ऐसी ही प्रतिक्रिया का परिणाम माना है। परन्तु यह दृष्टिकोण नितान्त भ्रान्त है। वस्तुतः शृंगार-काव्य भक्तिकाव्य के अलौकिक के आवरण में प्रस्तुत लौकिक शृंगार का ही अधिक विकसित और यथार्थ रूप था। इन शृंगारी कवियों ने अपने पुरखों से—चन्द

बरदाई से लेकर सूर-नन्ददास जैसे पुरखों से शृंगार की जो विरासत पाई थी, उसी का सम्वर्द्धन किया था। और उसकी अतिशयता का कारण बना था—उस युग का सामन्ती विलासपूर्ण वातावरण।

कतिपय लांछनों का विश्लेषण

इस शृंगार-चित्रण में शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—का विस्तृत विविध-रूपा चित्रण हुआ है। साथ ही नख-शिख, नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन, बारहमासा आदि शृंगार का कोई भी उपांग अछूता या अपूर्ण नहीं रहा है। कला-उत्कर्ष की दृष्टि से यह समस्त चित्रण अत्यन्त कलापूर्ण, सांगोपांग, प्रभावशाली रहा है। संयोग का चित्रण करते समय इन कवियों ने सुरति, सुरतान्त, विपरीत रति आदि का स्पष्ट परन्तु कलात्मक वर्णन किया है। और ऐसे वर्णनों को देखकर अनेक नीतिवादी आलोचकों ने इन पर अश्लील-साहित्य-निर्माण का लांछन लगा दिया है। विपरीत रति को लेकर तो कुछ लोगों ने इन वर्णनों को घिनौना और अस्वाभाविक तक घोषित कर दिया है। सम्भवतः ऐसे आलोचकों ने सूर, नन्ददास, हित हरिवंश आदि उत्कट कृष्ण-भक्तों का संयोग-वर्णन नहीं पढ़ा है। यदि वे उस वर्णन को पढ़ लेते तो बिहारी, देव आदि पर ऐसा अन्यायपूर्ण लांछन लगाने का साहस न कर पाते। इस सम्बन्ध में हम केवल इतना ही कहना अलम् समझते हैं।

शृंगारी कवियों पर दूसरा लांछन यह लगाया गया है कि इन लोगों ने नारी की कोमलता, विरह-जनित कृशता, रूप-सौन्दर्य के प्रभाव आदि का अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। इस लांछन में भी आंशिक सत्य है। उनके पूर्वज-कवि उनके सम्मुख ऐसे उदाहरण प्रस्तुत कर चुके थे। यदि बिहारी की नायिका के 'आनन ओप उजास' से नित्यप्रति 'पूनौं' ही बनी रहती है तो नन्ददास की 'रूपमंजरी' के सौन्दर्य से समस्त राजभवन आलोकित बना रहता है और वहाँ सन्ध्या समय दीपक जलाने की जरूरत ही नहीं पड़ती—

'ता भूपन कै भवन कोऊ, दीप न बारत साँझ।
बिन ही दीपहि दीप जिमि, दिपय कुँवरि घर माँझ॥'

—रास पंचाध्यायी, पृ० १२०

बिहारी की नायिका का विरह-ताप इतना दाहक हो उठा है कि जाड़ों की रात में भी उसकी सखियाँ गीले वस्त्र धारण कर ही उसके पास जाने का साहस कर पाती हैं—

'आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेह बस, सखी सबै ढिग जात॥'

गंग कवि की राधिका का विरह-ताप तो इतना दाहक है कि वह जल, कीचड़ आदि सबको भस्म किए डाल रहा है—

'बैठी थी सखिन संग, पिय के गवन सुन्यो,
सुख के समूह में वियोग अग्नि भरकी ।
गंग कहै त्रिविध सुगंध लै पवन बह्यो,
लागत ही ताके तन भई बिथा जर की ।
प्यारी को परसि पौन गयौ मानसर कहँ ।
लागत ही औरै गति भई मानसर की ।
जलचर जरे और सेवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो, पंक सूख्यो, भूमि दरकी ।'

अब तुलना कर लीजिए कि किसकी नायिका का विरह-ताप अधिक था ! हमारे प्रेमाख्यानक सूफी कवि रूप-वर्णन, शारीरिक कोमलता, विरह-ताप के विश्वव्यापी दाहक प्रभाव आदि का अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन बहुत पहले कर चुके थे । वस्तुतः इनकी तुलना में शृंगारी कवियों के इस प्रकार के वर्णनों को अतिशयोक्ति-पूर्ण या अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता । हाँ, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इस वर्णन पर फारसी-काव्य की ऊहात्मक-पद्धति का भी गहरा प्रभाव रहा है । वस्तुतः यह सारा वर्णन रीतिबद्ध रूढ़ वर्णन है । इसमें हमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं मिलती । हिन्दी के प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के वर्णन आरम्भिक काल से ही होते आए हैं ।

चमत्कार-प्रदर्शन की भावना का प्राधान्य

शृंगार-साहित्य की एक उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि इस काव्य के रचयिता अधिकांशतः दरबारी कवि रहे थे इसलिए उनमें चमत्कार-प्रदर्शन की भावना का प्राधान्य रहा है । ये कवि साधारण-सी-साधारण बात को भी इतने चमत्कारपूर्ण ढंग से कहते थे कि उसे सुनकर उनके आश्रयदाता तथा दरबारी गण चमत्कृत हो उठते थे और उससे उनका मनोरंजन होता था । इन कवियों का यह प्रयास रहता था कि बात को ऐसे ढंग से प्रस्तुत करें कि सुनने वाले एकबारगी स्तब्ध होकर रह जायें । और जब इनके आश्रयदाता इनके काव्य-पाठ से प्रसन्न होते थे तो इन्हें पुरस्कार रूप में धन-धान्य की प्राप्ति होती थी । बिहारी के एक-एक दोहे पर उन्हें एक-एक सोने की अशर्फी मिली थी । अब्दुर्रहीम खानखाना ने गंग के एक छन्द पर विभोर हो उन्हें छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे । शृंगारी कवियों की जीविका का साधन उनका काव्य-सृजन ही था । उनकी इस मजबूरी को हमें सहानुभूति की दृष्टि से देखना चाहिए । परन्तु इस चमत्कार-प्रदर्शन की भावना ने साहित्य को कितना मार्जित, कलात्मक रूप प्रदान किया था, भाषा की व्यंजना-शक्ति को कितना आगे बढ़ाया था, अलंकारों की कैसी मोहिनी छटा प्रदर्शित की थी, इस बात को अधिकांश आलोचक या तो भूल गए हैं या जान-बूझकर इस उपलब्धि की उपेक्षा कर गए हैं ।

शृंगार-काव्य की इन विशेषताओं और उपलब्धियों को न समझ पाने के

कारण ही कुछ आलोचक कहे जाने वाले महानुभावों ने इस काव्य के रचयिताओं के सम्बन्ध में जैसी अनर्गल टिप्पणियाँ की हैं, उनके कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं—

"इस काल के कवियों को गुण्डेपन और शोहदेपन की हरकतों के अतिरिक्त और कुछ बड़ी मुश्किल से सूझता था।"
—मार्कण्डेय वाजपेयी

"सभी की प्रतिभा केवल कच-कुच-कटाक्षों तक सीमित रही।····(इसका) अधिकांश है कवितावद्ध कोकशास्त्र और महाघृणित रूप में लिखा हुआ।"
—पं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र

इन शृंगारी कवियों ने यद्यपि राधा-कृष्ण को लौकिक नायिका-नायक के रूप में अधिक चित्रित किया है परन्तु साथ ही वे यह कहीं भी नहीं भूलते कि राधाकृष्ण उनके आराध्य हैं। इसलिए उनके प्रति भक्ति-भावना भी प्रच्छन्न-भाव से रहती है। डा० द्विवेदी ने इसी सत्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"अत्यन्त शृंगारी रचनाओं के बन्ध भी राधा-कृष्ण की लीला के प्रति श्रद्धा और भक्ति-भाव का ध्यान अवश्य रखते हैं।" यह वक्तव्य उन लोगों की आँखें खोल देने के लिए पर्याप्त है जिन्हें इस शृंगार में कलुषित वासना के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नहीं देता।

प्रेम के उदात्त रूप का अंकन

इस काल में कुछ ऐसे भी प्रतिभा-सम्पन्न कवि हुए हैं, जिनके काव्य में प्रेम की उदात्त और गहन अनुभूति का रूप मिलता है। इन्हें हम जायसी आदि प्रेमाख्यानक रचयिताओं की कोटि और पद्धति का कवि मानते हैं। इनमें घनानन्द, आलम, बोधा आदि प्रमुख हैं। इनकी प्रेमभावना सूफी कवियों की पद्धति की ही रही है जिसमें संयोग की अपेक्षा वियोग का प्राधान्य मिलता है। वस्तुतः ये स्वयं प्रेम में चोट खाए हुए विरह-विदग्ध कवि थे। इसी कारण इनकी स्वानुभूति में विरह-विदग्ध हृदय की मार्मिक तड़प, प्रियतमा के प्रति अनन्य, एकनिष्ठ अनुराग, दैन्य, कातरता आदि भावनाओं का अत्यन्त प्रभावशाली और हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। इनके काव्य में शारीरिक कृशता, उसका ऊहात्मक वर्णन, आदि की अपेक्षा मानसिक भाव-दशाओं का ही अधिक प्रकाशन हुआ है। इन्हें रीति-मुक्त कवि कहा जाता है। अर्थात् इन्होंने रीति-काव्य की बँधी-बँधाई परिपाटी के अनुसार प्रेम का चित्रण न कर, स्वच्छन्द रूप से अपनी प्रेमानुभूति को अभिव्यक्त किया है। इनका प्रधान स्वर विरह का ही रहा है जिसमें भक्त-कवियों की सी उदात्त, विश्वव्यापी विरहानुभूति के दर्शन होते हैं। इसी कारण कुछ लोगों ने घनानन्द की प्रेयसी सुजान को कृष्ण मान इन्हें भक्त-कवि सिद्ध करने का प्रयास किया है। एक बार चर्चा चलने पर स्वर्गीय डा० रांगेय राघव ने कहा था कि उन्हें घनानन्द के कवित्तों का एक ऐसा संग्रह मिला है जिसमें संयोग-शृंगार का वर्णन अश्लीलता की सीमा का स्पर्श करने लगता है। परन्तु अभी तक घनानन्द का जो साहित्य उपलब्ध हो सका है, उसके आधार पर इन्हें विरहानुभूति का अंकन करने वाला हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कोटि का कवि माना जा सकता है। भाषा

और कलापक्ष की दृष्टि से तो शुक्ल जी ने घनानन्द को व्रजभाषा का सर्वश्रेष्ठ कवि माना ही है।

कला-पक्ष की प्रधानता

अतिशय अलंकरण की प्रवृत्ति

इस काल के काव्य में अलंकरण की प्रधानता देखकर ही डा० रसाल ने इसे 'अलंकृत काल' कहना अधिक उचित समझा है। अलंकरण इस काव्य की एक प्रधान विशेषता रही है। भाषा-परिष्कार, अलंकारों का सार्थक मनोरम उपयोग, संक्षेप में बहुत अधिक कहने की प्रवृत्ति, बात को सीधे न कहकर चमत्कारपूर्ण ढंग से कहना, जीवन के आकर्षक और मनोरम प्रसंगों की ही व्यंजना करना, वाग्वैदग्ध्य, काव्य-नियमों के परिपालन के प्रति सचेत रहना आदि बातों ने इस काव्य को कला-पक्ष की दृष्टि से अत्यन्त समृद्धिशाली बना दिया है। वस्तुतः इस काव्य में भावना की सुकुमारता, अनुभूति की सत्यता और गहनता एवं कल्पना की मौलिकता की अपेक्षा उक्ति की वक्र-व्यंजना पर ही अधिक बल दिया गया। कवियों की दृष्टि काव्य की आत्मा 'रस' की अपेक्षा अभिव्यक्ति की मनोरमता के प्रति ही अधिक रही। अलंकारों का प्राधान्य रहा। बिहारी के एक-एक दोहे में अनेक चमत्कारपूर्ण अलंकारों का उत्कर्ष मिलता है। अलंकरण ही इस प्रधानता के मूल में दरबारी प्रभाव कार्य कर रहा था। वहाँ उक्ति-वैचित्र्य के प्रदर्शन द्वारा ही सम्मान और धन प्राप्त करने की सम्भावना रहती थी। अलंकारों की इस अतिशयता को देख कुछ लोगों ने यह कहा है कि ये अलंकार कविता-कामिनी के सौन्दर्य के विघातक बन गए थे, परन्तु यह कहना स्वयं अतिशयोक्तिपूर्ण है। क्योंकि ये अलङ्कार भाषा में व्यंजना-ध्वनि और शब्द-शक्तियों के उत्कर्ष-विधायक बनकर उस युग के काव्य को एक अत्यन्त भव्य और कलात्मक स्वरूप प्रदान करने में सहायक रहे हैं। आचार्य शुक्ल ने बिहारी को 'कल्पना की समाहार शक्ति' और 'भाषा की समास शक्ति' का आचार्य माना है। और अलंकारों ने इसमें पर्याप्त सहायता पहुँचाई है। बिहारी की 'असंगति' और 'विरोधाभास' की उक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी हैं।

भाषा—इस युग में भाषा-सौन्दर्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ दिखाई पड़ता है। आचार्य शुक्ल ने इस काल के कवियों पर भाषा में मिश्रण करने एवं व्याकरण के नियमों की अवहेलना करने का दोष लगाया है। भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द अपना लेने से उसकी अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ती ही है, घटती नहीं। कवि स्वभाव से मनमौजी होते हैं इसलिए उनसे व्याकरण के नियमों के पूर्ण पालन की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। शब्दों की तोड़-मरोड़ तो हमेशा से होती आई है। इसे बहुत बड़ा दोष नहीं माना जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि इस काल का सा भाषा-परिष्करण और सौन्दर्य छायावादी काव्य के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ ही है। भाषा में कोमल-कान्त पदावली, अलंकारों का रम्य, सार्थक प्रयोग; मुहावरे, कहावतों आदि का

सुन्दर और प्रचुर प्रयोग जैसा इस काल में हुआ, उसकी हल्की सी झलक कृष्णभक्ति-काव्य में ही मिली थी। यह उसी का विकसित और अधिक परिमार्जित रूप था। बेनी प्रवीन, घनानन्द, बिहारी, देव, दास, मतिराम, पद्माकर आदि ने भाषा का जो मनोरम और संगठित रूप प्रस्तुत किया, वह स्पृहणीय है। घनानन्द के भाषा-सौन्दर्य पर तो शुक्लजी मुग्ध हो उठे थे। उन्हें भाषा पर घनानन्द का सा अचूक अधिकार अन्य किसी भी में कवि नहीं दिखाई पड़ा था। इसी कारण उन्होंने घनानन्द की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—"घनानन्द जी उन विरले कवियों में हैं, जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इनको थी।"

इस युग की भाषा की अद्‌भुत अभिव्यंजना-शक्ति और सौन्दर्य का उद्‌घाटन करने के लिए घनानन्द का एक सवैया द्रष्टव्य है। यह सवैया यह सिद्ध कर देगा कि इस युग की भाषा कितनी समर्थ, सुन्दर और प्रभावशाली थी :—

"प्रेम सदा अति ऊँचौ लहै, सुकहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनि कै सबैके मन लालच दौरे, पै बोरे लखैं सब बुद्धि चकी।
जग की कविताई के धोखे रहैं, ह्याँ प्रवीननि की मति जाति जकी।
समुझै कविता घनआनन्द की, हिय आँखिन प्रेम की पीर तकी।'

उपर्युक्त सवैया की प्रत्येक पंक्ति का एक-एक शब्द मँजा हुआ है—प्रत्येक पंक्ति दो-दो, तीन-तीन मुहावरों से सज्जित और प्रवाहपूर्ण है। भाषा की यह कलात्मकता उस युग के अनेक कवियों की विशेषता रही है। बिहारी और देव की शब्द-शक्ति की सभी धाक मानते हैं। भाषा के वास्तविक तत्त्व अथवा प्राण—उसके मुहावरों को पहचानने तथा उनका सफल, सार्थक प्रयोग करने में इस काल के कवि जितने सचेत रहे हैं, उतने आधुनिक कवि भी नहीं रहे। एक आलोचक के शब्दों में—"भाषा का लालित्य उसकी अभिव्यंजना-शक्ति, उसका उत्पादन, उसकी स्वाभाविक संगीतात्मकता आदि का सुखद संयोग उस युग मे हुआ, उसकी ब्रजभाषा माधुरी और उसकी लोकप्रियता में चार चाँद लग गए।"

एक स्पष्टीकरण

वस्तुतः आधुनिक काल के प्रथम चरण (भारतेन्दु-युग) तक शृंगार-काव्य जनता में अत्यधिक लोकप्रिय रहा था और उसने उस काल की कविता को बहुत गहरे रूप से प्रभावित किया था। परन्तु खड़ीबोली-गद्य के उत्कर्ष के साथ ही खड़ीबोली और ब्रजभाषा की प्रतिद्वन्द्विता का श्रीगणेश भी इसी युग में हो चुका था, जिसकी चरम परिणति द्विवेदी युग में जाकर दिखाई पड़ी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि विशुद्ध उपयोगितावादी दृष्टि के साहित्यकार और आलोचक थे। उन्होंने उपयोगिता की दृष्टि से खड़ीबोली का समर्थन और ब्रजभाषा का विरोध किया।

क्योंकि इस काल की कविता पर शृंगार युगीन ब्रजभाषा-काव्य का ही अधिक प्रभाव था, इसलिए इन्होंने ब्रजभाषा के प्रति कवियों के मोह और आकर्षण को दूर करने के लिए शृंगार-काव्य का डटकर विरोध किया। यह इस विरोध का एक पक्ष था। दूसरे पक्ष का आरम्भ द्विवेदी-युगीन अतिशय नैतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण हुआ। इसके अनुसार प्रेम और शृंगार की—लौकिक प्रेम और शृंगार की बातें कहना साहित्यिक अपराध घोषित कर दिया गया। इस अतिनैतिकतावाद ने काव्य-सौन्दर्य की हत्या कर उसे नीरस, रूखा और उपदेश-प्रधान बना दिया। द्विवेदी जी के समय तक शृंगार काव्य जनता में बहुत लोकप्रिय रहा था। आलोचक भी बिहारी और देव की विवेचना करने में व्यस्त रहते थे। परन्तु द्विवेदी जी के व्यापक, प्रचण्ड, युग परिवर्तन-कारी व्यक्तित्व और साहित्यिक प्रभाव ने जनता में शृंगार-काव्य के प्रति एक उपेक्षा की भावना उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। और आगे चलकर आचार्य शुक्ल ने अपने लोकपरक, उपयोगितावादी दृष्टिकोण की स्थापना कर शृंगार काव्य की ऐसी बखिया उधेड़ी कि काव्य-प्रेमी जनता इस काव्य को घोर वासनामूलक, चमत्कार-प्रिय और समाज के लिए घातक समझने लगी। यही कारण है कि एक लम्बे समय तक यह काव्य बदनाम और उपेक्षित रहा। काव्य-सौंदर्य को महत्त्व न प्रदान करने वाली दृष्टि इस काव्य का सच्चा मूल्यांकन कर ही नहीं सकती। परन्तु अब विद्वानों का ध्यान इस अन्याय के प्रति जाने लगा है और इस काव्य का उचित मूल्यांकन करने का प्रयत्न होने लगा है। अस्तु,

मुक्तक-काव्य रचना

मुक्तक की प्रधानता

इस युग में मुक्तक-काव्य रचना की ही प्रधानता रही। कवियों ने मुक्तक-काव्य रूप को जो अपनाया उसके दो प्रधान कारण रहे : (१) लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होना, तथा (२) दरबारी-वातावरण का प्रभाव। इस युग में जिन लक्षण-ग्रन्थकारों ने लक्षण-ग्रन्थ लिखे उन्हें मुक्तक काव्य-रूप को ही अपनाना पड़ा क्योंकि अन्य किसी भी काव्य रूप के माध्यम से लक्षण-ग्रन्थ लिखे ही नहीं जा सकते। दूसरे, घनानन्द आदि स्वच्छन्द प्रेमधारा के कवि अपनी व्यक्तिगत शृंगारानुभूति, और विशेष रूप से विरहा-नुभूति का अंकन कर रहे थे, इसलिए उनके लिए भी प्रबन्ध-काव्य उपयुक्त माध्यम नहीं बन सकता था। इसलिए हमें इस काल में उन कवियों का काव्य मुक्तक-रूप में ही रचा हुआ मिलता है जिन्होंने शृंगार-भावना का अंकन किया था। इस युग का दरबारी-वातावरण भी मुक्तक-रचना को ही प्रोत्साहन देने वाला था। उस वातावरण में प्रबन्ध-काव्य सुनने का न तो आश्रयदाताओं को ही अवकाश रहता था और न इस ओर उनका कोई रुझान ही था। कवि और आश्रयदाता—दोनों ही मुक्तकों द्वारा चमत्कृत करना और चमत्कृत होना पसन्द करते थे। कवियों द्वारा अनुरंजित और

चमत्कृत होने पर आश्रयदाता की सहित्यिक भूख शान्त हो जाती थी और कवियों को यश, सम्मान और धन मिल जाता था।

इसके अतिरिक्त भक्ति, नीति एवं अन्य विषयों को अपनाने वाले कवि भी मुक्तकों का ही आश्रय लेते थे। क्योंकि इन विषयों का प्रकाशन युगों से इसी माध्यम से होता आ रहा था। वीर रस के उन कवियों ने भी प्राय: मुक्तक को ही अपनाया था, जो अपने नायक का प्रशस्ति-गायन फुटकर रूप में करना चाहते थे। मुक्तक के इस प्राधान्य का एक कारण यह भी था कि—एक तो मुक्तक की रचना में अधिक समय नहीं लगता, दूसरे वह जनता में भी, अपने संक्षिप्त रूप के कारण शीघ्र ही प्रचलित और लोकप्रिय हो जाते हैं। इस युग से पूर्व भी साहित्य में मुक्तक का ही प्राधान्य रहा था। ब्रजभाषा का विकास ही इस रूप में हुआ था कि वह मुक्तक की ही भाषा बन गई थी। और उसकी यह प्रवृत्ति हम आधुनिक काल तक इसी रूप में पाते हैं। इस युग में काव्य की भाषा एकमात्र ब्रजभाषा ही रही थी, इस कारण भी मुक्तकों का प्राधान्य रहा था।

प्रबन्ध-काव्य परम्परा

इस युग में मुक्तकों का प्राधान्य रहा था परन्तु साथ ही प्रबन्ध-काव्य परम्परा का भी यथेष्ट विकास होता रहा था। यह दूसरी बात है कि आलोचकों ने इस युग को मुक्तक-प्रधान मान केवल मुक्तक-काव्य की ही प्रशंसा अथवा निन्दा की, और इसी कारण सामान्य जनता में यह धारणा जड़ पकड़ गई कि इस युग में मात्र मुक्तक-काव्य ही रचा गया था। यह सत्य है कि इस युग में मुक्तक का ही बाहुल्य रहा था; मगर प्रबन्ध-काव्य भी यथेष्ट परिमाण में लिखे गए थे, जिनकी संख्या ३५०–४०० के लगभग है। इस युग में इतने अधिक प्रबन्ध-काव्यों की संख्या यह सिद्ध कर देती है कि यह युग—प्रबन्ध-काव्य प्रिय था। जनता की भी इस ओर रुचि थी। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो कवि प्रबन्ध-काव्य रचना की ओर कभी प्रवृत्त न होते।

आचार्य शुक्ल यह तो मानते हैं कि इस युग में प्रबन्ध-काव्य रचे गए, मगर साथ ही यह भी कह देते हैं कि—"प्रबन्ध-काव्य की उन्नति इस काल में कुछ विशेष न हो पाई।" शुक्ल जी ने इस काल के प्रमुख प्रबन्ध-काव्यों में निम्नलिखित रचनाओं की गणना की है—

'महाभारत' (सबलसिंह), 'विजयमुक्तावली' (छत्रसिंह), 'चण्डी चरित्र, (गुरु गोविन्दसिंह), **'छत्रप्रकाश'** (लाल कवि), **'हम्मीर रासो'** (जोधराज), 'नैषध-चरित' (गुमान मिश्र), 'जैमिनि पुराण' (सरयूराम), **'सुजान चरित्र'** (सूदन), 'वैताल पचीसी' (देवीदत्त), 'माधवानल काम कन्दला' (हरनारायण), 'ब्रजविलास' (ब्रजवासीदास), **'महाभारत'** (गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव—तीनों की सम्मिलित रचना),

'रामाश्वमेध' (मधुसूदनदास), 'भाषा भागवत' (कृष्णदास), 'भाषा सप्तशती' 'आल्हा-रामायण', 'आल्हाभारत', 'मूल ढोला' (नवलसिंह), 'हम्मीर हठ' (चन्द्रशेखर), 'जंग-नामा' (श्रीधर), 'रामरसायन' (पद्माकर)।

इनमें से उपर्युक्त रेखांकित काव्यों को शुक्ल जी 'काव्योपयुक्त रसात्मकता' से ओतप्रोत रचनाएँ मानते हैं। 'महाभारत' के सम्बन्ध में तो उन्होंने यह लिखा है कि—"कथा-प्रबन्ध का इतना बड़ा काव्य हिन्दी-साहित्य में दूसरा नहीं बना। यह लगभग दो हज़ार पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इतना बड़ा ग्रन्थ होने पर भी न तो इसमें कहीं शिथिलता आई है, और न रोचकता और काव्यगुण में कमी हुई है।.... छन्दों का चुनाव भी बहुत उत्तम हुआ है।....भाषा प्रांजल और सुव्यवस्थित है।.... रचना सब प्रकार से साहित्यिक और मनोहर है और लेखकों की काव्य-कुशलता का परिचय देती है।" इसके साथ ही शुक्ल जी ने इस ग्रन्थ के तीन रचयिताओं (गोकुल-नाथ, गोपीनाथ और मणिदेव) में से गोकुलनाथ को सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हुए लिखा है कि इन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक—दोनों प्रकार के काव्यों की प्रचुर परिमाण में रचना की थी। और—"इतने अधिक परिमाण में और इतने प्रकार की रचना वही कर सकता है जो पूर्ण साहित्य-मर्मज्ञ, काव्यकला में सिद्धहस्त, और भाषा पर पूर्ण अधिकार रखने वाला हो। अतः साहित्य क्षेत्र में ये बहुत ही ऊँचे पद के अधिकारी हैं। रीति-ग्रन्थ रचना और प्रबन्ध रचना—दोनों में समान रूप से कुशल और कोई दूसरा कवि रीतिकाल के भीतर नहीं पाया जाता।"

शुक्ल जी ने गोकुलनाथ को इतना उच्चकोटि का कवि तो घोषित कर दिया, परन्तु उनकी काव्य-रचना का विस्तृत विश्लेषण कर उसका सम्यक् महत्त्व उद्घाटित करने में संकोच कर गए। शुक्लजी ने एक तरफ तो—बिहारी, मतिराम, चिन्तामणि आदि के मुक्तक-काव्य की तो प्रशंसा-मिश्रित आलोचना की, और दूसरी ओर केशव की बखिया उधेड़ने में लगे रहे परन्तु यह न कर सके कि गोकुलनाथ को इस युग का इतना श्रेष्ठ कवि मानते हुए भी उनकी विस्तृत विवेचना कर उनके उचित महत्त्व की स्थापना करते। अस्तु,

डा० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र' ने 'रीतिकाल के प्रमुख प्रबन्ध-काव्य' नामक अपने शोध-प्रबन्ध में इस काल में लिखित ३६५ विभिन्न प्रकार के प्रबन्ध-काव्यों का विवरण और परिचय प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार इस युग में विभिन्न प्रकार के असंख्य प्रबन्ध-काव्य रचे गए थे। इस काल में धार्मिक या पौराणिक चरित काव्य, ऐतिहासिक चरित काव्य, सूफी प्रेमाख्यान काव्य, भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, मंगल-काव्य तथा अन्य अनेक प्रकार के प्रबन्ध काव्य लिखे गए थे। यहाँ इन सारे प्रबन्ध-काव्यों की तालिका या परिचय देना तो सम्भव नहीं है, इसलिए हम संक्षेप में ही इस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

यह ऐतिहासिक सत्य है कि भक्ति-कालीन 'रामचरितमानस' और 'पदमावत'

जैसे उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा इस काल में अवरुद्ध तो हुई ही नहीं थी, अपितु बहुमुखी होकर मन्दगति से प्रवाहित होती रही थी। इन प्रबन्ध-काव्यों के रचयिता प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इस काल में प्रमुख रूप से दो प्रकार के प्रबन्ध-काव्य लिखे गए थे—ऐतिहासिक प्रबन्ध-काव्य, और पौराणिक प्रबन्ध-काव्य। ऐतिहासिक प्रबन्ध-काव्य अपने समकालीन आश्रयदाताओं तथा प्राचीन इतिहास-प्रसिद्ध वीरों के जीवन-चरित पर आधारित रहे हैं जिनमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण मिलता है। 'छत्रप्रकाश', 'सुजान चरित्र' आदि समकालीन आश्रमदाताओं से सम्बन्धित रहे हैं तथा तीन प्राचीन ऐतिहासिक वीर 'हम्मीर' से जिनमें चन्द्रशेखर का 'हम्मीर हठ विशेष उल्लेखनीय है। इनमें वीर रस की प्रधानता रही है। पौराणिक प्रबन्ध-काव्यों में प्रधान रूप से महाभारत और रामायण में प्राप्त पौराणिक आख्यानों को आधार बनाया गया है। इनमें राम और कृष्ण—दोनों युग-पुरुषों के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं और पात्रों का अंकन किया गया है। इनमें से सबलसिंह और गोकुलनाथ आदि के 'महाभारत', छत्रसिंह का 'विजय मुक्तावली', गुमान मिश्र का 'काव्य-कलानिधि' महाभारत पर आधारित हैं। 'काव्य कलानिधि' हर्ष के 'नैषध चरित' का भाषानुवाद है। गुरु गोविन्द सिंह का 'गोविन्द रामायण' और मधुसूदनदास का 'रामाश्वमेध' राम-चरित्र से सम्बन्धित हैं। गुमान त्रिपाठी का 'कृष्ण चन्द्रिका' और ब्रजवासीदास का 'ब्रज विलास' कृष्ण-चरित्र पर आधारित हैं।

उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रबन्ध-काव्यों में चरित्र-चित्रण की विविधता मिलती हैं परन्तु पौराणिक प्रबन्ध-काव्यों में चरित्र-चित्रण परम्परानुकूल रूढ़िबद्ध ही रहा है। कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत अन्तर लक्षित होता है। प्रकृति-चित्रण कहीं आलम्बन रूप में, कहीं अप्रस्तुत योजना के निमित्त, और कहीं परम्परागत उद्दीपन रूप में ही हुआ है। कृष्ण-चरित्र से सम्बन्धित प्रबन्ध-काव्यों में श्रृंगार रस की प्रधानता रही है और ऐतिहासिक तथा राम-चरित्र से सम्बन्धित काव्यों में वीर रस की। समष्टि रूप से वीर रस का ही प्राधान्य रहा क्योंकि इस युग में कृष्ण-चरित्र से सम्बन्धित प्रबन्ध-काव्य अपेक्षाकृत कम ही लिखे गए। भाषा की दृष्टि से ब्रज और अवधी—दोनों को अपनाया गया परन्तु प्रधानता ब्रजभाषा की ही रही। केवल सबलसिंह और मधुसूदन दास ने अपने प्रबन्ध-काव्य अवधी में लिखे।

प्रबन्ध-भेद की दृष्टि से 'महाभारत', 'कृष्णचन्द्रिका' और 'काव्य-कलानिधि' महाकाव्य के अन्तर्गत आते हैं। 'चण्डी चरित्र'. तथा 'हम्मीर हठ' खंड-काव्य हैं। 'विजय मुक्तावली', 'गोविन्द रामायण', 'ब्रज विलास', 'छत्र प्रकाश', 'हम्मीर रासो', 'सुजान चरित्र', 'रामाश्वमेध' आदि के कथानक महाकाव्य के समान विस्तृत तो हैं या उन्हें ऐसा बना दिया गया है परन्तु उनमें महाकाव्य की सी गरिमा, गम्भीरता, सौष्ठव और उदात्तता का अभाव रहा है, इसलिए इन्हें महाकाव्य न मान एकार्थ-काव्य ही मानना चाहिए।

डा० इन्द्रपालसिंह ने इस काल के प्रबन्ध-काव्यों का विस्तृत विवेचन कर यह सिद्ध कर दिया है कि इस युग में प्रबन्ध-काव्य-रचना प्रचुर परिमाण में हुई थी, अतः यह धारणा भ्रान्त है कि यह मुक्तक रचना का ही युग रहा है। इन प्रबन्ध-काव्यों पर सम्बन्धित युग की काव्य-प्रवृत्तियों का भी गहरा प्रभाव रहा है परन्तु उनका मूल स्वर—कृष्ण-काव्य को छोड़—सर्वत्र वीर-रस का ही मिलता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इस युग की प्रबन्ध-काव्य-परम्परा काफी विस्तृत और समृद्ध रही है। आज जरूरत इस बात की है कि इस परम्परा का और भी अधिक गहन, विस्तृत विवेचन किया जाये।

वीर काव्य

रस की दृष्टि से इस काल की दो ही प्रधान प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं—शृंगार रस और वीर रस की। हम गत पृष्ठों में प्रबन्ध-काव्यों का परिचय देते हुए कह आए हैं कि इस काल में रचित कृष्ण-चरित्र से सम्बन्धित प्रबन्ध काव्यों के अतिरिक्त अन्य अधिकांश प्रबन्ध-काव्यों का—चाहे वे ऐतिहासिक रहे हों या पौराणिक—मूल स्वर वीर रस का ही रहा है। इसके अतिरिक्त मुक्तक रूप में भी इस युग में वीर रस का सुन्दर, प्रभावशाली चित्रण हुआ था। भक्तिकाव्य में वीर रस को बहुत ही कम महत्त्व दिया गया था। जायसी के 'पदमावत' और तुलसी के 'मानस', 'कवितावली' के कुछ कवित्तों में ही वीर रस का उत्कर्ष दिखाई पड़ा था। शेष सारा भक्तिकाव्य वीर रस की भावना से शून्य रहा था। शृंगार काल की आरम्भिक परिस्थितियों ने वीर-भावना को पुनः उभार दिया था। मुगल-शासकों के धार्मिक उन्माद, पक्षपात, हिन्दू राजाओं के विरुद्ध युद्ध आदि ने हिन्दुओं में विद्रोह की भावना उत्पन्न कर दी थी। और विद्रोह की यह भावना वहाँ से आरम्भ होकर सन् १८५७ के प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम तक निरन्तर चलती चली आई थी। छत्रपति शिवाजी और छत्रसाल जैसे जन-नायकों को पाकर भूषण और लाल के दृप्त कंठों से वीर रस की ऐसी सरिता प्रवाहित हुई थी जो आज तक भी अमर बना हुई है।

इस काल में वीर रस की अभिव्यक्ति दो रूपों हुई—प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक। प्रबन्ध काव्यों के रूप में कवियों ने अपने समकालीन जननायकों का यशोगान किया, और साथ ही प्राचीन भारतीय वीरों—हमीर आदि की वीरता का अंकन किया। लाल कवि का 'छत्रप्रकाश' पद्माकर, का 'हिम्मत बहादुर विरुदावली', सूदन का 'सुजान चरित्र', श्रीधर का 'जंगनामा', चन्द्रशेखर का 'हमीर हठ', जोधराज का 'हम्मीर रासो' आदि ऐसे प्रबन्ध-काव्य हैं जिनमें वीर रस का ही प्राधान्य रहा है। इसके अतिरिक्त राम-चरित से सम्बन्धित पौराणिक प्रबन्ध-काव्यों (इनका उल्लेख हम पीछे 'प्रबन्ध-काव्य परम्परा' के अन्तर्गत कर आए हैं) में भी शृंगार आदि की अपेक्षा वीर रस की ही प्रधानता रही है। छत्रसिंह कायस्थ के 'महाभारत' में वीर रस का सुन्दर अंकन हुआ है।

इसके अतिरिक्त इस काल के अनेक कवियों ने मुक्तक रूप में वीर रस का चित्रण किया है। भूषण के शिवाजी और छत्रसाल से सम्बन्धित वीर रस के छन्द तो हिन्दी-साहित्य की अमर निधि बन ही चुके हैं। भूषण के अतिरिक्त भी अनेक कवियों ने वीर रसपूर्ण छन्द लिखे हैं। शम्भुनाथ मिश्र ने अपने आश्रयदाता भगवन्तराय खीची की प्रशंसा में अनेक वीर-रसात्मक कवित्त रचे थे। यदि सेनापति को खींचतान कर इस युग का कवि मान लिया जाय, तो उनके काव्य में भी वीर रस की सुन्दर व्यंजना मिल जाती है। उन्होंने अपने 'कवित्त रत्नाकर' की चतुर्थ तरंग में बड़े कौशल के साथ राम-रावण-युद्ध का वीर-रसात्मक वर्णन किया है। युद्ध का यह वर्णन प्राचीन 'रासो' ग्रन्थों की वीर-रसात्मक भाषा की याद दिला देता है। इसका एक छन्द द्रष्टव्य है—

'अक्खि पिक्खि नहिं सकइ सेस नक्खिन लग्गिय तल।
सेनापति जय सद्द सिद्ध उच्चरत बुद्धि बल॥
उद्दण्ड चण्ड भुजदण्ड भरि, धनुष राम करवत प्रबल।
टुट्टिय पिनाक निर्घात सुनि, लुट्टिय दिगन्त दिग्गज विकल॥'

भूषण ने भी इसी प्रकार की चारणों की द्वित्व वर्ण प्रधान भाषा का प्रयोग किया है। चरखारी के राजा विक्रमसाहि के दरबारी कवि खुमान ने अपने 'लक्ष्मण शतक' नामक ग्रन्थ में लक्ष्मण और मेघनाद के युद्ध का वर्णन फड़कती हुई, ओजपूर्ण भाषा में किया है। इसके अतिरिक्त भी अन्य कई कवियों में हमें वीर रस का अस्तित्व मिल जाता है। साधारणतः यह धारणा बनी हुई है कि इस काल में भूषण, लाल, पद्माकर और सूदन के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने वीर रस का काव्य ही नहीं रचा था। परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। इस युग के दर्जनों प्रबन्ध-काव्यों में वीर रस का सुन्दर और प्रभावशाली चित्रण हुआ है। "चन्द्रशेखर का 'हमीर हठ' अकेला ही रीतिकाल में वीर रस की पताका फहराने में समर्थ है।"[१] वस्तुतः इस युग का वीर रस सम्बन्धी अधिकांश अंश इस युग के प्रबन्ध-काव्यों में छिपा पड़ा है जिसकी ओर अभी तक साहित्य के अध्येताओं का ध्यान नहीं गया है। इसलिए यह कहना असंगत ही माना जायेगा कि इस काल में वीर-रसात्मक काव्य बहुत कम लिखा गया। इस काल की नई परिस्थितियों में वीर रस का जो नवीन उन्मेष दिखाई दिया वह एक ओर तो इस काल के कवियों के भाव-विस्तार की साक्षी देता है, और दूसरी ओर यह भी प्रमाणित करता है कि इस काल के वीर-काव्य रचयिता जन-भावना से परिचित थे और उससे निकट सम्पर्क बनाए रखते थे। यदि इन कवियों में जन-सम्पर्क का यह गुण न होता तो ये भी अन्य कवियों के समान लक्षण-ग्रन्थों तथा शृंगारी कविता के सृजन में ही डूबे रहते। इस दृष्टि से इस काल के इन कवियों को अत्यन्त जागरूक कवि मानना चाहिए।

---

१. **रीतिकाल और आधुनिक हिन्दी-कविता**—डा० रमेशकुमार शर्मा।

भक्ति-भावनाश्रित काव्य

इस युग में हमें भक्ति-भावना दो वर्ग के कवियों द्वारा, और दो प्रकार से अभिव्यक्त हुई मिलती है। एक वर्ग तो उन कवियों का है जो मूलतः लक्षण-ग्रन्थों और शृंगार-काव्य के रचयिता रहे हैं परन्तु जिनमें हमें शान्त रस की भक्तिभाव पूर्ण कविता भी मिल जाती है। दूसरा वर्ग उन कवियों का है जो विशुद्ध रूप से भक्त-कवि रहे हैं, जिनका अपने सम्प्रदायों में यथेष्ट सम्मान रहा है। पहले हम इस दूसरे वर्ग के कवियों का ही परिचय देना चाहेंगे। **गुरु गोविन्द सिंह** ने 'सुनीति प्रकाश', 'सर्वलोह प्रकाश,' 'बुद्धि-सागर', 'चण्डी चरित्र' आदि भक्ति और वैराग्य सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे थे। **भक्तवर नागरीदास** का स्थान इस काल के वल्लभ-सम्प्रदायी भक्तों में बहुत ऊँचा माना जाता है। इनके रचे लगभग ७३ ग्रन्थ बताए गए हैं जिनमें कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के वर्णन के अतिरिक्त रामचरित्र का भी भक्ति-भावपूर्ण अंकन किया गया है। इनके पदों में शैली और भावों की नवीन व्यंजना मिलती है। इनके अतिरिक्त रीवाँ-नरेश **महाराज विश्वनाथसिंह** के भक्ति और वैराग्य विषयक लगभग ३२ ग्रन्थ मिले हैं जिनमें रामभक्ति के साथ-साथ निर्गुण-साधना का भी अंकन किया गया है। अयोध्या के वैरागी **जनक किशोरीशरण** ने भी भक्ति, ज्ञान तथा रामचरित सम्बन्धी लगभग १०-१५ ग्रन्थ लिखे थे। **चाचा हित वृन्दावनदास** इस काल के सर्वाधिक प्रसिद्ध भक्त-कवि हुए हैं जिनके रचे लगभग बीस हजार पद आज भी उपलब्ध हैं। ये राधावल्लभी-सम्प्रदाय के भक्त थे। (इनका परिचय हम पीछे कृष्णभक्ति-काव्य परम्परा में दे आए हैं।) कृष्णभक्ति परम्परा के ये भक्त कवि सूरदास की टक्कर के माने जाते हैं। इनकी रचनाओं में भक्ति की गहन अनुभूति के साथ-साथ काव्य-कौशल तथा भाषा-सौन्दर्य का अनुपम समन्वय मिलता है। इनके अतिरिक्त **भगवत रसिक, गुमान मिश्र, श्री हठी जी** आदि भी इस युग के प्रसिद्ध भक्त-कवि हुए हैं जो भक्ति-भावना और काव्य-सौन्दर्य—दोनों ही दृष्टियों से अनन्य भक्त और सफल कवि रहे हैं। **बाबा मलूकदास** ने भी इस युग के आरम्भ में और अपने जीवन के अन्त समय के लगभग ज्ञान और उत्कृष्ट भक्ति-भावना सम्बन्धी अनेक पदों की रचना की थी। **सन्त चरनदास** अपने समय के प्रसिद्ध भक्त थे। इनके रचे दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—'ज्ञान सरोवर' और 'चरनदास की बानी'। ये निर्गुण मार्गी भक्त थे। इनकी दो शिष्याएँ—**सहजोबाई** और **दयाबाई** भी प्रसिद्ध भक्त-कवित्रियाँ मानी जाती हैं।

इस काल के उपर्युक्त भक्त-कवियों के अतिरिक्त, जिन्होंने मुक्तक रूप में अपनी भक्ति-भावना का प्रकाशन किया था, उन प्रबन्धकारों को भी भक्त-कवि मानना चाहिए जिन्होंने राम और कृष्ण की पौराणिक कथाओं को आधार बना प्रबन्ध-काव्यों की रचना की थी। इनमें से यद्यपि राम-चरित सम्बन्धी काव्यों में वीर रस की और कृष्ण-चरित सम्बन्धी काव्यों में शृंगार रस की प्रधानता रही है परन्तु उनके मूल में अपने

चरित-नायकों के प्रति असीम भक्ति-भाव ही वास्तविक प्रेरक शक्ति रहा है। इसलिए इन पौराणिक ग्रन्थकारों को भी भक्त-कवि ही मानना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में निर्गुण मार्गी भक्ति, राम-भक्ति, और कृष्ण-भक्ति—तीनों प्रकार की भक्ति के उपासक कवि प्रचुर मात्रा में साहित्य-रचना में दत्तचित्त रहे थे। इनका रचा हुआ साहित्य—परिमाण और काव्य गुण—दोनों ही दृष्टियों से इतना विशाल और समृद्ध है कि सहज ही उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। आचार्य शुक्ल ने भी इस काल के इन भक्त-कवियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

अब समस्या आती है—इस काल के उन कवियों की, जिनका प्रधान कथ्य तो शृंगार ही रहा है परन्तु जिनके काव्य में हमें यत्र-तत्र गहरी भक्ति-भावना के भी दर्शन हो जाते हैं। हम इन्हें विशुद्ध रूप से भक्त-कवि तो नहीं मान सकते परन्तु साथ ही इनकी भक्ति-भावना की सच्चाई और गहराई पर सन्देह करना—उनके साथ घोर अन्याय होगा। यद्यपि इन कवियों ने राधा-कृष्ण के माध्यम से शृंगार रस की अपूर्व सरिता प्रवाहित की थी, परन्तु साथ ही ये लोग यह भी नहीं भूले थे कि राधा-कृष्ण आराध्य और भक्ति के आलम्बन हैं। उदाहरणार्थ—ग्वाल कवि की दो पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'श्री राधा पदपदम को, प्रनमि प्रनमि कवि ग्वाल।
छमवत है अपराध को, कियो जु कथन रसाल॥'

उपर्युक्त दोहे में ग्वाल कवि राधा से अपने इस अपराध के लिए क्षमा माँग रहे हैं कि उन्होंने उनका रसीला अर्थात् शृंगार रसपूर्ण वर्णन किया है। यदि ग्वाल के हृदय में राधा के प्रति भक्ति-भाव न होता तो वे उनसे क्षमा क्यों माँगते? बिहारी, देव, भिखारीदास आदि के काव्य में हमें अनेक ऐसे भक्ति-भावपूर्ण छन्द मिलते हैं जिनमें उनके हृदय का दैन्य, मात्र प्रभु पर निर्भरता, आत्मग्लानि, कातरता, विनय आदि के वही भाव व्यक्त हुए हैं जो भक्त-कवियों की भक्ति-भावना की विशेषता मानी गई है। भक्ति और शृंगार-काल के सन्धि-युग के कवि सेनापति में जितनी प्रबल शृंगार की भावना मिलती है, उतनी ही प्रबल भक्ति-भावना भी। फिर इनमें से एक को स्वीकारना और दूसरे को नकारना कहाँ का न्याय और बुद्धिमानी है। कुछ आलोचकों की इस सम्बन्ध में यह धारणा रही है कि जब शृंगारी कवि शृंगार के अतिशय चित्रण और मानसिक विलास से जर्जर-मन हो जाते थे तो आत्मग्लानि वश भगवान को अपने उद्धार के लिए पुकारने लगते थे। इसलिए इनकी यह भक्ति-भावना परिस्थितियों से प्रभावित थी, न कि हृदय की सहज भावना से प्रेरित। अर्थात् इनकी यह भक्ति-भावना वास्तविक न होकर, दिखावा मात्र थी। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र के विचार प्रस्तुत हैं—

"यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन

को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी तरह उनका अंचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति-भावना से हीन नहीं है—हो भी नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए उनके विलास-जर्जर मन में उतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति-रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इसलिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यत: वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए बार-बार हरि-हरि और राधिका शब्दों का प्रयोग किया गया है।"[1]

जब हम परम्परा से विच्छिन्न हो, परम्परा की कड़ियों को समझने में असमर्थ रह निष्कर्ष देने बैठ जाते हैं तब ऐसे ही भ्रान्त निष्कर्षों की सृष्टि होती है, जैसा कि डा० नगेन्द्र के ऊपर उद्धृत वक्तव्य में मिलता है। हम यह क्यों भूल जाते हैं कि शृंगार-काव्य से पूर्व भक्ति की एक सशक्त और अविरल धारा प्रवाहित होती रही थी। ये शृंगारी कवि उन्हीं भक्त-कवियों के काव्य-उत्तराधिकारी थे। जब इन्होंने उत्तराधिकार के रूप में कृष्णभक्तों से शृंगार-भावना प्राप्त की थी तो उनकी भक्ति-भावना से ये कैसे अछूते रह सकते थे। अन्तर केवल मात्रा का है। इनमें शृंगार-भावना प्रधान और भक्ति-भावना गौण रही है। इसलिए इनकी भक्ति-भावना को न तो समाज, भीरु विलास-जर्जर मन का सामाजिक छद्म और प्रतिक्रिया माना जा सकता है, और न मनोवैज्ञानिक आवश्यकता। उसका स्फुरण सहज भाव से सहज रूप में हुआ है। दरबारी वातावरण से मुक्ति पाते ही, चाहे वह कुछ क्षणों के लिए ही क्यों न रही हो, उनका भक्त-हृदय अपने आराध्य के प्रति उमड़ने लगता था। इसलिए उनकी भक्ति-भावना की सच्चाई और गहराई पर अविश्वास नहीं करना चाहिए। अस्तु,

उपर्युक्त विवेचन द्वारा हमने देखा कि इस युग में भक्ति की धारा भी अपने विभिन्न रूपों में काव्य-सृजन का माध्यम बनती रही थी। यद्यपि यह इस युग के काव्य की सर्वप्रधान धारा नहीं रही परन्तु अपना महत्त्वपूर्ण स्थान तो रखती ही है।

नीति-सम्बन्धी काव्य

भक्तिकालीन घाघ, रहीम, तुलसी आदि के नीति-काव्य का इस युग में पर्याप्त विकास हुआ। डा० रमेशकुमार शर्मा के अनुसार—'नीति की कविता सुव्यवहार की स्थापना, अमंगल का क्षय करने तथा लोगों के मार्ग-दर्शन के लिए' होती है। ऐसे कवि, जिनका जन-जीवन से निकट का घनिष्ठ सम्पर्क रहता है, तथ्य को पकड़ने की जिनकी दृष्टि अत्यन्त पैनी और सूक्ष्म होती है, वे अपने तथा दूसरों के जीवनानुभवों के आधार पर ऐसे नीति-वाक्यों का सृजन करते हैं, जो जीवन को सुचारु रूप से चलाने में हमारे

१. रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र।

पथ-प्रदर्शक का कार्य करते रहते हैं। यह काव्य अधिकांशतः उपदेश-प्रधान होता है। डा० शर्मा के अनुसार नीति-काव्य के रचयिता इन कवियों का आधुनिक समूह-मनोविज्ञान और सामान्य मनोविज्ञान का अनुभव बड़ा गहरा हुआ करता था। नीति-काव्य-रचना की प्रायः दो शैलियाँ दिखाई पड़ती हैं। **पहली**, जिसमें सीधे-सादे ढंग से उपदेश-प्रधान नीति-वाक्य कह दिए जाते हैं। इनमें साहित्यिक चमत्कार न होकर कथन का नितान्त सरल और स्पष्ट ढंग अपनाया जाता है। **दूसरी** शैली वह होती है जिसमें बात को सीधे, स्पष्ट ढंग से न कहकर उसे मार्मिक व्यंग्य और हास्य की चाशनी में लपेट कर कहा जाता है। ऐसी बात अधिक प्रभावशाली और साहित्यिक सौन्दर्य से मंडित होती है।

नीति-काव्य के रचयिताओं का जन-जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क रहता है और वे अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुभवों को सामान्य जन-कल्याण के निमित्त आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ साहित्य-रचना का उनका उद्देश्य स्पष्टरूपेण लोक-कल्याण के लिए ही होता है। इस प्रकार ये कविगण शुक्ल जी की साहित्य-सम्बन्धी उस प्रधान शर्त को पूरा कर देते हैं कि—साहित्य का निर्माण लोक-कल्याण के लिए ही होना चाहिए। फिर शुक्ल जी ने इस काल के नीतिकारों को कवि न मानकर मात्र सूक्तिकार घोषित कर उन्हें साहित्यकारों की कोटि से अलग करने का प्रयत्न क्यों किया था ? परिमाण की दृष्टि से भक्तिकाल में नीति-काव्य की रचना शृङ्गार-काल से कम नहीं हुई थी। परन्तु शुक्ल जी भक्तिकाल का विवेचन करते समय उसका उल्लेख कर आगे बढ़ गए। वहाँ उन्होंने उस काल के नीति-काव्य की भर्त्सना नहीं की। क्योंकि शुक्ल जी शृङ्गार-काल से नाराज और असन्तुष्ट थे, इसकी अतिशय शृङ्गार प्रियता के कारण, इसलिए इस काल में अन्य विषयों से सम्बन्धित रचनाएँ लिखने वाले कवि भी उनकी अपेक्षित सहानुभूति प्राप्त करने में असमर्थ और असफल रहे। हम मानते हैं कि नीति-काव्य में काव्य-सौष्ठव आदि गुणों का प्रस्फुटन अपेक्षित मात्रा में नहीं हो पाता, उसमें रसोद्रेक की भी सहज क्षमता नहीं होती, परन्तु गहरे लोक-प्रभाव के कारण उसकी सहज उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। इसलिए हमें नीति-काव्य को साहित्य का उपयोगी अंग मानना ही चाहिए। अस्तु,

शृङ्गार-काल के प्रसिद्ध नीति-काव्य के रचयिताओं में गिरिधर कविराय, बाबा दीनदयाल गिरि, वृन्द, वैताल, घाघ, गोपालचन्द्र मिश्र आदि महत्त्वपूर्ण रहे हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरे हुए नीति-सम्बन्धी पद मिल जाते हैं। इन नीति-कवियों के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं हो सका है। फिर भी अपने नीति-वाक्यों के कारण ये आज भी जनता में उतने ही लोकप्रिय हैं, जितने कि अपने समय में रहे होंगे। आज भी हमारे बुजुर्ग प्रायः इन्हें उद्धृत करते पाए जाते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन नीति-काव्यकारों के

महत्त्व के सम्बन्ध में लिखा है कि—''वस्तुतः साधारण हिन्दी भाषी जनता के सलाहकार प्रधानतः तीन ही रहे हैं—तुलसीदास, गिरिधर कविराय और घाघ—तुलसीदास धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में, गिरिधर कविराय व्यवहार और नीति के क्षेत्र में, घाघ खेतीबारी के मामले में।''

स्थानाभाव के कारण हम यहाँ इन कवियों का विस्तृत परिचय देने में तो असमर्थ हैं, फिर भी उनकी कुछ पंक्तियों को उद्धृत कर यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि इनकी रचनाओं में शताब्दियों द्वारा अनुभूत लोक-सत्य कितने सहज रूप में खिल उठा है। उदाहरणार्थ घाघ की ऐसी पंक्तियाँ आज भी जनता में लोकप्रिय हैं—

१—'खाइ के परि रहै। मारि के टरि रहै।'

२—'गया पेड़ जहँ बगुला बैठा, गया गेह जहँ मुड़िया पैठा।'

गिरिधर कविराय ने हुक्का पीने वालों की होने वाली दुर्दशा का निम्न पंक्तियों में कितना यथार्थ अंकन किया है—

'हुक्का से हुरमत गई, नियम-धर्म गयो छूट।
दाम खर्च कर लियो तमाखू, गई हिये की फूट॥
गई हिए की फूट, आग को घर-घर डोलै।
जिस घर आग को जाय, सोई कुररातो बोलै॥
कहि गिरिधर कविराय, लगे जब यम को रुक्का।
प्राण जायेंगे छूट, सहाय होवे नहिं हुक्का॥'

जो लोग यह कहते हैं कि नीति-काव्य में काव्य-सौष्ठव, चमत्कार आदि नहीं होता, उनके लिए गिरिधर कविराय का यह छन्द प्रस्तुत है—

'सोना लादन पिय गए, सूना करि गए देस।
सोना मिला न पिय मिले, रूपा ह्वै गए केस॥
रूपा ह्वै गए केस, रोय रंग रूप गँवाया।
सेजन को बिसराम, पिया बिनु कबहुँ न पाया॥
कह गिरिधर कविराय, लोन बिनु सबै अलोना।
बहुरि पिया घर आउ, कहा करि हौं लै सोना॥'

उपर्युक्त छन्द में एक ऐसी विरहिणी नायिका का मार्मिक अंकन किया गया है जिसका पति धन कमाने परदेस चला गया है और उसकी प्रतीक्षा करते-करते पत्नी वृद्धा हो गई है। इस छन्द में रसोद्रेक करने की शक्ति, अलंकारों का चमत्कार, गहन वेदनानुभूति अपने सम्पूर्ण काव्य-सौष्ठव के साथ प्रस्फुटित हो उठी है।

वृन्द कवि की नीति-विषयक उक्तियाँ अत्यन्त जन-प्रिय रही हैं। एक उक्ति द्रष्टव्य है—

'नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस सिंगार न सुहात॥

फीको पै नीकी लगै, कहिये समय बिचारि ।
सबको मन हरषित करै, ज्यौं विवाह में गारि ।।'

वृन्द की 'वृन्द सतसई' ऐसी ही सरस, नीतिपरक उक्तियों का एक अनमोल संग्रह है ।

घाघ की नीति-विषयक कविताएँ किसानों में बहुत लोकप्रिय हैं । इन्होंने अधिकतर किसान-जीवन से सम्बन्धित उक्तियाँ ही कही हैं । इनकी उक्तियों में कहीं-कहीं गहरे सामाजिक व्यंग्य और तीखे हास्य का पुट पाया जाता है । जैसे—

'सावन सोये ससुर घर, भादों खावे पूआ ।
खेत खेत में पूछत डोले, तोहरे केतिक हूआ ।।'

इन्होंने खेती-सम्बन्धी अनेक उक्तियाँ कही हैं । जैसे—

'पुरवा में जो पछुवा बहै, हँसि के नारि पुरुष से कहै ।
ऊ बरसै ई करै भतार, घाघ कहैं यह सगुन विचार ।।'

× × ×

'उत्तम खेती आप सेती, मध्यम खेती भाई सेती ।
निकृष्ट खेती नौकर सेती, बिगड़ गई तो बलाय सेती ।।'

बैताल ने भी, जो विक्रमशाह के दरबारी कवि थे, अनेक नीति-विषयक छन्द कहे हैं । उनका एक छन्द द्रष्टव्य है—

'मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू ।
मरै करकसा नारि, मरै वह खसम निखट्टू ।
बांभन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै ।
पूत वही मरि जाय, जो कुल में दाग लगावै ।
अरु बेनियाउ राजा मरै, तबै नींद भरि सोइये ।
बैताल कहै, विक्रम सुनौ, एते मरे न रोइये ।।'

'अन्योक्ति कल्पद्रुम' के रचयिता बाबा दीनदयाल गिरि इस युग के अन्तिम प्रसिद्ध नीतिकार माने जाते हैं । इनकी सी अन्योक्तियाँ हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ हैं । आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"कोमल, व्यंजक पद-विन्यास पर तो इनका अधिकार था ही, शब्द-चमत्कार-विधान पर भी इनका पूरा अधिकार था ।" इनकी एक अन्योक्ति प्रस्तुत है—

'केतो सोम कला करौ, करौ सुधा को दान । नहिं चन्द्रमणि जो द्रवै, यह तेलिया पखान ।।'
यह तेलिया पखान, बड़ी कठिनाई जाकी । टूटीं याके सीस बीस बहु बाँकी टाँकी ।।
बरनै दीनदयाल, चन्द ! तुमही चित चेतौ । कूर न कोमल होहिं कला जौ कीजै केतौ ।।'

इस नीति-काव्य की यह विशेषता रही है कि इसके रचयिताओं ने जीवन-सम्बन्धी व्यावहारिक एवं गूढ़—दोनों प्रकार के रूपों से सम्बन्धित अनुभूत मार्मिक

और यथार्थ तथ्यों की व्यंजना अत्यन्त सरल और सुबोध भाषा के माध्यम से की है। इन्होंने सदैव इस बात का ध्यान रखा है कि वे जो कुछ कहें वह इतना स्पष्ट और सरल हो कि जन-साधारण उसे भली-भाँति समझ ले। इसके लिए इन्होंने लोक-प्रचलित सारे देशी-विदेशी शब्दों को निस्संकोच रूप से अपनाया है, यद्यपि प्रधानता संस्कृत के तत्सम् और तद्भव शब्दों की ही रही है। मुहावरे और लोकोक्तियाँ इस नीतिकाव्य के प्राण रही हैं। इनके उपयोग द्वारा भाषा में प्रसाद-गुण की एक ऐसी सहज-सशक्त गति आ जाती है कि वह सबके लिए सुबोध बन जाती है। संक्षिप्तता और मार्मिकता की रक्षा भी इन्हीं के द्वारा अधिक सम्भव होती है। सम्भवतः हिन्दी का कोई मुहावरा और लोकोक्ति ऐसी नहीं बची है, जिसका इन कवियों ने उपयोग न किया हो। 'पचि पचि मरिय', 'कूप खोदिबो, जरन लगे जब गेह', 'पड़े चाटना थूक', 'गिरति न गाज' आदि मुहावरे तथा 'मिलय न जगत सहोदर भ्राता', 'वेस्या बरस घटावहीं, जोगी बरस बढ़ाय' आदि लोकोक्तियों का इस काव्य में खूब प्रयोग हुआ है। वस्तुतः जन-भाषा का सच्चा रूप इसी नीति-काव्य में देखने को मिलता है।

प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण

इस युग के कवियों ने प्रकृति का अधिकांशतः उद्दीपन रूप में ही चित्रण किया है। यहाँ प्रकृति मानव मनोभावों को उद्दीप्त करने वाली सहायिका के रूप में ही अधिक आई है। वस्तुतः इस काल के पूर्ववर्ती सभी साहित्यिक युगों में प्रकृति कवियों द्वारा इसी रूप में ग्रहीत होती आई थी। कवियों के लिए उसका अन्य कोई महत्त्व नहीं रहा था। प्राचीन संस्कृत-काव्य में पाए जाने वाले प्रकृति के आलम्बन रूप के चित्रण का विकास शृंगार काल तक साहित्य में नहीं हुआ था। प्रकृति के प्रति भक्ति-कालीन कवियों का जो दृष्टिकोण रहा था उसे ही इस काल के कवियों ने यथावत् अपना लिया था। यद्यपि तुलसी-साहित्य में कहीं-कहीं प्रकृति के आलम्बन रूप के साधारण और मार्मिक चित्र मिल जाते हैं, परन्तु इसे तुलसी की कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं माना जा सकता। उनकी तुलना में तो सेनापति का प्रकृति-चित्रण बहुत अधिक श्रेष्ठ, कलापूर्ण और मार्मिक बन पड़ा है। यदि प्रकृति के आलम्बन-रूप के चितेरे कवि के रूप में सेनापति के प्रकृति-चित्रण का मूल्यांकन किया जाय तो वे मध्य-काल के सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध होते हैं।

हम यह मानते हैं कि इस काल में प्रकृति के उद्दीपन रूप की ही प्रधानता रही है। शृंगार-वर्णन में तथा प्रेम के संयोग और वियोग—दोनों पक्षों के चित्रण में प्रकृति का अलंकार रूप में तथा भावों को उद्दीप्त करने वाली शक्ति के रूप में चित्रण होना स्वाभाविक और परम्परागत ही माना जायेगा। इसलिए इस प्रकृति-चित्रण का हमें वही रूढ़ और परम्पराबद्ध रूप मिलता है जो आरम्भिक कालीन रासो-काव्यों, मध्यकालीन प्रेमाख्यानक काव्यों तथा भक्ति-काव्य में उपलब्ध होता है। ऋतु-वर्णन, बारहमासा आदि के रूप में, इस काल में भी, प्रकृति का इसी रूप में अंकन

किया गया है। इसके अतिरिक्त इस काल के कुछ कवियों ने आलम्बन रूप में भी प्रकृति का अत्यन्त मनोरम, प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही चित्रण किया है जो कतिपय प्रबन्ध-काव्यों एवं फुटकर पदों के रूप में मिलता है। गुमान मिश्र की 'कृष्ण-चन्द्रिका' में आलम्बन रूप में प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। द्विजदेव (महाराज मानसिंह) के ऐसे प्रकृति-चित्रण की शुक्ल जी ने भी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। द्विजदेव का तत्सम्बन्धी एक छन्द द्रष्टव्य है—

'मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज विनोद-लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लतागन तान बितान सबै बिधि चित्त चुरायो करैं॥
द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा, अलि-चारन कीरति गायो करैं।
चिरजीवो, वसंत! सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करैं॥'

ग्वाल कवि ने भी प्रकृति के कुछ अत्यन्त सुन्दर और प्रभावशाली चित्र अंकित किए हैं। यहाँ हम सेनापति और ग्वाल कवि का ग्रीष्म-सम्बन्धी एक-एक छन्द उद्धृत कर यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि इस काल में प्रकृति का आलम्बन रूप में कितना सुन्दर अंकन हुआ था, इस काल के कवियों ने प्रकृति के कैसे-कैसे सुन्दर चित्र उरेहे थे। यथा—

सेनापति—

'वृष कौ तरनि तेज सहसौं किरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत हैं।
तचति धरनि जग जात झरनि सीरी,
छाँह कौं पकरि पंथी पंछी बिरमत हैं॥
सेनापति नेक दुपहरी के ढरत होत,
धमाकौ विषम, ज्यौं न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौनों सीरी ठौर को पकरि कौनों,
घरी एक बैठि कहूँ घामे बितवत हैं॥'

ग्वाल कवि—

'ग्रीष्म की गजब धुकी है धूप धाम-धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस-बीजन झले हूँ न सुखात स्वेद,
गात न सुहात बात दावा सी डरापिनी॥
ग्वाल कवि कहै कोरे कुम्भन तें कूपन तें,
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो अब पियो फेरि अब,
पीवत हूँ पीवत मिटै न प्यास पापिनी॥'

इस काल के अनेक कवियों ने प्रकृति के ऐसे ही सुन्दर, यथार्थ रूप अंकित किए हैं परन्तु आलोचकों ने इनकी ओर दृष्टि न डाल, इन कवियों को श्रृंगार का कुत्सित, कुरूप रूप का वर्णन करने वाला सिद्ध करने में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी थी, इसी कारण अनेक आलोचक इस काल के साहित्य का समुचित मूल्यांकन करने में असमर्थ रहे थे।

अन्य विषय

इस युग में लोक-जीवन से सम्बन्धित अन्य विभिन्न विषयों पर भी कवियों ने लेखनी चलाई थी। हमें इस युग में लिखे अनेक ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें राजनीति, कामशास्त्र, शालिहोत्र, ज्योतिष, रमल, सामुद्रिक शास्त्र, पाक-शास्त्र, सुरापान, मैत्री, संगीतशास्त्र आदि का विवेचन किया गया है। यद्यपि इन विषयों पर लिखी रचनाओं को साहित्य के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता, परन्तु इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि इस युग में कवि की दृष्टि केवल श्रृंगार तक ही सीमित न रहकर जीवन के विविध क्षेत्रों को भी अपनी परिधि में समेट लेती थी। **हास्य** साहित्य का एक अछूता सा विषय रहा है। इस काल के पूर्ववर्ती साहित्य में एकाध प्रसंग (जैसे—तुलसी के 'नारद मोह प्रसंग') को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी हास्य रस सम्बन्धी कविता के दर्शन नहीं होते। श्रृंगारकालीन साहित्य में ही हमें सबसे पहले सुनियोजित रूप से हास्य रस सम्बन्धी कविता रची जाती हुई मिलती है। बेनी बन्दीजन का 'भँड़ौवा संग्रह', अली मुहिब खाँ (प्रीतम) का 'खटमल बाईसी' आदि रचनाएँ इस युग की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इनमें शिष्ट हास्य का बहुत ही सुन्दर रूप अंकित हुआ है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' नाम से प्राचीन कवियों की कविताओं का एक संग्रह निकाला था जिसमें इस युग में रचित हास्य रस की अनेक सुन्दर कविताएँ संग्रहीत हैं। यहाँ हम अधिक विस्तार में न जाकर, बेनी बन्दीजन और प्रीतम के हास्य रस-सम्बन्धी कुछ पद उद्धृत करना ही पर्याप्त समझते हैं।

बेनी बन्दीजन—औरंगजेब ने किसी कवि को इनाम में एक दुबली-पतली, बुड्ढी हथिनी दी। उसी का वर्णन बेनी बन्दीजन के मुँह से सुनिए—

'तिमिरलंग लई मोल, चली बाबर के हलके।
रही हुमायूँ संग, फेरि अकबर के दल के।।
जहाँगीर जस लियो, पीठि को भार हटायो।
साहजहाँ करि न्याव ताहि पुनि माँड़ चटायो।।
बल-रहित भई, पौरुष थक्यौ भगी फिरत बन स्यार-डर।
औरंगजेब करिनी सोई, लै दीन्हीं कविराज कर।।'

एक कारीगर एक हल्की-फुल्की सी रजाई बनाकर लाया। वह रजाई कैसी थी, यह कवि के मुँह से ही सुनने लायक है—

'कारीगर कोऊ करामात के बनाय लायो, लीनौ दाम थोरो जानि नई सुघरई है।
रायजू कों रायजू रजाँई दीन्हीं राजी ह्वै कै, सहर में ठौर ठौर सोहरत भई है।।
बेनी कवि पाय के अघाय रहे, घरी द्वैक, कहत न बनै कछु ऐसी मति ठई है।
साँस लेत उड़िगो उपल्ला औ भितल्ला सबै, दिन द्वै के बाती हेतु रुई रहि गई है।।'

खटमलों के आतंक और उत्पात का अनुभव अनेक नगर-निवासी कर चुके होंगे। शृंगार युग में भी खटमल ऐसा ही उत्पाती और आतंककारी रहा था। कवि अली मुहिब खाँ 'प्रीतम' उसके सर्वव्यापी आतंक का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

'बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि,
साँपन पै गयो, ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत हैं सीस पर,
बैंदन पै गयो, काहू दारू न बताई है।।
जब हहराय हम, हरि के निकट गए,
हरि मोसों कही, तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ न उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन,
खाट के नगर, खटमल की दुहाई है।।'

हास्य रस के उपर्युक्त उद्धरण देने से हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि हम इस विवेचन द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हमारे इस विवेच्य-काल का साहित्य जीवन के सुख-दुख मिश्रित विभिन्न पक्षों और रूपों को अपने परिवेश में समेट कर युगवाणी को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहा था। परन्तु शृंगार के अतिशय ढोल पीटे जाने के कारण हमारी दृष्टि शृंगार तक ही सीमित होकर रह गई थी।

रीतिमुक्त काव्य

कवियों के दो वर्ग

आलोचकों ने इस युग के शृंगारी कवियों को दो वर्गों में विभाजित कर दिया है। पहला वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने साहित्य-शास्त्र की प्राचीन बँधी-बँधाई परम्पराओं का अनुकरण कर रस, रीति, अलंकार, छन्द, शब्द-शक्ति, काव्य गुण आदि सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण किया था। ये कवि 'रीति' अर्थात् काव्यशास्त्र की निश्चित परम्पराओं में बँधे हुऐ थे, इसी कारण इन्हें 'रीतिबद्ध' कवि कहा जाता है। शृंगार और प्रेम, इनके प्रधान वर्ण्य-विषय रहे हैं। हम पीछे लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा का विवेचन करते हुए इस वर्ग के प्रधान कवियों का उल्लेख कर आए हैं। शुक्लजी ने इन कवियों द्वारा रचित साहित्य के आधार पर ही इस काल का नाम 'रीतिकाल' रखा था।

दूसरा वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने प्रधान रूप से अपनाया तो शृंगार और प्रेम को ही है, परन्तु भावाभिव्यक्ति, अभिव्यंजना पद्धति, उद्देश्य आदि की दृष्टि से

ये रीतिबद्ध कवियों से भिन्न और विशिष्ट हैं। इन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लक्षण-ग्रन्थों की रचना नहीं की है। इसी कारण इन्हें 'रीतिमुक्त' कवि कहा जाता है। शुक्लजी ने प्रथम वर्ग के कवियों को 'रीतिकाल' का प्रतिनिधि कवि मानते हुए, दूसरे वर्ग के इन रीतिमुक्त कवियों से उनकी भिन्नता इन शब्दों में स्पष्ट की है—

रीतिबद्ध कवियों से अन्तर

"ये पिछले वर्ग के कवि प्रतिनिधि कवियों से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर उनके अन्तर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा है। अधिकांश में ये भी श्रृंगारी कवि हैं और इन्होंने भी श्रृंगार रस के फुटकल पद्य कहे हैं। रचना-शैली में किसी प्रकार का भेद नहीं है। ऐसे कवियों में घनानन्द सर्वश्रेष्ठ हुए हैं। इस प्रकार के अच्छे कवियों की रचनाओं में प्राय: मार्मिक और मनोहर पद्यों की संख्या कुछ अधिक पाई जाती है। बात यह है कि इन्हें कोई बन्धन नहीं था। जिस भाव की कविता जिस समय सूझी, ये लिख गए। रीतिबद्ध ग्रन्थ जो लिखने बैठते थे उन्हें प्रत्येक अलंकार या नायिका को उदाहृत करने के लिए पद्य लिखना आवश्यक था जिनमें सब प्रसंग उनकी स्वाभाविक रुचि या प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हो सकते थे। रसखान, घनानन्द, आलम, ठाकुर आदि जितने प्रेमोन्मत्त कवि हुए हैं, उनमें किसी ने लक्षणबद्ध रचना नहीं की है।"

शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विश्लेषण से 'रीतिबद्ध' और 'रीतिमुक्त' कवियों का स्थूल भेद स्पष्ट हो जाता है। और साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि श्रृंगार-कालीन रीतिमुक्त कवि मूलत: उन्हें ही माना जा सकता है जिनका प्रधान वर्ण्य-विषय प्रेम और श्रृंगार रहा है, परन्तु जिन्होंने रीतिबद्ध कवियों के समान लक्षण-ग्रन्थों की रचना नहीं की है। इनके अतिरिक्त उन कवियों की गणना इस काल की रीतिमुक्त काव्यधारा के अन्तर्गत नहीं की जा सकती, जिन्होंने प्रेम और श्रृंगार के अतिरिक्त अन्य विषयों को अपनी काव्य-रचनाओं का आधार बनाया था। कुछ आलोचकों ने इन रीतिमुक्त कवियों को 'स्वच्छन्द काव्यधारा के कवि' कहकर भी पुकारा है। अर्थात् इन कवियों ने साहित्य-शास्त्र की किसी बँधी-बँधाई शास्त्रीय परम्परा का अनुगमन न कर, अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति को ही सर्वोपरि मान, काव्य-रचना की थी। सामान्यत: रीतिमुक्त कविता से इसी प्रकार की काव्य-रचना का बोध होता है।

एक शंका और उसका समाधान

इस काल में कुछ ऐसे भी प्रतिभाशाली और प्रसिद्ध कवि हुए हैं जिन्होंने किसी लक्षण-ग्रन्थ की रचना नहीं की, मगर फिर भी उन्हें रीतिबद्ध कवि ही माना जाता है। ऐसे कवियों में बिहारी, रसनिधि, रसलीन आदि प्रमुख हैं। बिहारी की सतसई लक्षण-ग्रन्थ न होकर लक्ष्य-ग्रन्थ है। इन्होंने कहीं भी लक्षणों का निरूपण नहीं

किया है, केवल रीति का सम्भार लेकर लक्ष्य प्रस्तुत कर दिए हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें 'रीतिबद्ध' मानने का औचित्य कैसे स्वीकार किया जा सकता है? आचार्य पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसका औचित्य प्रतिपादित करते हुए यह कारण बताया है—

"ये वस्तुत: लक्षण के बखेड़े में फँसना नहीं चाहते थे, कुछ चुने हुए प्रसंगों पर ही कविता रचना चाहते थे। ये रीति का बन्धन ढीला करके चलते थे, यद्यपि ये उससे मुक्त नहीं हुए थे। इसी से लक्षणबद्ध रचना से इनकी कविता अपेक्षाकृत उत्कृष्ट है। लक्षण और लक्ष्य का समन्वय करने में काव्योत्कर्ष को क्षति पहुँचती थी।....लक्षणकार लक्षण से तिल भर हट नहीं सकता। वह रत्ती भर भी हटा कि लक्ष्य बेमेल हुआ। ....रीति की केवल प्रेरणा ग्रहण करने वाले की कविता में ऐसा न होगा।....बिहारी की रचना में रीति का आधार अवश्य है, पर उक्ति का वैशिष्ट्य उन्हें लक्षणबद्ध कर्त्ताओं से पृथक् कर देता है। बिहारी आदि को रीतिबद्ध मानने का हेतु था—बन्धन बाँधे रहना ही, भले ही वह ढीला हो। उन्हें रीति की अपेक्षा अवश्य थी, कम-से कम उन्होंने उसकी उपेक्षा नहीं की।"

अत: हम उन कवियों को भी रीतिमुक्त कवि नहीं स्वीकार कर सकते जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थ तो नहीं लिखे परन्तु रीति का आधार अवश्य ग्रहण किया। बिहारी, रस-निधि, रसलीन आदि इस युग के ऐसे ही लक्षण-ग्रन्थ मुक्त रीतिबद्ध कवि थे।

मिश्र जी रीतिमुक्त कवि उन्हें मानते हैं—"जो रीतिबद्ध रचना को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। ये रीति में बँधना नहीं चाहते थे; इसी से इन्हें रीतिमुक्त या 'स्वच्छन्द कवि' कहना उपयुक्त प्रतीत होता है।" इन दोनों ही वर्गों के कवि एक ही वर्ण्य-विषय को लेकर चले थे, एक ही युग में उन्होंने काव्य-साधना की थी, और एक से ही वातावरण में रहे थे; इसलिए इनके काव्य में काफी समानता मिलती है। इस-लिए इस युग के रीतिमुक्त काव्य को इस युग के रीतिबद्ध काव्य से एकाएक सर्वथा पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। क्योंकि यह अस्वाभाविक और अमनोवैज्ञानिक माना जायेगा कि परम्परा से चली आती हुई एक परिपुष्ट काव्यधारा को सहसा त्याग कर कोई एकाएक किसी सर्वथा मौलिक काव्यधारा का प्रणयन करने में समर्थ हो सका हो।

दरबारी वातावरण का समान प्रभाव

रीतिमुक्त कवियों में प्रधान रूप से घनानन्द, ठाकुर, आलम, बोधा आदि की गणना की जाती है। इस काल के अन्य शृंगारी कवियों के समान ये कवि भी दर-बारी कवि रहे थे। बोधा पन्ना नरेश के राजकवि थे और ठाकुर विजावर रियासत के दरबारी कवि। आलम औरंगजेब के दूसरे बेटे मुअज्जम के आश्रय में रहते थे और घनानन्द मुहम्मदशाह रंगीले के मीरमुंशी थे। इसलिए इन कवियों पर उस दरबारी वातावरण का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। राज-दरबारों में अनूठी उक्ति

कहना ही पंडितों और काव्य-मर्मज्ञों से प्रशंसा प्राप्त करने का एकमात्र साधन माना जाता था। इसके अतिरिक्त शृंगारिक कविता ही आश्रयदाताओं का मनोरंजन करने में समर्थ समझी जाती थी। इसी कारण इन स्वच्छन्द कवियों के काव्य में भी खंडिताओं, धीराधीरादि, मानवती आदि नायिकाओं का खूब चित्रण हुआ है। वयःसन्धि, अभिसार, विविध केलि-क्रीड़ाओं, अवस्थाओं तथा तत्सम्बन्धी अन्य बातों का खूब वर्णन हुआ है। भाव यह है कि शृंगार के जिस सरस और स्वाभाविक चित्रण को अभी तक नीतिवादी आलोचकों द्वारा 'अश्लील' का विशेषण प्रदान किया जाता रहा है, उसका भी इस काव्य में कलापूर्ण अंकन हुआ है। राधा-कृष्ण इनके भी प्रेम के प्रतीक रहे हैं। इनमें भी चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति पाई जाती है। भाषा के क्षेत्र में भी ये रीतिबद्ध कवियों के ही समान जागरूक थे, बल्कि घनानन्द तो अत्यधिक जागरूक थे। पर डाक्टर बच्चनसिंह के शब्दों में—"इन बाह्य समानताओं के होते हुए भी इन कवियों के दृष्टिकोण में कुछ ऐसी नवीनता और मौलिकता थी जो प्रवृत्ति की दृष्टि से इन्हें रीति-कवियों से सर्वथा भिन्न कर देती है।"

रीतिमुक्त कवियों की मौलिकता

भावना का प्राधान्य—ये कवि 'सीखी सिखाई काव्य-सामग्री के बल पर छन्द जोड़ने वालों को' हेय समझते थे। कवि ठाकुर के अनुसार ऐसे कवि छन्द बनाना खेल समझ उसे सभा के बीच ढेले के समान फेंक मारना ही कवि-कर्म की चरम सीमा मानते थे—

'ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीनो खेल करि जानो है।'

अर्थात्—ठाकुर के अनुसार प्रयत्नपूर्वक की गई रचना को सच्ची कविता नहीं माना जा सकता। घनानन्द ने अपनी अभिव्यंजना-प्रणाली के सम्बन्ध में कहा है—

'लोग हैं लागि कवित्त बनावत,
मोहि तौ मेरे कवित्त बनावत।'

अर्थात् अन्य लोग—रीतिबद्ध कवि आदि—बड़े परिश्रम और प्रयत्न के साथ काव्य रचना करते हैं, परन्तु मेरे कवि के व्यक्तित्व का संगठन तो स्वयं भावना अर्थात् कविता ही करती है। स्वयं कविता ने मुझे कवि बना दिया है। इसके अतिरिक्त ये कविगण किसी भी काव्यशास्त्रीय बन्धन को स्वीकार नहीं करते। काव्यशास्त्रीय लक्षणों के आधार पर रची गई कविता को तो उन लक्षणों की सहायता से समझा जा सकता है परन्तु भावना-प्रधान रचना को समझ लेना हरेक के वश की बात नहीं होती। उसे समझने में प्रवीणों की बुद्धि भी ठगी-सी रह जाती है। घनानन्द की अपने काव्य के सम्बन्ध में इसी प्रकार की गर्वोक्ति द्रष्टव्य है—"जग की कविताई के

धोखे रहें, ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी।" मिश्र जी ने इनके काव्य में भावना के इसी प्राधान्य को लक्ष्य कर इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—"....ये प्रेम की अनेक अन्तःवृत्तियों के उद्घाटक, काव्यगत रमणीयता के नाना भेदों के विधायक, संयोग और वियोग की अनेक प्रेम-दशाओं के मार्मिक द्रष्टा, भावना-भेदों के सहृदय चितेरे, प्रेमरस से सिक्त भावुक, मिलन और विरह की हृद्गत अशान्ति के अनुभावक और भाषा-प्रयोग की सीमा के सच्चे ज्ञाता थे।"

तन्मयता : प्रधान विशेषता

रीतिबद्ध कवि सजग और सतर्क होकर काव्य-रचना करते थे। वे चुन-चुनकर ऐसी अनूठी उक्तियों का सम्भार प्रस्तुत करते थे, जिसे सुन श्रोता फड़क उठें। इसी कारण उनके काव्य में कला-पक्ष का अपेक्षाकृत अधिक निखार मिलता है। अनूठी उक्तियाँ इन रीतिमुक्त कवियों ने भी कही हैं परन्तु वे सर्वत्र हृदय-रस से सम्पृक्त हैं। इसी कारण इनके काव्य में मार्मिकता और मानव-मन की निगूढ़ भावनाओं का अत्यन्त हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। यह काव्य हमें तन्मय कर एक ऐसे आनन्द-लोक में ले जाता है जहाँ पीड़ा भी सुख देने वाली बन जाती है। मिश्र जी के शब्दों में—"पश्चिमी समीक्षकों के ढंग से कहें तो रीतिबद्ध कर्त्ता की कृति 'चेतनावस्था' (कॉन्सस-स्टेट) में गढ़ी जाती थी और रीतिमुक्त कर्त्ता की कविता 'अन्तःसंज्ञा' (सब-कॉन्सस या अन-कॉन्सस स्टेट) में लीन हो जाने पर आप उद्भूत होती थी।" इसी कारण हमें इस काव्य में एक अद्भुत, अननुभूत तन्मयता के दर्शन होते हैं।

प्रेम का स्वरूप

इन कवियों ने प्रेम का जो स्वरूप अपनाया, वह रीतिबद्ध कवियों के समान अतिशय माँसल न होकर सूक्ष्म और मानसिक था। वस्तुतः इन दोनों वर्गों के कवियों में यही प्रधान अन्तर था जिसने नवीन दृष्टिकोण और नई साहित्यिक मान्यताओं को जन्म दिया था। ये कवि प्रेम-मार्ग को अत्यन्त सीधा, वक्रताहीन और निस्संक मानते थे। इसमें चतुराई का लेशमात्र भी घातक हो उठता है—

"अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
यहाँ सूधे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥'

इन कवियों को लोक-भय और लोक-लाज से आबद्ध प्रेम के बँधे-बँधाये खेल नहीं सुहाते थे। इनका प्रेम गूढ़, एकनिष्ठ और एकान्तिक था—बिल्कुल भक्तों का सा प्रेम। यह नायिका-भेद के चौखटे में नहीं अट सकता था। इन्हें बन्धन-रहित, सरल और सीधा प्रेम-मार्ग अधिक पसन्द था। इनकी अनुभूतियाँ स्वयं काव्य का रूप धारण कर लेती थीं। इसी कारण इनका काव्य अधिक सम्वेदनशील और मार्मिक बन पड़ा है।

स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण

हिन्दी के बड़े-बड़े दिग्गज आलोचकों की यह धारणा रही है कि शृंगार-कालीन साहित्य निराश मन की विलास में डूब शान्ति पाने का प्रतिफलन है । परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्त है । वस्तुत: मुगल-साम्राज्य के विघटन के पश्चात् देश में स्वतन्त्रता की भावना जोर मार रही थी । और इसी भावना का उग्र रूप हमें सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम के रूप में दिखाई पड़ा था । देशव्यापी वह जन-क्रान्ति एकाएक अनायास हा नहीं फूट पड़ी थी । उसके लिए बहुत दिनों से एक सशक्त पृष्ठभूमि का निर्माण किया जा रहा था । जब स्वतन्त्रता की यह भावना जोर मारती है तो उसका प्रभाव जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में व्याप्त हो जाता है । साहित्य समकालीन परिस्थितियों से प्रभावित और संचालित होता है । हिन्दी-साहित्य के रीतिमुक्त कवियों के साहित्यिक विद्रोह का रहस्य भी तत्कालीन परिस्थितियों में ही छिपा हुआ है । जिस समय हिन्दी में इस स्वच्छन्दतावादी नवीन दृष्टिकोण का प्रणयन हो रहा था, वह काल राजनीतिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का संक्रान्ति-काल था । चारों ओर स्वतन्त्रता की भावना जोर मार रही थी । जनता एकतन्त्र अर्थात् सामन्ती आधिपत्य से छुटकारा पाना चाहती थी, यही भावना साहित्य के क्षेत्र में भी उभरी । इसी कारण इन रीतिमुक्त कवियों ने काव्यशास्त्र की परम्परागत मान्यताओं की अवहेलना करते हुए भाव तथा अभिव्यक्ति की नई दिशा को खोज निकाला था । आधुनिक युग में जिस प्रकार छायावाद ने द्विवेदी-युगीन नीरस, कलाहीन इतिवृत्तात्मकता का विरोध कर भाव और अभिव्यक्ति के नए ढंग अपनाए थे, उसी प्रकार इन रीतिमुक्त कवियों ने रीतिबद्ध काव्य की इतिवृत्तात्मकता और एकरसता का विरोध कर काव्य-क्षेत्र में स्वच्छन्द-पथ का निर्माण किया था । सम्भवत: इसी अद्भुत साम्य को देखकर ही कुछ आलोचकों ने आधुनिक छायावादी-काव्य को शृंगार-कालीन काव्य का आधुनिक कलात्मक संस्करण घोषित कर दिया था । अस्तु,

एकपक्षीय प्रेम का रूप

रीतिमुक्त काव्य के सभी रचयिता 'प्रेम की पीर' के गहरे अनुभवी थे । इनमें से लगभग सभी के जीवन के साथ एक-न-एक प्रेम-प्रसंग जुड़ा हुआ है । इनकी प्रेमिकाएँ ही इनके काव्य की मूल प्रेरक-शक्ति रही थीं । इनका यह प्रेम एकपक्षीय था । इन्हें इस बात की चिन्ता नहीं थी कि इनका प्रिय भी इनसे प्रेम करे । घनानन्द ने स्पष्ट घोषणा की थी कि—

'चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै घनानन्द,
प्रीति रीति विषम सु रोम-रोम रमी है ।'

बोधा ने भी इसी भावना को व्यक्त करते हुए कहा है—

'उपचार औ नीच विचारने ना, उर अन्तर वा छवि को घर है ।
हमको वह चाहै कि चाहै नहीं, हम चाहिए वाहि बिथा हर है ।।'

इन्हें अपने प्रिय से प्रेम के प्रतिदान की अपेक्षा नहीं है । और यही प्रेम का उदात्त रूप माना जाता है । इनके इस प्रेम की विचित्रता यह है कि यह न तो आदर्श-वादी है, और न अतिशय शरीरी, माँसल है । इसी कारण ये अपने इस प्रेममार्ग को एक ओर तो सीधा और सरल कहते हैं, और दूसरी ओर कबीर के समान अत्यन्त कठिन और विकराल—

'यह प्रेम को पंथ कराल महा, तलवार की धार पै धावनो है ।'

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अपनी एकनिष्ठता, गहनता और मार्मिकता के कारण यह प्रेम भक्ति की उदात्त सीमा का स्पर्श करते हुए भी सर्वथा लौकिक ही बना रहता है । इनका प्रेम एकपक्षीय होने के कारण विषम है । इन्हें सूफियों की 'प्रेम की पीर' से प्रभावित अवश्य माना जा सकता है, परन्तु सूफी काव्य-परम्परा की ऊहात्मक तथा रहस्यात्मक भावना से ये सर्वथा मुक्त रहे हैं । अपने प्रेम में इनका विश्वास इतना अटूट और गहन है कि वे इसी के भरोसे संसार सागर को पार करने के लिए कमर कसकर उतर पड़ते हैं :—

'कवि बोधा कछू सक यामैं नहीं, भवसिन्धु बजाइ कै लै तरिहै ।
यह प्रीति की रीतिहि जानत सो, परतीतहि मानि कै जौ करिहै ।।'

संयमित संयोग शृंगार

रीतिबद्ध कवियों के संयोग-वर्णन की तुलना में इनका संयोग-वर्णन विलक्षण रहा है । इनके काव्य में संयोग के चित्र अपेक्षाकृत कम हैं, क्योंकि अपने प्रिय के साथ इनका संयोग क्षणिक ही रहा था और उसके उपरान्त ये जीवन भर उसके वियोग में ही तड़पते रहे थे । इन्होंने जहाँ संयोग का वर्णन किया भी है, वहाँ अपने प्रिय के शारीरिक अंगों तथा केलि-क्रीड़ा के विविध रूपों का वर्णन न कर, प्रिय के रूप और गुणों का ही वर्णन किया है । रूप के प्रभाव का घनत्व ही इनकी प्रेमिकाओं के सौंदर्य का मापदंड है । "सौन्दर्य-सम्बन्धी इनका दृष्टिकोण रूप के प्रभाव के प्रति जितना सचेत है उतना स्थूल अंगों के प्रति नहीं । सौन्दर्य-वर्णन में सौन्दर्य की इस चेतना का आकलन ही मुख्य रूप से हुआ है ।" इसी कारण रीतिबद्ध कवियों के संयोग-वर्णन की तुलना में इनका संयोग-वर्णन संयमित, भावना-प्रधान अतः अधिक प्रभावशाली और कलात्मक बन पड़ा है ।

इनके इस संयोग-वर्णन की सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि संयोग के समय भी इन्हें वियोग की आशंका सताती रहती है । जैसे—

'यह कैसो संजोग न बूझि परै कि वियोग न क्यौंहूँ बिछोहत है ।'

तथा—

'अनोखी हिलग दैया ! बिछुरै तो मिलै चहै, मिलेहू में मारै जारै खटक बिछोह की ।'

इसी कारण इनकी यह प्रेम की पीर बड़ी विलक्षण है । इसे तो समझने के लिए 'हिय आँखिन' की आवश्यकता पड़ती है—

'समुझै कविता घनआनन्द की, हिय आँखिन नेह की पीर तकी ।'

वियोग-वर्णन

वस्तुतः इन कवियों की अनुभूतियों की तीव्रता और कलात्मक प्रतिभा का पूर्ण विकास इनके वियोग-वर्णन में ही दिखाई पड़ता है । इस क्षेत्र में रीतिबद्ध कवि इनके सामने बच्चे से प्रतीत होते हैं । इनका वास्तविक काव्य-क्षेत्र वियोग का ही रहा है । उस हृदय में भरे वियोग की कल्पना करना सहज नहीं जो संयोग में भी वियोग की आशंका से त्रस्त बना रहता है । घनानन्द के अन्तःकरण की यह पीड़ा निराशा का उदात्त रूप धारण कर फूट पड़ी है—

'रैन दिना घुटिबौ करै प्रान, झरैं दुखिया अँखियाँ झरना सी ।
प्रीतम की सुधि अन्तर में कसकै सखि, ज्यौं पसुरीनि में गाँसी ॥
चौचन्द चार चवाइन के चहुँ ओर मचैं, बिरचैं करि हाँसी ।
यौं मारिए भरिए कवि क्यों सु परौ जिन कोऊ सनेह की फाँसी ॥'

ये कवि अपनी पीड़ा को अपने अन्तर में ही समेटे रहते हैं । उन्हें ऐसा कोई सहृदय नहीं दिखाई देता जिससे अपनी पीड़ा और कसक का वर्णन कर अपना मन हल्का कर सकें—

'हम कौन सों पीर कहैं अपनी, दिलदार तौ कोऊ दिखातौ नहीं ।'
—बोधा

इनकी इस वेदना को तो कोई भुक्तभोगी ही समझ सकता है—

'पर बीर मिले बिछुरे की विथा, मिलिकै बिछुरै सोई जानतु है ।'
—ठाकुर

ये प्रेमी कवि अपने को निरवलम्ब समझते हैं, इसलिए उनकी इस असहायता में एक भयंकर तड़प और वेदना की कसक भर उठी है । घनानन्द की इन दो पंक्तियों में यही वेदना की कसक चरम सीमा का स्पर्श करती दिखाई पड़ती है—

'सूनो जग हेरौं रे अमोही । कहि काहि टेरौं,
आनन्द के घन ऐसी कौन लेखैं लेखियै ।'

वियोग-वर्णन में नायक-नायिका की शारीरिक कृशता, विरह-ताप आदि के अतिशयोक्तिपूर्ण ऊहात्मक चित्रण में इनका मन बहुत कम रमा है । प्रेमी की विवशता, दैन्य, असहायता आदि मानसिक दशाओं के भावपूर्ण वर्णन द्वारा प्रिय के कठोर हृदय में अपने प्रति दया उत्पन्न करने की चेष्टा ही अधिक मिलती है । इसने वियोग की मर्मस्पर्शिता को और भी अधिक बढ़ा दिया है ।

भाषा और शैली

भाषा और अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से भी ये अपने समकालीन रीतिबद्ध शृङ्गारी कवियों से भिन्न दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने अन्य कवियों की अपेक्षा भाषा-परिष्कार, उचित शब्द-चयन, लालित्य, संगीत, कोमलता आदि की ओर अधिक ध्यान दिया है। शुक्ल जी ने इस काल की भाषा को अव्यवस्थित, विभिन्न भाषाओं के शब्दों के मनमाने प्रयोग, शब्दों के विकृत रूपों से आपूर्ण आदि माना है; परन्तु प्रेमरस के इन एकान्त आराधकों के काव्य में भाषा की उपर्युक्त गड़बड़ी नहीं मिलती। घनानन्द, रसखान आदि ने ब्रजभाषा का ऐसा स्पष्ट और शुद्ध रूप प्रस्तुत किया है कि उसके आधार पर ब्रजभाषा का शुद्ध व्याकरण बनाया जा सकता है। शुक्ल जी भी घनानन्द की भाषा को आदर्श ब्रजभाषा मानते हैं। शुक्ल जी के ही शब्दों में—"इनकी सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व है।.........भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भाव-भंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे, उस रूप में मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नवीन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी।.......भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर इन्होंने उसे अपनी ओर से शक्ति प्रदान की है। घनानन्द जी उन विरले कवियों में से हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं।.......भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।"

निष्कर्ष

घनानन्द की भाषा में लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य, वचन-वक्रता, प्रांजलता, रमणीयता आदि श्रेष्ठ काव्य-रचना के लिए अपेक्षित गुणों का पूर्ण रूप प्रस्फुटित हुआ है। वास्तव में उन्हें इस दृष्टि से भी ब्रजभाषा का आदर्श कवि माना जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल के ये स्वच्छन्द काव्य-धारा के प्रवर्त्तक रीतिमुक्त कवि काव्य-जगत में एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम साहित्य के क्षेत्र में प्राचीन परम्परागत रूढ़ मान्यताओं, पद्धतियों, काव्यरूपों का विरोध कर उस साहित्यिक क्रान्ति को जन्म दिया था, जो आधुनिक हिन्दी-साहित्य में हमें विभिन्न रूप धारण कर निरन्तर मिलती चली आ रही है। परम्परा का विरोध साधारण व्यक्तियों द्वारा नहीं किया जाता। इसके लिए अपूर्व मेधा, अद्भुत प्रतिभा, अमित साहस और दृढ़ संकल्प-शक्ति की आवश्यकता होती है। और इन कवियों में ये गुण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। ऐसे कवियों की रचनाओं से समृद्ध साहित्य युग-युग तक अभिनन्दनीय बना रहता है। परन्तु दुःख इस बात का

है कि हमारे अधिकांश आलोचक पूर्वाग्रहों से मुक्त हो इस साहित्य का मूल्यांकन नहीं कर सके हैं। फलस्वरूप हिन्दी के सामान्य पाठक की अभी तक यही धारणा बनी हुई है कि शृङ्गार-कालीन साहित्य अश्लील, घिनौना, काव्य-शास्त्र के विवेचन में असमर्थ और न जाने किन-किन अवगुणों से भरा पड़ा है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि इस काल में रचित अधिकांश साहित्य काव्य का श्रेष्ठतम कलात्मक रूप प्रस्तुत करने में पूर्ण सक्षम है—भाव, कला आदि सभी दृष्टियों से। घनानन्द आदि की रचनाओं में व्रजभाषा-काव्य उत्कर्ष की चरम सीमा का स्पर्श कर रहा है। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि इस साहित्य का उचित मूल्यांकन कर इसके प्रति जन-साधारण में व्याप्त भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया जाय।

शृंगार-कालीन प्रमुख कवि

शुक्लजी ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में इस काल के शताधिक कवियों का परिचय दिया है। शुक्लजी के अनेक परवर्ती इतिहासकारों ने नए अनुसन्धान के आधार पर इन कवियों की संख्या में और भी अभिवृद्धि की है। यहाँ स्थानाभाव के कारण उन सभी कवियों का परिचय देना हमारे लिए सम्भव नहीं, इसलिए हम इस काल की विभिन्न धाराओं के चुने हुए श्रेष्ठ प्रतिनिधि कवियों का ही परिचय देने का प्रयत्न करेंगे। वैसे हम इस काल का विवेचन करते समय इस काल के विभिन्न श्रेष्ठ कवियों का उल्लेख कर आए हैं, इसलिए यहाँ उनका अधिक विवरण देने से बचना चाहेंगे। अस्तु,

आचार्य केशवदास (सं० १६१२–१६७४ वि०)

हम भक्तिकालीन राम-काव्य और इस काल में रचित काव्य-शास्त्र का विवेचन करते हुए आचार्य केशव के कृतित्व और उनके विवादास्पद साहित्य और व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश डाल आए हैं। इनके लिखे हुए सात ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—विज्ञान गीता, रतन-बावनी, जहाँगीर जस चन्द्रिका, वीरसिंह देव चरित्र, रसिक-प्रिया, कवि-प्रिया, और रामचन्द्रिका। इनमें से 'रामचन्द्रिका' राम-चरित्र से; रतन बावनी, जहाँगीर जस चन्द्रिका, वीरसिंह देव चरित्र इन नामों वाले राजाओं की यशगाथा से; विज्ञान-गीता अध्यात्म से; तथा रसिक-प्रिया और कवि-प्रिया काव्य-शास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं। केशव संस्कृत और हिन्दी के प्रकांड पंडित थे। इन्होंने संस्कृत में 'शीघ्रबोध' नामक एक ज्योतिष-ग्रन्थ की भी रचना की थी। ये अपने समय के अत्यन्त प्रसिद्ध कवि और विद्वान् माने जाते थे। कवि-समाज में इनकी इतनी अधिक प्रसिद्धि थी इनके काव्य को कवियों की बुद्धि की कसौटी मान लिया गया था। इसी कारण इनके सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध थी कि—'कवि को देन न चहैं बिदाई, पूछैं केशव की कविताई।' इनके काव्य की क्लिष्टता को देखकर ही शुक्लजी ने इन्हें 'कठिन काव्य

का प्रेत' की उपाधि दे डाली थी। जब कि तथ्य यह है कि केशव की रचनाओं में चमत्कार-प्रदर्शन का प्राधान्य रहते हुए भी कहीं-कहीं अत्यन्त भावपूर्ण, रससिक्त कविता के दर्शन होते हैं। शुक्लजी की नज़र में केशव का सबसे बड़ा अपराध शायद यह था कि उन्होंने तुलसी के 'रामचरितमानस' की प्रतिद्वन्द्विता में 'रामचन्द्रिका' लिखने का दुस्साहस क्यों किया था। यदि केशव 'रामचन्द्रिका' न लिखते तो संभवतः शुक्लजी के इतने अधिक कोपभाजन न बनते। यह सत्य नहीं है कि केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। वस्तुतः उनका काव्य-व्यक्तित्व आचार्य और कवि का मिश्रित रूप है। इसीलिए वे प्रायः अपने पांडित्य-प्रदर्शन के मोह का संवरण नहीं कर पाए हैं। केशव का काव्य एक दरबारी-कवि का काव्य है, इसलिए उनकी तुलना सूर, तुलसी आदि के साथ नहीं की जानी चाहिए। उनके काव्य में वे सारे गुण हैं, जो दरबारी-काव्य की विशेषता माने जाते हैं।

यह कहना गलत है कि केशव एक सफल कवि नहीं थे। उनके काव्य में हमें अलंकारों और छन्दों का वैविध्यपूर्ण प्रयोग तो मिलता ही है, साथ ही सफल और मार्मिक संवादों के क्षेत्र में वे हिन्दी-साहित्य के अद्वितीय कवि माने गए हैं। जहाँ उनका हृदय रमा है, वहाँ उच्चकोटि के साहित्य के दर्शन होते हैं। युद्ध, सेना की तैयारी, राज-दरबार, उपवन, शृंगार, वीर आदि के चित्रण में उनका कवि पर्याप्त ओज, कला, सौन्दर्य और प्रभविष्णुता के साथ प्रकट हुआ है। केशव की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि वह काव्यशास्त्रीय परम्परा है, जिसे उन्होंने विकसित किया था और जिसने परवर्ती शृंगार-कालीन समृद्ध काव्यशास्त्रीय परम्परा को आगे बढ़ाने में ऐतिहासिक योग प्रदान किया था। वे अलंकारवादी होते हुए भी रस को पर्याप्त महत्ता प्रदान करते थे। इसलिए उन्हें हिन्दी-साहित्य का प्रथम सफल काव्यशास्त्र रचयिता, प्रबन्धकार और कवि माना जा सकता है।

चिन्तामणि त्रिपाठी (जन्म सम्वत् १६६६—मृत्यु तिथि अनिश्चित)

इनका जन्म सम्वत् १६६६ में कानपुर के तिकवाँपुर नामक गाँव के निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के यहाँ हुआ था। भूषण और मतिराम इनके छोटे भाई थे। ये नागपुर के सूर्यवंशी भोंसला मकरन्दशाह के आश्रित कवि थे। अभी तक इनके रचे पाँच ग्रन्थ मिले हैं—काव्य-विवेक, कविकुल कल्पतरु, काव्य-प्रकाश, छन्द विचार, और रामायण। 'रस-मंजरी' नामक इनकी एक और रचना का उल्लेख मिलता है। इनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कविकुल कल्पतरु' ही रहा है। यह काव्यशास्त्रीय लक्षण-ग्रन्थ है। शुक्लजी इन्हें ही शृंगार-कालीन काव्यशास्त्रीय लक्षण-ग्रन्थ परम्परा का प्रवर्त्तक मानते हैं। उनके यह मानने का कारण यह रहा है कि चिन्तामणि ने संस्कृत के परवर्ती रसवादी काव्यशास्त्रीय आचार्यों—आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ की परम्परा का अनुगमन किया था, न कि पूर्ववर्ती—भामह, उद्भट आदि आचार्यों की अलंकारवादी परम्परा का। और हिन्दी के परवर्ती लक्षण ग्रन्थकारों ने चिन्तामणि द्वारा स्थापित इस रसवादी परम्परा को ही अपनाया था।

चिन्तामणि ने संस्कृत के 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द' आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों को अपना आधार बनाया और रस को प्रधानता दी। काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुण-दोष विवेचन में ये मम्मट से प्रभावित हैं और रस-विवेचन में मम्मट और विश्वनाथ—दोनों से। अलंकार और नायिका-भेद विवेचन में भी ये संस्कृत के विभिन्न आचार्यों—धनंजय, दीक्षित, विश्वनाथ, भानुमिश्र आदि से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। लक्षण देते समय इन्होंने संस्कृत आचार्यों द्वारा दिए गए लक्षणों का शाब्दिक अनुवाद मात्र कर दिया है। इन्होंने लक्षण दोहों में और उनके उदाहरण सोरठों में दिए हैं। वस्तुतः इनके कवि-रूप का परिचय इनके द्वारा दिए गए उदाहरणों में ही मिलता है। अन्य विषयों की अपेक्षा इनका मन श्रृंगार रस का विवचन करने और उसके सरस उदाहरण देने में ही अधिक रमा है। इसी कारण इनके काव्य में सरसता अधिक मिलती है। कवि के रूप में इन्हें साधारण श्रेष्ठ कोटि का ही कवि माना जा सकता है। इनमें कल्पना की ऊँची उड़ान के दर्शन नहीं होते। भाषा का अकृत्रिम प्रवाह और भाव और भाषा का सामंजस्य—इन दोनों गुणों ने इनकी कविता को सरस, सहज और सरल बना दिया है। भाषा ललित और सानुप्रास है। एक आलोचक के शब्दों में—"चिन्तामणि की प्रतिष्ठा और ख्याति का मूल कारण अनुप्रास युक्त ललित भाषा में मनोहर प्रणाली का अवलम्बन मात्र है।" इनकी प्रसिद्धि का एक कारण यह भी रहा है कि इन्होंने अत्यन्त सरल रूप में काव्यशास्त्र का निरूपण किया है। हिन्दी के लक्षण-कारों में इनसे बढ़कर सुगम, स्पष्ट और स्मरणीय लक्षण-उदाहरण देने वाला दूसरा कोई आचार्य नहीं हुआ। इनकी सरस, सरल कविता का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"कोकिल कूक सुनै उमगै मन, और सुभाउ भयो अब ही को।
फूली लता द्रुम कुंज सुहात, लगे अलि गुंजन भावत जी को॥
कारन कौन भयो सजनी, यहु खेल लगै गुड़ियान को फीको।
काहे ते साँवरो अंग छबीलो, लगै दिन द्वैक तें नैननि नीको॥'

मतिराम (जन्म तिथि—सं० १६७४ : निधन—अनिश्चित)

ये चिन्तामणि और भूषण के भाई थे। इनका जन्म सम्वत् १६७४ के लगभग हुआ था। ये बूँदी-नरेश महाराव भावसिंह के बहुत समय तक आश्रित रहे थे। इनके रचे मुख्य ग्रन्थ ये हैं—ललित ललाम, रसराज, मतिराम सतसई, छन्दसार, साहित्य-सागर, और लक्षण श्रृंगार। 'मतिराम-सतसई' 'बिहारी सतसई' के समान सरस मुक्तकों का संग्रह ग्रन्थ है। अन्य सारे ग्रन्थ लक्षण-ग्रन्थ हैं। 'रसराज' में रसों का, तथा 'ललित ललाम' में अलंकारों का विवेचन किया गया है। इन ग्रन्थों में दिए गए लक्षण और उदाहरण सरस काव्य के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं। वस्तुतः मतिराम मूलतः कवि थे, इसीलिए उनकी रचनाओं में श्रेष्ठ कलात्मक, सरस काव्य का ही रूप अधिक प्रस्फुटित हुआ है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार—"भाषा के सहज प्रवाह और भावों के अनाडम्बर प्रकाशन में मतिराम के साथ भाषा के बहुत थोड़े कवियों की तुलना की जा सकती है।.......भावों का ऐसा सरस चित्रण दुर्लभ है।"

मतिराम के भाव और भाषा—दोनों में एक सहज स्वाभाविकता और प्रवाह मिलता है। वाक्य-विन्यास—स्वाभाविक, सरल और मधुर है। इनके कवित्त-सवैयों में भारतीय जीवन के घरेलू मर्मस्पर्शी चित्रों की प्रतिष्ठा के साथ, ध्वनि का अपूर्व सौन्दर्य मिलता है। शुक्ल जी के अनुसार—रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती। शुक्लजी ने इनके काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"भाषा के ही समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम हैं और न उनके व्यंजक व्यापार और चेष्टाएँ। भावों को आसमान पर चढ़ाने और दूर की कौड़ी लाने के फेर में ये नहीं पड़े हैं। नायिका के विरह-ताप को लेकर बिहारी के समान इन्होंने मजाक नहीं किया है। इनके भाव-व्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी और सरल है, बिहारी के समान चक्करदार नहीं। वचन-वक्रता भी इन्हें बहुत पसन्द न थी।···· इनका सच्चा कवि-हृदय था। ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीकों पर चलने के लिए विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते, तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति दिखाते, इसमें कोई सन्देह नहीं। भारतीय जीवन से छाँट कर लिए हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रों में जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सब की अनुभूति के अंग हैं।"

शृंगार रस के अतिरिक्त इन्होंने अपने आश्रयदाता महाराव भावसिंह की प्रशंसा में भी कुछ छन्द रचे हैं, जिनमें वीर रस का चित्रण हुआ है। इनकी सरस कविता का एक नमूना प्रस्तुत है—

'कुन्दन को रंग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु विलासन की सरसाई।।
को बिनु मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसकानि-मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई।।'

उपर्युक्त उदाहरण मोहक भावों और सुन्दर भावों का अप्रतिम उदाहरण है। काव्य में ऐसी स्वाभाविक सहजता बहुत कम मिलती है।

बिहारी (जन्म—सं० १६५२ : निधन—सं० १७२०)

बिहारी इस काल के ऐसे सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय कवि माने जाते हैं, जिन्होंने कोई लक्षण-ग्रन्थ तो नहीं लिखा, परन्तु जिनकी सतसई लक्षणों के उदाहरणों के लिए एक अनुपम रचना के रूप में स्वीकार की जाती रही है। इसी कारण इन्हें रीति-बद्ध कवि माना गया है। इनका जन्म सम्वत् १६५२ में और मृत्यु सम्वत् १७२० के आसपास मानी गई है। इनके जन्मस्थान और जाति के सम्बन्ध में अनेक विवाद रहे हैं। जन्मस्थान भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा ग्वालियर, ग्वालियर के पास स्थित बसुआ गोविन्दपुर नामक गाँव तथा मथुरा माने गए हैं। कुछ लोग मथुरा में इनकी ससुराल

बताते हैं। ये माथुर चौबे केशवराय के पुत्र कहे जाते हैं। कोई इन्हें आचार्य केशवदास का भी पुत्र सिद्ध कर देते हैं। इनके नाम के विषय में भी मत-भेद है। कोई इनका नाम बिहारीलाल मानता है और कोई बिहारीदास। हमें उपर्युक्त विवादों से कोई मोह नहीं है। हमारे लिए तो 'बिहारी सतसई' के प्रसिद्ध रचयिता केवल 'बिहारी' ही पर्याप्त हैं।

बिहारी जयपुर-नरेश राजा जयसिंह के दरबारी-कवि थे। किम्वदन्ती है कि जिस समय ये जयपुर पहुँचे थे, राजा जयसिंह अपनी अल्पवयस्का नई छोटी रानी के प्रेमपाश में ग्रस्त हो सारा राज-काज भूल बैठे थे। सरदारों ने बिहारी की काव्य-प्रतिभा को उकसाया और बिहारी ने यह दोहा लिखकर किसी प्रकार महाराज के पास रनिवास में पहुँचा दिया—

'नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बन्ध्यो, आगे कौन हवाल।।'

दोहा पढ़कर राजा जयसिंह मुग्ध हो गए और उन्होंने बिहारी को अपना दरबारी-कवि बना लिया। कहा जाता है कि उन्हीं के कहने से बिहारी ने अपनी सतसई की रचना की थी और उन्हें पुरस्कार स्वरूप प्रति दोहे पर एक सोने की अशर्फी मिली थी। बिहारी की 'सतसई' में लगभग ७२६ दोहे संग्रहीत हैं। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य कोई रचना नहीं मिलती।

बिहारी सतसई

यह अपने युग का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा है। इस ग्रन्थ की सर्वाधिक लोकप्रियता का यह प्रमाण है कि अब तक इस ग्रन्थ की जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं, उतनी हिन्दी के अन्य किसी भी ग्रन्थ की नहीं लिखी गई। इस ग्रन्थ पर प्राकृत की 'गाहा सत्तसई' ' (गाथा सप्तशती) और संस्कृत के 'अमरुक-शतक' का प्रभाव विशेष रूप से और 'आर्या सप्तशती' का गौण रूप से माना जाता है। उक्त ग्रन्थों के अनेक छन्दों का भाव बिहारी के दोहों में यथावत् उतर आया है। इसके टीकाकारों में कृष्ण कवि, हरिप्रकाश, लल्लूजी लाल, सरदार कवि, ज्वाला प्रसाद मिश्र, पं० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जैसे साहित्य-मनीषियों का नाम आता है। संस्कृत में भी इसकी टीका और अनुवाद हो चुका है। पं० अनन्दीलाल शर्मा जोशी ने 'फिरंगे सतसई' के नाम से फारसी में इसकी टीका लिखी है। अनेक कवियों ने इन दोहों के भावों को भिन्न-भिन्न छन्दों में पल्लवित किया है। छोटेराम वैद्य नामक सज्जन ने तो यह चमत्कार दिखाया है कि इसके प्रत्येक दोहे का अर्थ करके वैद्यक का कोई-न-कोई नुस्खा निकाल डाला है। उर्दू में में भी 'गुलदस्तए बिहारी' के नाम से इसका अनुवाद हो चुका है। वस्तुतः आधुनिक युग के प्रथम चरण तक बिहारी हिन्दी के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि और चर्चा के विषय रहे थे।

'बिहारी सतसई' शृंगार-प्रधान रचना है। परन्तु शान्त, वीर, हास्य आदि रसों; नीति-सूक्तों, ज्योतिष तथा लोक-व्यवहार आदि से सम्बन्धित दोहे भी इसमें मिल जाते हैं। अनेक दोहों में भक्ति-भावना का भी प्रकाशन हुआ है। यद्यपि यह ग्रन्थ लक्षण-ग्रन्थ न होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है—फिर भी इसमें रस-विवेचन, नायिका-भेद, शृङ्गार के उभय पक्ष, प्रकृति आदि सम्पूर्ण शृंगारकालीन काव्य-पद्धतियों और विषयों का समावेश मिल जाता है, जो सब रीतिबद्ध शास्त्रीय काव्य-परम्परा के अनुरूप ही किया गया है। अनुभावों की रमणीय विवृत्ति, प्रेम की विभिन्न दशाएँ, हावों एवं संचारियों का मनोरम प्रयोग, कवि का दर्शन एवं जीवन व्यापी अनुभव—सभी कुछ अत्यन्त सहज एवं हृदयस्पर्शी शैली में प्रस्तुत किया गया है। दोहे जैसे छोटे से छन्द में बिहारी ने ऐसे-ऐसे भाव ठूँस-ठूँस कर भरे हैं कि उनके इस अद्भुत काव्य-कौशल को देख आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है। इन दोहों में मौलिक सूझ, अर्थ-गाम्भीर्य, भाषा की कसावट, कल्पना की समाहार शक्ति और अलंकारों की छटा आदि सभी गुण एक साथ मिल जाते हैं। इनके जैसे अर्थ-गर्भित और भावपूर्ण, सुगठित और अलंकृत दोहे हिन्दी में विरल ही हैं।

शुक्लजी बिहारी की इस अप्रतिम सफलता का रहस्य बिहारी द्वारा प्रयुक्त कल्पना की समाहार शक्ति में निहित मानते हैं। साथ ही उनकी भाषा की समास-शक्ति भी अद्भुत है। सफल मुक्तक काव्य की रचना के लिए ये दोनों गुण विशेष रूप से आवश्यक होते हैं। बिहारी एक सजग कलाकार थे।, वे भावावेश की दशा में काव्य-रचना न कर पर्याप्त सन्तुलित और सावधान मन से एक-एक भाव को तौलते, उसके अनुरूप एक-एक उपयुक्त सटीक शब्द का चयन करते और फिर भाव और शब्दों में पूर्ण सामंजस्य और एक लय की स्थापना करते हुए काव्य रचना करते थे। सम्भव है वे एक दोहे को लिखकर बार-बार उसे पढ़ते और संशोधन करते रहे हों। सजग कलाकारों की यही विशेषता होती है। बिहारी ने शब्दों का इतना नपा-तुला प्रयोग किया है कि उनके स्थान पर उनके पर्यायवाची शब्दों को रख देने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है और दोहे का सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य मारा जाता है। इनके इस भाषा-संगठन और शब्द-चयन चातुर्य के दर्शन 'असंगति' अलंकार के उदाहरण रूप में रचे गए इस दोहे में हो जाते हैं—

'दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥'

उलझना, टूटना, जुड़ना और गाँठ पड़ना—सूत में ही सम्भव होता है। पर प्रेम के क्षेत्र में अनोखी बातें होती हैं। वहाँ उलझते तो दो नेत्र हैं और टूटता कुटुम्ब है। मिलते हैं दो प्रेमी और गाँठ (ईर्षा की) पड़ती है—दुष्टों के हृदय में। यह विधाता की कैसी नई रीति है! इस दोहे में से एक भी शब्द को बदल देना सम्भव नहीं है। ऐसे ही दोहे बिहारी की अद्भुत काव्य-शक्ति के प्रतीक हैं। क्योंकि बिहारी

सजग कलाकार हैं, इसलिए उनके दोहों में अलंकरण और काव्य-शक्ति के चमत्कार-प्रदर्शन का प्रयत्न रहना स्वाभाविक है। इसीलिए बिहारी के दोहे खरादे हुए, स्वर्ण-जटित रत्नों के समान काव्य-प्रभा से मंडित हो उठे हैं।

शृंगार-वर्णन

बिहारी मूलतः शृंगार के कवि हैं। उनके दोहों में शृंगार के सम्पूर्ण विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, हाव आदि के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। इन्होंने शृंगार के दोनों पक्षों का चित्रण किया है परन्तु प्रधानता संयोग-शृंगार की ही रही है। संयोग-शृङ्गार स्वस्थ और माँसल है, यद्यपि विपरीत रति आदि के चित्रणों के कारण कुछ आलोचकों ने इन पर अश्लीलता का लांछन लगा दिया है। संयोग-वर्णन में सजीवता और जीवन की मोहक, विलासमय, रसीली उछल-कूद दिखाई देती है। शुक्लजी के अनुसार रस-व्यंजना का पूर्ण वैभव इनके अनुभावों के विधान में दिखाई देता है। जैसे—

'बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहन हँसै, नैन कहै, नटि जाइ॥'

अनुभावों और हावों की ऐसी सुन्दर व्यंजना अन्यत्र विरल ही है। वस्तु-व्यंजना के अन्तर्गत उन्होंने नायिका के सुकुमार सौन्दर्य, विरहातप जनित क्षीणता आदि का वर्णन किया है, और इस वर्णन में ऊहा का प्रयोग होने के कारण औचित्य का निर्वाह नहीं हो सका है। ऐसे दोहे चमत्कार की सृष्टि ही अधिक करते हैं। जैसे—

'पत्रा ही तिथि पाइए, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहे, आनन ओप उजास॥'

+ + +

'आड़े दै आले वसन जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेहबस, सखी सबै ढिग जाति॥'

परन्तु कहीं-कहीं इन दोहों में भावों की ऐसी मर्मस्पर्शी व्यंजना मिलती है कि उन्हें पढ़कर हृदय आन्दोलित हो उठता है। स्मृति संचारी का एक रूप प्रस्तुत है—

'सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥'

बिहारी में हमें काव्य-शिल्प तो अत्यधिक निखरा हुआ मिलता है परन्तु भाव-चित्रण का उदात्त और उत्कृष्ट वैसा रूप नहीं मिलता जो घनानन्द आदि की विशेषता रही है। वस्तुतः बिहारी का काव्य नक्काशीदार उत्कृष्ट शिल्प का एक अप्रतिम नमूना है। यदि इसके साथ भावों की गहनता और तन्मयता भी मिल जाती तो बिहारी हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि बन जाते। अपने उत्कृष्ट शिल्प द्वारा बिहारी

हमें क्षण भर के लिए ही आन्दोलित कर जाते हैं परन्तु उनके भावों की अनुगूँज अधिक समय तक स्थायी नहीं रह पाती। शुक्लजी ने बिहारी की इस निर्बलता को पकड़ लिया था और उनके काव्य-शिल्प, भाषा-सौन्दर्य, रस-व्यंजना आदि की प्रशंसा करते हुए भी लिखा था कि—

"जो हृदय के अन्तस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका सन्तोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता, जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूँजती रहे। यदि घुले हुए भावों का आभ्यन्तर प्रवाह बिहारी में होता तो वे एक-एक दोहे पर ही सन्तोष न करते। मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का सा गूँजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।

"दूसरी बात यह है कि भावों का उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी श्रृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे ही रह जाती है।"

देव (जन्म—सं० १७३० : निधन—सं० १८२४)

इनका जन्म संवत् १७३०, मृत्यु संवत् १८२४, और जन्मभूमि इटावा मानी जाती है। इनके रचे ग्रन्थों के आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इन्हें जीवन में बहुत भटकना पड़ा था और इन्होंने अनेक आश्रयदाताओं के आश्रय में रह अनेक ग्रन्थ रचे थे। इनके रचे ग्रन्थों की संख्या कोई ५२, कोई ७२, और कोई ८० बताते हैं परन्तु शुक्लजी ने इनके २५ ग्रन्थों की सूची दी है। देव कवि लक्षण-ग्रन्थ रचनाकार और रससिद्ध सफल कवि—दोनों ही रूपों में प्रसिद्ध हैं। कहते हैं इन्होंने अपने पहले लक्षण-ग्रन्थ 'भाव विलास' की रचना १६ वर्ष की अवस्था में ही की थी। इनके ग्रन्थों में 'भाव विलास, अष्टयाम, राग-रत्नाकर, जाति विलास, रस-विलास, काव्य रसायन, राधिका विलास, नीति-शतक, नख-शिख, प्रेम-दर्शन, वृक्ष विलास' आदि प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में नायिका-भेद, नखशिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन, रस-अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्य, पिंगल, नीति-दर्शन, आदि का निरूपण किया गया है। परन्तु इनका प्रमुख वर्ण्य-विषय श्रृंगार ही रहा है। इनका सा नायिका-भेद-वर्णन इस युग के अन्य किसी भी कवि ने नहीं किया है।

काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में इन्होंने कहीं परम्परागत मान्यताओं का समर्थन किया है और कहीं नई मौलिक मान्यताओं की भी उद्भावना की है। एक स्थान पर ये शब्द को काव्य का शरीर, रस को उसका प्राण, और अलंकार को उसका शोभाकारक धर्म मानते हैं तो दूसरे स्थान पर शब्द को काव्य का प्राण, और अर्थ-मन-रसमय सौन्दर्य को उसका शरीर घोषित करते दिखाई पड़ते हैं। मत-विवेचन में यह विरोधा-

भास इन्हें अधिक प्रभावशाली आचार्य नहीं बनने देता। सामान्यतः इन्हें शब्द-शक्ति का मर्मज्ञ माना जाता है। वस्तुतः इनकी रचनाओं में इनके आचार्य-रूप की तुलना में इनका कवि-रूप ही अधिक उभरा हुआ मिलता है। देव को इस काल का एक अत्यन्त उच्चकोटि का रससिद्ध कवि माना जाता है। डा० श्यामसुन्दरदास ने इन दोनों रूपों का विवेचन करते हुए लिखा है कि—"पांडित्य की दृष्टि से रीतिकाल के समस्त कवियों में देव का स्थान आचार्य केशव दास से कुछ नीचा माना जा सकता है, कलाकार की दृष्टि से वे बिहारी से निम्न ठहरते हैं, परन्तु अनुभव और सूक्ष्म-दर्शिता में उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा का मिश्रण करने और सुन्दर कल्पनाओं की अनोखी शक्ति लेकर विकसित होने के कारण हिन्दी काव्य-क्षेत्र में सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीतिकाल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पड़ता है।" शुक्लजी ने भी इनकी काव्य-प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए लगभग यही बात कही है—"इनका सा अर्थ-सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। रीतिकाल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, इसमें सन्देह नहीं।"

देव की रचनाओं में विषयों की विविधता बहुत-अधिक मिलती है। देव किसी भी विषय को उठाकर उसे बड़ी कुशलता के साथ आगे बढ़ाते हैं परन्तु कहीं-कहीं उसे पूर्णता तक पहुँचाते-पहुँचाते चूक जाते हैं। ऐसे स्थलों पर भाषा भावों के उन्मेष को सम्हाल नहीं पाती। देव में भी बिहारी के समान उक्ति-वैचित्र्य का मोह मिलता है और वे इसी मोह के कारण कहीं-कहीं शब्दालंकारों का निरर्थक प्रयोग कर बैठते हैं। परन्तु जहाँ वे पांडित्य प्रदर्शन, उक्ति-वैचित्र्य, अतिशय अलंकरण आदि की प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर भाव में डूब छन्द बाँधते हैं, वहाँ उनकी भाषा में मतिराम की भाषा की सी सहज गति आ जाती है। यहीं उनकी सफल काव्य-प्रतिभा का चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने देव की इसी विशेषता की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—"जब देव अपने प्रिय और मनोवांछित विषय की व्यंजना का संकल्प करते हैं तो वे बिहारी और मतिराम—दोनों के गुणों का सुन्दर परिचय देते हैं। वे यत्नज अलंकारों, प्रेमाभिव्यंजक शरीर-चेष्टाओं और तिरछी-टेढ़ी वचनवक्रिमा से उत्तेजित होने वाले मादक चित्रों की वैसी ही सुन्दर व्यंजना करते हैं, जैसी अयत्नज अलंकारों, अनुरागजन्य मनोविकारों और परिस्थिति-जन्य उक्ति वैचित्र्य की।"

देव की अभिव्यंजना शैली प्रौढ़ और प्रांजल है। वे काव्य-रचना करते समय भाषा के सौष्ठव, समृद्धि, अलंकरण और सज्जा का विशेष ध्यान रखते हैं। परन्तु जहाँ वे पद-मैत्री, यमक, अनुप्रास आदि के चमत्कार-प्रदर्शन में फँस जाते हैं वहाँ भाषा का प्रवाह और सहज सौंदर्य नष्ट हो जाता है। ऐसे स्थलों पर शब्द-व्यय अधिक और अर्थ की न्यूनता, शब्दों की तोड़-मरोड़ आदि निर्बलताएँ आ जाती हैं।

काव्य-चमत्कार के मोह में पड़ एक स्थान पर तो इन्होंने उषा की लालिमा की उपमा खून पिए हुए वियोगिनी के रक्त-रंजित मुख से दी है। शुक्लजी ने इनकी इसी कमजोरी को लक्ष्य कर लिखा है कि—"कवित्त्व-शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी, पर उनके सम्यक् स्फुरण में उनकी रुचि-विशेष प्राय: बाधक हुई है। कभी-कभी वे कुछ बड़े और पेचीदे मजमून का हौसला बाँधते थे, पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही में उसका अंग-भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में कहीं-कहीं स्निग्ध प्रवाह न आने का एक कारण यह भी था।"

परन्तु जहाँ देव इस प्रकार की प्रवृत्तियों के मुक्त रहे हैं, जहाँ उनकी भाषा सुव्यवस्थित, स्वच्छ और प्रवाहमयी रही है वहाँ अत्यन्त सरस और हृदयग्राही कविता का जन्म हुआ है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

'साँसन ही में समीर गयो अरु, आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु, भूमि गई तनु की तनुता करि॥
देव जियें मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख हेरि हरे हँसि, हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि॥'

भूषण (जन्म—सं० १६७० : निधन—सं० १७६२)

भूषण चिन्तामणि और मतिराम के भाई थे। इनका जन्म सम्वत् १६७० और मृत्यु संवत् १७७२ माना जाता है। 'भूषण' इनका असली नाम न होकर चित्रकूट-नरेश रुद्रदेव द्वारा दिया गया कवि-नाम था। इनके असली नाम का अभी तक निश्चित पता नहीं चल पाया है। सम्भव है ये छत्रपति शिवाजी, महाराज छत्रसाल और रुद्रदेव के आश्रित कवि रहे हों, क्योंकि प्रथम दो का इन्होंने ओजस्वी वर्णन किया है और रुद्रदेव ने इन्हें 'भूषण' की उपाधि प्रदान की थी। अधिकांश विद्वान् इन्हें शिवाजी का समकालीन मानते हैं परन्तु इधर हुई कुछ नई खोजों के आधार पर डा० भगीरथ प्रसाद दीक्षित आदि विद्वानों ने इन्हें शिवाजी के पौत्र साहजी का समकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, और साथ ही यह भी कहा है कि इनका असली नाम 'मतिराम' था और ये बनपुर में पैदा हुए थे। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि भूषण हृदयराम सोलंकी, मोरंग, कुमाऊँ, गढ़वाल, रीवाँ, जोधपुर, जयपुर तथा दिल्ली-नरेशों के राज-दरबारों में रहे थे। यदि यह स्थापना सही है तो यह मानना पड़ेगा कि भूषण विभिन्न हिन्दू-नरेशों के दरबारों में हिन्दू-संगठन के अभिप्राय से ही गए या रहे होंगे।

अभी तक भूषण-रचित छ: ग्रन्थों का पता चला है—शिवराज भूषण, शिवाबावनी, छत्रसाल दशक, भूषण उल्लास, दूषण उल्लास, और भूषण हजारा। इनमें से प्रथम तीन ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं, शेष तीन का केवल उल्लेख मिलता है। उपलब्ध ग्रन्थों में से 'शिवराज भूषण' लक्षण-ग्रन्थ है। इसमें दोहों में लक्षण देकर कवित्त और

सवैयों में उनके उदाहरण दिए गए हैं। 'शिवा बावनी' और 'छत्रसाल दशक' छोटे-छोटे काव्य-ग्रन्थ हैं जिनमें शिवाजी और छत्रसाल के शौर्य, हिन्दुत्त्व रक्षा भावना, युद्ध, वीरता आदि का ओजस्वी भाषा में वीर रसपूर्ण वर्णन किया गया है। इस प्रकार भूषण लणक्ष-ग्रन्थकार और वीररस के कवि—दोनों ही प्रमाणित होते हैं। परन्तु हिन्दी-साहित्य में इनका महत्त्व वीर रस के श्रेष्ठ कवि के रूप में ही माना जाता है।

काव्यशास्त्रीय विवेचन में भूषण अलंकार-विवेचन तक ही सीमित रहे हैं। इन्होंने अन्य काव्यांगों का विवेचन नहीं किया है। अलंकारों के निरूपण में भी इन्हें आंशिक सफलता ही मिली है। अलंकारों के लक्षण सम्बन्धी विवेचन अव्यवस्थित तथा गड़बड़ी से भरे हुए हैं, परन्तु उनके उदाहरण काफी सुन्दर और सरस बन पड़े हैं। समष्टि रूप से भूषण को अत्यन्त साधारण कोटि का लक्षण-ग्रन्थकार माना जा सकता है।

भूषण इस युग के वीर रस के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। वस्तुतः उनकी इतनी अधिक प्रसिद्धि का मुख्य कारण उनके द्वारा वीररस का अपनाया जाना ही रहा है। प्रेम और विलासिता की प्रधानता वाले उस युग में उन्होंने वीरकाव्य का सृजन कर एक ओर तो एक नई (उस वातावरण में) काव्य-प्रवृत्ति को जन्म दिया था और दूसरी ओर हिन्दू-संगठन की आवाज उठाई थी। यदि भूषण वीररस की कविता न कर शृंगार की ही कविता करते, तो इसमें सन्देह नहीं कि वे एक साधारण कोटि के ही कवि बनकर रह जाते और उन्हें इतनी अधिक प्रसिद्धि न मिल पाती, क्योंकि वे उच्चकोटि के प्रतिभाशाली कवि नहीं थे। उनका रचा वीरकाव्य परम्परागत रूढ़िबद्ध वीर-काव्य का ही युगीन उन्मेष रहा है। उसमें हमें कोई नवीनता नहीं मिलती। परन्तु उन्होंने अपने ध्वनि को अर्थ से अधिक महत्त्व देने वाले, प्रभाव उत्पन्न करने के लिए शब्दों के तोड़े-मरोड़े हुए विकृत रूपों और वीर-रसात्मक शब्दावली से झंकृत काव्य को एक ऐसा नया स्वर प्रदान किया था जो उस युग में अपनी जाति, धर्म और संस्कृति के प्रति अनुराग और अत्याचारों के प्रति उग्र विरोध-भावना को जन्म देने वाला था। इसी गुण ने, काव्य-सौंदर्य से हीन, उनके काव्य को वह अद्‌भुत प्राणवत्ता प्रदान कर दी थी जो उनके काव्य को युग-युगान्तर तक अमर बनाए रखेगी।

इस काल के वीर रस के अन्य कवियों—सूदन, लाल, पद्माकर आदि की तुलना में भूषण का महत्त्व इसीलिए अधिक माना जाता है कि इन कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं का ही वीर-रसपूर्ण वर्णन किया था, परन्तु भूषण ने हिन्दू-राष्ट्र के उद्धार के सशक्त प्रतीक शिवाजी और छत्रसाल को अपने काव्य का नायक बना एक जातीय भावना को उभारा था। वहाँ अत्याचार के प्रति विरोध का स्वर ही अधिक उग्र और ऊपर उभर कर आया था। उनके काव्य-नायक शिवाजी और छात्रसाल ऐसे वीर योद्धा थे—जो मुगल-साम्राज्य की विस्ताराकांक्षा, अन्याय और अत्याचार,

धार्मिक उन्माद और पक्षपात का विरोध करते हुए एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना का प्रयत्न कर रहे थे जिसमें सबको न्याय, सुख और शान्ति सुलभ हो सके। भूषण ने इन नायकों की प्रशंसा कर इसी सत्कर्म का समर्थन किया था। भूषण ने उन मुस्लिम-शासकों का विरोध किया था जो धार्मिक उन्माद में भर, हिन्दू-जनता पर अत्याचार करते थे। इसी कारण भूषण की रचनाओं में कहीं-कहीं मुस्लिम-विरोध का स्वर उग्र रूप धारण कर गया है और इसी स्वर को प्रधान मान कुछ लोगों ने उन्हें सम्प्रदाय-वादी घोषित कर दिया था। और इसीलिए उन्हें राष्ट्रीय कवि मानने से इन्कार कर दिया। यह दृष्टिकोण स्वयं संकीर्ण और सम्प्रदायवादी है। धार्मिक-उन्माद जनित पक्षपात और अन्याय का विरोध होना ही चाहिए, और वही भूषण ने किया था। इसलिए भूषण को सम्प्रदायवादी न मान, राष्ट्रीय कवि ही मानना चाहिए।

भूषण ने इसी युग-चेतना को नवीन उद्बोधन दिया था। उन्हें यह देखकर अत्यन्त क्षोभ और ग्लानि का अनुभव होता था कि अन्य कवि अपने-अपने आश्रयदाता ऐसे राजाओं का तो गुणगान करते हैं—जिनका इस व्यापक युग-चेतना की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है, परन्तु शिवाजी और छत्रसाल जैसे जन-नायकों का यशगान नहीं करते। उनका यह क्षोभ उनकी इन पंक्तियों में फूट पड़ा था—

'भूषन यों कलि के कविराजन, राजन के गुण गाय हिरानी।
पुण्य चरित्र शिवा सरजे, सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ॥'

भूषण ने अपने नायकों का यश-गायन केवल इसलिए किया था कि उन्होंने—'हिन्दुवान द्रुपति की लाज बचैवे काज' शत्रु से रण ठाना था। उनकी दृष्टि में यदि—'शिवाजी न होतो तो सुनति होति सबकी' का भयंकर संकट था। इस संकट से उबा-रने के लिए ही उन्होंने कहा था—'शिव सरजा न, यह महेश है शिव'। इसी दृष्टि-कोण ने भूषण को इतना अधिक जनप्रिय कवि बना दिया था। इसी राष्ट्रोद्धार की भावना के कारण उन्हें आधुनिक स्वतन्त्रता-आन्दोलन में बहुत अधिक सम्मान प्रदान किया गया था। भूषण के काव्य की इसी विशेषता को लक्ष्य कर शुक्लजी ने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा है—

"भूषण ने जिन दो नायकों की कीर्त्ति को अपने काव्य का विषय बनाया, वे अन्याय-दमन में तत्पर हिन्दू-धर्म के संरक्षक—दो इतिहास प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीर रस के उद्‌गार सारी जनता के हृदय की सम्पत्ति हुए। भूषण की कविता कवि-कीर्त्ति सम्बन्धी एक अविचल सत्य का द्रष्टान्त है। जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा, उस कवि की कीर्त्ति तब तक बनी रहेगी, जब तक स्वीकृति बनी रहेगी।"

यहाँ हमें शुक्लजी के उपर्युक्त वक्तव्य में केवल एक संशोधन अपेक्षित है। भूषण में केवल हिन्दू-धर्म के उद्धार की ही आकांक्षा न होकर, राष्ट्रोद्धार की व्यापक भावना थी। वह कुशासन का उन्मूलन कर, ऐसे साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न

देखते थे जिसमें अन्याय, दमन और शोषण न हो। इसी कारण हमने उन्हें अपने युग का प्रतिनिधि राष्ट्र-कवि माना है।

कवि की दृष्टि से भूषण साधारण कोटि के कवि थे। उनमें न कल्पना की मनोरम ऊँची उड़ान मिलती है, न भाषा सुगठित, व्यवस्थित और सुन्दर है, न उक्ति-वैचित्र्य और वाग्वैदग्ध्य का चमत्कार है। भाषा वीर रस के अनुकूल अवश्य है, परन्तु उसमें आरम्भिक कालीन वीर-काव्यों की भाषा का ही रूप मिलता है। कोई नवीनता नहीं है। फिर भी भूषण ने इतना अधिक प्रभावित किया है, इतनी अधिक प्रसिद्धि पाई है। यह इस सत्य का अविचल उदाहरण है कि साहित्य की लोकप्रियता और सम्मान कथ्य पर निर्भर करता है, न कि केवल शैली या काव्य-रूप पर। यदि कथ्य जनता के हृदय को प्रभावित करने की शक्ति रखता है तो साधारण भाषा और शैली में कहे जाने पर भी लोकप्रियता प्राप्त कर लेता है। यदि कथ्य के साथ भूषण को उच्चकोटि की काव्य-कला और भाषा का सहयोग मिला होता, तो इसमें सन्देह नहीं कि भूषण की कविता हिन्दी की वीररस की सर्वश्रेष्ठ कविता मानी जाती।

इनकी वीररसात्मक कविता का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

'दारा की न दौर यह, रार नहिं खजुबे की,
बाँधिबो नहीं है कैधों, वीर सहवाल को।
मठ विश्वनाथ को, न बास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मन्दिर गोपाल को॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें अरु, बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर ठौर साहिल उगाहत है साल को।
बूड़ति है दिल्ली सो, संभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो, सिवराज महाकाल को॥'

भिखारीदास

भिखारीदास अवध के प्रतागढ़ जिले के ट्योंगा नामक गाँव के रहने वाले थे। ये प्रतापगढ़-नरेश पृथ्वीपतिसिंह के भाई हिन्दूपतिसिंह के आश्रित कवि थे। इनका रचना-काल सम्वत् १७९९ से सम्वत् १८०७ तक माना गया है। भिखारीदास, जो साहित्य में 'दास' के नाम से प्रसिद्ध हैं, शृंगारकालीन काव्यशास्त्रीय-परम्परा के उत्तरार्द्ध-युग के सर्वाधिक प्रसिद्ध और काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ कवि माने जाते हैं। इनके रचे सात ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'रस सारांश, छन्दोर्णव पिंगल, काव्य-निर्णय, शृंगार निर्णय, नाम प्रकाश, विष्णु पुराण भाषा, छन्द प्रकाश, शतरंज शतिका, और अमर प्रकाश'। इनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-निर्णय' रहा है। शुक्लजी काव्यांगों के निरूपण में इन्हें सर्व-प्रधान स्थान देने के समर्थक हैं क्योंकि इन्होंने अन्य लक्षणकारों की अपेक्षा रस, छन्द, अलंकार, रीति, गुण, दोष शब्द-शक्ति आदि का अधिक विस्तार के साथ विवेचन किया है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती हिन्दी के लक्षण-

ग्रन्थकारों—केशव, चिन्तामणि, सूरति मिश्र, श्रीपति आदि से पर्याप्त सामग्री ली है, परन्तु उसका अत्यन्त विद्वत्ता के साथ विवेचन किया है। इन्हें काव्यशास्त्र का अच्छा ज्ञान था। इनका विवेचन स्पष्ट और वैज्ञानिक है। कतिपय नवीन प्रसंगों; जैसे—अलंकारों का वर्गीकरण, काव्य-भाषा और तुक आदि पर इन्होंने मौलिक रूप से प्रकाश डाला है। हिन्दी में बढ़ते परकीया-प्रेम को इन्होंने रस की दृष्टि से रसाभास माना है और उसकी तुलना में स्वकीया-प्रेम की महत्ता प्रतिपादित की है। इन्होंने ध्वनि के कई नवीन भेदों की उद्‌भावना की है परन्तु उनका स्पष्ट और सुसंगत विवेचन नहीं कर पाए हैं। दास जी मूलतः रस और ध्वनिवादी लेखक हैं।

कवि के रूप में इन्होंने शृंगार रस का ही अधिक विवेचन कर सुन्दर काव्य की रचना की है। काव्य-रचना में ये कल्पना की ऊँची उड़ान, चमत्कार-प्रदर्शन आदि की प्रवृत्ति से प्रायः दूर ही रहे हैं। उक्ति-वैचित्र्य वहीं मिलता है जहाँ इन्होंने नीति-सम्बन्धी सूक्तियाँ कही हैं। भाषा साहित्यिक और परिमार्जित है। शुक्ल जी इन्हें 'ऊँचे दरजे के कवि' मानते हुए इनकी कविता के सम्बन्ध में कहते हैं कि—"उदाहरण मनोहर और सरस हैं। भाषा में शब्दाडम्बर नहीं है। न ये शब्द-चमत्कार पर टूटे हैं, न दूर की सूझ के लिए व्याकुल हुए हैं। इनकी रचना कला-पक्ष में संयत और भाव-पक्ष में रंजनकारिणी है।"

इनकी कविता का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

'वाही घरी तें न सान रहै, न गुमान रहै, न रहै सुघराई।
दास न लाज को साज रहै, न रहै तनकौ घरकाज की घाई॥
ह्याँ दिखसाध निवारे रहौं, तब ही लौं भटू सब भाँति भलाई।
देखत कान्है न चेत रहै, नहिं चित्त रहै, न रहै चतुराई॥'

घनानन्द

हम रीतिमुक्त अथवा स्वच्छन्द काव्य-धारा का विवेचन करते हुए घनानन्द की काव्य-प्रतिभा, काव्य-साधना, प्रेम के प्रति उनके दृष्टिकोण आदि का विस्तृत विवेचन कर आए हैं। इसलिए यहाँ संक्षेप में ही उनका और उनके काव्य का परिचय देना यथेष्ट होगा। घनानन्द के कई नाम मिलते हैं; जैसे—घनानन्द, आनन्दघन, घन-आनन्द आदि। कुछ आलोचकों का कहना है कि घनानन्द और आनन्दघन दो भिन्न कवि थे। घनानन्द श्रृंगारी कवि थे और आनन्दघन भक्त-कवि। विदेशी मुस्लिम-आक्रान्ता नादिरशाह के सैनिकों द्वारा वृन्दावन में आनन्दघन की हत्या की गई थी, न कि घनानन्द की। यह सम्भव है कि घनानन्द और आनन्दघन दो भिन्न व्यक्ति रहे हों और नाम-साम्य के कारण दोनों की रचनाओं को एक ही व्यक्ति घनानन्द की रचनाएँ मान लिया गया हो। सूर के साथ भी ऐसा ही हो चुका है। परन्तु अभी तक ऐसा कोई ठोस प्रामाणिक आधार नहीं मिल सका है, जिसके ऊपर निर्भर कर इन दोनों को भिन्न व्यक्ति मान लिया जाय। आधार यदि माना ही जाय तो दोनों के नाम से प्राप्त

रचनाओं को ही माना जा सकता है। 'घनानन्द' की छाप से उपलब्ध रचनाएँ शृंगार-रस-प्रधान हैं और 'आनन्दघन' की भक्ति रस की। परन्तु इस अन्तर को भी कोई दृढ़ आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि इस काल के अनेक शृंगारी कवियों की ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनमें उच्चकोटि की भक्ति-भावना का प्रकाशन हुआ है। इसलिए हम यहाँ इस विवाद में न पड़ घनानन्द से सम्बन्धित उपलब्ध तथ्यों के आधार पर ही उनका विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे। अस्तु,

शुक्लजी ने इनका जन्म संवत् १७४६ के लगभग और देहावसान सम्वत् १७९६ में नादिरशाही- आक्रमण के समय हुआ माना है। प्रसिद्ध है कि ये दिल्ली-नरेश मुहम्मदशाह रंगीले के मीर मुंशी थे। इनका सुजान नामक एक वेश्या से प्रगाढ़ प्रेम-सम्बन्ध था। एक बार दरबार के कुछ कुचक्रियों ने इन्हें नीचा दिखाने के लिए बादशाह से कहा कि घनानन्द बहुत अच्छा गाते हैं। बादशाह द्वारा गाने के लिए कहने पर इन्होंने बहुत टालमटोल की। इस पर दरबारियों ने बादशाह से कहा कि यदि सुजान इनसे गाने के लिए कहे तो ये अवश्य गायेंगे। फलस्वरूप सुजान को दरबार में बुलवाया गया। उसने जब घनानन्द से गाने के लिए कहा तो ये बादशाह की ओर पीठ और सुजान की ओर मुँह कर बैठ गए और पूर्ण तन्मय होकर गाना सुनाया। इस बेअदबी के कारण इन्हें दरबार और शहर से निकाल दिया गया। दिल्ली से चलते समय इन्होंने सुजान से भी अपने साथ चलने का आग्रह किया परन्तु सुजान ने इन्कार कर दिया। कहते हैं सुजान की इस निष्ठुरता के कारण इन्हें वैराग्य हो गया और ये वृन्दावन जाकर भक्ति-साधना में लीन हो गए। जब सम्वत् १७९६ में नादिर शाह के सिपाही लूटमार मचाते हुए मथुरा पहुँचे तो वहाँ उन्हें बताया गया कि वृन्दावन में बादशाह का मीरमुंशी रहता है जिसके पास बहुत धन है। उन सिपाहियों ने वृन्दावन पहुँच इन्हें पकड़ लिया और फारसी में 'जर-जर' अर्थात् ''धन-धन' कहकर इनसे धन माँगने लगे। घनानन्द ने 'जर' शब्द को उलटा कर 'रज-रज' कहा और तीन मुट्ठी रेत उन पर फेंक दी। इस पर क्रुद्ध हो सिपाहियों ने इनका हाथ काट डाला। उस घाव की वेदना से मरते समय इन्होंने अपना यह अन्तिम छन्द लिखा था, जो इनकी अद्भुत काव्य-प्रतिभा का एक उज्ज्वल प्रमाण माना जाता है—

'बहुत दिनानि की अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मन-भावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को॥
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घनआनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि, कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसौ लै सुजान को॥'

परन्तु आधुनिक नवीन शोधों के अनुसार उपर्युक्त वृत्त प्रामाणिक नहीं ठहरता। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत है कि घनानन्द की मृत्यु नादिरशाही-आक्रमण के समय न होकर सम्वत् १८१७ में अहमदशाह अब्दाली के द्वितीय आक्रमण के समय हुई थी। अन्य साक्ष्यों के आधार पर भी घनानन्द का सम्वत् १७९८ तक जीवित होना प्रमाणित होता है। अस्तु,

घनानन्द का काव्य विवाद का विषय रहा है। आचार्य शुक्ल इन्हें शृंगारी कवि मानते हैं। उन्होंने इनका विवेचन 'रीतिकाल' के फुटकल कवियों से साथ किया है। इसके विरुद्ध डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनकी गणना भक्त-कवियों में की है और कृष्णभक्ति-काव्यधारा के साथ ही इनका विवेचन किया है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि घनानन्द मूलतः भक्त-कवि थे और अपनी प्रेमिका सुजान का नाम उन्होंने अपने आराध्य कृष्ण के लिए ही प्रयुक्त किया है। घनानन्द के काव्य की मूल प्रेरक शक्ति उनकी प्रेयसी सुजान ही रही है, इसमें सन्देह नहीं। वह उसी के विरह में जीवन-पर्यन्त तड़पते रहे थे। इसी कारण उनका सम्पूर्ण काव्य सुजान को ही समर्पित रहा है। यह हो सकता है कि घनानन्द वृन्दावन में आकर किसी भक्ति-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए हों, परन्तु सुजान को वह कभी भी नहीं भूल सके थे। सुजान को सम्बोधित कर उन्होंने जितने भी छन्द रचे हैं, उनमें प्रेम की एक पूर्ण तन्मयता भरी, निर्मल, उदात्त धारा प्रवाहित हो रही है। उनका मूल स्वर विरह का रहा है। प्रेम के इस उदात्त, निर्मल रूप को सहज ही आध्यात्मिक रंग प्रदान किया जा सकता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जिन पदों में सुजान का नाम आया है, उनमें आराध्य की अलौकिकता का कोई भी संकेत या लक्षण नहीं मिलता। इसलिए इनमें लौकिक प्रेमानुभूति का ही अस्तित्व मानना पड़ेगा।

भक्त या शृंगारी कवि

घनानन्द रचित काव्य का बहुत बड़ा भाग ऐसा है जिसमें कृष्ण, उनकी लीलाओं, उनसे सम्बन्धित स्थानों आदि का भावानुरागपूर्ण विस्तृत वर्णन किया गया है। इनका ५४२ पृष्ठों का एक विशाल ग्रन्थ मिला है जिसमें लगभग तीन हजार पद संकलित हैं। इन पदों में प्रिया-प्रसाद, व्रज व्योहार, वियोग वेली, कृपाकन्द निबन्ध, गिरिगाथा, गोकुल विनोद, धाम चमत्कार, कृष्ण कौमुदी, नाम माधुरी, वृन्दावन-मुद्रा, मुरलिकामोद, व्रज वर्णन आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ तथा इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों के आधार पर घनानन्द कृष्ण-भक्त-कवि सिद्ध होते हैं। इनमें आराध्य की अलौकिकता के दर्शन भी हो जाते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या एक ही साथ लौकिक आराध्य (सुजान) और अलौकिक आराध्य (कृष्ण) की उपासना सम्भव है? क्या इस द्विमुखी उपासना को भक्ति की कोटि का माना जा सकता है? क्योंकि भक्ति में प्रेम की एकनिष्ठता, एकाग्रता और पूर्ण तन्मयता अपेक्षित होती है। ऐसी स्थिति में क्या घनानन्द को पूर्ण भक्त माना जा सकता है?

शुक्लजी के मन में भी कहीं यही दुविधा मौजूद थी। और उन्होंने अपनी इस दुविधा का समाधान यह कहकर कर लिया था कि—"इन्होंने अपनी कविताओं में बराबर 'सुजान' को सम्बोधन किया है जो श्रृंगार में नायक के लिए और भक्तिभाव में कृष्ण भगवान के लिए प्रयुक्त मानना चाहिए। कहते हैं कि इन्हें अपनी पूर्व प्रेयसी 'सुजान' का नाम इतना प्रिय था कि विरक्त होने पर भी इन्होंने उसे नहीं छोड़ा। यद्यपि अपने पिछले जीवन में घनानन्द विरक्त भक्त के रूप में वृन्दावन में जा रहे, पर इनकी अधिकांश कविता भक्ति-भाव की कोटि में नहीं आएगी, श्रृंगार की ही कही जायेगी। लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये भगवत्प्रेम में लीन हुए।"

शुक्लजी के उपर्युक्त कथन से हमारी शंका का समाधान नहीं हो पाता। लगभग सभी प्रसिद्ध भक्त-कवियों के सम्बन्ध में यह धारणा प्रचलित रही है कि लौकिक-प्रेम में उपेक्षा या भर्त्सना मिलने पर ही वे भगवत्प्रेम की ओर उन्मुख हुए थे। परन्तु उनके काव्य में उनके लौकिक प्रेमास्पद का कहीं संकेत तक नहीं मिलता। वे भगवत्प्रेम में लीन हो अपने लौकिक प्रेमास्पद का पूर्णतः विस्मरण कर बैठे हैं। फिर घनानन्द के सम्बन्ध में ही यह कैसे मान लिया जाय कि वे एक साथ लौकिक और अलौकिक—दोनों आराध्यों या प्रेमास्पदों की उपासना करने में समर्थ हो सके होंगे। शुक्ल जी का उपर्युक्त दुविधा पूर्ण निष्कर्ष सम्भवतः इस कारण रहा है कि उनके समय तक घनानन्द की ऐसी कृतियाँ अधिक संख्या में उपलब्ध नहीं हो सकी थीं जिनमें कृष्ण-भक्ति का स्पष्ट रूप झलक रहा है। घनानन्द की मूल प्रेरणा—उनका लौकिक प्रेम ही रहा होगा, परन्तु कालान्तर में उस उपेक्षित लौकिक प्रेम-भावना ने ही भगवत्प्रेम का अलौकिक स्वरूप धारण कर लिया होगा।

शुक्ल जी घनानन्द की जिस लौकिक प्रेम-भावना को श्रृंगार का रूप मानते हैं वह अपनी एकाग्र निष्ठा, तन्मयता, उदात्तता और निर्मलता के कारण भगवत्प्रेम की अलौकिकता से रंचमात्र भी कम नहीं है। वस्तुतः गहन लौकिक प्रेम-भावना और भक्तों के भगवत्प्रेम में कोई अन्तर नही होता। यदि अन्तर माना ही जाय तो केवल इतना ही अन्तर रहता है कि भक्त रह-रह कर अपने आराध्य की अलौकिकता के प्रति संकेत करता चलता है और लौकिक प्रेम का उपासक ऐसे किसी भी साधन से वंचित रहता है। एकाग्रता, उद्धार, मोक्ष या मुक्ति का मूलाधार प्रेम-भावना ही रहती है। यदि प्रेम-भावना में कमी है तो अलौकिक आराध्य भी उस प्रेमी का उद्धार नहीं कर सकता। घनानन्द के काव्य में हमें प्रेम-भावना की पूर्ण तन्मयता के दर्शन होते हैं, फिर चाहे वह लौकिक रही हो अथवा अलौकिक, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। घनानन्द की प्रेम-भावना प्रेमोपासना का चरम रूप है। समस्त श्रृंगार काल में अन्य किसी भी कवि में प्रेम के प्रति इतनी एकाग्र निष्ठा और तन्मयता नहीं मिलती। वह प्रेम के अनन्य अमर गायक हैं। भक्ति के लिए अपेक्षित विरह-भावना का प्राधान्य उनके काव्य में सर्वत्र मिलता है। अतः घनानन्द के काव्य के लौकिक पक्षीय और

अलौकिक पक्षीय—ये दो भेद या अर्थ नहीं किए जा सकते । घनानन्द भक्ति की सारी शर्तों को पूरा कर देते हैं । इसलिए यदि उन्हें भक्त मान लिया जाये तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

रचनाएँ

शुक्ल जी ने, सम्भवतः मिश्रबन्धुओं के अनुसार, घनानन्द रचित ग्रन्थों की संख्या पाँच मानी है—'सुजान सागर, विरह-लीला, कोकसार, रस-केलिवल्ली, और कृपाकांड ।' पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार अब तक घनानन्द के ४१ ग्रन्थों का पता लग चुका है, जो इस प्रकार हैं—

१—सुजान हित, २—कृपाकन्द, ३—वियोग बेलि, ४—इश्कलता, ५—यमुना-यश, ६—प्रीति पावस, ७—प्रेम पत्रिका, ८—प्रेम सरोवर, ९—ब्रज विलास, १०—सरस वसन्त, ११—अनुभव चन्द्रिका, १२—रंग बधाई, १३—प्रेम पद्धति, १४—वृषभानुपुर सुषमा वर्णन, १५—गोकुल गीत, १६—नाम माधुरी, १७—गिरि-पूजन, १८—विचार सार, १९—दान घटा, २०—भावना प्रकाश, २१—कृष्ण-कौमुदी, २२—धाम चमत्कार, २३—प्रिया-प्रसाद, २४—वृन्दावन मुद्रा, २५—ब्रज-स्वरूप, २६—गोकुल चरित्र, २७—प्रेम पहेली, २८—रसनायश, २९—गोकुल-विनोद, ३०—ब्रज प्रसाद, ३१—मुरलिकामोद, ३२—मनोरथ मंजरी, ३३—ब्रज व्यवहार, ३४—गिरिगाथा, ३५—पदावली, ३६—प्रकीर्णक (स्फुट पद-संग्रह), ३७—छन्दाष्टक, ३८—त्रिभंगी, ३९—परमहंस वंशावली, ४०—कवित्त संग्रह, ४१—ब्रज वर्णन ।

इनमें से अन्तिम दो प्राप्त नहीं हो सके हैं । इसके अतिरिक्त घनानन्द रचित एक फारसी मसनवी का भी उल्लेख मिलता है, जो उपलब्ध नहीं है । मिश्र जी ने उपर्युक्त प्राप्त ३९ ग्रन्थों का 'घनानन्द ग्रन्थावली' के नाम से संग्रह कर प्रकाशित कराया है । घनानन्द पर शोध करने वाले विद्वान् डा० कृष्णचन्द्र वर्मा ने घनानन्द के दो अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है । इनमें से एक में ४२५ छन्द हैं तथा दूसरे में लगभग तीन हजार छन्द । मिश्रजी द्वारा गिनाए गए उपर्युक्त शीर्षकों में से अधिकांश शीर्षक इस दूसरे विशाल ग्रन्थ में मिल जाते हैं । इस ग्रन्थ का प्रतिलिपि काल सम्वत् १८२२ है । सम्भव है किसी काव्य-प्रेमी ने घनानन्द के बिखरे हुए छन्दों या ग्रन्थों का संग्रह कर इस ग्रन्थ को संग्रहीत कर दिया हो ।

घनानन्द-रचित ग्रन्थों की उपर्युक्त सूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके काव्य के वर्ण्य-विषय—कृष्ण, उनकी लीलाएँ, ब्रज आदि ही रहे हैं । इसलिए उन्हें कृष्ण-भक्त मान लेना चाहिए । जहाँ तक 'सुजान' का सम्बन्ध है, वह घनानन्द के पर-वर्ती जीवन में उनकी स्मृति से तिरोहित हो गई हो और उसका स्थान कृष्ण की 'माधुरी मूरति' ने ग्रहण कर लिया हो । सुजान से सम्बन्धित छन्दों में जिस प्रेम-भावना का निरूपण हुआ है उसमें लौकिक प्रेम का रूप ही अधिक प्रखर और निखरा

हुआ मिलता है। सम्भव है सुजान द्वारा उपेक्षित होने पर घनानन्द कुछ समय तक उसके विरह में व्याकुल हो काव्य-रचना करते रहे हों और आगे चलकर किसी गुरु की कृपा से उनकी यह विरह-वेदना कृष्ण के प्रेम में रंग कृष्णमयी बन गई हो। वस्तु-स्थिति जो कुछ भी रही हो, घनानन्द के प्रेम की गहनता और विरह की मार्मिकता सम्पूर्ण शृंगार-युगीन साहित्य में अनन्य और अनुपम है। उस युग में प्रेम का ऐसा अनुपम चितेरा और कोई भी दूसरा नहीं मिलता। (हम गत पृष्ठों में स्वच्छन्द अर्थात् रीतिमुक्त कवियों का विवेचन करते समय इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं।)

घनानन्द के काव्य की यह प्रधान विशेषता रही है कि उसमें सर्वत्र भावपक्ष ही प्रधान रहा है। उन्होंने बाह्य वर्णन की अपेक्षा आन्तरिक भावनाओं का ही अधिक निरूपण किया है। रूप-सौन्दर्य चित्रण में भी उन्होंने नारी के स्थूल अंगों के बाह्य चित्रण पर बल न देकर उसकी चितवन, मुस्कान, लज्जा आदि सूक्ष्म-सौंदर्य का ही अनुभूतिमय अंकन किया है। जैसे—

'झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छकें दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलन में छवि फूलन की, बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै॥
लट लोल कलोल कपोल करै, कलकण्ठ बनी जल-जावलि द्वै।
अँग-अँग तरंग उठै दुति की, परिहै मनो रूप अबै धर च्वै॥'

उपर्युक्त रूप-सौन्दर्य चित्रण में कवि की विशुद्ध सौन्दर्य-दृष्टि परिलक्षित हो रही है। घनानन्द ने प्रेम-निरूपण में आन्तरिक भावनाओं का अंकन ही विशेष रूप से किया है। संयोग में हृदय के उल्लास और तन्मयता का तथा वियोग में आन्तरिक पीड़ा का, न कि शरीर की कृशता, विरह-ताप की अतिशयता आदि का। इसी कारण उनके काव्य में चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का अभाव रहा है। वहाँ जो कुछ है—वह हृदय की भावनाओं पर ही आधारित रहा है।

भाषा-सौन्दर्य की दृष्टि से शुक्ल जी इन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं। उसमें लक्षणा, व्यंजना, वक्रोक्ति, स्निग्धता, सरलता, प्रांजलता, नाद-सौन्दर्य, उक्ति का अर्थ-गर्भत्व, सांगोपांग योजना और अन्विति आदि का कलापूर्ण, सौन्दर्य-मंडित रूप दिखाई देता है। शुक्लजी ने इनके इसी भाषा-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था, वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे, उस रूप में मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी। जब आवश्यकता होती थी, तब ये उसे बँधी प्रणाली पर से हटाकर अपनी नई प्रणाली पर

ले आते थे। भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर इन्होंने उसे अपनी ओर से शक्ति प्रदान की है। घनानन्द जी उन विरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यंजकता को बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूपरंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।'

वस्तुतः भावनाओं की यथार्थ, निश्छल, अभिव्यक्ति, उस अभिव्यक्ति की पूर्ण तन्मयता और उस तन्मयता को प्रभावक रूप में अंकित करने वाली अपूर्व सौन्दर्य और शक्ति से मंडित भाषा, काव्य-गुणों का सन्तुलित और अपेक्षित परिमाण में उपयोग आदि की दृष्टि से घनानन्द श्रृंगार युग के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। उन्होंने प्रेम का जैसा यथार्थ, मनोवैज्ञानिक और प्रभविष्णु रूप अङ्कित किया है वह समस्त हिन्दी-साहित्य में अनुपम और विरल ही है। उस रूप में न कहीं कामुकता के दर्शन होते हैं, और न बाहरी उछल-कूद के। प्रेम के इस अनन्य चितेरे का काव्य इस युग के समस्त कलंक और लांछना को धो देने की शक्ति रखता है।

पद्माकर (जन्म—सं० १८१० : निधन—सं० १८९०)

पद्माकर श्रृंगारयुगीन काव्य-परम्परा के अन्तिम चरण के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि रहे हैं। इनके पिता तैलंग ब्राह्मण वंशी पंडित मोहनलाल भट्ट स्वयं एक श्रेष्ठ कवि और विद्वान् थे। वे नागपुर, पन्ना और जयपुर नरेशों के दरबारों में रहे थे। जयपुर नरेश महाराज प्रतापसिंह ने इन्हें 'कविराज शिरोमणि' की पदवी प्रदान की थी। ये बाँदा के निवासी थे। इन्हीं के यहाँ सम्वत् १८१० में पद्माकर का जन्म हुआ था। पद्माकर का समय सम्वत् १८१० से १८९० तक माना जाता है। ये भी अपने पिता के समान अनेक राज-दरबारों में रहे थे और इन्होंने अपने विभिन्न आश्रयदाताओं का प्रशस्ति-गायन करते हुए अनेक ग्रन्थ रचे थे, जैसे—गोसांई अनुपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर के नाम पर 'हिम्मत बहादुर विरुदावली', जयपुर-नरेश जगतसिंह के नाम पर 'जगद्विनोद'। जीवन भर विभिन्न प्रकार के काव्य-ग्रन्थों की रचना करने में संलग्न रहने के उपरान्त ये अपने अन्तिम समय में विरक्त से हो कानपुर में आकर गंगा तट पर रहने लगे थे और यहीं इन्होंने अपनी अन्तिम प्रसिद्ध कृति 'गंगा लहरी' की रचना की थी।

पद्माकर लक्षण-ग्रन्थकार, वीर रस के प्रणेता, रीतिबद्ध श्रृंगारी काव्य के रचयिता और अपूर्व भाव-भक्तिपूर्ण भक्ति-काव्य आदि विभिन्न काव्य-रूपों के कवि रहे हैं। इनकी रचनाएँ इस प्रकार मानी जाती हैं—'हिम्मत बहादुर विरुदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, प्रबोध पचासा, रामरसायन, गंगा लहरी, हितोपदेश, आलीजाह प्रकाश, और जयसिंह विरुदावली'।

उपयुक्त ग्रन्थों में से 'हिम्मत बहादुर विरुदावली', और 'जयसिंह विरुदावली' आश्रयदाताओं के प्रशस्ति-गायन ग्रन्थ हैं। प्रथम में वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ

है। 'जगद्विनोद' में रस और नायिका-भेद और 'पद्माभरण' में अलंकारों का परम्परा-बद्ध निरूपण किया गया है। 'आलीजाह प्रकाश' भी काव्य-शास्त्रीय विवेचन से सम्बन्धित ग्रन्थ है। अन्य ग्रन्थ धर्म और भक्ति से सम्बन्धित हैं। 'जगद्विनोद' बहुत समय तक काव्य-रसिकों और नए कवियों में बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय रहा था। इस ग्रन्थ को शृंगार-कालीन काव्यशास्त्रीय परम्परा का अन्तिम प्रसिद्ध लक्षण-ग्रन्थ माना जा सकता है। इसमें काव्य-शास्त्र निरूपण के साथ ही शृंगार रस का अत्यन्त मनोरम, अनुभूतिमय कलात्मक निरूपण हुआ है। शृंगार के चित्रण में अनुभावों, हावों तथा अन्य अंगज अलंकारों की इनकी योजना यह प्रमाणित कर देती है कि ये एक अत्यन्त उच्चकोटि के रस-सिद्ध कवि थे। सरस चित्रों की योजना में बहुत कम कवि इनके स्तर तक पहुँच पाते हैं। शुक्लजी के अनुसार—"इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भावपूर्ण मूर्ति-विधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसी सजीव मूर्ति-विधान करने वाली कल्पना बिहारी को छोड़ और किसी कवि में नहीं पाई जाती।" मतिराम के ही समान अनाडम्बर भाव-योजना और भाषा का सहज प्रवाह इनके काव्य को अत्यन्त मर्म-स्पर्शी बना देते हैं। नायिकाओं की विभिन्न मुद्राओं और चेष्टाओं के अंकन में इन्हें अद्भुत सफलता मिली है। विशेष रूप से होली का वर्णन करते हुए इन्होंने नायक-नायिका के प्रथम साक्षात्कार से प्रेम का उत्पन्न होना और प्रेम जन्य आकुलता का बहुत ही मनोरम वर्णन किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोविन्दै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर तें सु, विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय, 'लला फिर आइयो खेलन होरी॥'

होली खेलते ससय नायिका कृष्ण-प्रेम में आकंठ सराबोर हो उठी है। उसे कृष्ण की स्मृति सदैव व्याकुल बनाए रहती है। वह अपनी इसी आकुलता को अपनी सखी से कह रही है—

'धोइ धोइ हारी पदमाकर तिहारी सौं,
अब तो उपाय एकौ चित्त पै चढ़ै नहीं।
कैसी करौं ? कहाँ जाऊँ ?
कासौं कहौं ? कौन सुने ?
एरी मेरे बीर ! जैसे-तैसे इन आँखिन ते,
कढ़िगो अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं॥'

अन्य रीतिबद्ध कवियों के समान पद्माकर में भी चमत्कार-प्रदर्शन और उक्ति-वैचित्र्य की प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में मिलती है। परन्तु कल्पना की उड़ान और वाणी के चमत्कार के साथ उन्होंने भावुकता का ऐसा कलापूर्ण संयोजन किया है कि भावानु-

भूति में रंचमात्र भी बाधा नहीं आ पाती। पद्माकर भाषा के अनुपम धनी कलाकार थे। शुक्ल जी ने इनकी भाषा की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—"कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मिश्रित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशान्त सरोवर के समान स्थिर और गम्भीर होकर मनुष्य-जीवन की विश्रान्ति की छाया दिखाती है।....जहाँ मधुर कल्पना के बीच सुन्दर कोमल भाव-तरंग का स्पन्दन है वहाँ की भाषा बहुत ही चलती, स्वाभाविक और साफ-सुथरी है।....ये ऊहा के बल पर कारीगरी के मजमून बाँधने के प्रयासी कवि न थे, हृदय की सच्ची स्वाभाविक प्रेरणा इनमें थी। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग द्वारा कहीं-कहीं ये मन की अव्यक्त भावना को ऐसा मूर्त्तिमान कर देते हैं कि सुनने वालों का हृदय आप से आप हामी भरता है। यह लाक्षणिकता भी इनकी एक बड़ी भारी विशेषता है।"

पद्माकर शृंगार और वीर—दोनों रसों के कवि रहे हैं, इसलिए हम यहाँ उनका दोनों रसों से सम्बन्धित एक-एक पद उद्धृत कर इस प्रसंग को समाप्त कर देंगे। पद्माकर के समय तक देश में यूरोपियों का आतंक बढ़ने लगा था। पद्माकर ने इन्हीं 'फिरंगियों' को मार भगाने के लिए ग्वालियर नरेश दौलतराव सिन्धिया को उद्बोधन देते हुए निम्नलिखित वीररसपूर्ण छन्द लिखा था—

'मीनागढ़ बम्बई सुमन्द मन्दराज बंग बन्दर कों बन्द करि बन्दर बसावेगो।
कहै पदमाकर कसकि कासमीर हूँ को पिंजर सों घेरि के कलिंजर छुड़ावेगो॥
बाँका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं साजिदल पकरि फिरंगिनि दबावेगो।
दिल्ली दहपटि पटना हू को झपट्टि करि कबहुँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावेगो॥'

प्रातः समय में केलि-मन्दिर के द्वार पर खड़ी रति-क्लान्ता एक नायिका का शृंगारमय मनोरम शिथिल रूप निम्नांकित छन्द में सजीव हो उठा है:—

'आरत सों आरत सम्हारत न सीसपट,
गजब गुजारत गरीबनि की धार पर।
कहै पदमाकर सुरा सों सरसार जैसे,
बिथुर बिराजैं हार हीरन के हार पर॥
छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर,
भोर उठि आई केलि मन्दिर के द्वार पर।
एक पग भीतर और एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज. एक कर है किबार पर॥'

पद्माकर के साथ शृंगार काल एक प्रकार से समाप्त हो जाता है और उनके उपरान्त आधुनिक काल शृंगार-कालीन प्रवृत्तियों को भी अपने आँचल में समेटे एक नए उन्मेष, नए दृष्टिकोण, नए गद्य-माध्यम और नई चेतना के साथ हिन्दी-साहित्य

के क्षेत्र में प्रवेश करता है। बदलती हुई नई राजनीतिक परिस्थिति नए विचारों और नई भावाभिव्यक्ति को जन्म देती है। भारत नये सिरे से एक सर्वथा अपरिचित विदेशी—आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक—सभी दृष्टियों से अपरिचित नई सैनिक और आर्थिक शक्ति से आतंकित और पीड़ित हो उठता है। यही नया परिवर्तन साहित्य की परम्पराबद्ध रूढ़ धारा को एक नई दिशा की ओर मोड़ देता है।

हमने गत पृष्ठों में शृंगार-काल के प्रमुख प्रतिनिधि कवियों का ही संक्षिप्त विवेचन किया है। इस विवेचन द्वारा इस काल में रचित साहित्य की सम्पूर्ण विशेषताओं और उपलब्धियों का सम्यक् रूप सामने आ जाता है। इस काल में अन्य अनेक प्रसिद्ध कवि और हुए हैं, जिनका काव्य हिन्दी-साहित्य-भंडार की गौरव-वृद्धि करने वाला रहा है। शुक्लजी ने अपने इतिहास में ऐसे शताधिक कवियों का संक्षिप्त विवरण दिया है। हिन्दी-साहित्य के अन्य इतिहासों में इन कवियों की संख्या और भी अधिक बढ़ गई है। हम पीछे इस काल की प्रमुख और गौण—दोनों प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विवेचन करते समय इनमें से अनेक कवियों का नामोल्लेख कर आए हैं। इस काल में अनेक कवि ऐसे हुए हैं, जिनके काव्य में परस्पर अद्‌भुत समानता मिलती है और इसी समानता के कारण बहुत समय तक एक कवि की कोई मनोरम रचना दूसरे अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध कवि के नाम से प्रचलित और प्रचारित होती रही है। यहाँ हम ऐसी एक घटना का उल्लेख कर यह सिद्ध करना चाहेंगे कि इस काल के अधिकांश कवि एक निश्चित परम्पराबद्ध काव्य-शैली के अनुरूप ही काव्य-रचना करते थे। सैयद गुलाम नबी उपनाम 'रसलीन' इस युग के एक प्रसिद्ध कवि थे। इनका निम्नलिखित दोहा बहुत समय तक बिहारी का माना जाता रहा था :—

'अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥'

इस मान्यता का यह कारण रहा था कि उपर्युक्त दोहे में वे सारे काव्य-गुण और विशेषताएँ प्रचुर परिमाण में हैं जो बिहारी की विशेषताएँ मानी जाती रही हैं। इसी कारण भ्रमवश इसे बिहारी का दोहा मान लिया गया था। अस्तु,

शृंगार-काल : एक पुनरावलोकन

परम्परागत काव्य का विकसित रूप

हिन्दी-साहित्य का शृंगार-युगीन काव्य अपने पूर्ववर्ती काव्य का ही विकसित रूप रहा है। इस युग में काव्य-क्षेत्र में नवीन उद्‌भावनाएँ हुई अवश्य हैं परन्तु उनके भी बीज हमें पूर्ववर्ती साहित्य में मिल जाते हैं। इसका आधार फलक (कैनवास) अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अधिक विस्तृत और व्यापक रहा है। काव्य-शैलियों की

दृष्टि से भी इसे अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध माना जा सकता है। भाषा-परिष्कार, कला का निखार, काव्यशास्त्रीय विवेचन आदि के क्षेत्र में भी इस युग में पर्याप्त प्रगति और उत्कर्ष के दर्शन होते हैं। भाव-तन्मयता, भावानुभूति की गहनता और उसकी सफल कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी इस युग का काव्य अपने पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य से बहुत कुछ अंशों में प्रतिस्पर्द्धा करने की शक्ति रखता है। भक्ति-काव्य और श्रृंगार-काव्य में हमें एक ही प्रधान अन्तर यह मिलता है कि भाव-तन्मयता की दृष्टि से भक्ति-काव्य श्रृङ्गार-काव्य की अपेक्षा अधिक उन्नत और श्रेष्ठ है। परन्तु श्रृङ्गार-काव्य में भी घनानन्द आदि का काव्य ऐसा है जो अपनी निश्छल भावाभिव्यक्ति, गहन तन्मयता और मार्मिक अनुभूति के क्षेत्र में सूर और तुलसी के काव्य से किसी भी रूप में कम नहीं है। लेकिन श्रृङ्गार युगीन काव्य में ऐसी श्रेष्ठ रचनाएँ परिमाण की दृष्टि से बहुत कम हैं। इस युग के रीतिबद्ध काव्य मे श्रृङ्गार का जो चित्रण हुआ है वह अधिकांशतः चमत्कार-प्रदर्शन की भावना से प्रेरित और सामाजिक भय से आक्रान्त होने के कारण निश्छल, निर्भीक अभिव्यक्ति का स्वरूप और प्रांजलता प्राप्त करने में असफल और असमर्थ रहा है।

इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा था। भक्त-कवि जो कुछ भी कहते थे, अपने आराध्य के प्रति उन्मुख होकर ही कहते थे। उनके आराध्य मानव रूपधारी थे इसलिए उनका वर्णन करते समय भक्त-कवि मानव की सम्पूर्ण स्वाभाविक क्रियाओं का वर्णन निस्संकोच होकर करते थे। क्योंकि उनके आराध्य प्रेम-स्वरूप थे, इसलिए उनके इस वर्णन में प्रेम-चित्रण की प्रधानता रही थी। साथ में वे रह-रहकर यह भी याद दिलाते चलते थे कि उनके आराध्य अलौकिक और ब्रह्म के अवतार हैं। क्योंकि उनके आराध्य अलौकिक होने के कारण सामाजिक विधि-विधानों तथा सामाजिक नियंत्रणों से मुक्त थे, इसलिए उनकी विभिन्न लीलाओं का चित्रण करने में इन भक्त-कवियों को समाज का कोई भी भय नहीं रहता था। इसी कारण उनकी श्रृंगार-सम्बन्धी अभिव्यक्तियों और चित्रणों में एक सहजता, स्वाभाविकता और निश्छलता रहती थी। इसके विपरीत श्रृङ्गार युगीन श्रृङ्गारी कवि मूलतः भक्त न होकर लौकिक श्रृङ्गार के ही चितेरे रहे थे। यद्यपि उन्होंने भक्त-कवियों के राधा-कृष्ण और उनकी श्रृङ्गारी लीलाओं को यथावत् अपना लिया था परन्तु उनके प्रति भक्ति-भावना का अभाव रहने के कारण उनकी श्रृङ्गारी-लीलाओं का वर्णन करते समय इन कवियों के मन में सामाजिक भय का आतंक समाया रहता था। इसी सामाजिक भय के कारण भिखारीदास को अपने काव्य के सम्बन्ध में कहना पड़ा था कि—

'आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई।
नतु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है॥'

इसी बहाने के कारण ही इनकी श्रृंगारपरक उक्तियों में वह स्वाभाविकता, स्वस्थता, यथार्थ रूप और निश्छलता नहीं आ पाई थी जो भक्त-कवियों के श्रृंगारी

काव्य को भी ग्रहणीय और शुभ बना देने की अद्‌भुत क्षमता रखती है। इन शृंगारी कवियों को इस बात का भय बना रहता था कि कहीं उनके काव्य पर अश्लीलता का लांछन न लगा दिया जाये। इसी भय ने इन्हें अपनी अभिव्यक्ति में ईमानदार नहीं रहने दिया था। इसी कारण इनकी अभिव्यक्ति अपनी स्वाभाविकता खो बैठी थी। और इसी कारण ही इन्हें उक्ति-वैचित्र्य, चमत्कार प्रदर्शन आदि द्वारा अपनी अभिव्यक्ति को आकर्षक और मनोरम बनाने का प्रयत्न करना पड़ता था। और इसका पूर्ण उत्तरदायित्व उस कृत्रिम, तड़क-भड़क और चमत्कार-प्रदर्शन की भावना से ओतप्रोत दरबारी-वातावरण का था, जिसमें रहकर इन्हें काव्य-रचना करनी पड़ती थी। इसके विपरीत भक्त-कवि ऐसे बन्धनपूर्ण वातावरण से सर्वथा मुक्त रह, अपने आचार्यों द्वारा निरूपित प्रेम-लक्षणा भक्ति की उपासना करते हुए अपने आराध्य के शृंगारिक चित्रण में डूबे रहते थे। शृंगार कालीन शृंगार-काव्य में तन्मयता का अन्तर रहने का यही प्रधान कारण था। भक्तों का शृंगार अपने अलौकिक आराध्य को समर्पित था, इसी कारण वह लौकिक होते हुए भी अलौकिक मान लिया गया। शृंगारी कवियों का शृंगार लौकिक जन हिताय होने के कारण लौकिक ही रहा परन्तु सामाजिक झिझक के कारण वह तन्मयता उत्पन्न करने में असमर्थ रहा जो भक्त-कवियों की विशेषता थी। इसी कारण शृंगार के एक से ही चित्रण के लिये भक्तों को प्रशंसा मिली और इस काल के शृंगारी कवियों को लांछना और भर्त्सना। अभिव्यक्ति की निश्छलता काव्य-सफलता की पहली शर्त है। यदि इस शर्त का निर्वाह नहीं होता तो उन्नततम कला का सहयोग भी अभिव्यक्ति को उतना प्रभावशाली और मनोरम नहीं बना सकता जितना कि निश्छल अभिव्यक्ति होती है।

परन्तु यह बात शृंगार कालीन काव्य के केवल एक अंश पर ही लागू होती है, समस्त शृंगारी-काव्य पर नहीं। घनानन्द आदि स्वच्छन्द प्रेमधारा के कवियों के काव्य में शृंगार का अत्यन्त उदात्त, स्वाभाविक और कलात्मक चित्रण हुआ है। उनका शृंगार वर्णन लौकिक होते हुए भी तन्मयता के क्षेत्र में भक्तों के अलौकिक शृंगार की कोटि तक पहुँच गया है। और इस चित्रण में हमें एक ऐसी निराली विशेषता मिलती है जो कृष्णभक्त-कवियों में भी नहीं पाई जाती। हाँ, उसका हल्का सा रूप जायसी आदि प्रेमोपासक कवियों में अवश्य मिल जाता है। और वह विशेषता है—प्रेम के क्षेत्र में स्थूल माँसलता की अपेक्षा मानसिक भावों का मर्मस्पर्शी और यथार्थ मनोवैज्ञानिक अंकन। घनानन्द आदि ने शृंगार के वियोग-पक्ष पर ही अधिक बल दिया है और उसके चित्रण में शारीरिक कृशता, गहरी आहें भरना, विरह-ताप के निवारण के लिए विविध उपायों का सहारा लेना आदि के स्थान पर आन्तरिक व्यथा का ही अधिक वर्णन किया है।

जहाँ तक श्रृंगार के बाह्य-पक्ष का सम्बन्ध है, श्रृंगार कालीन काव्य ने अपने पूर्ववर्ती कृष्ण-काव्य का ही अनुकरण किया है। परन्तु उस अनुकरण में भी सामाजिक भय के कारण जो एक झिझक भरी रही है, उसके कारण संयोग श्रृंगार में वह स्वस्थ माँसलता और उल्लास की भावना नहीं आ पाई है, जो कृष्ण-काव्य में मिलती है। सूर निस्संकोच कृष्ण द्वारा राधा का नीबी-बन्धन-मोचन करवा देते हैं परन्तु श्रृंगारी कविगण ऐसा साहस नहीं कर पाते। इसी कारण हमें कृष्ण-काव्य में श्रृंगार का उन्मुक्त, उल्लास भरा चित्रण मिलता है जबकि इस युग के श्रृंगारी कवि सामाजिक झिझक के कारण कुण्ठाओं का शिकार बन गए हैं। इसी कारण इनका श्रृंगार-वर्णन कृष्ण-भक्तों की तुलना में मलिन और हेय दिखाई पड़ता है। और अभी तक प्रायः इसके इसी रूप का मूल्यांकन होता आया है, जो लांछना और भर्त्सना का कारण बन गया है। हुआ यह है कि अभी तक हिन्दी के आलोचक केवल रीतिबद्ध श्रृंगार वर्णन को ही इस काल की एकमात्र उपलब्धि मान, उसी की आलोचना-प्रत्यालोचना में जुटे रहे हैं। उन्होंने घनानन्द आदि के उदात्त श्रृंगार-वर्णन की ओर दृष्टि नहीं डाली है। घनानन्द आदि का श्रृंगार-वर्णन परम्परावद्ध श्रृंगार-वर्णन से अलग हटकर श्रृंगार को एक ऐसा उदात्त और निर्मल रूप देने में समर्थ हुआ है जो हिन्दी-साहित्य में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखता। अतः उसका मूल्यांकन होना चाहिए।

जहाँ तक वीर-काव्य का सम्बन्ध है, इस युग में रचित भूषण का वीर-काव्य भाषा-शैली आदि की दृष्टि से परम्पराबद्ध होते हुए भी अपनी नवीन राष्ट्रीय चेतना के कारण वीर-रस के एक नए रूप का उद्घाटन करता है। इस युग में भी अपने आश्रयदाताओं की वीरता का वर्णन करने वाला वीर-काव्य रचा गया है, जो परम्पराब्रद्ध ही अधिक रहा है। परन्तु भूषण का वीर-काव्य एक नई युग-चेतना का उद्घोष कर रहा है जिसके मूल में विधर्मियों के अत्याचार से मुक्ति और एक नवीन राष्ट्र-निर्माण की भावना प्रधान रही है। यही कारण है कि आधुनिक युग में भूषण का वीर-काव्य ही जनता में अधिक लोकप्रिय रहा है, न कि चन्द बरदाई आदि का वीर-काव्य। क्योंकि यह आधुनिक युग की स्वातन्त्र्य भावना और नवीन राष्ट्र-निर्माण कामना के अनुरूप था। इसे इस काल के वीर-काव्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट उपलब्धि माना जा सकता है। यह कुछ अंशों तक उस आक्षेप का भी निराकरण कर देता है कि इस युग के काव्य में लोक की उपेक्षा रही थी। भूषण का वीर-काव्य तत्कालीन लोक-भावना का प्रतिनिधित्व करने में पूर्ण समर्थ है।

इस युग का भक्ति-काव्य साधारण कोटि का ही रहा है। काव्य-सौन्दर्य, उदात्तता आदि की दृष्टि से यह भक्ति-काव्य सूर, नन्ददास आदि की जूठन सा और साम्प्रदायिक बनकर रह गया है। सूर आदि के समय तक सम्प्रदायों की स्थापना तो हो चुकी थी परन्तु सम्प्रदाय-गत दृष्टि में संकीर्णता नहीं आ पाई थी। इसीलिए उनके

काव्य में हार्दिक उल्लास और अपूर्व तन्मयता का रूप प्रस्फुटित हुआ था। और उसने इस काव्य को अपूर्व सौन्दर्य-श्री से मंडित कर दिया था। शृंगार काल तक आते-आते भक्तों के अनेक सम्प्रदाय स्थापित हो चुके थे और अपनी सम्प्रदायगत सीमित परिधि आबद्ध थे। इस काल के भक्त-कवि अपने-अपने सम्प्रदायों की संकीर्ण सीमा में ही रहते हुए काव्य-रचना करते थे। इसी कारण इस काल के भक्ति-काव्य में साम्प्रदायिक विवेचन की ही प्रधानता रही। भक्ति-भावना सम्प्रदायों के संकीर्ण बन्धनों में बद्ध रहने के कारण हृदय का उन्मुक्त उल्लास खो बैठी। दूसरा कारण यह रहा कि ये लोग अपने पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य की ही नकल करते रहे। इसलिए इनके काव्य में कोई नवीन उद्‌भावना नहीं हो सकी।

नीति-काव्य के क्षेत्र में इस युग का नीति-काव्य अत्यन्त समृद्ध और उन्नत रहा है। यह काव्य लोक-जीवन के साथ सटा हुआ चला है। लोक-जीवन के विभिन्न अनुभव सूक्तियों के रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं। घाघ का रचा हुआ ग्रामीण, और विशेषकर किसान-जीवन से सम्बन्धित नीति-काव्य आज तक भी हमारे किसानों में लोकप्रिय है। दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ सामान्य जनता में आज भी उद्धृत की जाती हैं। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भले ही इस काव्य को उन्नत और विशिष्ट न माना जाय, परन्तु उपयोगिता और प्रभाव की दृष्टि से इस काव्य का महत्त्व स्वीकार करना ही पड़ेगा। यह काव्य इस बात का प्रमाण है कि लोकानुभव को लोकहित के लिए लोक-भाषा में कितने सरल परन्तु प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। वस्तुतः इस काव्य के रूप में तत्कालीन लोकभाषा का यथार्थ रूप सुरक्षित रहा है। इसीलिए भाषा-विकास के अध्ययन की दृष्टि से इस काव्य की उपादेयता से इन्कार नहीं किया जा सकता। भक्ति-युगीन नीति-काव्य की तुलना में इस युग का नीति-काव्य निस्संदेह अधिक उन्नत, समृद्ध, सशक्त और प्रभावशाली रहा है।

इस युग में प्रबन्ध-काव्य यद्यपि लिखे तो गए प्रचुर परिमाण में परन्तु मुक्तक-काव्य की लोकप्रियता के कारण प्रसिद्धि पाने से वंचित रह गए। साथ ही यह भी सत्य है कि यदि इस युग में 'पदमावत' और 'रामचरितमानस' जैसे श्रेष्ठ और साहित्यिक गुणों और सौन्दर्य से समन्वित एक भी प्रबन्ध काव्य की रचना हुई होती तो उसे प्रसिद्धि अवश्य मिलती। ये प्रबन्ध-काव्य पौराणिक कथाओं और ऐतिहासिक पुरुषों तक ही सीमित रहे। नवीन उद्‌भावनाओं के अभाव के कारण ये या तो संस्कृत की पौराणिक कथाओं के अनुवाद मात्र बनकर रह गए या ऐतिहासिक नायकों के अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्ति-गायन मात्र। यदि इनमें से एक भी युग-जीवन का अंकन करने में समर्थ हो पाता तो हिन्दी-साहित्य और भारतीय इतिहास का बहुत बड़ा कल्याण करता। इन्हीं अभावों और युगपरक बद्ध दृष्टिकोण के कारण इस युग के प्रबन्ध-काव्य साधारण कोटि की रचनाएं ही बनकर रह गए। परन्तु यह भी सत्य है कि अभी तक इस युग के प्रबन्ध-काव्यों का समुचित अध्ययन और मूल्यांकन नहीं हो

पाया है। जिन लोगों ने इस क्षेत्र में कार्य किया भी है उनमें इनका उचित विवेचन और मूल्यांकन करने की क्षमता नहीं दिखाई पड़ी। इस युग में लगभग ३५० प्रबन्ध-काव्य रचे गए थे। क्या इनमें से एक भी युग-जीवन को अभिव्यक्ति नहीं दे सका है ? सम्भव है इनमें से कुछ प्रबन्ध-काव्यों में हमें ऐसी सामग्री मिल जाय जो युग-जीवन पर नया प्रकाश डाल सके। अतः आज जरूरत इस बात की है कि इन प्रबन्ध-काव्यों का वैज्ञानिक और विस्तृत अध्ययन और विवेचन किया जाय। हमें विश्वास है कि ऐसा होने पर बहुत से नवीन तथ्यों का उद्‌घाटन होगा जो हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने में उपयोगी रहेंगे।

काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में, इस युग में, हिन्दी में पहली बार व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप से काव्य-शास्त्र का विवेचन किया गया। इस काल के अनेक प्रतिभाशाली और विद्वान् कवियों ने अपना सारा जीवन काव्य-शास्त्र का विवेचन करने में अर्पित कर दिया था। यद्यपि भक्ति-काल में भी काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ रचे गए थे, परन्तु वे प्रधानतः नायिका-भेद का निरूपण करने तक ही सीमित रहे थे। इस काल में आकर पहली बार काव्य के अंगों-उपांगों का विवेचन आरम्भ हुआ। इस विवेचन का आकार संस्कृत काव्य-शास्त्र ही रहा। रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति का विवेचन किया गया परन्तु प्रधानता रस और अलंकार की ही रही। शुक्लजी ने इस विवेचन को अधूरा, अवैज्ञानिक और असन्तुलित कहा है। शुक्लजी की इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि संस्कृत के शताब्दियों के गहन विचार-मंथन से उत्पन्न काव्य-शास्त्र की हिन्दी के इस प्रारम्भिक काव्य-शास्त्र से तुलना नहीं की जा सकती। आखिर प्रौढ़ रूप और आरम्भिक रूप में स्तर-भेद तो रहता ही है। परन्तु साथ ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने युग में यह हिन्दी का काव्य-शास्त्र पर्याप्त लोकप्रिय और प्रसिद्ध रहा था। इसने नए कवियों का मार्ग-दर्शन किया था। इस युग में रचे गए अनेक लक्षण-ग्रन्थ बहुत लम्बे समय तक कवियों के पथ-प्रदर्शक बने रहे थे। यहाँ तक कि आधुनिक काल के प्रारम्भिक चरण में भी ये ही ग्रन्थ मान्य समझे जाते रहे थे और उन्होंने उन्नीसवीं सदी में रचित हिन्दी-काव्य को गहरे रूप से प्रभावित किया था। यह दूसरी बात है कि इन लक्षण-ग्रन्थों के रचयिता नवीन, मौलिक काव्यशास्त्रीय उद्‌भावनाएँ करने में असफल रहे थे, यद्यपि उन्होंने ऐसे प्रयत्न किए अवश्य थे।

काव्यशास्त्र की इस अपूर्णता का कारण यह था कि शास्त्रीय विवेचन के लिए गद्य की आवश्यकता होती है, और उस समय तक हिन्दी-गद्य का विकास नहीं हो पाया था। कुछ ग्रन्थों में ब्रजभाषा-गद्य का प्रयोग किया गया है परन्तु वह गद्य इतना अपरिपक्व और अव्यवस्थित है कि उसमें विचारों का समुचित विवेचन करने की क्षमता नहीं मिलती। गद्य के इसी अभाव के कारण इस युग में काव्यशास्त्र का समुचित और सन्तुलित विवेचन नहीं हो सका। कविगण एक छन्द में लक्षण देकर दूसरे छन्द में उसका उदाहरण प्रस्तुत कर देते थे। वस्तुतः उनकी काव्य-प्रतिभा का

प्रस्फुटन लक्षण देने में उतना अधिक नहीं हुआ जितना कि उदाहरणों में दिखाई पड़ा। लक्षण तो परम्पराबद्ध होने के कारण एक सीमित रेखा में आबद्ध रहते हैं। उनके निरूपण में मौलिकता का प्रदर्शन नहीं हो पाता। काव्य-सौन्दर्य और काव्य-चमत्कार तो उदाहरणों में भी विकास का संयोग खोज पाता है। इस युग में इसी कारण अत्यन्त सुन्दर उदाहरणों की रचना हो सकी। इन उदाहरणों के इस सौंदर्य को देख कर ही शुक्लजी को यह लिखना पड़ा था कि—

"इन रीति-ग्रन्थों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य—कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुन कर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।"

शुक्ल जी का उपर्युक्त कथन आंशिक रूप से ही सत्य माना जा सकता है। यह कहना गलत है कि इन कवियों का उद्देश्य—काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना नहीं था। यदि उनका यह उद्देश्य न होता तो वे लक्षणों के चक्कर में ही क्यों पड़ते। वे भी बिहारी आदि के समान बिना लक्षण दिए ही उनके सरस उदाहरण देने की सामर्थ्य और प्रतिभा रखते थे। उनका मूल उद्देश्य ही काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना रहा था। अधिकांश लक्षण-ग्रन्थकारों ने स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे हैं जिनमें काव्यशास्त्रीय विषय को नहीं उठाया गया है। मुसीबत तो यह है कि हम संस्कृत काव्यशास्त्र के उन्नत और आधुनिक-युग के समृद्ध आलोचना-शास्त्र को सामने रखकर इन पुराने काव्य-शास्त्रियों का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करते हैं। यह गलत प्रयास है। हमें उनको उनके युग और उसकी सीमाओं के भीतर रखकर ही देखना पड़ेगा, तभी हम उनके कृतित्व के प्रति संगत न्याय कर सकेंगे। अस्तु,

अभिव्यंजना शैली, भाषा, कला-रूप आदि की दृष्टि से इस युग का काव्य अपने पूर्ववर्ती काव्यों की तुलना में काफी समृद्ध और उन्नत रहा है। इस काव्य ने अपने पूर्ववर्ती कृष्ण-काव्य से इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की थी। अतिशय अलंकरण प्रियता, चमत्कार या पांडित्य-प्रदर्शन की भावना, उक्ति-वैचित्र्य, क्लिष्ट काव्य-रचना आदि का प्रौढ़ रूप कृष्ण-काव्य में पहले ही प्रस्तुत हो चुका था। इस काल के कवियों ने इन्हीं प्रवृत्तियों को आगे विकसित किया और माँजा-सँवारा था। इस काल की भाषा में जो मसृणता, कोमलता, स्त्रैणता आदि शैली के गुण मिलते हैं वह भी कृष्णभक्तों की ही देन थी। परम्पराबद्ध उपमानों और उक्ति-वैचित्र्य के लिए भी ये लोग कृष्ण-भक्तों के ही ऋणी हैं। अन्तर केवल इतना रहा कि भक्ति-काव्य में भाव और कला दोनों का स्वस्थ समन्वय और सहयोग रहते हुए भी भावपक्ष की प्रधानता रही और शृंगारकालीन काव्य में कलापक्ष प्रमुखता ग्रहण कर गया और

भाव-पक्ष उसकी तुलना में उपेक्षित सा रहा। परन्तु यह बात केवल रीतिबद्ध-काव्य के सम्बन्ध में ही लागू होती है। घनानन्द आदि रीतिमुक्त कवियों के काव्य में भाव और कला का जैसा मनोरम, सन्तुलित और स्वस्थ समन्वय हुआ है वैसा भक्ति-काव्य में भी नहीं मिलता। इनके काव्य में भावों को भाषा का जैसा घनिष्ठ और सशक्त सहयोग मिला, वैसा अन्यत्र विरल ही है। इस युग के अनेक प्रतिभाशाली कवियों, विशेष रूप से मतिराम, बिहारी, घनानन्द आदि ने भाषा को एक नवीन अभिव्यंजना-शक्ति, दीप्ति और ओज से मंडित कर ब्रजभाषा को उत्कर्ष के चरम शिखर तक पहुँचा दिया था। इसे सामान्य उपलब्धि नहीं माना जा सकता। यह काव्य-भाषा का साहित्यिक उत्कर्ष था। दूसरी ओर घाघ, दीनदयाल गिरि आदि के नीति-काव्य में लोकभाषा का यथार्थ, निखरा हुआ रूप मिला।

विषय-विस्तार की दृष्टि से भी इस युग का काव्य पर्याप्त विस्तृत और समृद्ध रहा है। शृंगार, वीर, भक्ति, नीति आदि रसों एवं विषयों से सम्बन्धित रचनाएँ प्रचुर परिमाण में लिखी गईं। काव्य शास्त्र का भी खूब विवेचन हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य विषयों, जैसे—पाकशास्त्र, ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र—आदि विषयों पर भी अनेक ग्रन्थ रचे गए; लेकिन जिन्हें साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता। इतना विषय-वैविध्य इससे पूर्व देखने को कभी नहीं मिला। यह सच है कि इस युग में प्राधान्य शृंगार का ही रहा। और यह भी सच है कि इस युग में रचित शृंगारी कविता ही श्रेष्ठ काव्य की कोटि में आती है। शृंगार साहित्य-साधकों का सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आरम्भिक-युग से लेकर शृंगार काल तक कवियों का प्रधान वर्ण्य-विषय शृंगार ही रहा है। संत-काव्य और तुलसी का राम-काव्य—ये दोनों अपवाद अवश्य रहे हैं। कृष्ण-काव्य तो सम्पूर्णतः शृंगार काव्य ही रहा है। फिर यदि इस युग में अधिकांश कवियों का झुकाव शृंगार की ओर रहा तो इसमें अस्वाभाविक क्या था? जिस वातावरण में इस साहित्य की रचना हुई थी, उसमें शृंगार और वीर—इन दो रसों के लिए ही अधिक गुंजाइश थी। और उस युग के अधिकांश आश्रयदाता राजा-महाराजा वीर-भावना-विहीन विलासी और कला-प्रिय व्यक्ति थे, इसलिए उनके संरक्षण में लौकिक शृंगार का प्राधान्य रहना स्वाभाविक था। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि इस युग के अधिकांश कवि किसी-न-किसी राजा के आश्रय में रहे थे, इसी कारण उनके काव्य में शृंगार का स्वर ही सर्वाधिक प्रबल रहा था।

इस काल के साहित्य पर एक लांछन यह भी लगाया गया है कि यह साहित्य लोक-जीवन से विमुख रहा था। इसमें लोक-जीवन, उसकी विभिन्न दशाएँ, समस्यायें आदि का चित्रण नहीं हुआ। इसको समझने के लिए पहले हमें 'लोक-जीवन' शब्द का अभिप्राय स्पष्ट कर लेना चाहिए। 'लोक-जीवन' से एक अभिप्राय तो यह ग्रहण किया जाता है कि साहित्य में वर्णित युग के जीवन का बहुमुखी सांगोपांग चित्रण

होना चाहिए। साहित्य के प्रति आधुनिक उपयोगितावादी दृष्टिकोण यही है। दूसरी बात यह है कि साहित्य ऐसा होना चाहिए जो लोक-हित की भावना को प्रश्रय और बढ़ावा दे। साहित्य के प्रति इसी उपयोगितावादी दृष्टिकोण के कारण ही शुक्लजी को कृष्ण-काव्य और शृंगार-काव्य में लोक-जीवन की अवहेलना खटकी थी। परन्तु यदि हम इसी दृष्टिकोण को साहित्यालोचन की एकमात्र कसौटी मान लें तो हमें हिन्दी-साहित्य के एक बहुत बड़े अंश से हाथ धो लेना पड़ेगा। आरम्भिक-युगीन वीर-रसात्मक रासो-काव्यों में नायक राजाओं के शौर्य और शृंगारिकता का ही प्राधान्य रहा है। इन नायकों के युद्ध भी व्यक्तिगत शौर्य के ही प्रमाण बनकर रह गए हैं। लोक-जीवन वहाँ सर्वथा उपेक्षित रहा है। अमीर खुसरो की पहेलियों और मुकरियों तथा विद्यापति की शृंगारी रचनाओं में भी लोक-जीवन की यही स्थिति रही है। सन्त-काव्य में लोक-जीवन अवश्य अंकित हुआ है, परन्तु वर्ण-व्यवस्था और धार्मिक मत-मतान्तरों तक ही सीमित होकर रह गया है। प्रेमाख्यानक कवि केवल उदात्त प्रेम-भावना का चित्रण करने में ही व्यस्त रहे। उन्होंने प्रबन्ध-काव्य लिखे थे और प्रबन्ध-काव्य में लोक-जीवन के चित्रण का अधिक अवकाश रहता है। परन्तु फिर भी ऐसा नहीं हो सका। राम-काव्य में तुलसी के 'मानस' आदि एकाध ही ग्रन्थ ऐसे रचे गए जिनमें लोक और उसकी समस्याओं का अंकन हुआ। कृष्ण-काव्य को तो शुक्लजी लोक-जीवन से नितान्त विमुख ही मानते हैं।

वस्तुतः शुक्लजी ने तुलसी के 'रामचरितमानस' को ही अपने साहित्यालोचन की कसौटी बना लिया था और उसी के अनुसार निर्णय देते चले गए थे। और उस कसौटी पर खरा न उतर सकने के कारण ही कृष्ण-काव्य भी उन्हें अधिक प्रभावित नहीं कर पाया था। यदि शुक्लजी के इस निर्णय को ही स्वीकार कर लिया जाय तो उनके हिसाब से समस्त हिन्दी-साहित्य में मात्र 'रामचरितमानस' ही एक ऐसी कृति मिलती है जिसे काव्योत्कर्ष और काव्य-उद्देश्य का प्रतीक माना जा सकता है। परन्तु क्या इस कसौटी को उचित माना जा सकता है? लोक-जीवन का आधुनिक युग में जो अर्थ लिया जाता है उसे आरम्भिक और मध्ययुगीन साहित्य पर सर्वांशतः लागू करना अनुचित और अन्यायपूर्ण है। मध्यकाल तक साहित्य-रचना की प्रेरणा काव्य-परम्पराओं में निहित रहती थी। कविगण अपनी पूर्ववर्ती काव्य-परम्पराओं का अनु-गमन करते हुए काव्य-रचना किया करते थे। आधुनिक युग में आकर जब हमारा साहित्य बहुमुखी बना, उसके विविध साहित्य-रूपों का जन्म और विकास हुआ, युग-जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए तो हमारा साहित्यालोचन का मानदंड भी बदल गया। परन्तु हमें उन नवीन मानदंडों के आधार पर प्राचीन काव्य का मूल्यांकन नहीं करना चाहिए। उस काव्य को सम्बन्धित युग की परिस्थितियों में रखकर उसका मूल्यांकन होना चाहिए। तभी हम उसके उचित न्याय कर सकेंगे। अस्तु,

शृंगार युगीन साहित्य शुक्लजी के अभिप्रायानुसार लोक-जीवन से विमुख अवश्य रहा था। परन्तु क्या शृंगार, शौर्य और भक्ति की भावनाएँ तत्कालीन लोक-

जीवन का अंग नहीं थीं ? क्या काव्यशास्त्रीय विवेचन उस युग की काव्य-साधना की आकांक्षा का प्रतीक नहीं था ? यदि नही था तो उस युग में रचे गए लक्षण-ग्रन्थ उस युग में तथा आधुनिक-युग में भी इतने लोकप्रिय क्यों रहे ? क्या इन्होंने काव्योत्थान में कोई योग नहीं दिया ? क्या इस युग में रचित साहित्य ने भाषा और उसकी अभिव्यंजना-शक्ति के परिष्कार और विकास में महत्त्वपूर्ण योग नहीं दिया था ? यदि यह सब हुआ था तो फिर इस युग के साहित्य को लोक-जीवन से विमुख कैसे माना जा सकता है । आज भी अनेक साहित्य-रसिक—पुरानी पीढ़ी के ही सही—ऐसे हैं जो मतिराम, देव, बिहारी, घनानन्द आदि के छन्दों का बड़ी तन्मयता के साथ पाठ करते देखे जा सकते हैं । इस काव्य में उन्हें अमित काव्यानन्द की प्राप्ति होती है । और जो काव्य आनन्द देने में समर्थ होता है, उसे किसी भी रूप में उपेक्षणीय या निम्नकोटि का नहीं माना जा सकता ।

वस्तुतः इस युग के काव्य की अवहेलना के मूल में हमारे शुक्लजी और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे आदर्शवादी तथा नवीन मार्क्सवादी आलोचकों का बहुत बड़ा हाथ रहा था । आदर्शवादी आलोचक शृंगार के नाममात्र से नाक-भौं चढ़ाते थे । और कतिपय मार्क्सवादी आलोचक समस्त प्राचीन हिन्दी-साहित्य को सामन्तवादी साहित्य घोषित कर उसके बहिष्कार का नारा लगा रहे थे । दूसरी तरफ हमारे नए साहित्यकार और आलोचक पाश्चात्य साहित्य से बुरी तरह प्रभावित हो, अपने प्राचीन साहित्य के प्रति पूर्णतः उदासीन बन गये थे । इन्हीं सब कारणों से समस्त मध्यकालीन साहित्य, और विशेष रूप से शृंगार कालीन साहित्य, उपेक्षित बना रहा था । आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने पूर्वजों के इस कृतित्व का अध्ययन करें और उनकी देन को सहर्ष स्वीकार कर, उन्हें उचित सम्मान प्रदान करें ।

पुनर्जागरण का काल

(आधुनिक काल)

सामान्य परिचय

शृंगार काल की सीमा सम्वत् १६०० तक मानी गई है। इसका अभिप्राय यह है कि हिन्दी-साहित्य में इस सीमावधि तक शृंगार कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्राबल्य रहा था। परन्तु इस काल के उपरान्त हम हिन्दी-साहित्य को एक सर्वथा नए क्षेत्र में प्रवेश करते हुए देखते हैं। यह नया क्षेत्र अपने पूर्ववर्ती क्षेत्र से अधिक विस्तृत, अधिक यथार्थपरक और बहुत अंशों में भिन्न रहा है। इस काल में साहित्यिक क्षेत्र में हिन्दी-गद्य का रूप प्रस्फुटित होता है, काव्य-प्रवृत्तियाँ कुछ समय उपरान्त एकाएक बदलने लगती हैं, काव्य-भाषा ब्रजभाषा कुछ समय तक कविता का माध्यम बनी रहती है परन्तु आगे चलकर खड़ीबोली उसे साहित्यिक क्षेत्र से अपदस्थ कर गद्य-पद्य—दोनों का एकमात्र माध्यम बन जाती है, साहित्य में नई-नई गद्य-विधाओं—उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि का जन्म और विकास होता है, और साहित्य जन-जीवन के साथ पूर्णतया घुल-मिलकर चलने लगता है। इससे पूर्व हिन्दी-साहित्य के इतिहास में हमें ऐसे विशाल, बहुमुखी और क्रान्तिकारी परिवर्तन के दर्शन अन्य किसी भी काल में नहीं होते। जन-जीवन में हुआ क्रान्तिकारी परिवर्तन साहित्य के स्वरूप को एकदम बदल देता है। जन-जीवन एक सर्वथा नवीन, विदेशी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों से आन्दोलित हो, नए जीवन-मानों को जन्म देता है। और उसके यही नवीन जीवन-मान साहित्य की धारा को एकाएक बदल देते हैं। ऐसा लगता है—जैसे भारतवासी एक लम्बी नींद के टूटने पर सहसा जाग उठे हों और जागने पर उन्होंने एक सर्वथा भिन्न प्रभात के दर्शन किए हों जो अपने प्रकाश में नए जीवन-मूल्यों का सन्देश भरे हुए उनके सामने आया हो। और भारतवासी उस नए सन्देश और उसके मूल में कार्यरत नई समस्याओं को सुलझाने के

लिये प्राणपण से जुट गए हों। इसी कारण हमने इस काल को 'पुनर्जागरण का काल' कहना अधिक संगत समझा है।

नामकरण की समस्या

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा उनके अनुवर्ती अनेक हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने वालों ने इस काल को 'आधुनिक काल' ही कहा है। शुक्ल जी के पूर्ववर्ती इतिहासकार मिश्रबन्धु ने शृंगार काल के उत्तरार्द्ध को 'परिवर्तन काल' और इस काल को 'वर्तमान काल' माना था। शुक्लजी के समकालीन—डा० श्यामसुन्दरदास ने इसे 'नवीन विकास का काल' की संज्ञा प्रदान की है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे 'आधुनिक काल' ही कहा है। हम इस ग्रन्थ के आरम्भ में विभिन्न कालों के नामकरण की समस्या पर विस्तारपूर्वक विचार कर आए हैं। हमने सम्पूर्ण कालों का नामकरण सम्बन्धित युगों के मुख्य कथ्य के आधार पर ही किया है—केवल आरंभिक-काल को छोड़कर। उसके कारणों का भी हम विवेचन कर चुके हैं। यहाँ समस्या आधुनिक काल के नामकरण की है। 'आधुनिक काल' नाम किसी भी प्रमुख प्रवृत्ति का परिचय नहीं देता। कालान्तर में जब यह काल इतिहास बन जायेगा, तब इस नाम का कोई महत्त्व नहीं रह जायेगा। हम पिछले अनुच्छेद में यह स्पष्ट कर आए हैं कि हमने इस काल को 'पुनर्जागरण का काल' कहना क्यों संगत समझा है।

इस नामकरण में हमने 'जागरण' शब्द के स्थान पर 'पुनर्जागरण' का प्रयोग साभिप्राय किया है। क्योंकि हिन्दी-साहित्य के लम्बे इतिहास में हमें जागरण की यह भावना न्यूनाधिक रूप में कई बार उभरती हुई मिलती है। जब देश या जाति पर कोई संकट आता है और उस संकट के कारण जब स्थापित जीवन-मान भंग होने लगते हैं, तब देश एक नई चेतना से आन्दोलित हो उठता है। कभी वह नई चेतना परम्परागत स्वस्थ परन्तु मन्द चिन्तन परम्पराओं का तीव्र विकास करने में समर्थ होती है और कभी जीवन-दृष्टि में हलका सा परिवर्तन उत्पन्न कर काल-प्रवाह में खो जाती है। आरम्भिक युगीन रासो-काव्यों की वीरता की भावना हल्का सा परिवर्तन उत्पन्न कर समाप्त हो गई थी। सन्त-काव्य में नवीन इस्लामी सभ्यता और संस्कृति के संस्पर्श और विजातीयता ने एक तीव्र सामाजिक आक्रोश का स्वर भर दिया था, यद्यपि उसका मूल कारण केवल यही नहीं रहा था। सन्त-काव्य धार्मिक नवोन्मेष का काल था और उसका यही धार्मिक नवोन्मेष अधिक गम्भीर रूप में सगुण-भक्ति-काव्य में दिखाई पड़ा था। हमारे इस विवेच्य काल में हमें पुनः विजातीय संस्कृति के संस्पर्श के कारण जागरण होता हुआ दिखाई पड़ा। यह उन्हीं प्राचीन मन्द या तीव्र जन-जागरणों की कड़ी का ही नवीन रूप था। इसी कारण हमने इसे 'पुनर्जागरण' कहा है। परन्तु इस बार का यह जागरण इतना तीव्र, बहुमुखी और क्रान्तिकारी रहा था कि इसने हिन्दी-साहित्य के स्वरूप को ही बदल डाला। और

इस परिवर्तन के कारण उन विभिन्न नवीन परिस्थितियों में छिए हुए थे जिन्होंने जन-जीवन को एकबारगी ही झकझोर कर, बुरी तरह से आन्दोलित कर एक नए मार्ग पर अग्रसर कर दिया था। इस नए युग के साहित्य में इसी नए आन्दोलित जीवन की समस्याएँ, आशाएँ-आकांक्षाएँ मुखरित हो उठी थी। इन्हें समझने के लिए पहले हमें उनकी प्रेरक विभिन्न परिस्थितियों को समझ लेना चाहिए।

राजनीतिक परिस्थिति

पूर्व-पीठिका

शृंगार काल के उत्तरार्द्ध में देश की, विशेषकर उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थिति में परिवर्तन होने आरम्भ हो चुके थे। मुगल-साम्राज्य और उसके सम्राट् इतने शक्तिहीन हो गए थे कि उनका नाममात्र ही शेष रह गया था। अधिकांश सूबेदारों ने साम्राज्य के प्रति विद्रोह घोषित करते हुए अपनी स्वतंत्रता कायम कर ली थी। देश में विदेशी—अंग्रेज, फ्रांसीसी, डच, पुर्तगाली आदि का आगमन हो चुका था और ये लोग परस्पर संघर्ष करते हुए भारत के विभिन्न तटवर्ती प्रदेशों में अपने मजबूत अड्डे स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर चुके थे। मुगल-साम्राज्य को शक्तिहीन पाकर पंजाब में सिख, मध्यभारत में मराठे और पूर्वी भारत में अंग्रेज शक्तिशाली बनते जा रहे थे। उस समय तक अंग्रेजों ने अन्य यूरोपिय शक्तियों की तुलना में अधिक शक्ति और प्रदेश बढ़ा लिए थे। फ्रांसीसी, पुर्तगाली आदि दक्षिण भारत के पूर्वी और पश्चिमी तटवर्ती थोड़े से प्रदेशों तक ही सीमित रह गए थे। देश की नवीन राजनीतिक शक्तियों—मराठा, अंग्रेज और सिख—में उत्तर भारत पर प्रभुत्व स्थापित करने की प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गई थी। सिख केवल पंजाब तक ही सीमित होकर रह गए थे। मुख्य संघर्ष मराठों और अंग्रेजों में हो रहा था।

छत्रपति शिवाजी द्वारा स्थापित मराठा-राज्य पेशवाओं के युग में उत्तर की ओर विस्तार पाने का प्रयत्न कर रहा था। पूना से लेकर ग्वालियर तक मराठों के कई शक्तिशाली राज्य स्थापित हो चुके थे। राजस्थान की राजपूत रियासतें अशक्त और असंगठित थीं। मराठे प्रायः इन्हें लूटा-खसोटा करते थे। इसके बाद मराठा सरदारों ने दिल्ली तक धावे बोलने आरम्भ कर दिए और कुछ समय तक दिल्ली पर उनका प्रभुत्त्व और आतंक छाया रहा। इसी काल में भरतपुर के जाट शासकों का भी बोलबाला बढ़ा। इन विभिन्न राजनीतिक शक्तियों के उदय होने का यह परिणाम निकला कि सम्पूर्ण मध्यदेश—जो प्रमुख रूप से हिन्दी-भाषी प्रदेश है—निरन्तर चलने वाले युद्धों, लूट-खसोट और जन-जीवन के विनाश का क्रीड़ा-स्थल बन गया। अन्त में अफगान अहमदशाह अब्दाली ने दिल्ली पर आक्रमण किया। मराठा-सैन्य उसका सामना करने के लिए एकत्र हुई परन्तु कुछ कूटनीतिक त्रुटियों के कारण उससे हार गई। इस युद्ध ने एक प्रकार से मराठा-शक्ति की कमर तोड़ दी और मराठा सरदार दिल्ली का मोह त्याग अपने राज्यों में ही सीमित होकर बैठ गए।

उधर पूर्वी भारत में अंग्रेज अपनी शक्ति और व्यापार का विस्तार करने में प्रयत्नशील थे। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अंग्रेज मूलतः व्यापारी थे। 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' नामक एक व्यापारिक अंग्रेजी संस्थान के रूप में अंग्रेजों ने भारत में प्रवेश किया था। उस समय वे मूल रूप से व्यापारी ही थे। परन्तु वे यह जानते थे कि भारत की उन्नत व्यापार-पद्धति, कला-कौशल, उत्पादन-क्षमता के सामने उनका व्यापार अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सकेगा। अपने व्यापार की सफलता के लिए उनके सामने एक ही रास्ता था कि किसी प्रकार भारत के उद्योग-धन्धों को नष्ट कर दिया जाय और यहाँ के कच्चे माल को सस्ते मूल्य में खरीद, इंगलैंड ले जाया जाय और फिर वहाँ से बने हुए माल का भारत को निर्यात किया जाये। इसके लिए यह आवश्यक था कि भारत में उनका राजनीतिक प्रभुत्त्व बढ़े। जब तक मुगल-साम्राज्य शक्तिशाली बना रहा, अंग्रेज उससे डरते रहे। जब साम्राज्य अशक्त हो जाता है तब उसके सूबेदार-सामन्त स्वतंत्र हो जाते हैं और स्वतंत्र होने के इस अवसर पर अनेक महत्त्वाकांक्षी सरदार-सामन्त आदि यह प्रयत्न करने लगते हैं कि वे अपने स्वामी को अपदस्थ कर या मारकर उसके स्थान पर स्वयं शासक बन जायें। ऐसे व्यक्तियों के कारण छोटे-छोटे नए राज्य राजनीतिक षड्यंत्रों का अखाड़ा बन जाते हैं। व्यापारी स्वभाव से चतुर होता है। वह ऐसे अवसरों पर सम्बद्ध दलों से अपना सम्पर्क स्थापित कर लाभ उठाने का प्रयत्न करने लगता है।

ईसा की अठारहवीं सदी के मध्यकाल में बंगाल एक स्वतंत्र-राज्य था। नबाव सिराजुद्दौला वहाँ का शासक था। उस समय तक अंग्रेज बंगाल में अपना व्यापार जमा चुके थे और कलकत्ता उनके व्यापार का केन्द्र था। मीर जाफर सिराजुद्दौला का सेनापति था। सेठ अमीचन्द और जगतसेठ जैसे हिन्दू व्यापारी अंग्रेजों के साथ व्यापार कर रहे थे। एक घटना द्वारा उत्तेजित हो जब सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों को दंड देना चाहा तो वे मीर जाफर आदि की शह पाकर उससे लड़ने को तैयार हो गए। युद्ध हुआ। मीर जाफर और उपर्युक्त हिन्दू सेठों ने गद्दारी की। फलस्वरूप नवाब हार गया। अंग्रेजों ने मीर जाफर को नवाब बनाकर शासन-सूत्र अपने हाथ में सम्हाल लिया। इसके कुछ समय बाद वे स्वयं बंगाल के शासक बन गए। और इसके उपरान्त उन्होंने जो पश्चिम भारत की ओर बढ़ना आरम्भ किया तो उनकी यह प्रगति भारत की तत्कालीन तथाकथित राजधानी दिल्ली को आत्मसात् करने पर भी बन्द नहीं हुई। वहाँ से आगे बढ़कर उन्होंने पंजाब, सिन्ध, पश्चिमोत्तर प्रदेश आदि पर अधिकार कर लिया और फिर सम्पूर्ण भारत के एकछत्र शासक बन बैठे। इस प्रकार भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना हो गई।

अंग्रेजों को अपने इस विजय-अभियान में पूरे एक-सौ वर्ष लगे थे। लार्ड क्लाइव ने सन् १७५७ में पलासी के युद्ध में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को पराजित किया था। फिर सन् १७६४ में बक्सर की लड़ाई में उन्होंने मुगल-सम्राट् शाहआलम

पर विजय प्राप्त की। इसके बाद वे धीरे-धीरे पश्चिम की ओर आगे बढ़ते रहे। सन् १८२६ में उन्होंने भरतपुर के जाट राजा को पराजित कर जाटों की शक्ति को नष्ट कर दिया। सन् १८४९ में द्वितीय सिख युद्ध में सिखों की शक्ति को समाप्त कर देने में सफलता पाई। सन् १८५६ में अवध के नवाब वाजिदअली शाह को अपदस्थ कर अवध को अंग्रेजी-साम्राज्य में मिला लिया गया। इस बीच ये लोग कूटनीतिक दाँव-पेचों द्वारा निर्बल राज्यों को उत्तराधिकारी न होने या अन्य कारणों से अपने साम्राज्य में मिलाते चले गए। हिन्दी के प्रख्यात कथाकार भगवतीचरण वर्मा ने अपनी प्रसिद्ध कहानी 'जब मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' में इस अंग्रेजी-साम्राज्य-विस्तार का अत्यन्त मार्मिक व्यंगपूर्ण चित्रण किया है।

असन्तोष का उदय

अंग्रेजी साम्राज्य अपने विस्तार के साथ-साथ भारतीय जनता में भयंकर असन्तोष को भी जन्म देता हुआ आगे बढ़ रहा था। उसकी स्थापना के साथ सामरिक दृष्टि से देश में शान्ति स्थापित हो चुकी थी। इसका कारण यह था कि अंग्रेजों ने अपना प्रतिरोध करने वाली सम्पूर्ण देशी ताकतों को नष्ट कर दिया था। इससे सारे देश में उसका आतंक छा गया था। कोई भी विद्रोह करने या युद्ध छेड़ने का साहस नहीं करता था। इस शान्ति-स्थापना ने सामान्य जन-जीवन को सुख और सान्त्वना प्रदान की थी। अंग्रेज ने देश को अराजकता से तो मुक्ति दिलवा दी थी परन्तु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि अंग्रेज मूलतः व्यापारी था। उसने राजनीतिक शान्ति तो स्थापित कर दी परन्तु अपनी नवीन शासन-पद्धति और व्यापारिक नीति के कारण देश में आर्थिक अशान्ति को जन्म दे दिया। अपने व्यापार की समृद्धि के लिए उसने यहाँ के उद्योग-धन्धों को नष्ट किया, भारतीय व्यापारियों का व्यापार बर्बाद किया। यहाँ उत्पन्न होने वाले कच्चे माल को सस्ते मूल्य में खरीद—उससे पक्का माल बना ऊँची कीमतों पर बेचना और अनाप-शनाप मुनाफा कमाना आरम्भ कर दिया। क्योंकि व्यापार पर उसका एकाधिपत्य था, इसलिए भारतीय व्यापार को उसने समूल नष्ट कर देने में कोई कसर न छोड़ी। उद्योग-धन्धे नष्ट हो जाने से कारीगरों में बेकारी और असन्तोष बढ़ने लगा। विषम शासन-नीति के कारण जनता को अदालतों में न्याय तो मिलने लगा परन्तु वह न्याय बहुत खर्चीला था। अंग्रेज ने जमींदारी प्रथा का आरम्भ कर देश में एक ऐसे वर्ग का निर्माण कर लिया था जो अंग्रेजों का कट्टर समर्थक बन गया था। देशी रजवाड़ों से सन्धि कर उसने उनकी सुरक्षा का सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर ले उन्हें मुक्त विलास करने की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी थी। इसके अतिरिक्त उसने अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार कर एक ऐसे नए वर्ग को भी जन्म दिया था जो अंग्रेजी पढ़कर शासन की लिखा-पढ़ी का काम सम्हालता था, शासन का एक अंग होने के कारण अपने को जन-सामान्य से विशिष्ट और श्रेष्ठ समझता था और अपनी नौकरी की सुरक्षा एवं अपनी सन्तति की भविष्य-रक्षा के

लिए अंग्रेजी-साम्राज्य का कट्टर समर्थक बना रहता था। यही कारण था कि यहाँ देशी रियासतों के राजा, जमींदार और सरकारी नौकर राजभक्त थे और अंग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा में ही अपनी सुरक्षा समझते और मानते थे।

भ्रष्टाचारी शासन-नीति

अंग्रेज ने भारत में ऐसी शासन-पद्धति की स्थापना की थी जिसकी नींव भ्रष्टाचार पर आधारित थी। सभी बड़े-बड़े सरकारी अफसर अंग्रेज होते थे जिन्हें मोटी-मोटी तनख्वाह, बँगला, नौकर-चाकर आदि की सम्पूर्ण सुविधाएँ प्रदान की जाती थीं, साथ ही उन्हें भारतवासियों को असभ्य, निम्न श्रेणी का, बेईमान और ताड़ना के योग्य समझने की शिक्षा देकर भारत पर शासन करने के लिए भेजा जाता था। इसी कारण ये लोग जनता से अलग रहते थे। कुछ सीमा तक ईमानदार भी बने रहते थे क्योंकि उन्हें रिश्वत लेने की जरूरत नहीं पड़ती थी। इनके नीचे छोटे-छोटे सरकारी अफसर, क्लर्क, चपरासी आदि सब भारतवासी नियुक्त किए जाते थे। इन्हें इतना कम वेतन दिया जाता था कि इन्हें मजबूर होकर रिश्वत लेनी पड़ती थी। इस कारण सरकारी अदालतें, अन्य दफ्तर आदि रिश्वत और भ्रष्टाचार के अड्डे बन गए थे। अंग्रेज ने युगों से चली आती पंचायती शासन-व्यवस्था को नष्ट कर जनता को सरकारी अदालतों के द्वार पर ला खड़ा किया था। इन अदालतों ने खर्चीली मुकदमाबाजी को प्रोत्साहन दिया। फलतः जनता में पारस्परिक लड़ाई-झगड़े और अलगाव की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। न्याय उसी का पक्ष लेता था, जो अधिक पैसा खर्च करने में समर्थ था।

जमींदारी-पद्धति ने किसानों के शोषण का एक नया तरीका निकाला। किसान मेहनत कर अन्न उगाता था और जमींदार लगान, नजराना, जुर्माना आदि के नाम पर उसकी कमाई का एक बहुत बड़ा हिस्सा, बिना मेहनत किए ही, हड़प जाता था। अपना गुजारा चलाने के लिए किसान को साहूकार की शरण में जा, उसकी मनमानी शर्तों और ब्याज-दर पर उससे कर्ज लेना पड़ता था। इस प्रकार किसान लगान और ऋण के ऐसे अनन्त जाल में फँस जाता था जिससे उसका कभी भी उद्धार नहीं हो पाता था। अतः भारत का किसान उन्नति करने में असमर्थ बना रहा। और अंग्रेज यही चाहता था कि यहाँ का किसान कभी उन्नति न कर सके, क्योंकि वह जानता था कि जब तक यह किसान शोषित दलित, अशिक्षित और परमुखापेक्षी बना रहेगा तब तक विद्रोह करने में असमर्थ रहेगा। इस प्रकार अंग्रेज ने भारत के ग्रामीण क्षेत्र में एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया था जो किसानों की कमाई पर बिना मेहनत किए, गुलछर्रे उड़ाता था और स्वयं को किसान का भाग्य-विधाता समझता था। यह वर्ग था—जमींदार और साहूकार का। साधारणतः ये दो व्यक्ति अलग-अलग होते थे, परन्तु जब जमींदार साहूकार बन जाता था या साहूकार जमींदार बन जाता था तो इनका रूप अत्यन्त घातक और भयंकर हो उठता था। इनके चंगुल में फँसे हुए

किसानों को पीढ़ियों तक खरीदे हुए दास के समान इनकी गुलामी करनी पड़ती थी। मुझे एक घटना याद है। मेरे गाँव का एक किसान हमारा आसामी था। उसने पड़ोस के एक गाँव के साहूकार से पाँच वर्ष पहले ५० रुपए उधार लिए थे। वह इन पाँच वर्षों में उस साहूकार को ३०० रु० नकद दे चुका था। इसी बीच घर में आग लगने से उस किसान की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के दूसरे दिन मैं सम्वेदना प्रकट करने के लिए उसके द्वार पर गया। घर के भीतर कोहराम मचा हुआ था। किसान की विधवा और बच्चे बिलख रहे थे। आग में सब कुछ स्वाहा हो गया था, केवल एक भैंस बची थी। उसके द्वार पर पड़ोस के वह साहूकार महाशय बैठे थे। मैंने समझा सम्वेदना प्रकट करने आए हैं। थोड़ी देर में उन्होंने किसान की विधवा को बाहर बुलवाया। वह घूँघट निकाल सिसकती बाहर आ बैठी। उन्होंने सम्वेदना का एक भी शब्द कहे बिना उससे अपने रुपयों का तकाजा किया। मुझे बहुत बुरा लगा। परिस्थिति की दुहाई देते हुए मैंने उनसे आग्रह किया कि वह अभी न माँगें। उन्होंने उत्तर दिया—'तुम अभी लड़के हो, कर्ज अगर अभी वसूल नहीं हुआ तो फिर कभी नहीं होगा, इस बात को तुम नहीं जानते।' सुनकर मैं क्षोभ और क्रोध से भर उठा। मैंने उनसे हिसाब बताने के लिए कहा क्योंकि मृत किसान हमारा आसामी था। उन्होंने वही निकाली और हिसाब लगाकर बोले कि ३५० चाहिए। सारा हिसाब समझाए जाने पर मैं दंग रह गया। ५० के पाँच साल में ३०० वसूल हो चुके थे और अभी ३५० बाकी थे। मैंने पूछा—कुछ लिखा-पढ़ी है। बोले, नहीं। ऐसे मामलों में लिखा-पढ़ी नहीं होती। मैंने पूछा, समझौता करोगे। अन्त में, जब मैंने यह धमकी दी कि यह गाँव मेरा है, अगर तुमने ज्यादती की तो तुम्हारा घर पहुँचना मुश्किल कर दूँगा। धमकी काम कर गई। वह ५० पर समझौता कर, रुपये लेकर चले गए। उस व्यक्ति के चले जाने पर मुझे इस बात का बहुत अफसोस हुआ कि मैने इस नर-राक्षस की पिटाई क्यों नहीं करवाई। और वही अफसोस मुझे आज भी है।

ऐसे इन साहूकारों को जन्म, प्रोत्साहन और संरक्षण देने वाला अंग्रेज था। और अंग्रेज ने ऐसे वर्गों को जान-बूझकर जन्म और प्रोत्साहन दिया था, जिससे भारतीय किसान कभी समृद्ध न बन पाए।

न्यूनाधिक यही स्थिति नागरिक जीवन की थी। नागरिक जीवन में भी रिश्वत और भ्रष्टाचार का बोलबाला था। कोई भी सरकारी काम बिना रिश्वत दिए कराना असम्भव था। और मजा यह था कि स्वयं अंग्रेज इस रिश्वत और भ्रष्टाचार के कलंक से बचा रहता था, क्योंकि यह सारा काम हिन्दुस्तानी सरकारी नौकर ही करते थे।

आर्थिक स्थिति

हम पहले कह आए हैं कि अंग्रेज व्यापारी था—अधिकाधिक धन का लोभी। इसलिए उसका मूल लक्ष्य—भारत में अपने व्यापार के एकछत्र राज्य की स्थापना करना, यहाँ के व्यापार को हर तरह के हथकण्डों द्वारा नेस्त-नाबूद करना, यहाँ के

कच्चे माल को सस्ते मूल्य में खरीद, उसे अपने देश ले जाकर उससे पक्का माल बना फिर भारत में ऊँची कीमत पर बेचना और इस प्रकार भारत की धन-दौलत को अपने देश ले जाना और भारत को आर्थिक दृष्टि से इंगलैंड पर निर्भर बना देना था। इसके अतिरिक्त वह लूट-खसोट करने में भी माहिर था। उसने जिन-जिन राज्यों, प्रदेशों और नगरों पर अधिकार किया था वहाँ की सारी धन-दौलत को लूट कर अपने देश ले गया था। सन् १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-युद्ध में भारतीय क्रान्ति-कारियों की पराजय हो जाने पर जब अंग्रेज ने पुनः दिल्ली पर कब्जा कर लिया था तब उसने दिल्ली में लूटमार और कत्लेआम का जो नंगा नाच खेला था उसकी तुलना में चँगेज और तैमूर द्वारा की गई लूटमार और हत्याकांड बचकाने से प्रयास प्रतीत होते हैं। परन्तु अंग्रेज इतिहासकारों ने चँगेज और तैमूर को बर्बर, असभ्य, लुटेरा और अत्याचारी कहा और अँग्रेज को सुसभ्य, दयालु, परोपकारी और न्यायप्रिय अंकित किया। अस्तु,

अंग्रेज ने भारत के उद्योग-धन्धों को नष्ट किया, जिससे कारीगर बेकार हो गए। उसने किसानों से उनकी आय के अनुपात में मनमाना अधिक लगान वसूल किया जिससे भारतीय किसान निर्धन बन गया। उसने यहाँ के व्यापारियों पर अंकुश लगा सम्पूर्ण देशी और विदेशी व्यापार का एकमात्र अधिकार अपने हाथ में रखा, जिससे यहाँ का व्यापार नष्ट हो गया। देश की सामान्य और मध्यवर्गीय जनता की स्थिति आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त दयनीय बन गई थी। केवल अंग्रेज द्वारा संरक्षित राजा, जमींदार, साहूकार और कुछ सरकारी नौकर ही खुशहाल थे। ये निर्भय होकर जनता का शोषण करते थे, क्योंकि अंग्रेजी पुलिस और सेना इनकी रक्षा करने के लिए सदैव तत्पर रहती थी। इस प्रकार भारत का धन इंगलैंड की ओर प्रवाहित होने लगा था और फिर लौटकर कभी नहीं आता था। भारतेन्दु जैसे जागरूक साहित्य-सेवी इस तथ्य से परिचित थे। इसीलिए उन्होंने लिखा था—

'अंग्रेज राज सुख साज, सजै सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात, यहै अति ख्वारी॥'

इस विषम आर्थिक स्थिति के कारण देश में भीतर-ही-भीतर असन्तोष की आग सुलग रही थी।

और इस असन्तोष का परिणाम क्या निकला

अंग्रेज की भारतीय सेना में अफसर अंग्रेज थे और सिपाही हिन्दुस्तानी। दोनों के वेतन, जीवन-स्तर आदि में आकाश-पाताल का अन्तर था। अंग्रेज हिन्दुस्तानी को अत्यन्त हेय, नीच और उपेक्षा के योग्य समझता और मानता था। हिन्दुस्तानी सिपाही अंग्रेज को विधर्मी, म्लेच्छ और अत्याचारी समझता था। उसकी भेद-भाव की तथा हिन्दुस्तानी सिपाहियों की सहायता से हिन्दुस्तानियों पर ही अत्याचार करने की नीति के कारण हिन्दुस्तानी सिपाहियों में भीतर ही भीतर असन्तोष की आग धधक

रही थी। अंग्रेज से किसान असन्तुष्ट था, व्यापारी असन्तुष्ट था, पदच्युत राजा और उनके सरदार-सामन्त असन्तुष्ट थे, और इन सबसे ऊपर उसकी सेना का हिन्दुस्तानी सिपाही असन्तुष्ट था। असन्तुष्ट राजनीतिज्ञ भीतर-ही-भीतर क्रान्ति की योजना बना रहे थे और क्रान्ति की यह योजना अभी पूरी तरह से पक नहीं पाई थी कि एक मंगल पाँडे की घटना को लेकर मेरठ की सैनिक छावनी में एकाएक विद्रोह का ज्वालामुखी फूट पड़ा और उसने भारत में अंग्रेजी राज्य की जड़ों को बुरी तरह से झकझोर डाला। सन् १८५७ के इस प्रथम स्वातन्त्र्य-युद्ध में भारतीयों को असफलता क्यों मिली ? यहाँ हम उसकी तह में जाने का प्रयत्न नहीं करेंगे, क्योंकि यह विशुद्ध राजनीतिक प्रश्न है और हम हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिख रहे हैं। इस सम्बन्ध में हम यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझेंगे कि सन् १८५७ का यह युद्ध—जनता का युद्ध था, जनता द्वारा विदेशी अत्याचारियों के विरुद्ध लड़ा गया था। तात्या टोपे, महारानी लक्ष्मी बाई, अजी मुल्ला खाँ, राजा कुँवर सिंह—इस युद्ध के अमर सेनानी थे जो आज भी भारतीय जन-मानस में शौर्य और उत्सर्ग के प्रतीक बने हुए हैं। अंग्रेजों तथा उन्हीं के दृष्टिकोण से प्रभावित कतिपय भारतीय इतिहासकारों का यह कहना गलत है कि सन् १८५७ की क्रान्ति (ये लोग इसे 'गदर' कहते हैं) कुछ पदच्युत राजाओं द्वारा उभारी गई थी। इसमें हर जगह साधारण हिन्दुस्तानी सिपाही, किसान और अंग्रेज से नाराज और असन्तुष्ट वर्ग ने ही आगे बढ़कर हिस्सा लिया था। पंजाब से लेकर बिहार तक सम्पूर्ण उत्तर भारत से कुछ समय के लिए अंग्रेजी राज्य खत्म कर दिया गया था।

अंग्रेज की आँखें खुल गईं

इस राज्य-क्रान्ति ने मदान्ध धन-लोलुप और अत्याचारी अंग्रेज की आँखें खोल दी थीं। सन् १८५७ तक भारत में अंग्रेज व्यापारियों की संस्था 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' का राज्य था। इस राज्य-क्रान्ति से इंगलैंड के शासकों को होश आ गया। उन्होंने अनुभव किया कि अब भारत में सुशासन की व्यवस्था किए बिना वहाँ अंग्रेज नहीं टिक सकते। इसलिए इंगलैंड की लोकसभा ने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य समाप्त कर यहाँ का शासन-प्रबन्ध स्वयं सम्हाल लिया। इंगलैण्ड की रानी विक्टोरिया भारत की साम्राज्ञी घोषित की गई और उसने भारत में कुछ सुधारों की घोषणा कर भारतवासियों को थोड़ी-सी राहत प्रदान करने की कोशिश की। परन्तु यह शासन-परिवर्तन और सुधारों की घोषणा ऊपरी दिखावा-मात्र था। इंगलैण्ड की सरकार पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से भारत में व्यापार और शासन करती थी। और अब उसने भारतीयों की आँखों में धूल झोंकने के लिए भारतीय जनता में व्याप्त व्यापक असन्तोष का सारा दायित्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ऊपर थोप उसे हटा देने का नाटक रचा और अपने इस अभिनय में कुछ सीमा तक उसे

सफलता भी मिली। अंग्रेज ने देश में महारानी विक्टोरिया के नाम पर शासन को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। सन् १८५७ की राज्य-क्रान्ति ने अंग्रेज को अधिक चालाक और मक्कार बन दिया था। अब उसका शोषण-चक्र छद्म रूप में चलने लगा। उसने अब प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष व्यापार द्वारा धन कमाना तथा देश में शासन-व्यवस्था को दृढ़ और उन्नत कर भारतवासियों की नजर में भले बने रहने का अभिनय करना आरम्भ कर दिया। और इस अभिनय में उसे पर्याप्त सफलता भी मिली।

घातक शिक्षा-नीति का प्रवर्त्तन

सन् १८५७ की राज्य-क्रान्ति ने अंग्रेजों को एक नया सबक दिया था। वह समझ गया था कि उसका राज्य भारत में तभी स्थायी और दृढ़ हो सकता है जब भारतीयों के मन में अंग्रेजी सभ्यता-संस्कृति, साहित्य और भाषा तथा इतिहास के प्रति श्रेष्ठता का भाव और भारतीय इतिहास, संस्कृति, भाषा और साहित्य के प्रति हीनता का भाव जमा दिया जायेगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने भारत में अंग्रेजी-शिक्षा का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। और अंग्रेजी शिक्षा, भाषा और साहित्य के प्रचार में सर्वाधिक योग दिया उन अंग्रेज ईसाई प्रचारकों ने जो इन अंग्रेज व्यापारियों के साथ सदैव छाया की भाँति आगे-पीछे चलते रहते थे। ये विदेशी ईसाई प्रचारक एक ओर तो अशिक्षित, निम्न श्रेणी की जनता में हिन्दू-धर्म के जाति-भेद, मूर्त्तिपूजा आदि का कुत्सित, अतिशयोक्ति पूर्ण रूप प्रस्तुत कर, उसकी तुलना में ईसाई-धर्म के मानव मात्र की समानता के सिद्धान्त का नारा लगाते हुए उन्हें ईसाई बनाने में जुटे रहते थे, और दूसरी ओर उनमें अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार कर उनके मन में भारतीयों के धर्म, संस्कृति, इतिहास, भाषा आदि के प्रति भयंकर विद्वेष की भावना भर देते थे। यही कारण था कि यहाँ के ईसाई रहन-सहन, वेश-भूषा, बोली और विचार आदि की दृष्टि से पूर्णतः अंग्रेज बन जाते थे परन्तु जन्म और रंग से भारतीय ही बने रहते थे। भारत के प्रति उनके मन में इतनी घृणा उत्पन्न कर दी जाती थी कि वे स्वयं को भारतीय न कहकर इङ्गलैंड को अपना 'होम' कहने लगे थे।

भारत में अंग्रेजी-शिक्षा का प्रचार करने वाले ये ईसाई प्रचारक ही रहे थे। इन लोगों ने अंग्रेजी-भाषा के माध्यम से भारतीयों में शिक्षा का प्रचार करना आरम्भ किया। अंग्रेज़ सरकार ने अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों को सरकारी नौकरियाँ देना आरम्भ कर दिया। इससे अंग्रेजी-शिक्षा सरकारी नौकरी पाने का प्रधान साधन बन गई। फलतः भारतीय नवयुवकों में इस शिक्षा के प्रति आकर्षण बढ़ा क्योंकि सरकारी नौकरी जीवन की सम्पूर्ण सुविधाओं को उपलब्ध कराने वाली थी, और समाज में सरकारी नौकरों का सम्मान और आतंक बढ़ता जा रहा था। इस प्रकार जब इस नई शिक्षा ने व्यावसायिक रूप धारण कर लिया तो समाज में एक ऐसे वर्ग का उदय

हुआ जो अंग्रेजी-शिक्षा का अंग्रेज से भी अधिक कट्टर समर्थक और उपासक बन गया।

अंग्रेज तथा उसके आगे-पीछे चलने वाले ईसाई प्रचारकों ने दूसरा काम यह किया कि भारत के पुराने इतिहास, संस्कृति, भाषा, साहित्य, धर्म आदि का भ्रामक और विकृत रूप प्रस्तुत कर जनता में यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि भारतीय असभ्य और असंस्कृत थे; उनके प्राचीन इतिहास—रामायण, महाभारत, पुराण, शास्त्र आदि सब कपोल-कल्पित हैं; उनका धर्म प्रगति-विरोधी है; वे अब तक अज्ञान के अन्धकार में भटकते रहे थे; भारत सदैव छोटे-छोटे ऐसे राज्यों में विभाजित रहा है जो परस्पर लड़ते रहे हैं; पारस्परिक फूट—भारतीय समाज की प्रधान विशेषता रही है; विदेशी निरन्तर भारत पर आक्रमण कर इसे पद-दलित करते रहे हैं; मुसलमानों ने भारतीयों पर भयंकर अत्याचार किए हैं; हिन्दू-मुसलमान—दो भिन्न जातियाँ हैं, जिनमें कभी परस्पर मेल नहीं रहा है; भारतीय भाषाएँ और उनका साहित्य अत्यन्त रूढ़िबद्ध, निम्नस्तरीय और पुराणपन्थी है; भारत गर्म देश है इसलिए यहाँ के निवासी स्वभाव से सुस्त और काहिल हैं। इन बातों का प्रचार करने के लिए अंग्रेज ने भारतीय इतिहास लिखना-लिखाना आरम्भ किया जिसमें ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाने लगा। और अंग्रेजी-शिक्षा में इस प्रकार के इतिहास को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया। शिक्षा का माध्यम केवल अंग्रेजी रही। मातृ-भाषा अर्थात् हिन्दी, उर्दू के अतिरिक्त अन्य सारे विषय अंग्रेजी-माध्यम से ही पढ़ाए जाने लगे। फलतः देश में अंग्रेजी भाषा का एकछत्र राज्य स्थापित हो गया।

इस शिक्षा द्वारा अंग्रेज ने भारतीयों के मन में एक तरफ तो प्रत्येक भारतीय वस्तु, विचार आदि के प्रति अवज्ञा और हीनता की भावना भर दी; और दूसरी ओर अंग्रेजी राज्य और अंग्रेज के स्वार्थ के सुचारु संचालन के लिए अंग्रेजी पढ़े-लिखे ऐसे भारतीय लोगों की संख्या बढ़ा ली जो अंग्रेज के कट्टर समर्थक थे।

अंग्रेज की यह कूटनीति और दुरभिसन्धि बहुत दिनों से चली आ रही थी। सन् १८५३ में ब्रिटिश-लोकसभा में सर चार्ल्स ट्रेवीलियन ने एक भाषण दिया था जो अंग्रेज की इस दुरभिसन्धि को हमारे सामने खोलकर रख देता है। उसने कहा कि था—

"हम लोग जो कुछ कर रहे हैं, उसका उद्देश्य इस प्राचीन हिन्दू-पद्धति के उन्नायकों के साथ अनुचित उत्तेजनापूर्ण संघर्ष मोल लेना नहीं है, प्रत्युत् इस देश के निवासियों को एक अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञान-मन्दिर का द्वार उद्घाटित करने वाली बिलकुल नई कुंजी देना है। इस नई प्रणाली के बीजारोपण का प्रथम प्रयोजन भारत-वासियों के मस्तिष्क से उनकी प्राचीन प्रणाली के प्रभाव को पूर्णतः उन्मीलित करना है। अधिकतर वे इस प्रणाली से परिचित भी नहीं होते। यह एक महान् सत्य है कि किसी देश की उदीयमान सन्तान कुछ ही वर्षों में सम्पूर्ण राष्ट्र बन जाती है और यदि हम जनता के चरित्र में कोई प्रभावशाली परिवर्तन करना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि

उन्हें बचपन से ही ऐसी शिक्षा दें कि वे आगे चलकर हमारी इच्छानुसार चलें; तब हमारा समस्त धन-व्यय सार्थक हो जायेगा; हमें अपने मार्ग में परम्परागत रूढ़ियों से संघर्ष न करना पड़ेगा। इस शिक्षा से हमें कुछ ऐसे मस्तिष्क वाले मनुष्य मिल सकेंगे जिनसे हम अपना काम निकाल सकेंगे और प्रभावशाली और बुद्धिमान युवकों के एक ऐसे वर्ग का निर्माण कर सकेंगे जो आगे चलकर हमारी सहायता के बिना ही हमारी प्रणाली के सक्रिय प्रचारक बनेंगे।"

ट्रेवीलियन की यह शिक्षा-नीति, उसकी सक्रिय योजना और इस योजना से सम्बन्धित उसकी भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुई। अंग्रेज की इस घातक शिक्षा-नीति का यह घातक परिणाम निकला कि हम आजाद हो जाने पर भी अंग्रेजी शासन-पद्धति, अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी सभ्यता-संस्कृति के पूरी तरह से गुलाम बने रहे। अन्तर केवल इतना ही पड़ा कि शासक की कुर्सी पर गोरे साहब की जगह काला साहब आ बैठा। शेष अन्य बातों में रंचमात्र भी अन्तर नहीं पड़ा। अंग्रेज भारत छोड़कर चला तो गया, परन्तु अपने उत्तराधिकारी के रूप में ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त कर गया जो जन्म और रंग से तो भारतीय थे मगर विचार, जीवन-पद्धति, संस्कृति आदि की दृष्टि से अंग्रेज से भी अधिक कट्टर अंग्रेज थे। सम्भवतः इसी सत्य को पहचान कर इसी वर्ष भारत-यात्रा पर आए एक ब्रिटिश संसद-सदस्य ने यह कहा था कि पंडित जवाहरलाल नेहरू अंग्रेजों के अन्तिम भारतीय गवर्नर-जनरल थे। इस ब्रिटिश संसद-सदस्य का यह व्यंग्य भरा कटीला मन्तव्य हमारी आजादी के २० वर्ष के इतिहास की सारी कलई खोल देता है। अंग्रेज आज यहाँ नहीं हैं परन्तु अंग्रेजी भाषा, संस्कृति और उनका भारतीय उच्च वर्ग की नस-नस में व्याप्त गहरा प्रभाव आज अंग्रेजी जमाने से भी अधिक अपना चमत्कार दिखा रहा है। अंग्रेजी आज भी भारत की राज्यभाषा है, आज भी हमारी शिक्षा-संस्थाएँ सरकारी नौकरी के आकांक्षी क्लर्क और अफसर ही ढाल-ढाल कर बाहर निकाल रहीं हैं। और ये लोग आज भी भारतीय भाषा, भारतीय इतिहास, भारतीय संस्कृति और भारतीय जीवन-पद्धति को हेय दृष्टि से देखते हैं। सम्भवतः ट्रेवीलियन को भी यह आशा नहीं रही होगी कि आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व अंग्रेज द्वारा निर्धारित शिक्षा-नीति अपना इतना गहरा, इतना लम्बा प्रभाव डालने में सफल हो सकेगी। अस्तु,

भ्रामक निष्कर्षों की सृष्टि और उनका निराकरण

अंग्रेज की इस घातक शिक्षा-नीति के इस रहस्य को न समझ पाने के कारण भारत के अधिकांश शिक्षाविदों और हिन्दी के अनेक आलोचकों की यह धारणा रही है कि अंग्रेज ने भारत में व्यापक जन-शिक्षा का प्रचार किया था, अंग्रेजी भाषा और साहित्य के प्रचार ने भारतीय भाषाओं को नव-जीवन और नव-साहित्य-निर्माण की प्रेरणा दी थी और अंग्रेजी के माध्यम से भारतीयों को पाश्चात्य जगत के नए

ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश मिला था, अंग्रेज ने ही हमें देश-प्रेम की शिक्षा दी थी। ऊपर से देखने पर ये बातें ठीक-सी प्रतीत होती हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि—क्या अंग्रेज ने सचमुच भारतीयों को इसीलिए शिक्षित किया था कि वे अपनी भाषा, साहित्य और देश से प्रेम करने लगें ? अंग्रेज का उद्देश्य इसके नितान्त विपरीत था, जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर आए हैं। प्रसिद्ध आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दों में हम केवल इतना ही कहना अलम् समझेंगे कि—"अंग्रेजी शिक्षा का जो अस्त्र उन्होंने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए चलाया था, सुदर्शन चक्र की भाँति उलट कर उन्हीं के मर्मस्थान पर लगा।" वस्तुतः इस शिक्षा-नीति के घातक स्वरूप को पहचान कर ही उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में जागरूक साहित्यकारों ने हिन्दी को नए ढाँचे में ढालना प्रारम्भ कर दिया था। शत्रु से लोहा लेने के लिए शत्रु द्वारा अपनाये जाने वाले उन्नत अस्त्र-शस्त्र और साधनों को अपना कर ही उसका प्रतिकार किया जा सकता है। इसी कारण इस युग में भारतीय भाषाएँ गद्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुईं और उन्होंने उन नवीन विधाओं को अपनाया जो अंग्रेज और अंग्रेजी के प्रचार का माध्यम बनी हुईं थीं। हम अंग्रेज के केवल इसलिए आभारी हैं कि उसके द्वारा हमें ये नवीन और उन्नत कोटि के साहित्यिक अस्त्र-शस्त्र मिले, जिनका उपयोग हमने उसी का प्रतिकार करने के लिए किया। बँगला उपन्यास के माध्यम से हमें इतिहास-प्रसिद्ध 'वन्देमातरम्' गान उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही मिला था। वस्तुतः उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का समस्त भारतीय साहित्य ऐसा साहित्य है जिसमें देश-प्रेम, भारतीय संस्कृति और इतिहास का स्वर ही सर्व-प्रधान रहा है। इस स्वर को उद्घोषित करने का माध्यम हमें अंग्रेजी से मिला था, परन्तु स्वर हमारा अपना था जो अंग्रेज का विरोधी था।

डा० श्यामसुन्दर दास ने इस ऐतिहासिक सत्य को पहचाना था। उन्होंने अपने 'हिन्दी-साहित्य' में इसका विश्लेषण करते हुए लिखा है—

"कुछ लोगों का कथन है कि हिन्दी की शृंगार परम्परा का अन्त करके उसमें नवीन युग का आविर्भाव करने वाले कारणों में सबसे प्रधान कारण अंग्रेजों का भारतवर्ष में आगमन है। उनके मत से अंग्रेजों ने इस देश में आकर यहाँ के लोगों को शिक्षित किया और उन्हें देश-प्रेम करना सिखाया। यहीं से देश-प्रेम की भावना से समन्वित साहित्य की सृष्टि हुई। इस बात को हम दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं। यह ठीक है कि अंग्रेजी राज्य के भारतवर्ष में प्रतिष्ठित होने पर हमारे हृदयों में जाति-प्रेम, देश-प्रेम आदि के भाव बढ़े; पर इसके लिए हम अंग्रेजों के कृतज्ञ नहीं, उनकी कूटनीति के कृतज्ञ हों तो हों। विदेशी शासन के प्रतिष्ठित होने पर विजयी देश की रीति-नीति और आचार-व्यवहार की छाप विजित देश पर अवश्य पड़ती है, पर जब विजेता अपने साहित्य और धर्म का प्रच्छन्न या प्रकट रीति से प्रचार करता और विजित के साहित्य आदि को अनुन्नत बतलाता है, तब थोड़े समय के लिए

उसकी यह प्रपंच-नीति भले ही सफल हो, पर जब उसकी पोल खुल जाती है और जब विजित देश अपने पूर्व-गौरव का स्मरण कर जाग उठता है—तब सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक आदि प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिघात की प्रबल तरंगें उठने लगती हैं जिसके सामने विदेशीय आक्रमणकारी की प्रवंचना नहीं चल सकती। वह काल सर्वतोमुखी हलचल का होता है, क्योंकि उस काल में पराधीन देश अपनी सम्पूर्ण शक्ति से दासता की बेड़ियों को तोड़ फेंकने की चेष्टा करता है और रूढ़ियों के प्रतिकूल प्रबल आन्दोलन करके सफलता प्राप्त करता है।"

श्रृङ्गार-काल का उत्तराधिकारी युग ऐसी ही हलचल का युग था।

एक और उल्लेखनीय तथ्य

यहाँ हमें एक बात और जान लेनी चाहिए। अंग्रेज ने यहाँ आकर भारत का और भारतीय भाषाओं का साहित्य लिखा और लिखवाया था। इस इतिहास का मूल स्वर यही रहा था कि अंग्रेजों के भारत-आगमन से पूर्व भारत असभ्य और पारस्परिक फूट से ग्रस्त देश रहा था, मुसलमान शासक हिन्दुओं पर सदैव अत्याचार करते रहे थे, देश में शिक्षा का प्रचार नहीं था, भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य अनुन्नत और निम्न कोटि का था। अंग्रेज ने यहाँ आकर देश में सुव्यवस्था और शान्ति स्थापित की, शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया, और देशी भाषाओं को प्रेरणा प्रदान कर उनके साहित्य को बहुमुखी और उन्नत बनाया। अंग्रेज ने हिन्दी-भाषा और साहित्य का इतिहास लिखा। सर जार्ज ग्रियर्सन हिन्दी-साहित्य के प्रथम इतिहास-लेखक माने जाते हैं। उन्होंने हिन्दी भक्ति-काव्य को ईसाई-धर्म से प्रभावित घोषित किया, आरम्भिक कालीन रासो-ग्रन्थों को अप्रामाणिक मान उनके सम्बन्ध में निरर्थक विवाद आरम्भ कर दिया, श्रृङ्गार-कालीन साहित्य को वासनात्मक घोषित कर उसके केवल एक ही अंश पर प्रकाश डाला, यह प्रतिपादित किया कि हिन्दी-गद्य का निर्माण एक व्यक्ति लल्लूजीलाल द्वारा अंग्रेज की प्रेरणा और प्रोत्साहन द्वारा हुआ था। ग्रियर्सन ने श्रृङ्गार काल के उत्तरार्द्ध में रचे गए उस साहित्य का उल्लेख नहीं किया जिसमें देशभक्ति का और अंग्रेज-विरोधी स्वर मुखरित हो रहा था। उन्होंने भक्ति-काव्य को हिन्दी का श्रेष्ठतम साहित्य घोषित किया। और भारतेन्दु-युगीन साहित्य में उन्हें राजभक्ति का स्वर सुनाई पड़ा।

यह हिन्दी-साहित्य के इतिहास का भ्रामक रूप था। वस्तुतः आचार्य शुक्ल पर जो यह दोष मढ़ा जाता है कि उन्होंने श्रृङ्गार युगीन साहित्य के प्रति एक तीव्र अवहेलना की भावना उत्पन्न कर दी थी, उसके आदि पुरस्कर्त्ता ग्रियर्सन महोदय ही थे। शुक्ल जी ने अपने इतिहास की आधार-भूमि ग्रियर्सन के इतिहास से ही ग्रहण की थी। इसी कारण वह मौलिक विवेचन करते हुए भी ग्रियर्सन की मान्यताओं से ही बँधे रहे थे। ग्रियर्सन ने इन सम्पूर्ण भ्रमों और विकृतियों का निर्माण साभिप्राय किया था। भक्ति-काव्य के लोकप्रिय होने से उन्हें कोई खतरा नहीं था। परन्तु यदि हिन्दी में रचित वीर-काव्य और अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में रचित काव्य-शास्त्र, नीति-

काव्य, विद्रोह के स्वर से आपूरित काव्य जनता में लोकप्रिय रहता तो अंग्रेज और अंग्रेजी के लिए बहुत बड़ा खतरा पैदा हो जाता। हमें अफसोस तो इस बात का है कि हमारे हिन्दी-भाषा और साहित्य के इतिहासकार इस दुरभिसन्धि को क्यों नहीं भाँप सके।

हम अपने उपर्युक्त कथन के सम्बन्ध में एक प्रमाण प्रस्तुत करना चाहते हैं। सामान्यतः शृङ्गार काल का अवसान पद्माकर के साथ मान लिया जाता है, और आधुनिक युग का उदय भारतेन्दु से। हिन्दी के इन दोनों महान साहित्यकारों के मध्य जो लगभग १०० वर्ष का अन्तर रहा है, उसके बीच हमें कोई अच्छा साहित्यकार नहीं मिलता। क्या इस बीच साहित्य-निर्माण इतना शिथिल हो गया था कि कोई उल्लेखनीय कवि या उसकी रचनाएँ ही नहीं हुई ? १०० वर्ष के इस अन्तर को हम बहुत दिनों तक अन्धकार-युग समझते आए थे। जिसमें अंग्रेज की प्रेरणा से हिन्दी-गद्य का निर्माण हो रहा था और उसी की प्रेरणा से हिन्दी की पुरानी काव्य-परम्पराएँ नष्ट होकर अंग्रेजी पर आधारित नवीन परम्पराओं को जन्म दिया जा रहा था। क्या उस समय हिन्दी-साहित्य की वास्तविक स्थिति यही थी ? यह प्रश्न बहुत दिनों से मन में उठता रहा था और अनुत्तरित रह जाता था। मैंने एक बार स्वर्गीय डाक्टर द्वय सर्वश्री वासुदेव शरण अग्रवाल और प्रसिद्ध कोशकार डा० रघुवीर के सम्मुख अपनी यह जिज्ञासा प्रकट की थी, परन्तु दोनों मेरे प्रश्न को टाल गए। सम्भवतः उनके पास कोई समाधान नहीं था। अन्त में समाधान मिला—प्रसिद्ध क्रांतिकारी डा० भगवानदास माहौर के शोध-प्रबन्ध 'सन् अठारह सौ सत्तावन की राज्यक्रांति का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव' में। उसमें डा० माहौर ने इस राज्यक्रांति से पूर्व रचित विद्रोही-स्वर-प्रधान साहित्य का परिचय देते हुए इस राज्यक्रांति से प्रभावित परवर्ती हिन्दी-साहित्य का विवेचन किया है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से स्पष्ट पता चलता है कि इन दोनों ही कालों में हिन्दी में ऐसा प्रचुर साहित्य रचा गया था जिसमें देश-भक्ति और अंग्रेज-द्रोह के स्वर मुखरित हो रहे थे। और यह क्रम पद्माकर के काव्य से चला आ रहा था। हम पद्माकर का विवेचन करते समय उनके उस प्रसिद्ध पद को उद्धृत कर आए हैं, जिसमें उन्होंने ग्वालियर-नरेश सिन्धिया को अंग्रेजों को भारत से बाहर निकाल भगाने के लिये उद्बोधन दिया है। अस्तु,

हमारा अनुमान है कि पद्माकर और भारतेन्दु के मध्यवर्ती सौ वर्ष के लम्बे समय में हिन्दी में काफी ऐसा साहित्य लिखा गया था, जो अभी तक या तो प्रकाश में नहीं आ पाया है अथवा अंग्रेज या उसके पिट्ठुओं द्वारा नष्ट कर दिया गया है। यह सौ वर्ष का समय एक विस्तृत और गम्भीर शोध की अपेक्षा रखता है। डा० माहौर ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य किया है। हमें उनके इस पुनीत कार्य को और आगे बढ़ाना चाहिए। हम आगे चलकर यथास्थान इस प्रकार के साहित्य का थोड़ा-सा परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

सामाजिक स्थिति

अंग्रेज इस देश में एक ऐसे जीवन-दर्शन, जीवन-पद्धति और संस्कृति को लेकर आया था जो नितान्त भिन्न और नवीन थी। उसमें बाहरी तड़क-भड़क का प्राधान्य था। यह मूलतः व्यापारी-संस्कृति थी जो बाह्य-प्रदर्शन और आन्तरिक छल-छद्मों पर आधारित थी। अंग्रेज की कथनी और करनी में आकाश-पाताल का अन्तर था। ईसा मसीह द्वारा प्रवर्त्तित महान् ईसाई धर्म का वह अनुयायी था जो मानव-मात्र की समानता, सादा जीवन का प्रचारक और सभी प्रकार के शोषण का कट्टर विरोधी था। परन्तु इस महान् धर्म का अनुयायी अंग्रेज इन सिद्धान्तों के नितान्त विपरीत आचरण करता था। उसके साथ चलने वाले ईसाई पादरी इस धर्म के महान् सिद्धान्तों का प्रचार कर अशिक्षित, दीन-दलित, निम्न वर्ग और वर्ण के भारतीयों को ईसाई बनाते थे और यह शासक अंग्रेज भारतीय मात्र को घृणा और अवहेलना की दृष्टि से देखता था, उनका सभी तरह से शोषण करता था और उन पर भयंकर अत्याचार करता था। एक ओर अंग्रेजी शिक्षा और ईसाई-धर्म के प्रचार के कारण पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव बढ़ता जा रहा था, और दूसरी ओर उसके शोषण का अबाध चक्र चल रहा था। समाज पर पड़ते हुए विदेशी संस्कृति और जीवन-पद्धति के इस प्रभाव के दो रूप भारत में दिखाई पड़े—एक अनुकूल, दूसरा प्रतिकूल।

अनुकूल प्रभाव के रूप में राजा राममोहनराय का ब्रह्म-समाज सामने आया। राजा राममोहन राय ने ईसाई धर्म और पाश्चात्य जीवन-पद्धति से प्रभावित हो, अपने धर्म और समाज की रूढ़ियों, संकीर्णताओं, धार्मिक अन्धविश्वासों और रहन-सहन की जीवन-पद्धति को दूर करने और बदलने का आन्दोलन आरम्भ किया। कुछ दिनों तक तो इस नए सुधारवादी आन्दोलन का रूप स्वस्थ रहा परन्तु आगे चल कर इस आन्दोलन के समर्थक और अनुयायी पाश्चात्य रंग में इतने अधिक रंग गए कि भारतीय धर्म और संस्कृति को हीन दृष्टि से देखने लगे। उनकी वेश-भूषा, रहन-सहन, विचारधारा आदि सभी कुछ पाश्चात्य बन गए।

प्रतिकूल प्रभाव के रूप में भारत में अनेक ऐसी संस्थाओं का उदय हुआ जो भारतीय विचारधारा, संस्कृति, धर्म और जीवन-पद्धति के उन्नयन और प्रसार का उद्देश्य लेकर सामने आईं। राष्ट्र-प्रेम इन सब का मूलमंत्र हा। इनमें से कुछ ने धर्म के रूढ़ रूप का परिष्कार कर उसे युगानुकूल जनोपयोगी रूप में प्रस्तुत किया, जैसे—स्वामी दयानन्द सरस्वती का आर्य समाज। कुछ ने प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान को व्यवहारोपयोगी बना उसके द्वारा सामाजिक रूढ़ियों और संकीर्णताओं को दूर करने का प्रयत्न किया; जैसे—स्वामी रामकृष्ण परमहंस मिशन। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने यूरोप, अमरीका आदि विदेशों में भ्रमण कर पाश्चात्य-समाज के सम्मुख भारतीय विचारधारा और आध्यात्मिक ज्ञान का स्वस्थ, उन्नत, जनोपयोगी

रूप प्रस्तुत किया और देश में उसका प्रचार करने में अपना सारा जीवन लगा दिया। इनका मूल उद्देश्य—देश में राष्ट्रीयता और धर्म के सच्चे व्यावहारिक रूप का प्रचार करना रहा था, और अपने इस उद्देश्य में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली थी। ऐनी बेसेन्ट जैसी उदार, मानव-मात्र की समानता में सच्ची सक्रिय आस्था रखने वाली पाश्चात्य महिला ने हिन्दू धर्म और भारत के आध्यात्मिक ज्ञान से प्रभावित हो थियोसोफिल सुसाइटी की स्थापना कर भारत के उच्च शिक्षित वर्ग में हिन्दू धर्म और भारतीय ज्ञान को लोकप्रिय बनाने में ऐतिहासिक योग प्रदान किया था। महाराष्ट्र में गोपालकृष्ण गोखले ने अनेक ऐसी सामाजिक संस्थाओं की स्थापना की थी, जिनका उद्देश्य—सामाजिक सुधार और भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न करना था।

उपर्युक्त सम्पूर्ण आन्दोलनों और प्रचार-संस्थाओं का इस काल के समाज और साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इनके प्रचार ने भारतीय जन-मानस को पाश्चात्य संस्कृति और धर्म के प्रभाव से बचाने में ऐतिहासिक योग प्रदान किया था। इन समस्त संस्थाओं और आन्दोलनों में 'आर्य समाज' का स्थान और महत्त्व सर्वोपरि रहा। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य-समाज की स्थापना कर भारतीय समाज, धर्म एवं संस्कृति के क्षेत्र में एक व्यापक व्यावहारिक आदर्शवादी आन्दोलन को जन्म दिया जिसने सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों और कुरीतियों के उन्मूलन, राष्ट्रीय-भावना के प्रचार और हिन्दी को लोकप्रियता को बढ़ाने में अभूतपूर्व कार्य किया। स्वामी दयानन्द गुजराती भाषी थे परन्तु उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' की रचना हिन्दी में कर यह संकेत दिया था कि भारत की एकमात्र आदान-प्रदान की भाषा हिन्दी ही हो सकती है। आर्य समाज ने हिन्दू-समाज के परिष्करण, शिक्षा-प्रसार, स्वतंत्र-चिन्तन आदि का प्रयत्न किया था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के प्रथम तीन दशकों तक गुजरात से लेकर बिहार तक आर्य-समाज के सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव रहा था। इसने साहित्यिक क्षेत्र में वैचारिक क्रान्ति को जन्म दिया था और राजनीतिक क्षेत्र में कर्मठ, तपस्वी, देशभक्त युवकों को अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की थी। इन आन्दोलनों ने देश में एक ऐसी राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न कर दी थी जो भारत और भारतीयता की कट्टर समर्थक और अंग्रेज-विरोधी थी।

प्रेस की स्थापना और साहित्यिक स्थिति

अंग्रेज ने भारत में अपने पैर जमाने के बाद यहाँ प्रेस (छापाखाना) की स्थापना की। अंग्रेज ने प्रेस की यह स्थापना अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए की थी। ब्रिटिश शासन-प्रणाली की स्थापना के लिए उसे सरकारी घोषणाएँ, अदालत सम्बन्धी कागज-पत्र, समाचार-पत्र आदि छापने की आवश्यकता पड़ी। ईसाई पादरियों और शिक्षा-शास्त्रियों को अपने धर्म और अंग्रेजी-शिक्षा का प्रचार करने के लिए पुस्तकें

छापने की जरूरत महसूस हुई । इन दोनों उद्देश्यों की सिद्धि के लिए अंग्रेज ने भारत में मुद्रणालय (प्रेस) की स्थापना की । ईसाई पादरियों ने ईसाई-धर्म सम्बन्धी छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ छपवा कर जनता में ईसाई-धर्म का प्रचार किया । इन्हीं प्रेसों में शिक्षा के पाठ्य-क्रम सम्बन्धी उन पुस्तकों और ग्रन्थों को छापा गया जिनमें अंग्रेज की प्रशंसा और भारत की बुराई की बातें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भरी रहती थीं। भारतीयों ने प्रचार के इस नए क्रान्तिकारी माध्यम—प्रेस की उपयोगिता को देखा और उसका महत्त्व समझा । फलस्वरूप उन्होंने भी प्रेस को अपनाया और उसका उपयोग करना आरम्भ कर दिया । आर्य समाज की ओर से अनेक ऐसे समाचार-पत्रों, पुस्तकों आदि का प्रकाशन आरम्भ हुआ, जिनमें आर्य-समाज के धार्मिक और राष्ट्रीयता-परक सिद्धान्तों और विचारों का उल्लेख रहता था । उस युग के स्वतन्त्र-चेता, राष्ट्रीयता प्रेमी जागरूक साहित्य-साधकों ने प्रेस को अपने विचारों के प्रचार का माध्यम बना लिया । जगह-जगह से अनेक छोटे-छोटे मासिक-पत्र निकलने आरम्भ हो गए । इनमें सम्पादकीय टिप्पणियों के रूप में देश में घटित होने वाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं का विवरण रहता था । लगभग सभी पत्र-सम्पादक राष्ट्रप्रेमी और भारतीयता के अनन्य उपासक थे, इसलिए इनकी टिप्पणियों में व्यंग्य रूप में देश की दुर्दशा का चित्रण किया जाता था । उस युग में अंग्रेज के भारत और भारतीयता विरोधी प्रचार का सामना और निराकरण प्रेस की सहायता से ही—अर्थात् समाचार-पत्र, पुस्तक आदि छापकर किया जा सकता था । प्रेस की स्थापना होने से साहित्य ने प्रजातांत्रिक रूप ग्रहण कर लिया । अब साहित्य राजाओं, साधन-सम्पन्न धनी लोगों तक ही सीमित न रहकर सामान्य जनता तक पहुँचने लगा । यही उसका प्रजातांत्रिक रूप बना ।

प्रेस के प्रचार ने हिन्दी-गद्य की उपयोगिता और व्यापकता को बढ़ाया । क्योंकि समाचार-पत्र, पुस्तकें आदि गद्य में लिखी और छापी जाने पर ही अपनी उपयोगिता को सार्थक कर सकती थीं, इसलिए गद्य का प्रचार बढ़ा । साहित्य साहित्य-रसिकों की ही सम्पत्ति न रह, सामान्य जनता की सम्पत्ति भी बनने लगा । जब गद्य का विकास हुआ तो गद्य की नई-नई विधाओं का जन्म होना स्वाभाविक था । पहले हिन्दी-गद्य निबन्ध के रूप में जनता के सामने आया । इस समय तक अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के कारण, और अंग्रेज का प्रथम आश्रय स्थल और राजनीतिक केन्द्र होने के कारण बंगाल में अंग्रेजी की विभिन्न गद्य-विधाएँ बँगला भाषा में अपनाई जाने लगीं थीं । बँगला ने इन नवीन गद्य-विधाओं को तो अपना लिया था, परन्तु उसका मूल स्वर राष्ट्रप्रेम का ही रहा था कलकत्ता व्यापारिक केन्द्र और राजधानी था । हिन्दी-भाषी प्रदेश के अनेक व्यापारी वहाँ रहते थे । उन लोगों ने वहाँ हिन्दी का प्रचार किया और साथ ही बँगला के इस नवीन साहित्यिक रूप से प्रभावित भी हुए । और यह प्रभाव हिन्दी-साहित्य तक आ गया । इसलिए हिन्दी-गद्य अपनी विभिन्न विधाओं के लिए अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी-साहित्य का और प्रत्यक्ष रूप से बँगला-साहित्य का ऋणी रहा ।

क्या खड़ीबोली-गद्य के जन्मदाता अंग्रेज थे ?

खड़ीबोली-गद्य से सम्बन्धित एक भ्रान्त-मत का प्रचार हिन्दी में बहुत दिनों से होता चला आ रहा है। वह भ्रान्त मत यह है कि हिन्दी में खडीबोली-गद्य का पहले कोई अस्तित्व नहीं था। अंग्रेज की प्रेरणा से ही सन् १८०० के लगभग लल्लूजी लाल ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रेमसागर' खड़ीबोली-गद्य में लिखकर खड़ीबोली-गद्य को जन्म दिया था। इस सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने स्पष्ट लिखा था कि—"Such a language did not exist in India before....when therefore, Lalluji-Lal wrote his Prem Sagar in Hindi, he was inventing an altogether new language."

अर्थात् लल्लूजी लाल ने जिस भाषा में 'प्रेमसागर' लिखा था, वह भाषा पहले भारत में अस्तित्व नहीं रखती थी। इसलिए लल्लूजी लाल उस भाषा में 'प्रेमसागर' लिखकर एक नितान्त नवीन भाषा को जन्म दे रहे थे। इसके आगे ग्रियर्सन ने इस विषय की व्याख्या करते हुए आगे लिखा है, जिसका भावार्थ यह है कि—" इसका (खड़ीबोली का) आरम्भ हाल में हुआ है। इसका व्यवहार गत शताब्दी के आरम्भ से अंग्रेजी प्रभाव के कारण होने लगा। ····लल्लूजी लाल ने डा० गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध 'प्रेमसागर' लिखकर ये सब परिवर्तन किए थे। जहाँ तक गद्य-भाग का सम्बन्ध है, वहाँ तक यह ग्रन्थ ऐसी उर्दू भाषा में लिखा गया था जिसमें उन स्थानों पर भारतीय 'आर्ष' शब्द रख दिए गए थे जिन स्थानों पर उर्दू लिखने वाले लोग फारसी शब्दों का व्यवहार करते हैं।"

ग्रियसन महोदय को सम्भवतः यह ज्ञात नहीं था कि 'प्रेमसागर' की रचना से ५९ वर्ष पूर्व रामप्रसाद निरंजनी द्वारा अपने ग्रन्थ 'भाषा योग वाशिष्ठ' में ऐसा मनोरम खड़ीबोली-गद्य लिखा जा चुका था जिसकी तुलना में लल्लूजी लाल का गद्य नितान्त अपरिष्कृत और भोंड़ा प्रतीत होता है। यहाँ हम इन दोनों गद्य-लेखकों के लिखे गद्य का एक-एक नमूना प्रस्तुत कर इस अन्तर को स्पष्ट करेंगे :—

"इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य ! केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से होता है। कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता, और अन्तःकरण की शुद्धि के बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती।"

—रामप्रसाद निरंजनी : **भाषा योग वाशिष्ठ**

"मैंने ब्रज औ द्वारिका की लीला गाई—यह है सब की सुखदाई। जो जन इसे प्रेमसहित गावेगा—सो निःसन्देह भक्ति पदारथ पावेगा।"

—लल्लूजी लाल : **प्रेमसागर**

उपर्युक्त दोनों गद्य-खंडों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि निरंजनी जी का गद्य अधिक परिमार्जित, सुव्यवस्थित और प्रौढ़ है। लल्लू जी लाल के गद्य पर ब्रज-भाषा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। वह गद्य में भी तुक के मोह से ग्रस्त

हैं। जब लल्लू जी लाल से ५६ वर्ष पूर्व खड़ीबोली में ऐसा परिमार्जित गद्य लिखा जा चुका था तो ग्रियर्सन की इस बात को कैसे स्वीकार कर लिया जाय कि लल्लू जी लाल 'प्रेमसागर' के माध्यम से एक सर्वथा नई भाषा का निर्माण कर रहे थे। परन्तु साथ ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि—जब अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इतना परिमार्जित खड़ीबोली-गद्य लिखा जा चुका था तो उसका आगे, उसी समय विकास क्यों नहीं हुआ ?

उक्त प्रश्न का उत्तर तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों में छिपा हुआ है। शृङ्गार काल का विवेचन करते हुए हम देख आए हैं कि उस युग में पद्य का ही प्राधान्य था। शृङ्गार, वीर, नीति, भक्ति, काव्यशास्त्र आदि सभी विषय कविता के ही माध्यम से व्यक्त किए जा रहे थे और कवि को प्रचार और लोकप्रियता कविता के ही माध्यम से मिलती थी। राज-दरबारों में भी कविता को ही प्रश्रय मिल रहा था। इसलिए गद्य-लेखन की ओर लोगों की स्वाभाविक रुचि नहीं थी। इसीलिए उस युग में गद्य-लेखन को प्रोत्साहन नहीं मिला। परन्तु निरंजनी जी द्वारा लिखा गया खड़ीबोली-गद्य इस बात का प्रमाण है कि उनसे पूर्व भी खड़ीबोली में गद्य लिखा जा चुका था। क्योंकि यह असम्भव है कि निरंजनी जी द्वारा ही पहली बार यह गद्य लिखा गया हो, और एकाएक इतना परिमार्जित और प्रौढ़ बन गया हो। हमारा अनुमान है कि उस युग में गद्य-लेखन का प्रचलन था, परन्तु प्रेस और संरक्षण के अभाव में वह या तो नष्ट हो गया अथवा पुराने पुस्तकालयों या व्यक्तियों के यहाँ इधर-उधर दबा पड़ा है। गद्य का आरम्भ और द्रुत प्रचार युग की परिवर्तित होती हुई नवीन परिस्थितियों और प्रेस के सहयोग द्वारा ही हुआ था। अस्तु,

आधुनिक-काल (हमने इस काल को 'पुनर्जागरण काल' कहा है, परन्तु हम सुविधा की दृष्टि से इसके लिए 'आधुनिक काल' शब्द का ही प्रयोग करेंगे) के आरम्भ से पूर्व हिन्दी-साहित्य काफी रूढ़ बन चुका था। कविगण साहित्य के शुभ और श्रेष्ठ कलात्मक उद्देश्य को भूल शृंगार, भक्ति आदि का रूढ़िबद्ध चित्रण करने में ही लगे रहते थे। शृंगार काल के अन्तिम चरण में रचित साहित्य काव्य-समृद्धि की दृष्टि से निम्न कोटि का था। पद्माकर आदि एकाध प्रतिभा-सम्पन्न कवियों के अतिरिक्त अन्य कविगण सामान्यतः पुरानी लकीर को ही पीटते रहे थे। समस्या-पूर्तियों के रूप में ऐसे साहित्य का सृजन हो रहा था जिसमें गाम्भीर्य की अपेक्षा चमत्कार उत्पन्न करने की भावना ही प्रमुख थी। यह वस्तुतः ब्रजभाषा-काव्य के अवसान का काल था। ब्रजभाषा इतनी रूढ़ बन चुकी थी कि उसमें नए युग की नई परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को बदलने और विकास करने की शक्ति नहीं रह गई थी। परन्तु फिर भी वह काव्य की प्रधान भाषा बनी हुई थी। अंग्रेज के भारत-आगमन और फिर भारत-विजय के कारण हिन्दी-भाषी प्रदेश में जो भयंकर उथल-पुथल और परिवर्तन हो रहा था, जनता पीड़ित और त्रस्त थी, वह स्थिति अभिव्यक्ति के एक नए माध्यम

की माँग कर रही थी। और यह नया माध्यम खड़ीबोली-गद्य ही बन सकता था। क्योंकि उस युग में भी खड़ीबोली हिन्दी-भाषी प्रदेश की सामान्य बोल-चाल की भाषा थी। ब्रजभाषा काव्य की भाषा थी और खड़ीबोली नागरिक जनों की बोलचाल की। इसीलिए नई बदलती हुई परिस्थितियों को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए अंग्रेज ने अपने स्वार्थ-वश और हिन्दी-भाषियों ने अपने विद्रोही विचारों को सामान्य जनता तक पहुँचाने के लिए खड़ीबोली-गद्य को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

आधुनिक-काल के आरम्भिक चरण में काव्य की भाषा ब्रजभाषा ही बनी रही। प्राचीन काव्य-परम्परा के काव्य का सृजन ब्रजभाषा में ही होता रहा। इसलिए काफी समय तक ब्रजभाषा और उसके काव्य की परम्पराएँ इस युग के आरम्भिक चरण में कविता के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व जमाए रहीं। इस काल में, जब देश में उथल-पुथल आरम्भ हुई तो अनेक देशभक्त कवियों ने ऐसी भी कविताएँ लिखीं जिनमें अंग्रेज-विरोधी स्वर अत्यन्त प्रबल रहा। परन्तु ऐसा काव्य अधिक नहीं मिला है। हमारा अनुमान है कि सन् १८५७ की असफल राज्य-क्रान्ति के उपरान्त अंग्रेज ने भारत पर जो भयंकर अत्याचार किए, उनसे त्रस्त होकर कवियों ने अपनी ऐसी रचनाओं को या तो स्वयं नष्ट कर दिया या उचित संरक्षण के अभाव के कारण वे स्वयं नष्ट हो गईं। परन्तु इस प्रकार की जितनी भी रचनाएँ उपलब्ध हो सकीं हैं, वे हिन्दी-साहित्य के एक नए क्रान्तिकारी रूप का उद्घाटन करने में समर्थ हैं। अस्तु,

आधुनिक युग में यद्यपि गद्य और पद्य—दोनों में साहित्य रचा गया है, परन्तु प्रधानता गद्य की ही रही है। इसीलिए कुछ लोग इस युग को गद्य-युग कहना ही अधिक अच्छा समझते हैं। इस युग में एक प्रकार से हिन्दी-गद्य का जन्म और विकास हुआ है।

परिस्थितियों के उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग एक ऐसा युग रहा है जिसमें हिन्दी-साहित्य ने पुरानी रूढ़ काव्य-परम्पराओं से बहुत कुछ मुक्ति पाकर एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश किया था जो नए जीवन की संघर्षपूर्ण हलचलों से भरा हुआ था। उसे विदेशी अंग्रेज के शोषण, अत्याचार, भारत-विरोधी प्रचार और एक सर्वथा नवीन ऐसी संस्कृति और शिक्षा-नीति का प्रतिरोध करना पड़ा था जो भारत की सम्पूर्ण प्राचीन निधि को नष्ट कर उसे सदैव के लिए हीन भावना से ग्रस्त बना, उस पर अपनी श्रेष्ठता का आतंक जमा, उसे सदैव के लिए अपना दास बना लेने के लिए प्रयत्नशील थी। भारत ने ऐसे भयंकर संकट का सामना इससे पहले कभी भी नहीं किया था। भारत में पहले भी विदेशी आक्रमणकारी आए थे। उनमें से अधिकांश लूटमार और कत्लेआम मचा वापस चले गए थे। कुछ ऐसे भी आए जो यहीं बस गए और हमेशा के लिए यहीं के बनकर रह गए। उन्होंने धार्मिक पक्षपात के कारण यहाँ की जनता पर थोड़े-

बहुत अत्याचार तो अवश्य किए परन्तु न यहाँ के धन को विदेश भेजा और न यहाँ की सभ्यता, संस्कृति और जीवन-मूल्यों को नष्ट करने का प्रयत्न किया। मुगलों के राज-काज की भाषा भले ही फारसी रही हो परन्तु उनके दरबार में हिन्दी-काव्य को सदैव संरक्षण और प्रोत्साहन मिलता रहा था। अकबर आदि मुगल-शासक स्वयं ब्रजभाषा में कविता करते थे। वस्तुतः ये लोग किसी भी अर्थ में विदेशी न रहकर विशुद्ध रूपेण भारतीय बन गए थे। इसलिए इन लोगों ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया था, जिसे भारत विरोधी माना जाय। इतिहास का सच्चा रूप यही है। परन्तु भारत का इतिहास लिखने वाले अंग्रेज इतिहासकारों ने सर्वत्र यही प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि हिन्दू और मुसलमान—दो भिन्न जातियाँ हैं, इसलिए इन दोनों में कभी भी मेल न रहकर सदैव संघर्ष होता रहा है। और अंग्रेज का यह प्रचार इतना घातक सिद्ध हुआ कि अन्त में भारत के दो टुकड़े हो गए—पाकिस्तान बन गया। अंग्रेज की विषम कूटनीति और मक्कारी का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है।

आधुनिक काल के आरम्भ में हिन्दी-भाषी क्षेत्र को ऐसे ही कूटनीतिज्ञ और मक्कार अंग्रेज से पाला पड़ा था। साहित्य समाज की भावनाओं का प्रतिबिम्ब होता है। इसी कारण उस युग के साहित्य में हिन्दी-भाषियों द्वारा अंग्रेज के विरुद्ध किए गए संघर्ष का स्वर सबसे ऊपर उभर कर आया है। यह संघर्ष एक सर्वथा नए प्रकार का संघर्ष था, इसलिए इसके लिए साधन भी नए और अधिक उपयोगी अपनाने पड़े थे। और इन्हीं साधनों ने हिन्दी-साहित्य को अपनी प्राचीन-परम्परा से अलग कर एक सर्वथा नया रूप प्रदान कर दिया था।

संक्रान्ति काल

हिन्दी-गद्य का महत्त्व

सामान्यतः आधुनिक काल का आरम्भ सन् १८५० से माना जाता है। अर्थात् ईसा की उन्नीसवीं सदी के मध्य से। वस्तुतः आधुनिक काल का सच्चे अर्थों में आरम्भ इसी समय से ही मानना भी चाहिए, क्योंकि यह समय भारतेन्दु के आविर्भाव का समय है और इसी समय से हिन्दी-साहित्य एक नए रूप में ढल कर आगे बढ़ता हुआ दिखाई देता है। परन्तु इससे पूर्व का लगभग ५०-६० वर्षों का समय ऐसा रहा है जिसमें आधुनिक कालीन साहित्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की जा रही थी और उसका बीज-वपन हो रहा था। यह प्रयत्न सन् १८०० के लगभग ही प्रारम्भ हो गया था। इस काल में कुछ लेखकों ने हिन्दी-गद्य का लिखना आरम्भ कर दिया था। इससे कुछ समय पूर्व कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हो चुकी थी। अंग्रेज भारत में नई अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के प्रचार-प्रसार का प्रयत्न कर रहा था। इसके लिए उसे ऐसे गद्य की आवश्यकता महसूस हुई जो जन-सामान्य में प्रयुक्त होता हो और जिसमें नई पाठ्य-पुस्तकें छाप कर भारतीय बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान की जा सके। दूसरी ओर ईसाई-प्रचारकों को भी अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता

में प्रचारित करने के लिए गद्य की आवश्यकता थी। इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अंग्रेज ने हिन्दी-गद्य को प्रोत्साहन दिया। उस समय तक उर्दू-गद्य अस्तित्व में आ चुका था, परन्तु वह अरबी-फारसी के शब्दों से इतना बोझिल और क्लिष्ट था कि जन-साधारण की समझ में नहीं आता था। इसलिए उसको प्रचार का माध्यम बनाना उपयुक्त न रहता। पादरियों को अपना प्रचार अशिक्षित जनता में करना था क्योंकि जनता का यही वर्ग उनसे प्रभावित हो सकता था। और जनता का यह वर्ग उर्दू नहीं समझता था। खड़ीबोली-गद्य व्यापारियों और शिक्षित समाज में प्रचलित होने के कारण उत्तर भारत में अधिक प्रचलित और लोकप्रिय था। अशिक्षित वर्ग भी उसे समझ लेता था। इसी कारण अंग्रेज ने इसी गद्य-रूप को अपनाना उपयोगी और संगत समझा। इसीलिए उसने इसकी अभिवृद्धि को प्रोत्साहित करना आरम्भ कर दिया। भारतेन्दु-पूर्व आधी सदी में गद्य के इसी रूप को आगे बढ़ाने माँजने और सँवारने का प्रयत्न होता रहा था। इस आधी सदी में काव्य की भाषा यथावत् व्रजभाषा ही बनी रही थी, परन्तु गद्य लोकप्रियता प्राप्त करने लगा था।

सर जार्ज ग्रियर्सन का मत है, जैसा कि हम पीछे बता आए हैं, कि सन् १८०० में फोर्ट विलियम कॉलेज के जॉन गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से आगरा वासी लल्लूजी लाल ने हिन्दी-गद्य में 'प्रेमसागर' की रचना की थी। हम यह मान लेते हैं कि लल्लूजी लाल ने इस प्रेरणा से प्रेरित होकर ही 'प्रेमसागर' लिखा होगा। परन्तु इस सम्बन्ध में ग्रियर्सन का यह कहना नितान्त भ्रान्त है कि ऐसा करके लल्लूजी लाल एक सर्वथा नई भाषा का आविष्कार कर रहे थे। खड़ीबोली गद्य उस युग में जनता और लेखकों में लोकप्रिय था। लल्लूजी लाल के समकालीन पं० सदासुख लाल ऐसा सुन्दर गद्य लिख रहे थे जो लल्लूजी लाल के गद्य की तुलना में अधिक प्रौढ़, परिमार्जित और सुव्यवस्थित था। इसके अतिरिक्त इसी काल में मुंशी सदासुख लाल एवं इंशाअल्ला खाँ ने खड़ीबोली-गद्य मे पुस्तकें लिखी थीं। उपर्युक्त तीनों गद्य-लेखकों ने अंग्रेज की प्रेरणा से गद्य नहीं लिखा था, अपितु युग की नई परिस्थितियों ने उन्हें गद्य में लिखने की ओर प्रेरित किया था।

आचार्य शुक्ल का मत है कि उपर्युक्त चारों गद्य-लेखकों के उपरान्त लगभग ५० वर्ष तक सुव्यवस्थित, स्वच्छ हिन्दी-गद्य में कोई भी पुस्तक नहीं लिखी गई। अर्थात् इन ५० वर्षों तक हिन्दी-गद्य-क्षेत्र रचनाओं से शून्य बना रहा। इसके विपरीत डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का यह कहना है कि इस काल में हिन्दी गद्य में नाटक, उपन्यास, कहानी आदि तो नहीं लिखे गये, परन्तु व्यावहारिक विषयों पर अनेक पुस्तकों की रचना हुई। इस काल में राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान, ज्योतिष, कला, स्त्री-शिक्षा, इतिहास, भूगोल आदि अनेक विषयों पर पुस्तकें लिखी गई। इन पुस्तकों की बच्चों को पढ़ाने के लिए, जनता को नए विषयों से परिचित कराने के लिए रचना की गई थी। पंडित वंशीधर ने 'पुष्पवाटिका', 'भारतवर्षीय इतिहास'

आदि; पंडित श्रीलाल ने 'पत्र-मालिका', बिहारीलाल ने गुलिस्ताँ का हिन्दी अनुवाद, बद्रीलाल ने हितोपदेश का हिन्दी अनुवाद, 'सिद्धांत-संग्रह', 'उपदेश पुष्पावती' आदि; राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द ने 'राजा भोज का सपना', 'वीरसिंह का वृत्तान्त', 'आलसियों का कोड़ा' आदि; तथा राजा लक्ष्मणसिंह ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का हिन्दी अनुवाद आदि पुस्तकें इसी काल में रची थीं।

इसके अतिरिक्त इसी समय में हिन्दी में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का उदय हुआ था जिनके माध्यम से हिन्दी-गद्य का विकास हो रहा था। इस प्रकार ५० वर्षों के इस लम्बे काल में हिन्दी-गद्य के परिमार्जन और विकास द्वारा उस दृढ़ पृष्ठभूमि का निर्माण हो रहा था जिस पर आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विशाल, विविध प्रकार के कक्षों से आपूरित धवल-गृह का निर्माण किया गया था। इसी कारण हमने ५० वर्ष के इस काल को—सन् १८०० से १८५० तक के काल को आधुनिक हिन्दी-साहित्य का 'संक्रान्ति काल' माना है। इस काल में हिन्दी-साहित्य अपनी अनेक प्राचीन परम्पराओं को अपनाए हुए भी एक सर्वथा नए युग में पदार्पण कर रहा था।

हिन्दी गद्य-परम्परा का इतिहास

'हिन्दी' शब्द से ब्रजभाषा, खड़ीबोली, मैथिली, राजस्थानी, अवधी, बुन्देली, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी आदि विभिन्न विभाषाओं के सम्मिलित रूप का बोध होता है। इनमें से प्रथम चार विभाषाओं में गद्य-रचनाएँ मिलती हैं। इधर शेष अन्य विभाषाओं में भी गद्य लिखने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी है। गत वर्ष हमने छत्तीसगढ़ी बोली में लिखे गए दो छोटे-छोटे उपन्यास देखे थे। हिन्दी की उपर्युक्त चार प्रधान विभाषाओं में से गद्य की दृष्टि से खड़ीबोली सर्वाधिक व्यापक और सशक्त भाषा रही है। इसलिए हम यहाँ पहले ब्रज, राजस्थानी और मैथिली में लिखे गए गद्य का संक्षिप्त विवेचन कर, खड़ीबोली-गद्य का विस्तृत विवेचन करेंगे। उपर्युक्त तीन विभाषाओं के गद्य का संक्षिप्त रूप में विवेचन करने का कारण यह है कि इनका गद्य न तो अधिक समृद्ध ही है और न व्यापक ही। अस्तु,

ब्रजभाषा गद्य

ब्रजभाषा गद्य का सबसे प्राचीन नमूना चौदहवीं सदी के लगभग रचित 'गोरखसार' नामक एक ग्रन्थ में मिलता है जिसे कुछ लोग गुरु गोरखनाथ की रचना मानते हैं और कुछ उनके किसी अनुयायी द्वारा गोरखनाथ के सिद्धान्तों पर आधारित लिखी गई रचना। इसके उपरान्त ब्रजभाषा-गद्य में पुष्टिमार्गी कृष्णभक्तों द्वारा लिखे गए कुछ ग्रन्थ मिलते हैं। वस्तुतः ब्रजभाषा-गद्य को प्रतिष्ठित और विकसित करने का श्रेय कृष्ण-भक्तों को ही रहा है। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने 'श्रृंगार रस-मंडन', 'यमुनाष्टक' और 'नवरत्न सटीक' नामक गद्य-ग्रन्थ लिखे परन्तु इन ग्रन्थों का गद्य अव्यवस्थित है। चतुर्भुजदास ने भी 'षट्ऋतु की वार्ता' नामक एक ग्रन्थ

गद्य में लिखा था। परन्तु आगे चलकर गोकुलनाथ द्वारा रचित गद्य ग्रन्थों में पहली बार ब्रजभाषा-गद्य का सुव्यवस्थित रूप देखने को मिला। इन्होंने वैसे तो लगभग एक दर्जन ग्रन्थ गद्य में लिखे थे, परन्तु प्रसिद्धि मिली उनके केवल दो ही ग्रन्थों को—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' को। इनमें सुव्यवस्थित गद्य के माध्यम से विषय का सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार इन ग्रन्थों में—"छोटे-छोटे वाक्यों से चरित-नायकों का चरित्र ऐसी स्पष्टता से चित्रित हुआ है मानो किसी निपुण कलाकार ने हल्की तूलिका से और बहुत मामूली रँगों के सहारे चित्रों को सजीव बना दिया हो।"

सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में कुछ अन्य भक्त-कवियों ने भी ब्रजभाषा-गद्य में अनेक ग्रन्थों का सृजन किया जिनमें गद्य और पद्य—दोनों का मिश्रित रूप रहा। इन ग्रन्थों में नाभादास का 'अष्टयाम', ललित किशोरी और ललित मोहिनी की 'श्री-स्वामीजी महाराज की बचनिका', यशवन्तसिंह का 'सिद्धान्त-बोध', प्रियादास की 'सेवक चन्द्रिका' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त ब्रजभाषा-गद्य में टीका-साहित्य भी बहुत लिखा गया। इन टीकाओं में हरिचरनदास की 'बिहारी सतसई' और केशव की 'कविप्रिया' की टीकाएँ, प्रियादास की गोस्वामी हितहरिवंश के चौरासी पदों की टीका, बाबा रामचरनदास की 'रामचरितमानस' की टीका, जानकीदास की 'रामचन्द्रिका' की टीका, लछिमन राम की 'कविप्रिया' की टीका, लल्लूजी लाल की 'लाल-चन्द्रिका' नामक 'बिहारी सतसई' की टीका, सरदार कवि की 'रसिकप्रिया' की टीका आदि उल्लेखनीय रचनाएँ मानी जाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रन्थ भी ब्रजभाषा-गद्य में लिखे गए जिनमें काव्य-शास्त्र एवं अन्य शास्त्रीय विषयों का विवेचन किया गया था। इनमें बनारसीदास का 'बनारसी विलास', सुखदेवसिंह मिश्र का 'पिंगल', वेनी कवि का 'टिकैतराम प्रकाश', लल्लूजी लाल कृत 'राजनीति' और 'माधो विलास, बख्शी समनसिंह का 'पिंगल काव्य भूषण', व्यास कवि का 'शकुन विचार', वैष्णवदास का 'भक्तमाल प्रसंग', मीनराज प्रधान का 'हरतालिका कथा', कवि महेश का 'हमीर-रासो' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध रहे हैं। कविता में लिखे गए कुछ लक्षण-ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं ब्रजभाषा-गद्य का प्रयोग किया गया।

वस्तुतः ब्रजभाषा-गद्य में टीका-साहित्य का ही प्राधान्य रहा। स्वतन्त्र ग्रन्थ बहुत कम लिखे गए। और इस टीका-साहित्य द्वारा भी उन्नत ब्रजभाषा-गद्य की परम्परा का प्रणयन न हो सका। इनमें प्रयुक्त गद्य अव्यवस्थित, शिथिल और अस्पष्ट होता था। इस कारण ब्रजभाषा-गद्य की कोई सुनिश्चित परम्परा न बन सकी। कविगण कभी-कभी ही लेखन के लिए गद्य-माध्यम को अपनाते थे। इस प्रकार ब्रजभाषा में गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् विकास न होने के कारण ब्रजभाषा-गद्य आगे विकास न कर सका। इसकी तुलना में अठारहवीं सदी में लिखा गया खड़ीबोली-गद्य काफी उन्नत और परिमार्जित बन चुका था। रामप्रसाद

निरंजनी का गद्य इसका प्रमाण है। कालान्तर में जब खड़ीबोली-गद्य का द्रुत विकास हुआ तो ब्रजभाषा-गद्य साहित्य के क्षेत्र से पूर्णतः अपदस्थ हो गया।

राजस्थानी गद्य

राजस्थानी भाषा में गद्य-साहित्य का अस्तित्व तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से मिलता है। परन्तु इस गद्य-साहित्य के सम्बन्ध में एक रोचक बात यह है कि गुजराती के विद्वान् इसकी गणना गुजराती-साहित्य के अन्तर्गत करते हैं और राजस्थानी-विद्वान् राजस्थानी-साहित्य के अन्तर्गत। संग्रामसिंह नामक एक लेखक के तीन ग्रन्थ मिलते हैं, जिनका रचनाकाल सन् १२७३ से १२८३ के मध्य माना जाता है। ये ग्रन्थ हैं—'आराधना', 'अतिचार' और 'बाल-शिक्षा'। मुनि जिन विजय ने इन्हें गुजराती की रचनाएँ माना है और डा० मोतीलाल मेनारिया, डा० हीरालाल माहेश्वरी इन्हें राजस्थानी गद्य की सर्वप्रथम रचनाएँ मानते हैं। परन्तु अपभ्रंश साहित्य के विद्वान् डा० हरिवंश कोछड़ इन्हें अपभ्रंश की रचनाएँ घोषित करते हैं।

राजस्थानी-साहित्य के मर्मज्ञ अगरचन्द नाहटा के पास कुछ ऐसे प्राचीन ग्रन्थ हैं जिनकी भाषा राजस्थानी-गद्य है। नाहटा जी के अनुसार इनकी रचना चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदी में हुई थी। इनमें से 'तत्त्व विचार' और 'धनपाल-कथा' नामक गद्य-ग्रन्थ चौदहवीं सदी में और 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' पन्द्रहवीं सदी में रचे गये थे। ये तीनों ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित हैं। राजस्थानी-गद्य में जो साहित्य रचा गया वह प्रधानतः ख्याल, बात और वचनिका के रूप में मिलता है। कहानी कहने की भिन्न-भिन्न शैलियाँ हैं। इन कथा-ग्रन्थों में 'अचलदास खीरी री वचनिका, सिवदास री कही' (सन् १४२५ के लगभग रचित), 'मुहणौत नैंण सी री ख्यात' (सन् १६६५), 'वचनिका राठौर रतनसिंह जी री' (सन् १६५८), 'राणा उदैसिंह री बात', 'हाडे सूरजमल री बात', 'राव लूणाकरण री बात' आदि उल्लेखनीय हैं। इन कथा-ग्रन्थों के अतिरिक्त राजस्थानी-गद्य में राजनीति, इतिहास, काव्य-शास्त्र, गणित आदि विभिन्न विषयों पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। परन्तु ब्रजभाषा-गद्य के समान ही राजस्थानी-गद्य की परम्परा का भी विकास और उन्नयन नहीं हो सका। आजकल राजस्थान में खड़ीबोली-गद्य ही प्रयुक्त होता है।

मैथिली गद्य

मैथिली भाषा और साहित्य के इतिहास में भी गद्य-लेखन की परम्परा बहुत प्राचीन, अर्थात् चौदहवीं सदी के आरम्भ से मिलती है। मैथिली का सर्वप्रथम गद्य-ग्रन्थ ज्योतिरीश्वर कृत 'वर्ण रत्नाकर' माना जाता है। इसका रचना-काल सन् १३२४ माना गया है। इसमें काव्य, कला, ज्ञान, विज्ञान आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें भाषा का मूल ढाँचा लोक-भाषा का रहा है परन्तु उसमें संस्कृत के तत्सम् शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसके अनन्तर प्रसिद्ध मैथिल-कोकिल विद्यापति रचित 'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्ति पताका' नामक दो प्रसिद्ध ग्रन्थ

गद्य-पद्य मिश्रित भाषा में लिखे गये। परन्तु अभी तक इन्हें मैथिली की रचनाएँ न स्वीकार कर अवहट्ट अर्थात् उत्तरकालीन अपभ्रंश की रचनाएँ ही माना जाता रहा है। मगर उधर कुछ लोग इन्हें मैथिली की रचनायें सिद्ध करने में जुटे हुए हैं। बस, मैथिली गद्य-साहित्य का इतिहास यहीं तक समाप्त हो जाता है।

हमने उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह देखा कि राजस्थानी और मैथिली का गद्य-साहित्य बहुत ही न्यून और अविकसित रहा है। इसकी तुलना में ब्रजभाषा-गद्य का साहित्य परिमाण और गुण—दोनों ही दृष्टियों से पर्याप्त उन्नत और समृद्ध माना जा सकता है। राजस्थानी और मैथली गद्य-साहित्य तो मध्यकाल तक ही समाप्त हो चुका था परन्तु ब्रजभाषा गद्य-साहित्य आधुनिक युग के आरम्भ तक अपना अस्तित्त्व बनाए चला आ रहा था। परन्तु ईसा की अठारहवीं सदी के आरम्भ में हिन्दी में एक ऐसी भाषा के गद्य-रूप का विकास हुआ जिसने पहले तो गद्य-क्षेत्र में अपना एकाधिकार स्थापित किया और फिर आगे चलकर गद्य और पद्य—दोनों क्षेत्रों में अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। और यह भाषा थी—खड़ीबोली।

खड़ीबोली गद्य

भाषा-विकास की सामान्य प्रक्रिया यह रही है कि बोलचाल में उसका रूप गद्य का रहता है और जब वह साहित्य में प्रवेश करती है तो पद्य का रूप धारण कर लेती है। कालान्तर में जब उसका यह पद्य-रूप पर्याप्त विकसित, परिमार्जित और समृद्ध हो जाता है तब वह गद्य का भी रूप धारण कर साहित्य में आगे बढ़ने लगती है। संसार की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक भाषाओं के विकास की यह सामान्य प्रक्रिया रही है। परन्तु खड़ीबोली का विश्लेषण करने वाले कुछ विद्वानों का यह कहना है कि खड़ीबोली में विकास की यह प्रक्रिया सामान्य प्रक्रिया से नितान्त उल्टी रही है। अर्थात् इसमें, साहित्य- क्षेत्र में, पहले गद्य का विकास हुआ है और फिर पद्य का। इन लोगों की इस भ्रामक मान्यता का मूल कारण यह रहा है कि इन लोगों ने खड़ीबोली के विकास का भली-भाँति अध्ययन न कर, सामान्य ज्ञान के आधार पर ही अपना फतवा दे दिया है। वस्तुत: खड़ीबोली में, साहित्य क्षेत्र में, गद्य और पद्य—दोनों का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल के मिलता है। हम आरम्भिक युग में अमीर खुसरो की रचनाओं में खड़ीबोली पद्य और 'गोरखसार' नामक ग्रन्थ में खड़ीबोली गद्य का अस्तित्त्व पाते है। इसके अतिरिक्त सन्त नामदेव, कबीर आदि की रचनाओं में भी हमें खड़ीबोली-पद्य का अस्तित्त्व मिल जाता है। यह दूसरी बात है कि खड़ीबोली का गद्य या पद्य आधुनिक-युग से पूर्व साहित्य-क्षेत्र में प्रधानता नहीं प्राप्त कर पाया, परन्तु उसके अस्तित्त्व से तो इन्कार नहीं किया जा सकता।

खड़ीबोली का रूप

खड़ीबोली दिल्ली-मेरठ क्षेत्र की बोलचाल की भाषा है। परन्तु आज उसका जो रूप साहित्य में प्रयुक्त हो रहा है, वह अपने बोलचाल के मूल रूप से भिन्न है। इसको यह

भिन्न रूप प्राप्त करने में बहुत समय लगा है। जब अरबी, तुरकी, फारसी, अफगानी (पश्तो)आदि विभिन्न भाषा-भाषी मुस्लिम-शासक, उनके अधिकारी और सैनिक आदि भारत की राजधानी दिल्ली में जम गए तो उनके सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि परस्पर किस भाषा में वार्तालाप करें और स्थानीय जनता के साथ किस भाषा-माध्यम से सम्पर्क स्थापित करें। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि फारसी भाषा-भाषियों ने, एक नादिरशाह के अतिरिक्त, कभी भारत पर आक्रमण नहीं किया था। भारत पर आक्रमण करने वालों में अरबी, तुर्की, मंगोल और पश्तो-भाषी अफगानों की ही प्रधानता रही थी। परन्तु इन लोगों की भाषाएँ भारतीय संस्कृत आदि प्राचीन एवं हिन्दी, पंजाबी, आदि नवीन भाषाओं से भिन्न परिवार की भाषाएँ होने के कारण नितान्त भिन्न भाषाएँ थीं। मुसलमानों की भाषाओं में से केवल फारसी ही एक ऐसी भाषा थी जो भारतीय भाषाओं के परिवार की भाषा होने के कारण संस्कृत आदि से थोड़ी सी समानता रखती थी। इसलिए भारत के मुसलमान शासकों ने फारसी को अपनी राज- भाषा बना लिया।

सम्पर्क भाषा

अब दूसरी समस्या यह थी कि स्थानीय जनता से किस भाषा-माध्यम से सम्पर्क स्थापित किया जाय। इसके लिए उन्होंने उस भाषा को ही अपनाना श्रेयस्कर समझा जो दिल्ली के आसपास बोली जाती थी। दिल्ली मुसलमानों से पहले भी भारत की राजधानी रही थी। इसलिए वहाँ बोली जाने वाली भाषा का दिल्ली से बाहर प्रचार होना स्वाभाविक था। देहात की बोली शहर में आकर अपना रूप परिवर्तित करने लगती है। प्रचलित प्राचीन और नवीन साहित्यिक भाषाएँ उसे प्रभावित करने लगती हैं। इसलिए उसका रूप सुसंस्कृत होता चला जाता है। दिल्ली की भाषा के साथ भी यही हुआ था। यह भी धीरे-धीरे साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने लगी थी। 'गोरखसार' और अमीर खुसरो का हिन्दी-काव्य इसका प्रमाण है। उस समय काव्य-भाषा ब्रज और अवधी थीं। इन भाषाओं के सम्पर्क के कारण दिल्ली की खड़ीबोली का परिष्कार होता रहा। मुगल-युग में राजकाज की भाषा फारसी थी, परन्तु जन-सामान्य के व्यवहार की भाषा खड़ीबोली ही रही। साम्राज्य की सेना, अधिकारियों और व्यापारियों के साथ यह देश के भिन्न-भिन्न भागों में फैलती चली गई। मुगल युग में साम्राज्य की यही एकमात्र सम्पर्क भाषा थी। मुगल-साम्राज्य की सेना के विभिन्न भाषा-भाषी सैनिक इसी भाषा द्वारा बातचीत करते थे। भाषा की यह स्थिति औरंगजेब से पूर्व तक बनी रही।

परन्तु औरंगजेब के समय में शासन में धार्मिक मुल्ला-मौलवियों का प्रभुत्व बढ़ने लगा। इन मुल्ला-मौलवियों की धर्म की भाषा अरबी और राजकाज की भाषा फारसी थी। सैनिकों की भाषा खड़ीबोली थी। ये मुल्ला-मौलवी इस्लामी संस्कृति और भाषा के प्रचार के इच्छुक थे। इस युग से बहुत समय पूर्व जब मुसलमानों ने दक्षिण-भारत पर आक्रमण किया तो ये लोग वहीं जाकर बस गए। वहाँ इनकी कई

सल्तनतें कायम हो गईं। दक्षिण की भाषाएँ इन लोगों के लिए सर्वथा अपरिचित भाषाएँ थीं। इसलिए इन लोगों को अपना राजकाज अपनी ही भाषा अर्थात् खड़ी-बोली में चलाने के लिए बाध्य होना पड़ा। मुगल-दरबार की राजकाज की भाषा फारसी थी। परन्तु यहाँ यह तथ्य द्रष्टव्य है कि फारसी कुछ विशिष्ट वर्ग के मुसलमानों और सरकारी हिन्दू अफसरों और कर्मचारियों तक ही सीमित रही थी। अकबर जैसा मुगल-सम्राट फारसी नहीं जानता था। वह हिन्दी में ही बोलता और काव्य-रचना भी करता था। मुगलों से पूर्व जो मुसलमान दक्षिण में जाकर बस गए थे, उनकी मातृभाषा भी फारसी नहीं थी। इन मुसलमानों में अधिकांश सैनिक थे, इसलिए उच्च शिक्षित वर्ग की भाषा फारसी से इनका परिचय नहीं था। इन सैनिकों में भी परस्पर बोलचाल की भाषा खड़ीबोली ही थी। दक्षिण के कुछ मुस्लिम राज्यों—बीजापुर आदि की दरबारी और राजकाज की भाषा खड़ीबोली थी, जिसे ये लोग 'हिन्दवी' कहते थे। वहाँ के अनेक कवियों ने, जिनमें अधिकांश मुसलमान थे, इसी 'हिन्दवी' भाषा में गद्य और पद्य के ग्रन्थ लिखे थे। इस प्रकार दक्षिणी मुस्लिम राज्यों में कई सदियों तक खड़ीबोली हिन्दी में साहित्य का सृजन होता रहा था।

उर्दू का जन्म

परन्तु जब दिल्ली-सल्तनत में, औरङ्गजेब के युग में, धर्मान्ध मुल्ला-मौलवियों ने जोर पकड़ा तो दिल्ली-दरबार की व्यावहारिक राज-भाषा खड़ीबोली के रूप में परिवर्तन किया जाने लगा। इन लोगों ने इसे मुसलमानों की भाषा बनाने के लिए, इसमें अरबी-फारसी के शब्दों, कवि-समयों, कवि-प्रसिद्धियों आदि का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। यद्यपि खड़ीबोली ही नहीं, ब्रज और अवधी तक में अरबी-फारसी के जन-प्रचलित शब्दों का व्यवहार बहुत पहले से होता चला आ रहा था, परन्तु इन लोगों ने खड़ीबोली के स्वरूप को फारसी ढङ्ग में ढालने का प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। उसके व्याकरण पर भी अरबी और फारसी भाषाओं के व्याकरण का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया। औरङ्गजेब के समय में जब दक्षिण के औरङ्गाबाद नगर के निवासी वली औरङ्गाबादी दिल्ली आए तो उन पर भी इस नवीन प्रचार का प्रभाव पड़ गया और दिल्ली से लौटकर उन्होंने अरबी-फारसी-साहित्य के प्रभाव को स्वीकार कर अपनी रचनाओं का रूप बदल दिया। धीरे-धीरे यह प्रभाव व्यापक बनता चला गया और इससे एक नई भाषा का जन्म हुआ जिसे 'उर्दू' कहा जाने लगा। इस नई उर्दू भाषा का मूल ढाँचा और प्रकृति तो खड़ीबोली की ही रही परन्तु उसकी शैली और शब्दावली हिन्दी से भिन्न हो गई। उर्दू अपनी साहित्य-परम्परा और प्रेरणा के लिए अरबी और फारसी साहित्य की अनुगामिनी बन गई। इस प्रकार खड़ीबोली उर्दू और हिन्दी का रूप धारण कर साहित्य-क्षेत्र में आगे बढ़ी। और आज भी खड़ी-बोली के ये दोनों रूप और शैलियाँ निरन्तर प्रगति और समृद्धि के पथ पर अग्रसर हैं। अस्तु,

खड़ीबोली गद्य का जन्म और विकास

जैसा कि हम पीछे कह आए हैं, खड़ीबोली-गद्य में लिखा सबसे पहला ग्रन्थ 'गोरखसार' माना जाता है जो चौदहवीं सदी के अन्त और पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ में लिखा गया था। परन्तु इससे पूर्व भी 'दक्खिनी हिन्दी' में, जिसे 'हिन्दवी' कहा जाता था, लिखे हुए कुछ ऐसे ग्रन्थ मिले हैं जो गद्य में लिखे गए थे। शाह मीरान जी बीजापुरी, ख्वाजा बन्दे नवाज गेसूदराज, शाह बुरहानुद्दीन जानम, अमीनुद्दीन आला, मुल्ला बजही आदि ने इन ग्रन्थों की रचना की थी। हिन्दी के इन गद्य-लेखकों का रचना-काल चौदहवीं सदी के आरम्भ से लेकर सत्रहवीं सदी के अन्त तक रहा था। ख्वाजा बन्दे नवाज गेसूदराज (सन् १३४६–१४२३ ई०) द्वारा रचित हिन्दी-गद्य का एक नमूना प्रस्तुत है—"कौल नबी उले अलसलाम, कहे इन्सान के बूझने को पाँच तन, हर एक तन को पाँच दरवाजे हैं होर पाँच दरवान हैं। पैला तन वाजिबुल वजूद मोकाम उसका शैतानी, नफ़ूश उसका अम्मार याने बाजिव के आँक सों गैर न देखना सो, हिरस के कान गैर न सुना सों।" यह उपदेशात्मक भाषा और शैली है, जिस पर फारसी का गहरा प्रभाव रहा है। परन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इसमें बोलचाल की भाषा के शब्दों और क्रियापदों आदि का निस्संकोच प्रयोग किया गया है। यह इस बात का प्रमाण है कि चौदहवीं सदी में खड़ीबोली हिन्दी मुसलमानों की आम बोलचाल की भाषा थी।

उत्तर-भारत में 'गोरखसार' के उपरान्त हिन्दी खड़ीबोली गद्य में लिखा हुआ दूसरा ग्रन्थ अकबर के दरबारी कवि गंग (सत्रहवीं सदी) रचित 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' माना जाता है। इसमें प्रयुक्त गद्य का भी एक नमूना प्रस्तुत है—"इतना सुन के पातसाहिजी श्री अकबर साहिजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया।" गद्य का यह रूप—विशुद्ध हिन्दी-गद्य का रूप है। इसमें भी बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग हुआ है। गेसूदराज के उपर्युक्त गद्य से भिन्न इसका रूप आधुनिक हिन्दी-गद्य के पूर्वरूप की सूचना दे रहा है। यहाँ यह कहना असंगत नहीं होगा कि गेसूदराज के गद्य का कालान्तर में उर्दू-गद्य के रूप में विकास हुआ और गंग कवि के गद्य का हिन्दी-गद्य के रूप में। ये दोनों ही प्राचीन गद्य अपने भीतर बोलचाल की खड़ीबोली का रूप समेटे हुए हैं। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि चौदहवीं सदी के आरम्भ से सत्रहवीं सदी तक खड़ीबोली हिन्दी-भाषियों की सामान्य बोलचाल की भाषा थी। गंग कवि ने अपनी कविता में जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह साहित्यिक ब्रजभाषा है और उसका रूप गद्य की इस भाषा के रूप से भिन्न है।

गंग के उपरान्त अठारहवीं सदी के मध्य में दो गद्य-ग्रन्थ लिखे गए। पहला ग्रन्थ है—रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषा योग वाशिष्ठ', और दूसरा है दौलतराम का 'पद्म पुराण'। इनमें से निरंजनी जी का गद्य अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित है। दौलत-

राम के गद्य पर ब्रजभाषा का प्रभाव रहा है। (निरंजनी जी के गद्य का उदाहरण हम गत पृष्ठों में दे आए हैं।) यदि निरंजनी जी द्वारा लिखित गद्य का विकास हो सका होता तो आज हिन्दी-गद्य कितना समृद्ध और उन्नत हो चुका होता, इसकी सहज की कल्पना की जा सकती है। परन्तु उस समय साहित्य में ब्रजभाषा-काव्य का ही एकछत्र साम्राज्य छाया हुआ था और कवियों को गद्य-रचना करने का प्रोत्साहन नहीं मिलता था। इसलिए हमें निरंजनी जी के उपरान्त लगभग ५०-६० वर्ष तक एक भी नवीन गद्य-रचना नहीं मिलती। निरंजनी जी ने 'भाषा योग वाशिष्ठ' की रचना सन् १७४१ में की थी और दौलतराम का 'पद्म पुराण' सन् १७६१ में लिखा गया था।

गद्य का नवाविर्भाव

हमने ईसा की उन्नीसवीं सदी के प्रथमार्द्ध को आधुनिक-काल की पूर्व-पीठिका माना है। यह संक्रान्ति का काल रहा है। पद्य में परम्परागत काव्य-प्रवृत्ति का प्रचलन रहा है। परन्तु अंग्रेजी-साम्राज्य की स्थापना और उसके अनन्तर होने वाले शोषण और अत्याचार ने भारतीय जन-जीवन को बुरी तरह से झकझोर डाला था। देश में एक नई राष्ट्रीय चेतना का उदय हो रहा था। अपने आरम्भिक रूप में इस राष्ट्रीय चेतना का रूप मन्द और प्रच्छन्न सा रहा था। परन्तु असन्तोष भीतर ही भीतर शक्ति अर्जित करता जा रहा था जिसका विस्फोट सन् १८५७ की प्रथम राज्य-क्रान्ति के रूप में दिखाई पड़ा था। परन्तु इससे पूर्व अंग्रेज के आगमन, शासन, शिक्षा-नीति, एवं भारतीयों के नव-जागरण ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी थीं जिनके लिए गद्य की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। बिना गद्य के उन नवीन परिस्थितियों की माँगों और प्रतिक्रियाओं को पूरा और अभिव्यक्त करना असम्भव था। काव्य की रूढ़ भाषा, ब्रजभाषा, यह कार्य करने में असमर्थ थी। इसी कारण इस संक्रान्ति-काल में हमें एक नए उन्मेष के साथ गद्य का आविर्भाव होता हुआ दिखाई देता है।

संक्रान्ति-कालीन प्रथम चार गद्य-लेखक

इस काल में हिन्दी के ऐसे चार गद्य-लेखक सामने आए जिन्होंने अपनी विभिन्न गद्य-रचनाओं द्वारा, एक प्रकार से, आधुनिक हिन्दी-गद्य की नींव डाली। उनका यह प्रयास साभिप्राय था। वह गद्य को साहित्य का माध्यम बनाने के लिए प्रयत्नशील थे और इस प्रकार नए युग की नई माँग को पूरा करने का प्रयत्न कर रहे थे। इनसे पूर्व लिखा गया खड़ीबोली-गद्य किसी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर नहीं लिखा गया था। परन्तु इन चार लेखकों ने गद्य सोद्देश्य लिखा था। ये चार गद्य-लेखक थे—दिल्ली निवासी मुंशी सदासुखलाल (सन् १७४६–१८२४), इंशा अल्ला खाँ (मृत्यु सन् १८१८), आगरा निवासी लल्लूजी लाल (सन् १७६३–१८२५), और सदल मिश्र (सन् १७६८–१८४८)।

मुंशी सदासुखलाल उर्दू, फारसी, संस्कृत और हिन्दी के विद्वान थे। इन्होंने 'विष्णु पुराण' के आधार पर 'सुख सागर' की रचना खड़ीबोली-गद्य में की और 'ज्ञानोपदेश' नामक एक अन्य ग्रन्थ लिखा। 'ज्ञानोपदेश' की रचना सन् १७९९ के लगभग हुई थी। इन ग्रन्थों की गद्य-शैली में प्रौढ़ता के दर्शन हुए और आचार्य शुक्ल के अनुसार इन्होंने हिन्दुओं की बोलचाल की शिष्ट भाषा के भावी साहित्यिक विकास का आभास दिया। इन्होंने यद्यपि सुन्दर हिन्दी-गद्य लिखा था परन्तु इनकी शैली में पंडिताऊपन का प्राधान्य रहा। लेकिन उनके गद्य ने यह प्रमाणित कर दिया कि उस समय हिन्दुओं में संस्कृत-मिश्रित हिन्दी ही पारस्परिक व्यवहार की भाषा थी। मुंशी जी ने यह गद्य किसी अन्य की प्रेरणा से प्रेरित न हो, स्वयं स्वतन्त्र रूप से लिखा था।

मुशी इंशा अल्ला खाँ ने इसी समय अपनी छोटी-सी परन्तु प्रसिद्ध पुस्तक 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इनका उद्देश्य ऐसी भाषा लिखने का था, जिसमें 'हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न हो।' और साथ ही जिसमें से—'हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे, और छाँव किसी की न हो। यह नहीं होने का।' अर्थात् इंशा ऐसी भाषा लिखना चाहते थे जो उस समय हिन्दू-मुसलमान—दोनों की बोलचाल की भाषा थी। उस समय मुसलमान साहित्यिक हिन्दी को 'भाखा' कहते थे। इंशा इसके प्रभाव से मुक्त बोलचाल की शिष्ट भाषा का प्रयोग करना चाहते थे परन्तु ऐसा करना उन्हें असम्भव प्रतीत होता था। उन्होंने संस्कृत और फारसी-अरबी के शब्दों से बचने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु उनकी शैली उर्दू-फारसी की शैली से प्रभावित हो ही गई। इंशा की उपर्युक्त आकांक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने बोलचाल की भाषा को साहित्य-क्षेत्र में उतारने का सायास प्रयत्न किया था, इसी कारण उनकी भाषा में सहज प्रवाह न आ सका। इंशा के समय तक खड़ीबोली उर्दू-कविता में प्रयुक्त होते-होते काफी मँज चुकी थी और खड़ीबोली की यही मँजाहट अपने चुलबुलेपन और रंगीनी के साथ 'रानी केतकी की कहानी' में उतर आई। मुहावरों का प्रयोग उसकी विशेषता है। उनकी ऐसी ही चुलबुली, मुहावरेदार, रंगीन भाषा का एक नमूना द्रष्टव्य है—

"इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट पच नहीं सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछन्दर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी।"

भाषा का उपर्युक्त रूप—ठेठ बोलचाल की भाषा का रूप है। हमें यही भाषा और शैली बहुत आगे चलकर प्रेमचन्द-साहित्य में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त होती हुई

मिलती है और जिसे 'हिन्दुस्तानी' कहा गया है। प्रेमचन्द भी उर्दू से हिन्दी में आए थे इसलिए उनकी इस शैली में उर्दू और हिन्दी-दोनों का सम्मिलित प्रभाव और उससे उत्पन्न प्रवाह आ गया था। वस्तुतः यही भाषा और शैली आज भी हिन्दी-भाषी क्षेत्र की साधारण बोलचाल में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार हमें निस्संकोच रूप से यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि उर्दू के प्रभाव ने हिन्दी-गद्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया था—विशेषकर बीसवीं सदी के आरम्भ में हिन्दी-कथा साहित्य में प्रयुक्त होने वाले गद्य को। और इसका श्रीगणेश इंशा अल्ला के उपर्युक्त गद्य-रूप में हो चुका था।

इसी बीच सन् १८०० में कलकत्ता में **फोर्ट विलियम कॉलेज** की स्थापना हुई थी। इसकी स्थापना प्रमुख भारतीय भाषाओं के अध्ययन, उन्नयन और प्रसार के लिए की गई थी। इसमें हिन्दुस्तानी-भाषा-विभाग के प्रथम अध्यक्ष प्रो० जॉन गिलक्राइस्ट बने। इनके नीचे हिन्दी और उर्दू में काम करने के लिए पंडितों और मुंशियों की नियुक्तियाँ की गईं। प्रो० जॉन गिलक्राइस्ट ने हिन्दी-अंग्रेजी शब्द-कोश, हिन्दी का व्याकरण आदि का निर्माण किया और 'हिन्दुस्तानी' के स्थान पर सबसे पहले 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग करना आरम्भ किया। लल्लूजी लाल और सदल मिश्र इन्हीं के नीचे काम करते थे। इन दोनों ने इन्हीं की प्रेरणा से अपनी गद्य-रचनाएँ लिखी थीं।

लल्लूजीलाल ने 'सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, शकुन्तला नाटक, माधोनल, राजनीति, प्रेमसागर, लताइफ-ए-हिन्दी, ब्रजभाषा-व्याकरण, सभा-विलास, माधव-विलास, लाल चन्द्रिका' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें से कुछ ब्रजभाषा-गद्य में लिखे गए थे और कुछ खड़ीबोली-गद्य में। इनमें से 'प्रेमसागर' ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे विशुद्ध रूप से खड़ीबोली-गद्य की रचना माना जा सकता है। इसी की भाषा के लिए ग्रियर्सन ने लिखा था कि यह भाषा लिखकर लल्लूजीलाल एक ऐसी भाषा का आविष्कार कर रहे थे, जिसका पहले कोई अस्तित्व नहीं था। परन्तु 'प्रेमसागर' का गद्य ब्रजभाषा से इतना अधिक प्रभावित है कि उसका आगे विकास नहीं हो सका। इनके गद्य का एक नमूना प्रस्तुत है—

"जिस काल उषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचन्द्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चन्द्रमा छवि-छीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंह की बँकाइ निरख धनुष धकधकाने लगा; आँखों की बड़ाई चंचलताई पेख मृग मीन खंजन खिसाय रहे।"

गद्य का उपर्युक्त रूप ऐसा लगता है जैसे किसी कविता का गद्य में, और वह भी कथा वाचक पंडितों के से गद्य में, अनुवाद कर दिया गया हो। 'प्रेमसागर' की रचना पाठ्य-पुस्तक के रूप में की गई थी परन्तु लल्लूजीलाल अपने गद्य को एक सुव्यवस्थित, परिमार्जित और प्रौढ़ रूप देने में असफल रहे। आगे चलकर ऐसे गद्य का अधिक प्रचार न हो सका। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार एक अंग्रेज

अफसर ने, जिसे 'प्रेमसागर' पढ़कर हिन्दी पढ़ने का अवसर मिला था, इस पुस्तक के बारे में लिखा था कि 'ऐसी थका देने वाली भाषा' उसने कहीं नहीं देखी।

पंडित सदल मिश्र भी फोर्ट विलियम कॉलेज में कार्य करते थे। उन्होंने वहाँ काम करते हुए दो ग्रन्थ लिखे थे—'नासिकेतोपख्यान' या चन्द्रावती, तथा 'रामचरित्र'। 'नासिकेतोपख्यान' एक छोटी सी रचना है परन्तु 'रामचरित्र' अध्यात्म रामायण पर आधारित लगभग ३२० पृष्ठों का बड़ा ग्रन्थ है। इसकी रचना उन्होंने जॉन गिलक्राइस्ट की आज्ञा से की थी। परन्तु फोर्ट विलियम कॉलेज के अधिकारियों को यह भाषा पसन्द नहीं आई और कॉलेज में इसका प्रचार न हो सका। वहाँ लल्लूजीलाल द्वारा प्रवर्तित गद्य-शैली को श्रेष्ठ और ग्राह्य माना गया। परन्तु, जैसा कि हम पहले कह आए हैं, परवर्ती गद्य-लेखकों ने इस गद्य-शैली को न अपना कर सदासुखलाल और सदल मिश्र द्वारा अपनाई गई गद्य-शैली को ही अपना कर विकसित किया। सदल मिश्र की गद्य-शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—

"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता-पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो वध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन-रात लगे रहते हैं, अपनी भार्य्या को त्याग दूसरे की स्त्री को व्याहते, औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते हैं वो माता-पिता की हित बात को नहीं सुनते, सबसे वैर करते हैं, ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डेरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।"

उपर्युक्त गद्य-शैली उर्दू और ब्रजभाषा के प्रभाव से मुक्त एक ऐसी गद्य-शैली है जिसमें बोलचाल की भाषा की अपेक्षा साहित्यिक भाषा का रूप प्रस्फुटित होता हुआ दिखाई देता है। शुक्लजी ने भी इसी गद्य-शैली और भाषा को व्यावहारिक माना है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भी इन्हीं की भाषा में भावी खड़ीबोली का मार्जित रूप स्पष्ट हुआ है। आगे चलकर साहित्य में जो भाषा गृहीत हुई उसका गठन बहुत कुछ सदल मिश्र की भाषा के आदर्श पर हुआ। इसके विपरीत शुक्ल जी सदासुखलाल की भाषा को साधु और अधिक महत्त्व की मानते हैं।

वस्तुतः मुंशी सदासुखलाल और पंडित सदल मिश्र ही हिन्दी-गद्य के ऐसे दो प्रथम लेखक थे जिन्होंने उस गद्य-शैली का पहला रूप प्रस्तुत किया था जिसका परवर्ती गद्य-लेखकों द्वारा अनुकरण और विकास किया गया। इंशा अल्ला खाँ की गद्य-शैली बहुत दिनों तक प्रचार न पा सकी। उनकी गद्य-शैली केवल किस्से कहानियों के लिए ही उपयुक्त थी। इसीलिए हमें उस समय उसका रूप उभारता हुआ दिखाई पड़ा जब प्रेमचन्द जैसे पहले उर्दू में उपन्यास और कहानियाँ लिखने वाले लोग हिन्दी में लिखने लगे। इस शैली में गम्भीर विषयों पर नहीं लिखा जा सकता।

भाषा और शैली-क्षेत्र में द्वन्द्व का उदय

फोर्ट विलियम कॉलेज के अधिकारी अर्थात् अंग्रेज हिन्दी की उपेक्षा उर्दू को अधिक प्रश्रय दे रहे थे। वस्तुतः उन्होंने हिन्दी-गद्य के विकास का सच्ची लगन के साथ प्रयत्न नहीं किया। भारत में आने वाले अंग्रेज प्रायः उर्दू ही पढ़ते थे। और भारत आने वाले अंग्रेजों द्वारा उर्दू पढ़ने का यह सिलसिला भारत की आजादी के पूर्व तक यथावत् कायम रहा था। इसका कारण था। अंग्रेज के घरेलू नौकर-चाकर बैरा, खानसामा, आदि प्रायः मुसलमान ही होते थे। इसलिए उनसे बात करने के लिए उर्दू ही काम में आ सकती थी। अंग्रेज का उर्दू पक्षपात यहाँ तक बढ़ा हुआ था कि ईसाई पादरी जिन निम्नवर्गीय लोगों को ईसाई बनाते थे, उन्हें भी उर्दू ही पढ़ाई जाती थी। अदालतों की भाषा भी उर्दू ही थी। हिन्दी के प्रति अंग्रेज के मन में एक सहज उपेक्षा की भावना थी। क्योंकि अंग्रेज जानता था कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है। यदि इसे प्रोत्साहन दिया गया तो यह जन-जागरण का माध्यम बन अंग्रेज के भविष्य के लिए खतरा पैदा कर देगी। इसीलिए अंग्रेज ने हिन्दुओं की अपेक्षा एक तरफ तो मुसलमानों को प्रश्रय देना आरम्भ किया और दूसरी ओर उर्दू का समर्थन और हिन्दी की उपेक्षा कर हिन्दी-उर्दू की प्रतिद्वन्द्विता को जन्म दे दिया। अंग्रेज जानता था कि उसकी भलाई और सुरक्षा इसी बात में है कि हिन्दू और मुसलमान परस्पर एक-दूसरे के विरोधी बने रहें।

अंग्रेज को मजबूर होकर ही हिन्दी को अपनाना पड़ा था। उत्तर भारत की विशाल हिन्दी-भाषी जनता की बोलचाल की भाषा हिन्दी और उसकी लिपि देवनागरी ही थी। उर्दू बहुत कम लोग जानते और पढ़ते थे। हिन्दुओं में भी अधिकांश वही लोग उर्दू पढ़ते थे जो या तो सरकारी नौकर थे या जिन्हें सरकारी नौकरों, अदालतों आदि से काम पड़ता था। हिन्दी की इसी व्यापकता और उर्दू की इसी संकुचित सीमा को देखकर ही अंग्रेज को मजबूर होकर शिक्षा में हिन्दी को स्थान देना पड़ा था। ईसाई पादरियों को भी अपने प्रचार के लिए इसी कारण हिन्दी को अपनाना पड़ा था। अंग्रेज कूटनीति में पारंगत रहा है। उसने अपनी कूटनीति का प्रयोग कर आरम्भ में ही हिन्दी और उर्दू में प्रतिद्वन्द्विता के बीज बो दिए थे। और विद्वेष का यह बीज, कालान्तर में एक विशाल वटवृक्ष का रूप धारण कर हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष का एक सशक्त साधन बन गया।

द्वन्द्व का पहला रूप

हिन्दी-उर्दू की इस प्रतिद्वन्द्विता का रूप ईसा की उन्नीसवीं सदी के मध्य-काल में ही प्रकट होने लगा था। हिन्दी-गद्य के प्रसिद्ध राजा-द्वय—राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और राजा लक्ष्मण सिंह की परस्पर विरोधी गद्य-शैलियों के रूप में यह द्वन्द्व पहली बार सामने आया। राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में इन्स्पेक्टर थे। वे सरकारी नौकर थे, इसलिए सरकारी भाषा-नीति का अनुकरण करते हुए उर्दू-प्रधान

गद्य लिखने का समर्थन करते थे। इसके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह सरकारी दबाव और प्रभाव से मुक्त स्वतन्त्र लेखक थे। वे विशुद्ध हिन्दी-शैली लिखने के समर्थक थे। आरम्भ में राजा शिवप्रसाद संस्कृत शब्द-प्रधान हिन्दी-गद्य लिखा करते थे परन्तु बाद में सरकारी दबाव में आकर उर्दू-प्रधान गद्य लिखने लगे। इनकी इन दोनों प्रकार की गद्य-शैलियों के नमूने द्रष्टव्य हैं :—

हिन्दी-प्रधान गद्य-शैली—"मनुस्मृति हिन्दुओं का मुख्य धर्मशास्त्र है। उसको कोई भी हिन्दू अप्रामाणिक नहीं कह सकता। वेद में लिखा है कि मनुजी ने जो कुछ कहा, उसे जीव के लिए औषधि समझना; और बृहस्पति लिखते हैं कि धर्म-शास्त्राचार्यों में मनुजी सबसे प्रधान और अतिमान्य हैं क्योंकि उन्होंने अपने धर्मशास्त्र में सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्य लिखा है।"—'मानव धर्मसार'

उर्दू-प्रधान गद्य-शैली—"तुगलक का भाई मसऊद खाँ निहायत हसीन था, बगावत का शुबहा हुआ, पूछने पर उकूवत और सियासत के डर से झूठा इकरार कर दिया, बहुतेरे उकूवत और सियासत से मौत को बेहतर समझते हैं.......।"

—'इतिहास तिमिर नाशक'

उपर्युक्त दोनों गद्य-रूपों से हिन्दी-उर्दू का यह द्वन्द्व स्पष्ट हो जाता है। राजा लक्ष्मणसिंह ने इस उर्दू-प्रधान गद्य-शैली का विरोध करते हुए अपने द्वारा किए गए 'रघुवंश' के गद्यानुवाद के प्राक्कथन में लिखा कि—

"हमारे मत में हिन्दी और उर्दू—दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-पारसी के। परन्तु कुछ अवश्य नहीं कि अरबी-पारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी-पारसी के शब्द भरे हों।"

राजा लक्ष्मणसिंह का उपर्युक्त कथन यह सिद्ध कर देता है कि उस समय हिन्दी-उर्दू का द्वन्द्व काफी जोर पर था।

इस द्वन्द्व का जन्मदाता अंग्रेज था

हम पीछे कह आए हैं कि हिन्दी-उर्दू के इस द्वन्द्व को अंग्रेज ने अपनी कूटनीति द्वारा जन्म दिया था। अंग्रेज भारत में अंग्रेजी-शिक्षा का प्रचार करना चाहता था। परन्तु प्रारम्भिक-शिक्षा के लिए उसे देशी-भाषाओं की भी जरूरत थी। इसी जरूरत को पूरा करने के लिए उसने देशी-भाषाओं को हल्का-सा प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई। और देशी-भाषाएँ अधिक आगे न बढ़ सकें, इसके लिए उसने एक तरफ तो इन भाषाओं में हिन्दी-उर्दू प्रतिद्वन्द्विता जैसी घातक नीति के बीज बो दिए और दूसरी तरफ जनता के हृदय पर यह छाप डालने का प्रयत्न किया कि देशी भाषाएँ इतनी अशक्त, दरिद्र और अनुन्नत हैं कि उनके द्वारा शिक्षा देना असम्भव है। शिक्षा तो केवल अंग्रेजी द्वारा ही उपलब्ध की जा सकती है। अंग्रेज की इस कूटन

यह परिणाम निकला कि हिन्दी-उर्दू के लेखकों और समर्थकों की अधिकांश शक्ति अपने-अपने पक्ष का प्रचार और समर्थन तथा दूसरे पक्ष का विरोध करने में ही व्यय होने लगी। दूसरी तरफ लोगों में यह विश्वास जड़ जमाने लगा कि देशी भाषा पढ़कर कोई भी शिक्षित नहीं हो सकता। वास्तविक शिक्षा तो केवल अंग्रेजी द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार अंग्रेज ने अपने कूटनीतिक प्रचार द्वारा हिन्दी-उर्दू को परस्पर भिड़ा कर अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार और प्रचार के लिए मार्ग प्रशस्त कर लिया।

अंग्रेजी-शिक्षा के प्रचार का यह परिणाम निकला कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग संस्कृत, अरबी, फारसी आदि प्राचीन तथा हिन्दी और उर्दू जैसी नवीन भाषाओं की ओर से उदासीन होने लगे। सरकारी दफ्तरों और अदालतों की भाषा और लिपि मुगलों के समय से ही फारसी चली आ रही थी। अंग्रेज ने भी उसी परम्परा को कायम रखा। परन्तु जिस जनता को इन दफ्तरों और अदालतों से काम पड़ता था, वह न फारसी भाषा समझती थी और न फारसी लिपि को जानती थी। इसलिए उसे परेशानी होती थी। यह देख अंग्रेज ने सन् १८०३ के लगभग केवल इतना परिवर्तन कर दिया कि भाषा तो फारसी ही रहने दी परन्तु लिपि फारसी और देव-नागरी—दोनों स्वीकार कर लीं। मगर भाषा की दिक्कत फिर भी बनी ही रही। यह देख अंग्रेज ने अपनी भाषा-नीति में परिवर्तन कर सन् १८३६ में यह घोषणा की—जनता अपने प्रार्थना-पत्र 'हिन्दी बोली' और नागरी या फारसी लिपि में प्रस्तुत कर सकती है। परन्तु मुसलमानों द्वारा इस नई घोषणा का विरोध किया गया। मुसलमान यह चाहते थे कि दफ्तरों और अदालतों की भाषा केवल उर्दू ही रहे। इस विरोध के कारण उक्त घोषणा के एक वर्ष बाद ही अर्थात् सन् १८३७ में उर्दू को उत्तर प्रदेश (तत्कालीन 'संयुक्त प्रान्त') की सरकारी काम-काज की भाषा बना दिया गया। यद्यपि शुक्लजी इस हिन्दी-विरोध को मुसलमानों द्वारा किया गया मानते हैं[1], परन्तु हमारा अनुमान है कि इस विरोध को भी प्रच्छन्न रूप से अंग्रेज द्वारा ही उकसाया गया था। इसका प्रमाण यह है कि अंग्रेज मुसलमानों के विरोध के सम्मुख चुपचाप झुक कर उनकी सभी उचित-अनुचित माँगों को स्वीकार करता और दूसरी तरफ मुसलमानों पर सारा दोष मढ़ कर चुपचाप हिन्दी की हत्या करने का प्रयत्न करता रहा था।

इसका प्रमाण इस घटना द्वारा मिल जाता है। जब जनता की ओर से यह माँग उठी कि शिक्षा में हिन्दी की पढ़ाई की भी व्यवस्था होनी चाहिए और क्योंकि अधिकांश जनता हिन्दी-भाषी ही है, इसलिए हिन्दी की पढ़ाई सबके लिए अनिवार्य होनी चाहिए तो मुसलमानों द्वारा इस माँग का विरोध किया गया और अंग्रेज ने इस

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास— (संस्करण सम्वत् २००३), पृ० १४३।

विरोध को स्वीकार कर सन् १८४८ में यह घोषणा कर दी कि—"ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी, जिनकी संख्या देहली कालेज में बड़ी है, इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।"

इस घोषणा के मूल में अंग्रेज की कूटनीति ही असली जड़ थी। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि हिन्दी का विरोध प्रायः उन्हीं मुसलमानों द्वारा किया गया था जो या तो सरकारी नौकर थे या अंग्रेज के विशेष कृपापात्र थे। सर सैयद अहमद खाँ अंग्रेज के ऐसे ही विशिष्ट कृपापात्र थे जो हिन्दी को 'गँवारू बोली' बता कर उर्दू की हिमायत किया करते थे। यह असम्भव है कि अंग्रेज के ऐसे विशिष्ट कृपापात्र बिना अंग्रेज के इशारे के तथाकथित सरकारी-नीति के विरुद्ध आन्दोलन करने का साहस कर पाते। अंग्रेज के समर्थक सदैव अंग्रेजी के अनन्य भक्त रहे हैं। यदि सर सैयद अहमद खाँ को उर्दू की उन्नति के प्रति इतना ही गहरा अनुराग था तो उन्होंने स्वयं द्वारा स्थापित 'अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी' में शिक्षा का माध्यम उर्दू बनाने का प्रयत्न क्यों नहीं किया था। वस्तुतः ये सारे हिन्दी-विरोधी और उर्दू-समर्थक सरकारी पिट्ठू केवल अंग्रेजी के भक्त और समर्थक थे। हम सच्चा उर्दू-भक्त तो निजाम-हैदराबाद को मानते हैं जिन्होंने अपनी 'उस्मानिया युनिवर्सिटी' में शिक्षा का माध्यम उर्दू को बनाया था, हर तरह से उर्दू भाषा और साहित्य को संरक्षण दे उसकी अभिवृद्धि का स्तुत्य प्रयास किया था।

उर्दू-अनुराग और हिन्दी-विरोध का कारण

हम अंग्रेज के उर्दू-अनुराग और हिन्दी-विरोध के कारण का एक हल्का-सा संकेत पीछे दे आए हैं। अंग्रेज कूटनीतिज्ञ और दूरदर्शी था। वह जानता था कि उसकी शोषण-नीति के कारण जनता उससे असन्तुष्ट है। और जनता में हिन्दुओं की संख्या ही सबसे अधिक है। इससे पूर्व मराठों, सिखों और जाटों के रूप में हिन्दू राज-शक्ति का उदय हो चुका था और जिसे अंग्रेज ने ही पराजित कर नष्ट कर दिया था। इस कारण हिन्दू हृदय से अंग्रेज का विरोधी था। यदि भारत में अंग्रेज न आते तो यह निश्चित था कि यहाँ मुसलमानों का राज्य पूर्णतः समाप्त हो जाता और हिन्दू-राज्य की स्थापना होती। (कृपया पाठक हमारे इस मत को साम्प्रदायिक न समझें क्योंकि यहाँ केवल तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का ही सही विश्लेषण करने का प्रयत्न किया जा रहा है।) इस सम्भावित हिन्दू-राज्य से मुसलमानों को अंग्रेज ने ही आकर बचाया था। इसलिए सामान्य मुसलमान अंग्रेज का कृतज्ञ था। १८५७ में अंग्रेज का विरोध केवल उन्हीं मुस्लिम शासकों और उनके समर्थकों ने किया था जिनके राज्य अंग्रेज ने छीन लिए थे और जिनके घाव अभी ताजे थे। यह इतिहास-प्रसिद्ध सत्य है कि अन्तिम मुगल-सम्राट् (नाममात्र का ही सही) बहादुरशाह जफर ने विद्रोहियों के दबाव में आकर ही अंग्रेज के विरुद्ध विद्रोह करना स्वीकार

किया था। परन्तु कुछ उदार-हृदय, दूरदर्शी मुस्लिम शासक और उनके अधिकारी, जैसे बाँदा का नवाब और अजीमुल्लाखाँ आदि, सच्चे हृदय से अंग्रेज का विरोध कर रहे थे क्योंकि वे जानते थे कि यह अंग्रेज भारतवासी मात्र का शत्रु है।

अंग्रेज यह जानता था कि अंग्रेजी पढ़ा-लिखा मुसलमान और सामान्य अशिक्षित मुसलमान इसलिए अंग्रेज का कृतज्ञ है क्योंकि उसने हिन्दुओं से उसकी रक्षा की थी। और उसने अपने इस उपकार का जनता में खूब प्रचार भी किया था। इसलिए अंग्रेज को मुसलमान की बफादारी का विश्वास था। वह केवल हिन्दू-जनता से सशंकित था। इसलिए वह नहीं चाहता था कि हिन्दू-जनता में शिक्षा का प्रचार हो और वह भी उसकी मातृभाषा हिन्दी के द्वारा। क्योंकि वह जानता था कि हिन्दी-शिक्षा का प्रचार होने पर हिन्दुओं का अपने इतिहास, धर्म, संस्कृति आदि के प्रति अनुराग बढ़ेगा जो अंग्रेज के भविष्य के लिए घातक बन जायेगा। इसलिए अंग्रेज ने हिन्दी की शिक्षा और प्रचार को सदैव हतोत्साहित करने का ही प्रयत्न किया। अंग्रेज बहुत अधिक चालाक था। वह स्वयं जनता की दृष्टि में शान्ति-स्थापक, न्याय-प्रिय और उदार बना रहना चाहता था। इसीलिए उसने स्पष्ट रूप से स्वयं हिन्दी का विरोध न कर मुसलमानों को उकसा कर हिन्दी का विरोध करवा कर हिन्दी-विरोध का सारा दोष मुसलमानों के मत्थे मढ़ दिया। और हमारे इतिहासकार इस षड्यंत्र को न समझ पाकर हिन्दी-विरोध का सारा दोष मुसलमानों पर ही थोपते रहे। यह उर्दू-समर्थन और हिन्दी-विरोध का प्रधान और मूल कारण था।

अंग्रेज द्वारा हिन्दी-विरोध का एक कारण धार्मिक भी था। हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास-लेखक माने जाने वाला गार्सां द तासी, पेरिस में उर्दू का अध्यापक था। वह फ्रांसीसी था। अंग्रेज के समान फ्रांसीसी भी भारत में अपनी साम्राज्य-स्थापना का स्वप्न देखते रहे थे परन्तु अंग्रेज ने उन्हें भारत से निकाल बाहर किया था। अंग्रेज और फ्रांसीसी—दोनों ही ईसाई थे इसलिए भारत में ईसाई-धर्म के प्रचार के इच्छुक थे। ये लोग जानते थे कि भारत में ईसाई-धर्म के प्रचार-प्रसार के मार्ग में हिन्दू-धर्म ही सबसे बड़ा रोड़ा था और हिन्दी हिन्दुओं की भाषा थी जिसमें हिन्दू-धर्म के तत्त्व निहित थे। उर्दू मुसलमानों की भाषा थी और ईसाई और इस्लाम-धर्मों में मूलभूत अन्तर नहीं था क्योंकि इन दोनों ही धर्मों का उदय 'सामी' मत से ही हुआ था। इसीलिए यूरोप-निवासी इन ईसाइयों ने उर्दू का समर्थन और हिन्दी का विरोध किया था। तासी के इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

"हिन्दी में हिन्दू-धर्म का आभास है—वह हिन्दू-धर्म, जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इसलामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इसलाम भी 'सामी' मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धान्त है, इसलिए इसलामी तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएँ पाई जाती हैं।....मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी

किताब मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा को भी अस्वीकार नहीं करते, पर हिन्दू लोग मूर्त्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा नहीं मानते।"

हिन्दी-प्रसार में ईसाई प्रचारकों का योग-दान

ईसाई-प्रचारक जब जनता में ईसाई-धर्म का प्रचार करने निकले तो उनके सामने एक व्यावहारिक कठिनाई आई। उर्दू एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित भाषा थी। जन-सामान्य हिन्दी ही बोलता था। देहात में रहने वाले मुसलमान भी हिन्दी ही बोलते और लिखते-पढ़ते थे। उर्दू का प्रचार केवल नगरों तक ही सीमित था। ईसाई-प्रचारकों ने देश में भ्रमण कर भाषा-सम्बन्धी इस स्थिति को समझ लिया था। इसलिए उन्होंने अपने धर्म का प्रचार हिन्दी के माध्यम से ही करना आरम्भ किया। उन्होंने बाइबिल का अनुवाद सरल और जन-साधारण में समझी जाने वाली भाषा में किया और कराया। इसके लिए उन्होंने लगभग उसी भाषा और शैली को अपनाया जो हिन्दुओं में धर्म, ज्ञान आदि का विवेचन करने के लिए जन-सामान्य में प्रचलित थी। शुक्लजी ने इस भाषा और शैली का एक नमूना उद्धृत किया है—

"तब यीशू योहन से बपतिस्मा लेने को उस पास गालील से यर्दन के तीर आया। परन्तु योहन यह कह के उसे बर्जने लगा कि मुझे आपके हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं! यीशू ने उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए। यीशू बपतिस्मा लेके तुरंत जल के ऊपर आया और देखो उसके लिए स्वर्ग खुल गया और उसने ईश्वर की आत्मा को कपोत की नाईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा, और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है जिससे मैं अति प्रसन्न हूँ।"

उपर्युक्त शैली में, अनुवाद होने के कारण वाक्य-रचना विदेशी ढंग की है, इसलिए कुछ अटपटापन-सा दिखाई पड़ता है परन्तु भाषा विशुद्ध हिन्दी है। अपने इस धर्म प्रचार के अतिरिक्त ईसाई पादरियों ने जनता में शिक्षा का प्रचार करने के लिए बच्चों के स्कूल खोले और उनमें पढ़ाने के लिए पाठ्य-पुस्तकें तैयार करवाईं। इन पुस्तकों की हिन्दी भी वैसी ही सरल और विशुद्ध होती थी जैसी बाइबिल के अनुवाद की थी। इन लोगों ने इतिहास, भूगोल, गणित आदि विषयों सम्बन्धी पुस्तकें भी हिन्दी में तैयार करवाईं। इस प्रकार इन ईसाई-प्रचारकों ने हिन्दी-गद्य की आरम्भिक अभिवृद्धि में अपना ऐतिहासिक योग प्रदान किया था।

उर्दू-समर्थक शिक्षा-नीति

परन्तु अंग्रेज की शिक्षा-नीति आरम्भ से अन्त तक उर्दू-समर्थक ही रही। देहाती स्कूलों में यद्यपि हिन्दी की पढ़ाई अनिवार्य बना दी गई थी परन्तु उसके साथ ही वैकल्पिक रूप से उर्दू और अंग्रेजी की पढ़ाई का भी प्रबन्ध था। शासन के निचले स्तर पर उर्दू का बोलबाला था, इसलिए साधारण-स्थिति के बालक उर्दू-

मिडिल उत्तीर्ण कर पटवारी या तहसील आदि में मुंशी बन जाते थे। हिन्दी के साथ अंग्रेजी पढ़ने वाले बालक आगे चलकर हाई-स्कूल और कॉलेजों में अंग्रेजी-माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर क्लर्क बन जाते थे या कुछ अच्छी सरकारी नौकरियाँ पा जाते थे। इस प्रकार निचले स्तर पर उर्दू का और उच्च स्तर पर अंग्रेजी का व्यावसायिक महत्त्व स्थापित हो गया था और हिन्दी की उपेक्षा हो रही थी। हिन्दी-मिडिल करने वाले केवल साधारण शिक्षक ही बन पाते थे। अंग्रेज की शिक्षा-नीति आरम्भ से अन्त तक यही रही थी, जिसने हिन्दी की प्रगति में बहुत बड़ी बाधा पहुँचाई।

जब विद्यार्थी हाई-स्कूल में पहुँचता था तो उस पर यह प्रभाव डाला जाता था कि अंग्रेजी ही विश्व की सर्वश्रेष्ठ भाषा है, अंग्रेज जाति विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति है, और भारतीय विद्यार्थी का भविष्य अंग्रेज और अंग्रेजी की भक्ति पर ही निर्भर है। हिन्दी अविकसित, गँवारू भाषा है और उसे पढ़ने से उसका कोई कल्याण नहीं हो सकता। इस शिक्षा-नीति और उसके प्रचार ने भारत में एक ऐसे नए वर्ग का निर्माण किया जो प्रत्येक भारतीय वस्तु को उपेक्षा और प्रत्येक अंग्रेजी वस्तु को सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगा था। यही नया वर्ग अंग्रेजी शासन का सबसे बड़ा कट्टर समर्थक था और यह नहीं चाहता था कि भारत में अंग्रेजों का राज्य समाप्त हो तथा यहाँ अंग्रेजी भाषा के स्थान पर हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं का प्रभुत्व बढ़े। इसी वर्ग ने आरम्भ में भारतीयों द्वारा उठाई गई स्वतन्त्रता की माँग का कट्टर विरोध और अंग्रेज का समर्थन किया था। क्योंकि अंग्रेज ने इस वर्ग को यह विश्वास दिला दिया था कि अंग्रेज सर्व-शक्तिमान है और भारतीय असभ्य होने के कारण स्वतन्त्र होने के योग्य नहीं हैं। परन्तु फिर भी भारत स्वतंत्र हो ही गया, अंग्रेज यहाँ से चला गया। अंग्रेज तो गया परन्तु इस वर्ग के रूप में यहाँ अंग्रेजी के अन्ध-भक्तों को छोड़ गया और अंग्रेजी यहाँ बनी रह गई। क्योंकि इस वर्ग को रोजी-रोटी और सम्मान अंग्रेजी के ही कारण मिला था, इसलिए यह वर्ग आज भी यह नहीं चाहता कि भारत से अंग्रेजी चली जाय और उसका स्थान भारतीय भाषाएँ ले लें। आज यही वर्ग हिन्दी को सम्पर्क भाषा और राज्य-भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने का सबसे अधिक विरोध कर रहा है।

दूरदर्शी, कूटनीति-विशारद अंग्रेज इसी भविष्य की कल्पना कर रहा था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में उसके द्वारा निर्धारित घातक शिक्षा-नीति के मूल में उसकी यही दुरभिसन्धि कार्य कर रही थी। और कहना न होगा कि उसे अपनी इस दुरभिसन्धि के क्रियान्वयन में पूर्ण सफलता मिली। अंग्रेज भारत से चला गया है, परन्तु उसकी भाषा अंग्रेजा और उसकी सभ्यता-संस्कृति आज भी यहाँ अखण्ड राज्य कर रही है। आजादी के बाद उसका प्रभाव और अधिक बढ़ गया है।

संक्रान्ति-काल का मूल्यांकन

जन-चेतना का उदय

ईसा की उन्नीसवीं सदी के आरम्भ से लेकर मध्य तक का अर्थात् भारतेन्दु के उदय से पूर्व तक का युग एक प्रकार से हिन्दी-गद्य के जन्म, उर्दू हिन्दी-विवाद, अंग्रेज की शिक्षा-नीति का निर्धारण, अंग्रेजी की शिक्षा के आरम्भ और प्रसार तथा भारतीय जन-चेतना के उदय का युग रहा है। इस युग में यद्यपि हिन्दी में काव्य-रचना भी होती रही है परन्तु उसका रूप और भाषा परम्परा-बद्ध ही रही है। नई युग-चेतना से प्रेरित हिन्दी के साहित्यकारों का सारा ध्यान हिन्दी-गद्य के विकास में ही लगा रहा है। इस काल में यद्यपि ऐसी कृतियों का तो निर्माण नहीं हो सका जो साहित्य की निधियाँ मानी जातीं परन्तु भाषा-विकास के क्षेत्र में एक नए युग का आरम्भ अवश्य हो गया था। हिन्दी की संस्कृत-मिश्रित और उर्दू-प्रधान शैलियों का जन्म और विकास इसी युग में हुआ था। हिन्दी के विरोध का आरम्भ भी इसी युग में हो चुका था जो आज तक बराबर चला आ रहा है। इसी युग में नवीन शिक्षा-पद्धति में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि का प्रवेश हुआ था। अदालतों आदि सरकारी संस्थाओं में उर्दू-लिपि के साथ देवनागरी लिपि इसी युग में स्वीकार की गई थी। नवीन शिक्षा-पद्धति के लिए इतिहास, भूगोल, रेखागणित, रसायनशास्त्र, जन्तु-शास्त्र आदि नवीन विषयों के लिए हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकें तैयार की गई थीं। एक प्रकार से यह युग हिन्दी-गद्य निर्माण का आरम्भिक युग था। हिन्दी के लेखक अपनी भाषा के प्रति, अपने उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण सजग थे। उन्हें हिन्दी-गद्य के ऐसे स्वरूप का निर्धारण करना था जिसमें हिन्दी-साहित्य का निर्माण हो सके। साथ ही उन्हें जनता में हिन्दी का प्रचार कर उसकी लोकप्रियता को भी बढ़ाना था। यह कार्य उन्होंने समाचार-पत्रों के माध्यम से किया।

हिन्दी-समाचार-पत्रों का उदय

अंग्रेजी आदि विदेशी तथा बँगला आदि देशी भाषाओं में इस सदी के आरंभ से ही समाचार-पत्र निकलने आरम्भ हो गए थे। परन्तु हिन्दी-भाषी जनता के लिए कोई समाचार-पत्र नहीं था। इसलिए हिन्दी के हित-चिन्तकों ने हिन्दी में समाचार-पत्र निकालने का निश्चय किया। साथ ही उर्दू वालों ने भी ऐसा ही संकल्प किया। फलस्वरूप इन दोनों भाषाओं में लगभग साथ-साथ ही समाचार-पत्रों का प्रकाशन होना आरम्भ हुआ। हिन्दी का पहला समाचार-पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' ३० मई, सन् १८२६ में श्री जुगलकिशोर शुक्ल के सम्पादन में पहली बार प्रकाशित हुआ। इसके उपरान्त सन् १८२९ में कलकत्ता से 'बंगदूत' निकला। इसके सम्पादक नीलरतन हलदार थे। यह प्रति रविवार को निकलने वाला साप्ताहिक-पत्र था। इसके १६ वर्ष पश्चात् सन् १८४५ में बनारस से राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की प्रेरणा से 'बनारस-

अखबार' निकला। इसकी भाषा-नीति उर्दू-परक थी, इसलिए इसकी भाषा में उर्दू-हिन्दी की खिचड़ी रहती थी। इसके उपरान्त 'मार्तण्ड', 'मालवा अखबार' आदि ऐसे समाचार-पत्र प्रकाशित हुए जो हिन्दी और उर्दू—दोनों भाषाओं और लिपियों में छपते थे। इसके पश्चात् सन् १८६० तक हिन्दी के कई अन्य दैनिक और साप्ताहिक समाचार-पत्रों का प्रकाशन हुआ। सन् १८६१ में राजा लक्ष्मणसिंह ने अपना 'प्रजा-हितैषी' निकाला। इसकी भाषा-नीति 'बनारस अखबार' की उर्दूपरस्त भाषा-नीति के विरुद्ध विशुद्ध हिन्दी की समर्थक थी।

हिन्दी के इन समाचार-पत्रों के माध्यम से जनता में हिन्दी का प्रचार बढ़ा, हिन्दी-गद्य का स्वरूप निखरा और सरकार की हिन्दी-विरोधी नीति का विरोध किया गया। इसके अतिरिक्त इनके माध्यम से जनता में नवीन युग-चेतना का प्रचार हुआ। अंग्रेज की हिन्दी-विरोधी नीति के कारण हिन्दी के इन समाचार-पत्रों को सरकारी सहायता और सहानुभूति नहीं प्राप्त हो सकी। इन्हें सरकारी-विज्ञापन नहीं मिलते थे। और उस युग में सीमित पाठकों की सीमित ग्राहक-संख्या के बल कर इन्हें जीवित रखना असम्भव था। हिन्दी का पहला समाचार-पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' इसी कारण केवल एक वर्ष जीवित रहकर ही समाप्त हो गया। ये समाचार-पत्र किसी एक निश्चित गद्य-रूप को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे थे, यह सत्य है, परन्तु इनके द्वारा ही हिन्दी के उस भावी गद्य को आधार-शिला मिली थी, जिसका विकास भारतेन्दु के समय में जाकर हुआ था। यह संक्रान्ति का युग था, इसलिए गद्य का कोई आदर्श पूर्वरूप सम्मुख न रहने के कारण एक निश्चित गद्य-शैली का जन्म होना असम्भव था। क्रान्ति-कालीन अव्यवस्था के उपरान्त ही व्यवस्था आती है।

भाषा-सम्बन्धी इसी अव्यवस्था के कारण इस युग में ऐसी श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों का सृजन सम्भव न हो सका, जिन पर हम गर्व कर सकते। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस संक्रान्ति काल में ही भावी हिन्दी-साहित्य की सशक्त आधार-शिला का निर्माण हो चुका था।

दो उल्लेखनीय साहित्यिक व्यक्तित्व

प्रारम्भिक चार हिन्दी-गद्य लेखकों के अतिरिक्त, जिनका हम पीछे उल्लेख कर आए हैं, इस संक्रान्ति काल में दो लेखक ऐसे हुए हैं जिनका भाषा-नीति, हिन्दी-गद्य के विकास और कुछ सीमा तक साहित्यिक कृतित्व की दृष्टि से उल्लेखनीय महत्त्व माना जा सकता है। ये दो लेखक हैं—राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह।

राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' (सन् १८२३—१८९५ ई०)

राजा शिवप्रसाद का व्यक्तित्व और कृतित्व बड़ा विवादास्पद रहा है। ये एक

तरफ तो शिक्षा-पद्धति में हिन्दी को और सरकारी काम-काज में देवनागरी लिपि को स्थान दिलाने वाले माने जाते हैं और दूसरी ओर अंग्रेज और अंग्रेजी-शासन के कट्टर समर्थक और हिन्दी में उर्दू-प्रधान गद्य लिखने के प्रबल हिमायती। इन पर यह लांछन भी लगाया जाता है कि इन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की राष्ट्र-भावना के कारण उनके खिलाफ सरकार के कान भरकर उसे भारतेन्दु का विरोधी बना दिया था। इनकी दो प्रकार की गद्य-रचनाएँ मिलती हैं जिनमें से कुछ में संस्कृत-मिश्रित हिन्दी-गद्य लिखा गया है और कुछ में उर्दू-प्रधान। उनकी आरम्भिक रचनाओं—'मानव धर्मसार' योग वाशिष्ठ के चुने हुए श्लोक, उपनिषद्सार, भूगोल हस्तामलक, वामा मनरंजन, आलसियों का कोड़ा, विद्यांकुर, राजा भोज का सपना' आदि की भाषा संस्कृत-मिश्रित हिन्दी रही है। परन्तु उनके परवर्ती ग्रन्थ—'इतिहास तिमिर नाशक, बैताल-पच्चीसी' आदि की भाषा उर्दू-प्रधान ही नहीं, लगभग उर्दू ही रही है।

सन् १८५६ में सरकार ने इन्हें शिक्षा-विभाग में इन्सपेक्टर बना दिया था। ये उससे पूर्व ही उर्दू-प्रधान शैली के समर्थक और प्रचारक बन चुके थे। सन् १८४५ में, इनकी प्रेरणा से प्रकाशित होने वाला 'बनारस अखबार' इसका प्रमाण है। सम्भवतः इसी भाषा-नीति के कारण इन्हें सरकारी नौकरी मिली होगी। बाद में ये उर्दू को 'हमारे मुल्क की मुख्य भाषा' मानने लगे थे, क्योंकि इनके अनुसार 'कचहरियों के सारे कागज-पत्र इसी के दरम्यान लिखे जाते हैं।' राजा साहब हिन्दी को गँवारूपन से भरी हुई भाषा समझते थे और चाहते थे कि हिन्दी के इस 'गँवारूपन' को दूर करने के लिए उसमें उर्दू का मिश्रण कर उसे शिष्ट-जन की भाषा बना दें। यह राजा साहब का कोई अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण नहीं था। यह अंग्रेज का ही दृष्टिकोण था और राजा साहब अंग्रेजों के कट्टर भक्त और अन्ध-अनुयायी थे। अंग्रेज के प्रति उनकी कट्टर भक्ति के प्रमाण स्वरूप उनके ग्रन्थ 'इतिहास तिमिर नाशक' का यह अंश द्रष्टव्य है—

"बहुतेरे गोबर गणेश समझते हैं कि जिस तरह हिन्दू और मुसलमान चढ़ कर गिरे, उसी तरह किसी दिन अंग्रेज भी गिर जायेंगे। पर यह उनकी बड़ी भूल है। अंग्रेज तभी गिर सकते हैं, जब उनमें फूट पैदा हो। सो यह उनकी विद्या और उनके मत, दोनों के विरुद्ध है। फूट और बैर इसी देश का मेवा है। ईसाइयों के ठंडे मुल्क में इसका अंकुर नहीं जमता।"

यहाँ राजा साहब की लेखनी द्वारा अंग्रेज का वह विषैला प्रचार ही प्रतिध्वनित हो रहा है जो वह आरम्भ से ही अपने समर्थन में और भारतीयों के विरुद्ध करता आ रहा था। राजा साहब वही सोचते, लिखते और करते थे जो उनके मालिक अंग्रेज को अच्छा लगता था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसके प्रमाण के रूप में हेनरी पिन्काट का वह पत्र उद्धृत किया है जो उसने १ जनवरी, सन् १८८४ में भारतेन्दु को लिखा था। उस पत्र का एक अंश इस प्रकार है—

"कि बीस वर्ष हुए उसने (राजा शिवप्रसाद ने) सोचा कि अंग्रेजी साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं। उन बातों का प्रचलित करना परम चतुर लोगों का धर्म है। इसलिए बड़े चाव से उसने अपनी हिन्दी भाषा को भी बिना लाज छोड़कर उर्दू को प्रचलित करने में बहुत उद्योग किया।"

अर्थात् उस समय सरकारी नीति यह थी कि हिन्दी का विरोध और उर्दू का समर्थन और प्रचार किया जाय। और राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने पूर्ण निष्ठा और स्वामिभक्ति के साथ इसी नीति का पालन और प्रचार किया था। साथ ही उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा अंग्रेज की श्रेष्ठता और भारतीयों की हीनता का प्रचार भी पूर्ण मनोयोग के साथ किया था। उपर्युक्त दोनों उद्धरण इसके प्रमाण हैं। यह राजा साहब का राजनीतिक और सामाजिक दृष्टिकोण था। परन्तु उनके लिखे गद्य के रूप में हिन्दी-गद्य का रूप निखर रहा था, इसमें सन्देह नहीं। उनकी कुछ रचनाओं में हिन्दी और उर्दू के मिश्रित गद्य का रूप उभर कर सामने आया था। परंतु राजा साहब सन्तुलन रखने में असफल रहे और आगे चलकर उनके गद्य ने देवनागरी लिपि में लिखे गए उर्दू-गद्य का रूप धारण कर लिया। यदि वह अपने प्रयत्न में सन्तुलन रखने में सफल हो सके होते तो इसमें सन्देह नहीं कि एक ऐसे गद्य-रूप का विकास होता जो बहुत वर्षों बाद प्रेमचन्द के गद्य में दिखाई पड़ा था।

राजा शिवप्रसाद, अपने स्वामी अंग्रेज को खुश करने के लिए हिन्दी को उर्दू बना देने का प्रयत्न और प्रचार कर रहे थे। हिन्दी वालों में पहले इसकी शान्त प्रतिक्रिया हुई और फिर उसने उग्र रूप धारण कर लिया। शान्त प्रतिक्रिया-स्वरूप सन् १८५० में बनारस से ही 'सुधाकर' नामक पत्र निकला और सन् १८५२ में आगरा से 'बुद्धि-प्रकाश' नामक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इन दोनों समाचार-पत्रों ने शुद्ध हिन्दी-गद्य का रूप प्रस्तुत किया। इन पत्रों की भाषा शुद्ध, बहुत ही सुलझी हुई और साफ होती थी।

राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२६–१८९६ ई०)

राजा शिवप्रसाद की उर्दूपरस्त-नीति की उग्र प्रतिक्रिया राजा लक्ष्मणसिंह की रचनाओं में दिखाई पड़ी। राजा लक्ष्मणसिंह ब्रजभाषा के केन्द्र आगरा के निवासी थे, इसलिए उनकी रचनाओं में ब्रजभाषा और काव्य का हलका-सा प्रभाव रहना स्वाभाविक था। उनकी कोई मौलिक रचना नहीं मिलती। उन्होंने संस्कृत के 'रघुवंश' और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' ग्रन्थों का हिन्दी में बड़ा सुन्दर सुललित अनुवाद किया था। इन अनुवादों में पद्य की भाषा ब्रज और गद्य की भाषा खड़ीबोली रही है। यद्यपि ये अनुवाद हैं परन्तु इनमें मौलिक रचना का सा सौंदर्य और शक्ति है। इन अनुवादों द्वारा राजा साहब ने यह सिद्ध कर दिया था कि खड़ीबोली-गद्य में सफलता पूर्वक साहित्यिक रचनाएँ लिखी जा सकती हैं। राजा साहब हिन्दी और उर्दू को दो भिन्न बोलियाँ मानते थे। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग

किए बिना भी हिन्दी सुन्दर ढंग से बोली और लिखी जा सकती है। वह उस भाषा को हिन्दी नहीं मानते थे जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे हों।

ऊपर से देखने पर राजा-साहब की यह भाषा-सम्बन्धी नीति और धारणा साम्प्रदायिक और कट्टर सी प्रतीत होती है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। उनकी भाषा-सम्बन्धी नीति उदार और व्यापक थी। वे भाषा में उन शब्दों का प्रयोग करने के समर्थक थे जो जनता में प्रचलित हो चुके थे। इसी कारण उन्होंने संस्कृत और हिन्दी के तद्भव शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया है। साथ ही जब सन् १८५९ में उन्होंने ह्यूम साहब के साथ सरकारी धारा नम्बर १० का हिन्दी में अनुवाद किया था तो अदालत, कलक्टर, गवाह आदि विदेशी परन्तु जनता में प्रचलित शब्दों को अपनाया था। इस भाषा-नीति को कट्टर या साम्प्रदायिक नहीं माना जा सकता। यह वह नीति है जो भाषा में आदान-प्रदान की प्रवृत्ति उत्पन्न कर उसे अधिक सशक्त और समृद्ध बनाती है। कालान्तर में, भारत के स्वतंत्र हो जाने के उपरान्त जब हिन्दी-शब्दकोश के निर्माण के प्रयत्न आरम्भ हुए थे, डा० रघुवीर ने जनता में प्रचलित शब्दों की उपेक्षा कर संस्कृत की धातुओं के आधार पर जटिल और क्लिष्ट शब्दों का निर्माण किया। इसके विपरीत महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने जनता में प्रचलित शब्दों को ही अपनाने पर बल दिया था। राहुल जी द्वारा अपनाई गई इस भाषा-नीति का प्रवर्त्तन राजा लक्ष्मण सिंह आज से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व कर चुके थे।

हिन्दी की व्यापकता और गद्य का विकास

हिन्दी उस समय लगभग समस्त उत्तर भारत की सामान्य-व्यवहार की भाषा थी। अनेक हिन्दी-भाषी विद्वान् इस तथ्य से अवगत थे। बँगला आदि भाषाएँ अपने-अपने प्रदेशों तक ही सीमित थीं। देश में अंग्रेज शासकों और ईसाई-प्रचारकों के कारण प्रतिक्रिया स्वरूप एक नई युग-चेतना का आविर्भाव हो चुका था। देश, हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति के शुभेच्छु और प्रचारक इस बात को जानते थे कि अपने सिद्धान्तों का देशव्यापी प्रचार करने के लिए हिन्दी ही सर्वाधिक सशक्त माध्यम बन सकती है। इसलिए उन्होंने हिन्दी को अपना कर उसका प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उर्दू में उन्हें इस्लाम, विदेशी-संस्कृति और अंग्रेज-भक्ति की बू आती थी, इसलिए ये लोग उर्दू का कस कर विरोध करते थे। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि उस समय उर्दू अंग्रेज के समर्थन द्वारा ही आगे बढ़ रही थी और अंग्रेज की कूटनीति के कारण वह मुसलमानों की साम्प्रदायिक भाषा बनती जा रही थी। उस समय तक उसमें राष्ट्रीय-भावनाओं का उदय नहीं हो पाया था।

बंगाल में राजा राम मोहन राय ब्राह्म-समाज की स्थापना कर चुके थे। वह यह चाहते थे कि ब्राह्म-समाज का प्रचार सम्पूर्ण देश में हो। साथ भी वे यह भी अनुभव करते थे कि यह कार्य केवल हिन्दी के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने सन् १८१५ में 'वेदान्त सूत्र' का हिन्दी में अनुवाद

किया था और सन् १८१६ में हिन्दी में एक परिपत्र (पैम्फलेट) छपवाया था, जिसमें ब्राह्म-समाज के सिद्धान्तों का प्रतिपादन था। आगे चलकर बाबू नवीनचंद्र राय ने ब्राह्म-समाज का पंजाब में प्रचार करने का प्रयत्न किया। उन्होंने उर्दू का विरोध करते हुए यह प्रचार-कार्य हिन्दी के माध्यम से ही किया। उर्दू के सम्बन्ध में उनका यह मत था कि—"उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियों को कोई लाभ नहीं होगा" क्योंकि "उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त और किसी गम्भीर विषय को व्यक्त करने की क्षमता नहीं।" राय महोदय ने ब्राह्म-समाज का प्रचार करने के लिए सन् १८६७ में 'ज्ञान प्रदायनी' नामक एक पत्रिका हिन्दी में निकाली थी।

बाबू नवीनचन्द्र राय के समय में ही पं० श्रद्धाराम फुलौरी पंजाब में हिन्दू-संस्कृति का प्रचार कर रहे थे। वे उर्दू के भी विद्वान् थे परन्तु उन्होंने अपने अधिकांश ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखे थे। उनके लिखे हुए ग्रन्थों में 'सत्यामृत-प्रवाह', 'आत्म-चिकित्सा', 'धर्म-रक्षा', 'तत्त्व-दीपक', 'उपदेश संग्रह' आदि माने जाते हैं। यद्यपि ये ग्रन्थ धर्म और संस्कृति से ही सम्बन्धित हैं, इसलिए इन्हें विशुद्ध रूप से तो साहित्यिक नहीं माना जा सकता परन्तु हिन्दी-गद्य के विकास में इनका महत्त्वपूर्ण योग रहा है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"श्रद्धाराम का गद्य सुलझा हुआ और प्रौढ़ तो है ही, उसमें कठिन आध्यात्मिक तथ्यों को सरल भाषा में प्रकट कर देने की पूर्ण क्षमता भी है।…वे अपने युग के शक्तिशाली गद्य-लेखक थे।" फुलौरी ने 'भाग्यवती' नामक एक उपन्यास भी लिखा और प्रकाशित कराया था। यह सन् १८७३ में प्रकाशित हुआ था और जनता में बहुत लोक-प्रिय रहा था। डा० द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी-साहित्य' में इसका उल्लेख किया है। इस प्रकार 'भाग्यवती' को हिन्दी का सबसे पहला उपन्यास मानना चाहिए।

इसी युग में रामप्रसाद त्रिपाठी, मथुरा प्रसाद मिश्र, बिहारीलाल चौबे, शिवशंकर, काशीनाथ खत्री, रामप्रसाद दुबे आदि ने हिन्दी-गद्य में अनेक प्रकार के ग्रन्थ लिखे जिनमें पाठ्य-पुस्तकें, अंग्रेजी से अनुवाद आदि विभिन्न प्रकार की पुस्तकें थीं। आगे चलकर जब स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ में आर्य-समाज की स्थापना की तो उन्होंने भी इसके प्रचार के लिए हिन्दी-गद्य को ही माध्यम बनाते हुए अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिन्दी में ही लिखा। इस प्रकार इस युग में हिन्दी-गद्य का पर्याप्त विकास और प्रचार होता रहा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस संक्रान्ति-काल में खड़ीबोली हिन्दी केवल गद्य का ही माध्यम बनी रही। उसमें पद्य का प्रस्फुटन न हो सका। पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही। इसका कारण यह था कि नया युग अपनी अभिव्यक्ति के लिए गद्य-माध्यम को ही सर्वाधिक उपयुक्त साधन मानता था। यह युग सांस्कृतिक-आन्दोलन और नई शिक्षा-पद्धति में हिन्दी और नागरी लिपि को उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न कर रहा था। इसके लिए प्रचार और वाद-विवाद की आवश्यकता थी

और यह कार्य गद्य के माध्यम से ही अधिक अच्छी तरह किया जा सकता था, और किया भी गया। पाठ्य-क्रमों में नए-नए विषयों का समावेश हुआ था और उनके लिए गद्य में ही पुस्तकें लिखी जा सकती थीं। इन्हीं सब कारणों से इस काल में गद्य की ही प्रधानता बनी रही।

राष्ट्रीय भावना का उदय

इस युग से पूर्व ही देश में राष्ट्रीय-भावना का उदय हो चुका था। भारत के जागरूक साहित्यकार और जन-नेता अंग्रेज के घातक रूप को समझ गए थे। पद्माकर ने अंग्रेज को भारत से निकाल बाहर करने के लिए महाराज सिन्धिया को उद्‌बोधन दिया था। ग्वाल कवि के भी अनेक ऐसे पद मिलते हैं जिनमें अंग्रेज को भारत का शत्रु घोषित किया गया है। उस समय उर्दू कविता में भी अंग्रेज-विरोध का यह स्वर उभरता हुआ मिलता है। जिन राजाओं, नबावों, सामन्तों आदि ने अंग्रेज की गुलामी स्वीकार कर ली थी, उर्दू के तत्कालीन शायरों ने उन्हें गद्दार और देशद्रोही कहा है। इसी कारण क़ायम नामक एक उर्दू शायर ने मुगल-बादशाह शाह आलम को 'जिल्ले-अली' के स्थान पर 'जिल्ले शैतान' कहा था। इन उर्दू-शायरों ने भी उस सत्य को पहचाना था जिसे आगे चलकर भारतेन्दु ने यह कहकर अभिव्यक्ति प्रदान की थी कि—"पै धन विदेश चलि जात, यहै अति ख्वारी।" बिलकुल यही बात मुसहफी नामक एक उर्दू शायर ने कही थी—

> **'हिन्दोस्तां की दौलत ब हशमत जो कुछ कि थी।**
> **जालिम फिरंगियों ने बतदबीर खींच ली।।'**

—कौमी शायरी के सौ साल

राजस्थान के बाँकीदास (सम्वत् १८२८–१८९०) और मीसण सूरजमल (सम्वत् १८७२–१९२५) जैसे कवियों ने मराठों, टीपू सुल्तान, भरतपुर-नरेश राजा सूरजमल की इसलिए प्रशंसा की थी क्योंकि इन्होंने अंग्रेज के खिलाफ युद्ध लड़े थे। इन कवियों ने उन देशी राजाओं की निन्दा की थी जिन्होंने अंग्रेज की गुलामी स्वीकार कर ली थी या उसकी सहायता करते थे। नारायणसिह भाटी ने 'गोरा हट जा' नामक ग्रन्थ में बाँकीदास के एक पद्य का भावार्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"अंग्रेज नाम का शैतान हमारे देश पर चढ़ आया है। देश के जिस्म की सारी चेतना को उसने अपने खूनी अधरों से सोख लिया है। इसके पहले धरती के स्वामियों ने मर कर भी धरती को दुश्मन के हवाले नहीं किया था। और आज यह स्थिति आ गई है कि धरती के स्वामी जिन्दा हैं और धरती उनके हाथ से चली गई है। दुश्मन की फौजों को सामने देखकर भी उन्होंने अपनी फौजों को तैयार नहीं किया।....देश और जननी की रक्षा करना किसी जाति-विशेष की बपौती नहीं है।

आज देश में भयंकर आपत्ति आई हुई है। अरे, तुम मनुष्य हो, कोई तो मनुष्यता दिखाओ, देश की आजादी के लिए क्या हिन्दू और क्या मुसलमान !"[1]

इस प्रकार ईसा की उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में ही भारत में अंग्रेज-विरोधी भावना प्रबल रूप धारण कर गई थी। देश में सर्वत्र असन्तोष, क्षोभ और क्रोध का वातावरण बन रहा था। और उसी का भयंकर विस्फोट हमें सन् १८५७ की प्रथम राज्य-क्रान्ति के रूप में दिखाई पड़ा था। ये तथ्य उन लोगों की आँखें खोल देने के लिए पर्याप्त हैं जो यह समझते रहे हैं कि अंग्रेजों ने भारत में आ, अराजकता को दूर कर शान्ति की स्थापना की थी, देश को एक सूत्र में आबद्ध कर यहाँ एक राष्ट्र की भावना को जन्म दिया था, हिन्दी-गद्य का विकास किया था, और न जाने भारत के कल्याण के लिए क्या-क्या किया था। हमें आश्चर्य है कि डा० रामरतन भटनागर जैसे सुधी आलोचक इस निष्कर्ष पर कैसे पहुँच गए कि—"उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अथवा प्रथम महायुद्ध तक भारतीय राजनीतिक चेतना ब्रिटिश राज्य को वरदान समझती रही। कुछ विशेष वर्ग राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का स्वप्न अवश्य देखते रहे परन्तु विदेशी सत्ता के प्रति सार्वभौम शत्रुता की भावना जन्म न ले सकी।"

यह निष्कर्ष इतिहास के अधूरे और एकांगी अध्ययन का ही परिणाम है। अंग्रेजी-राज्य को जनता का केवल वही वर्ग वरदान समझता रहा था जो अंग्रेजी-नौकरी, अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी संस्कृति से प्रभावित था या वे राजा, जमींदार और सामन्त जो अपनी सुरक्षा की सारी चिन्ता अंग्रेज पर छोड़ विलास और वैभव का जीवन बिताते थे। और इस वर्ग की संख्या एक प्रतिशत भी नहीं थी। शेष निन्नानवे प्रतिशत जनता अपमान, कष्ट, शोषण, उत्पीड़न का ही जीवन बिताती रही थी।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का उदय ऐसी ही विषम परिस्थितियों में हुआ था। इसी कारण हमें उसमें राष्ट्रीय चेतना का स्वर सबसे ऊपर उठा हुआ सुनने को मिलता है। वह स्वर कभी सांस्कृतिक-सामाजिक सुधारों के रूप में प्रकट हुआ है, कभी स्पष्ट विद्रोह के रूप में, और कभी प्रच्छन्न साहित्यिक रूप धारण कर व्यंजना और लक्षणा के माध्यम से उभरा है। सर्वत्र उसकी मूल-चेतना राष्ट्रीय ही रही है। इसी पृष्ठभूमि को न समझ पाने के कारण अनेक आलोचकों को भारतेन्दु-कालीन साहित्य में अंग्रेज के प्रति राज-भक्ति का स्वर सुनाई पड़ता रहा है। हमने इसे ही स्पष्ट करने के लिए इतने विस्तार के साथ इस पृष्ठभूमि का विवेचन करना आवश्यक समझा।

हिन्दी-उर्दू का झगड़ा और अंग्रेज की भूमिका

यहाँ इस विषय को समाप्त करने से पूर्व हमें उस काल में उठ खड़े हुए हिन्दी-

---

१. भारतेन्दु युग : पुनर्मूल्यांकन (साहित्य-परिचय)—डा० भगवानदास माहौर, से उद्धृत।

उर्दू के झगड़े और उसके सम्बन्ध में अंग्रेज-शासक द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण को तनिक विस्तार के साथ समझ लेना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में इसका अत्यन्त सुलझा हुआ सन्तुलित विवेचन किया है। आज हिन्दी-उर्दू का झगड़ा पुनः उठ खड़ा हुआ है। यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि उर्दू किसी प्रदेश-विशेष की भाषा नहीं है। वह एक नागरिक वर्ग-विशेष की भाषा है जो उत्तर-भारत के कुछ प्रदेशों में बिखरा हुआ है। इस वर्ग में हिन्दू-मुसलमान—दोनों ही हैं परन्तु अधिक संख्या मुसलमानों की ही है। इस प्रकार इसे मुसलमानों की भाषा ही माना जाना चाहिए। उत्तर-भारत में हिन्दी-उर्दू के झगड़े की बात जब भी उठी है, साम्प्रदायिक-स्तर पर ही उठी है। जब अंग्रेज यहाँ था तब वह मुसलमानों को उकसा कर इस झगड़े को उठाया करता था और आज अंग्रेजी-भक्त भारतीय अंग्रेजी को सदैव के लिए यहाँ की राज-काज की और शिक्षा की भाषा बनाए रखने के लिए इस झगड़े को उकसाते रहते हैं। जब कभी भी हिन्दी को राज-काज और शिक्षा की भाषा बनाने की माँग जोर पकड़ती है, उर्दू सदैव उसका विरोध करने के लिए उकसा दी जाती है। अस्तु,

उस संक्रान्ति-काल में भी हिन्दी-उर्दू का यह झगड़ा पूरे जोर पर था। अंग्रेज प्रत्यक्ष रूप से उर्दू का समर्थन और हिन्दी का विरोध करता था। लल्लूजीलाल ने अंग्रेज की प्रेरणा से ही 'बैताल पचीसी' की भाषा उर्दू-प्रधान रखी थी और राजा शिवप्रसाद लल्लूजीलाल के 'प्रेमसागर' के हिन्दी-गद्य को अव्यावहारिक मान 'बैताल पचीसी' में प्रयुक्त उर्दू-प्रधान हिन्दी-गद्य को ही गद्य का व्यावहारिक और आदर्श रूप मानते थे। राजा शिवप्रसाद का व्यक्तित्व बड़ा विचित्र रहा है। वे एक ओर तो शुद्ध हिन्दी-गद्य लिखते और उसका संकलन करते दिखाई पड़ते हैं, और दूसरी ओर उर्दू-प्रधान-गद्य लिखते और उसका कट्टर समर्थन करते मिलते हैं। उन्होंने सन् १८६४ के लगभग हिन्दी-गद्य का एक संकलन, पाठ्य-क्रम के लिए, 'गुटका' नाम से प्रकाशित कराया था। इसमें उन्होंने स्वलिखित 'राजा भोज का सपना', इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' और राजा लक्ष्मणसिह के 'शकुन्तला नाटक' का बहुत सा अंश रखा था।

फ्रांस की राजधानी पेरिस में बैठे हुए तासी साहब भारत में उर्दू-प्रचार की जबर्दस्त हिमायत कर रहे थे। भारत में उत्तर-प्रदेश के शिक्षा-विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष हैवल ने सन् १८६८ में यह मत व्यक्त किया था कि—"यह अधिक अच्छा होता यदि हिन्दू-बच्चों को उर्दू सिखाई जाती, न कि एक ऐसी 'बोली' में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अन्त में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।" कहना न होगा कि यहाँ 'बोली' से हैवल का आशय 'हिन्दी' से ही था।

परन्तु इंगलैंड में एक ऐसा समझदार अंग्रेज भी था जो साम्राज्यवादी कुत्सित घिनौने प्रभाव से मुक्त सत्य-द्रष्टा था। जो यह जानता था कि भारत की परम्परागत-भाषा हिन्दी ही है, न कि उर्दू। और ये उदारमना सज्जन थे फ्रेडरिक

पिन्काट। पिन्काट संस्कृत, हिन्दी और उर्दू—तीनों भारतीय भाषाओं के विद्वान् और प्रेमी थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि भारत की परम्परागत भाषा हिन्दी ही है। वे इंगलैंड में रहकर ही हिन्दी में लेख लिखते रहते थे। और साथ ही इंगलैंड के समाचार-पत्रों में अंग्रेजी में लेख लिख-लिख कर वहाँ वालों को हिन्दी की प्रगति, हिन्दी के साहित्यकारों आदि से परिचित कराते रहते थे। इसके लिए वे तत्कालीन हिन्दी-साहित्यकारों—राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, कार्तिक प्रसाद खत्री आदि से निरन्तर पत्र-व्यवहार करते रहते थे। शुक्लजी के अनुसार—"उस समय के प्रत्येक हिन्दी-लेखक के घर में पिन्काट साहब के दो-चार पत्र मिलेंगे।" राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा रचित 'शकुन्तला नाटक' की भाषा को देख वे बहुत प्रसन्न हुए थे और उन्होंने उसका एक सुन्दर परिचय लिखा था। शुक्ल जी के अनुसार—पिन्काट महोदय भारत के निवासियों पर उर्दू जैसी विदेशी प्रवृत्ति और रूप-रंग की भाषा का लादा जाना अनुचित समझते थे। पिन्काट साहब का भारतीय परिप्रेक्ष्य में उर्दू-सम्बन्धी दृष्टिकोण उनकी उस भूमिका से स्पष्ट हो जाता है जो उन्होंने बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री द्वारा सम्पादित 'खड़ीबोली का पद्य' नामक पुस्तक में लिखी थी। उसका एक अंश शुक्लजी ने इस प्रकार उद्धृत किया है—

"फारसी-मिश्रित हिन्दी (अर्थात् उर्दू या हिन्दुस्तानी) के अदालती भाषा बनाए जाने के कारण उसकी बड़ी उन्नति हुई। इससे साहित्य की एक नई भाषा ही खड़ी हो गई। पश्चिमोत्तर प्रदेश (आधुनिक उत्तर-प्रदेश) के निवासी, जिनकी यह भाषा कही जाती है, इसे एक विदेशी भाषा की तरह स्कूलों में सीखने के लिए विवश किए जाते हैं।"

आचार्य शुक्ल का मत इस सम्बन्ध में बिलकुल स्पष्ट और खरा रहा है। वे संस्कृत-प्रधान हिन्दी को ही देश की परम्परा के अनुरूप और भारत की भाषा-गत प्रकृति के अनुकूल भाषा मानते थे। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण इस प्रकार रहा है—

"कुछ अंग्रेज विद्वान् संस्कृतगर्भित हिन्दी की हँसी उड़ाने के लिए किसी अंग्रेजी वाक्य में उसी मात्रा में लैटिन के शब्द भर कर पेश करते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि अंग्रेजी का लैटिन के साथ मूल सम्बन्ध नहीं है; पर हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाएँ संस्कृत के ही कुटुम्ब की हैं—उसी के प्राकृतिक रूपों से निकली हैं। इन आर्य भाषाओं का संस्कृत के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन भाषाओं के साहित्य की परम्परा को भी संस्कृत-साहित्य की परम्परा का विस्तार कह सकते हैं। देश-भाषा के साहित्य को उत्तराधिकार में जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य के कुछ संचित शब्द मिले हैं, उसी प्रकार विचार और भावनाएँ भी मिली हैं। विचार और वाणी की धारा से हिन्दी अपने को विच्छिन्न कैसे कर सकती थी?"

और हिन्दी की वही परम्परागत अविच्छिन्न धारा इस संक्रान्ति-काल में गद्य का माध्यम ग्रहण कर, सम्पूर्ण प्रतिरोधी शक्तियों से लोहा लेती हुई, अपनी आन्तरिक प्राणशक्ति—जन-चेतना—के बल पर आगे बढ़ रही थी।

भारतेन्दु का उदय और हिन्दी-साहित्य का बहुमुखी विकास

नए साहित्यिक युग का आरम्भ

सन् १८५० में, काशी में, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रूप में एक ऐसी महान् साहित्यिक प्रतिभा का उदय हुआ, जिसने हिन्दी-साहित्य की धारा को एक नई दिशा की ओर मोड़ उसे बहुमुखी बना दिया। पद्माकर और भारतेन्दु के मध्य का काल अस्फुट राष्ट्रीय चेतना, भाषा-संघर्ष, सामाजिक-सुधार आदि का काल रहा था। उसमें ये नवीन प्रवृत्तियाँ उभरी अवश्य थीं परन्तु सुदृढ़, सुष्ठु, प्रभावशाली साहित्यिक माध्यम न प्राप्त कर सकने के कारण उनका रूप प्रभावशाली और मार्मिक नहीं बन सका था। वस्तुत: उस युग में इस नए युग की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। और भारतेन्दु ने अपने समकालीन साहित्यकारों का संगठन और पथ-प्रदर्शन कर उस नवीन चेतना को साहित्यिक माध्यम प्रदान कर इस नए साहित्यिक युग का आरम्भ किया था। इसी कारण आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु की जन्म-तिथि से ही आधुनिक युग का आरम्भ माना था।

भारतेन्दु का संक्षिप्त परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म सन् १८५० में काशी के एक सम्भ्रान्त-सम्पन्न वैश्य-परिवार में हुआ था। उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र स्वयं एक अच्छे कवि और कवि-प्रेमी व्यक्ति थे। बालक हरिश्चन्द्र का लालन-पालन ऐसे ही साहित्यिक वातावरण में हुआ था और इस वातावरण ने उनमें साहित्यिक-अभिरुचि का बीज-वपन कर दिया था। वह बचपन से ही कविता लिखने लगे थे। १५ वर्ष की अवस्था में वे अपने परिवार के साथ जगन्नाथपुरी की यात्रा पर गए और वहीं उनका परिचय बँगला-साहित्य के नए रूप से हुआ। उस किशोर को बँगला-साहित्य के बहुमुखी विकास, नई साहित्यिक-विधाओं, विभिन्न प्रकार के ज्ञान से समृद्ध विविध ग्रन्थों ने बहुत प्रभावित किया। उसने अनुभव किया कि हिन्दी-साहित्य इसकी तुलना में दरिद्र है। वहाँ से यह गुप्त प्रेरणा लेकर भारतेन्दु घर लौट आए और प्राणपण से हिन्दी-साहित्य के विकास और सम्वर्द्धन में जुट गए।

भारतेन्दु जन्म से सम्पन्न, स्वभाव से उन्मुक्त और मनमौजी, बुद्धि से अत्यन्त जागरूक और सूक्ष्म द्रष्टा तथा हृदय से पूर्ण सम्वेदनशील व्यक्तित्व वाले व्यक्ति थे। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व को नि:शेष कर हिन्दी भाषा और साहित्य को उन्नत, समृद्ध और बहुमुखी बनाना था, उसे नवीन राष्ट्रीय चेतना से सम्पृक्त करना था। अपनी इसी एकान्त साहित्य-निष्ठा के कारण वे अपने समय में सम्पूर्ण साहित्यिक गति-विधियों के केन्द्र और प्रेरक बन गए थे। उनके यहाँ साहित्य-साधकों की भीड़ लगी रहती थी। गोष्ठियाँ जमती थीं, व्याख्यान दिए जाते थे, साहित्यिक रूपों और समस्याओं पर विचार-विमर्श होता था। और भारतेन्दु इन

सब गतिविधियों के आयोजक और संचालक बने रहते थे। भारतेन्दु की इसी विशेषता और महत्त्व का आकलन डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बड़े मार्मिक शब्दों में किया है। उन्होंने लिखा है—

"उनकी सफलता का दूसरा रहस्य है, उनकी अपूर्व दान-शीलता। दानशीलता से मेरा मतलब रुपया-पैसा लुटाने से नहीं है।····लुटाने से अभिप्राय है, अपना सर्वोत्तम लुटाना। दाता का प्रधान लक्षण है कि उसके इर्द-गिर्द ग्रहीता स्वयं जुटते हैं और विशेषता यह है कि स्वयं आकृष्ट ग्रहीता आगे चलकर महादानी बन जाते हैं। दातृत्त्वशक्ति शायद संक्रामक रोग है। जो व्यक्ति अपने सम्पूर्ण रस को निःशेष भाव से देता है, उसके इर्द-गिर्द ऐसे लोग आकृष्ट होते हैं, जो अपनी सम्पूर्ण सत्ता को हँसते-हँसते लुटा देने में आनन्द पाते हैं। भारतेन्दु की अपूर्व दातृत्त्वशक्ति ने उनके इर्द-गिर्द महान् साहित्यकारों को खींच लिया था। इस महान् सूर्य को घेर कर अनेक दीप्यमान ग्रहमंडली स्वयं उपस्थित हो गई थी। इन कवियों और साहित्यकारों ने हमारी भाषा को अपने हृदय का सम्पूर्ण रस उँडेलकर दे दिया। भाषा बद्ध अवस्था से मुक्त हो गई। जीवन के प्रवाह की अवरोधक शक्ति हट जाना ही पर्याप्त है, जीवन आगे का रास्ता स्वयं बना लेता है। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने अपने-आप को देकर उस बाधा को दूर कर दिया।"

भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के इस अपूर्व बलिदान ने ही आधुनिक साहित्य के उस भवन की पहली मंजिल का निर्माण किया था, जिस पर कालान्तर में अनेक भव्य मंजिलों का निर्माण होता चला गया।

भारतेन्दु ने काव्य, नाटक, निबन्ध आदि लिखे। अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और सम्पादन किया। उनका सारा समय और सम्पूर्ण शक्ति साहित्य-रचना और साहित्य-प्रचार में ही लगी रहती थी। शक्ति की अपनी एक सीमा होती है। जब उसका सीमा से बाहर व्यय होने लगता है तो वह शीघ्र ही दम तोड़ देती है। भारतेन्दु ने भी अपनी सृजन-शक्ति का सीमा से बाहर उपयोग किया था। अल्पकाल में ही इतने विशाल और बहुमुखी साहित्य का सृजन कर डाला था कि प्रकृति सीमित शक्ति के प्रति किए गए इस अनाचार को सह न सकी और केवल ३४ वर्ष की अल्पवय में—सन् १८८४ में भारतेन्दु का निधन हो गया, क्योंकि अनवरत परिश्रम ने उनके शरीर को तोड़ डाला था।

साहित्यिक रचनाएँ

भारतेन्दु के महत्त्व को समझने के लिए पहले हमें उनके रचे विशाल साहित्य का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। उनके रचे साहित्य की तालिका इस प्रकार है—

मौलिक नाटक—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चन्द्रावली नाटिका, विषस्य-विषमौषधम्, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अन्धेर नगरी, प्रेम जोगिनी, सती प्रताप, दुर्लभ-बन्धु।

अनूदित नाटक—विद्या सुन्दर, पाखंड विडम्बन, धनंजय विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस , सत्य-हरिश्चन्द्र, भारत-जननी ।

काव्य संग्रह—प्रेम-माधुरी, प्रेम फुलवारी, प्रेम मालिका, प्रेम प्रलाप (व्रजभाषा); फूलों का गुच्छा—(खड़ीबोली) ।

पत्रिकाएँ—कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन, बाला बोधिनी, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका आदि । इन्हीं पत्रिकाओं में इनके निबन्ध, टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित होते रहते थे ।

भारतेन्दु ने अपने उपर्युक्त विशाल साहित्य का निर्माण कर हिन्दी में अनेक नवीन विधाओं का द्वार उन्मुक्त कर दिया था । यहाँ यह द्रष्टव्य है कि भारतेन्दु साहित्य में नाटकों की संख्या ही सबसे अधिक है । इससे पूर्व हिन्दी में दो-चार नाटक ही लिखे गए थे जिनमें प्राचीन पौराणिक गाथाओं का हो व्रजभाषा के माध्यम से अंकन किया गया था और उनमें पद्य की ही प्रधानता रहती थी । परन्तु भारतेन्दु ने नाटक के सामाजिक महत्त्व और समाज पर पड़ने वाले उनके प्रभाव का अनुभव कर नाटक को ही अपनी चेतना और भावना की अभिव्यक्ति का सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम समझा । इसके लिए उन्होंने संस्कृत में रचित विभिन्न प्रकार के नाटकों को ही अपना आधार बनाया, यद्यपि वे बँगला नाटक-साहित्य द्वारा पाश्चात्य नाट्य-रचना-पद्धति से भी परिचित हो चुके थे ।

नाटक : जन-चेतना का सर्वाधिक सशक्त माध्यम

भारतेन्दु के समय तक कविता इतनी रूढ़िग्रस्त हो चुकी थी कि उसे नए युग की नई चेतना का माध्यम बनाया जा सकता था । उस समय तक उपन्यास, कहानी जैसे सशक्त माध्यमों का रूप नहीं उभर पाया था । इसलिए नाटक ही इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपादेय माध्यम बनने की क्षमता रखता था । अपने इन नाटकों द्वारा भारतेन्दु ने अपने कई उद्देश्य पूरे किए थे । उन्होंने 'चन्द्रावली नाटिका' की रचना कर प्रेम और भक्ति का एक नया आदर्श प्रस्तुत किया था । 'भारत-दुर्दशा' द्वारा अंग्रेज के राज्य में होने वाली देश की दुर्दशा का मार्मिक और साथ ही ऐसा रोचक चित्रण इतने साहित्यिक कौशल के साथ किया था कि उन्हें राजद्रोही सिद्ध कर देना अत्यन्त दुष्कर कार्य था । 'विषस्यविषमौषधम्' में उन्होंने देशी रजवाड़ों की कुचक्रपूर्ण, पतित स्थिति का अंकन कर अंग्रेज के गुलाम बने देशी राजाओं पर सशक्त परन्तु प्रच्छन्न प्रहार किया था । 'प्रेमजोगिनी' में धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में व्याप्त पाखंड का पर्दाफाश किया था । उन्होंने इसी प्रकार अपने अन्य नाटक भी किसी-न-किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही लिखे थे । शैली की दृष्टि से उन्होंने अपने नाटकों को प्राचीन भारतीय नाट्य-परम्परा के निकट ही रखा परन्तु उसकी जटिलताओं से उन्हें बचा ले गए । पाश्चात्य-प्रभाव को भी उन्होंने आंशिक रूप में ही स्वीकार किया । यह हिन्दी नाटकों का आरम्भिक युग था और प्रसाद से पूर्व तक

हिन्दी में लिखे गए नाटक भारतेन्दु के इस मध्यम और सरल मार्ग का ही अनुसरण करते रहे ।

पत्रकारिता और निबन्ध

भारतेन्दु अपनी समकालीन विभिन्न सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक आदि समस्याओं पर गम्भीर और चलती हुई चुलबुली शैली में निबन्ध और टिप्पणियाँ लिखा करते थे । 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में प्रकाशित उनका एक लेख 'पाँचवें पैगम्बर' बहुत दिनों तक अत्यन्त लोकप्रिय बना रहा था । इन्होंने 'नाटक' नामक एक विस्तृत निबन्ध लिखा था । इस निबन्ध की भाषा और शैली इतनी प्रौढ़, परिमार्जित, गठी हुई और गम्भीर थी कि डा० श्यामसुन्दरदास को यह सन्देह हो गया था कि यह निबन्ध भारतेन्दु का लिखा हुआ नहीं है । इस सन्देह का कारण यह था कि इस निबन्ध की भाषा और शैली उनके नाटकों में प्रयुक्त चुलबुली, हास्य-व्यंग्य से आपूरित, सरल भाषा-शैली से नितान्त भिन्न थी । यह इस बात का प्रमाण है कि भारतेन्दु का सरल और गम्भीर—दोनों प्रकार की भाषा-शैलियों पर अबाध अधिकार था । उनके निबन्धों में वाग्वैचित्र्य या चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति न मिलकर, सर्वत्र भावों का मार्मिक अंकन ही प्रधान रहा है । इस प्रकार भारतेन्दु को हिन्दी-निबन्धों का जनक माना जा सकता है ।

भारतेन्दु की भाषा-नीति

भारतेन्दु की हिन्दी 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' मानी जाती है, उसी प्रकार, जैसे आगे चलकर प्रेमचन्द द्वारा अपनाई गई शैली वाली भाषा को 'प्रेमचन्दी हिन्दी' या 'हिन्दुस्तानी' कहा गया था । इसका अर्थ यह हुआ कि भारतेन्दु ने हिन्दी-गद्य को एक नया रूप प्रदान किया था । वह राजा शिवप्रसाद की उर्दू-प्रधान और राजा लक्ष्मण-सिंह की संस्कृत-प्रधान गद्य-शैली की अतिशयता के मध्य एक ऐसे मध्यम मार्ग का निर्माण कर रहे थे जो जन-भाषा और जन-जीवन के साथ सटा हुआ चल रहा था । भारतेन्दु ऐसी गद्य-शैली का प्रचार करना चाहते थे जिसे जनता अपनी समझे । उन्होंने अपनी पत्रिका 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' द्वारा ऐसी ही गद्य-शैली का प्रवर्त्तन किया था । शुक्लजी के शब्दों में—"हिन्दी-गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले-पहल इसी चन्द्रिका में प्रकट हुआ । जिस प्यारी हिन्दी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ ।" यह नई, सुधरी हुई हिन्दी का रूप था । भारतेन्दु ने स्वयं इसी समय से नई हिन्दी का आरम्भ हुआ मानते हुए लिखा था—"हिन्दी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई० ।"

इस नई हिन्दी के मूल में भारतेन्दु की वह भाषा-नीति छिपी हुई थी जो हिन्दी को गद्य और पद्य—दोनों रूपों में, समृद्ध, युगानुरूप और सशक्त बनाने की आंकाक्षी थी । इसके द्वारा वे नए युग की नई चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करना चाहते थे । और इसके लिए साधारण हल्के-फुल्के विषयों के लिए सरल और हल्की-

फुल्की भाषा-शैली की तथा गम्भीर विषयों के लिए प्रौढ़ और गम्भीर भाषा-शैली की जरूरत थी। भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी की यही दो प्रकार की शैलियाँ प्रस्तुत की थीं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि हिन्दी-उर्दू का झगड़ा उस समय भी चल रहा था। परन्तु भारतेन्दु एवं उनके साथियों ने इस झगड़े में प्रत्यक्ष कोई भाग न लेकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति और सामर्थ्य हिन्दी-भाषा, विशेष रूप से, हिन्दी-गद्य को उन्नत, सशक्त और समृद्ध तथा बहुमुखी बनाने में लगा दी थी। उर्दू की हिन्दी से प्रतिद्वन्द्विता केवल गद्य के क्षेत्र में ही थी, पद्य के क्षेत्र में नहीं। इसी कारण इन लोगों ने अपना सारा ध्यान गद्य का परिष्कार करने पर ही केन्द्रित कर दिया था।

पद्य का रूप

भारतेन्दु ने पद्य की भाषा ब्रजभाषा को ही स्वीकार कर लिया था, यद्यपि उनके समय में खड़ीबोली में भी कविता लिखी जाने लगी थी। इसका प्रमाण यह है कि भारतेन्दु से पूर्व ही बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री 'खड़ीबोली का पद्य' नामक एक संग्रह कर चुके थे जिसकी भूमिका फ्रेडरिक पिन्काट ने लिखी थी। परन्तु फिर भी पद्य के क्षेत्र में खड़ी-बोली लोकप्रिय नहीं हो पाई थी। उस युग के लगभग सभी लेखक गद्य खड़ीबोली में लिखते थे और पद्य ब्रजभाषा में। भारतेन्दु के नाटकों में हमें यही रूप मिलता है। लेकिन भारतेन्दु के समय में ही खड़ीबोली लोकगीतों, ख्याल, लावनी आदि तथा आर्य समाजी और ईसाई-प्रचारकों के भजनों के रूप में काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करने लगी थी। इन काव्य-रूपों के माध्यम से खड़ीबोली-पद्य जनता में लोकप्रिय बनता जा रहा था। युग-द्रष्टा भारतेन्दु भी इस तथ्य से अवगत थे। और उन्होंने स्वयं खड़ीबोली पद्य में कुछ रचनाएँ लिखकर इस लोकप्रियता का समर्थन किया। उनकी खड़ीबोली में रचित कविताओं का एक संग्रह 'फूलों का गुच्छा' नाम से प्रकाशित हुआ था। उसी समय पं० प्रतापनारायण मिश्र का 'मन की लहर' नामक खड़ीबोली कविताओं का भी एक संग्रह प्रकाशित हुआ था। और भारतेन्दु के निधन के लगभग दो वर्ष पश्चात् सन् १८८६ में पं० श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' नामक अपने खड़ीबोली-पद्य में लिखे ग्रन्थ द्वारा खड़ीबोली-पद्य के विकास की सम्भावनाओं को बहुत कुछ उजागर कर दिया था। और इसका सम्पूर्ण श्रेय भारतेन्दु को ही था।

खड़ीबोली की माँग

परन्तु फिर भी उस समय खड़ीबोली पद्य के लिए सरल और स्वाभाविक भाषा नहीं बन पाई थी। नए युग की नई माँग कि—गद्य और पद्य खड़ीबोली में ही लिखा जाना चाहिए—भारतेन्दु जैसे युग-द्रष्टा साहित्यकारों को उद्वेलित करती रहती थी। भारतेन्दु ने उसी माँग को पूरा करने के लिए खड़ीबोली में काव्य-रचना करने का प्रयत्न किया था। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उन्होंने १ सितम्बर, सन् १८८१ में खड़ीबोली में लिखकर कुछ पद 'भारत-मित्र' में प्रकाशनार्थ भेजे थे और

उनके साथ ही सम्पादक के नाम एक पत्र भी लिखा था, जिसका एक अंश इस प्रकार था—

"प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी है। देखिएगा इसमें क्या कसर है...तीन भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने के लिए कि किस छन्द में इस भाषा (खड़ीबोली) का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ।"

भारतेन्दु ने अनेक बार खड़ीबोली में कविता लिखने का प्रयत्न किया परन्तु अपनी इन रचनाओं से उन्हें सन्तोष न हो सका। और अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—"मैंने कई बार परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कुछ कविताएँ बनाएँ पर मेरे चित्तानुसार नहीं बनीं।"

ब्रजभाषा का प्राधान्य

भारतेन्दु के उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय में खड़ीबोली पद्य की स्वाभाविक भाषा नहीं बन पाई थी। पद्य की प्रधान भाषा ब्रजभाषा ही थी। इसीलिए भारतेन्दु तथा उनके अन्य सहयोगी साहित्यकारों ने ब्रजभाषा में ही कविताएँ लिखी थीं। परन्तु उस समय तक ब्रजभाषा-काव्य का जो रूप बन चुका था वह अत्यन्त रूढ़िबद्ध, रूढ़िप्रिय अतः अगतिशील रूप धारण कर गया था। उसके प्राचीन संस्कार यथावत् बने हुए थे। उसमें सदियों पुराने और अप्रचलित शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग होता था और शब्दों को खूब तोड़ा-मरोड़ा जाता था। संक्षेप में, उसका रूप वही था जो शृंगार-कालीन काव्य में चरम-विकास पर पहुँच आगे विकास करने में असमर्थ हो चुका था। भारतेन्दु ने इस स्थिति को पहचाना और ब्रजभाषा-काव्य की भाषा का संस्कार करना आरम्भ कर दिया। साहित्य में नए-नए विषयों का समावेश हो रहा था, इसलिए इन नए विषयों के अभिव्यक्तीकरण के लिए भारतेन्दु को ब्रजभाषा का संस्कार करना पड़ा। उन्होंने राजनीति, सामाजिक-सुधार, भाषा-आन्दोलन, विधि-विडम्बना, बुढ़ापा, गोरक्षा, सपूत-कपूत आदि विभिन्न नए विषयों पर छोटे-छोटे पद्यात्मक निबन्ध लिखने आरम्भ किए जो प्राचीन 'प्रबन्ध' और 'मुक्तक' की प्रणाली से भिन्न थे।

भावपक्ष का विस्तार

भारतेन्दु ने अपने विभिन्न नाटकों में तो ब्रजभाषा की कविताएँ लिखी ही हैं, साथ ही स्वतंत्र रूप से भी अनेक कविताएँ लिखी थीं। जहाँ तक उनकी शृङ्गार, भक्ति, प्रकृति-चित्रण आदि विषयों से सम्बन्धित कविताओं का प्रश्न है, उनमें शृंगार-कालीन काव्य-परम्परा का पालन हुआ मिलता है। इनमें काव्य-रूप तो वही पुराना रहा है परन्तु भाषा में संस्कार की प्रवृत्ति मिलती है। ब्रजभाषा का रूप अधिक सरल,

शब्दों का रूप अविकृत रहा है। यह भाषा-संस्कार भारतेन्दु की ही देन है। जहाँ उन्होंने नए विषयों का स्पर्श किया है, वहाँ उनका ब्रजभाषा-काव्य पूर्व काव्य-परम्परा से नितान्त भिन्न और विशिष्ट दिखाई पड़ता है। वस्तुतः ब्रजभाषा-काव्य में भाव-पक्ष का विकास भारतेन्दु के काव्य में ही आकर हुआ। भाव-पक्ष के इस विकास के कारण काव्य में नूतन भावनाओं का समावेश हुआ जिनमें देश-भक्ति का स्वर सबसे ऊँचा और व्यापक था। भारतेन्दु उत्कट देश-प्रेमी थे। सामाजिक सुधार, भाषा-आन्दोलन, धर्म का पुनरुद्धार, स्वदेशी और राष्ट्रीयता की भावना, उर्दू का विरोध और हिन्दी का प्रचार आदि सभी उनकी देशभक्ति के ही अंग थे। स्वदेश के अतीत का गौरव-गान, दलित-पीड़ित देश-दशा की मार्मिक अभिव्यक्ति, भारतीयों की किसी नगण्य सी उपलब्धि पर हर्षोन्मत्तता आदि इसी के विभिन्न रूप थे। शुक्लजी ने भारतेन्दु की इसी देशभक्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"नवीन धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था। नीलदेवी, भारत-दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं में देश-दशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही; बहुत सी स्वतंत्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं जिनमें कहीं देश की अतीत गौरव-गाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभ भरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जगी हुई चिन्ता इत्यादि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है। 'विजयिनी-विजय-वैजयंती' में, जो मिस्र में भारतीय सेना की विजय-प्राप्ति पर लिखी गई थी, देशभक्ति-व्यंजक कैसे भिन्न-भिन्न संचारी भावों का उद्गार है ! कहीं गर्व, कहीं क्षोभ, कहीं विषाद। 'सहसन बरसन सो सुन्यो जो सपने नहिं कान, सो जय आरज शब्द' को सुन और 'फरकि उठीं सबकी भुजा, खरकि उठीं तरवारि। क्यों आपुहिं ऊँचे भए आर्य्य मोंछ के बार' का कारण जान, प्राचीन आर्य-गौरव का गर्व कुछ आ ही रहा था कि वर्तमान अधोगति का दृश्य ध्यान में आया और फिर वही 'हाय भारत !' की धुन !"

देश की दुर्दशा को देख भारतेन्दु का हृदय क्षोभ, व्यथा और करुणा से उद्वेलित हो उठता था। 'नीलदेवी' में उनकी यह करुण पुकार उठी थी—

> **'कहाँ करुणानिधि केसव सोए ?**
> **जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए।'**

हिन्दी-साहित्य में पहली बार देश-दशा को देख यह करुण पुकार उठी थी। और यह पुकार भारतेन्दु के परवर्ती-साहित्य में निरन्तर प्रतिध्वनित होती हुई सन् १९४७ तक चली आई थी, जब भारत आजाद हुआ था।

सूर की गोपियाँ तो कृष्ण-विरह में व्याकुल हो कृष्ण से सम्बन्धित संयोग-कालीन प्रकृति, वन, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि सबको कोसने लगीं थी परन्तु भारतेन्दु के देश-दुर्दशा से व्यथित हृदय ने अपने गौरव के प्रतीक रणस्थलों, नदियों, धर्म-स्थानों को कोसा था। उन्हें दुख था कि अतीत गौरव के ये सारे प्रतीक देश की ऐसी दुर्दशा

को देखकर भी लज्जा से डूब क्यों नहीं मरते । 'भारत-दुर्दशा' की ऐसी ही मार्मिक, हृदयवेधी करुणा और क्षोभ से भरी यह कविता द्रष्टव्य है—

'हाय ! वहै भारत-भुवि भारी । सब ही विधि सों भई दुखारी ।
हाय ! पंचनद. हा पानीपत ! अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत ।
हाय चित्तौर ! निलज तू भारी । अजहुँ खरो भारतहिं मँझारी ।
तुममें जल नहिं जमुना गंगा । बढ़हु बेगि किन प्रबल तरंगा ।
बोरहु किन झट मथुरा कासी । धोबहु यह कलंक की रासी ।'

यह भारतेन्दु की देशभक्ति का रूप था । उनके ब्रजभाषा-काव्य का दूसरा रूप वह था जिसमें उन्होंने भक्ति-कालीन भक्ति-भावना और शृंगार-कालीन शृङ्गार-भावना का अंकन लगभग उन्हीं रूपों में किया है । अपने समय में उनके लिखे शृंगार-रस के अनेक कवित्त और सवैया जनता में अत्यन्त लोकप्रिय रहे थे—'पिय पियारे तिहारे निहारे बिना, दुखिया अँखियाँ नहिं मानति हैं' तथा 'मरेहू पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी'—आदि उनकी पंक्तियाँ अत्यधिक लोकप्रिय थीं । ऐसी इन कविताओं में भक्ति और शृंगार का समन्वित रूप आकर्षक और मनोहर ढंग से चित्रित हुआ है । 'प्रेममाधुरी', 'प्रेमफुलवारी', 'प्रेममालिका' 'प्रेम प्रलाप' आदि उनके इसी प्रकार के कविता-संग्रह हैं ।

हिन्दी के अनन्य भक्त

भारतेन्दु की अनेक ऐसी कविताएँ मिलती हैं जिनमें अपनी मातृभाषा के प्रति असीम और अनन्य अनुराग प्रकट होता है—

'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल ।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को शूल ।।'

जैसी अमर पंक्तियाँ भारतेन्दु ने ही लिखी थीं । ये पंक्तियाँ यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि भारतेन्दु जीवन में मातृभाषा का कितना अधिक महत्त्व मानते थे । आज प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की जो माँग इतने जोरों के साथ उठ रही है, उसका मूल भारतेन्दु की उपर्युक्त पंक्तियों में मिल जाता है । हमने इसी कारण भारतेन्दु को 'युगद्रष्टा' की पदवी से सम्बोधित किया है । हम आगे चलकर इस समस्या का विस्तार के साथ विवेचन करेंगे । अतः यहाँ इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारतेन्दु विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देना, देश के लिए घातक समझते थे । अस्तु,

देशभक्ति और राजभक्ति की समस्या

भारतेन्दु ने दो पंक्तियाँ लिखी थीं—

'अंगरेज राज सुखसाज, सबै विधि भारी ।
पै धन विदेश चलि जात, यहै अति ख्वारी ।।'

इन पंक्तियों तथा तत्कालीन प्रिन्स आफ वेल्स के भारत-आगमन पर लिखी कविता आदि के आधार पर आलोचकों ने यह निष्कर्ष निकाला था कि भारतेन्दु के साहित्य में, विशेष रूप से उनके काव्य में, राजभक्ति और देशभक्ति का विचित्र सम्मिश्रण मिलता है। उपर्युक्त उद्धृत दोनों पंक्तियों से भी यही ध्वनि निकल रही है। ये पंक्तियाँ भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' नाटक में से उद्धृत की गई हैं। इस नाटक में भारतेन्दु ने महारानी विक्टोरिया की दयालुता की भी प्रशंसा की है। यह इस नाटक का ऊपरी रूप है। परन्तु सम्पूर्ण नाटक से जो ध्वनि निकल रही है वह घोर अंग्रेज-विरोधी है। भारतेन्दु को अंग्रेजी राज की हल्की सी प्रशंसा मजबूर होकर करनी पड़ी थी। यह उस युग की विषम परिस्थितियों की माँग थी। सन् १८५७ की जन-क्रान्ति के असफल हो जाने के उपरान्त अंग्रेज ने भारतवासियों पर जो लोमहर्षक अत्याचार किए थे, उससे सारा देश आतंकित हो उठा था। इस आतंक के कारण कोई भी अंग्रेज का खुलकर विरोध करने का साहस नहीं करता था। अंग्रेज का खुलकर विरोध करने का परिणाम मृत्यु को आमंत्रण देना था। इसीलिए उस युग के साहित्यकारों को अपने कौशल द्वारा राजभक्ति का क्षीण आवरण ओढ़ कर देशभक्ति का प्रचार करने को बाध्य होना पड़ा था। वस्तुतः उनके हृदय में अंग्रेज और उसके शासन के प्रति एक गहरे क्षोभ, आक्रोश और घृणा की भावना भरी हुई थी। देशी राजा अंग्रेज के सम्मुख आत्म-समर्पण कर देश की जनता के साथ विश्वासघात कर रहे थे। इसलिए भारतेन्दु ने इन्हीं राजाओं को अपनी भर्त्सना का लक्ष्य बना अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी-शासन की कलई खोलकर रख दी थी। भारतेन्दु पर इसी कारण सदैव अंग्रेज की कोपदृष्टि बनी रही थी। यदि भारतेन्दु राजभक्त होते तो अंग्रेज उनसे नाराज क्यों रहता ?

'भारत-दुर्दशा' एक विशाल रूपक है। इसमें भारतेन्दु ने उदयपुर, जयपुर, रीवाँ, पन्ना आदि रियासतों के देशी राजाओं को 'रासभ' अर्थात् गधा तक कह डाला है क्योंकि ये अंग्रेज के गुलाम बन उसका बोझा लादते और लातें खाते रहते हैं।

जैसे—

'वही उदैपुर, जैपुर, रीवाँ, पन्ना आदिक राज।
परबस भए न सोच सकहिं कछु करि निज बल बेकाज।
× × × ×
इनसो कछू आस नहिं ये तो सब बिधि-बुधि-बल हीन।
× × × ×
बोझ लादि कैं पैर छानि कैं निज सुख करहु प्रहार।
जे रासभ से कछु नहिं कहिहैं........................।'

इसी प्रकार महारानी विक्टोरिया के पुत्र युवराज के भारत-आगमन पर भारतेन्दु ने अपनी 'भारत-भिक्षा' नामक कविता में भी देशी राजाओं को गुलामों की

तरह तत्कालीन भारत की राजधानी कलकत्ता की ओर दौड़ते दिखाया है। इसमें ऊपर से राजभक्ति का प्रकाशन हुआ है, परन्तु व्यंग्य रूप में भारत की दुर्दशा पर मार्मिक प्रहार किया गया है। भारतेन्दु ऊपर से भले राजभक्ति का प्रदर्शन करते रहे हों, परन्तु उनके हृदय में 'भारत जननी' की 'रहत निरन्तर अन्तरहि कठिन पराजय पीर' घुमड़ती रहती थी। डा० भगवानदास माहोर ने भारतेन्दु-साहित्य के इसी मर्म को पहचान यथार्थ ही लिखा है कि—

"यह है भारतेन्दु जी के 'भारत जय' के नारे और उसकी सिद्धि के लिए आवश्यक संघर्ष का स्वरूप, जिसके सैनिक बनकर वे उस समय, उस विषम परिस्थिति में तोप तो नहीं चला सकते थे, परन्तु स्वातंत्र्य-संघर्ष के लिए 'चारण' और 'बन्दीजन' बनकर 'भारत सुजस' का गान ऐसे रूप में अवश्य करते रहे जिससे सशस्त्र स्वातंत्र्य-संघर्ष को बल मिले।"

भारतेन्दु के सहयोगी पं० प्रतापनारायण मिश्र भी अंग्रेजी-राज में होने वाली देश की दुर्दशा पर भारतेन्दु के ही समान आँसू बहाते रहे थे। उन्होंने अपनी 'कुन्दन' शीर्षक कविता में भारत-दुर्दशा का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है—

'तबहि लख्यो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहु को तरसत॥
जहाँ कृषि वाणिज्य शिल्पसेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसहु नाहीं॥
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ ऋन-भारन।
कहँ तिनकी धनकथा कौन जे गृही सधारन॥'

इस प्रकार देशभक्ति की यह भावना देश-दुर्दशा के माध्यम से तत्कालीन साहित्य में अभिव्यंजित हो रही थी। हिन्दी के ये कर्मठ उपासक खुलकर अंग्रेज का विरोध नहीं कर पाते थे, परन्तु प्रच्छन्न व्यंग्य द्वारा उस पर मार्मिक प्रहार करने में कभी भी नहीं चूकते थे। और इसी व्यंग्य-प्रहार का विकसित रूप हमें कुछ वर्ष बाद बाबू बालमुकुन्द गुप्त के 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में मिला था। सचमुच ये साहित्यकार अद्भुत जीवट के आदमी थे। इन्होंने देशभक्ति की भावना से आपूरित अपने साहित्य द्वारा जनता में देशभक्ति की, दूसरे शब्दों में अंग्रेज का विरोध करने की भावना उत्पन्न करने का ऐतिहासिक कार्य किया था। इसके लिए इन्होंने अपनी मातृभाषा, भारतीय इतिहास और संस्कृति के गीत गाते हुए नई विदेशी सभ्यता और संस्कृति के मोहजाल से भारतीय जन को बचाने का प्रयत्न किया था। और इन कार्यों के लिए उस युग में नाटक और निबन्ध सबसे उपयुक्त और सशक्त माध्यम बन सकते थे। इसी कारण हमें उस समय इन्हीं दो साहित्यिक विधाओं का जन्म और विकास होता मिलता है।

भारतेन्दु देशभक्ति के इस आन्दोलन के कर्णधार थे। उन्होंने अपना सारा

जीवन इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लगा और घुला दिया था । उनके सहयोगी भारतेन्दु के इस कृतित्व और उसके महत्त्व को पहचानते थे । इसी कारण ३४ वर्ष की अल्पवय में भारतेन्दु का असामयिक निधन हो जाने पर प्रेमघन जी ने लिखा था—

'हा भारत हित लरन अपूरब एक वीर वर ।
हा भारत हित हेत करन करवाल कलम धर ॥'

पंजाब में हिन्दी-प्रचार का कार्य करने वाले पं० श्रद्धाराम फुलौरी भारतेन्दु को अपने समय का हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ लेखक मानते थे । उन्होंने अपनी मृत्यु के समय कहा था कि—"भारत में भाषा के दो लेखक हैं—एक काशी में, दूसरा पंजाब में । परन्तु आज एक ही रह जायेगा ।" यहाँ फुलौरी जी का काशी के लेखक से अभिप्राय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से ही था ।

भारतेन्दु का महत्त्व

हिन्दी-साहित्य के अधिकांश इतिहासकारों और आलोचकों ने भारतेन्दु को वर्तमान हिन्दी-गद्य का प्रवर्त्तक माना है । वस्तुतः भारतेन्दु केवल वर्तमान हिन्दी-गद्य के प्रवर्त्तक ही नहीं थे अपितु अपने युग की हिन्दी-क्षेत्र की समस्त साहित्यिक गति-विधियों के एकमात्र नियामक और संचालक थे । उन्होंने हिन्दी-भाषा में नए प्राणों का संचार कर, उसे नए युग की नई समस्याओं की अभिव्यक्ति में समर्थ बना, एक ओर तो अपने साहित्य द्वारा देशभक्ति के स्वर को बुलन्द किया था और दूसरी ओर हिन्दी-साहित्य में नाटक, निबन्ध आदि नई विधाओं को जन्म दे, साहित्य-क्षेत्र को विस्तार और समृद्धि प्रदान की थी । भारतेन्दु के जन्म के समय हिन्दी में न तो नाटक लिखे जाते थे, और न हिन्दी का अपना कोई रंगमंच ही था । सन् १८७० में भारत में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' के नाम से पहली पारसी कम्पनी की स्थापना हुई थी । बाद में ये कम्पनियाँ विस्तार पाती चली गईं । इनका निर्माण अंग्रेजी रंगमंच से प्रेरणा ग्रहण कर किया गया था । इनके रंगमंच पर उर्दू के ऐसे नाटक खेले जाते थे जो साधारण प्रेम-कथाओं के सहारे चलते थे । इनमें देशभक्ति की भावना वाले नाटकों का बहिष्कार होता था । इनके लिए नाटक लिखने वाले उर्दू के सभी नाटककार देशभक्ति की भावना से शून्य थे । परन्तु ये नाटक-कम्पनियाँ जनता में प्रचार-कार्य करने का अपूर्व साधन बन सकती थीं । भारतेन्दु ने इनकी लोकप्रियता को देख इस तथ्य को समझ लिया था ।

उपर्युक्त तथ्य और उसके महत्त्व का अनुभव कर भारतेन्दु ने हिन्दी में नाटक लिखने और उन्हें अभिनीत करने के लिए हिन्दी-रंगमंच की स्थापना का अभूतपूर्व प्रयत्न किया था । इसीलिए भारतेन्दु को हिन्दी-नाटकों के साथ-साथ हिन्दी रंगमंच का भी जन्मदाता माना जाता है । भारतेन्दु पारसी नाटक-कम्पनियों की अभिनय-पद्धति और साज-सज्जा से बहुत असन्तुष्ट थे । उन्होंने अपने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में इन पर टिप्पणी करते हुए लिखा था—

"काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब 'शकुन्तला' नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थीबो, बाबू प्रमदादास मिश्र प्रभृत्ति विद्वान् यह कहकर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता, यह लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।"

और इसी क्षुब्ध प्रतिक्रिया ने भारतेन्दु को हिन्दी-रंगमंच की स्थापना करने के लिए प्रेरित किया था। ये पारसी नाटक कम्पनियाँ समाज में कैसी विकृति को जन्म और प्रोत्साहन दे रही थीं, यह भारतेन्दु के समकालीन पं० बालकृष्ण भट्ट की इस टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है—"हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम साधन यह पारसी थियेटर हैं, जो दर्शकों को आशिकी-माशूकी का लुत्फ हासिल कराने का बड़ा उम्दा जरिया है।" भारतेन्दु ने इस स्थिति को दूर करने के लिए अनेक अव्यावसायिक नाटक-कम्पनियों को जन्म दिया और दिलाया था जिनके रंगमंच पर भारतेन्दु एवं उनके सहयोगियों द्वारा रचित नाटकों का अभिनय हुआ करता था।

निबन्ध के क्षेत्र में भारतेन्दु ने ही सबसे पहले कदम बढ़ाया था। वस्तुतः वह हिन्दी के सर्वप्रथम निबन्ध-लेखक रहे हैं। उनके निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में प्रथम प्रयास हैं जिनमें निबन्ध के वास्तविक गुण विद्यमान हैं। उनमें शैली और विषय का पूर्ण वैविध्य मिलता है। इनकी नाटकीय शैली और स्तोत्र का ढंग अत्यन्त प्रभावात्मक है। स्तोत्रों में विविध सम्बोधनों और व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों, रूपकों के अनोखे बन्धानों और अतिशयोक्ति द्वारा अद्भुत चमत्कार और प्रभाव की सृष्टि होती है। शुक्लजी ने इनके निबन्धों की दो प्रकार की शैलियाँ मानते हुए लिखा है कि—"उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य-निरूपण की दूसरी। भावावेश के कथनों में वाक्य प्रायः छोटे-छोटे होते हैं और पदावली सरल बोलचाल की होती है जिसमें बहुत प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द भी कभी, पर बहुत कम, आ जाते हैं। जहाँ किसी ऐसे प्रकृतिस्थ भाव की व्यंजना होती है जो चिन्तन का अवकाश भी बीच-बीच में छोड़ता है, वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गम्भीर होती है; वाक्य भी कुछ लम्बे होते हैं पर उनका अन्वय जटिल नहीं होता। तथ्य-निरूपण या सिद्धान्त-कथन के भीतर संस्कृत शब्दों का कुछ अधिक मेल दिखाई पड़ता है।"

आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त कथन से यह ध्वनि निकलती है कि भारतेन्दु निबन्ध के क्षेत्र में शैली की दृष्टि से सरल और गम्भीर—दोनों प्रकार की शैलियों के जन्मदाता थे। भाषा के क्षेत्र में उन्होंने मध्यम-मार्ग अपनाया था। काव्य-भाषा के क्षेत्र में उन्होंने व्रजभाषा का संस्कार कर उसे नए युग की नई समस्याओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने में समर्थ बनाने का भरसक प्रयत्न किया था, यद्यपि वे काव्य में खड़ीबोली के प्रयोग के विरुद्ध नहीं थे।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृतित्त्व

साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृतित्त्व यह था कि उन्होंने जीवन से विच्छिन्न साहित्य-धारा को मोड़कर जीवन के साथ मिला दिया था। उनसे पूर्व शृंगार काल एव आधुनिक युग के संक्रान्ति-काल में साहित्य जीवन से कटा हुआ चल रहा था। उसमें जीवन की विभिन्न लौकिक समस्याएँ अभिव्यंजित नहीं होती थीं। समष्टि रूप से वह साहित्य एकांगी साहित्य था। कुछ छिट-पुट प्रयासों के अतिरिक्त उसकी धारा एकरस ही रही थी। भारतेन्दु साहित्य की इस जड़ता को दूर कर उसे जन-जीवन की समस्याओं, विषमताओं और भावनाओं का माध्यम बनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने स्वयं आगे बढ़कर इस कार्य को पूरा करने का बीड़ा उठाया, फलतः उनके साहित्य में जन-जीवन मुखरित हो उठा। शुक्लजी के शब्दों में—"इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था, उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए।"

भारतेन्दु समाज के तटस्थ दर्शक नहीं थे। वह जन-जीवन के साथ घुल-मिल कर उसके साथ एकात्म स्थापित करते थे, उसके हर्ष में विभोर और दुख में कातर हो उठते थे। त्यौहार, मेले, ऋतु सम्बन्धी विभिन्न उत्सव आदि उनमें उत्फुल्लता और आनन्द का संचार करते थे। इसी कारण उनके साहित्य में जन-जीवन अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ मुखरित हो उठा था। यह भारतीय जन-जीवन का स्वाभाविक और यथार्थ रूप था। उस समय तक हिन्दी में ऐसे लेखक-वर्ग का उदय नहीं हुआ था जो स्वयं विलास-वैभव का जीवन बिताते हुए जन-समाज से अलग रहते थे परन्तु अपनी रचनाओं में उसी जन-समाज का चित्रण करते थे। और न उस समय तक विदेशी साहित्य का उतना गहरा प्रभाव ही पड़ना आरम्भ हुआ था, जिसने परवर्ती अनेक लेखकों को प्रेरणा के लिए विदेशों का मुँह जोहने के लिए बाध्य कर दिया। आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के जन-जीवन के साथ इसी घनिष्ठ सम्पर्क का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

"आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न नहीं था। विदेशी अन्धड़ों ने उनकी आँखों में इतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूपरंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता। काल की गति वे देखते थे, सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे, पर पश्चिम की एक-एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे। प्राचीन और नवीन के सन्धिस्थल पर खड़े होकर वे दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु।"

भारतेन्दु के समकालीन सहयोगी लेखक

हम पीछे कह आए हैं कि भारतेन्दु अपने समय में सम्पूर्ण साहित्यिक गति-

विधियों और उनकी प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु थे। उनके चारों ओर लेखकों का एक ऐसा विशाल, प्रतिभाशाली और कर्मठ मंडल एकत्र हो गया था जो रात-दिन हिन्दी-साहित्य का अभिवृद्धि में प्राणपण से जुटा रहता था। इस मंडल में कवि, निबन्धकार, उपन्यासकार, नाटककार, पत्रकार, अनुवादक आदि विभिन्न प्रकार की प्रतिभा वाले कलाकार थे। इनमें से कुछ लोगों ने एक साथ ही विभिन्न साहित्यिक विधाओं पर कलम चलाई और कुछ एक-एक विधा को अपना कर साहित्य के सम्वर्द्धन में जुट गए। स्वयं भारतेन्दु उपन्यास को छोड़कर अन्य सभी क्षेत्रों में साहित्य-सर्जन कर रहे थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह आदि इस मंडल के सर्वाधिक प्रमुख लेखक थे। इन लोगों ने प्रमुख रूप से नाटक और निबन्ध लिखे तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया। इन्होंने अपनी रचनाओं और सम्पादकीय टिप्पणियों द्वारा देश, मातृभाषा, हिन्दी-गद्य के विकास, राजनीतिक और विभिन्न सामाजिक विषयों से सम्बन्धित भावनाओं का विकास और प्रचार करने का स्तुत्य उद्योग किया था।

इसी काल में हिन्दी में उपन्यास को जन्म मिला था। विदेशी भाषाओं से अनुवाद की परम्परा भी इसी युग में विकसित हुई थी। भारतेन्दु ने स्वयं 'काश्मीर-कुसुम' और 'बादशाह दर्पण' जैसी पुस्तकें लिखकर इतिहास-ग्रन्थों और जयदेव का जीवन-वृत्त लिखकर जीवन-चरित लेखन की परम्परा का प्रवर्त्तन किया था, परन्तु उनका यह कार्य उस युग में लोकप्रियता प्राप्त करने में असमर्थ रहा।

इस काल के लेखकों की यह विशेषता रही है कि ये सभी पत्रकार थे और किसी न किसी पत्र का स्वयं सम्पादन करते थे। अपने पत्रों द्वारा ही अपने विचारों का प्रचार करने में समर्थ रहे थे। इसलिए इनकी रचना-शैली पर पत्रकारिता का प्रभाव रहना स्वाभाविक था। ये इतने जीवट वाले पत्रकार थे कि ग्राहकों का अभाव, सरकारी उपेक्षा, धन और प्रोत्साहन की कमी आदि के रहते हुए भी अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट काट-काट कर वर्षों तक पत्र चलाते रहते थे। वस्तुतः इस दृष्टि से इनकी गणना साधकों की कोटि में होनी चाहिए। अस्तु,

हिन्दी-साहित्य पर भारतेन्दु का प्रभाव ईसा की उन्नीसवीं सदी के अन्त तक किसी-न-किसी रूप में बना रहा था। इस काल के लगभग सभी लेखक इस प्रभाव को ग्रहण कर ही साहित्य-क्षेत्र में उतरे थे। इनमें से प्रमुख लेखकों का संक्षिप्त परिचय और कृतित्व इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

पं० बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४ ई०) इस युग के एक अत्यन्त प्रतिभाशाली निबन्धकार, नाटककार और पत्रकार थे। इन्होंने भयंकर आर्थिक अभाव के रहते हुए भी अपने मासिक-पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' को एकाकी रूप में लगभग ३३ वर्ष तक चलाया था और पत्रकारिता का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया था। इन्होंने साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि विभिन्न विषयों पर अत्यन्त रोचक निबन्ध लिखे थे।

इनके निबन्धों में विचारों की मौलिकता, विषय की व्यापकता और शैली की रोचकता आदि गुण मिलते हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग होने के कारण इन निबन्धों में व्यंग्य और वक्र-व्यंजना का सुन्दर परिपाक हुआ है। भाषा में संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जन-प्रचलित शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। इनका हास्य अधिक शिष्ट और साहित्यिक है। शब्दों में अर्थ-गाम्भीर्य अधिक होने के कारण कहीं-कहीं भाषा में दुरूहता आ गई है। निबन्धों के अतिरिक्त इन्होंने लगभग एक दर्जन मौलिक और अनूदित नाटक भी लिखे थे। इनके मौलिक नाटकों में 'दमयन्ती स्वयम्वर', 'वेणुसंहार, 'बृहन्नला, 'कलिराज की सभा, 'रेल का विकट खेल, 'बाल-विवाह', 'जैसा काम वैसा परिणाम' आदि; और अनूदित नाटकों में बँगला से अनूदित 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' आदि की प्रणना की जाती है। शुक्लजी के शब्दों में—इनके निबन्धों की भाषा चटपटी, तीखी और चमत्कारपूर्ण होती थी। भट्ट जी निबन्ध-लेखन में हास्य को बहुत महत्त्व देते थे। इन्होंने अपने समय में उन्नीसवीं सदी के अन्त में सद्यः प्रकाशित मासिक-पत्रिका 'सरस्वती' की गम्भीरता-मिश्रित नीरसता की आलोचना करते हुए लिखा था कि—"सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुन्द कली के समान दाँत न खिल उठे तो वह लेख ही क्या !" परन्तु इनके विचारात्मक निबन्धों में तर्कपुष्ट शैली का सुव्यवस्थित रूप मिलता है। भट्ट जी अपने समय के श्रेष्ठ निबन्ध-लेखक मांने जाते हैं। इन्होंने 'नूतन ब्रह्मचारी, और 'सौ अजान और एक सुजान' नामक दो छोटे-छोटे उपन्यास भी लिखे थे।

पं० प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४ ई०) की गणना भी इस युग के श्रेष्ठ निबन्धकार, नाटककार और पत्रकार के रूप में होती है। कविता के क्षेत्र में इन्हें अधिक सफलता नहीं मिल सकी थी। इनके निबन्धों में जैसा उल्लास और मस्ती मिलती है वैसी आज तक किसी अन्य में नहीं मिल सकी है। इनकी प्रकृति ही विनोदशील थी। इसलिए ये मन में तरंग उठते ही किसी भी विषय को उठा लेते थे और बन्धनों या नियमों की चिन्ता न कर स्वच्छन्द रूप से लिखने लगते थे। इन्होंने 'भौं', 'पेट', 'नाक', 'मुच्छ' आदि से लेकर 'प्रताप चरित', 'दान' 'जुआ', 'अपव्यय' जैसे विषयों पर निबन्ध लिखे थे और साथ ही 'नास्तिक', 'शिवमूर्त्ति', 'ईश्वर की मूर्त्ति, 'मनोयोग' जैसे गम्भीर विषयों पर लिखने के उपरान्त 'समझदार की मौत', 'टेढ़ जान शंका सब काहू' जैसी लोकोक्तियों को भी अपने निबन्ध-लेखन का विषय बनाया था। मिश्रजी अपने पाठकों से बेतकल्लुफी के साथ बातचीत करना पसन्द करते थे, जैसे कि उनका यह निबन्ध—'तो भला बताइए तो आप क्या हैं।' निबन्ध का विषय उनकी विचारधारा को नियंत्रित न कर स्वयं ही विचारधारा से नियंत्रित होता चलता था। वस्तुतः उनके निबन्ध व्यक्तिनिष्ठ शैली के सुन्दर उदाहरण हैं। उनकी भाषा स्वच्छन्द, बोलचाल की चपलता और भावभंगी से ओतप्रोत रहती थी। कहावतों, मुहावरों आदि का प्रयोग खूब करते थे। हास्य उनके निबन्धों की प्राणशक्ति थी जो कहीं-कहीं

सीमा का अतिक्रमण कर जाता था। इनके नाटकों में 'कलिकौतुक रूपक', 'हठी-हम्मीर', 'गोसंकट', 'भारतेन्दु धारामृत', 'कलि प्रभाव', 'संगीत शाकुन्तल', 'भारत-दुर्दशा', 'जुआरी खुआरी' आदि की गणना की जाती है। इन्होंने 'ब्राह्मण' नामक मासिक-पत्र का कई वर्ष तक सम्पादन तथा 'राजसिंह', 'इन्द्रा', 'युगलांगुरीय' और 'राधारानी' नामक बँगला उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद भी किया था।

आचार्य शुक्ल हिन्दी-गद्य-साहित्य के विकास में मिश्र जी और भट्ट जी का वही स्थान मानते हैं जो अंग्रेजी-साहित्य में एडीसन और स्टील नामक गद्य-लेखकों का माना जाता है।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५-१९२३ ई०) नाटककार, निबन्ध-लेखक और कवि थे। इनके निबन्धों की शैली उपर्युक्त दोनों निबन्धकारों की शैली से भिन्न थी, जिसमें संस्कृत के तत्सम् शब्दों की बहुलता के साथ कहीं-कहीं बोलचाल के चुभते हुए शब्द भी आ जाते थे। भावना-प्रधान शैली के लेखकों में इनका अच्छा स्थान माना जाता है। ये कलाकार की भाँति भाषा को गढ़ा करते थे। इसी कारण इनकी भाषा-शैली में अनुप्रास-प्रियता और तुकबन्दी का मोह लक्षित होता है। इनके लिखे दो नाटक माने जाते हैं—'भारत-सौभाग्य' और 'प्रयाग रामागवन' (अधूरा)। इन्होंने 'नागरी नीरद' और 'आनन्द कादम्बिनी' नामक दो पत्रिकाओं का कई वर्ष तक सम्पादन किया था। पुस्तकों की साहित्यिक आलोचना का सूत्रपात 'आनन्द कादम्बिनी' से ही हुआ माना जाता है। इन पत्रिकाओं में अनेक प्रकार के विनोदपूर्ण प्रहसन निरन्तर प्रकाशित होते रहते थे। वस्तुतः प्रेमघन जी का महत्त्व उनके द्वारा की गई विभिन्न ग्रन्थों की आलोचनाओं के कारण ही मानना चाहिए, न कि संस्कृत-गर्भित गद्य-शैली के प्रवर्त्तक के रूप में। उन्होंने 'आनन्द कादम्बिनी' में बाबू गदाधरसिंह के 'बंग विजेता' के अनुवाद की आलोचना ५ पृष्ठों में और लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयम्बर' नाटक की कठोर आलोचना २१ पृष्ठों में निकाली थी।

लाला श्रीनिवासदास (१८५१-१८८७ ई०) नाटककार तो थे ही, साथ ही हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार भी माने जाते हैं। इनके लिखे नाटकों में 'प्रह्लाद चरित्र', 'तप्ता संवरण', 'रणधीर प्रेममोहिनी' और 'संयोगिता स्वयंम्वर' आदि हैं। इनके लिखे ये नाटक अपने समय में काफी चर्चा और वाद-विवाद के विषय रहे थे। परन्तु हिन्दी-साहित्य में इनका महत्त्व हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यासकार होने के कारण ही अधिक रहा है। आचार्य शुक्ल इनके 'परीक्षा गुरु' नामक उपन्यास को हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक सामाजिक उपन्यास मानते हैं। आधुनिक अर्थ में यही पहला उपन्यास था, जिसमें हमें सर्वप्रथम सामाजिक-जीवन को चित्रित करने का प्रयास मिलता है। इसकी रचना सोद्देश्य थी और भाषा संयत तथा साफ-सुथरी।

राधाचरण गोस्वामी (१८५९-१९२५ ई०) पुराने ढंग के लेखक, सम्पादक और नाटककार थे। इन्होंने अनेक निबन्ध और उपन्यास भी लिखे थे। इनके लिखे

नाटकों में 'सुदामा नाटक', 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर' आदि हैं। इन्होंने 'विधवा विपत्ति' और 'कल्पलता' नामक दो मौलिक तथा 'सावित्री', 'विरजा', 'मृण्मयी' आदि अनूदित उपन्यास लिखे थे। इनके निबन्ध प्रायः समाज-सुधार सम्बन्धी रहे हैं, जैसे—'विदेश यात्रा विचार' और 'विधवा विवाह विवरण' आदि।

ठा० जगमोहनसिंह (१८५७-१८९९ ई०) भी इस युग के अच्छे साहित्यकार थे। इनका लिखा 'श्यामा स्वप्न' नामक उपन्यास काव्यगुणों से परिपूर्ण एक सुन्दर उपन्यास माना जाता है। शुक्ल जी के अनुसार—"विविध भावमयी प्रकृति के रूपमाधुर्य की जैसी सच्ची अनुभूति उनमें थी, वैसी उस काल के किसी हिन्दी कवि या लेखक में नहीं पाई जाती।" उन्होंने अपने उक्त उपन्यास में प्रकृति के अनेक अत्यन्त मनोरम चित्र अंकित किए हैं। "भाव प्रबलता से प्रेरित कल्पना के विप्लव और विक्षेप को अंकित करने वाली एक प्रकार की प्रलाप शैली" के जन्मदाता भी यही थे, परन्तु इस शैली का विकास और अनुगमन न हो सका।

अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९०० ई०) संस्कृत के प्रतिभाशाली विद्वान्, हिन्दी के सुन्दर कवि और सनातन धर्म के बड़े उत्साही उपदेशक थे। इन्होंने 'अवतार-मीमांसा' जैसी धर्म-सम्बन्धी पुस्तकों के अतिरिक्त व्रज भाषा में कविताएँ और कुछ नाटक भी लिखे थे। इनके 'भारत सौभाग्य' और 'गो संकट' नाटक तत्कालीन परिस्थितियों पर आधारित हैं। इनके अतिरिक्त 'ललिता नाटिका' और 'मन की उमंग' नामक नाटिकाएँ भी इन्होंने लिखी थीं।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९०७) एक सफल सम्पादक और अत्यन्त उच्चकोटि के निबन्ध-लेखक थे। इन्होंने गद्य को परिमार्जित कर उसे प्रांजलता प्रदान की। इनके निबन्धों में व्यंग्य का शालीन, सांकेतिक और व्यंजक रूप सबसे अधिक उभरा हुआ मिलता है। इस व्यंग्य में मौलिकता, शिष्टता और साहित्यिकता है। ऐसा गहरा व्यंग्य उस युग के किसी भी अन्य लेखक की रचनाओं में नहीं मिलता। इसलिए हिन्दी-गद्य-शैली के विकास में गुप्तजी का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। गुप्तजी ने 'भारत मित्र' और 'बंगवासी' नामक दो पत्रों का कुशल सम्पादन किया था। 'बंगवासी'—'भाषा गढ़ने की टकसाल' कहलाता था। भाषा-सुधार-सम्बन्धी नीति को लेकर इनमें और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी में खूब नोंक-झोंक चला करती थी। गुप्त जी ने विषय की दृष्टि ने अनेक प्रकार के निबन्ध लिखे; जैसे—जीवन-चरित, हिन्दी-भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा, और राजनीति आदि। इन्होंने ही सर्वप्रथम हिन्दी-सेवी संसार को उर्दू-साहित्य, लिपि-समस्या और समाचार-पत्रों के इतिहास से परिचित कराया था। यह इनकी ठोस साहित्य-सेवा थी। परन्तु हिन्दी-साहित्य में, अभी तक, इनकी प्रसिद्धि का मूलाधार इनके राजनीतिक व्यंग्यात्मक निबंध—'शिवशम्भु का चिट्ठा' और 'खत' ही माने जाते रहे हैं। भारतेन्दु के उपरान्त प्रच्छन्न राजनीतिक व्यग्य का सुष्ठु और मार्मिक रूप इन निबंधों में ही मिलता है। इनमें एक ऐसी नाटकीयता आ गई है, जिसने इनके व्यंग्य को अत्यन्त प्रभावशाली,

आकर्षक और मार्मिक बना दिया है। गम्भीर बातों को विनोदपूर्ण ढंग से कहते-कहते अपने हृदय का क्षोभ और दुख अत्यन्त संयत और प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर देना—इनकी विशेषता है।

वस्तुत: बालमुकुन्द गुप्त अपने युग के अत्यन्त सजग, सतर्क और गहरी सूझ-बूझ वाले लेखक थे। इस दृष्टि से इन्हें भारतेन्दु का सफल उत्तराधिकारी माना जा सकता है। इनकी भाषा-नीति वही थी जो भारतेन्दु की रही थी—अर्थात् मध्यम-मार्गी। इसी नीति के कारण इनकी भाषा और शैली रोचक, मनोरंजक और शिष्ट रही है। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था।

उपर्युक्त विशिष्ट लेखकों के अतिरिक्त इस युग में अन्य अनेक लेखक और हुए थे, जिन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं के क्षेत्रों में सराहनीय कार्य किए थे। बाबू तोताराम, मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या, पं० केशवराम भट्ट, काशीनाथ खत्री, काशी-प्रसाद खत्री, सुधाकर द्विवेदी आदि इनमें उल्लेखनीय हैं। बाबू देवकीनन्दन खत्री और पं० किशोरीलाल गोस्वामी भी इस युग में उपन्यास लिखने लगे थे। समष्टि रूप से इस सम्पूर्ण युग में निबन्ध और नाटक प्रधान रूप से लिखे गए थे परन्तु उपन्यासों का भी आरम्भ हो चुका था। इस युग में हिन्दी-उर्दू की समस्या प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं उभर रही थी परन्तु उसका अप्रत्यक्ष प्रभाव मौजूद था। परन्तु इस युग में एक ऐसी नई समस्या उठ खड़ी हुई थी जिसने परवर्ती हिन्दी-भाषा के रूप-निर्धारण की प्रक्रिया को जन्म दे दिया था। यह समस्या थी—खड़ीबोली और ब्रजभाषा के विवाद की।

खड़ीबोली और ब्रजभाषा का संघर्ष

साधारणत: यह समझा जाता है कि खड़ीबोली और ब्रजभाषा के संघर्ष को जन्म देने वाले और ब्रजभाषा को अपदस्थ कर खड़ीबोली को हिन्दी-साहित्य की गद्य-पद्य—दोनों की भाषा का पद दिलाने वाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इनमें से पहली बात गलत है और दूसरी आंशिक रूप से सत्य। ब्रजभाषा और खड़ीबोली का द्वन्द्व भारतेन्दु के समय से ही आरम्भ हो गया था। विवाद यह था कि खड़ीबोली में काव्य-रचना होनी चाहिए अथवा नहीं ? जैसा कि हम पीछे बता आए हैं कि स्वयं भारतेन्दु ने खड़ीबोली में कविताएँ लिखी थीं परन्तु ऐसा करते समय उन्हें अत्यधिक मानसिक श्रम करना पड़ा था। भारतेन्दु यह जानते थे कि गद्य की भाषा होने के कारण खड़ीबोली अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त करती जा रही है परन्तु अभी उसे साहित्य के काव्यक्षेत्र में प्रवेश नहीं करने दिया जा रहा था, यद्यपि उस समय खड़ी-बोली लोकगीतों में लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थी। ख्याल, लावनी आदि इसी में लिखे जाते थे। आर्यसमाजी और ईसाई प्रचारक खड़ीबोली में ही भजन बनाकर अपना प्रचार-कार्य करते थे। इसका कारण यह था कि उस समय खड़ीबोली ही हिन्दी-भाषी-क्षेत्र की साधारण बोलचाल की भाषा थी। ब्रजभाषा केवल साहित्य की ही भाषा थी। बोलचाल के रूप में वह अपने प्रदेश से बाहर प्रचलित नहीं थी। रासलीला, नौटंकी, जोगीड़ा, ख्याल, लावनी तथा पारसी थियेटरों के माध्यम से

खड़ीबोली का प्रचार भारत-व्यापी होता जा रहा था। इस लोकप्रियता का आधार ग्रहण कर खड़ीबोली ने धीरे-धीरे काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। भारतेन्दु ('फूलों का गुच्छा'), प्रतापनारायण मिश्र ('मन की लहर'), प्रेमघन ('कजली'), बालमुकुन्द गुप्त ('जोगीड़ों का संग्रह'), श्रीधर पाठक ('एकान्तवासी योगी') आदि साहित्यकार खड़ीबोली में भी काव्य-रचना करने लगे। अभी तक ब्रजभाषा स्वयं को काव्य-क्षेत्र की एकमात्र साम्राज्ञी समझती थी। डा० रमेशकुमार शर्मा के शब्दों में—''ब्रजभाषा के पक्षपातियों को खड़ीबोली का यह बेजा दखल बुरा लगा परन्तु खड़ीबोली के साथ जनरुचि और समय की माँग थी। खेमे गढ़ गए और भाषा-युद्ध की भेरी बज उठी। लोक-काव्य ने खड़ीबोली की नींव दृढ़ कर दी थी और दृढ़ नींव पर खड़े होने के कारण खड़ीबोली वालों ने टक्कर लेना आरम्भ कर दिया।''[1]

वस्तुतः उस समय, उर्दू की प्रतिद्वन्द्विता के कारण, हिन्दी भाषा और साहित्य को उन्नत और समृद्ध बनाने की समस्या, सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या थी। और जब तक गद्य की भाषा एक तथा पद्य की दूसरी बनी रहती, तब तक ऐसा होना अत्यन्त दुष्कर होता। यदि खड़ीबोली को पद्य में स्थान न दिया जाता तो इसका परिणाम यह निकलता कि हिन्दी-गद्य तो त्वरित गति से विकास करता रहता और काव्य वहीं का वहीं रह जाता। क्योंकि ब्रजभाषा में युग की नई परिस्थितियों के अनुरूप चलने की शक्ति नहीं रह गई थी। इसलिए उस समय के जागरूक लोगों को यह स्थिति खल रही थी। परन्तु ब्रजभाषा के कट्टर समर्थक परिस्थिति की इस विषमता को समझने से इन्कार कर रहे थे। उन्होंने खड़ीबोली का उग्र विरोध करना आरम्भ कर दिया। दरअसल उन्हें इस बात का भय था कि कहीं खड़ीबोली के सहारे उर्दू हिन्दी-क्षेत्र में प्रवेश न कर जाये, क्योंकि उर्दू भी खड़ीबोली में ही लिखी जाती थी। पं० राधाचरण गोस्वामी ने इसी भय को प्रकट करते हुए लिखा था कि—

''हम अनुमान करते हैं कि खड़ीबोली की कविता की चेष्टा की जाय तो फिर खड़ीबोली के स्थान में थोड़े दिनों में खाली उर्दू का प्रचार हो जायेगा। इधर सरकारी पुस्तकों में फारसी शब्द घुस ही पड़े, उधर पद्य में भी फारसी भरी गई तो सहज ही झगड़ा निपटा।''—(**हिन्दोस्थान** : १५ जनवरी, १८८८ ई०)

इसके उत्तर में खड़ीबोली के समर्थकों ने यह कहना आरम्भ कर दिया कि ब्रजभाषा का जमाना गुजर गया है, इसलिए उसे साहित्य के क्षेत्र से हट जाना चाहिए। सम्भवतः गोस्वामी जी के उपर्युक्त पत्र के उत्तर में ही '**हिन्दोस्थान**' के ३ फरवरी, १८८८ ई० के अंक में श्रीधर पाठक ने यह लिखा था—

''इस संसार में एक वस्तु एक ही बार उन्नति के शिखर पर चढ़ती है, फिर या तो स्थिर हो जाती है या गिर जाती है। ब्रजभाषा की कविता कई बातों में

---

१. **रीतिकाल और आधुनिक हिन्दी-कविता**—डा० रमेशकुमार शर्मा।

उन्नति की पराकाष्ठा से भी परे पहुँच चुकी है और यद्यपि अन्य बातों में उसे उन्नति की समाई है, पर अवसर नहीं है। ब्रजभाषा की कविता को····विश्राम लेने का समय अवश्य आ पहुँचा है। उसको अधिक श्रम देना आवश्यक नहीं।"

खड़ीबोली और ब्रजभाषा के इस विवाद में कुछ विदेशी विद्वानों ने भी भाग लिया था। फ्रेडरिक पिन्काट ने खड़ीबोली का समर्थन किया था और ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा का। धीरे-धीरे यह विवाद उग्र होता चला गया और दोनों पक्ष एक-दूसरे पर कीचड़ उछालने में जुट गए। आधुनिक युग के ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने तो खड़ीबोली के समर्थकों को हठी और मूर्ख तक कह डाला था। उन्होंने अपने 'समालोचनादर्श' (१८९६ ई०) में खड़ीबोली के समर्थकों के लिए लिखा था—

"हम इन लोगन हित सारद सों चहत विनय करि।
काहू विधि इनके हिय की दुर्मति दीजे दरि॥
जासों ये सांचे आनन्दप्रद सौं सुख पावें।
औ हठि करि नित औरन कों नहिं बहकावें॥"

इन दोनों भाषाओं का यह संघर्ष बहुत समय तक चलता रहा था। ब्रजभाषा वाले खड़ीबोली को निम्न और हेय सिद्ध करने पर तुल गए थे और खड़ीबोली वालों ने समस्त प्राचीन और समकालीन ब्रजभाषा-काव्य पर अनुचित, अवांछित आक्रमण करने आरम्भ कर दिए थे। आगे चलकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की संरक्षकता में खड़ीबोली काव्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गई थी, परन्तु विवाद फिर भी चलता रहा था। समझदार लोगों को यह स्थिति अखरी, इसलिए उन्होंने इस विवाद को समाप्त करने की आवाज उठाई। पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने कहा कि— "ब्रजभाषा का बहिष्कार करने से हिन्दी की प्राचीनता प्रकट न होगी और खड़ीबोली की खिल्ली उड़ाने से नवीनता नष्ट होगी। हानि दोनों से है। इसलिए दोनों दल वालों को ईर्ष्या-द्वेष त्याग कर काम करना चाहिए।" समझदार लोगों के ऐसे सद्-प्रयत्नों से यह विवाद शान्त हो गया। खड़ीबोली गद्य-पद्य—दोनों क्षेत्रों में स्वीकार कर ली गई और ब्रजभाषा के अनुयायी ब्रजभाषा में काव्य-रचना करते रहे। इस बीच हिन्दी-उर्दू का विवाद लगभग शान्त सा बना रहा। अस्तु,

भारतेन्दु-कालीन साहित्य का मूल्यांकन

भारतेन्दु-पूर्व संक्रान्ति-काल सांस्कृतिक और राजनीतिक जागरण, भाषा-समस्या और भाषा-निर्माण का युग था। उस काल में आधुनिक साहित्य की भावी रूप-रेखा का मात्र आभास मिला था। भारतेन्दु के समय में उस रूपरेखा ने मूर्त्त रूप धारण कर नए साहित्य-भवन की मजबूत, ठोस नींव प्रस्तुत की थी। इस काल में हिन्दी-भाषा, खड़ीबोली-गद्य के रूप में साहित्य में प्रतिष्ठित हो गई थी। उसमें साहित्य की विभिन्न विधाओं का निर्माण होना आरम्भ हो गया था। भाषा को

परिमार्जित, सुष्ठु और प्रांजल रूप प्रदान करने के लिए विभिन्न प्रकार की शैलियों के प्रयोग किए गए थे। खड़ीबोली गद्य के अतिरिक्त पद्य के क्षेत्र में भी प्रविष्ठ होने लगी थी। निबन्ध लेखक और पत्रकार परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए नए युग की नई समस्याओं को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे। नए ढंग के नाटकों और उनके अनुरूप रंगमंच के उदय ने उनके प्रचार को बहुत आगे बढ़ाने और जन-प्रिय बनाने में ऐतिहासिक योग प्रदान किया था। उपन्यासों के माध्यम से सामाजिक दशा का अंकन और गद्य का परिमार्जन हो रहा था। यह सम्पूर्ण युग एक अद्भुत नई चेतना और उसके प्रसार का युग था। इस काल के साहित्य को देखकर ऐसा लगता है मानो प्रत्येक साहित्य-साधक साहित्य-साधना को एक परम पुनीत उद्देश्य—जन-जन में देश-प्रेम, सामाजिक सुधार, भाषा-संस्कार, अतीत-गौरव की नव चेतना जाग्रत करने के उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मान, साहित्य रचना कर रहा था। इसके लिए साहित्यिक गोष्ठियाँ होती थीं, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जाता था, नए नाटक लिख स्वयं उनके अभिनय में भाग ले, रंगमंच को प्रचार का सशक्त माध्यम बनाने का प्रयत्न किया जाता था। भारतेन्दु ने स्वयं कई नाटकों में अभिनय किया था। इस प्रकार इस युग के साहित्यकार नई चेतना के ज्योति-शिखा-वाहक बनकर हमारे सामने आए थे। परन्तु यह युग नव-साहित्य के उदय का काल था, इसलिए जब हम हिन्दी-साहित्य के वर्तमान उन्नत रूप के सम्मुख उसका मूल्यांकन करने बैठते हैं तो वह हमें कुछ सीमा तक बन्धनों की परवाह न करने वाला, भाषा और कला के संस्कार से हीन उच्छृंखल और अटपटा सा लगता है।

वस्तुतः उस युग में काव्य-शास्त्रीय परम्पराओं और उनके पालन, भाषा की व्याकरण-सम्मत एकरूपता, सामाजिक शिष्टता, कला के रूप और उसके उत्कर्ष आदि की ओर ध्यान देना सम्भव भी नहीं था। उस समय तो केवल एक ही लक्ष्य सामने था कि किसी भी तरह साहित्य में जन-भावना को अभिव्यक्ति मिल सके। और यही इस युग के साहित्यकारों ने किया था। इसी कारण इस युग के साहित्य में अभिव्यक्ति की निश्छलता और यथार्थता का वह मनोरम रूप मिलता है जो बच्चों और किशोरों के स्वभाव की विशेषता मानी गई है। वहाँ कहीं भी दुराव नहीं है, छिपाव नहीं है, जो सोचा और अनुभव किया, उसे सीधी-सरल भाषा और साहित्य-विधा के माध्यम से अभिव्यक्त कर दिया। इसी कारण इस काल के साहित्य में हमें एक नटखट-चपल-सरल बालक का सा उन्मुक्त उल्लास, खीझ और मस्ती मिलती है। वहाँ बनावट के लिए कोई स्थान नहीं है।

नवीनता का समावेश

काव्य के क्षेत्र में इस युग के कलाकारों ने प्राचीन परम्परा को अपनाया तो अवश्य, परन्तु उसे विकास के नए पथ पर भी अग्रसर किया। भारतेन्दु ने प्रकृति, शृंगार, कृष्ण-लीला आदि का वर्णन अपनी स्वतन्त्र अनुभूति से किया। काव्य में

सामाजिक और राजनीतिक विषयों का समावेश पहली बार इसी युग में हुआ। इस नवीन परिवर्तन के कारण साहित्यकारों का ध्यान शास्त्रीय पद्धतियों से हट कर जीवन की ओर बढ़ रहा था। राजनीतिक परिवर्तन से उत्पन्न विषम परिस्थितियों का चित्रण इस युग के लेखकों का प्रधान कार्य रहा। उन्होंने निरन्तर जनता पर नए थोपे जाने वाले करों, अकाल और महामारी का वर्णन किया। राजनीतिक और सामाजिक सुधार के लिए उच्चकोटि के व्यंग्य और हास्य का आश्रय लिया गया। ऐसे तीखे और मार्मिक व्यंग्य के दर्शन साहित्य में फिर बहुत ही कम हो सके। उस युग की परिस्थितियों में यही अभिव्यक्ति का तीव्रतम अस्त्र बन सकता था। इस युग के लेखक उस वर्ग के लिए लिख रहे थे जिसके वे स्वयं अङ्ग थे। यह साहित्य सामन्तों का साहित्य न होकर मध्यम वर्ग द्वारा जन-सामान्य के हितार्थ लिखा जाने वाला साहित्य था। यह युग नवीन साहित्यिक विधाओं, नई भाषा और नए विचारों के प्रयोग का युग था। इस युग का साहित्य इस नई विचारधारा की आकुलता तो व्यक्त करता था किन्तु उसमें अभी परिष्कार, गाम्भीर्य और विकास की बहुत बड़ी आवश्यकता थी। यह कमी, अर्थात् संस्कार का कार्य, आगे आने वाले युग ने पूरी की। इस काल के गद्य-लेखकों की शैली में प्रौढ़ता तो कम है, पर व्यक्तित्व से वह ओतप्रोत है। यह गद्य सीधा, सपाट और सहज-सशक्त है।

निबन्ध-साहित्य

इस युग का निबन्ध-साहित्य प्रभाव और प्रचार की दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि का रहा है। डाक्टर रामविलास शर्मा ने इसकी विशेषताओं और उपलब्धियों का आकलन करते हुए लिखा है कि—

"जितनी सफलता भारतेन्दु-युग के लेखकों को निबन्ध रचना में मिली, उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली। इसका एक कारण यह था कि पत्रिकाओं में नित्यप्रति लिखते रहने से उनकी शैली खूब निखर गई थी। दूसरी बात यह कि निबन्ध ही एक ऐसा माध्यम था, जिसके द्वारा उस युग के धक्कड़ लेखक बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात कर सकते थे।....उस युग के लेखक तटस्थ रहते हुए अपनी बात पाठक से कहकर सन्तोष न कर सकते थे। वे उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे और एक मित्र की भाँति घुल-मिलकर उसे अपनी बात समझाना चाहते थे।....साहित्य की सच्ची सप्राणता उस शैली में है जहाँ लेखक और पाठक के बीच कोई दुराव नहीं रह जाता। सहज आत्मीयता के भाव ने भाषा को खूब स्वाभाविक बना दिया। कृत्रिम शैली में लेखक पाठक का आत्मीय बन ही नहीं सकता। इसीलिए भारतेन्दु-युग की गद्य-शैली के सबसे चमत्कारपूर्ण निदर्शन निबन्धों में ही मिलते हैं।"

आचार्य शुक्ल ने इस युग के साहित्य की इसी निश्छलता और तन्मयता को

लक्ष्य कर कहा था—"यह युग बच्चे के समान हँसता-खेलता आया था। जिसमें बच्चों की सी ही निश्छलता, अक्खड़पन, सरलता और तन्मयता थी।" और बाबू गुलाबराय के अनुसार—"निबन्ध की पृष्ठभूमि में रहने वाला निजीपन, हृदयोल्लास और चलतेपन के लिए भारतेन्दु-युग चिर-स्मरणीय रहेगा।" यहाँ हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस युग में ही निबन्ध का एक नवीन साहित्यिक विधा के रूप में उदय हुआ था। उस समय गद्य का कोई एक सर्व-स्वीकृत रूप सामने न रहने के कारण शैलियों में गद्य-शैली-निर्माण के वैयक्तिक प्रयास ही अधिक उभर कर सामने आए। उनकी भाषा जन-साधारण की भाषा थी, जिसमें स्थानीय और सार्वदेशिक लोकोक्तियों, मुहावरों और शब्दों का खुलकर प्रयोग होता था। वस्तुत: उस युग के निबन्ध अंग्रेजी 'ऐसे' (Essay) शब्द के वास्तविक अर्थ को ध्वनित करने वाले आरम्भिक प्रयास थे। उनमें, इसी कारण, न बुद्धि-वैभव के चमत्कार प्रदर्शन की, और न पांडित्य-प्रदर्शन की भावना मिलती है। इस युग के सभी निबन्ध-लेखक जिन्दादिल, सजीव और कल्पनाशील थे; इसी कारण उनके निबन्धों में वैयक्तिक विशेषताएँ, हास्य-विनोद, व्यंग्य, निश्छलता आदि गुण स्वभावत: आ गए थे।

यहाँ यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि इस युग के निबन्धों पर अंग्रेजी के निबन्ध-साहित्य का भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा था। अंग्रेजी-साहित्य में निबन्धों का जन्म और विकास सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के ही माध्यम से हुआ था। यही स्थिति हम हिन्दी के निबन्ध-साहित्य के आरम्भिक रूप की पाते हैं। यहाँ भी पत्र-पत्रिकाओं ने ही निबन्ध-साहित्य को जन्म और विकास दिया था। पत्रकारिता के इसी प्रभाव के कारण इस काल के निबन्धों में विषय की विविधता, सामाजिक और राजनीतिक जागरण, शैली की रोचकता और सरसता आदि गुण आ गए थे। इन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक और लेखक इस नवीन चेतना के प्रतिनिधि थे। इसी कारण इनका सामाजिक व्यक्तित्व और कृतित्व बहुमुखी रहा। उन्हें साहित्य के नवीन और प्राचीन अंगों को पुष्ट बनाना था, नाट्यकला की ओर ध्यान देना था, सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर टीका-टिप्पणी करनी थी, शिक्षा का प्रसार करना था। और इन सम्पूर्ण कार्यों के लिए निबन्ध ही सबसे अच्छा और सशक्त माध्यम बन सकता था। इसी कारण इस युग में खूब निबन्ध लिखे गए। इस युग के लेखकों ने निबन्ध को अपने प्रचार का माध्यम इसलिए और भी बनाया था कि साहित्य के अन्य अंगों के माध्यम से अपनी बात कहने में अनेक कला-सम्बन्धी विधि-निषेधों का पालन करना पड़ता, परन्तु निबन्ध मे ऐसे बन्धनों को मानने की जरूरत नहीं होती।

नाटक साहित्य

इस युग में नाटक भी खूब लिखे गए थे। यद्यपि इस युग की नाट्य-कला संस्कृत नाट्य-कला से अधिक प्रभावित रही है, परन्तु उस पर नवीन बँगला नाट्य-साहित्य के माध्यम से पाश्चात्य नाट्य-कला का भी प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था। साहित्यिक दृष्टि से इस काल के नाटकों का अधिक मूल्य नहीं माना जा सकता।

इनमें मौलिकता और नाटकीय गुणों का अभाव है। परन्तु प्रभाव की दृष्टि से इनका अभूतपूर्व महत्त्व रहा था। इनकी दो विशेषताएँ सामने उभर कर आती हैं : १—देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि दैवी-पात्रों का अभाव और इनके स्थान पर मनुष्य की बुद्धि और भावों के चमत्कार का प्रदर्शन। इस प्रकार इस काल में नाटक-साहित्य मानव-जीवन से निकट का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर आगे बढ़ता है। २—पद्य के स्थान पर गद्य का प्रयोग। शैली की दृष्टि से इस काल में नाटकों का अपेक्षित विकास न हो सका। अधिकांश नाटकों के कथानक अत्यन्त शिथिल थे। चरित्रों का व्यक्तित्व नाटककारों के व्यक्तित्व से लिपटा रह गया, उनकी स्वतंत्र स्थिति न बन सकी। संस्कृत नाटकों के नान्दी-पाठ, स्वगत-भाषण, काव्यात्मक वातावरण आदि यथावत् बने रहे। रीतिकालीन काव्य के प्रभाव से चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी आ गई। जहाँ तक वस्तु-चयन की विविधता तथा सामान्य पात्रों के चुनाव का प्रश्न है, इस काल के नाटक संस्कृत की घिसी-पिटी परम्परा को काफी पीछे छोड़ चुके थे। इस काल के अधिकांश नाटकों में प्रच्छन्न या प्रत्यक्ष रूप से देशभक्ति, अतीत गौरव आदि का स्वर ही सर्वाधिक तीव्र रहा। इसमें सन्देह नहीं कि जन-जागरण के कार्य में इन नाटकों का ऐतिहासिक योग-दान रहा था।

उपन्यास-साहित्य

उपन्यास-साहित्य की दृष्टि से इस युग को महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। लेखकगण नाटक और निबन्ध के साथ एकाध उपन्यास भी लिख डालते थे। 'परीक्षा-गुरु' जैसे एकाध सुन्दर उपन्यास अवश्य लिखे गये परन्तु इनकी शैली एवं संवादों पर अंग्रेजी-उपन्यासों का प्रभाव रहा। अधिकतर उपन्यास उपदेशात्मक ही रहे। इसी काल में एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि बँगला, अंग्रेजी आदि भाषाओं के उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद होना आरम्भ हो गया। इन अनुवादों द्वारा एक लाभ यह हुआ कि हिन्दी-पाठकों को नए ढंग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास पढ़ने को मिले और लेखकों को मौलिक उपन्यास-लेखन की प्रेरणा। बस, इससे अधिक इस काल के उपन्यास-साहित्य का महत्त्व नहीं माना जा सकता।

पत्र-पत्रिकाएँ

पत्रकारिता की दृष्टि से इस युग का अपना एक विशिष्ट महत्त्व रहा है। निबन्ध आदि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही प्रकाश में आते थे। भारतेन्दु आदि पत्रकारिता के महत्त्व और उसकी उपादेयता का अनुभव कर इस क्षेत्र में आगे बढ़े थे। भारतेन्दु ने सन् १८६७ में 'कवि वचन सुधा' का प्रकाशन आरम्भ किया, जिसे हम हिन्दी का सबसे पहला महत्त्वपूर्ण मासिक-पत्र कह सकते हैं। इसके अनुकरण पर 'हिन्दू बान्धव' और 'ज्ञानप्रदायिनी' आदि का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सन् १८७३ में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' निकली। 'कवि वचन सुधा' से लेकर 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' तक भारतेन्दु भाषा-शैली और विचारों के क्षेत्र में मार्ग खोजते रहे। इसके उपरान्त उन्होंने

'बाला बोधिनी' और 'श्री हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' निकालीं। इनमें सरकार के विरुद्ध सैकड़ों लेख, कविता और टिप्पणी प्रकाशित होती रहती थीं। 'कवि-वचन सुधा' में प्रकाशित एक व्यंग्य से रुष्ट होकर काशी के अंग्रेज कलक्टर ने शिक्षा-विभाग के लिए भारतेन्दु की पत्र-पत्रिकाओं की खरीद पर रोक लगा दी थी। हिन्दी की इन पत्र-पत्रिकाओं को न तो सरकारी विज्ञापन मिलते थे, और न किसी अन्य प्रकार की सहायता या प्रोत्सासन ही।

सन् १८७४ में लाला श्रीनिवास दास ने 'सदादर्श' निकाला। १८७६ में 'काशी-पत्रिका' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सन् १८७७ का वर्ष हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इसी वर्ष बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप', लाहौर से 'मित्र विलास' और प० रुद्रदत्त शर्मा के 'भारत मित्र' का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। सन् १८८१ में प्रेमधन की 'आनन्द कादम्बिनी' प्रकाशित हुई। पुस्तकों की आलोचना सर्वप्रथम इसी में आरम्भ हुई थी। सन् १८८२ में अम्बिका दत्त व्यास की 'वैष्णव पत्रिका' और सन् १८८३ में प्रताप नारायण मिश्र का 'ब्राह्मण' निकले। इस काल में इन महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक पत्र-पत्रिकाओं का भी यथेष्ट संख्या में प्रकाशन हुआ था। एक गणना के अनुसार भारतेन्दु से लेकर उन्नीसवीं सदी के अन्त तक हिन्दी में लगभग ३००-३५० पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ था, जिनमें से अधिकांश कुछ समय चलकर ही धनभाव के कारण बन्द हो जाती थीं। परन्तु यह संख्या यह बताती है कि उस समय हिन्दी के लेखकों में पत्रकारिता कितनी अधिक लोकप्रिय थी।

उस युग के पत्रों में अधिकांश मासिक और साप्ताहिक थे। मासिक-पत्रों में निबन्ध, कविता, उपन्यासों के अंश, वार्ता आदि के रूप में सुन्दर साहित्यिक सामग्री का प्रकाशन होता था। साप्ताहिक-पत्रों में समाचार और उन पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ निकलती थीं। उस समय दैनिक-पत्रों की अधिक माँग नहीं थी। इन सम्पूर्ण पत्र-पत्रिकाओं ने उस काल में जनता में जागृति फैलाने का ऐतिहासिक कार्य किया था। इस सम्पूर्ण काल का आदर्श भारतेन्दु की पत्रकारिता थी। सब उनसे प्रभावित थे। भारतेन्दु से पहले प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाएँ शिक्षा-प्रचार और धर्म-प्रचार तक ही सीमित रहती थीं। भारतेन्दु ने उनमें सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक विचारधाराओं का समावेश किया। इन पत्रों का मुख्य उद्देश्य—अपने-अपने विचारों का प्रचार करना था। इस दृष्टि से, आधुनिक पत्रकार-कला के उन्नत रूप को देखते हुए, भले ही इनका विशेष महत्त्व न प्रतीत होता हो, परन्तु इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी की गद्य-शैली को पुष्ट करने तथा जनता में जीवन की नवीन ज्योति भरने का सराहनीय कार्य किया था। इस दृष्टि से इनका महत्त्व सदैव अक्षुण्ण बना रहेगा।

इनमें से आज वही पत्र-पत्रिकाएँ हमारे साहित्यिक इतिहास के क्रमिक विकास में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिन्होंने भाषा-शैली, साहित्य अथवा राजनीति के क्षेत्र में विशेष कार्य किया था। साहित्यिक दृष्टि से इस काल के पत्रों में 'हिन्दी प्रदीप, ब्राह्मण,

क्षत्रिय पत्रिका, आनन्द कादम्बिनी, भारतेन्दु, देवनागरी प्रचारक, नागरी नीरद, साहित्य सुधानिधि' आदि का विशेष महत्त्व है। राजनीतिक दृष्टि से 'भारत मित्र, सार-सुधानिधि, हिन्दुस्तान, भारत जीवन, भारतोदय, और हिन्दी बंगवासी' उल्लेखनीय हैं। डा० रामरतन भटनागर ने इस काल की पत्रकार-कला के महत्त्व की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—

"इन पत्रों में हमारे उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य रसिकों, हिन्दी के कर्मठ उपासकों, शैलीकारों और चिन्तकों की सर्वश्रेष्ठ निधि सुरक्षित है।........बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सदानन्द मिश्र, रुद्रदत्त शर्मा, अम्बिकादत्त व्यास और बाल-मुकुन्द गुप्त जैसे कर्मठ, निर्भीक पत्रकारों और लेखकों की सजीव लेखनी से निकले हुए न जाने कितने निबन्ध, टिप्पणी, लेख, पंच, हास-परिहास और रेखाचित्र आज हमें अलभ्य हो रहे हैं। इतने जीवट के पत्रकार हमें बीसवीं शताब्दी में भी नहीं दिखाई देते। आज भी हमारे पत्रकार इनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। अपने समय में तो वे अग्रणी थे ही।"

वस्तुतः अभी इस युग की पत्र-पत्रिकाओं की अच्छी तरह से खोज-बीन नहीं हो पाई है। इनमें से अनेक की प्राचीन प्रतियाँ छोटे-मोटे पुस्तकालयों, पुराने साहित्य-प्रेमियों आदि के यहाँ बिखरी हुई पड़ी हैं। अभी तक इनमें प्रकाशित सामग्री का पूर्ण आकलन और मूल्यांकन नहीं हो पाया है। उस युग की समस्त साहित्यिक गतिविधियों का पूरा लेखा-जोखा इन्हीं प्राचीन प्रतियों में दबा पड़ा है। आज जरूरत इस बात की है कि राष्ट्रीय-स्तर पर इस लुप्तप्राय से साहित्य की खोज कर उसका संग्रह किया जाय। यदि यह कार्य सम्भव हो जाय तो उन्नीसवीं सदी के भारतीय इतिहास के अनेक ऐसे तथ्य प्रकाश में आ सकेंगे, जिनके सम्बन्ध में अभी तक अनेक भ्रमों का प्रचार होता रहा है।

हिन्दी-प्रचार

इस काल में हिन्दी-प्रचार का कार्य भी जोरों से हुआ था। साहित्य का निर्माण हो रहा था परन्तु सरकारी काम-काज की भाषा उर्दू होने के कारण सामान्य जनता में हिन्दी-पठन-पाठन की प्रवृत्ति मन्द थी। लिखित और प्रकाशित साहित्य का मनो-वांछित प्रचार और बिक्री न होने के कारण लेखक और प्रकाशक—दोनों को ही प्रोत्साहन नहीं मिलता था। भारतेन्दु जैसे जागरूक साहित्यकार स्थिति की इस विषमता को समझते थे, इसलिए उन्हें निरन्तर सभाएँ आयोजित कर, व्याख्यान दे, हिन्दी का प्रचार करना पड़ता था। भारतेन्दु प्रत्येक सभा और व्याख्यान में अपना यह मूल-मंत्र अवश्य सुनाते थे—

'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥'

हिन्दी का प्रचार करने के लिए अनेक नगरों में हिन्दी-प्रचार संस्थाओं की स्थापना की गई थी। बाबू तोताराम ने अलीगढ़ में 'भाषा सम्वर्द्धिनी सभा' को जन्म दिया था। इलाहाबाद में 'हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्य सभा' (सन् १८८४) की स्थापना हुई थी। आगे चलकर, पुराने साहित्यकारों से प्रेरणा ग्रहण कर कुछ नवयुवकों ने वाराणसी में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' (सन् १८९३) की स्थापना की। इसके संस्थापकों में बाबू श्यामसुन्दरदास, रामनारायण मिश्र, ठाकुर शिवकुमार सिह प्रमुख थे। बाबू राधाकृष्णदास इसके पहले सभापति बने। इसका मूल उद्देश्य—हिन्दी-भाषा और नागरी लिपि का प्रचार करना निर्धारित किया गया। हिन्दी-प्रचार का यह आन्दोलन उस समय कुछ लोगों के लिए जीवन का एकमात्र लक्ष्य और नशा-सा बन गया था। पंडित गौरीदत्त ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति हिन्दी-प्रचार के निमित्त अर्पित कर हिन्दी-प्रचार का झण्डा उठा लिया। वह जगह-जगह व्याख्यान देते हुए घूमने लगे। इस प्रकार उस युग में हिन्दी-प्रचार का आन्दोलन तीव्र गति और अद्‌भुत निष्ठा के साथ होता रहा। जनता में हिन्दी का प्रचार बढ़ा और लोगों ने हिन्दी लिखना और बोलना आरम्भ कर दिया। सरकारी कार्यालयों में नागरी-लिपि का प्रयोग होने की माँग लेकर सरकार के पास प्रायः प्रतिनिधि-मंडल भेजे जाते रहे जिनमें पं० मदनमोहन मालवीय, सर सुन्दरलाल, काशी और अवागढ़ के नरेश जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति सम्मिलित रहते थे। इस प्रकार हिन्दी और नागरी लिपि का प्रचार उस युग के राष्ट्रीय जीवन का एक प्रधान अंग बन गया था।

हिन्दी-प्रचार का यह कार्य तीव्र गति से आरम्भ तो हो गया था परन्तु हिन्दी-भाषा का, विशेष रूप से हिन्दी-गद्य का, कोई सुनिश्चित स्वरूप सामने न रहने से न तो गद्य का कोई सुनिश्चित स्वरूप निर्धारित हो सका और न यह स्पष्ट हो पाया कि हिन्दी की शिक्षा किस प्रकार दी जाय। इसका परिणाम यह निकला कि गद्य-क्षेत्र में लेखकों द्वारा मनमाने शब्दों और शैलियों को अपनाए जाने के कारण एक अराजकता की सी स्थिति छा गई। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

"जिन्होंने उर्दू का अभ्यास किया था, वे उर्दू मुहावरों से हिन्दी को भरने लगे; जिन्होंने संस्कृत का अभ्यास किया था, उन्होंने प्रयत्नपूर्वक भाषा पर संस्कृत-पदावली लादने का प्रयास किया; जिन्होंने बँगला का नैकट्य प्राप्त किया था, उन्होंने 'प्राणपण' से भाषा को कोमल-कान्त पदावली से भरना आरम्भ किया; और जिन्होंने अंग्रेजी का अभ्यास किया था, उन्होंने अंग्रेजी शब्दावली से अनुवादित या परिवर्तित शब्दों को अपनी भाषा में ठूँसना शुरू किया। इस प्रकार भाषा में अव्यवस्था आ गई। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जहाँ एक ओर हिन्दी का नया साहित्य नवीन प्राणशक्ति से उद्वेल हो रहा था, जहाँ से भी उत्तम वस्तु मिले, उसको ग्रहण करने के लिए व्याकुल हो उठा था, वहाँ भाषा में अव्यवस्था और शैथिल्य का जोर बढ़ गया।"

परन्तु उस युग में जैसी स्थिति थी, उसके अनुसार ऐसा होना नितान्त स्वाभाविक था। भाषाओं में परस्पर आदान-प्रदान का होता रहना, उनकी जीवन्त-शक्ति का लक्षण और प्रमाण होता है। हिन्दी ने अपनी इस शक्ति का आरम्भ से ही परिचय देना प्रारम्भ कर दिया था। इस पारस्परिक आदान-प्रदान से भाषा समृद्धशालिनी बनती है। उसके शब्द-भंडार में, शैली-रूपों में वृद्धि होती है। इसी आदान-प्रदान से भाषा का रूप विकसित और पुष्ट होता है। भारतेन्दु-कालीन हिन्दी के लेखकों की यही भाषा-नीति थी और इसी की दृढ़ आधार-शिला पर हिन्दी भविष्य में अपना विकास करने में समर्थ हुई थी। इसलिए उस काल की इस अवस्था को भावी-उन्नति का शुभ-लक्षण ही मानना चाहिए, न कि उसकी बुराई या कमजोरी। इस अवस्था ने ही उस काल में हिन्दी के लेखकों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित कर दिया था कि हिन्दी का भावी रूप कैसा होना चाहिए। बीसवीं सदी के प्रथम चतुर्थांश में इस रूप को निर्धारित करने के प्रयत्न किए गए थे।

समाज-सुधार और अतीत गौरव की भावना

इस युग के साहित्य में राष्ट्रीयता की भावना सर्वोपरि रही थी। समाज-सुधार और भारत के इतिहास का पुनरुद्धार कर देश के अतीत के प्रति गौरव की भावना जाग्रत करना, इसी राष्ट्रीयता के दो अंग थे। प्रहसनों द्वारा समाज-सुधार की भावना का प्रकाशन हुआ। भारतेन्दु के अनेक प्रहसन, जैसे—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्', 'अंधेर नगरी' आदि; प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि-कौतुक'; राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुँहासे, लोग चले तमाशे'; देवकी नन्दन त्रिपाठी का 'जय नरसिंह की,' 'कलियुगी जनेऊ' आदि प्रहसनों में समाज की अनेक कुरीतियों, अव्यवस्थाओं आदि पर हास्य के माध्यम से गहरे, चुटीले व्यंग्य किए गए थे। इनके अतिरिक्त अनेक नाटकों द्वारा राष्ट्रीय-गौरव की भावना को उभारा गया था। इनमें से कुछ में देश की दीन-विषम दशा का चित्रण किया गया था, जैसे—भारतेन्दु का 'भारत-दुर्दशा', जगतनारायण शर्मा का 'भारत दुर्दिन', प्रतापनारायण मिश्र का 'भारत दुर्दशा', गोपालराम गहमरी का 'देश दशा' आदि। और कुछ नाटकों में भारत के अतीत गौरव, सांस्कृतिक विभूति आदि का अंकन कर आत्म-गौरव की भावना को विकसित किया गया था, जैसे—अम्बिका प्रसाद व्यास का 'भारत सौभाग्य', खड्ग-बहादुर मल्ल का 'भारत ललना', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का 'भारत-सौभाग्य' आदि। ये समस्त नाटक राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक थे।

यह राष्ट्रीय चेतना एक दूसरे रूप में और प्रकट हुई थी। वह रूप था—भारतीय प्राचीन इतिहास के पुनरान्वेषण और उद्धार का। इस क्षेत्र में देशी-विदेशी अनेक विद्वानों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस कार्य का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय गौरव के पुनरुद्धार का समय है। इस काल में

अनेक देशी-विदेशी विद्वानों के परिश्रम से भारतवर्ष के भूले हुए इतिहास का एक ढाँचा प्रस्तुत किया जा सका। ब्राह्मी, खरोष्ट्री जैसी भूल हुई लिपियों का उद्धार हुआ। अनेक शिलालेखों, ताम्रपत्रों और राजकीय मुद्राओं के आविष्कार से इतिहास की टूटी कड़ियाँ जोड़ी गईं। सिंहल, बर्मा और श्याम में प्रचलित भारतवर्ष का प्राचीन परिभाषा का ग्रन्थ-भंडार प्राप्त किया गया। तिब्बत, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा और बाली द्वीपों में भारतीय ज्ञान-भंडार और संस्कृति के अवशेष चिन्ह प्राप्त हुए। वैदिक और लौकिक संस्कृत-शास्त्रों का अनुसन्धान, संकलन और सम्पादन किया गया। मौर्यों, शुंगों, गुप्तों और राजपूत-नरेशों के वीरत्वपूर्ण कथानकों का संकलन किया गया और इन सबके परिणाम स्वरूप सोचने-समझने वाले भारतवासी के चित्त में नवीन आत्म-गौरव का संचार हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनरुद्धार का महत्त्व बहुत अधिक है। इसका सबसे प्रत्यक्ष प्रभाव साहित्य पर पड़ा। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही काव्यों, नाटकों और उपन्यास-कहानियों का विषय पुराना भारतीय गौरव होने लगा। इसका सूत्रपात हरिश्चन्द्र-काल में ही हो गया था, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में इन विषयों का मन्थन होता रहा। इसका पूर्ण परिपाक बीसवीं शताब्दी में ही हुआ।"

यहाँ इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि भारत के नए शासक—अंग्रेज ने भारतीय इतिहास के इस पुनरुद्धार में कोई योग नहीं दिया था। यूरोप वासी जब संस्कृत के समृद्ध साहित्य के परिचय में आए तभी वहाँ की मनीषा ऐसे समृद्ध साहित्य की जन्म-दात्री भारत भूमि के सम्बन्ध में अधिक जानने को उत्सुक हो उठी। जर्मनी, रूस आदि के विद्वानों ने इस सम्बन्ध में प्रयास करने आरम्भ किए। वे उदारमना अंग्रेज भी इस कार्य के प्रति आकृष्ट हुए जो निकृष्ट साम्राज्यवादी स्वार्थी भावना से मुक्त थे। इन्हीं पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय विद्वानों को इस कार्य के प्रति आकृष्ट किया था। इसके विपरीत साम्राज्यवादी अंग्रेज तो इस देश के इतिहास, संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि सभी को एक अर्द्धसभ्य, अविकसित देश की सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहा था। अस्तु,

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास का यह काल—एक अभूतपूर्व नवीन चेतना और बहुमुखी हलचल का काल था। इसमें आधुनिक हिन्दी-साहित्य की भावी सम्भावनाओं के दर्शन होने लगे थे। परवर्ती काल में इन सम्भावनाओं को साकार रूप प्राप्त हुआ था। प्रचार का युग समाप्त हो चला था। अब ठोस साहित्य-निर्माण का युग जन्म लेने की आकुलता प्रकट करने लगा था। ईसा की बीसवीं सदी के आरम्भ में ही वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-साहित्य का जन्म हुआ था। इससे पूर्व की पूरी उन्नीसवीं सदी इस साहित्य के जन्म से पूर्व का प्रसव-वेदना काल रहा था, जिसमें इस बात की ही चिन्ता अधिक रही थी कि इस जन्म लेने वाले गर्भस्थ साहित्य-शिशु को पौष्टिक आहार प्राप्त होता रहे जिससे उसका भावी रूप पुष्ट और सुन्दर बने।

इससे पूर्व भावी शिशु के जन्म की सम्भावनाओं से भरा आत्मिक उल्लास ही भारतेन्दु-कालीन साहित्य में मुखरित हुआ था।

सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक नवोन्वेष का काल

भारतेन्दु के समय में, हिन्दी-साहित्य एक नई दिशा की ओर उन्मुख हुआ था। नई साहित्य-विधाओं, नवीन विषयों, नए गद्य-रूपों, खड़ीबोली और ब्रजभाषा के द्वन्द्व आदि के कारण उसका रूप अपने पूर्ववर्ती रूप से भिन्न, विविध-मुखी, विस्तृत और विशाल बन, नवीन युग-चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहा था। सच्चे और यथार्थ रूप में हिन्दी-साहित्य अपने सम्पूर्ण विशाल इतिहास में पहली बार समग्र युग-चेतना का वाहक बना था। साहित्य इस युग में जीवन के साथ जितना अधिक सटा हुआ और उसके साथ सम्पूर्णतः घुल-मिल कर आगे बढ़ा था, वैसा उससे पूर्व कभी भी नहीं दिखाई पड़ा। इस काल के साहित्य ने उस सशक्त, दृढ़ और भावी सम्भावनाओं से ओतप्रोत आधार-शिला का निर्माण किया था जिस पर परवर्ती साहित्य-साधकों द्वारा आधुनिक साहित्य का विशाल भवन निर्मित किया। भारतेन्दु काल में जिस युग-चेतना का जन्म और विकास हुआ था, वह आगे चलकर अधिक बलवती, अधिक विस्तृत और गहरा रूप धारण करती चली गई थी। इसके इस विकास के कारण भी इसीलिए गहरे और प्रभावकारी थे।

परिवर्तित राजनीतिक स्थिति

सन् १८५७ की प्रथम राज्य-क्रान्ति के दमन के उपरान्त भारत में अंग्रेज का एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो गया था। उत्तर मुगल कालीन देशी राजतंत्र अंग्रेज के सम्मुख सम्पूर्णतः आत्म-समर्पण कर निष्क्रिय बन गया था। इसलिए सशस्त्र प्रतिरोध की सम्भावना समाप्त हो गई थी। अंग्रेज जब भारत का एकछत्र शासक बन गया तो उसने कूटनीति और कौशल द्वारा एक ओर तो अपने व्यापार को समृद्ध बनाने का प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया, और दूसरी ओर यहाँ के प्राचीन इतिहास, संस्कृति धर्म, साहित्य आदि की भ्रान्त व्याख्याएँ प्रस्तुत कर भारतीयों के मन में इन सबके प्रति तिरस्कार और हीनता की तथा अंग्रेज और अंग्रेज से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के प्रति सम्मान और मोह की भावना उत्पन्न करने का अपना अधूरा अभियान पुनः तीव्र गति से आरम्भ कर दिया। अंग्रेजी-व्यापार की समृद्धि के साथ एक ओर तो देशी व्यापार और उद्योग-धन्धे नष्ट होने लगे और दूसरी ओर देश का धन तेजी से इंगलैण्ड जाने लगा। फलतः देश में बेकारी और गरीबी का साम्राज्य बढ़ता चला गया। देश का शासन अंग्रेज द्वारा अंग्रेजी के माध्यम से चलाया जा रहा था। उच्च सरकारी पदों पर अंग्रेजों की नियुक्ति होती थी और सामान्य सरकारी पदों पर अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों की। इसलिए देश में अंग्रेजी-शिक्षा का जोर निरन्तर बढ़ता चला गया। भारतीय मध्य वर्गीय युवक अंग्रेजी-शिक्षा प्राप्त कर सरकारी

नौकरी पाने में ही अपने जीवन और भविष्य की सुरक्षा समझने लगा। और अंग्रेज द्वारा या अंग्रेज के निर्देशन में लिखी पाठ्य-पुस्तकों को पढ़कर अंग्रेज और अंग्रेजी को महान् तथा हिन्दी आदि देशी भाषाओं और उनके बोलने-व्यवहार करने वालों को हीन दृष्टि से देखने का अभ्यासी बनता चला गया। इसके साथ ही ईसाई-प्रचारक भारतीय धर्मों, विशेष रूप से हिन्दू-धर्म, संस्कृति और इतिहास की मनमानी, भ्रान्त, विरक्तिजनक व्याख्याएँ कर ईसाई-धर्म का प्रचार करने का प्रयत्न अब निष्कंटक रूप से करने लगे थे।

सामाजिक स्थिति के प्रति नया दृष्टिकोण

यह स्थिति देश के लिए भयावह थी। भारत और भारतीयता के अनुरागी प्रबुद्ध जनों, साहित्य-साधकों और देशभक्तों को यह स्थिति पहले से ही खलती चली आ रही थी और अब अंग्रेज का यह भयावह रूप देख और अधिक खलने लगी। देश को विदेशी दासता से मुक्त करने और भारतीय धर्म और संस्कृति की रक्षा करने की भावना आरम्भ में मन्द और सतर्क गति से आगे बढ़ी और जब इस भावना ने देश की जनता में गहरी जड़ें जमा लीं तो उसकी गति तीव्र और रूप उग्र हो उठा। सन् १८७५ में स्वामी दयानन्द ने 'आर्य समाज' की स्थापना कर हिन्दू धर्म की नई युगानुरूप व्याख्या की और उस विशाल सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म दिया जो द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व तक भारतीय जन-मानस को, विशेष रूप से हिन्दी-भाषी प्रदेश को आन्दोलित करता रहा था। भारतेन्दु के समय में इसका विशेष प्रभाव लक्षित नहीं होता परन्तु बीसवीं सदी के आरम्भ से यह आन्दोलन हिन्दी-साहित्य की एक प्रधान प्रेरक-शक्ति बन गया था। आर्य-समाज ने हिन्दू-धर्म, भारतीय संस्कृति, इतिहास, वेशभूषा रहन-सहन, भाषा आदि को अपनाने और धार्मिक-सामाजिक कुरीतियों, अन्ध-विश्वासों, पाखंडों आदि को दूर करने का नारा लगाया था।

अतीत गौरव की भावना

देश में अंग्रेजी-शिक्षा के प्रचार ने भारत का एक कल्याण भी किया था। अंग्रेजी के माध्यम से भारतीयों को पाश्चात्य-साहित्य, वहाँ की विचारधाराओं, राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तनों, नवीन विज्ञान, प्राचीन इतिहास अदि का परिचय प्राप्त हुआ। कुछ उदारमना अंग्रेज तथा जर्मनी, रूस आदि देशों के विद्वान् भारतीय संस्कृत और देशी भाषाओं के साहित्य, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व आदि के प्रति आकृष्ट हुए। निष्पक्ष विद्वानों ने प्राचीन भारतीय साहित्य और इतिहास की नई खोज कर यह कहा कि प्राचीन भारतीय साहित्य, सभ्यता और इतिहास अत्यन्त भव्य और उन्नत रहा है। उनसे प्रेरणा प्राप्त कर अनेक भारतीय विद्वान् भी इस नई दिशा की ओर प्रवृत्त हुए और उनके विचारों एवं रचनाओं ने जन-मानस में इस भावना का संचार करना आरम्भ कर दिया कि हमारा अतीत भव्य और उन्नत रहा है। यह नई भावना थी जो भविष्य में अंग्रेज के भारत-विरोधी प्रचार के मार्ग में बहुत बड़ी

बाधा सिद्ध हुई । इस भावना ने हिन्दी के साहित्य-साधकों को एक नई प्रेरणा प्रदान की । उन्होंने अपने साहित्य में भारत के गौरवमय अतीत के भव्य चित्र अङ्कित करने आरम्भ कर दिए । 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटक और कहानियाँ—इसी भावना के विकसित रूप थे । इस अतीत-गौरव की भावना ने अंग्रेज द्वारा बहु-प्रचारित और स्थापित भारतीयों की हीनता की भावना को दूर करने और देश-प्रेम की भावना को उन्नत और सशक्त बनाने में ऐतिहासिक कार्य किया था । अब जनता अंग्रेज द्वारा लिखित भारतीय-इतिहास पर विश्वास न कर, स्वाभिमान और गौरव की भावना से भर उठी थी । इस नई भावना ने राजनीतिक चेतना को जाग्रत करने में बहुत बड़ा कार्य किया ।

राजनीतिक चेतना का विकास और रूप

देश के शासन में, नीति-निर्धारण में भारतीयों का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था । भारत की शासन-नीति और उसके क्रियान्वयन की प्रक्रिया का निर्धारण इङ्गलैंड में अंग्रेज द्वारा किया जाता था । यह स्थिति जागरूक भारतीयों को अखरती थी । इसलिए देश के अनेक पढ़े-लिखे, उच्चवर्गीय लोगों ने सन् १८८५ में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना कर देश के शासन में भारतीयों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने की माँग उठाई । अंग्रेज ने इस नई राजनीतिक संस्था की स्थापना का श्रेय ह्यूम नामक एक अंग्रेज को ही दिया है । परन्तु अंग्रेज-शासक के पूर्व-इतिहास और धूर्त-स्वभाव को देखते हुए इस बात पर विश्वास नहीं होता कि अंग्रेजी-शासन के ही एक अङ्ग ह्यूम ने भारत के कल्याण के लिए इस नई संस्था को जन्म दिया होगा । उस समय स्थिति यह थी कि देश में जनता का असन्तोष वृद्धि पर था । अंग्रेज को भय था कि कहीं सन् १८५७ की पुनरावृत्ति न हो जाय । इसलिए उसने जागरूक उच्चवर्गीय लोगों तथा उनके माध्यम से जनता को बहलाने के लिए इस नई राजनीतिक संस्था को जन्म दिया था । इसी कारण आरम्भ में इस कांग्रेस का कार्य सरकार की सेवा में प्रार्थना-पत्र और प्रतिनिधि-मंडल भेजने तक ही सीमित रहा । परन्तु इस संस्था में धीरे-धीरे ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती चली गई जो उग्र-नीति के समर्थक और देश की आजादी की माँग उठाने वाले थे । अतः यह संस्था दो दलों में विभक्त सी हो गई । एक दल 'नरम दल' कहलाया, और दूसरा 'उग्र दल' । उग्र-दल ने देश की आजादी की माँग उठाई । लोकमान्य तिलक ने यह घोषित किया कि 'स्वतन्त्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है ।'

सन् १९०५ में रूस-जापान युद्ध हुआ जिसमें जापान की विजय हुई । इससे समस्त एशिया महाद्वीप में इस भावना का प्रचार हुआ कि 'गोरे' अजेय नहीं हैं । उन्हें हराया जा सकता है । भारत में भी स्वाभिमान की यह भावना बढ़ी । सन् १९०८ में अंग्रेज ने बंगाल का विभाजन करने की घोषणा की । इस घोषणा का केवल बंगाल की ही नहीं, अपितु समस्त भारत की जनता ने उग्र विरोध किया ।

अंग्रेज ने दमन का हथियार सम्हाला और भारतीय क्रान्तिकारियों ने अंग्रेज और उसके समर्थक भारतीयों को बम और पिस्तौल का निशाना बनाना आरम्भ कर दिया। सारा देश एक नई और उग्र राजनीतिक चेतना और आन्दोलन से भर उठा। फलस्वरूप अंग्रेज को बंगाल का विभाजन करने की योजना त्यागनी पड़ी। यह राजनीतिक क्षेत्र में भारतीयों की अंग्रेज पर पहली विजय थी। इसका प्रभाव बँगला-साहित्य पर तो गहरा दिखाई पड़ा, परन्तु हिन्दी-साहित्य पर आंशिक ही रहा। इस समय तक हिन्दी-साहित्य छिट-पुट राजनीतिक अभिव्यक्तियों के साथ प्रधान रूप से सामाजिक-सुधार, भाषा-संस्कार, साहित्य का माध्यम खड़ीबोली रहे या ब्रजभाषा, अतीत गौरव-गान आदि की भावनाओं से ही आन्दोलित होता रहा। भारतेन्दु के समय की राजनीतिक चेतना, देश-दुर्दशा पर क्षोभ आदि की भावनाएँ इस साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान न पा सकीं।

सन् १९१४ में प्रथम विश्व-युद्ध आरम्भ हो गया। अंग्रेज को जर्मनी के विरुद्ध भारतीय जन और धन की जरूरत थी। अतः उसने भारतीयों को यह आश्वासन दिया कि यदि वे इस युद्ध में अंग्रेज की सहायता करेंगे तो विजयोपरान्त उन्हें स्वायत्त-शासन प्रदान कर दिया जायेगा। इस समय तक कांग्रेस राजनीतिक आन्दोलन का केन्द्र बन चुकी थी। उसमें महात्मा गांधी का महत्त्व बढ़ता जा रहा था। गांधी जी ने अंग्रेज की इस शर्त को स्वीकार कर लिया। परन्तु युद्ध की समाप्ति पर विजय के मद में अन्धे बने अंग्रेज ने भारत को रोलट-कानून और जलियानवालाबाग जैसे भयानक हत्याकांडों से पुरस्कृत किया। अंग्रेज के इस विश्वासघात ने भारत में एक अत्यन्त उग्र राजनीतिक आन्दोलन को जन्म दिया। गांधी जी ने कांग्रेस की बागडोर सम्हाल कर खिलाफत, असहयोग, नमक, भारत छोड़ो—आदि विभिन्न आन्दोलनों की एक ऐसी लम्बी और प्रभावशाली शृंखला को जन्म दिया जिसके कारण अन्त में सन् १९४७ में अंग्रेज को भारत छोड़ भाग जाना पड़ा।

गांधी जी स्वदेश, स्वदेशी-वस्तु, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, सत्य और अहिंसा, असहयोग और सत्याग्रह, हृदय-परिवर्तन, चारित्रिक श्रेष्ठता आदि के प्रबल समर्थक और प्रचारक थे। हिन्दू-मुस्लिम-एकता का नारा भी सशक्त रूप में सबसे पहले उन्होंने ही उठाया था। समष्टि रूप से गांधी जी एक ऐसे युग-प्रवर्त्तक थे जिन्होंने देश की राजनीति, विचारधारा, दर्शन को अत्यन्त गहरे रूप से प्रभावित कर देश की सामाजिक चेतना को रूढ़ि-विरोधी और क्रान्तिकारी रूप प्रदान किया था। हिन्दी-साहित्य में इसी कारण हमें गांधी जी के विचारों का गहरा प्रभाव मिलता है।

सन् १९१७ में रूस में राज्य-क्रान्ति हुई और वहाँ समाजवादी-शासन की स्थापना कर दी गई। इस राज्य-क्रान्ति ने विश्व के शोषित-पीड़ित वर्ग को एक नई चेतना प्रदान कर अपने अधिकारों के प्रति उन्मुख कर दिया था। भारत में भी

इसका प्रभाव पड़ा और यहाँ समाजवादी विचारधारा का सुव्यवस्थित रूप में प्रचार और प्रसार होने लगा। इसके अतिरिक्त फ्रायड की कामपरक विचारधारा भी धीरे-धीरे यहाँ प्रवेश करती जा रही थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जब उनकी 'गीताञ्जलि' पर विश्व-प्रसिद्ध 'नोबल पुरस्कार' मिला तो उनकी ओर सारे भारत का ध्यान आकर्षित हुआ और उनके विश्व-बन्धुत्व, मानवतावाद, रहस्यमयी उक्तियों आदि का देश के साहित्य पर प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया। बंग-भंग आन्दोलन के प्रसिद्ध नेता और क्रान्तिकारी अरविन्द घोष राजनीति को त्याग, योग-साधना द्वारा नई दृष्टि और शक्ति प्राप्त कर भौतिक उन्नति के स्थान पर आध्यात्मिक उन्नति करने का प्रचार कर रहे थे। साथ ही नवयुवा भारतीय साहित्य-साधक पाश्चात्य-साहित्य और दर्शन का अध्ययन कर उससे प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण करने की ओर प्रवृत्त होने लगे थे।

'आर्य समाज' से लेकर अरविन्द-दर्शन तक भारतीय चिन्तन-धारा के क्रमिक विकास का एक लम्बा इतिहास रहा है। इस चिन्तन-धारा के साथ अनेक विदेशी विचारधाराओं ने मिलकर भारतीय साहित्य को गहरे रूप से प्रभावित किया था। हिन्दी-साहित्य पर इसी कारण हमें उपर्युक्त विभिन्न प्रभावों के समन्वित और विशृंखलित रूप मिलते हैं। सन् १९०० से लेकर सन् १९६७ तक हिन्दी-साहित्य इन्हीं प्रभावों को ग्रहण कर, अनेकमुखी हो, आगे बढ़ता रहा है। इस बीच इसमें नई-नई साहित्य-विधाओं को जन्म मिला है, भाषा के रूप और शैली में परिवर्द्धन-परिष्कार हुआ है। वस्तुत: 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' का आरम्भ सन् १९०० से ही मानना चाहिए। इसी समय से यह सुव्यवस्थित रूप धारण कर आगे बढ़ा है। इससे पूर्व के उन्नीसवीं सदी का सम्पूर्ण साहित्य उसकी को पूर्व-पीठिका के रूप में ही मानना पड़ेगा।

इस युग में हिन्दी-साहित्य में उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, गद्य-गीत, संस्मरण, रेखाचित्र, एकांकी नाटक, रिपोर्ताज आदि अनेक नवीन विधाओं का जन्म और विकास हुआ। यद्यपि उपर्युक्त विधाओं में से कुछ विधाओं का आरम्भ भारतेन्दु के समय में ही हो चुका था, परन्तु उनको वास्तविक रूप और परिपक्वता इसी युग में आकर प्राप्त हुई। नवीन विचारधाराओं और साहित्य-रूपों के कारण हिन्दी-साहित्य मे अनेक 'वादों' का आरम्भ और विकास भी इसी युग में हुआ था। रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, हालावाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद आदि इसी युग में जन्मे और विकसित हुए। इनमें से कुछ थोड़े समय तक साहित्यिक क्षेत्र में हलचल मचा कर समाप्त हो गए और कुछ अब तक गतिशील हैं। पचास वर्ष का यह काल-खंड हिन्दी-साहित्य के इतिहास का एक अभूतपूर्व खंड रहा है। इस युग में हिन्दी साहित्य के रूप, सीमा और प्रभाव में आशातीत वृद्धि हुई है। साहित्य इतना विविध मुखी और विस्तृत रहा है कि इसके इस काल के इतिहास को एक क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करना इतिहासकारों के लिए एक समस्या बना रहा है। आचार्य शुक्ल ने इसका विवेचन पहले गद्य और पद्य में तथा फिर क्रमशः तीन

उत्थानों में विभाजित कर किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'छायावाद', 'प्रगतिवाद' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत किया है। कुछ अन्य इतिहासकारों ने उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, कविता आदि विभिन्न विधाओं का विकास एक साथ दिखाया है। यदि हम इस अन्तिम पद्धति को अपनाते हैं तो इस लम्बे काल के बीच-बीच में ही परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों का विवेचन नहीं हो पाता और यदि होता भी है तो उसमें प्रत्येक विधा के साथ पुनरावृत्ति करनी पड़ती है। इसलिए यहाँ हम सुविधा के लिए मध्यम मार्ग अपनाना अधिक सुविधापूर्ण समझते हैं।

भारतेन्दु का काल भाषा और शैली निर्माण का काल था। उसके उपरान्त भाषा और शैली के परिष्कार और समृद्धि का युग आया। खड़ीबोली गद्य और पद्य दोनों का माध्यम बनी। ब्रजभाषा में भी अलग से काव्य-रचना होती रही। गद्य की नवीन विधाएँ परिवर्तित परिस्थितियों का प्रभाव ग्रहण कर आगे बढ़ती रहीं। इन परिस्थितियों ने गद्य और पद्य—दोनों को समान रूप से प्रभावित किया।

हिन्दी-भाषा की समस्याएँ और उनके निराकरण के प्रयत्न

इस काल में हिन्दी के साहित्यकारों का ध्यान सबसे पहले हिन्दी-भाषा के परिष्कार और परिमार्जन की ओर गया। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' जैसी हिन्दी-सेवी संस्थाएँ हिन्दी-साहित्य के शोध, सम्पादन और प्रकाशन का कार्य करने लगीं। 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन' जैसी संस्थाओं ने हिन्दी की परीक्षाएँ आरम्भ कर हिन्दी-प्रचार के कार्य को आगे बढ़ाया। आगे चलकर गांधी जी ने इन संस्थाओं से ही प्रेरणा ग्रहण कर, हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा घोषित कर, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा, दक्षिण भारत राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, जैसी संस्थाओं को जन्म दिया था जो अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी-भाषा और साहित्य का प्रचार करने वाली प्रमुख संस्थाएँ हैं। इन्हीं संस्थाओं का अनुकरण कर भारत के अन्य अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ जो आज भी पूर्ण लगन के साथ अपने-अपने प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार कर रही हैं। महात्मा गांधी से पूर्व गुजरात के स्वामी दयानन्द सरस्वती, बंगाल के केशवचन्द्र सेन जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग उठा चुके थे। गांधी जी ने हिन्दी के देशव्यापी प्रचार को लक्ष्य कर के ही हिन्दी को भारत की भावी राष्ट्रभाषा घोषित किया था। परन्तु हिन्दी-गद्य का रूप अभी तक परिष्कृत नहीं हो पाया था। खड़ीबोली का पद्य भी अपरिष्कृत था। खड़ीबोली और ब्रजभाषा तथा हिन्दी और उर्दू का झगड़ा भी चल ही रहा था। इसलिए बीसवीं सदी के आरम्भ में हिन्दी के लेखकों और हितचिन्तकों को उपर्युक्त समस्याएँ परेशान कर रही थीं। इसीलिए इस सदी के प्रथम चरण में इन समस्याओं का निराकरण करने की ओर अधिक ध्यान दिया गया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का युग-प्रवर्त्तक नेतृत्व

विभिन्न समस्याओं से संकुल ऐसे समय में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के

रूप में हिन्दी को एक ऐसा पथ-प्रदर्शक मिला जिसने हिन्दी-भाषा और साहित्य से सम्बन्धित उपर्युक्त समस्याओं का निराकरण करने में ऐतिहासिक योग प्रदान किया। भारतेन्दु का काल गद्य का प्रयोग-काल होने के कारण स्वच्छन्दता का युग था। उसमें सुव्यवस्था, परिमार्जन और शुद्धता का अभाव था। इस कमी की ओर सबसे पहले आचार्य द्विवेदी का ध्यान गया। उन्होंने अशुद्ध भाषा लिखने वाले लेखकों की कटु आलोचना कर उन्हें शुद्ध भाषा लिखने के लिए प्रेरित किया। द्विवेदी जी सन् १९०३ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की प्रेरणा से इण्डियन प्रेस प्रयाग द्वारा प्रकाशित हिन्दी की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक बने थे और द्विवेदी जी के प्रकांड व्यक्तित्व की छाया में यह पत्रिका उस युग के नवीन ज्ञान-विज्ञान और नए लेखकों की एक मात्र पद-प्रदर्शिका बन गई थी।

द्विवेदी जी के सामने उस समय हिन्दी-भाषा और साहित्य से सम्बन्धित अनेक समस्यायें थीं। सबसे पहली समस्या भाषा की अराजकता थी। उस समय हिन्दी भारत के विभिन्न प्रदेशों में लिखी जा रही थी, इसलिए उसमें बँगला, उर्दू, मराठी, गुजराती, अवधी, भोजपुरी, ब्रजभाषा, बुन्देलखंडी आदि देशी भाषा-विभाषाओं के शब्दों का धड़ल्ले के साथ प्रयोग हो रहा था। खड़ीबोली-गद्य अभी अपने शैशव को पार कर किशोरावस्था में प्रवेश कर रहा था, इसलिए उसका शब्द-भंडार सीमित था। हिन्दी वाले शब्द-भंडार के लिए प्रायः संस्कृत की ओर ही देखा करते थे। परन्तु उपर्युक्त विभिन्न भाषा-विभाषाओं के शब्दों के प्रयोग से एक तरफ तो हिन्दी के शब्द-भंडार में वृद्धि हुई और दूसरी ओर उसमें अराजकता का और अधिक समावेश होने लगा। हिन्दी की विभाषाओं के शब्दों के कारण उसमें गँवारूपन को भी बू आने लगी थी। द्विवेदी जी का ध्यान इस अशुभ पक्ष की ओर अधिक गया और उन्होंने विशुद्ध भाषा लिखने-लिखाने का आन्दोलन आरम्भ कर दिया। भाषा परिष्कार के इस पुनीत कार्य में बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया था। कुछ शब्दों के रूपों और उनके प्रयोगों को लेकर उनमें और द्विवेदी जी में एक लम्बा विवाद चलता रहा था। ऐसे विवादों ने हिन्दी के नए लेखकों को सावधान कर दिया था। अब वे बहुत सोच-विचार कर शुद्ध भाषा लिखने का प्रयत्न करने लगे थे।

व्याकरण—दूसरी समस्या व्याकरण की थी। अभी तक हिन्दी-भाषा का कोई अच्छा व्याकरण नहीं बन पाया था। बिना व्याकरण के भाषा में शुद्धता और एक-रूपता लाना दुष्कर कार्य था। नए लेखक अपने उत्साह में यह बिल्कुल भूल जाते थे कि भाषा में व्याकरण का भी कोई महत्त्व या स्थान है। वे मनमाने ढंग से लिखते रहे। द्विवेदीजी ने इस प्रवृत्ति का विरोध करते हुए स्वयं लेख लिख-लिखकर एक ओर तो शुद्ध खड़ीबोली-गद्य का रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर भाषा-मर्मज्ञों को हिन्दी का एक सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक व्याकरण बनाने की प्रेरणा दी।

पं० कामताप्रसाद गुरु ने हिन्दी का पहला प्रामाणिक व्याकरण द्विवेदी जी के कहने से ही लिखा था ।

शब्द-भण्डार—तीसरी समस्या शब्द-भंडार की थी । हिन्दी का शब्द-भंडार इतना सीमित था कि उसमें सभी प्रकार के भावों और विषयों को अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं थी । विशेष रूप से नए विषयों पर लिखते और अन्य भाषाओं से अनुवाद करते समय यह कमी बहुत खटकती थी । कभी-कभी मौलिक भाव-प्रकाशन के लिए भी लेखकों को साधारण बोलचाल में प्रयुक्त शब्दों का सहारा लेना पड़ता था, जिससे भाषा में गँवारूपन की झलक आ जाती थी । पद्य में तो अलंकार, व्यंजना, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि के प्रयोग के कारण सीमित शब्दावली से काम चलाया भी जा सकता है, परन्तु गद्य में सर्वत्र इन साधनों का सहारा नहीं लिया जा सकता । इसलिए उस समय हिन्दी के शब्द-भंडार को बढ़ाने की आवश्यकता अनुभव की गई ।

द्विवेदी जी ने इस स्थिति में सुधार करने का आन्दोलन उठाया । उन्होंने पहले शब्दों को तीन वर्गों में विभाजित किया—

१. **प्रान्तज**—जो किसी प्रान्त-विशेष में ही समझे जा सकते हैं ।

२. **क्षण-भंगुर**—जो किसी विशेष कारण से केवल कुछ समय के लिए ही गढ़ लिए जाते हैं ।

३. **व्यापक**—जिन्हें सम्पूर्ण हिन्दी-प्रदेश में समझा जाता है ।

द्विवेदी जी ने उपर्युक्त तीनों वर्गों में से 'व्यापक' शब्दों का प्रयोग करने पर बल दिया । शब्द-भंडार की वृद्धि के लिए अन्य भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी का भी सहयोग स्वीकार किया गया । विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि नवीन विषयों के लिए अंग्रेजी शब्दों के अनुवाद किए गए । अंग्रेजी के अतिरिक्त बँगला भाषा से भी अनेक शब्दों को ग्रहण किया गया । बँगला-ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करने से हिन्दी को अनेक नए शब्द मिले । गद्य की कोमल-कान्त-पदावली बँगला की ही देन है । आचार्य शुक्ल के अनुसार—"बंग भाषा की ओर जो झुकाव रहा उसके प्रभाव से बहुत ही परिमार्जित और सुन्दर संस्कृत पद-विन्यास की परम्परा हिन्दी में आई ।" मराठी से भी हिन्दी को कुछ शब्द मिले । संस्कृत के शब्द-भंडार पर तो हिन्दी का पैतृक अधिकार था ही । आज भी हम नए शब्दों के लिए प्रायः संस्कृत की ही शरण लेते हैं । हिन्दी ने उर्दू से भी निस्संकोच बहुत से शब्दों को ग्रहण कर लिया । इस प्रकार धीरे-धीरे हिन्दी का शब्द-भंडार विस्तृत और समृद्ध होता चला गया ।

हिन्दी के उपर्युक्त नए शब्द-भंडार में दो विशेषताएँ मिलती हैं । पहली यह कि नए शब्दों में नब्बे प्रतिशत से अधिक शब्द संस्कृत धातु-रूपों के आधार पर गढ़े गए । दूसरी विशेषता यह थी कि बँगला आदि के प्रभाव के कारण बहुत से नए शब्द केवल इसलिए प्रयुक्त होने लगे थे कि वे नए और श्रुति-मधुर थे । जैसे—'नव'

के लिए 'अभिनव'। दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। ऐसे ही अन्य शब्द; जैसे—प्रधावित, प्रसाधन, प्राखर्य, प्रभावना—आदि का प्रयोग होने लगा था, जबकि इनसे सरल और समान अर्थ वाले शब्द—धावित, साधन, प्रखरता, भावना—आदि पहले से ही प्रयुक्त हो रहे थे। उस समय तो ये नए शब्द खटकते थे, परन्तु कालान्तर में, जब गद्य में लय और संगीत लाने का प्रयत्न होने लगा, तब ये ही शब्द द्विगुणित उपयोगी प्रमाणित हुए।

हिन्दी की जातीय शैली का विकास

गद्य के आरम्भिक विकास की अवस्था में भिन्न-भिन्न लेखकों की व्यक्तिगत शैलियाँ रूप धारण करती हैं। कालान्तर में जब गद्य का रूप पकने और मँजने लगता है तब उसकी एक जातीय शैली का निर्माण होने लगता है। विकास की इस प्रक्रिया में अन्य साहित्यों की कुछ अनुकूल विशेषताओं का ग्रहण और प्रतिकूल विशेषताओं का बहिष्कार होता रहता है। द्विवेदी जी के प्रयत्नों से उनके समय में हिन्दी की इसी जातीय शैली का निर्माण होना आरम्भ हो गया था। इसके निर्माण में—"अंग्रेजी-साहित्य की स्पष्ट भाव-व्यंजकता, बँगला की सरलता और मधुरता, मराठी की गम्भीरता, और उर्दू गद्य का प्रवाह"—ग्रहण किया गया। साथ ही हिन्दी ने अपनी प्रकृति से मेल न खाने वाली "उर्दू की अत्यधिक उछल-कूद, गम्भीरता और अतिशयोक्ति, मराठी की अलंकारिकता, बँगला की अत्यधिक रसात्मकता, और संस्कृत की अनुप्रास-यमक-प्रियता और अद्भुत शब्द-जाल को बिल्कुल नहीं अपनाया।"

इन सब प्रयत्नों और प्रवृत्तियों के सूत्रधार आचार्य द्विवेदी थे। उन्होंने हिन्दी के अव्यवस्थित रूप को व्यवस्थित कर उस उज्ज्वल भविष्य की नींव डाली, जिसके हम अधिकारी और भोक्ता हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने द्विवेदी जी के इसी प्रभावशाली व्यक्तित्व और कृतित्व की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"नए विचार और नई भाषा, नया शरीर और नयी पोशाक—दोनों ही नई हिन्दी को द्विवेदी जी की देन है। इसी कारण वे नई हिन्दी के प्रथम और युग-प्रवर्त्तक आचार्य माने जाते हैं। द्विवेदी जी और उनके साथियों का महत्त्व नए निर्माण के लिए प्रचुर और अनेक मुख सामग्री भेंट करने में है।"

हिन्दी आभिजात्य रूप धारण करने लगी

द्विवेदी जी के प्रयत्नों से जहाँ हिन्दी के रूप में परिमार्जन, गाम्भीर्य, अभिव्यक्ति-क्षमता आदि की वृद्धि हुई, वहाँ उसने आरम्भ से ही चली आती हुई अपनी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जातीय विशेषता को खोना आरम्भ कर दिया। हिन्दी—खड़ीबोली हिन्दी—जन-साधारण की भाषा से साहित्य की भाषा बनी थी। भारतेन्दु-कालीन साहित्य में उसका यह गुण और विशेषता सुरक्षित रही थी। परन्तु द्विवेदी जी

के समय में उसका परिष्कार और परिमार्जन करने के अत्यधिक मोह के कारण उसका जन-भाषा का सहज ग्रहणशील रूप नष्ट होता चला गया और वह आभिजात्य (उच्च वर्ग) की भाषा का रूप धारण करने लगी। वह अपनी सहज ग्रहणशीलता त्याग संकुचित हो उठी। इसका कारण—बोलियों के बहु प्रचलित शब्दों का बहिष्कार और उनके स्थान पर संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति थी। हिन्दी आवश्यकता से अधिक संस्कृत-गर्भित हो गई। इससे उसके सहज विकास में बाधा पड़ी। वह जन-साधारण की भाषा न रहकर, शिक्षित-समाज की भाषा बनने लगी।

नैतिकता को अत्यधिक प्रश्रय मिला

इस युग में एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि साहित्य में नैतिकता के परिपालन पर विशेष बल दिया जाने लगा। इसका परिणाम यह निकला कि साहित्य में से सरस शृंगार का तो बहिष्कार किया ही गया, साथ ही साहित्यकारों की विषय-चयन की स्वतंत्रता भी जाती रही। वे लोग बँधे-बँधाए विषयों पर नीरस रचनाएँ लिखने लगे। द्विवेदी जी द्वारा अनुप्राणित साहित्यकार ऐसे ही नीरस साहित्य की रचना की ओर प्रवृत्त हुए। उनकी भावना भाषा-परिष्कार, नई शैली के निर्माण और उसके प्रचार तक ही सीमित होकर रह गई। इसी प्रचार-भावना के कारण न तो द्विवेदी जी स्वयं श्रेष्ठ साहित्य का निर्माण करने में समर्थ हो सके और न उनके अनुयायी साहित्यकार ही। इस युग में श्रेष्ठ साहित्य का निर्माण उन्हीं लोगों ने किया जो द्विवेदी जी की भाषा-नीति और अत्यधिक नैतिकतापूर्ण दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। द्विवेदी जी का भाषा-सुधार का आन्दोलन—व्याकरण विशुद्धता का आन्दोलन था। इससे व्याकरण-विशुद्धता की तो रक्षा अवश्य हुई, पर भाषा से शिथिलता और लचरपन का परिहार न हो सका।

इसे दूर करने का प्रयत्न उस युग में अन्य लेखकों द्वारा किया गया। इनमें बाबू बालमुकुन्द गुप्त आदि महत्त्वपूर्ण थे। उन्होंने संस्कृत-शब्दों का सीमित मात्रा में ही प्रयोग कर शैली की सजीवता, सरसता और प्रवाह में अभिवृद्धि की। यह भारतेन्दु की परम्परा थी।

शैली का भावी विकास

हिन्दी की भावी सशक्त-शैली का निर्माण उन लोगों ने किया जो द्विवेदी जी से प्रभावित या प्रेरित नहीं थे। द्विवेदी जी के परवर्ती युग में शैली के विकास की दृष्टि से तीन साहित्य-साधक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, और प्रसाद। द्विवेदी जी द्वारा प्रवर्द्धित शैली भाषा की शुद्धता तक ही सीमित होकर रह गई थी। उसमें उच्चकोटि के गम्भीर, विचारात्मक विषयों का प्रतिपादन करने की क्षमता नहीं आ पाई थी। अब ऐसी समास-प्रधान शैली की

आवश्यकता थी जो संक्षेप में विस्तृत और गम्भीर विषयों का प्रतिपादन करने में सक्षम हो। आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार की समास-प्रधान शैली का प्रणयन कर हिन्दी-गद्य को प्रौढ़ता प्रदान की। इससे गद्य के विकास में अभूतपूर्व सहयोग मिला। परन्तु शुक्लजी की यह शैली गम्भीर आलोचना और निबन्धों के लिए ही उपादेय थी। उसमें विवेचन-विश्लेषण का प्राधान्य रहने के कारण उसे कथा-साहित्य, नाटक आदि में नहीं अपनाया जा सकता।

कथा-साहित्य के लिए उपयुक्त नवीन सर्वग्राह्य शैली का प्रणयन प्रेमचन्द ने किया। उन्होंने ऐसी सरल परन्तु साथ ही अभिव्यक्ति में पूर्ण सक्षम शैली को जन्म दिया जिसमें जन-भाषा की सम्पूर्ण विशेषताएँ मौजूद थीं। यह भाषा का स्वाभाविक जनवादी और जीवन्त रूप था। उत्कर्ष तथा विशदता की दृष्टि से प्रेमचन्द अद्वितीय कलाकार हैं। उन्होंने सरल और मिश्रित गद्य का ऐसा रूप उपस्थित किया, जो जन-साधारण की भाषा का रूप था। प्रेमचन्द की इस शैली का हिन्दी कथा-साहित्य में बहुत दिनों तक अनुकरण होता रहा। गांधी जी इसी भाषा और शैली को जन-सामान्य के लिए उपयुक्त आदर्श मान, इसे 'हिन्दुस्तानी' कहते थे। समाजवादी विचारधारा से प्रभावित हिन्दो के प्रगतिवादी साहित्य में प्रेमचन्द की इसी भाषा और शैली को आदर्श मान अपनाया जाता रहा।

प्रेमचन्द की इस शैली के साथ ही जयशंकर प्रसाद एक नितान्त नवीन, भव्य और कलात्मक भाषा-शैली को लेकर नाटक क्षेत्र में उतरे। उन्होंने अपने नाटकों में भारत के प्राचीन गौरवमय काल-खंडों का अंकन किया जिसके लिए संस्कृत-गर्भित एक ऐसी शैली की आवश्यकता थी जो अतीत के उन काल-खंडों की स्थिति और भावनाओं को गौरवमय ढंग से चित्रित करने में समर्थ थी। प्रसाद ने अपने नाटकों द्वारा ऐसी ही भव्य और कलापूर्ण शैली को जन्म दिया। यह शैली जन-साधारण के लिए बोधगम्य नहीं थी परन्तु उसमें आभिजात्य-वर्गीय एक ऐसी भव्यता और कलात्मकता थी जो शिक्षित पाठकों को आन्दोलित करने की शक्ति रखती थी। प्रसाद अत्यन्त उच्चकोटि के मेधावी कलाकार थे, इसीलिए ऐसी भव्य शैली का निर्माण करने में समर्थ हुए थे। यद्यपि उनके अनेक परवर्ती नाटककारों ने उनकी इस शैली का अनुकरण करने का प्रयत्न किया परन्तु सफल न हो सके। प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियों की शैली भी ऐसी ही थी। परन्तु उनके उपन्यासों की शैली भाषा के जनवादी रूप की ओर अधिक झुकती हुई चली।

उपर्युक्त तीन श्रेष्ठ शैलीकारों के उपरान्त हिन्दी कथा-साहित्य में एक ऐसी शैली का प्रणयन होना आरम्भ हुआ जो प्रेमचन्द और प्रसाद की शैली से भिन्न थी। हिन्दी में नवीन पाश्चात्य मनोविज्ञान से प्रभावित कथा-साहित्य का निर्माण आरम्भ होने के साथ इस नई शैली के दर्शन हुए। यह शैली जटिल विषयों का अंकन करने में अधिक समर्थ, प्रौढ़ और परिमार्जित थी। इस पर अंग्रेजी गद्य-शैली, वाक्य-

विन्यास आदि का गहरा प्रभाव था। यह प्रेमचन्द की शैली से अधिक प्रौढ़ और सक्षम तो अवश्य थी परन्तु जटिल होने के कारण सहज बोध-गम्य नहीं थी। इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय आदि के कथा-साहित्य में इसी शैली के दर्शन हुए। इसके उपरान्त भारत की आजादी के बाद हिन्दी में कथाकारों की नई पीढ़ी उदय हुई जिसकी शैली में और अधिक निखार, प्रौढ़ता और परिपक्वता दिखाई पड़ी। यह व्यक्ति की विभिन्न मन:स्थितियों, संवेदनाओं, अन्तर्द्वन्द्वों आदि का अंकन करने में अपनी पूर्ववर्ती शैलियों की अपेक्षा अधिक सक्षम है।

आचार्य शुक्ल के उपरान्त आलोचना के क्षेत्र में दो प्रकार की नई शैलियाँ सामने आईं। एक शैली छायावादी कवियों की थी। पन्त, महादेवी, निराला आदि ने अपने विभिन्न काव्य-संग्रहों की भूमिकाओं और स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में इस नई शैली का रूप प्रस्तुत किया था। छायावादी कविता की अस्पष्टता और दुरूहता से यह आलोचना की गद्य-शैली भी बुरी तरह से आक्रान्त थी। इसमें गम्भीर विवेचन के स्थान पर भावुकता और भावोन्मेष का प्राधान्य था। इसलिए यह शैली लोक-प्रियता प्राप्त करने में असमर्थ रही। आजकल भी हिन्दी के अनेक कवि और कथाकार अपनी-अपनी कृतियों का महत्त्व प्रतिपादित करने, दूसरे प्रतिद्वन्द्वी कलाकारों को नीचे गिराने और स्वयं को महान् साहित्यकार सिद्ध करने में लगभग ऐसी ही छायावादी गद्य-शैली का प्रयोग कर रहे हैं। छायावादी आलोचना-शैली में, छायावादी काव्य के ही समान एक लालित्य और आकर्षण था, भले ही वह समझ में न आए, परन्तु साहित्य के इन नए व्याख्याकारों की शैली में इस लालित्य और आकर्षण की अपेक्षा अत्यधिक दुरूहता, रूखापन और असंगति मिलती है, जिसने इसे प्रभावशाली नहीं बनने दिया है।

आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल के उपरान्त एक ऐसी नई शैली सामने आई जो अधिक स्पष्ट, अधिक सरल और अधिक यथार्थपरक है। इसमें व्यंग्य का चुभता हुआ रूप मिलता है। डा० रामविलास शर्मा, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आदि इसी शैली के धनी आलोचक हैं। तीसरी शैली—समझौतापरक शैली रही है। इसमें तथ्य-संग्रह, भावुकता और 'यह भी ठीक है, वह भी ठीक है' जैसी प्रवृत्तियों और दृष्टिकोण की प्रधानता मिलती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय आदि इसी प्रकार की आलोचना-शैली के पुरस्कर्त्ता रहे हैं। इस प्रकार हिन्दी-गद्य भारतेन्दु से लेकर अद्यावधि शैली के उपर्युक्त विभिन्न रूपों की मंजिलों को पार करता हुआ विकास करता चला आया है। आज हिन्दी में वैज्ञानिक, पारिभाषिक शब्दों के कोश तैयार हो रहे हैं। अन्य भाषाओं से उसका आदान-प्रदान यथावत् चल रहा है। आज इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा के अपने महान् दायित्व का निर्वाह करने में पूर्ण समर्थ हो सके। साहित्येतर विषयों पर नए-नए ग्रन्थों का सृजन हो रहा है। इन प्रयत्नों के कारण हिन्दी के रूप, क्षमता, प्रभाव और

व्यापकता में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। यह स्थिति हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य की सूचक है। अस्तु,

खड़ीबोली और ब्रजभाषा का द्वन्द्व

आचार्य महावीरप्रसाद के नेतृत्व में खड़ीबोली के परिमार्जन और परिष्कार के साथ ही इस आन्दोलन ने भी जोर पकड़ा कि खड़ीबोली को गद्य और पद्य—दोनों का माध्यम बनाया जाये। जैसा कि हम पीछे बता आए हैं, यह आन्दोलन उन्नीसवीं सदी के अन्त में जोर पकड़ गया था। दोनों दल परस्पर एक-दूसरे के ऊपर खूब कीचड़ उछाल रहे थे। द्विवेदी जी के समय में एक और कारण ने इस विवाद को और अधिक भड़का दिया। यह उल्लेखनीय है कि उस युग की कविता में राष्ट्रीयता की भावना का प्राधान्य था। देश में अंग्रेज का विरोध करने की भावना अधिकाधिक बल पकड़ती जा रही थी। इसलिए जिस भाषा में गद्य का निर्माण हो रहा था, उसी भाषा में पद्य रचने की माँग उठाई गई। क्योंकि ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ीबोली का प्रभाव-क्षेत्र अधिक व्यापक था। अतः खड़ीबोली में राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत देश-भक्ति पूर्ण कविताएँ रची जाने पर ही उनका देशव्यापी प्रचार और प्रसार सम्भव था। खड़ीबोली के समर्थकों का कहना था कि ब्रजभाषा शृंगार-रस की भाषा है, इसलिए उसमें वीरता और देशभक्ति के भावों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। इसके विरोध में ब्रजभाषा के समर्थकों द्वारा यह तर्क दिया जाता था कि जब भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर, भारतेन्दु आदि ब्रजभाषा में वीर रस की कविता करने में समर्थ हो सके तो अब उसमें वीर रस की कविता क्यों नहीं लिखी जा सकती। ये लोग इस प्रकार के तर्क ही देते रहे, यह प्रयत्न नहीं किया कि ब्रजभाषा में वीर रस और देशभक्ति पूर्ण कविता रच कर उदाहरण प्रस्तुत करते। धीरे-धीरे इस विवाद ने व्यक्तिगत छीछालेदर का स्वर धारण कर लिया। ब्रजभाषा के समर्थक एक व्यक्ति ने 'धृष्ट आलोचक' का उपनाम धारण कर द्विवेदीजी की 'कविता कलाप' नामक पुस्तक की बहुत ही गन्दी आलोचना की।

इन व्यक्तिगत आक्षेपों ने ब्रजभाषा का पक्ष काफी निर्बल बना दिया। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा वालों ने खड़ीबोली की नई कविता में प्रयुक्त नए छन्दों और अतुकान्त की प्रवृत्ति का भी विरोध करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने यह प्रयत्न नहीं किया कि ब्रजभाषा का परिष्कार और परिवर्द्धन कर उसे नए युग की नई अभिव्यक्ति के अनुरूप शक्ति और रूप प्रदान करें। दूसरी ओर खड़ीबोली की कविता द्रुतगति से विकसित होती जा रही थी। निराला ने उसकी इसी प्रगति को देख अपने काव्य-संग्रह 'परिमल' की भूमिका में लिखा था—"हिन्दी की वाटिका में खड़ीबोली की कविता की क्यारियाँ, जो कुछ समय पहले दूरदर्शी बागवानों के परिश्रम से लग चुकी थीं, आज धीरे-धीरे कलियाँ देने लगी हैं। उनकी आनन्द-सौरभ लोगों को खूब पसन्द आई है। हिन्दी के हृदय पर खड़ीबोली की कविता का हार प्रभात की उज्ज्वल किरणों से खूब चमक उठा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

धीरे-धीरे काव्य-क्षेत्र में भी खड़ीबोली की लोकप्रियता और प्रभाव में वृद्धि होती चली गई। और अन्त में वही सर्वसम्मत गद्य-पद्य का माध्यम बन गई। यद्यपि इस बीच कुछ कविगण ब्रजभाषा में भी काव्य-रचना करते रहे और आज भी कर रहे हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ब्रजभाषा अपने पूर्व गौरवमय उच्चपद से अपदस्थ हो चुकी है और उसमें युग के साथ चलने की क्षमता नहीं रही है।

हिन्दी-उर्दू का द्वन्द्व

कांग्रेस के स्वतन्त्रता आन्दोलन के कर्णधार महात्मा गांधी यह जानते थे कि स्वतन्त्रता संग्राम को सशक्त बनाने के लिए देश के हिन्दू-मुसलमानों में पूर्ण एकता होना नितान्त आवश्यक है। इसलिए इस दूरदर्शी राजनीतिज्ञ ने सन् १९२०-२१ में तुर्की में 'खिलाफत' की समाप्ति के विरोध में भारत में 'खिलाफत आन्दोलन' छेड़ दिया। इसमें हिन्दू-मुसलमान—दोनों ने समान रूप से भाग लिया। इस हिन्दू-मुस्लिम एकता को देख अंग्रेज परेशान हो उठा और उसने इन दोनों में फूट डालने के प्रयत्न करने आरम्भ कर दिए। अंग्रेज की इसी नीति के कारण 'मुस्लिम-लीग' की स्थापना हुई, देश में हिन्दू-मुस्लिम-दंगे भड़क उठे और हिन्दी-उर्दू का विवाद, जो कुछ समय के लिए शान्त-सा हो गया था, पुनः उठ खड़ा हुआ। अंग्रेज के संकेत पर मुसलमानों और उर्दू-भाषी-हिन्दुओं ने हिन्दी का विरोध करना आरम्भ कर दिया। मुसलमानों ने महात्मा गांधी की हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने और मानने की नीति का विरोध कर उर्दू को जन-साधारण की भाषा घोषित करना और उसे ही राष्ट्रभाषा बनाने का आन्दोलन आरम्भ कर दिया। यह आन्दोलन भारत की आजादी के समय तक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में निरन्तर चलता रहा। भारत-विभाजन के उपरान्त पाकिस्तान की स्थापना के साथ उर्दू पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा बन गई और भारत में हिन्दी-उर्दू का द्वन्द्व समाप्त हो गया।

हिन्दी के जागरूक साहित्यकारों ने अपनी भाषा-सम्बन्धी नीति को स्पष्ट करते हुए यह कहना आरम्भ कर दिया कि हिन्दी और उर्दू—दो भिन्न-भाषाएँ न होकर एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं जो भिन्न लिपियों में लिखी जाती हैं। इस लिपि-भिन्नता ने ही इन दोनों शैलियों को एक-दूसरे से अलग कर रखा है। इस विरोध को दूर करने का सहज उपाय यह है कि उर्दू में रचित समस्त साहित्य को नागरी लिपि में लिपिबद्ध कर उसे हिन्दी-पाठकों के लिए सुलभ बना दिया जाय। और इस उर्दू-साहित्य को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सम्मिलित कर उसका विवेचन और मूल्यांकन किया जाय। यह नीति और योजना यदि कार्यान्वित हो सकी होती तो हिन्दी-उर्दू का यह विरोध यहाँ हमेशा के लिए समाप्त हो गया होता और दोनों की सम्मिलित शक्ति से एक अधिक सशक्त, व्यापक, समृद्ध और प्रभावशाली साहित्य का निर्माण होता।

अंग्रेजी-भक्त भारतीयों की कुटिल नीति

सन् १९४७ में देश में फूट डालने वाले अंग्रेज तो यहाँ से चले गए परन्तु अपने अंग्रेजी-भक्त भारतीय मानस-पुत्रों को यहाँ ही छोड़ गए। इन भारतीय-अंग्रेजों ने भी अपने भूतपूर्व मालिकों की 'फूट डाल शासन करने की नीति' पर चलना आरम्भ कर दिया। जब हिन्दी को देश की राष्ट्रभाषा बनाने की माँग उठी और संविधान द्वारा उसे राष्ट्रभाषा घोषित कर दिया गया तो इन अंग्रेजी-भक्त पुराने सरकारी अफसरों को अपनी और अपने बाल-बच्चों की रोजी-रोटी की सुरक्षा की चिन्ता सताने लगी। ये लोग अंग्रेजी को अनन्त काल तक भारत की राज-काज, शिक्षा-दीक्षा, सम्पर्क आदि की भाषा बनाए रखना चाहते थे। अतः इन्होंने हिन्दी को अशक्त, असमृद्ध भाषा कहना आरम्भ कर दिया और साथ ही उर्दू वालों को उभार कर हिन्दी-उर्दू का प्रश्न पुनः उठवा दिया। देश में जब-जब हिन्दी को व्यावहारिक रूप में राष्ट्रभाषा या सम्पर्क भाषा बनाने का आन्दोलन उठा, उर्दू हमेशा उसके विरोध में सामने आकर खड़ी हो जाती रही। अभी इस वर्ष (सन् १९६७) समस्त हिन्दी-भाषी राज्यों ने हिन्दी को अपने राज-काज की भाषा बनाने का अन्तिम निश्चय कर दिया। उत्तर प्रदेश और बिहार में उर्दू वालों ने हिन्दी के साथ उर्दू को भी द्वितीय राज-भाषा बनाने का आन्दोलन छेड़ दिया। यह आन्दोलन अभी चल रहा है। अस्तु,

स्वातन्त्र्योत्तर परिस्थितियाँ और उनका प्रभाव

सन् १९०० से लेकर सन् १९४७ तक हिन्दी-साहित्य देश में होने वाले विभिन्न राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आन्दोलनों का प्रभाव ग्रहण करते हुए अनेक नई-नई विधाओं से सुसज्जित और समृद्ध होता रहा। द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ और समाप्ति (१९३९-४५) तक हिन्दी-साहित्य की धारा में एक प्रकार का हलका-सा गतिरोध दिखाई पड़ा। इससे पूर्व हिन्दी-साहित्य प्रेमचन्द, प्रसाद, आचार्य शुक्ल जैसे युग-प्रवर्त्तक साहित्यकारों के साहित्यिक कृतित्व द्वारा पर्याप्त समृद्धशाली बन चुका था। सन् १९३६ से लेकर १९४२ तक ये तीनों ही साहित्य-मनीषी एक-एक कर स्वर्गवासी हो चुके थे। और इनके द्वारा रिक्त स्थान की पूर्ति करने के लिए ऐसे ही सार्वभौम व्यक्तित्व और प्रभाव वाले दूसरे साहित्यकार सामने नहीं आ पाए थे। युद्ध के वातावरण ने देश मे व्यस्तता और हिन्दी के साहित्यकारों में विश्रृङ्खलता सी उत्पन्न कर दी थी। परन्तु फिर भी हिन्दी के साहित्य-साधक अपनी साहित्य-साधना में निरत थे। इसी बीच सन् १९४२ में देश में अंग्रेज के खिलाफ भयंकर जन-क्रान्ति का विस्फोट हुआ। इस विस्फोट ने भी हिन्दी-भाषी प्रदेश और उसके साहित्यकारों को काफी प्रभावित किया। साहित्य-सृजन अलग-अलग होता रहा, परन्तु एक सशक्त नेतृत्व के अभाव के कारण उसका समष्टि रूप जनता के सामने न आ सका। इसी कारण कुछ लोगों ने यह आवाज उठानी शुरू कर दी कि हिन्दी-साहित्य में गतिरोध की स्थिति आ गई है।

इस धारणा का एक कारण यह भी था कि सन् १९४० के आसपास हिन्दी-साहित्य नए प्रभावों को ग्रहण कर, प्रेमचन्द-प्रसाद-शुक्ल-साहित्य की परम्परा से हट एक नया रूप धारण कर आगे बढ़ रहा था। यह नया रूप परम्परा-प्रिय आलोचकों और साहित्यानुरागियों को पसन्द नहीं आया, इसलिए भी उनकी यह धारणा बन गई कि साहित्य में गतिरोध की स्थिति आ गई है।

इसी अस्थिर मानसिक स्थिति के दौरान सन् १९४७ में भारत को एकाएक आजादी मिल गई। सदियों से चिर-संचित आजादी की अभिलाषा जब इस प्रकार अप्रत्याशित रूप से पूरी हुई तो सारा देश एक अभूतपूर्व, अद्वितीय हर्षोल्लास से भर उठा। हिन्दी-साहित्य में भी इस हर्षोल्लास को अभिव्यक्ति मिली। परन्तु जब देश के चिन्तकों ने, इस हर्षोल्लास का क्षणिक नशा उतर जाने पर आँख खोल कर देखा तो देश को दो टुकड़ों में विभाजित, हिन्दू-मुस्लिम मार-काट से त्रस्त और शरणार्थियों की भयङ्कर दशा और उनके पुनर्वास की समस्या से आतंकित पाया। और उनका वह हर्षोल्लास रुदन, क्षोभ और आक्रोश में बदल गया। इसलिए सन् १९४७ और ५० के मध्य रचित साहित्य में हमें इसी हर्ष और क्षोभ भरे रुदन का मिश्रित स्वर सुनाई पड़ता है। कविता, एकांकी, उपन्यास आदि सभी साहित्य-रूप किसी-न-किसी रूप में इन्हीं भावनाओं की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। परन्तु इस छोटे से काल में रचित साहित्य प्रधानतः भावुकता-प्रधान ही रहा है। उसमें स्वास्थ, सन्तुलित चिन्तन, विवेचन और वर्णन का अभाव है।

सन् १९५० से भारत में नए सुशासन का आरम्भ हुआ। भारत गणतंत्र बना, नए संविधान का निर्माण हुआ, 'हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा घोषित की गई। विदेशों से नए सम्पर्क स्थापित हुए। इन सारे परिवर्तनों ने देश में एक नई चेतना उत्पन्न कर दी। विदेशों से अधिक घनिष्ठ और व्यापक सम्बन्ध स्थापित होने के कारण विश्व के विभिन्न देशों और विशेषकर पाश्चात्य-जगत से हमारे सम्बन्ध अधिक व्यापक और घनिष्ठ रूप धारण करने लगे। साहित्यिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की श्रृंखला आरम्भ हुई। विदेशों में और अन्तरराष्ट्रीय जगत की राजनीति में भारत का सम्मान बढ़ा। साहित्यिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान ने हिन्दी-साहित्य को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया। विशेष रूप से पाश्चात्य-साहित्य ने हमें विशेष रूप से प्रभावित किया।

भारत स्वतंत्र हो चुका था, हिन्दी संविधान द्वारा भारत की राष्ट्रभाषा भी घोषित कर दी गई थी। इससे हिन्दी-भाषियों की अशाएँ बढ़ीं। देश में हिन्दी के प्रति अनुराग बढ़ा, उसके पठन-पाठन का दौर प्रबल वेग से चला। परन्तु थोड़े ही समय में इस आजादी की कलई खुल गई। जनता ने अनुभव किया कि देश की शासन की गद्दी पर 'गोरे साहब' की जगह 'काला साहब' आ बैठा है और उसकी शासन-नीति हूबहू वही है जो गोरे साहब की थी। जन-साधारण की उपेक्षा, धनी लोगों की अभिवृद्धि,

पुलिस का अत्याचार, अफसरों की लालफीताशाही यथावत् चल रही थी। यद्यपि देश में अनेक सुधार हुए थे, जैसे—जमींदारी-उन्मूलन, मद्य-निषेध आदि, तथा अनेक नए निर्माण-कार्य भी आरम्भ हो गए थे परन्तु शासन-तंत्र पर देश के धनी-वर्ग और अंग्रेज तथा अंग्रेजी-भक्त अफसरों का ही एकछत्र प्रभुत्त्व था। इसके कारण एक तरफ जन-सामान्य की उपेक्षा और मँहगाई में वृद्धि होती रही और दूसरी ओर अंग्रेजी और अंग्रेजियत का प्रभुत्त्व बढ़ता चला गया। धनी अधिक धनी और गरीब अधिक गरीब तथा हमारे नए शासक भारतीय कम और अंग्रेज अधिक बनते चले गए। इस अंग्रेजी और अंग्रेजियत ने सारे देश को आतंकित और प्रभावित करना आरम्भ कर दिया। इसका हमारे साहित्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

हुआ यह कि हिन्दी की नई पीढ़ी पाश्चात्य साहित्य के अधिक सम्पर्क में आई। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह नई पीढ़ी उस पाश्चात्य-साहित्य के ही अधिक सम्पर्क में आई जो द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान और उसके पश्चात् लिखा गया था। इस विश्वयुद्ध में यूरोप ने भयंकर विनाश और नर-संहार का प्रलयंकारी रूप देखा और भोगा था। यूरोप की सम्पूर्ण व्यवस्था ध्वंस हो गई थी। सारे यूरोप में एक भयंकर निराशा व्याप्त हो उठी थी जिसके कारण वहाँ की सम्पूर्ण परम्परागत मान्यताओं, जीवन-मूल्यों आदि का विनाश होकर कुंठा, अवसाद, क्षोभ, नैराश्य की भावनाएँ भर उठी थीं, जो वहाँ की बदली हुई परिस्थितियों को देखते हुए नितान्त स्वाभाविक थीं। उस युग में रचित यूरोपिय साहित्य में इन्हीं की अभिव्यक्ति हुई थी। हमारे देश की नई पीढ़ी प्रधानतः इसी साहित्य के सम्पर्क में आई थी। यूरोप की इस निराशा ने साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में अनेक नई कुंठाओं को जन्म दिया था, जिनके कारण वहाँ नित्य नवीन साहित्य और कला-रूप जन्म लेते और क्षणिक जीवन बिता कर नष्ट होते रहे।

दूसरी ओर, इस विश्वयुद्ध के उपरान्त अमरीका की समृद्धि में आशातीत वृद्धि हुई परन्तु इस समृद्धि का भोक्ता वहाँ का धनी-वर्ग ही था। उसकी तुलना में मध्य और निम्न वर्ग की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। इस स्थिति ने वहाँ के इस वर्ग में क्षोभ और विद्रोह की भावना उत्पन्न कर दी। और वहाँ का साहित्य, क्योंकि प्रधानतः इसी वर्ग द्वारा रचा जा रहा था, इसलिए उसमें इस क्षोभ और विद्रोह की भावना को अभिव्यक्ति मिली। और इस भावना ने वहाँ इतना बल पकड़ा कि वहाँ की नई पीढ़ी सम्पूर्ण प्रकार की परम्परागत मान्यताओं, विश्वासों, आस्थाओं के प्रति अराजक बन उठी। अमरीका के 'हिप्पी', इंगलैंड के 'बीटल' आदि इसी अराजकता की उपज हैं। अमरीका के इस नए साहित्य का भी भारत में आयात होता रहा और यहाँ की नई पीढ़ी उसका प्रभाव ग्रहण करती रही। यूरोप और अमरीका के इस नवीन साहित्य का भारत की नई पीढ़ी पर अच्छा प्रभाव न पड़ा। यह नई पीढ़ी इस साहित्य की नवीनता के मोह से ग्रस्त हो ऐसे साहित्य का सृजन करने लगी जिसमें

अनुभूत के स्थान पर उधार ली हुई अनुभूतियों का अंकन ही प्रधान रहा। भारत की 'भूखी पीढ़ी' आदि इस प्रभाव की देन हैं।

यह तो रही विदेशी साहित्य के प्रभाव की बात। हमारे देश की स्थिति भी अच्छी नहीं थी। देश के शासन-तंत्र में भ्रष्टाचार बढ़ता चला जा रहा था जिसके कारण मँहगाई भी निरन्तर बढ़ती जा रही थी। शिक्षा-पद्धति वही पुरानी क्लर्क ढालने वाली थी। उसमें कोई मूलभूत अन्तर नहीं हुआ था। देश के युवक शिक्षा समाप्त कर नौकरी के लिए भटकते-फिरते थे परन्तु बिना सिफारिश के उन्हें नौकरी नहीं मिलती थी। चारों ओर कुनबापरस्ती का बोलबाला था। वैज्ञानिक-शिक्षा का प्रसार हो रहा था परन्तु उसका लाभ सम्पन्न परिवार के युवक ही उठा पाते थे। साधारण स्थिति वाले नवयुवक साधारण क्लर्की की नौकरी के लिए ही भटकते फिरते थे। अभिभावक गण मँहगाई और भ्रष्टाचार से परेशान थे और उनकी सन्तति लक्ष्य-हीनता और अनिश्चित भविष्य की आशंका से त्रस्त थी। इस स्थिति ने हमारे विद्यार्थी वर्ग में असन्तोष उत्पन्न कर दिया, जिसका परिणाम अनुशासनहीनता और अराजक तत्त्वों की वृद्धि के रूप में सामने आया। समाज का मध्य और निम्न वर्ग इस विषम स्थिति का शिकार बना। निम्न वर्ग—क्योंकि श्रमजीवी था, इसलिए कुछ सीमा तक वह तो अपनी स्थिति सुधार ले गया, परन्तु मध्य वर्ग प्रधानतः बुद्धिजीवी होने के कारण श्रम से कतराता था, इसलिए वही इस विषम स्थिति का अधिक शिकार बना। इस विषम स्थिति ने उसमें अनेक प्रकार की कुंठाएँ उत्पन्न कर दीं। और क्योंकि हिन्दी-साहित्य का लेखक यही मध्यम-वर्ग है, इसलिए इस काल में रचित उसके साहित्य में इन्हीं कुंठाओं को अभिव्यक्ति मिली।

इस प्रकार इस युग में रचित हिन्दी-साहित्य में हमें दो प्रकार की अभिव्यक्तियाँ प्रधान रूप से मिलती है। एक वह, जो विदेशी साहित्य से उधार ली हुई और अननुभूत है; दूसरी वह, जो विषम-स्थिति के कारण उत्पन्न निराशा और कुंठाओं की देन है, और जिसने हमारे अधिकांश साहित्यकारों को जन-भावना से विच्छिन्न कर आत्म-केन्द्रित बना दिया है। इस सम्बन्ध में दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि हिन्दी के आधुनिक साहित्य में ग्राम्य जीवन की अपेक्षा नागरिक जीवन की विषमताएँ और समस्यायें ही अधिक मुखरित हो रही हैं। इसका कारण देश का नवीन औद्योगीकीकरण है। उद्योगों के केन्द्र नगर हैं। इसलिए ग्राम्य-समाज का शिक्षित-वर्ग नगर में आ वहीं बसता चला जा रहा है। इसलिए उसके साहित्य में में भी नागरिक-जीवन ही प्रमुख रहता है। औद्योगिकीकरण की एक प्रधान देन यह होती है कि उसके परिवेश में रहने वाला व्यक्ति आत्म मुखी बन जाता है। वहाँ व्यक्तिगत प्रतिस्पर्द्धा और अपने अस्तित्त्व की सुरक्षा की भावना उसे समाज की ओर अधिक नहीं देखने देती। आज के हिन्दी के साहित्यकार में भी हमें प्रधान रूप से यही भावना मिलती है। व्यक्ति की व्यक्तिगत समस्यायें ही आज साहित्य का प्रधान कथ्य बनती जा रही हैं।

साहित्य का व्यावसायिक रूप

आजादी के बाद जब हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित की गई थी तो हिन्दी वालों को अपने उज्ज्वल भविष्य की आशा बँधी थी। परन्तु जब देश की नई हिन्दी-भाषी पीढ़ी अपनी शिक्षा समाप्त कर कर्म-क्षेत्र में उतरी तो उसने पाया कि सरकार या समाज में उसकी कोई पूछ या महत्त्व नहीं है। इस उपेक्षा से हताश हो अनेक नवयुवक साहित्य की ओर झुके। उन्होंने साहित्य को अपनी जीविका अर्जित करने का साधन बनाया। इससे हिन्दी में साहित्य के व्यावसायिक रूप का उदय हुआ। इससे पूर्व साहित्य का रूप व्यावसायिक नहीं बन पाया था। साहित्यकार देश-सेवा, हिन्दी-सेवा और समाज-सेवा आदि की भावना से प्रेरित हो, साहित्य की रचना करते थे। उस युग में साहित्य-सृजन द्वारा अपना गुजारा चलाना बहुत कठिन काम था। हिन्दी के अधिकांश साहित्यकारों ने अपना जीवन आर्थिक अभाव में ही व्यतीत किया था। साहित्य-सेवा उनके लिए एक साधना थी। इसी कारण उस साहित्य-सृजन में सच्ची, अनुभूत अभिव्यक्ति, गाम्भीर्य और प्रभविष्णुता मिलती है। परन्तु आजादी के बाद जब साहित्य का रूप व्यावसायिक बनने लगा तो उसमें आत्म-प्रचार, नए साहित्य-रूपों द्वारा पाठकों को आकर्षित और प्रभावित करने, अपना महत्त्व स्थापित करने के लिए अपने पूर्वजों के कृतित्व और देन को नकारने आदि की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। प्रयोगवादी कवियों ने 'नई कविता' का नारा उठाकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि हिन्दी-भाषा अब नए युग की नई भावाभिव्यक्ति को व्यक्त करने में असमर्थ है इसलिए उसका संस्कार होना चाहिए और यह संस्कार करने का सारा श्रेय प्रयोगवादी कवियों ने अपने हिस्से में ले लिया। इन लोगों ने कहा कि हम नए मार्ग के ऐसे मार्ग के पथिक हैं जो मानव की नई भाव-भूमियों की खोज करने निकले हैं। इसके लिए इन्हें नई भाषा, नए प्रतीक और नई शैली की आवश्यकता थी जो अधिकांशतः या तो नई बोतल में पुरानी शराब थी या विदेशी साहित्य से चुराई हुई वस्तु। परन्तु इन्होंने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अपनी नई उपलब्धियों के खूब ढोल पीटे और एक प्रकार से हिन्दी-साहित्य पर छा से गए।

दूसरी ओर हमारे नए कहानीकार 'नई-कहानी' को लेकर सामने आए। इन्होंने कहा कि प्रेमचन्द्र आदि की कहानियाँ पुरानी और बासी हो गई हैं, उनमें मानव-मनोविज्ञान का चित्रण नहीं हुआ है, उनकी भाषा और शैली अब नहीं अपनाई जा सकती। इसलिए ये लोग युगानुरूप नई कहानी को लेकर साहित्य-सेवा करने अवतरित हुए हैं। 'नई कविता' और 'नई कहानी' के इन प्रवर्त्तकों ने अपना-अपना महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए अपने-अपने दल बनाए, परस्पर, कभी असली नाम से और कभी छद्म नाम से अपने साथियों और स्वयं अपने ऊपर प्रशंसात्मक निबन्ध लिखे और अपने साहित्य के प्रचार के ढोल पीटे। इसमें सन्देह नहीं कि इन नए साहित्यकारों में प्रतिभा थी, सुन्दर साहित्य सृजन की क्षमता भी थी और इन्होंने उच्च कोटि के सुन्दर साहित्य का सृजन भी किया। परन्तु पारस्परिक दलबन्दी और प्रचार के मोह के कारण इनकी सृजन-शक्ति

और प्रतिभा का अपव्यय भी खूब हुआ। लेकिन साथ ही यह परिणाम भी निकला कि हिन्दी-साहित्य में इनकी प्रसिद्धि और प्रभाव में आशातीत वृद्धि हुई। प्रकाशक और पत्र-पत्रिकाएँ इनकी रचनाओं को छापने के लिए लालायित रहने लगे। इसने इन लोगों को व्यावसायिक रूप से साहित्य में जमा दिया। यह हिन्दी-साहित्य के व्यावसायिक रूप का विकास था। इनको प्रसिद्धि मिली, सम्मान मिला और पैसा भी मिला।

इनके बाद आने वाली नवीनतम पीढ़ी अपने इन नए रहनुमाओं के इन हथ-कण्डों से परचित थी। वह जानती थी कि इन लोगों ने नई चीज देने का नारा लगाया था, गुट बनाकर अपना प्रचार किया था, नए विदेशी साहित्य रूपों का अनुकरण कर हिन्दी-पाठक को आकर्षित और चमत्कृत किया था, अपने पूर्वजों की आलोचना कर उनके कृतित्त्व को नकारा था। फलस्वरूप प्रसिद्धि के भागी बने थे। अतः इस नवीनतम पीढ़ी ने भी इह्ही हथकण्डों को अपनाना आरम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप हिन्दी में सचेतन कहानी, अकहानी, नवगीति, अकविता, ठोस कविता आदि चौंकाने वाले नए साहित्य-रूपों का सृजन होना आरम्भ हो गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस सम्पूर्ण साहित्यिक'नएपन' का प्रेरणा और उद्गम स्थल विदेशी साहित्य था। इन्हें संकेत-सूत्र वहीं से मिलते रहे और ये उसे भारतीय परिवेश में ढालने का प्रयत्न करते रहे। इसने इन्हें भी प्रसिद्धि प्रदान की और बाजार में इनकी माँग बढ़ती रही।

परन्तु इस युग में अनेक ऐसे साहित्यकार भी साहित्य-सृजन में व्यस्त रहे जो दलबन्दी, आत्म-प्रचार आदि की भावनाओं से मुक्त रह साहित्य रचते रहे। इन्होंने इस काल में सशक्त साहित्य का सृजन किया। आज भी हिन्दी में उपर्युक्त दोनों प्रकार के साहित्यकार साहित्य-सृजन में व्यस्त हैं।

पाश्चात्य साहित्य का गहरा प्रभाव

इस युग में हिन्दी के साहित्यकारों में एक नई प्रवृत्ति का उदय होता हुआ दिखाई पड़ा। वह है—विदेशी-साहित्य के विस्तृत अध्ययन और उस अध्ययन से प्राप्त ज्ञान के उचित-अनुचित प्रदर्शन का मोह। इसके दो पक्ष हैं—शुभ और अशुभ। शुभ पक्ष यह है कि इस अध्ययन से विदेशों की साहित्यिक गति-विधि, चिन्तन आदि का ज्ञान होता है और आज के युग में जब कोई भी प्रगतिशील देश संसार के अन्य देशों से सर्वथा कट कर या उदासीन होकर एकाकी नहीं रह सकता, यह अध्ययन आवश्यक है। इससे नए विचार मिलते हैं, नई प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। परन्तु इसका अशुभ पक्ष यह है कि इस अध्ययन के प्रति अतिशय मोह होने के कारण एक ओर तो भारतीय प्राचीन और नवीन साहित्य की उपेक्षा की प्रवृत्ति बढ़ी है और दूसरी ओर अपने इस नवार्जित ज्ञान के प्रदर्शन का मोह। इस अशुभ पक्ष के दर्शन आलोचना के क्षेत्र में अधिक हो रहे हैं। चाहे यह आलोचना कवियों या कथाकारों द्वारा लिखी जाती हो या आलोचकों द्वारा—इसमें सर्वत्र इलियट, कॉडवेल, सार्त्र, कापका, कामू आदि विदेशी

दर्शनशास्त्रियों, कवियों या कथाकारों के उद्धरणों की भरमार रहती है। और ये उद्धरण भी प्रायः असंगत और अनपेक्षित अधिक होते हैं। इस प्रवृत्ति का दुष्परिणाम यह निकला कि इन्हें उद्धृत करने वाले लोग इन्हें भारतीय परिवेश पर थोपने का प्रयत्न करते हैं और जिससे असंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। इस ज्ञान-प्रदर्शन का एक बहुत बड़ा कारण यह है कि हमारे ऐसे लेखक अपने पाठकों पर अपनी विद्वत्ता का आतंक जमाना चाहते हैं कि देखो, हम अंग्रेजी के भी पाठक और विद्वान् हैं। इनके मन में कहीं यह हीन-भावना जमी रहती है कि कहीं लोग यह न समझ बैठें कि ये अंग्रेजी नहीं जानते।

इस प्रवृत्ति ने दो प्रकार के घातक प्रभाव डाले हैं। पहला यह कि हमारे लेखक विदेशी साहित्य में उत्पन्न किसी भी नई चिन्तन-पद्धति, काव्य-रूप या शैली का बिना उनकी उत्पत्ति में क्रियाशील परिस्थितियों पर विचार किए, हिन्दी में अनुकरण करने का प्रयत्न करते हैं। हमारे एक प्रसिद्ध कथाकार मित्र ने एक दिन हमसे पूछा—क्या तुमने 'मॉडर्न नॉवेल' पढ़ा है? हमने प्रत्युत्तर में पूछा कि यह किस प्रकार का उपन्यास है? उत्तर मिला—यूरोप में अभी इस प्रकार के नए उपन्यास लिखे गए हैं। हमने कहा—तुम्हारी कृपा चाहिए, शीघ्र ही हिन्दी में भी ऐसे उपन्यासों की कमी नहीं रहेगी। यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि हमारे अनेक साहित्यकारों की निगाह इस बात पर अधिक लगी रहती है कि विदेशों में साहित्य के ऐसे किन-किन रूपों का उदय हो रहा है जिनका अनुकरण कर ये लोग भी अपने पाठकों को स्तम्भित और चमत्कृत कर सकें। कुछ समय पहले 'धर्मयुग' में एक 'ठोस कविता' प्रकाशित हुई थी जिसमें 'मैं' शब्द द्वारा स्वस्तिका बनाया गया था। इसके उत्तर में एक दूसरी ठोस कविता सामने आई जिसमें 'तू' शब्द द्वारा एक गधे की आकृति बना दी गई थी। इसके बाद फिर किसी ठोम कविता के दर्शन नहीं हुए। एक बार जब अमरीकी हिप्पियों के नेता गिसबर्ग भारत में आए थे तो उनके जाने के बाद यहाँ तुरन्त 'भूखी पीढ़ी' का उदय हो गया था। और इस नई 'भूखी भारतीय पीढ़ी' के कवियों को अश्लील कविताएँ रचने के अपराध में अदालत में खड़ा होना पड़ा था। ये सब उधार ली हुई और ऊपर से ओढ़ी हुई दूसरों की अनुभूतियाँ होती हैं, इसी कारण इनमें दम नहीं होता।

इसका दूसरा घातक प्रभाव यह पड़ा है कि इसने हमारी स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति को एक प्रकार से कुंठित कर दिया है। हम पुनः चिन्ता-पारतन्त्र्य के युग में से गुजर रहे हैं। इसका परिणाम यह निकला है कि पराए चिन्तन को अपना कह कर जब हम उसे लेखन के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं तब हमारी भाषा, हमारा वाक्य-विन्यास, हमारी शैली इतनी दुरूह, इतनी अस्पष्ट और बोझिल हो उठती है कि उसमें व्यक्त तत्त्व को खोज निकालना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य बन जाता है। इसका कारण यह है कि हम इस लेखन में प्रायः विदेशी चिन्तन का

अनुवाद कर उसे अपना कहकर प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। इससे भाषा की सहजता, सरलता, संवेदनशीलता पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा है। विदेशी उद्धरणों और अनुवादों के उस घटाटोप में से वास्तविक अर्थ को खोज निकालना लोहे के चने चबाना बन गया है। हिन्दी का यह नया रूप सहज बोध-गम्य नहीं रहा है।

परन्तु आज हिन्दी-साहित्य का एकमात्र रूप यही नहीं है। यह रूप उस साहित्य का है जो आत्म-प्रचार की या अल्प-प्रयत्न द्वारा अतिशीघ्र प्रसिद्धि प्राप्त करने की भावना से ग्रस्त साहित्यकारों द्वारा लिखा गया है। इसके विपरीत हिन्दी में ऐसे साहित्य का प्रचुर परिमाण में निर्माण हो रहा है जो गुटबन्दी और आत्म-प्रचार की भावना से सर्वथा असम्पृक्त साहित्य-साधकों द्वारा रचा जा रहा है। इन साहित्यकारों का जनता से, जनता की सम्वेदनाओं से, उसकी समस्याओं और सुख-दुख से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। ये लोग विदेशी-प्रेरणा के प्रभाव से लगभग मुक्त रहते हैं। इसी कारण अपने साहित्य में देश के दुख-सुख का, मानव के अवसाद और उल्लास का सही और मार्मिक चित्रण करने में समर्थ और सफल हैं।

बीच-बीच में हिन्दी में ऐसे साहित्य की बाढ़ सी आती रही है जो किसी घटना-विशेष के कारण लिखा जाता रहा है। सन् १९६२ में जब चीन ने भारत पर अकारण ही आक्रमण कर दिया था, तब देशभक्ति पूर्ण कविताएँ, कहानियाँ आदि खूब लिखी गई थीं। सन् १९६५ में हुए भारत-पाकिस्तान-युद्ध के समय भी ऐसी रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में लिखी गईं थीं। परन्तु ऐसी रचनाओं का कोई स्थायी महत्त्व नहीं रहता। क्षणिक भावावेश की दशा में रचित साहित्य दीर्घजीवी नहीं बन पाता। परन्तु इस वर्ष (१९६७) बिहार में पड़े भयंकर अकाल ने ऐसे मार्मिक साहित्य की सृष्टि की है जो अपने चित्रण, अपनी संवेदनशीलता और प्रभाव में अनुपम है। और यह कार्य कुछ ही लोगों द्वारा किया गया है। अधिकांश लोग अपनी व्यक्तिगत ऊहापोह में ही व्यस्त रहे हैं।

आधुनिक काल के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय के उपरान्त अब हम आधुनिक हिन्दी साहित्य का उसकी विभिन्न विधाओं के अनुसार विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करेंगे। पहले हम आधुनिक कविता—ब्रजभाषा और खड़ीबोली—का विवेचन करेंगे।

आधुनिक ब्रजभाषा काव्य

यद्यपि आधुनिक युग की प्रधान काव्य-भाषा खड़ीबोली रही है, फिर भी ब्रजभाषा में काव्य-रचना करने की प्रवृत्ति, अल्पांश में ही सही, बनी अवश्य रही है। शृंगार काल तक तो काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा का आधिपत्य रहा ही था, उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में भी ब्रजभाषा में काव्य-रचना होती रही है। बाबू गुलाबराय का कथन है कि—"गद्य की अपेक्षा पद्य में रूढ़िवाद अधिक दिन तक ठहरता है।" इसलिए आधुनिक काल के प्रथम चरण में तो रूढ़िग्रस्त ब्रजभाषा काव्य की प्रधान भाषा बनी ही रही, उसके बाद भी इस क्षेत्र में उसका अस्तित्व अभी तक बना हुआ है।

आधुनिक-कालीन ब्रजभाषा और उसके कवियों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) पुरानी धारा के कवि, और (२) नई धारा के कवि।

पुरानी धारा के कवि

पुरानी धारा के कवियों में कुछ भारतेन्दु से पूर्व हुए थे, कुछ उनके समकालीन थे, और कुछ बाद में हुए थे। भारतेन्दु से पूर्व हुए आधुनिक काल के ब्रजभाषा के कवियों में गढ़वाल के प्रसिद्ध कवि मोलाराम (कुछ लोगों ने इनका नाम 'भोलाराम' भी बताया है), हैं जिन्होंने 'गढ़ राजवंश' लिखा था। इनके अतिरिक्त सेवक (सन् १८१५-१८८१) ने 'वाग्विलास'; रीवाँ-नरेश रघुराजसिंह (सन् १८२३-१८७६) ने 'राम स्वयम्वर', 'रुक्मिणी परिणय', 'रामाष्टयाम', 'आनन्दाम्बुनिधि'; सरदार (कविता-काल १८४५-१८८४ ई०) ने 'साहित्य सरसी', 'षट्ऋतु', 'श्रृंगार संग्रह', 'रामरत्नाकर' आदि मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त सूर, केशव, बिहारी आदि के अनेक ग्रन्थों की टीकाएँ भी लिखी थीं। बाबा रघुनाथदास रामसनेही ने 'विश्राम सागर', ललित-किशोरी ने अनेक प्रेम सम्बन्धी पद और गजलें, राजा लक्ष्मणसिंह ने 'शकुन्तला नाटक' और 'मेघदूत' के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किए थे। लछिराम भट्ट इस काल के अत्यन्त प्रसिद्ध और लोकप्रिय कवि थे। इन्होंने अनेक राजाओं की प्रशंसा में 'मानसिंहाष्टक', 'प्रताप रत्नाकर', 'प्रेम रत्नाकर', 'लक्ष्मीश्वर रत्नाकर' आदि तथा 'रावणेश्वर कल्पतरु', 'कमलानन्द कल्पतरु' आदि ग्रन्थों की रचना की थी। इनकी समस्या-पूर्तियाँ अपने समय में बहुत लोकप्रिय रही थीं। गुजरात के गोविन्द गिल्लाभाई ने भी ब्रजभाषा में 'नीति विनोद', 'श्रृंगार सरोजिनी', 'समस्या-पूर्ति प्रदीप', 'वक्रोक्ति विनोद', 'प्रारब्ध-पचासा', 'प्रवीन सागर', 'पावस पयोनिधि', 'षट्ऋतु' आदि ग्रन्थ रचे थे। मथुरा के नवनीत चौबे ने श्रृंगार और भक्ति-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। ये सभी श्रृंगार-कालीन बँधी-बँधाई काव्य-परिपाटी पर कविता करने वाले कवि थे। इनकी रचनाओं में श्रृंगार-कालीन काव्य-परम्परा के सभी लक्षण मिल जाते हैं। केवल काल-क्रम के अनुसार ही इनकी गणना आधुनिक-काल में की जा सकती है, काव्य-प्रवृत्ति के आधार पर नहीं।

ब्रजभाषा का युगानुरूप स्वरूप

हिन्दी में गद्य के विकास के साथ-साथ नवीन विचारधारा का प्रवेश हुआ जिसके प्रभाव से उसके स्वरूप, भाव, विचार, विषय आदि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। भारतेन्दु और उनके समकालीन अधिकांश साहित्य-सेवियों ने गद्य में तो इस नवीनता को स्वीकार कर उसकी उन्नति में योग दिया, परन्तु पद्य के क्षेत्र में वे अधिकांशतः पुरानी परिपाटी की कविता के साथ ही चिपके रहे। लेकिन इन लोगों ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि काव्य की ब्रजभाषा का नवीन युग की नई भावना के अनुरूप परिष्कार कर उसे नई युग-चेतना का सन्देश वहन करने योग्य

बनाने का प्रयत्न किया। ऐसे कवियों में भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, ठाकुर जगमोहनसिंह, अम्बिकादत्त व्यास, और राधाकृष्ण वर्मा मुख्य हैं।

भारतेन्दु ने अपनी शृंगार और भक्ति-सम्बन्धी कविताएँ तो परम्परावद्ध ब्रजभाषा में ही रचीं। 'भक्त सर्वस्व', 'कार्तिक स्नान', 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल', 'विनय प्रेम-पचासा', आदि में सूर की भाषा और पद्धति को अपनाया। तथा 'प्रेम सरोवर', 'प्रेम-तरंग', 'प्रेम-मालिका', 'प्रेम माधुरी' आदि में सरल एवं सरस ब्रजभाषा का प्रयोग किया। इनकी यह ब्रजभाषा बोलचाल की ब्रजभाषा थी। **मिश्र जी** ने समस्या पूर्ति और पुराने ढंग की शृंगारी कविता बहुत अच्छी की। वे बहुत सुन्दर लावनियाँ भी गाया करते थे। **प्रेमघन जी** ने तत्कालीन जन-समाज में प्रचलित कजली, होली आदि गाने की बहुत सी कविताएं बनाई थीं। **ठाकुर जग मोहन सिंह** ने 'प्रेम सम्पतिलता', 'श्यामा लता', 'श्यामा सरोजनी' आदि शृंगारी रचनाओं के अतिरिक्त अत्यन्त सरल सवैयों में 'मेघदूत' का भी अनुवाद किया था। **व्यास जी** ने अपने ग्रन्थ 'विहारी बिहार' में 'बिहारी सतसई' के सम्पूर्ण दोहों पर कुंडलियाँ बाँधी थीं। व्यास जी और **वर्मा जी** बड़ी विलक्षण समस्या-पूर्तियाँ किया करते थे। इस प्रकार भारतेन्दु-मंडल के ब्रजभाषा-कवियों ने समस्या-पूर्ति और शृंगारी कविता की विशेष अभिवृद्धि की। **लाला सीताराम** के अनेक पद्यानुवाद भी काफी प्रसिद्ध हुए।

द्विवेदीकालीन रूढ़िमुक्त ब्रजभाषा-काव्य

ईसा की बीसवीं सदी के आरम्भ में ब्रजभाषा-काव्य और अधिक स्वतंत्र एवं नवीन रूप में सामने आया। इसमें ब्रजभाषा काव्य की पुरानी परम्परागत रूढ़िबद्ध मान्यताओं का अभाव था—विषय और शैली, दोनों क्षेत्रों में। अयोध्यासिंह उपाध्याय **'हरिऔध'** ने ऐसी अनेक कविताएँ लिखीं जो उनके 'रस कलश' नामक काव्य-संग्रह में संग्रहीत हैं। **श्रीधर पाठक** ने खड़ीबोली के साथ-साथ ब्रजभाषा में भी कविता की थी। इनका 'ऋतुसंहार' का अनुवाद बहुत सुन्दर माना जाता है। इन्होंने समाज-सुधार, देश-प्रेम आदि नवीन विषयों को अपनाया। ये अपने प्रकृति-चित्रण के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने ब्रजभाषा के सुबोध और सामाजिक रूप को अपनाते हुए एडविन आर्नल्ड कृत 'लाइट ऑफ एशिया' का आधार ले 'बुद्ध चरित्र' लिखा, जिसमें प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर और संश्लिष्ट चित्रण हुआ है। इनकी ब्रजभाषा प्राचीन बाह्याडम्बरों और रूढ़ प्रयोगों से सर्वथा मुक्त है।

रत्नाकर : आधुनिक ब्रजभाषा काव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (सन् १८६६-१६३२) इस युग के ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। परन्तु केवल काव्योत्कर्ष के कारण ही। इन्होंने अपने युग की प्रचलित विचारधारा की उपेक्षा कर ब्रजभाषा के माध्यम से भक्ति और शृंगार-कालीन भावनाओं एवं कला का मनोरम और हृदयग्राही प्रदर्शन किया। इनकी समस्त रचनाओं में इसी मिश्रित प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। ये ब्रजभाषा काव्य के

जबर्दस्त हिमायती और खड़ीबोली के कट्टर विरोधी थे। इनके ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—मौलिक, अनूदित, और सम्पादित। काव्यग्रन्थों में दो प्रकार की रचनाएँ हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध-काव्यों में—'हरिश्चन्द्र', 'गंगावतरण', 'उद्धवशतक'; मुक्तक रचनाओं में—'हिंडोला', 'समालोचनादर्श', 'साहित्य रत्नाकर', 'घनाक्षरी-नियम रत्नाकर', 'श्रृंगार लहरी', 'गंगाविष्णु लहरी', 'रत्नाष्टक', 'वीराष्टक', और 'कलकाशी'; सम्पादित रचनाओं में—'हम्मीर हठ', 'कृपाराम की हित तरंगिणी' और दूलह कवि के 'कविकुल कंठाभरण' आदि की गणना की जाती है। 'समालोचनादर्श' अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि पोप के 'एसेज़ ऑन क्रिटिसिज्म' का रोला छन्द में अनुवाद है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'बिहारी सतसई' पर खड़ीबोली-गद्य में 'बिहारी रत्नाकर' नामक प्रसिद्ध टीका भी लिखी थी।

रत्नाकर ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि होने के साथ-साथ भाष्यकार, भाषा-तत्त्वविद् और पुरातत्त्वज्ञ भी थे। प्राचीन भारतीय संस्कृति से प्रभावित होते हुए भी उन्होंने ब्रजभाषा की रूढ़ियों को यथावत् न अपना कर उसमें मौलिक और नवीन उद्भावनाएँ भी की थीं। उन्होंने अपनी पौराणिक रचनाओं में भक्तिकालीन भावना को श्रृंगार-कालीन आलंकारिकता के साथ व्यक्त किया था। इस प्रकार उनमें इन दोनों कालों में रचित काव्य की सम्पूर्ण विशेषताओं का समावेश हो गया है। 'रसों' में उन्होंने 'श्रृंगार' को प्रधानता दी है। अलंकारों का प्रयोग नितान्त स्वाभाविक ढंग से हुआ है। भाषा में उन्होंने प्राचीन ब्रजभाषा का अन्धानुकरण न कर उसे नवीन भावों को अभिव्यक्त करने के योग्य बनाने के लिए नया रूप प्रदान किया है। इसके लिए उन्होंने नवीन लोकोक्तियों तथा मुहावरों का खुलकर उपयोग करने में तनिक भी संकोच नहीं किया है। प्राचीन रूढ़ियों का यथाशक्ति बहिष्कार करने में भी उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। काव्योत्कर्ष और काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इनकी गणना ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवियों के साथ की जाती है।

सत्यनारायण 'कविरत्न' (सन् १८५९–१९१५ ई०)

आधुनिक ब्रजभाषा काव्य-परम्परा में 'रत्नाकर' के बाद आगरा के सत्य-नारायण 'कविरत्न' का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। 'कविरत्न' अपनी सरस वाणी के कारण 'ब्रजकोकिल' कहलाते हैं। इनके काव्य के मुख्य विषय—प्रेम और श्रृंगार रहे हैं जिनमें मर्यादा का पूर्ण निर्वाह किया गया है। परन्तु इनकी एक विशेषता यह रही है कि इन्होंने अपने युग की राष्ट्रीय भावना से प्रेरित हो 'भ्रमर दूत' के माध्यम से राष्ट्रीय भावनाओं और स्थिति का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। यह स्पष्टत: आर्य-समाज और तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव था। फुटकर कविताओं के अतिरिक्त इन्होंने भवभूति के 'उत्तर रामचरित' और 'मालती माधव' नाटकों का ब्रजभाषा में अत्यन्त सरल और सरस अनुवाद किया है, जिसमें मौलिकता

का आभास होता है। इनकी समस्त उपलब्ध कविताओं का 'हृदय तरंग' नाम से संग्रह हो चुका है।

कानपुर के **राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'** के काव्य में प्राचीन परिपाटी की शृंगारिक रचनाओं के साथ-साथ देश-प्रेम का भी समावेश मिलता है। इनका प्रकृति-चित्रण सेनापति की टक्कर का माना जाता है। इनके द्वारा 'धाराधार धावन' शीर्षक से किया गया 'मेघदूत' का अनुवाद शुद्ध और व्याकरण के नियमों से शासित ब्रजभाषा का सुन्दर उदाहरण है। **मिश्र-बन्धुओं** ने ब्रजभाषा में 'रघुवंश' का सुन्दर, ललित अनुवाद किया है।

वियोगी हरि

ब्रजभाषा के वर्तमान कवियों में वियोगी हरि का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने पुराने कृष्णभक्त कवियों का अनुकरण करते हुए सरस और भक्तिभावपूर्ण पद लिखे हैं। साथ ही राष्ट्रीयता का समावेश करने के लिए वीर रस सम्बन्धी ७०० दोहे लिखकर 'वीर सतसई' का निर्माण किया है, जिस पर इन्हें हिन्दी का प्रसिद्ध 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' मिला था। ये ब्रजभाषा, ब्रजभूमि और ब्रजपति के अनन्य उपासक हैं। इनकी भक्तिभावपूर्ण कविताओं का संग्रह 'प्रेमशतक', 'प्रेमपथिक', 'प्रेमांजलि' आदि के रूप में हुआ है। 'बिहारी सतसई' की काव्य-परम्परा मे काव्य रचना करने वाले दूसरे प्रसिद्ध कवि **दुलारेलाल भार्गव** हैं जो कवि होने के अतिरिक्त हिन्दी के एक प्रसिद्ध प्रकाशक भी रहे हैं। इन्हें अपनी रचना 'दुलारे दोहावली' पर 'देव-पुरस्कार' मिला था। शुक्लजी के अनुसार—"आधुनिक काव्य-क्षेत्र में दुलारेलाल जी ने ब्रजभाषा-काव्य-चमत्कार-पद्धति का एक प्रकार से पुनरुद्धार किया है।" शुक्ल जी इनकी प्रतिभा बिहारी के ढाँचे की मानते थे।

अयोध्या के पंडित रामनाथ ज्योतिषी का 'देव पुरस्कार' से सम्मानित 'रामचन्द्रोदय काव्य' ब्रजभाषा की एक उल्लेखनीय कृति मानी गई है। मेवाड़ के केसरीसिंह बारहट का 'प्रताप चरित्र' वीर रस का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। आधुनिक नवीन विषयों सम्बन्धी ब्रजभाषा के कवियों में नाथूराम शंकर शर्मा, लाला भगवानदीन, नाथूराम माहौर, किशोरीदास वाजपेयी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' की ब्रजभाषा की कुछ फुटकर कविताएँ अत्यन्त सरस बन पड़ी हैं। रामकृष्ण दास के 'ब्रजराज' और उमाशंकर वाजपेयी की 'ब्रजभारती' में ब्रजभाषा का नया रूप दिखाई पड़ा है। आधुनिक काल में ब्रजभाषा में रचित प्रबन्ध-काव्यों में हरदयालसिंह रचित 'दैत्यवंश' सर्वाधिक उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ 'देव पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था। वचनेश का 'शवरी' नामक खंडकाव्य भी एक सुन्दर, सरस कृति है।

आजकल मथुरा ब्रजभाषा के कवियों का केन्द्र रहा है। ब्रजभाषा अन्य हिन्दी-भाषी-क्षेत्रों और साहित्यासन से तो अपदस्थ की ही जा चुकी है, परन्तु मथुरा,

आगरा आदि के ब्रजभाषा-भाषी कवियों ने अपनी इस मातृभाषा की उपेक्षा नहीं की है। वे अब भी निरन्तर इसकी सेवा कर रहे हैं। कवि-सम्मेलनों में ब्रजभाषा के इन कवियों की रचनाएँ प्रायः सुनने को मिल जाती हैं। इन कवियों में गोविन्द जी, रामलला जी, अमृतलाल चतुर्वेदी, हृषीकेश चतुर्वेदी, थानसिंह शर्मा 'सुभाषी' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गोविन्द जी की 'ब्रजबानी' नामक पुस्तिका पुरस्कृत हो चुकी है। अमृतलाल चतुर्वेदी को अपने 'स्याम संदेश' के कारण पर्याप्त ख्याति मिली है। 'श्याम सन्देश' का भ्रमर गीत काव्य-परम्परा में बड़े सम्मान के साथ उल्लेख किया जाता है। हृषीकेश चतुर्वेदी चमत्कारपूर्ण काव्य रचने में बड़े प्रवीण हैं। इनकी 'विजया वाटिका' की आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तक ने प्रशंसा की थी, जो खड़ीबोली के कट्टर समर्थक थे। इनकी कविताओं में उक्ति-वैचित्र्य और शब्द-चमत्कार के सुन्दर दर्शन होते हैं। थानसिंह शर्मा 'सुभाषी' ब्रजभाषा के हास्यरस के बड़े मँजे हुए कवि हैं। मथुरा के डा० बरसाने लाल चतुर्वेदी और पद्मश्री गोपालप्रसाद व्यास भी अपनी हास्यरसपूर्ण कविताओं के लिए पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। इधर खड़ीबोली के प्रसिद्ध गीतकार सोम ठाकुर और घनश्याम अस्थाना ने भी ब्रजभाषा में अनेक सुन्दर पदों की रचना कर, इस क्षेत्र में भी अपने अपूर्व काव्य-कौशल का परिचय दिया है।

ब्रजभाषा के विकास, परिष्कार और परिवर्द्धन के लिए 'ब्रज साहित्य मंडल' नामक एक साहित्यिक संस्था की कुछ वर्ष पूर्व स्थापना की गई थी। आरम्भ में इस संस्था ने सुन्दर कार्य किया था परन्तु यह कुछ समय से पद-लोलुप लोगों की दलबन्दी के कारण निष्प्राण सी हो रही है।

ब्रजभाषा-काव्य का भविष्य

आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काव्य-भाषा के प्रति हिन्दी के कवियों का आकर्षण क्रमशः कम होता चला गया है। ब्रजभाषा-भाषी क्षेत्र के बाहर तो अब इसका काव्य-रचना के लिए कोई महत्त्व ही नहीं रहा है। किसी समय समस्त उत्तर भारत में व्याप्त काव्य-भाषा ब्रजभाषा अब अपने पूर्व गौरव को खो विशुद्ध रूप से एक क्षेत्रीय काव्य-भाषा मात्र रह गई है। इस क्षेत्र के भी अधिकांश कवि खड़ीबोली में ही काव्य-रचना कर रहे हैं। इधर ब्रजभाषा में रचित जो कविताएँ सुनने और पढ़ने को मिलती हैं, उनमें हास्य, शब्द-चमत्कार आदि के अतिरिक्त अन्य कोई भी काव्य-गुण नहीं मिलता। कुछ कविताएँ तो शृंगारकालीन काव्य की शब्दावली, अलंकार-योजना आदि को यथावत् अपनाती हुई चलती हैं। भाव-गाम्भीर्य का तो इनमें रंचमात्र भी निशान नहीं मिलता। यह स्थिति इस बात का संकेत दे रही है कि अब ब्रजभाषा काव्य-रचना के लिए नितान्त अनुपयुक्त, असमर्थ और व्यर्थ बन गई है।

ब्रजभाषा के इस पतन का एक कारण है। और वह यह है कि यह भाषा नए युग की नई चेतना के अनुरूप अपने को परिवर्तित करने में असमर्थ रही है। यह पुरानी

शब्दावली, पुरानी छन्द-योजना, पुराने विषय और पुरानी काव्य-परम्पराओं से ही चिपकी रही है। और यह ऐतिहासिक सत्य है कि जो भाषा नए परिवर्तित युगों का साथ देने में, उसकी भावनाओं को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहती है, शुद्ध रूढ़ काव्य-भाषा का रूप धारण किए रहती है, उसे शीघ्र ही काव्यासन से अपदस्थ होना पड़ता है। ब्रजभाषा को भी इसी नियति को भोगना पड़ रहा है। उसके पुन-रुद्धार की आशा तभी की जा सकती है कि युगानुरूप उसका पूर्ण संस्कार किया जाय। और वर्तमान स्थिति में ऐसा होना किसी भी दशा में सम्भव नहीं दिखाई पड़ता। इसलिए काव्य-भाषा के रूप में ब्रजभाषा का भविष्य अन्धकारपूर्ण ही समझना चाहिए।

आधुनिक खड़ीबोली काव्य-परम्परा

पूर्व-पीठिका

खड़ीबोली में कविता करने का प्रयास भारतेन्दु के समय में ही आरम्भ हो गया था, परन्तु उस काल में काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य था। बीसवीं सदी के आरम्भ तक खड़ीबोली काव्य-क्षेत्र में प्रविष्ट होने लगी थी। यहाँ केवल भाषा-माध्यम में ही परिवर्तन होना आरम्भ हो गया था, परन्तु साहित्य की मूल चेतना वही राष्ट्रीयतावादी, समाज सुधार, और सांस्कृतिक संघर्ष वाली ही बनी रही थी। कुछ आलोचकों ने इस चेतना को आदर्शवादी माना है। परन्तु आदर्शवाद के प्रचलित अर्थ में इसे आदर्शवादी नहीं माना जा सकता। यह विशुद्ध यथार्थवादी चेतना थी। यह यथार्थवादी इस अर्थ में थी कि इस काल के कवियों ने देश-दशा का यथार्थ चित्रण कर समाज में विदेशी शासन, विदेशी संस्कृति, और विदेशी भाषा के प्रति विद्रोह की भावना जाग्रत कर स्वदेश, स्वदेश गौरव, मातृभाषा, और स्वदेशी संस्कृति के प्रति समाज का मोह जगाया था। इस काल के निबन्ध, नाटक आदि इसी राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्त कर रहे हैं। यथास्थिति का चित्रण कर उसके प्रति जन-चेतना को उद्बुद्ध करना ही यथार्थवादी साहित्य का प्रधान लक्ष्य होता है। और भारतेन्दु कालीन साहित्य इसी चेतना का ध्वज-वाहक बनकर सामने आया था। यद्यपि उसमें भक्ति और श्रृङ्गार की भी अभिव्यक्ति हुई थी, परन्तु वह प्रधान न होकर गौण ही थी।

प्रधान स्वर राष्ट्रीयता का था

भारतेन्दु के अधिकांश नाटक, निबन्ध आदि इसी राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्त कर रहे हैं। 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी' आदि में उन्होंने अंग्रेजी शासन में होने वाली देश की दुर्दशा का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। हम इसका विस्तृत विवेचन पीछे भारतेन्दु के सन्दर्भ में कर आए हैं। भारतेन्दु का यह राष्ट्रीयतावादी स्वर उस युग के सभी साहित्यकारों का रहा था। और यही स्वर हमें खड़ी-

बोली काव्य के प्रथम चरण में उसी ओज के साथ मुखरित होता हुआ सुनाई पड़ता है। इसे समझने के लिए हमें एक बार पुनः उस स्वर का हल्का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। उस युग के साहित्यकार रह-रहकर अंग्रेज द्वारा भारत, भारतीय संस्कृति, भारत की लूट-खसोट और अपमान के विरुद्ध आवाज उठाते रहते थे। एक बार, जब इंगलैण्ड में दादाभाई नौरोजी का 'काला' कहकर अपमान किया गया था तो प्रेमघन जी ने यह कविता लिखी थी—

'अचरज होत तुमहु सम गोरे बाजत कारे।
तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर हैं बारे॥
कारे काम, राम, जलधर जल बरसन वारे।
कारे लागत ताही सों, कारन कों प्यारे॥
याते नीको है तुम 'कारे' जाहु पुकारे।
यहै असीस देत तुमकौ मिलि हम सब कारे॥'

प्रतापनारायण मिश्र ने अंग्रेजी-शासन में होने वाली देश-दुर्दशा का निम्नांकित 'होली' में बड़ा मार्मिक वर्णन किया था—

'मँहगी और टिकस के मारे सगरी वस्तु अमोली है।
कौन भाँति त्यौहार मनैये कैसे कहिए होली है॥
सब धन ढोयो जात विलायत रह्यो दलिद्दर छाय।
अन्न-वस्त्र कहँ सब जब तरसैं, होरी कहाँ सुहाय॥
भूखे मरत किसान तहूँ पर कर हित डपट न थोरी है।
गारी देत दुष्ट चपरासी तकति बिचारी छोरी है॥'

इस होली में मिश्रजी अनजाने ही उस पूँजीवादी व्यस्था के वास्तविक रूप का अंकन कर गए हैं जो साम्राज्यवाद की सहायता से किसी भी देश में अपने पैर जमाती है। तनिक उपर्युक्त वर्णित स्थिति की तुलना आधुनिक स्थिति से करने का प्रयत्न कीजिए, रंचमात्र भी अन्तर नहीं मिलेगा। आज भारत में इतनी अधिक मँहगाई, कर-भार, भ्रष्टाचार, अन्याय-अत्याचार जो कुछ भी है, वह सब इसी पूँजीवादी व्यवस्था की देन है, यद्यपि हमारी सरकार दम्भ करती है समाजवादी होने की। इस साधारण से सत्य को समझने के लिए मार्क्सवाद का अध्ययन जरूरी नहीं है। यह भारतेन्दु-काल का भा युग-सत्य था, और आज का भी युग-सत्य है। इसी कारण हमने इस युग के काव्य को 'यथार्थवादी' काव्य कहा है।

अंग्रेज भारतीय संस्कृति, रहन-सहन, भाषा आदि—सभी को नष्ट कर उसके स्थान पर अंग्रेजी संस्कृति, रहन-सहन, भाषा आदि की स्थापना करने का प्रयत्न कर रहा था। राधाचरण गोस्वामी ने इस स्थिति को समझ भारतीय संस्कृति की रक्षा करने की पुकार लगाई थी—

'मैं हाय हाय दै धाय पुकारों रोई ।
भारत की डूबी नाव उबारो कोई ।।
उड़ गए वेद के बादवान अति भारे ।
ऋषिजन रस्सा नहिं रहे खेंचने हारे ।।
यामें चिन्तामणि सदृश रत्न की ढेरी ।
यामें अमृत सम, औषधि फेरी ।।
वह चली सकल यूरोप हाय मति भोई ।
भारत की डूबी नाव उबारो कोई ।।'

और अम्बिकादत्त व्यास ने रहन-सहन आदि पर पड़ने वाले अंग्रेजी-प्रभाव की निन्दा करते हुए लिखा था—

'पहिरि कोट पतलून बूट अरु हैट धारि सिर;
भालू चरबी चरवी लेवेन्डर को लगाइ फिर ।
निज भाइन के रचे बसन भूषन नहिं भावत;
मैनचेस्टर अरु लिवरपूल से लादि मँगावत ।'

बाबू बालमुकुन्द गुप्त की राष्ट्रीय-चेतना बहुत तीव्र और मार्मिक थी । वह अंग्रेज द्वारा किए जाने वाले शोषण के कट्टर विरोधी थे । उन्होंने अन्नदाता किसान की दुर्दशा का वर्णन करते हुए लिखा था—

'जिनके कारण सब सुख पावें, जिनका बोया सब जन खायें ।
हाय हाय उनके बालक नित, भूखों के मारे चिल्लायँ ।।'

× × ×

'अहा बिचारे दुख के मारे निस दिन पच-पच मरें किसान ।
जब अनाज उत्पन्न होय तब सब उठवा ले जाय लगान ।।'

और इस विषम स्थिति का निराकरण, गुप्त जी के अनुसार, तभी हो सकता था, जब—

'अपना बोया आप ही खावें,
अपना कपड़ा आप बनावें ।
माल विदेशी दूर भगावें,
अपना चरखा आप चलावें ।
बढ़े सदा अपना व्यापार,
चारों दिस हो मौज बहार ।'

इस स्थिति को लाने के लिए गुप्त जी चाहते थे कि सारे भारतवासी संगठित रहने और स्वावलम्बी बनने की प्रतिज्ञा करें—

'आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीवें मरें।
अपनी चीजें आप बनाओ, उनसे अपना अंग सजाओ ।।'

गुप्त जी इस बात से बड़े चिन्तित रहते थे कि भारतवासी अपना स्वरूप खोकर विदेशी रङ्ग में बुरी तरह से रंगते चले जा रहे हैं। इसलिए उन्होंने भारतीयों को सावधान करते हुए लिखा था—

'निज धर्म कर्म व्रत नेम नित दृढ़ चित ह्वै पालन करैं।
नहिं आपनपौ बिसराय कै आन ओर सपनेहु ढरैं ।।'

उपर्युक्त उद्धरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि उस युग में हिन्दी के साहित्यकारों ने अंग्रेजो-शासन और संस्कृति के विरुद्ध एक तीव्र जन-आन्दोलन छेड़ रखा था। विदेशी शासन और संस्कृति का बहिष्कार और स्वतन्त्रता तथा भारतीय संस्कृति का संरक्षण—उस युग की कविता का मूल स्वर था। गांधी जी के स्वदेशी आन्दोलन और चरखा का प्रचार करने वाली नीति की झलक हमें उपर्युक्त पंक्तियों में मिल जाती है। उपर्युक्त उद्धरणों से, विशेष रूप से गुप्त जी के उद्धरणों से, एक अन्य तथ्य भी प्रकाश में आता है और वह यह है कि उस युग में कविगण भाषा-माध्यम की अधिक चिन्ता नहीं करते थे। उनका सारा ध्यान अभिव्यक्ति की यथार्थता और सशक्तता के प्रति ही केन्द्रित रहता था। गुप्त जी के उपर्युक्त उद्धरणों में ब्रजभाषा और खड़ीबोली—दोनों का ही समान रूप से प्रयोग हुआ है। उस समय तक खड़ीबोली और ब्रजभाषा का द्वन्द्व उग्र रूप नहीं धारण कर पाया था। अस्तु,

दो धाराएँ

आधुनिक खड़ीबोली काव्य ने साहित्य-क्षेत्र में ऐसी ही सशक्त पृष्ठभूमि का आधार ले प्रवेश किया था। वह सांस्कृतिक और सामाजिक नवोन्मेष का काल था। और अनेक परवर्ती दशाब्दों तक इस काव्य में इसी उन्मेष का अङ्कन होता रहा था। बीसवीं सदी के आरम्भ से हिन्दी-साहित्य की धारा दो भिन्न परन्तु समानान्तर चलने वाली धाराओं के रूप में विभाजित हो गई थी जो पृथक् रहते हुए भी एक-दूसरे की पूरक थीं। पहली धारा थी—राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक नवोत्थान की। इसके अन्तर्गत भारत की संस्कृति, इतिहास आदि की युगानुकूल नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं। पौराणिक गाथाओं को उपयोगी और प्रभावकारी रूप में प्रस्तुत किया गया। यह कार्य अधिकांशतः प्रबन्ध-काव्यों के माध्यम से हुआ। दूसरी धारा थी—खड़ीबोली को पद्य का भी माध्यम बनाने के प्रयत्नों की। इसके अन्तर्गत खड़ीबोली में काव्य-रचना करने के लिए प्रोत्साहन देना, खड़ीबोली को माँजना-सँवारना, उसके व्याकरण, शब्द-भण्डार, शैली आदि का निर्माण और अभिवृद्धि करना। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी इस धारा के प्रधान संचालक थे। यह धारा अभिव्यक्ति के लिए सशक्त साधन जुटाती रही और इसे आधार बना पहली धारा आगे बढ़ती चली गई। प्रत्यक्ष रूप से भाषा-संस्कार का यह दौर सन् १९०० से लेकर १९२० तक

प्रबल रहा। आगे चलकर भाषा-संस्कार प्रधान और महत्त्वपूर्ण उद्देश्य न रहकर साधन मात्र रह गया। साहित्य के विकास के साथ-साथ भाषा-परिष्कार स्वतः होता रहा। उसके लिए प्रत्यक्ष प्रयत्न की आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती थी।

नैतिकता की स्थापना

इस काल में एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि साहित्य में स्वच्छन्द अभिव्यक्ति का विरोध कर उसे नैतिकता का पाठ पढ़ाया जाने लगा। इस नैतिकता के जोश में साहित्यकारों को उपदेश दिया गया कि वे उश्रृंखलता त्याग तमीज से बात किया करें। इसने स्वच्छन्द, उन्मुक्त शैली का गला घोंट दिया। अभिव्यक्ति एक निश्चित, निर्धारित परिपाटी के अनुसार दबी-दबी सी होने लगी। नई नैतिकता का यह जोश, दूसरी तरफ, श्रृंगार-भावना के बहिष्कार के रूप में आगे बढ़ा। कवियों से कहा गया कि श्रृंगारिक चित्रण जन-भावना को कलुषित बनाता है, इसलिए पहले तो चित्रण किया ही नहीं जाय, और यदि किया भी जाय तो तुलसी की परम्परानुसार किया जाय। इसके अतिरिक्त परम्परागत अलंकारों, छन्दों आदि का भी विरोध हुआ। हिन्दी के परम्परागत छन्दों के स्थान पर संस्कृत-छन्दों का प्रयोग किया जाने लगा। अलंकारों के बहिष्कार ने साहित्य में से वक्रोक्ति-चमत्कार, सौन्दर्य, बंकिम अभिव्यंजना-शक्ति आदि विशेषताओं को नष्ट कर दिया। सम्पूर्ण प्राचीन और परम्परागत साधनों और विषयों का बहिष्कार करने का परिणाम यह निकला कि इस युग का काव्य, जिसे सामान्यतः 'द्विवेदी युग' कहा जाता रहा है, घोर रूप से इतिवृत्तात्मक और नीरस बन गया। यह एक ऐसा काव्य था जो मानो एक मशीन द्वारा साँचे में ढाल कर उत्पन्न किया गया था। इसीलिए इसमें न विषय-वैविध्य के दर्शन होते हैं और न साहित्यिक सरसता और प्रांजलता के।

इस युग के काव्य की मूल चेतना आदर्शवादी थी। यह साहित्य संस्कृत के आदर्शवादी साहित्य को अपना आधार बनाकर आगे बढ़ा था। आदर्शवाद तो था, परन्तु साथ ही उसे युगानुरूप ढालने का प्रयत्न भी था। और इस प्रयत्न के मूल में सांस्कृतिक और सामाजिक उन्नति और परिवर्तन का राष्ट्रवादी स्वर कार्य कर रहा था। परन्तु इस नए आदर्शवादी राष्ट्रीय स्वर का रूप वैसा स्वाभाविक और सहज जन-प्रिय नहीं रहा था, जैसा कि भारतेन्दु कालीन साहित्य का था। वह यथार्थवादी स्वर था, और यह नया स्वर आदर्शवादी था। सबसे पहले 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में इस नए स्वर की गूँज सुनाई पड़ी। 'प्रिय प्रवास' के राधा और कृष्ण अपना परम्परागत रूप त्याग लोक-सेवक और लोक-सेविका के रूप में हमारे सामने आए यह उनका एक सर्वथा नया रूप था जिसमें स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता का प्राधान्य था। यह नई आदर्शवादी नैतिकतापरक भावना का ही परिणाम था। सन् १९१३ में रचे गए 'प्रियप्रवास' का यही नया रूप सन् १९३१ में रचे गए मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में पुनः उभरा था। हिन्दी के ये दोनों तथाकथित महा-

काव्य इस बात के प्रमाण हैं कि कृत्रिम आदर्शवाद का पिष्टपेषण कैसी निर्बल साहित्यिक कृतियों को जन्म देता है। 'प्रिय प्रवास' के इस कृत्रिम नैतिकता परक आदर्शवाद का हिन्दी में बहुत ही कम अनुकरण हुआ था, क्योंकि यह जनता के गले नहीं उतर पाया था। 'प्रियप्रवास' का महत्त्व खड़ीबोली को काव्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने वाले काव्य के रूप में ही अधिक मानना चाहिए, न कि एक स्वस्थ काव्य-परम्परा का प्रवर्त्तन करने वाले काव्य के रूप में। जन-मानस स्वाभाविकता और सहजता का ही प्रेमी होता है, कृत्रिमता उसे क्षणभर के लिए आश्चर्यचकित भले ही कर दे परन्तु प्रभावित नहीं कर पाती।

वस्तुतः भारतेन्दुकालीन यथार्थवाद से प्रभावित जन-मानस उसी प्रकार की अभिव्यक्ति का अभ्यस्त बन चुका था। इसलिए जब गुप्त जी की 'भारत भारती' में उसे उसी प्रकार की अभिव्यक्ति का रूप मिला तो उसने उसे ललक कर अपना लिया। सन् १९१४ में रचित 'भारत भारती' इसी कारण अपने समय में तो अत्यधिक लोकप्रिय थी ही, बाद में भी बहुत समय तक बनी रही। मध्यम कोटि की मनीषा द्वारा जब किसी नितान्त नवीन विचार या रूप का प्रवर्त्तन करने का प्रयत्न किया जाता है तो उसका वही परिणाम निकलता है जो द्विवेदी-युगीन काव्य का रहा था। यह काव्य उपदेश-प्रधान, नीरस और प्रभावहीन बनकर रह गया था। इस काल में रचित ऐसे काव्य का केवल इतना ही महत्त्व माना जा सकता है कि इसने खड़ीबोली को काव्य की भाषा बनाने का ऐतिहासिक कार्य किया था। जन-मानस परम्परा के उल्लंघन को एकाएक स्वीकार नहीं कर पाता। इसे स्वीकार कराने के लिए उसे धीरे-धीरे तैयार करना पड़ता है। गुप्तजी का 'जयद्रथ वध' (१९१०) और 'भारत भारती' (१९१४) हिन्दी में इसी कारण लोकप्रियता प्राप्त कर सके थे कि 'जयद्रथ वध' में परम्परागत पौराणिक गाथा को बिना कोई विशेष परिवर्तन किए जनभाषा खड़ीबोली के सहज रूप में प्रस्तुत किया गया था और 'भारत भारती' में भारतेन्दु कालीन राष्ट्रीय चेतना अपने यथार्थवादी रूप में प्रकट हुई थी।

नैतिकता की प्रतिक्रिया

उस युग (१९००-२०) में वैसे तो आचार्य द्विवेदी का विशाल व्यक्तित्त्व सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य पर छाया हुआ था परन्तु उसी युग में कुछ ऐसे साहित्यकार भी काव्य-क्षेत्र में सक्रिय थे, जो द्विवेदी जी से भिन्न साहित्यिक मानदंडोंको मान साहित्य-सृजन कर रहे थे। ये कवि की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के समर्थक थे। इन्हें काव्य पर नैतिकता का अंकुश स्वीकार नहीं था। ये प्रेम को मानव की स्वाभाविक भूख मान उसके मनोरम अंकन को एक स्वाभाविक मानव-प्रक्रिया मानते थे। इनकी यह भी मान्यता थी कि अभिव्यक्ति के स्थूल रूप की अपेक्षा उसका सूक्ष्म-सांकेतिक रूप अधिक सुन्दर, प्रभावकारी और प्रभविष्णु होता है। इसी कारण इन लोगों ने द्विवेदी जी द्वारा प्रवर्त्तित इतिवृत्तात्मक काव्यधारा का विरोध कर सूक्ष्म-अभिव्यक्ति को अपने काव्य में

अपनाया था। मानव-मन कभी-कभी अनेक ऐसी कल्पनाएँ भी किया करता है जिनका प्रत्यक्ष जीवन से, ऊपरी दृष्टि से देखने पर, कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं दिखाई देता परन्तु उनका सूक्ष्म सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है। व्यक्ति के मन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वही कल्पनाएँ उठा करती हैं जिनका उसके संस्कारों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसी कारण व्यक्ति को समाज से पूर्णतः पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। ऊपर से देखने पर ये कल्पनाएँ या अनुभूतियाँ व्यक्तिगत सी दिखाई देती हैं परन्तु वस्तुतः होती सामाजिक ही हैं। और इनके रूप में प्राय: व्यक्ति का समाज के रूढ़ बन्धनों के प्रति विद्रोह का ही अभिव्यक्तीकरण होता है। परन्तु इनका रूप उग्र नहीं बन पाता। उग्र न बन सकने के कारण ये सूक्ष्म रूप धारण कर लेती हैं। हिन्दी-साहित्य में इन सूक्ष्म अनुभूतियों का अंकन करने वाला साहित्य 'छायावाद' कहलाया, जिसे 'स्वच्छन्दतावाद' भी कहा जाता है।

विदेशी काव्य का प्रभाव

छायावादी काव्य के रचयिता चिन्तक, अध्ययनशील और अत्यन्त जागरूक कवि थे। ये हिन्दी-कविता को पुरानी परम्परागत काव्य-रूढ़ियों, आरोपिता नैतिकता आदि के बन्धनों से मुक्त कर, जो उसे नीरस और इतिवृत्तात्मक बनाए हुए थे, कवि की स्वच्छन्द, उन्मुक्त भावनाओं के प्रकाशन के अनुरूप सशक्त, कलात्मक और व्यंजना-पूर्ण बनाने के अभिलाषी थे। इसके लिए नई भावाभिव्यक्ति, नई भाषा और नई कला की आवश्यकता थी। यह सब करने के लिए इन्होंने शृंगार-कालीन स्थूल शृंगार के स्थान पर सूक्ष्म आन्तरिक शृंगार भावना, देश-गौरव और देश-प्रेम का नया रूप, प्रकृति के प्रति भावात्मक अनुराग आदि को नई भाषा, नए छन्द-विधान और नई व्यंजना के साथ प्रस्तुत किया। और यही विशेषताएँ हमें अंग्रेजी के रोमान्टिक (स्वच्छन्दतावादी) काव्य में मिलती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के इन नए छायावादी कवियों पर इस विदेशी स्वच्छन्दतावाद का गहरा प्रभाव था। श्रीधर पाठक स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा के हिन्दी में सर्वप्रथम कवि माने जाते हैं। उनके 'एकान्तवासी योगी' आदि काव्य-ग्रन्थ अंग्रेजी के अनुवाद थे। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि बीसवीं सदी के आरम्भ से ही हिन्दी के साहित्यकारों की रुचि विदेशी साहित्य के अध्ययन के प्रति बढ़ने लगी थी और उन पर उसका प्रभाव भी पड़ना आरम्भ हो गया था। बँगला में स्वच्छन्दतावादी काव्य का उदय बहुत पहले ही हो चुका था।

इस नवीन स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्ति ने हिन्दी-कविता को उसके सीमित रूढ़ और नीरस रूप-सीमा के दायरे से बाहर निकाल, नए युग के साथ ला मिलाया। इस प्रवृत्ति के विकास ने खड़ीबोली को नया रूप, नया सौन्दर्य और नयी शक्ति प्रदान की। परन्तु यह काव्य अधिक बौद्धिक था। इसलिए इसकी अनुभूतियाँ और अभिव्यक्ति जन-साधारण के लिए बोध-गम्य नहीं रहीं। इसकी अतिशय बौद्धिकता, सूक्ष्म कला-चेतना और नई अभिव्यंजना-पद्धति ने इसे दुरूह बना दिया। इसकी

भाषा अत्यधिक कोमल और संवेदनशील बन गई। नवीन छन्द-विधान, नए शब्द, नए अलंकार आदि साहित्य के पुराने नैतिकतावादी कर्णधारों को पसन्द नहीं आए। दूसरी बात यह हुई कि इसमें सूक्ष्म कला के माध्यम से अभिव्यक्त देशानुराग, यद्यपि काफी स्पष्ट था, लोगों की समझ में नहीं आया। समष्टि रूप से इसकी अत्यधिक कला-चेतना ने इसे जन-साधारण से दूर कर दिया। फलतः इसका विरोध होना आरम्भ हो गया।

स्वच्छन्दतावाद का विरोध

यह विरोध दो प्रकार के व्यक्तियों द्वारा किया गया। एक तो पुराने नैतिकतावादी साहित्यकारों, जैसे महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि द्वारा, और दूसरा उन नए साहित्यकारों द्वारा जो स्वच्छन्दतावाद की अतिशय बौद्धिकता, व्यक्तित्वपरकता और उसमें हो रही जन-जीवन की उपेक्षा के कारण उसका विरोध कर रहे थे। द्विवेदी जी आदि इस साहित्य में अपनी काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं का स्पष्ट उल्लंघन होता हुआ देख, काव्य-हत्या के भय से संत्रस्त हो इसका विरोध कर रहे थे। परन्तु स्वच्छन्दतावाद इनके इस विरोध की परवाह न कर अपनी कला-साधना के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता चला गया और इन विरोधियों को पराजय का मुख देखना पड़ा। परन्तु पर्याप्त विकास की स्थिति तक पहुँच कर जब सन् १९३५-३६ के आसपास इसे नए, समाजवादी चेतना से अनुप्रेरित नए साहित्यकारों के विरोध का सामना करना पड़ा तो यह उनका विरोध सहने में अशक्त और असमर्थ हो समाप्त-सा हो गया। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि उस स्थिति पर स्वयं इसके उन्नायक और जन्मदाता निराला, पन्त, महादेवी आदि ने भी इसका विरोध करना आरम्भ कर दिया था।

नई सामाजिक चेतना का उदय

यद्यपि कथा-साहित्य में नई समाजवादी चेतना का उदय, प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के रूप में बहुत पहले, लगभग स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा के जन्म के समय से ही हो चुका था परन्तु अभी यह नई चेतना कविता के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पाई थी। सन् १९३५-३६ के लगभग इस नई सामाजिक चेतना ने एक विधिवत् साहित्यिक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया जो 'प्रगतिवाद' के नाम से पुकारी गई। इसके संस्थापकों, उन्नायकों और समर्थकों ने यह माँग उठाई कि साहित्य में जन-साधारण की भाषा में सीधी-तीखी शैली में जनता के सुख-दुख का चित्रण होना चाहिए। यह सामाजिक विचारधारा हर प्रकार के शोषण, अन्याय-अत्याचार की कट्टर विरोधी और सामाजिक और आर्थिक समानता, निर्धन किसान-मजदूरों के उन्नयन और समृद्धि की उग्र समर्थक थी और साहित्य को इन्हीं बातों के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाना चाहती थी। साधारणतः इस विचारधारा को समाजवादी या साम्यवादी विचारधारा कहा जाता है। संक्षेप में, यह विचारधारा साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, धनिक और उच्च वर्ग, सामाजिक असमानता और हर प्रकार के शोषण के विरुद्ध

है। इस विचारधारा का प्रचार होने पर हिन्दी-कविता के स्वच्छन्दतावादी स्वर में परिवर्तन होना आरम्भ हो गया और अधिकांश कवि सीधी-सरल भाषा में ऐसी कविताएँ करने लगे जिनमें उपर्युक्त सिद्धान्तों, विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति हो रही थी। इसमें भाषा के कलात्मक कोमल रूप, उसके संस्कृतीकरण, छन्द, अलंकार आदि के मोह को त्याग बोलचाल की सी भाषा में ऐसी कविताएँ रची जाने लगीं जो सब की समझ में तो आ ही जाती थीं, जन-साधारण में समाजवादी विचारों का गहरा असर पैदा कर रही थीं। छायावाद के उन्नायक—निराला और पंत के काव्य में यह नया परिवर्तन स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ और इस मेधावी युगल ने इस नई काव्यधारा का नेतृत्व सम्हाल लिया। अभी तक कविता का क्षेत्र ही इस नई सामाजिक और राजनैतिक विचारधारा के प्रभाव-क्षेत्र से अलग सा रहा था, परन्तु निराला और पन्त का हार्दिक सहयोग पाकर यह काव्य-क्षेत्र में भी मुखरित हो उठी। परम्परा और संस्कार-प्रिय लोगों को इसकी कलाहीनता, स्पष्टता और उग्रता खटकी। वस्तुतः इस प्रगतिवादी कविता में जन-साधारण पर गहरा प्रभाव डालने की तो अद्भुत क्षमता थी, परन्तु इसमें हृदय की कोमल-सरस भावनाओं, अनुभूतियों के लिए कोई विशेष स्थान नहीं था। भक्ति युग से लेकर भाषा की कोमलता, उक्ति-चमत्कार वक्र-व्यंजना तथा श्रृंगारिक भावनाओं का अभ्यस्त बना हुआ उच्च वर्ग का कोमल-मन इससे विचलित हो उठा। उसका कहना था कि कविता का क्षेत्र कोमल भावनाओं की कलात्मक अभिव्यंजना का क्षेत्र है। उसमें कर्कश भाषा, उग्र विचार, विध्वंस का आह्वान, राजनीतिक प्रचार जैसी बातों को स्थान नहीं मिलना चाहिए। इसलिए उन्होंने इसका विरोध करना आरम्भ कर दिया और यह विरोध 'प्रयोगवादी आन्दोलन' के रूप सामने आया।

प्रयोगवादी काव्य का उदय

यह नया काव्य प्रगतिवाद के जनवादी दृष्टिकोण और छायावाद की अतिशय कलाप्रियता का विरोध करता हुआ कविता के क्षेत्र में अवतरित हुआ। इसके संस्थापकों और उन्नायकों ने यह नारा लगाया कि कविता की भाषा और कवियों की संवेदनाएँ पुरानी पड़ गई हैं, चुक गई हैं। इनकी यह माँग थी कि व्यक्ति की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति पर किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं रहना चाहिये। अतः ये लोग नए काव्य-विषय, नई भाषा, नए अलंकार और सर्वथा नई काव्य-राहों का अन्वेषण करने के लिए काव्य-क्षेत्र में उतर पड़े। इनके कथनों और कार्यों में भयंकर अन्तर्विरोध था। ये स्वयं को प्रगतिशील और भाषा को सहज-सुबोध रूप प्रदान करने की बातें कहते थे। परन्तु इनका दृष्टिकोण घोर अहंवादी, व्यक्तिपरक तथा भाषा क्लिष्ट, अस्पष्ट, नए-नए विचित्र प्रयोगों से भरी रहती थी। उसमें संवेदनशीलता का अभाव था। वस्तुतः ये काव्य को जनसाधारण की वस्तु न मान, उसे बौद्धिक वर्ग तक ही सीमित मानते थे और उसी वर्ग के लिए लिखते थे। आश्चर्य की बात यह थी कि

इन लोगों के पास साधनों का अभाव नहीं था। इनके काव्य-संग्रह खूब धड़ल्ले के साथ प्रकाशित होते थे और पत्र-पत्रिकाओं द्वारा उनका खूब प्रचार किया जाता था। परिणाम यह निकला कि नवीनता और शीघ्र-प्रचार के मोह के कारण इस नए काव्य-रूप ने, अनेक नए कवियों को जो कुछ समय बाद, 'प्रयोगवाद' की संज्ञा त्याग, 'नई कविता' कही जाने लगी, अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इस 'नई कविता' के उन्नायकों का मूल लक्ष्य प्रगतिवाद का विरोध करना था। इसी कारण इसे देश के धनी-मानी वर्ग का, जिसे प्रगतिवाद से हमेशा खतरा बना रहता था, संरक्षण निरन्तर मिलता रहा। इस नई काव्य-धारा ने स्वयं को केवल काव्य-क्षेत्र तक ही सीमित न रख, कथा-साहित्य में भी प्रवेश करने का प्रयत्न किया था परन्तु अधिक सफलता न प्राप्त कर सकी।

मिश्रित काव्य-परम्पराएँ

भारत की आजादी के उपरान्त हिन्दी-काव्य में विभिन्न नई काव्य-परम्पराओं का संघर्ष और विकास होता रहा। प्रयोगवादी कवि अपने नए प्रयोगों के जंजाल में उलझे रहे और प्रगतिवादी कवि जन-संघर्ष का स्वर बुलन्द करते रहे। इसलिए इस काल की हिन्दी-कविता में शुभ और अशुभ—दोनों ही पक्ष उभर-उभर कर सामने आते रहे। अनेक उच्चकोटि के काव्य-संग्रह, महाकाव्य, प्रबन्ध-काव्य आदि प्रकाशित हुए। नए गीतकारों ने बड़े मनोरम गीतों का सृजन किया। अनेक उच्चकोटि के काव्य-रूपक रचे गए। इस समृद्ध काव्य-रचना में सभी विचारधाराओं के कवियों का योगदान रहा। न प्रयोगवाद में ही सब कुछ त्याज्य और विगर्हणीय था और न प्रगतिवाद में सब कुछ स्वीकार्य और स्पृहणीय। इधर कुछ दिनों से हिन्दी-कविता पुनः नई-नई विचारधाराओं और प्रयोगों से आक्रान्त हो उठी है। इसके मूल में विदेशी नई काव्य-धाराओं और आन्दोलनों का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ रहा है। 'भूखी पीढ़ी', 'क्रुद्ध-पीढ़ी' आदि इसी की उपज हैं। अकविता, ठोस कविता, नव-गीत—आदि भी इसी की देन हैं। इस नएपन के मूल में आत्म-प्रचार, अपने महत्त्व की स्थापना, दलबन्दी आदि ही प्रमुख कारण रहे हैं। अस्तु,

आधुनिक कविता का उपर्युक्त विश्लेषणात्मक संक्षिप्त विवेचन, जो मूल-प्रेरक तथ्यों पर आधारित है, इस युग के काव्य का एक समष्टि रूप प्रस्तुत कर देता है। अब हम आरम्भ से लेकर अन्त तक इस कविता का विस्तृत रूप उसकी प्रधान काव्य-प्रवृत्तियों, आन्दोलनों और प्रमुख कवियों के परिचय के साथ प्रस्तुत करेंगे।

खड़ीबोली-कविता का विकास

हम भारतेन्दु से लेकर उन्नीसवीं सदी के अन्त तक के काव्य का विवेचन पीछे कर आए हैं। उस समय तक काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा था परन्तु खड़ीबोली भी धीरे-धीरे इस क्षेत्र में प्रवेश करने लगी थी। यद्यपि बीसवीं सदी के

आरम्भ में खड़ीबोली प्रमुख काव्य-भाषा बन गई थी परन्तु उसके इस विकास के बीज उन्नीसवीं सदी के अन्त में ही दिखाई देने लगे थे। वस्तुतः खड़ीबोली को सम्मान के साथ काव्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का श्रेय पंडित श्रीधर पाठक को मिलना चाहिए क्योंकि उन्होंने ही सबसे पहले इसमें सफल काव्य-रचना कर यह प्रमाणित कर दिया था कि खड़ीबोली में सरस-सुन्दर कविता लिखी जा सकती है। अतः हम खड़ीबोली-काव्य का विवेचन श्रीधर पाठक से ही आरम्भ करना संगत और न्यायपूर्ण समझते हैं।

पंडित श्रीधर पाठक (सन् १८५९–१९२९ ई०)

पाठक जी अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ की तीन रचनाओं के अनुवाद कर काव्य-क्षेत्र में उतरे थे। उन्होंने 'हरमिट' का 'एकान्तवासी योगी' (१८८६), 'डेजर्टेड विलेज का 'ऊजड़ ग्राम' (१८८९), तथा 'ट्रेवलर' का 'श्रान्त पथिक' (१९०२) के शीर्षक से अनुवाद किया था। इनमें खड़ीबोली की प्रबन्ध-शैली का रूप सामने आया। इनके अतिरिक्त भी पाठक जी ने अनेक लघु प्रबन्धात्मक कविताएँ लिखी थीं, जैसे—'जगत सचाई सार', 'काश्मीर सुषमा', 'आराध्य शोकांजलि', 'जार्ज वन्दना', 'गोखले-प्रशस्ति', 'देहरादून', 'गायिका गीत', 'भारत गीत', 'भक्ति विभा'—आदि। 'एकान्त-वासी योगी' खड़ीबोली में था और 'ऊजड़ ग्राम' ब्रजभाषा में। इस प्रकार पाठक जी खड़ीबोली और ब्रजभाषा—दोनों के समर्थ और प्रतिभाशाली कवि सिद्ध होते हैं।

पाठक जी खड़ीबोली के ऐसे सर्वप्रथम और सफल कवि हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा यह सिद्ध कर दिया था कि खड़ीबोली में कोमल, सरस और प्रबन्ध-काव्य के लिए उपयुक्त प्रवाहपूर्ण शैली में सुन्दर कविता की जा सकती है। इसके लिए उन्होंने सुन्दर लय, स्वर और ताल के नए-नए प्रयोग किए। उनका छन्द-विधान, पद-विन्यास, वाक्य-विन्यास आदि सब कुछ ब्रजभाषा-काव्य से नितान्त भिन्न और खड़ीबोली की प्रकृति के अनुकूल और अनुरूप था। और यह सब करने के लिए उच्च कोटि की प्रतिभा की अपेक्षा होती है, जिसकी पाठक जी में कोई कमी नहीं थी। पाठक जी अपने समय के अत्यन्त जागरूक कवि थे। देश-प्रेम, समाज-सुधार, स्वच्छन्दतावादी नया स्वर, प्रकृति-प्रेम—आदि उनकी कविता के प्रधान विषय रहते थे। इस विषय-वैविध्य ने उनके काव्य को समृद्ध बनाया था। शुक्ल जी ने उनके सरल-सरस विषय-प्रतिपादन और प्रकृति-प्रेम की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"विषयों को काव्य का पूरा-पूरा स्वरूप देने में चाहे वे सफल न हुए हों, अभिव्यंजना के वाग्वैचित्र्य की ओर उनका ध्यान चाहे न रहा हो, गम्भीर नूतन विचारधारा चाहे उनकी कविताओं के भीतर कम मिलती हो, पर उनकी वाणी में कुछ ऐसा प्रसाद था कि जो बात उसके द्वारा प्रकट की जाती थी, उसमें सरसता आ जाती थी। अपने समय के कवियों में प्रकृति का वर्णन पाठक जी ने सबसे अधिक किया, इससे हिन्दी-प्रेमियों में वे प्रकृति के उपासक कहे जाते थे।"

पाठक जी खड़ीबोली-कविता में तीन प्रकार की प्रवृत्तियों और काव्य-परम्पराओं

के प्रवर्त्तक माने जाने चाहिए—स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति, प्रकृति-प्रेम, और शोक-गीत। उन्होंने गोल्डस्मिथ के जिन तीन काव्य-ग्रन्थों का अनुवाद किया था, उनमें स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति उभर कर ऊपर आई थी। इन कृतियों में गोलस्मिथ की वह आत्मा छटपटाती हुई दिखाई देती है जो पूँजीवाद के उदय के कारण कृत्रिम बने नागरिक-जीवन की अशान्ति से दूर भाग ग्राम्यांचल में शान्ति पाना चाहती है। स्वच्छन्दतावाद का जन्म कृत्रिम नागरिक सभ्यता और नए जीवन की प्रतिक्रिया स्वरूप ही हुआ था। पाठक जी के उपर्युक्त अनुवादों द्वारा हिन्दी में सर्वप्रथम इस प्रवृत्ति के दर्शन हुए थे। प्रकृति-प्रेम स्वच्छन्दतावाद का ही एक विशिष्ट अंग था और पाठक जी को इसने गहरे रूप से प्रभावित किया था। इसी कारण हमें उनके समस्त काव्य में आलम्बन रूप में प्रकृति के मनोरम रूप चित्रित मिलते हैं। इसी प्रकृति-प्रेम के कारण उन्होंने 'काश्मीर-सुषमा' लिखी थी और कालिदास के अन्य सम्पूर्ण ग्रन्थों को छोड़ उनके 'ऋतु-संहार' का ब्रजभाषा में अनुवाद किया था। यह प्रकृति-वर्णन हिन्दी-साहित्य के पूर्ववर्ती परम्पराभुक्त उद्दीपन रूप में किए गए प्रकृति-वर्णन से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र रूप में था। हिन्दी के छायावादी काव्य में प्रकृति-प्रेम और प्रकृति के प्रति एक सर्वथा नवीन, संवेदनशील दृष्टिकोण और अनुभूति का प्राधान्य रहा है। पाठक जी इसका प्रवर्त्तन पहले ही कर चुके थे। इसी कारण हम उन्हें हिन्दी-काव्य में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का समावेश करने वाले और एक प्रकार से प्रथम छायावादी कवि मानते हैं।

हिन्दी में शोक-गीत एकाध ही लिखे गए हैं। अब तक सामान्यतः निराला का 'सरोज स्मृति' ही हिन्दी का सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ शोक-गीत माना जाता रहा है। परन्तु पाठक जी सन् १९०६ में ही अपने पिता की मृत्यु पर 'आराध्य शोकांजलि' नामक शोक-गीत लिख चुके थे। अंग्रेजी साहित्य में शोक-गीतों की एक समृद्ध परम्परा रही है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाठक जी अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी काव्य से बहुत प्रभावित थे और उन्होंने हिन्दी में सबसे पहले उस परम्परा का प्रवर्त्तन किया था। उनके पश्चात् प्रसाद, निराला, पन्त आदि ने इस धारा को आगे बढ़ाया था। इसके अतिरिक्त पाठक जी अपनी 'स्वर्गीय वीणा' शीर्षक कविता में उस परोक्ष रहस्यपूर्ण दिव्य संगीत की ओर भी संकेत कर चुके थे जो स्पष्टतः अंग्रेजी के रहस्यवादी (मिस्टिक) कवियों का प्रभाव था। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी का छायावादी-काव्य अंग्रेजी की स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा से गहरे रूप से प्रभावित रहा है, और पाठक जी उसके प्रथम कवि और प्रवर्त्तक हैं। उनकी खड़ीबोली कविता का एक नमूना प्रस्तुत है—

'कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सगुंजु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है॥
कोई पुरन्दर की किंकरी है कि या किसी सुर की सुन्दरी है।
वियोग तप्ता सी भोग-मुक्ता हृदय के उद्गार गा रही है॥'

—'स्वर्गीय वीणा'

पाटक जी ने खड़ीबोली-काव्य का एक सुलझा हुआ, परम्परा से भिन्न और नितान्त नवीन स्वरूप प्रस्तुत कर, इस काव्य की सुदृढ़ आधार-भूमि प्रस्तुत कर दी थी।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (सन् १८६१—१९३८ ई०)

पाठक जी के उपरान्त आचार्य द्विवेदी इस क्षेत्र में उतरे। उन्होंने कालिदास के 'कुमार सम्भव' का 'कुमार सम्भव सार' (१९०२) शीर्षक से सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया जिसकी प्रशंसा करते हुए शुक्लजी ने लिखा है—"यह अनुवाद बहुत ही उत्तम हुआ है। इसमें मूल के भाव बड़ी सफाई से आए हैं। संस्कृत के अनुवादों में मूल का भाव लाने के प्रयत्न में भाषा में प्रायः जटिलता आ जाया करती है, पर इसमें यह बात ज़रा भी नहीं है।" द्विवेदी जी ने अनेक कविताएँ भी लिखी थीं जो 'काव्य-मंजूषा' और 'सुमन' नामक काव्य-संग्रहों में संग्रहीत हैं। वस्तुतः द्विवेदी जी स्वयं एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि न होकर कवि-निर्माता ही अधिक रहे थे। अपनी मौलिक कविताओं में उन्होंने सच्ची कविता कैसी होनी चाहिए, इस बात पर विशेष बल देते हुए ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा को त्याज्य घोषित किया है। उनकी 'हे कविते !' शीर्षक कविता में यह भावना पूर्ण स्पष्ट हो उठी है। वह कविता को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

'सुरम्य रूपे रस-राशि-रंजिते !
विचित्र वर्णाभरणे ! कहाँ गई ?
अलौकिकानन्द विधायिनी महा
कवीन्द्र-कान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?'

यहाँ कवि स्पष्टतः संस्कृत-काव्य की स्तुति और प्रशंसा करता हुआ उसे पुनः भारत में अवतरित होने के लिए पुकार रहा है। परन्तु साथ ही कवि इस बात से ही चिन्तित है कि ब्रजभाषा-काव्य ने यहाँ के वातावरण को इतना कलुषित बना दिया है कि वह उस दिव्य कविता (संस्कृत-कविता) के रहने योग्य नहीं रहा है। इसलिए वह पुनः अपनी उस आदर्श कविता को, भवभूति की प्रिया कविता को, चेतावनी देता हुआ कहता है कि :—

'अभी मिलेगा ब्रज मंडलांत का,
सुमुक्त भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर-संगी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही।
इसीलिए हे भवभूति भाविते !
अभी यहाँ हे कविते ! न आ, न आ !'

उपर्युक्त पंक्तियों में द्विवेदी जी का कविता विषयक सम्पूर्ण दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है जिसमें भावुक कवि की अपेक्षा एक जागरूक विचारक और आलोचक का

रूप ही अधिक उभरा हुआ है। इससे द्विवेदी जी के चिन्तन के कविता-सम्बन्धी तीन पक्ष प्रकट होते हैं। पहला, संस्कृत-काव्य की तुलना में ब्रजभाषा-काव्य त्याज्य और विगर्हणीय है, इसलिए हिन्दी वालों को संस्कृत-काव्य को अपना आदर्श बनाना चाहिए। दूसरा, संस्कृत के छन्द, शब्द-विन्यास और काव्य-शास्त्रीय विशेषताएँ ही नई हिन्दी-कविता का आधार बन सकते हैं। तीसरा, कविता में कवि का दृष्टिकोण नैतिकता-परक अवश्य रहना चाहिए। द्विवेदी जी ने अपनी कविताओं द्वारा या तो ऐसी कविता के उदाहरण प्रस्तुत किए थे या उसका प्रचार किया था। इसी कारण उनकी कविता साधारण कोटि की बन कर रह गई है। उनके इस काव्य-विषयक दृष्टिकोण में स्पष्टतः पाठक जी की स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा का विरोध था। द्विवेदी जी से प्रभावित अनेक कवियों ने उनके इसी आदर्श के अनुरूप काव्य-रचना की थी।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सन् १८६५—१९४७ ई०)

हरिऔध ने अपना कवि-जीवन ब्रजभाषा से आरम्भ किया। उन्होंने १७ वर्ष की अवस्था में 'कृष्ण शतक' (१८८२) की रचना की थी और उसके उपरान्त खड़ी-बोली के क्षेत्र में आए थे। पहले उन्होंने दो नाटक लिखे 'प्रद्युम्न विजय' और 'रुक्मिणी-परिणय'। वह आरम्भ में शृंगार-कालीन शृंगार की भावना से बहुत प्रभावित थे। इसी प्रभाव के कारण आरम्भ में उन्होंने 'रसिक-रहस्य', 'प्रेमाम्बु वारिध', 'प्रेम-प्रपंच', 'प्रेमाम्बु प्रश्रवण' जैसे काव्य-ग्रन्थों की रचना की थी। ये रचनाएँ १८९९ से १९०१ तक रची गई थीं। उनकी यह शृंगार-प्रियता सन् १९३१ में रचित 'रस-कलश' में पुनः उभर आई थी। इस ग्रन्थ में उन्होंने आधुनिक नायिकाओं के भेदोपभेदों का वर्णन किया है। 'रस कलश' और नाटकों के अतिरिक्त उनकी उपर्युक्त सम्पूर्ण रचनाएँ—ब्रजभाषा की रचनाएँ हैं। इनमें कृष्ण के प्रेमी-रूप का ही अंकन हुआ है।

इस बीच एक ओर तो आर्यसमाज का सुधारवादी आन्दोलन चल रहा था, और दूसरी ओर खड़ीबोली को काव्य-क्षेत्र में स्थापित करने के प्रयत्न हो रहे थे। इन दोनों ही आन्दोलनों का सम्मिलित प्रभाव सन् १९१४ में रचित उनके 'प्रियप्रवास' नामक प्रबन्ध-काव्य में दिखाई पड़ा। आर्य-समाज से प्रभावित हो, उन्होंने कृष्ण और राधा को अलौकिक न मान मानव और मानवी के रूप में चित्रित किया और पूर्ववर्ती कृष्णभक्तों द्वारा वर्णित उनकी अलौकिक लीलाओं को मानव की लौकिक लीलाओं के रूप में प्रस्तुत किया। 'प्रियप्रवास' के राधा और कृष्ण प्रेम-लीला या उनकी स्मृति में ही डूबे रहने वाले विरही और विरहिणी न रह, राष्ट्रीय जन-चेतना से अनुप्राणित लोक-सेवक और लोक-सेविका के रूप में सामने आए। यह स्पष्टतः तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव था। इस समय तक खड़ीबोली का आन्दोलन पर्याप्त जोर पकड़ चुका था। इससे प्रभावित हो, उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना खड़ीबोली में की, जिसमें

संस्कृत-छन्दों और समस्त पदों वाली शैली का प्रयोग किया। दृष्टिकोण, भाषा और शैली—तीनों ही दृष्टियों से 'प्रियप्रवास' ने हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक ऐसी नई क्रान्ति का श्रीगणेश किया था जो निरन्तर गतिमान बनी रही। इसी कारण 'प्रियप्रवास' का आधुनिक हिन्दी-काव्य के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान रहा है। वैसे इसे खड़ीबोली का प्रथम महाकाव्य भी माना जाता है, क्योंकि इसमें महाकाव्य के लिए अपेक्षित अधिकांश महत्त्वपूर्ण लक्षणों का निर्वाह हुआ है और अपनी उदात्तता, गरिमा, जीवन्त सन्देश और आकर्षक भाषा और शैली के कारण यह बहुलांश में महाकाव्य-पद का अधिकारी बन जाता है। हमारी राय में इस ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्त्व इस बात के लिए माना जाना चाहिए कि इसने हिन्दी के नए कवियों को एक नया बौद्धिक दृष्टिकोण प्रदान किया था और इस दृष्टिकोण ने परवर्ती हिन्दी-काव्य को बहुत समय तक प्रभावित बनाए रखा। साथ ही इसके प्रणयन से यह सिद्ध हो चुका था कि खड़ीबोली में श्रेष्ठ, ललित, प्रभावशाली कविता लिखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त यह तत्कालीन राष्ट्रीय और सांस्कृतिक नव-चेतना का भी प्रतिबिम्ब बन गया था। सन् १९४१ में रचित उनका दूसरा प्रबन्ध-काव्य 'वैदेही-वनवास' भी लगभग इसी रूप को लेकर सामने आया। इसमें लोक-संग्रह की भावना का प्राधान्य है।

हरिऔध का एक और महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ 'पारिजात' (१९३७) है, जो अधिक प्रसिद्धि तो प्राप्त नहीं कर सका परन्तु जिसे स्वयं हरिऔध 'महाकाव्य' मानते थे। इसमें उन्होंने विभिन्न सर्गों में दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। इसमें उनके प्रौढ़ चिन्तन और गम्भीर ज्ञान का परिचय तो मिल जाता है परन्तु साहित्य-रसिकों द्वारा की गई इसकी उपेक्षा इस सत्य का भी उद्घाटन कर देती है कि दर्शन को काव्य का विषय नहीं बनाना चाहिए।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त हरिऔध ने अनेक फुटकर कविताएँ लिखीं, जो 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे', 'पद्य प्रसून', 'बोलचाल', 'फूल-पत्ते', 'कल्पलता', 'ग्राम गीत', 'बाल कवितावली', 'हरिऔध सतसई', 'मर्म स्पर्श' आदि काव्य-संग्रहों के रूप में प्रकाशित हुई हैं। इनमें उन्होंने विभिन्न शैलियों और छन्दों के विविध प्रयोग किए हैं। कहीं उर्दू-छन्दों में मुहावरेदार खड़ीबोली की छटा दिखाई देती है और कहीं नितान्त सरल बोलचाल की भाषा और लोक-छन्दों में सामान्य जीवन के सामान्य तत्त्वों का अंकन किया गया है। हरिऔध की एक विशेषता रही है कि वे निरन्तर शैली और छन्दों के विविध रूपों के नए-नए प्रयोग करते रहे हैं। 'प्रियप्रवास' में उन्होंने संस्कृत-शब्दावली, संस्कृत-छन्द और संस्कृत की ही अतुकान्त समस्त पदों वाली शैली का नया चमत्कार दिखाया था और 'चोखे चौपदे' आदि में उर्दू-छन्द, मुहावरेदार साधारण बोलचाल की सरल भाषा का रूप प्रस्तुत किया था। ये दोनों शैलियाँ अपनी-अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई थीं। इससे यह सिद्ध होता है कि वह युग—नई-नई शैलियों के प्रयोग का युग था जिसके द्वारा खड़ीबोली के रूप,

अभिव्यंजना-शक्ति आदि को उन्नत करने का प्रयत्न किया जा रहा था। इसी कारण उस युग में रचे गए अधिकांश काव्य-ग्रन्थ कवि की गहन अनुभूति, सप्राण भावुकता, कोमल कल्पना आदि विशिष्ट काव्य-गुणों से वंचित रह गए थे। इसीलिए उन्हें 'इतिवृत्तात्मक काव्य' की संज्ञा प्रदान की गई। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इस प्रकार के काव्य की मुख्य प्रेरक-शक्ति थे।

मैथिलीशरण गुप्त (सन् १८८६—१९६५ ई०)

हरिऔध के उपरान्त गुप्त जी एक प्रधान कवि के रूप में खड़ीबोली काव्य-क्षेत्र में उतरे। आधुनिक काल के कवियों में गुप्त जी का क्षेत्र सबसे अधिक व्यापक और विस्तृत रहा है। उन्होंने अपने युग की लगभग सभी काव्य-धाराओं, काव्य-रूपों शैलियों, धार्मिक, सांस्कृतिक समस्याओं और विषयों को अपनाने का प्रयत्न किया है। इसी कारण उन्हें अपने युग का 'प्रतिनिधि कवि' और 'राष्ट्रकवि' कहा जाता रहा है। गुप्त जी आचार्य द्विवेदी के एकनिष्ठ शिष्य रहे हैं। उन्होंने अपने काव्य में पूर्णतः उन्हीं सिद्धान्तों का पालन किया है जो द्विवेदी के सिद्धान्त रहे थे। इसी कारण द्विवेदी-युग की सफलता और असफलता—दोनों का निदर्शन गुप्त जी के काव्य में मिल जाता है। उन्होंने काव्य के प्राचीन विषयों को द्विवेदी-युगीन नैतिकता का जामा पहना कर नए मानवतावादी रूप में प्रस्तुत किया, राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित हो देश के अतीत का गौरव-गान किया और देश की वर्तमान दुर्दशा पर क्षोभ, ग्लानि और आक्रोश प्रकट किया। कवीन्द्र रवीन्द्र के मानवतावाद से प्रभावित हो करुणा, दया, त्याग आदि के गीत गाए और गांधीवाद का प्रभाव ग्रहण कर साम्प्रदायिक एकता, सत्य और अहिंसा का प्रतिपादन किया। गुप्तजी की एक विशेषता यह थी कि वे अपने समय की परिवर्तित होती रहने वाली परिस्थितियों के प्रति बहुत जागरूक रहते थे। और उनके अनुसार बदलती हुई भावनाओं के अनुरूप काव्य-सृजन करते चलते थे इसी कारण उनके काव्य में भारतेन्दु, द्विवेदी जी के समकालीन तथा छायावादी काव्य की अधिकांश विशेषताएँ मिल जाती हैं।

सब कुछ को समेट कर चलने का प्रयत्न करने वाली इस प्रवृत्ति ने उनकी काव्य-प्रतिभा को खंडों में विभाजित कर दिया जिसका परिणाम यह निकला कि उनके काव्य में विषय-वैविध्य और व्यापकता तो आ गई, परन्तु वह उस गाम्भीर्य और संवेदनशीलता से वंचित रह गया जो काव्य को स्थायी और कालावधि से मुक्त कीत्ति और रूप प्रदान करती है। वस्तुतः भरसक प्रयत्न करने के बावजूद भी उनका काव्य ऐसा इतिवृत्तात्मक काव्य बनकर रह गया जिसका ऐतिहासिक और युगीन महत्त्व ही रह जाता है। इतने पर भी, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि गुप्त जी अपने युग के अत्यन्त प्रसिद्ध कवि रहे हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा खड़ीबोली-काव्य को लोकप्रिय बनाया था और अपने विचारों एवं शैली द्वारा अपने समकालीन अनेक कवियों को प्रभावित भी किया था।

गुप्तजी भारतीय संस्कृति, भारतीय इतिहास और भारती के एकनिष्ठ उपासक थे। उनके साहित्य में आरम्भ से ही इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। वह सन् १९०९ में 'रंग में भङ्ग' नामक एक छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य लिखकर खड़ीबोली काव्य-क्षेत्र में उतरे थे। इसमें चित्तौड़ और बूँदी के राजघरानों की आन और मान की कथा वर्णित है। यह साधारण स्तर का ग्रन्थ है। परन्तु जब १९१० में इनका 'जयद्रथ वध' प्रकाशित हुआ तो हिन्दी-संसार में इनकी धूम मच गई। और १९१४ में प्रकाशित 'भारत भारती' ने इन्हें खड़ीबोली के एक प्रसिद्ध लोकप्रिय कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। 'जयद्रथ वध' में खड़ीबोली का कथाकाव्य के लिए उपयुक्त भाषा-रूप और कथा कहने की सहज परन्तु प्रभावशाली शैली सामने आई थी और 'भारत भारती' की राष्ट्रीय भावना ने हिन्दी-साहित्य में एक नई हलचल मचा दी थी। इसके बाद तो गुप्तजी निरन्तर, विभिन्न विषयों को अपनाते हुए काव्य-सृजन करते रहे। जब कालान्तर में १९३२ में इनका 'साकेत' प्रकाशित हुआ तो पुनः एक बार फिर इनके नाम की धूम मच गई और अनेक आलोचकों ने 'साकेत' को एक सफल, सुन्दर महाकाव्य घोषित कर दिया। गुप्त जी ने कुल मिलाकर लगभग ४० काव्य ग्रन्थ रचे हैं जिनमें से 'जयद्रथ वध', 'भारत-भारती', 'साकेत', 'पंचवटी', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'सिद्धराज', 'गुरुकुल', 'झंकार', 'अनघ', 'काबा कर्बला' आदि विशेष प्रसिद्ध रहे हैं।

गुप्त जी समय की परिवर्तित गतियों के साथ चलते रहे हैं। युग के महापुरुष उन्हें प्रभावित करते रहे हैं। एक बार रवीन्द्र बाबू ने लिखा कि वाल्मीकि से लेकर आज तक सभी कवियों ने राम के साथ सीता की तो प्रशंसा की है परन्तु लक्ष्मण की अर्द्धाङ्गिनी विरहिणी उर्मिला किसी भी कवि की सहानुभूति अर्जित करने में असमर्थ रही है। आचार्य द्विवेदी ने रवीन्द्र बाबू के इस कथन को बहुत महत्त्व दिया और उनके पट्ट-शिष्य गुप्त जी ने उर्मिला को अपने हृदय की सम्पूर्ण सहानुभूति और संवेदना प्रदान करने का बीड़ा उठाया। परिणामस्वरूप 'साकेत' का निर्माण हुआ। परन्तु परम्परागत बद्धमूल धारणाओं और मान्यताओं से स्वयं को मुक्त कर उन धारणाओं को बदलने के लिए अत्यन्त उच्चकोटि की मेधा और प्रतिभा अपेक्षित होती है। इसके अभाव में, प्रयत्न करने पर, वही परिणाम निकलता है जिसका 'साकेत' उदाहरण है। गुप्तजी के भरसक प्रयत्न के बावजूद भी 'साकेत' में राम और सीता की कथा ही प्रमुखता प्राप्त कर गई है। गुप्तजी की कल्पना ने विरहिणी उर्मिला को एक कृत्रिम रूप प्रदान करने में ही सफलता पाई है। उर्मिला प्रभावित नहीं कर पाती। एक युग था जब 'साकेत' को हिन्दी का अन्यतम महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु अब अधिकांश विद्वान् इसे 'एकार्थ काव्य' मात्र ही मानते हैं। उद्देश्य की महानता, सन्देश की गरिमा, गुरुता, गाम्भीर्य आदि की कसौटी पर जब 'साकेत' की परीक्षा की जाती है तो यह 'महाकाव्य' पद की गरिमा से वंचित दिखाई पड़ता है। उसे 'मानस' और 'कामायनी' की परम्परा या स्तर का काव्य नहीं माना जा सकता।

गुप्त जी ने अपने विभिन्न काव्यों में भारत के अतीत गौरव, पौराणिक और ऐतिहासिक विभूतियों आदि का ही प्रधान रूप से अंकन किया है। इसलिए उनकी रचनाओं में प्रबन्ध-काव्यों की संख्या अधिक रही है। यद्यपि गुप्तजी मूलतः राम-भक्त रहे हैं परन्तु उन्होंने कृष्ण और गौतम बुद्ध को भी समान महत्त्व प्रदान किया है। 'यशोधरा' उनका विचित्र शैली का काव्य है जिसे सामान्यतः 'चम्पू काव्य' कहा जाता रहा है। गुप्तजी ने यद्यपि प्रयोग-वैचित्र्य को अपनाने का प्रयत्न किया है परन्तु उसमें अधिक विविधता और सफलता नहीं मिलती। उन्होंने छायावादी शैली का अनुकरण करते हुए कुछ कविताएँ लिखी थीं जो 'झंकार' में संग्रहीत हैं। गुप्तजी के समस्त काव्य-सृजन की एक विशिष्ट उपलब्धि यह मानी जा सकती है कि उनके विभिन्न काव्यों में कुछ ऐसे मनोरम गीत उभर आए हैं जो बहुत दिनों तक लोक-जिह्वा पर जीवित रहे थे। इन गीतों में पर्याप्त तन्मयता है। आचार्य द्विवेदी के प्रभाव के कारण गुप्तजी शृंगार-वर्णन में बड़े सावधान रहे हैं। उनका शृंगार-वर्णन तुलसी के ही समान मर्यादित और सीमित रहा है। प्रकृति-वर्णन भी परम्पराभुक्त रूप में ही हुआ है।

जहाँ तक भाषा-शैली का सम्बन्ध है, गुप्त जी का ऐतिहासिक महत्त्व रहा है। उन्होंने खड़ीबोली में उस समय काव्य-रचना आरम्भ की थी, जब खड़ीबोली-काव्य की शैशवावस्था थी और उसका विरोध हो रहा था। इसलिए गुप्त जी को उसे काव्य के अनुरूप कोमल और परिष्कृत बनाने में बहुत परिश्रम करना पड़ा था। भाषा के क्षेत्र में उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया था जो जन-साधारण के लिए सुबोध था। उन्होंने नए छन्दों का भी निर्माण किया जिनमें तुक के मोह के कारण शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा, संस्कृत के अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया और अनेक निरर्थक शब्दों की भरती की। तुक के मोह ने इनकी भाषा को कहीं-कहीं बड़ा हास्यास्पद बना दिया है। परन्तु इन कमियों के बावजूद भी गुप्तजी ने अपनी काव्य-साधना के आरम्भिक चरण में खड़ीबोली को लोकप्रिय बनाने में ऐतिहासिक योग प्रदान किया था। गुप्त जी की एक अनन्य विशेषता यह है कि अपने काव्य द्वारा उन्होंने साधारण पाठकों को सबसे अधिक प्रभावित किया है। सामान्य पाठकों में आज भी गुप्त जी पर्याप्त लोकप्रिय हैं। इसका कारण यह है कि इस वर्ग का पाठक उनके काव्य में उन परम्परागत काव्य-गुणों—ओज, माधुर्य, प्रसाद, सरसता और अद्भुत सम्प्रेषणीयता पाता है जो उसके मन और विचार के अधिक अनुकूल हैं। अर्थात् गुप्त जी समाज के कवि रहे हैं। समाज उनके काव्य में अपने परम्परागत संस्कारों के अनुकूल अभिव्यक्ति पाता रहा है। गुप्त जी की सफलता का यही रहस्य और कारण रहा है। इस क्षेत्र में गुप्तजी अद्वितीय हैं।

इस काल के अन्य प्रमुख कवि

यहाँ हम इस काल के उन्हीं कवियों का विवेचन करेंगे जो आचार्य द्विवेदी **की नैतिकतापरक आदर्शवादी भावना का अनुकरण करने वाले रहे हैं। आधुनिक**

हिन्दी-काव्य में इन लोगों की एक लम्बी परम्परा रही है। इस काल के इन कवियों में रामचरित उपाध्याय, लाला भगवानदीन, राय देवीप्रसाद पूर्ण, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, ठाकुर गोपालशरणसिंह, नाथूराम शंकर शर्मा, श्यामनारायण पांडेय, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही आदि प्रमुख हैं।

सनेही जी और दीन जी ने जन-सुलभ भाषा में कविता की। दीन जी प्राचीन भारतीय वीरों के गुण-गान में तन्मय रहे और सनेही जी ने वर्तमान राजनीति को अपने काव्य का विषय बनाया। दीन जी ने 'वीर पंचरत्न' में तथा सियारामशरण गुप्त ने 'मौर्यविजय' में ऐतिहासिक तथा मध्यकालीन वीरों के त्याग और साहस का गान कर निर्भीकता, युद्ध-कौशल, स्वाभिमान, देश-प्रेम आदि गुणों की ओर संकेत किया। नाथूराम शंकर शर्मा ने आर्यसमाज से प्रेरित होकर हास्यरसपूर्ण, व्यंग्यात्मक और उपदेशात्मक काव्य की रचना की जो 'शंकर सर्वस्व' नामक काव्य-संग्रह में संग्रहीत है। नवीन जी कवि होने के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख कार्यकर्त्ता भी रहे थे। राष्ट्रीय जीवन का क्रियात्मक और मार्मिक अनुभव होने के कारण उनके काव्य में राष्ट्रीय भावनाओं की बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति दिखाई पड़ी। माखनलाल चतुर्वेदी, जो साहित्य में 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रसिद्ध हैं, राष्ट्रीय आन्दोलन के एक प्रमुख स्तम्भ और क्रान्तिकारी वीर रहे हैं। नवीन जी और चतुर्वेदी जी—दोनों में ही करुणा की भावना के कारण, उनके काव्य में कठोरता के साथ ही कोमलता का बड़ा सुन्दर समावेश हुआ है। इन दोनों कवियों की यह विशेषता रही है कि इन्होंने अत्यन्त ओजस्वी स्वर में एक ओर तो नाश और विध्वंस के गीत गाए हैं, और दूसरी ओर उनका हृदय करुणा से ही आन्दोलित होता रहा है। ओज, उग्रता और करुणा का ऐसा सुन्दर, प्रभावशाली सामंजस्य एक नए काव्य-स्वर, सौन्दर्य और सम्प्रेषणीयता उत्पन्न कर देता है। चतुर्वेदी जी की 'पुष्प की अभिलाषा' नामक कविता इस प्रकार के काव्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। उनके 'हिमकिरीटिनी' और 'हिम तरंगिनी' नामक काव्य-संग्रहों में उनकी भक्तिभावपूर्ण करुणार्द्र कविताएँ संग्रहीत हैं। नवीन जी उग्र प्रकृति के कवि रहे हैं। उनकी 'विप्लव गान' नामक कविता ने किसी समय बहुत प्रसिद्धि पाई थी। उनकी प्रेम-सम्बन्धी कविताओं में कहीं-कहीं नीति और सदाचार की अवहेलना लक्षित होती है।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की अधिकांश कविताएँ देशभक्ति और प्रकृति-चित्रण से सम्बद्ध रही हैं। रामनरेश त्रिपाठी पौराणिक कथाओं का मोह त्याग, श्रीधर पाठक की स्वच्छन्दतावादी परम्परा का अनुगमन करते हुए, काल्पनिक कथाओं पर आधारित अपने तीन खण्डकाव्य—'मिलन', 'पथिक', और 'स्वप्न' लेकर काव्य-क्षेत्र में अवतरित हुए। यह हिन्दी-साहित्य में एक सर्वथा नवीन प्रयास था। त्रिपाठी जी गांधीवाद से गहरे रूप से प्रभावित रहे हैं और उनके सभी नायक गांधीवादी सिद्धान्तों के साकार-

सक्रिय रूप बनकर सामने आते हैं। इन्होंने कहीं-कहीं प्रकृति के भी अत्यन्त संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किए हैं। शुक्लजी ने इनकी रचनाओं की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—"इन प्रबन्धों में नर-जीवन जिन रूपों में ढाल कर सामने लाया गया है, वे मनुष्य-मात्र का मर्म-स्पर्श करने वाले हैं तथा प्रकृति के स्वच्छन्द और रमणीय प्रसार के बीच अवस्थित होने के कारण शेष सृष्टि से विच्छिन्न नहीं प्रतीत होते।" त्रिपाठी जी ने अपने इन काव्यों में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व का भी सुन्दर समावेश किया है, विशेष रूप से 'स्वप्न' नामक खण्डकाव्य में।

श्यामनारायण पांडेय की प्रसिद्धि का आधार उनकी वीर-रसपूर्ण रचना 'हल्दीघाटी' रही है। इसमें पांडेय जी ने सुन्दर, वीरत्व व्यंजक ओजपूर्ण सरल भाषा में हिन्दुत्व के रक्षक महाराणा प्रताप के अमित शौर्य के गीत गाए हैं। इन्होंने अपनी दूसरी प्रसिद्ध रचना 'जौहर' में अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ पर किए गए आक्रमण और राजपूत ललनाओं के जौहर का वर्णन किया है। ये दोनों ग्रन्थ खड़ीबोली के वीररस के अत्यन्त सुन्दर प्रबन्ध-काव्य माने जाते हैं। ठाकुर गोपालशरण सिंह के काव्य में प्रेम की साधना का चित्रण सरल-सुबोध भाषा में किया गया है। इन्होंने खड़ीबोली में सर्वप्रथम कवित्त और सवैयों की सफल रचना कर एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया था। इनके 'कादम्बिनी' नामक काव्य-संग्रह में मानव जीवन का सुखमय और प्रकृति का उन्मुक्त और प्रफुल्लित रूप चित्रित हुआ है। इनके काव्य में निराशा के कहीं भी दर्शन नहीं होते, सर्वत्र उल्लास की एक अनुपम छटा विकीर्ण होती दिखाई देती है।

सियारामशरण गुप्त ने कथात्मक, भावात्मक, विचारात्मक, कविताएँ लिखी हैं। ये हिन्दी में गांधीवादी कवि के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके काव्य में, गांधीवाद के प्रभाव के कारण ही करुणा, आशा, अहिंसा, मानवतावाद आदि उच्च-उदात्त मानव-भावनाओं का अधिक चित्रण हुआ है। 'आर्द्रा', 'विषाद', 'पाथेय', 'बापू', 'उन्मुक्त' आदि इनके प्रसिद्ध काव्य-संग्रह हैं। इन्होंने 'नोआखाली' हत्याकांड पर अनेक मार्मिक कविताएँ लिखकर यह दिखाया है कि मुसलमानों में भी सत्पुरुषों की कमी नहीं है। सुभद्राकुमारी चौहान की अधिकांश कविताएँ राष्ट्रीय-भावना से ओतप्रोत हैं। इनकी 'झाँसी की रानी' बहुत प्रसिद्ध रही है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक वात्सल्य-सम्बन्धी सरस, भावुकतापूर्ण कविताएँ भी काफी लिखी हैं। 'मुकुल' इनकी फुटकर कविताओं का संग्रह है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त इस काल में द्विवेदी जी की नैतिकतावादी काव्य-मान्यताओं के अनुसार कविता करने वाले अन्य अनेक कवि और हुए हैं परन्तु यहाँ स्थानाभाव के कारण उनका विस्तृत उल्लेख और विवेचन करना सम्भव नहीं है।

मूल्यांकन

हिन्दी-साहित्य पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का प्रभाव सन् १९०० से लेकर १९२० तक रहा था। इसी कारण कुछ आलोचकों ने इस काल को 'द्विवेदी-युग

कहकर पुकारा है। परन्तु हम इसे 'आदर्शपरक नैतिकतावादी' युग कहना अधिक संगत समझते हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इस युग में द्विवेदी जी का प्रभाव प्रधानतः भाषा-परिष्कार और काव्य-क्षेत्र तक ही सीमित रहा था। साहित्य की अन्य विधाएँ उनसे प्रत्यक्षतः प्रभावित नहीं रही थीं। इस युग में रचित काव्य का मूल स्वर आदर्शवादी था जिसमें देश-प्रेम मिश्रित विस्तृत राष्ट्रीय चेतना, सामाजिक सुधार की आकांक्षा, देश के अतीत गौरव और संस्कृति का पुनरुद्धार और प्रशंसा, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप नए-नए विषयों की उद्‌भावना, शृंगार का बहिष्कार आदि विषय-सम्बन्धी विशेषताओं के साथ भाषा, छन्द आदि में परिष्कार और नवीनता, उन्मुक्त कल्पना के स्थान पर इतिवृत्तात्मक वर्णन की प्रधानता, संस्कृत के प्रति अत्यधिक आसक्ति और संयम और शिष्टतापूर्वक अपनी बात कहने की प्रवृत्तियाँ प्रधान रहीं।

इस काल की देशभक्ति की भावना भारतेन्दु-युगीन देश-प्रेम की भावना का विकसित रूप था। इसलिए इस काव्य में देश की दुर्दशा का चित्रण हुआ, देश-दुर्दशा के कारणों पर विचार किया गया और पाश्चात्य-संस्कृति की तुलना में भारत की प्राचीन संस्कृति और इतिहास के उज्ज्वल रूपों को प्रस्तुत कर देशवासियों की हीनत्व भावना का निराकरण कर, उनमें आत्म-गौरव, श्रेष्ठता और महत्त्व की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया। ऐसा करने के लिए भारतीय इतिहास के पौराणिक और ऐतिहासिक महापुरुषों की प्रशस्ति का अंकन हुआ। और भारत का गौरवमय अतीत इतिहास हिन्दुओं का ही इतिहास रहा था, इसलिए प्राचीन हिन्दू महापुरुषों की गौरव-गाथा गाना स्वाभाविक था। इसी को लक्ष्य कर कुछ आलोचकों ने इसे 'हिन्दू-जागरण', 'हिन्दू पुनरुत्थानवाद' आदि कहा है। कुछ को यह शिकायत रही है कि उसमें साम्प्रदायिक-भावना प्रधान रही है। भारत में मुसलमानों का आरम्भिक-काल अत्याचार और धर्मोन्माद का युग रहा था। बीच में मुगल-युग का थोड़ा सा समय ही सुशासन, शान्ति और सुव्यवस्था का काल रहा था। शेष सम्पूर्ण मुस्लिम-काल में मुसलमान शासक होने के गर्व में ग्रस्त और हिन्दू शासित होने के अभिशाप से त्रस्त रहे थे। इसलिए यदि द्विवेदी-युगीन साहित्यकारों ने मुस्लिम-युग को भारत के अतीत इतिहास का गौरवमय काल नहीं माना तो उसमें अस्वाभविक या अनुचित कुछ भी नहीं था। दूसरी बात यह कि उस काल में मुसलमान अंग्रेज के विशेष कृपापात्र थे इसलिए भारतीय राष्ट्रीय चेतना और उससे सम्बन्धित आन्दोलनों से अपने को अलग रखते थे। अंग्रेज के घातक, जहरीले प्रभाव के कारण यहाँ के मुसलमान अपना अतीत इतिहास अरब और फारस से सम्बन्धित मानते थे। उनके द्वारा रचित साहित्य में इन्हीं देशों की गौरव-गाथा गाई जाती थी। ऐसी स्थिति में यदि हिन्दुओं ने भारत के मुस्लिम काल की उपेक्षा कर भारतीय वीरों का यशगान किया तो उसमें अनुचित क्या था! यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इस काल की कविता में यद्यपि प्राचीन हिन्दू महापुरुषों की गौरव-गाथा गाई गई है परन्तु मुसलमानों की बुराई

नहीं की गई है। बुराई केवल उन्हीं मुसलमानों की कीगई है जो अत्याचारी रहे थे। अतः इसे 'हिन्दू जागरण' न कहकर 'भारतीय जागरण' कहना ही अधिक उचित और न्याय-संगत है।

इस काल की राष्ट्रीय चेतना में जाति, वर्ग, धर्म, सम्प्रदाय आदि की भावना से ऊपर उठ समस्त भारत को एक मान उसकी प्रशस्ति का गान किया गया है। "हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, सब आपस में भाई-भाई" की राष्ट्रीय चेतना ही इस युग की प्रधान चेतना रही है। प्रसिद्ध आलोचक शिवदानसिंह चौहन ने इस काल के कवियों की इसी विशेषता के प्रति संकेत करते हुए लिखा है—

"इनकी दृष्टि मूलतः बहिर्मुखी है, इसलिए राष्ट्र-जीवन की सम-सामयिक हलचलों में निरन्तर रमती चली आई है, अन्तर्मुखी होकर व्यक्ति-चेतना की अगम गहराइयों में नहीं उतर पाई है। विशेषकर लोक-प्रचलित पौराणिक आख्यानों, इतिहास वृत्तों और देश की राजनीतिक घटनाओं से इन्होंने अपने काव्य की विषय-वस्तु को सजाया है। इन आख्यानों, वृत्तों और घटनाओं के चयन में उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति, देशानुराग और सत्ता के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर है। यह एक प्रकार से राजनीति में राष्ट्रीय आन्दोलन और काव्य में स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति के बीच पलने और बहने वाली कविता की बहिर्मुखी धारा है, जिसने हिन्दी-भाषी जनता को आधुनिक जीवन के व्यक्ति एवं समाज सम्बन्धी गहरे तात्त्विक प्रश्नों के प्रति नहीं तो राजनैतिक पराधीनता और राष्ट्रीय संघर्ष के प्रति सचेत बनाने में बहुत बड़ा काम किया है।"

सामाजिक-सुधार के क्षेत्र में आर्य-समाजी स्वर का प्राधान्य रहा। विधवा-समस्या, अछूतोद्धार, सामाजिक कुरीतियाँ और कुलीनता का गर्व आदि इसके प्रधान विषय रहे। इस चित्रण में खंडनात्मक कटुता के स्थान पर समाज के दीन-दलित, शोषित वर्ग का चित्रण कर मानवतावादी स्वर के साथ उनके उद्धार की माँग उठाई गई। स्त्री-शिक्षा की अनिवार्यता प्रतिपादित कर नारी को एक नए गौरव और उत्तरदायित्व से मंडित किया गया। साथ ही अपने देश के रीति-रिवाजों, पर्व-त्यौहारों और आचार-विचारों के महत्त्व का अंकन कर अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति के मोह में फँसे देशवासियों को भारतीय बनने का उद्‌बोधन दिया गया। इन प्रयत्नों का अपना सामयिक महत्त्व था। इनसे जनता में अपनी दुर्बलताओं को दूर करने की भावना जगाई गई थी। और यह सारा प्रयत्न इसलिए था कि देश में निरन्तर बढ़ते हुए अंग्रेज के सांस्कृतिक प्रभाव को रोका जा सके। इस युग की कविता में धार्मिक अभिव्यक्ति भी मिलती है। परन्तु यह अभिव्यक्ति साम्प्रदायिक या परम्परागत न होकर विश्व-मानवतावाद को लेकर चली थी। कवि का यह विश्वास था कि मानव-सेवा द्वारा ही ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है। 'प्रियप्रवास' में अप्रत्यक्ष रूप से यही नई भावना अभिव्यंजित हुई थी और ठाकुर गोपालशरण सिंह ने तो इस विश्वास को इन पंक्तियों में बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था—

'जग की सेवा करना ही बस है, सब सारों का सार।

विश्व-प्रेम के बन्धन ही में, मुझको मिला मुक्ति का द्वार ।।'

उदारता और व्यापक दृष्टिकोण—इस काल की धार्मिक कविता की विशेषता रही है। उसमें कहीं-कहीं रहस्यात्मक उक्तियाँ भी मिल जाती हैं।

इस काल की कविता प्रधान रूप से इतिवृत्तात्मक रही है। इसका कारण था। इन कवियों को अतीत गौरव का गान गाना था, राष्ट्रीय चेतना का प्रचार करना था, सामाजिक सुधारों की माँग उठानी थी, शृंगारिकता का विरोध कर राष्ट्र के जीवन में संयम और सच्चरित्रता की भावना उत्पन्न करनी थी। इसके लिए ऐसी भाषा और शैली की जरूरत थी जो सबकी समझ में आसानी से आ जाय। और इन कवियों ने ऐसी ही भाषा और शैली को अपनाया। इसी कारण इस कविता में तथ्य-कथन की प्रधानता रही। और इसी कारण इसमें काव्य-सौन्दर्य को प्रस्फुटित करने वाले उपकरणों—लाक्षणिक व्यंजना, उक्ति-वक्रता, कल्पना की सुन्दर उड़ानें, अलंकारों का चमत्कारिक प्रयोग आदि का अभाव रहा। इस अभाव ने इस कविता को सुबोध तो बना दिया परन्तु उसमें कला-सौन्दर्य, सरसता, प्रभविष्णुता आदि का अभाव उत्पन्न कर दिया। इसी कारण अनेक आलोचकों ने इस काल की कविता को नीरस माना है। नैतिकता के प्रति अधिक आग्रह रहने के कारण इसमें मानव-मन की कोमल भावनाओं—प्रेम आदि को स्वच्छन्द अभिव्यक्ति न मिल सकी। इसका प्रधान स्वर उपदेशपरक रहा। और उपदेश देने वाली कविता—साधारण कोटि की ही होती है।

इस काल में प्रकृति के प्रति भी कवियों का दृष्टिकोण थोड़ा-सा परिवर्तित हुआ। हिन्दी के परम्परागत काव्य में प्रकृति का चित्रण अधिकांशतः उद्दीपन रूप में ही होता आया था। इस काल में आकर प्रकृति की ओर या तो कवियों का ध्यान कम गया, या उन्होंने उसका चित्रण किया भी तो परम्परा-पालन के आग्रह के कारण ही। परन्तु श्रीधर पाठक आरम्भ में ही प्रकृति के उन्मुक्त, स्वच्छन्द रूप के उपासक बन चुके थे। इसलिए उनके प्रकृति-चित्रण में प्रकृति के परम्पराभुक्त उद्दीपनकारी रूप से भिन्न, उसका स्वच्छन्द रूप ही अधिक अंकित हुआ। उन्हें प्रकृति के संवेदनात्मक चित्रण की अपेक्षा उसका चित्रात्मक वर्णन ही अधिक रुचिकर था। हरिऔध के 'प्रियप्रवास' में आलम्बन रूप में प्रकृति के अनेक मनोहारी चित्र उभर कर सामने आए। रामचन्द्र शुक्ल और रामनरेश त्रिपाठी की कविताओं में भी प्रकृति के आलम्बन रूप की ही प्रधानता रही। परन्तु मैथिलीशरण गुप्त प्रकृति के माध्यम से उपदेश देने की चेष्टा में ही रत रहे। इनमें से किसी की भी प्रकृति संवेदनशील नहीं बन सकी। इसका कारण भी उस युग की कविता का इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण ही था। डा० केशरी नारायण शुक्ल ने इसी तथ्य का उद्‌घाटन करते हुए इस काल के प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में लिखा है कि—

"द्वितीय उत्थान के कवि न प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर सके, और न मानवता को प्रकृति का कोई सन्देश ही प्रदान कर सके। नैतिकता के कोरे उपदेश भी इसी के परिणाम हैं। इस समय के अधिकांश कवि प्रकृति के ऊपरी रूप की झलक मात्र से सन्तुष्ट थे। उन्होंने प्रकृति की अन्तरात्मा तक पहुँचने का प्रयत्न बहुत कम किया।"

प्रकृति की अन्तरात्मा तक पहुँचने और उसके उद्घाटन का प्रयत्न आगे चल कर छायावादी कवियों ने किया।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने सन् १६०० से १६२० तक के खड़ीबोली-काव्य का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि—"इन कवियों ने प्रकृति-प्रेम, स्वच्छन्द-प्रेम और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का वातावरण तैयार करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस काल की कविताओं में इतिवृत्तात्मकता तो अवश्य है किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इसी समय की कविताओं ने आगे आने वाली वैयक्तिकता-प्रधान छायावादी काव्य-रचनाओं की भूमिका तैयार की थी। जो प्रकृति इस समय कुछ अस्पष्ट थी; वह छायावादी-युग में स्पष्ट हुई। भाषा और भावों के क्षेत्र में रूढ़ियों और परम्पराओं का तिरस्कार कर कवियों ने एक नवीन युग की भूमिका बाँधी।"

इस युग में काव्य में अनेकरूपता का प्रवेश हुआ। कवियों ने विभिन्न काव्य-रूपों के माध्यम से नए युग की नई चेतना को अभिव्यक्त करना आरम्भ कर दिया। डा० श्रीकृष्णलाल ने इन्हीं नए साहित्य-माध्यमों के प्रति संकेत करते हुए १६००-१६२५ के मध्य हुए साहित्य-निर्माण के सम्बन्ध में लिखा है—"पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वनखंड के स्थान पर महाकाव्य, खंडकाव्य, आख्यानक काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, प्रबन्ध-काव्य, गीतिकाव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना-प्रधान, भाव-प्रधान ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचनाएँ हुई। समालोचना और निबन्धों की भी अपूर्व उन्नति हुई।"

मूलतः साहित्यिक विद्रोह का युग

यह युग मूलतः साहित्यिक विद्रोह का युग रहा है। और इस विद्रोह का रहस्य या बीज समकालीन नवीन राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना में छिपा हुआ था। इस युग के लेखक ने अनुभव किया कि साहित्य का पुराना परम्परागत, रूढ़ियों से ग्रस्त रूप इस नए युग की नई क्रान्तिकारी चेतना को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। अतः उसने भाषा और साहित्य का रूप बदलना आरम्भ कर दिया। व्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली की प्राण-प्रतिष्ठा की गई और उसके अनुरूप नए छन्द, अलंकार आदि के नए-नए प्रयोग होने आरम्भ हो गए। यह नया युग देवताओं के स्थान पर मानव और मानवीय गुणों की महत्ता और स्थापना करता हुआ आगे बढ़ा। कृष्ण, राधा आदि अपनी अलौकिकता त्याग देशभक्त, राष्ट्र और समाजसेवी, त्यागी, महान्

मानव के रूप में चित्रित होने लगे। प्रकृति को मात्र उद्दीपन के कार्य से मुक्ति मिली और वह मानव की चिर-सहचरी बन सामने आई। प्रेम के परम्परागत रूप का संस्कार कर उसे मानवता के उदात्त रूप के अनुरूप अंकित किया जाने लगा। उसमें व्यापकता, स्वार्थ-त्याग, विशुद्धता और गौरव का मिश्रण हुआ। प्रसाद ने प्रेम के इस नए स्वरूप का उद्घाटन करते हुए 'प्रेम पथिक' में लिखा कि—

> "इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रान्त-भवन में टिक रहना।
> किन्तु पहुँचना उस सीमा तक, जिसके आगे राह नहीं।
> प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा।
> तब तुम प्रियतम स्वर्ग-बिहारी होने का फल पाओगे।"

यह इस साहित्यिक विद्रोह का एक पक्ष था। द्विवेदी जी और उनसे प्रभावित कवि और लेखक इस पक्ष तक ही सीमित रहे। इन्होंने युग की नई चेतना को सफल अभिव्यक्ति तो अवश्य प्रदान की परन्तु उस अभिव्यक्ति म कला और व्यापक विश्व-भावना का सौन्दर्य उत्पन्न करने में असमर्थ रहे। उन्होंने सहजोद्रेक और भावना को सत्साहित्य का प्रधान लक्षण और उपलब्धि माना। भाषा-परिष्कार के मोह और तत्सम्बन्धी प्रयत्नों ने उनकी अधिकांश प्रतिभा को आत्मसात् कर लिया। इसलिए यह काव्य इतिवृत्तात्मक बनकर रह गया, और इसी कारण उसमें अपेक्षित सरसता का प्रभाव रहा।

परन्तु इसी युग में साहित्यिक विद्रोह का एक दूसरा रूप या पक्ष भी उभरने लगा था। यह दूसरा पक्ष था—कलात्मक और दार्शनिक आन्दोलन का। श्रीधर पाठक इस नई दिशा को केवल संकेत भर दे सके थे। यहाँ हमें इस सत्य को स्वीकार करने में रंचमात्र भी संकोच नहीं होना चाहिए कि इस नए कलात्मक और दार्शनिक आन्दोलन की प्रेरणा हमारे कवियों को अंग्रेजी-साहित्य के माध्यम से प्राप्त हुई थी। और बंगाल में रवीन्द्र बाबू की 'गीतांजलि' के रूप में भारतीय साहित्य पर अंग्रेजी के रोमाण्टिक (स्वच्छन्दतावादी) और मिस्टिक (रहस्यदर्शी) कवियों का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था। इस प्रभाव ने दर्शन के एक ऐसे रूप को प्रतिष्ठित किया, जिसका न किसी धर्म से सम्बन्ध था, और न किसी पुरानी परम्परागत दार्शनिक मान्यता या विचारधारा से। इसके मूल में उस जड़-चेतन जगत के अज्ञात रहस्यों को जानने की जिज्ञासा और उसके प्रति आत्मीय भाव की अभिव्यक्ति प्रधान थी। इसी ने एक प्रकार से विश्व-मानवतावाद की प्रतिष्ठा की थी। एक प्रकार से यह उपनिषदों की विश्व-बन्धुत्व की भावना का आधुनिक संस्करण था जो यूरोपिय साहित्य के माध्यम से पुनः प्रतिष्ठित हुआ था। इसने प्रकृति के प्रति एक नया आत्मीय दृष्टिकोण प्रदान किया था और साथ ही दुखवाद, नारी की महत्ता आदि भावनाओं को उभारा था। यह नया साहित्यिक आन्दोलन हिन्दी में 'छायावाद' के नाम से पुकारा गया और कुछ लोग इसे 'स्वच्छन्दतावाद' भी कहते हैं।

यह हिन्दी-साहित्य के लिए एक सर्वथा नई चीज थी। इसलिए इसकी अभिव्यक्ति के लिए एक नई प्रकार की कला, भाषा, छन्द, अलंकार आदि की आवश्यकता महसूस की गई। अतः हिन्दी-कविता के क्षेत्र में उस महान् कालात्मक आन्दोलन को जन्म मिला जिसने एक प्रकार से कविता के रूप और भाषा में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर उसे अधिक कलात्मक, अधिक सशक्त और अधिक सुन्दर बना दिया। कविता को अधिक सुन्दर, अधिक व्यंजनापूर्ण और अधिक प्रभविष्णु बनाने के लिए उसमें संगीत और चित्रांकन का समावेश किया गया। इसमें कवि की व्यक्तिगत प्रतिभा, कला-संयोजन और कल्पना-शक्ति प्रधान उपजीव्य रहे। इसी कारण कविता का यह नया रूप वैयक्तिकता-प्रधान बन गया। इसमें कवि के स्वानुभूत दुख-सुख की भावनाओं को ही अभिव्यक्ति मिली। इसका जो सबसे गहरा प्रभाव पड़ा, वह यह था कि काव्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण परम्परागत रूढ़ियों, मान्यताओं आदि का अस्थि-विसर्जन कर दिया गया और हिन्दी-कविता अपनी परम्परा से विच्छिन्न हो एक नए पथ पर अग्रसर हुई। वैयक्तिकता का प्राधान्य होने के कारण यह जन-जीवन से अलग हट गई, और केवल कला-पिपासुओं तक ही सीमित और प्रचलित होकर रह गई। हमारे इस आलोच्य-काल (१६००-२०) में ही इस नई कविता का रूप उभरने लगा था। और साथ ही साहित्य के पुराने महारथियों ने इसका विरोध करना आरम्भ कर दिया था।

इसी को हिन्दी में 'नई काव्यधारा', 'छायावादी-रहस्यवादी' या 'स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा' कहकर पुकारा गया है। हम आगामी अध्याय में इसी का विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

छायावादी काव्यधारा

परम्परागत काव्य में व्यक्ति या कवि की उन वैयक्तिक अनुभूतियों को स्थान नहीं मिलता था जो उसके मन में, सम्पूर्ण परम्परागत मान्यताओं, धारणाओं, विचारों आदि से सर्वथा मुक्त और निर्लिप्त रह, जीवन और जगत के विभिन्न रूपों को देख उदय हुआ करती हैं। इन रूपों को देख कभी उसका मन हर्षोत्फुल्ल हो उठता है और कभी गहन विषाद में डूब जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसी स्थितियाँ प्रायः आया करती हैं। यद्यपि उसकी यह मनःस्थिति समकालीन परिवेश और परिस्थितियों से प्रभावित होती रहती है—परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से ही। उसका उन्मुक्त मन अपनी वैयक्तिक सुख-दुखात्मक अनभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए लालायित बना रहता है। वह अपने परिवेश में रहता हुआ जिन विवशताओं को भोगता है, वे उसके मन में सम्पूर्ण परम्परा के प्रति एक आक्रोश और विद्रोह की भावना उत्पन्न कर देती हैं। उसे अपनी अभिव्यक्ति पर परम्पराओं का अंकुश सहन नहीं होता। और यह भावना उन्हीं लोगों में अधिक बलवती होती है जो अमित मेधावी, स्वतंत्र विचारक और स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले होते हैं। ऐसे व्यक्ति जब साहित्य-सृजन के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तब उनकी रचना एक सर्वथा भिन्न रूप धारण कर लेती है। मूलतः कोमल भावनाएँ पद्य में अभिव्यक्ति पाती रही हैं क्योंकि पद्य ही उनका स्वाभाविक क्षेत्र है। ऐसे व्यक्तियों ने जब अंग्रेजी-साहित्य में प्रवेश किया था तो उनकी रचनाओं को 'रोमान्टिक' (स्वच्छन्दतावादी) कहा गया और ऐसे ही व्यक्तियों ने जब हिन्दी-साहित्य में प्रवेश किया तो उन्हें 'छायावादी' कहा गया।

वस्तुतः छायावाद हिन्दी-साहित्य की अन्तर्मुखी धारा रही है। इसमें प्रधानतः बाह्य जगत की अपेक्षा अन्तर्जगत (कवि का भावलोक), बौद्धिकता की अपेक्षा भावात्मकता, जीवन के यथार्थ की अपेक्षा मनःलोक की कल्पना, नग्न सत्य की अपेक्षा कल्पना-वेष्टित सौन्दर्य, संघर्ष की अपेक्षा प्रेम, और परम्परा की अपेक्षा नूतनता के प्रति अधिक मोह रहा है। द्विवेदी-युगीन काव्याभिव्यक्ति में मानव की कोमल भावनाओं,

मनोरम कल्पनाओं और वैयक्तिक सुख-दुखात्मक अभिव्यक्ति पर अंकुश लगा दिया गया था और वह काव्य-शिल्प की दृष्टि से परम्परा-विरुद्ध सा दिखाई पड़ने वाला होते हुए भी घोर परम्परावादी था। छायावादी-काव्य में हमें इसी अंकुश और परम्परावद्धता के प्रति विद्रोह की भावना मिली। परन्तु यह विद्रोह की भावना क्यों उत्पन्न हुई, इसका रहस्य उस युग की परिस्थितियों में छिपा हुआ था।

हम पीछे कह आये हैं कि हिन्दी का छायावादी-काव्य अंग्रेजी के रोमान्टिक-काव्य से प्रभावित था। परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि अंग्रेजी-साहित्य में स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा, हिन्दी में छायावादी काव्यधारा के उदय से लगभग ७०-८० वर्ष पूर्व समाप्त हो चुकी थी, तो हिन्दी के नए छायावादी कवियों ने अपनी समकालीन अंग्रेजी-कविता की उपेक्षा कर उस ७०-८० वर्ष पूर्व मृत हो गई काव्यधारा का अनुगमन क्यों किया था? मूलतः कोई भी नया साहित्यिक आन्दोलन अपनी समकालीन परिस्थितियों के कारण ही जन्म लेता है। जिन कारणों ने अंग्रेजी रोमान्टिक-काव्य को जन्म दिया था, वही कारण भारत में भी सन् १९२० के आसपास उत्पन्न हो चुके थे। और उन्हीं कारणों ने यहाँ छायावाद को जन्म दिया था।

परिवर्तित परिस्थितियों का प्रभाव

इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के जन्म के उपरान्त एक उग्र सामाजिक उथल-पुथल मच गई थी। समाज में धन का प्रभुत्त्व बढ़ गया था। धन के सम्मुख ज्ञान अथवा कला को कोई सम्मान नहीं दिया जाता था। कवि और कलाकार समाज के उपेक्षित से प्राणी बन गये थे। धनाधिकारी अपने प्रभुत्त्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए नीति, सदाचार, परम्परा पालन आदि पर बल दे रहे थे। क्योंकि समाज द्वारा इनका पालन करते रहने पर ही उन्हें अबाध व्यापार, उसके द्वारा जन-शोषण और अकूत धनार्जन का अवसर मिल सकता था। धर्म और राजसत्ता पर भी इसी वर्ग का प्रभुत्त्व था। इन्हीं अर्थ-प्रधान परिस्थितियों ने वहाँ के समाज के उस युवक-वर्ग को विद्रोही बना दिया था, जिसे इन स्वार्थ-प्रेरित और रूढ़ परम्पराओं के बन्धन स्वीकार नहीं थे। यह युवक-वर्ग मेधावी, स्वतन्त्र-चेता और समाज में सम्मान पाने का महत्त्वाकांक्षी था। इसे यह सह्य नहीं था कि व्यक्ति की स्वाभाविक, वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति पर किसी भी प्रकार का अंकुश लगाया जाय। यह ऐसे समाज के विरुद्ध विद्रोह करना चाहता था परन्तु सामाजिक उपेक्षा और परिस्थिति-जन्य विवशताओं ने उसके इस विद्रोह को बहिर्मुखी न बना, अन्तर्मुखी बना दिया और वह अपनी वैयक्तिक सुख-दुखात्मक अनुभूतियों को नई भाषा और नए काव्य-रूप के माध्यम से अभिव्यक्त करने लगा। परम्परागत साहित्य और समाज के ठेकेदारों ने उसका विरोध किया, उसे अनैतिक और संस्कृति-सभ्यता का द्रोही घोषित किया।

इंगलैण्ड का यह युवक-वर्ग समाज के मध्य वर्ग का अंश था और इसीलिए एकाकी भी था। उसमें वह सामूहिकता की शक्ति न आ पाई जो शोषित और निम्न

वर्ग की विशेषता होती है। इसलिए इस मध्य वर्ग का यह विद्रोह सामूहिक जन-चेतना का रूप न धारण कर सका क्योंकि इसमें सामूहिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा वैयक्तिक स्वतंत्रता की भावना ही प्रमुख थी। इसी कारण उसका यह विद्रोह क्षणिक जीवन बिता कर ही समाप्त हो गया परन्तु काव्य-क्षेत्र में एक ऐसी नूतन कला का समावेश कर गया जिसने काव्य को एक अभिनव कान्ति, दीप्ति और सौन्दर्य से मंडित कर दिया था।

हिन्दी छायावादी-काव्य के जन्म, विकास और पतन की कहानी भी लगभग यही रही है।

भारतीय परिस्थितियों का प्रभाव

भारत में अंग्रेजी-साम्राज्य की स्थापना होने के उपरान्त यहाँ के सामाजिक और वैचारिक क्षेत्र में एक नई उथल-पुथल आरम्भ हो गई थी। पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों के संघर्ष ने भारतीय जन-जीवन में एक नई चेतना उत्पन्न कर दी थी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार और अंग्रेजी-साहित्य ने अपना गहरा प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया था। हम पाश्चात्य-साहित्य और जीवन-मूल्यों को जानने के लिए उत्सुक हो उठे थे। यहाँ अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन होने लगा था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी के रोमांटिक कवि शेली, कीट्स आदि की रचनाएँ बहुत लोकप्रिय थीं। अंग्रेजी-साहित्य उनसे बहुत प्रभावित था। श्रीधर पाठक इस प्रभाव को अपनी रचनाओं में उतार चुके थे। उधर बीसवीं सदी के आरम्भ में अंग्रेजी के रहस्यवादी कवियों से प्रभावित हो रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'गीतांजलि' की रचना कर रहे थे। शेली, कीट्स आदि रोमांटिक तथा ब्राउनिंग आदि रहस्यवादी कवियों का यह सम्मिलित प्रभाव और उसमें भारतीय औपनिषदिक चिन्तन के समावेश ने हिन्दी में एक नई काव्य-धारा को जन्म दिया था, जो 'छायावाद' कहलाई। हिन्दी में इसका आरम्भिक रूप श्रीधर पाठक की रचनाओं में अपनी झलक दिखा गया था। बीच में कुछ वर्षों का व्यवधान पड़ गया। कुछ वर्ष उपरान्त भारत में भी वही परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं जिन्होंने अंग्रेजी रोमाण्टिक काव्य को जन्म दिया।

प्रथम विश्व-युद्ध (सन् १९१४–१८) के दौरान भारत में युद्ध-सामग्री का उत्पादन करने के लिए नए कल-कारखानों की बड़ी तेजी से स्थापना हुई। इनमें बड़े-बड़े भारतीय पूँजीपतियों ने धन लगाया। युद्धकाल में जमींदारों और ठेकेदारों ने सरकार के लिए सैनिक और रसद जुटा कर खूब पैसा कमाया। अंग्रेज ने भारत को यह आश्वासन दिया था कि यदि भारत इस युद्ध में जर्मनी के विरुद्ध अंग्रेज की सहायता करेगा तो विजय के उपरान्त उसे आजाद कर दिया जायेगा। इस आश्वासन पर महात्मा गांधी जैसे नेताओं ने अंग्रेज की सहायता की। युद्ध के दौरान कुछ व्यक्तियों द्वारा अधिक धनोपार्जन के कारण समाज में धन का महत्त्व बढ़ा। कुछ लोग बहुत अमीर बन गए परन्तु साधारण जनता, विशेष रूप से किसान अधिकाधिक

निर्धन बनता चला गया। सरकार ने जन-साधारण की दशा सुधारने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। जमींदार, साहूकार, सरकारी अहलकार, पुलिस आदि मिलकर जनता को लूटते रहे। अमीरों के नए-नए महल और आलीशान बँगले खड़े होते गए और किसानों के खेत और झोंपड़ियाँ छिनती चली गईं। नगर का शिक्षित, स्वतंत्र चेता, देश-प्रेमी मध्य वर्ग इस स्थिति से क्षुब्ध था। अंग्रेज के प्रभुत्त्व के कारण समाज में धनी और अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों का प्रभुत्त्व और सम्मान था। हिन्दी वालों की कोई पूछ नहीं थी। यह स्थिति हिन्दी वालों की ही अकेली नहीं थी, बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं से प्रेम रखने वालों और उनमें साहित्य रचना करने वालों की थी। इस कारण समाज के इस चेतन वर्ग में परम्परा और रूढ़ मान्यताओं के प्रति एक क्षोभ और अवहेलना की भावना भर उठी थी। और साहित्य के माध्यम से यत्र-तत्र इसका प्रकाशन भी होने लगा था।

सन् १९१८ में अंग्रेज की विजय हुई और युद्ध समाप्त हो गया। परन्तु जब भारतीयों ने युद्ध-काल में की गई अपनी सेवा और सहायता के प्रतिदान में अंग्रेज से आजादी माँगी तो विजयोन्माद में उद्धत बना अंग्रेज साफ मुकर गया। जब भारतीयों ने आन्दोलन किया तो उन्हें जलियानवाला बाग के सामूहिक हत्याकांड और रोलट एक्ट जैसे भयंकर दमनकारी अत्याचारों का सामना करना पड़ा। यह देख महात्मा गांधी ने खिलाफत आन्दोलन के रूप में साम्राज्य-विरोधी एक देश-व्यापी आन्दोलन चलाया जिसमें हिन्दू-मुसलमान—सभी ने कन्धे-से-कन्धा मिलाकर भाग लिया। अंग्रेज ने इसका सामना करने के लिए एक ओर तो भयंकर दमन और अत्याचार किया, और दूसरी ओर अपनी कूटनीति द्वारा हिन्दू-मुसलमानों में फूट डाल देश में भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगों की शृंखला आरम्भ कर दी। इससे पहले भारत में कभी हिन्दू-मुस्लिम दंगे नहीं हुए थे। इन परिस्थितियों ने देश में एक भयंकर निराशा, क्षोभ और किंकर्त्तव्य विमूढ़ता की सी स्थिति उत्पन्न कर दी। देश में अकाल पड़ रहा था। किसानों की जमीनें छिन गई थीं। जनता के सामान्य उद्योग-धन्धे चौपट हो गए थे। उनके स्थान पर मिलें, कल-कारखाने आदि खड़े किए जा रहे थे। श्री मुल्कराज आनन्द ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'द स्वोर्ड एन्ड द सिकल' में इस स्थिति का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है।[1] सन् १९१७ में रूस में साम्यवादी शासन की स्थापना हो चुकी थी। समाजवादी विचारधारा का भारत में भी प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था। यहाँ किसान-आन्दोलन का आरम्भ हो चुका था। गांधीवादी विचारधारा का भी प्राभव बढ़ रहा था। देशी पूँजीपति इसका सहारा पाकर आगे बढ़ रहे थे। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों—'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' में तत्कालीन किसान-चेतना और पूँजी-

१. श्री शिवदानसिंह चौहान और श्रीमती विजया चौहान ने 'वापसी' शीर्षक से इसका अनुवाद किया है।

वाद के विकास तथा गांधीवाद की अव्यावहारिकता और असफलता की भविष्य वाणी कर दी थी।

चेतन, शिक्षित, देशप्रेमी युवक वर्ग परिस्थिति की इस विषमता से त्रस्त था। उसे विषमता के इस शिकंजे से मुक्ति पाने का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता था। इस युवक वर्ग में जो अधिक भावुक और सम्वेदनशील थे (अर्थात् जो साहित्यकार थे) उनका मानसिक क्षोभ अपनी अभिव्यक्ति की राह ढूँढ़ रहा था। परिस्थितियों की विषमता ने उन्हें अन्तर्मुखी बना दिया। साहित्यिक क्षेत्र में नैतिकता और आदर्शवाद का बोलबाला था जो प्रबुद्ध, चिन्तनशील भावुक मनों को अधिक नहीं रुचता था। उनका मानसिक क्षोभ अपनी अभिव्यक्ति के लिए नए कला-माध्यमों की तलाश कर रहा था। परम्पराएँ उन्हें रूढ़ और जड़ प्रतीत हो रही थीं। इन सब बातों ने मिल कर इस चिन्तनशील युवक-वर्ग को पूर्णतः विद्रोही बना दिया। साहित्यिक नैतिकता उनकी अपनी क्षुब्ध, व्यक्तिगत भावनाओं को अभिव्यक्ति का अवसर नहीं प्रदान करती थी। राजनीति और समाज में वे उपेक्षित थे। अंग्रेजी का बोलबाला होने के कारण उन्हें कोई पूछता तक न था। उनकी आर्थिक स्थिति दीन थी। उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ अपूर्ण रह जाती थीं। अतः वे काव्य के माध्यम से कल्पना द्वारा अपनी इन अपूर्ण महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करने लगे। इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति ने उनकी संवेदना पर वैयक्तिकता का गहरा रंग चढ़ा दिया। अतः इनके काव्य में व्यक्ति के सुख-दुःख की कहानी का ही प्राधान्य रहा।

परन्तु इस नवीन छायावादी काव्य के सम्बन्ध में यह कहना नितान्त असंगत है कि छायावाद केवल व्यक्ति के सुख-दुख की ही कहानी बनकर रह गया। छायावाद के प्रवर्त्तकों और उन्नायकों में देश-प्रेम की गहरी भावना थी; उनके मन में देश के दीन-दलित जनों के प्रति अगाध ममता, सहानुभूति और संवेदना की भावना थी। सामाजिक विषमता उन्हें किसी भी रूप में स्वीकार्य और सह्य नहीं थी। निराला की अनेक कविताओं (जैसे 'बादल राग' आदि) में आर्थिक असमानता के विरुद्ध भयंकर विद्रोह के स्वर प्रकट हुए थे। प्रसाद ने अपने नाटकों में अभूतपूर्व राष्ट्र-गौरव और राष्ट्र-प्रेम को अभिव्यक्ति प्रदान की थी। महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों में समाज के दीन-दलित-शोषित जनों के प्रति गहन ममता प्रकट हुई थी। पन्त 'युगवाणी', 'ग्राम्या' आदि में एकाएक प्रगतिवादी नहीं बन गए थे। यह कहना एकदम असंगत है कि इन कवियों का व्यक्तित्व दुहरा था, कि एक व्यक्तित्व अपने ही सुख-दुख की कहानी कहता था और दूसरा सामाजिक विषमता के प्रति गहरा क्षोभ व्यक्त करता था। इन सबकी मूल चेतना एक ही थी, और वह थी—विद्रोह और विक्षोभ की, सभी प्रकार की असमानता के प्रति विद्रोह और विक्षोभ की। अतः हमें यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि छायावाद की मूल चेतना विद्रोह की चेतना रही थी। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि छायावाद के उत्तराधिकारी प्रगतिवाद के आरम्भिक कर्णधार—निराला और

पन्त ही रहे थे। नई परिस्थितियों ने उनकी उस मूल विद्रोही भावना को प्रगतिवाद के रूप में अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान किया था जो छायावादी-युग में कुछ-कुछ ढकी-दबी सी रही थी। छायायावाद का यह विद्रोह थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती-साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति रहा था। छायावादी कवि बीच-बीच में अपने व्यक्तिगत सुख-दुख के भी गीत गा लेते थे। और इन्हीं गीतों को देखकर उन पर यह लांछन लगा दिया गया था कि उनमें पराजय और पलायन की भावना का प्राधान्य रहा है।

वस्तुत: छायावादी साहित्यकारों के साहित्य के एकांकी अध्ययन ने ही छायावाद के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों को जन्म दिया था। इन्हें दूर करने के लिए हमें छायावादी कलाकारों के समग्र साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। तभी हम उनकी मूल चेतना को समझने में समर्थ हो सकेंगे। अस्तु,

नई चेतना से समन्वित नया काव्य-रूप

छायावादी कवि साहित्यिक क्षेत्र में एक नई क्रान्ति के जनक बने थे। उन्होंने भावाभिव्यक्ति, भाषा, छन्द, अलंकार, प्रतीक-विधान आदि के क्षेत्रों में परम्परा का उल्लंघन करते हुए नवीनता का सृजन किया था। उन्होंने भाषा को एक नई दीप्ति और कोमलता प्रदान की थी। आचार्य द्विवेदी आदि द्वारा स्थापित नैतिक और साहित्यिक मान्यताओं की अवहेलना कर अपनी सुख-दुखात्मक स्वच्छन्द भावनाओं को एक नवीन कला-विधान द्वारा अभिव्यक्त किया था। यह काव्य अपने पूर्ववर्ती परम्पराबद्ध काव्य से नितान्त भिन्न और नवीन स्वरूप वाला था। उसकी मूल-चेतना विद्रोहपरक तो थी परन्तु उसका यह विद्रोह जनवादी भाषा में नहीं उभर सका था। अतिशय कला-प्रियता ने उस विद्रोह के असली रूप को धूमिल बना दिया था। यह विद्रोह कला-रूपों के क्षेत्र में तो खुल कर सामने आया था परन्तु सामाजिकता के क्षेत्र में अधूरा और अस्पष्ट रह गया था। इसी कारण आलोचकों का ध्यान इसकी शैलीगत नवीनता के प्रति ही अधिक आकृष्ट हुआ, वे इसके अन्तर में छिपे हुए विद्रोह की उस मूल-चेतना को न पकड़ सके।

कला-पक्ष का चरम उत्कर्ष

यह नई छायावादी कविता द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मक कविता के विरोध में सामने आई थी। यह विरोध भाव, भाषा, छन्द, अलंकार, प्रतीक आदि सभी क्षेत्रों में दिखाई पड़ा। छायावादी कवियों ने परम्परागत छन्दों का बन्धन अस्वीकार कर दिया। छन्द में न वर्णों का बन्धन रहा और न मात्राओं का। निराला ने तो छन्द को पूर्ण मुक्त ही कर दिया। इस छन्द-स्वातन्त्र्य के साथ-साथ उसमें संगीत का भी समावेश हुआ। अंग्रेजी के प्रभाव से अनेक नए अलंकार और प्रतीक अपनाए गए। मनुष्येतर पदार्थों में मानवीय भावनाएँ दिखाकर उनका मानवीकरण किया गया।

परम्पराभुक्त उपमानों के स्थान पर नए उपमान प्रयुक्त होने लगे। 'चिन्ता' जैसी अमूर्त्त भावनाओं के सुन्दर शब्द-चित्र अंकित हुए।

समष्टि रूप से छायावाद के इस कला-पक्ष के उत्कर्ष ने हिन्दी भाषा की शील-सौन्दर्य और शक्ति को प्रकर्षित करने में अभूतपूर्व योग दिया। इस काव्य में भाषा का जैसा परिमार्जन हुआ, उसकी अभिव्यंजना शक्ति में जैसी वृद्धि हुई, उसमें संगीत का जैसा सुन्दर, सुमधुर, सन्तुलित समावेश किया गया, उसका जैसा सौन्दर्य बढ़ा—वैसा अन्य किसी भी युग में नहीं हो सका। एक नवीन अभिव्यंजना-पद्धति का निर्माण हुआ, नए-नए भाव-व्यंजक शब्द गढ़े गए, नए-नए छन्दों की अवतारणा हुई, प्रबन्ध के स्थान पर गीतात्मक मुक्तक-काव्य का प्राधान्य रहा। इन बातों ने हिन्दी-भाषा को सौन्दर्य के चरम शिखर पर ला बैठाया।

फिर छायावाद का पतन क्यों हुआ ?

छायावादी कलापक्ष के इस चरम उत्कर्ष को देखकर अनायास ही यह प्रश्न सामने आ खड़ा होता है कि ऐसे चरम उत्कर्षपूर्ण छायावादी-काव्य का पतन क्यों हुआ ? हम पीछे कह आए हैं कि छायावाद की मूल-चेतना विद्रोह की चेतना रही थी। परन्तु यह विद्रोह जितना व्यक्तिगत भावनाओं के प्रकाशन तथा कला-क्षेत्र में क्रियाशील रहा, उतना ही सामाजिक क्षेत्र के लिए अकर्मण्य-सा बना रहा। यद्यपि छायावादी कवियों ने अपनी अनेक कृतियों में सामाजिक-विद्रोह के स्वर भी बुलन्द किए परन्तु ऐसे प्रयास एकाकी और छिटपुट बनकर ही रह गए। उनका एक समग्र, सशक्त, सन्तुलित रूप उभर कर सामने न आ सका। ये कवि अधिकतर व्यक्तिगत भावनाओं के प्रकाशन तथा कला-परिमार्जन में ही व्यस्त रहे। इसलिए जन-जीवन को पूरी तरह से अपना कर न चल सके। इनकी जन-जीवन से यह विच्छिन्नता इनकी एक बहुत बड़ी कमजोरी रही। इस काव्य की एक दूसरी कमजोरी यह थी कि यह अतिशय बौद्धिक था। इस अतिशय बौद्धिकता ने इसे गम्भीर और प्रभविष्णु तो अवश्य बना दिया था परन्तु कवियों के मानसिक कल्पना-विलास ने उसमें एक ऐसी अस्पष्टता और दुरूहता उत्पन्न कर दी थी जो साधारण जन के लिए सहज-संवेद्य न बन सकी। इसी कारण यह काव्य साधारण जन में लोकप्रिय न हो सका।

इस काव्य की सब से बड़ी कमजोरी यह थी कि यह समाज को कोई भी जीवन्त सन्देश देने में असमर्थ रहा था। पन्त के शब्दों में—"उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" वस्तुतः छायावादी कवियों की अतिशय कलाप्रियता ने इसे एक वर्ग-विशेष का ही साहित्य बना दिया था। उसमें जनता को नया उद्बोधन देने की शक्ति नहीं थी। उनका विद्रोह केवल कला-रूपों तक ही सीमित होकर रह गया था। इसके अतिरिक्त उत्तर-कालीन छायावादी काव्य में आध्यात्मिकता के प्रभाव के कारण जो रहस्यमयता और

अस्पष्टता और अधिक गहरी होती जा रही थी, उसने तो इस काव्य के भविष्य को पूर्णत: अन्धकारमय बना दिया था। यह छायावादी काव्य का सामान्य रूप था।

छायावादी काव्य का कुछ अंश इतना भव्य और महान् है कि काल का प्रभाव उसे कभी भी धूमिल नहीं बना सकेगा। प्रसाद की 'कामायनी', निराला का 'तुलसीदास' आदि ऐसी सशक्त छायावादी कृतियाँ हैं जो अपने जीवन्त सन्देश और जिजीविषा के कारण सदैव अमर रहेंगी। यह दूसरी बात है कि साहित्य का सामान्य पाठक उनका सफल अध्ययन करने में असमर्थ रहे। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि ये कृतियाँ आने वाले युगों की मनीषा को प्रेरित और प्रभावित करती रहेंगी।

छायावादी काव्य की एक कमजोरी यह भी रही थी कि यह युग की भावनाओं को अभिव्यक्त करने में कुंठित और संकोचशील रहा था। छायावाद की जीवनावधि सन् १९२० से १९३६ तक मानी गयी है। यह युग भारतीय राजनीति का भयंकर उथल-पुथल का युग रहा है। हम छायावादी काव्य में इस युग के जीवन की अभिव्यक्ति नहीं पाते। युग की उथल-पुथल और स्वाधीनता आन्दोलन की तीव्रगति साहित्य में अभिव्यक्ति चाहती थी परन्तु हमारे छायावादी कवि अपने इस उत्तरदायित्व के प्रति आकृष्ट न हो सके। पन्त आदि ने महात्मा गांधी आदि युग-नेताओं के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत कहकर मौन साध लिया। छायावाद साहित्यिक रूढ़ियों और परम्पराओं का उन्मूलन करने में ही लगा रहा था। नई कोमल-प्राण, परिमार्जित भाषा और अभिव्यक्ति की नई शैली ने उसके रूप में एक अनोखा आकर्षण और निखार तो उत्पन्न कर दिया परन्तु उसमें उस प्राण का संचार न हो सका जो युग की धड़कनों के साथ स्पन्दित और आन्दोलित होता रहता है। युग-जीवन का साथ न दे सकने के कारण ही छायावाद को समाप्त हो जाना पड़ा।

छायावाद की देन

हिन्दी-काव्य के विकास में छायावाद का एक अपना विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व रहा है। इसने हिन्दी-काव्य को नई भाषा और नई शैली तो प्रदान की ही थी, साथ ही एक सर्वथा नया दृष्टिकोण भी प्रदान किया था। छायावादी कवियों ने मानव-जीवन, मानव, नारी, प्रकृति, स्वदेश, संस्कृति आदि के प्रति परम्परा से भिन्न एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया था जिसमें शुभ और अशुभ का अद्‌भुत मिश्रण था। छायावादी कवि भावुक, अध्ययनशील और चिन्तक की कोटि के कवि थे। उनकी भावुकता सर्वत्र चिन्तन से आक्रान्त रहती थी। वह संसार और मानव की विषम स्थिति को देख हताश हो उठे थे। इसने उनमें दुखवाद की भावना भर दी थी। उनकी दृष्टि में संसार में सर्वत्र दुख की ही प्रधानता दिखाई देती थी। उनके इस दृष्टिकोण के निर्माण में अंग्रेजी के रोमान्टिक कवियों के दुखवाद और औपनिषदिक अनित्यवाद का गहरा प्रभाव रहा था। छायावादी काव्य में पाए जाने वाले इस दुखवाद की एक करुण कहानी रही है।

इन छायावादी कवियों में आरम्भ में सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति के प्रति एक अद्‌भुत ललक रही थी। इसी कारण प्रेम और सौन्दर्य इनके प्रधान वर्ण्य-विषय रहे। इनका प्रेम अपार्थिव रहा और सौन्दर्य प्रधानतः वासन-प्रधान। इसी को लक्ष्य कर शुक्लजी ने छायावाद में 'कायिक भावनाओं का प्रच्छन्न पोषण' होने की बात कही थी। यह विशुद्ध मानसिक विलास-क्रीड़ा थी। पन्त और रामकुमार वर्मा में इसकी प्रधानता रही। परन्तु छायावादी कवियों का सौन्दर्य के प्रति यह आकर्षण स्थायी न रह सका। उन्होंने समाज और उच्चवर्गीय सभ्यता में जो कुछ सुन्दर समझ रखा था, वह लुप्त होता चला जा रहा था। इसलिए उन्होंने सौन्दर्य की क्षणभंगुरता का अनुभव किया और इससे उनके हृदय में करुणा की भावना उत्पन्न हुई। करुणा ने दुख की भावना को जन्म दिया। और दुख की इस भावना ने इन्हें संसार से विरक्त कर व्यक्तिवादी बना दिया। इन कवियों का यह दुख आध्यात्मिकता के आवरण में अभिव्यक्त हुआ। इन्हें अपनी एकान्तता का अनुभव हुआ और जीवन शून्य प्रतीत होने लगा। ये परिस्थितियों से भाग कर स्वयं में ही केन्द्रित हो गए। इस वैयक्तिकता की प्रधानता के कारण ये कवि संसार से निराश होकर आदर्श की ओर उन्मुख हुए। यही आदर्शोन्मुख भावना इन्हें अध्यात्म की ओर ले गई। और इनके इसी वैयक्तिकता-परक अध्यात्म ने इनके काव्य में विषाद के स्वर को अत्यधिक घनीभूत बना दिया। प्रसाद, पन्त, महादेवी में इस विषाद की विवृत्ति अत्यन्त गहन रूप में प्रकट हुई। निराला में विषाद की अपेक्षा ओज का स्वर अधिक प्रबल रहा।

करुणा और दुख की इस गहन भावना ने छायावादी काव्य में निराशा, अतृप्ति और पलायन की भावना भर दी थी परन्तु उसके साथ ही उसकी परिणति आशा के सन्देश में ही होती हुई दिखाई पड़ती है। प्रसाद का 'आँसू' दुख और करुणा का काव्य कहा जाता है, परन्तु इस काव्य के अन्त में उन्होंने जो आशा का सन्देश दिया है, वह इस भावना को अधिक देर तक नहीं ठहरने देता।

सौन्दर्य-भावना, वैयक्तिकता, करुणा, दुख तथा विषाद की भावना ने छायावाद के अन्तरंग में एक तीव्र अतृप्ति और असन्तोष की भावना भर दी थी। छायावादी कवि बहिर्जगत की भीषणता से त्रस्त हो, उसके प्रति एक तटस्थ-सा भाव रखते हुए अपने कल्पना-लोक में जा बैठे। परन्तु अन्तर्जगत का सीमित क्षेत्र भी उन्हें सन्तोष न दे सका। उन्होंने अपनी शान्त विह्वलता का रूप प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र में देखा। प्रकृति उनके लिए जायसी की प्रकृति की तरह संवेदनशील बन गई। उन्होंने प्रकृति में चेतनता का अनुभव कर उससे आत्मीय सम्बन्ध स्थापित किए। इसी कारण उन्हें प्रकृति में अपनी अतृप्ति और अवसाद, करुणा और वेदना, रोमान्स और रहस्य-भावना के रूप मिले। इसी अन्तर्मुखी जीवन-दर्शन के कारण इस काव्य में अन्विति का अभाव दिखाई पड़ा। यह जीवन-संघर्ष से पलायन की भावना के ही कारण था। छायावाद की इस प्रवृत्ति ने हमें एक स्वस्थ सृजनात्मक जीवन-दर्शन भले ही न दिया, किन्तु उसने हमारी मौलिक विद्रोह भावना को उत्तेजना अवश्य दी, जो निर्बल थी।

छायावाद का सबसे उज्ज्वल पक्ष—उसका मानवतावाद है। वह युग विश्व-बन्धुत्व और मानवतावाद की भावना का युग था। अनेक देशी-विदेशी महापुरुष मानव मात्र की समानता का प्रचार कर रहे थे। हिन्दी छायावादी काव्य में यह भावना सबसे ऊपर उभर कर आई थी। प्रसाद की 'कामायनी' और निराला का 'तुलसीदास' इस भावना के सशक्त प्रचारक बनकर काव्य-क्षेत्र में अवतरित हुए थे। 'कामायनी' का 'आनन्दवाद' और 'तुलसीदास' की सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना विश्व-मानव को एक नया प्रेरणाप्रद सन्देश दे रहे हैं। यह 'पलायन' या निराशावाद से नितान्त भिन्न रूप है। यहाँ यह तथ्य द्रष्टव्य है कि लगभग सभी छायावादी कृतियों में राष्ट्रीय पुनरुद्धार की भावना अत्यन्त मुखर रूप में प्रकट हुई है। परन्तु साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीयता की यह भावना संकीर्ण या संकुचित न होकर मानवतावादी ही अधिक रही है। मानव-प्रेम, करुणा, असाम्प्रदायिकता, उदारता, विश्व-बन्धुत्व, राष्ट्रीय-जागरण आदि भावनाओं के साथ भावुकता, कल्पना तथा प्रकृति में चेतना के दर्शन करने की प्रवृत्ति ने हमारे रागात्मक सम्बन्ध में अभिवृद्धि की थी। इसमें 'सुधार' का स्वर द्विवेदी-युगीन काव्य के समान अभिधामूलक न होकर प्रच्छन्न, सांकेतिक और कलावेष्टित रूप में ही अधिक प्रकट हुआ था।

छायावाद पर दो आरोप सामान्यतः लगाए जाते हैं—पहला, वैयक्तिकता का प्राधान्य, दूसरा, अस्पष्टता। जहाँ तक वैयक्तिकता का सम्बन्ध है, यह समिष्ट रूप से तुलसी के 'स्वान्तः सुखाय' जैसी ही रही है। छायावादी कवि भी अपने युग-जीवन की विषमता से सामान्य-जन के ही समान कुंठित, पीड़ित और त्रस्त थे। इसी कारण उनके वैयक्तिक स्वप्नों में अभिव्यक्त असन्तोष, छटपटाहट, कटुता, वेदना, रूढ़ियों के विनाश की कामना, अतीत और अतीत गौरव का मधुर स्मरण, भविष्य की आशा-निराशा आदि ऐसी भावनाएँ हैं जो मात्र व्यक्ति-केन्द्रित ही न होकर युग की परिस्थितियों की ही उपज हैं। आज भी देश में लगभग वैसी ही परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। आज के साहित्य को भी कतिपय आलोचक वैयक्तिक कहने लगे हैं। कवि समाज का अंग होता है, इसलिए उसकी वैयक्तिक अनुभूतियाँ और समस्याएँ न्यूनाधिक रूप में समाज की ही अनुभूतियाँ और समस्यायें होती हैं। छायावादी कवियों को सभी क्षेत्रों में असन्तोष मिला था। उनकी वे वैयक्तिक भावनाएँ उसी असन्तोष का परिणाम थीं। अतः उनकी इन भावनाओं को विशुद्धरूपेण वैयक्तिक न मानकर प्रकारान्तर से समाज की ही भावनाएँ मानना पड़ेगा। इस प्रकार छायावाद में जहाँ एक ओर निराशा का पलायनवादी स्वर उभरा है तो दूसरी ओर जीवन और सौन्दर्य की आकांक्षा का स्वस्थ मानव-प्रेमी और सौन्दर्यवादी पक्ष उससे भी अधिक प्रबल वेग के साथ मुखरित हुआ है। परन्तु जो शैली की दुरूहता के कारण अधिक स्पष्ट नहीं हो पाया है।

और शैली की यह दुरूहता वैयक्तिकता, प्रकृति में चेतना का आरोप, अशरीरी सौन्दर्य और प्रेम तथा उनकी अत्यधिक अनुभूति और नए प्रतीक-विधान के कारण

उत्पन्न हुई थी। वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन प्राय: अस्पष्टता का सृजन करता है। क्योंकि कलाकार की अनुभुति साधारण जन की अनुभूतियों से श्रेष्ठ, रहस्यमय तथा भिन्न सी होती है। इसी कारण साधारण जन के लिए अस्पष्ट रह जाती है। अस्पष्टता के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि इस छायावादी काव्य पर पाश्चात्य चिन्तन और शैली का गहरा प्रभाव पड़ा है, जिससे हिन्दी-पाठक प्राय: अपरिचित ही रहे हैं। बौद्धिकता एक अद्भुत रहस्यमय आवरण डालकर प्रकट हुई है, जिसने उसे और भी अधिक दुरूह और अस्पष्ट बना दिया। परन्तु अपनी इस दुरूहता और अस्पष्टता के बावजूद भी छायावादी काव्य इतना अधिक सौन्दर्यवेष्ठित रहा है कि उसे पढ़ने में आनन्द आता है, भले ही वह पूरी तरह से समझ में न आए।

छायावाद का इतिहास

वैसे तो छायावादी-काव्य और छायावादी काव्य-शैली का हल्का सा आभास उन्नीसवीं सदी के अन्त में रचित श्रीधर पाठक की रचनाओं में मिल चुका था, परन्तु उसका विकास नहीं हुआ था। उसके उपरान्त प्रसाद द्वारा प्रकाशित मासिक-पत्रिका 'इन्दु' के प्रकाशन (सन् १९०९) के साथ इन नई काव्य-प्रवृत्ति का नया रूप सामने आया परन्तु सन् १९२० तक उसके रूप में कोई उल्लेखनीय निखार नहीं दिखाई पड़ा। सन् १९२० से इसका एक निश्चित स्वरूप उभर कर सामने आने लगा था। इसलिए आलोचकों ने छायावाद का आरम्भ सन् १९२० से ही माना है। इस समय तक द्विवेदी-युग समाप्त हो जाता है और छायावादी-युग काव्य में प्रधानता प्राप्त कर लेता है। मुकुटधर पांडेय, रायकृष्णदास और प्रसाद की प्रारम्भिक कृतियों में छायावादी प्रयोगकाल रहा है। इसके प्रथम पाँच वर्ष (१९२०-२५) बहुत ही संघर्ष-पूर्ण और विवाद-ग्रस्त रहे हैं। यह काव्य नई आशा, नया हर्ष तथा नई उत्तेजना लेकर उपस्थित हुआ था। नई विषय-वस्तु, नई शैली, नए छन्द और नई उक्तियाँ, शब्दों का नया चयन, नया पद-विन्यास, बन्धनहीन स्वछन्द प्रवाह, बँगला, अंग्रेजी और संस्कृत के अध्ययन से प्रभावित नया स्वरूप, और सर्वोपरि यह सत्य कि कला व्यक्ति को अभिव्यक्ति और प्रसार देने का ही एक साधन है, इन सब कारणों ने मिलकर पुरानी प्रचलित काव्य-रूढ़ियों और परम्पराओं को छिन्न-भिन्न कर डाला था। इस नवीनता से भयभीत और काव्य-हत्या के भय से संत्रस्त आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके पुराने-नए सभी साथियों ने एक स्वर से इसका विरोध करना आरम्भ कर दिया था। रूढ़ परम्परा-प्रेमी नए को कभी भी स्वीकार करने को प्रस्तुत और सहमत नहीं होते।

छायावाद के विरोधियों ने इस काव्य को स्वप्नजीवी, पलायनवादी, निराशा का प्रचारक, अनैतिक, मानसिक विलास, पाश्चात्य काव्य का अनुयायी, दुरूह, अस्पष्ट, परम्परा का विघातक आदि न जाने क्या-क्या घोषत किया। परन्तु छायावाद के जन्मदाता और पोषक साहित्यकार दब्बू या निर्बल नहीं थे। उन्हें अपने कृतित्व में

पूर्ण आस्था थी। उन्होंने अपने विस्तृत-गहन अध्ययन, अथक परिश्रम और अपूर्व मेधा द्वारा इस नए काव्य-रूप को जन्म दिया था। इसलिए प्रसाद, निराला, पन्त आदि ने तत्कालीन शीर्षस्थ साहित्यकारों और साहित्य के कतिपय तथाकथित ठेकेदारों (पत्रकारों) आदि के उस विरोध का तर्क और सृजन-शक्ति द्वारा सामना किया। इसका परिणाम यह निकला कि छायावादी काव्य-प्रवृत्ति अपने युग की सर्वप्रधान काव्य-प्रवृत्ति बन गई। इन मनीषी साहित्य-साधकों का संरक्षण और सहयोग पाकर छायावाद खूब फूला-फला। यह नवीन प्रगतिकामी युग की पुराने रूढ़िवादी, परिवर्तन के विरोधी युग पर अपूर्व विजय थी। अनेक नए कवि इसके प्रति आकृष्ट हो चुके थे।

सन् १९२५ से ३० तक छायावाद का प्रयोग-काल समाप्त होकर उसमें स्थायित्त्व आने लगा। इस काल में हिन्दी कविता में सौन्दर्य और गाम्भीर्य का विकास हुआ। सन् १९२७ में प्रथम बार प्रकाशित प्रसाद के अमर काव्य 'आँसू' में छायावाद का अत्यन्त परिष्कृत और उन्नत रूप प्रस्फुटित हुआ। इसे देख आचार्य शुक्ल जैसे कठोर मर्यादावादी आलोचक को भी स्वीकार करना पड़ा कि—"छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संगठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।" प्रसाद के आँसू, झरना में; निराला के अनामिका, परिमल तथा गीतिका में; पन्त के वीणा, पल्लव और गुंजन में; महादेवी के नीहार, रश्मि, नीरजा और दीपशिखा आदि काव्य-संग्रहों में छायावाद ही नहीं, अपितु हिन्दी-कविता के उच्चतम रूप के दर्शन हुए। छायावाद के अन्य कवियों में रामकुमार वर्मा, भगवती चरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, हरिकृष्ण प्रेमी, मोहनलाल महतो वियोगी, जानकी वल्लभ शास्त्री, सुमित्राकुमारी सिन्हा, विद्यापति कोकिल, हंसकुमार तिवारी आदि की भी गणना की जाती है।

अधिकांश छायावादी-काव्य मुक्तक ही रहा है। प्रसाद का 'बीती विभावरी जागरी' जैसे गीत तथा 'आँसू' के अनेक छन्द; निराला की 'जुही की कली', 'शेफाली,' 'संध्या सुन्दरी', 'बादल-राग'; पन्त की 'नौका विहार', 'चाँदनी, 'बादल' जैसी कविताएँ हिन्दी मुक्तक-काव्य की उज्ज्वलतम मणियाँ हैं। इन्हें देखकर लोगों की यह धारणा बन गई थी कि छायावादी-शैली केवल मुक्तक-काव्य के लिए ही उपयुक्त है, उसमें प्रबन्ध-काव्यों की रचना नहीं हो सकती। परन्तु प्रसाद ने 'कामायनी' (१९३७) तथा निराला ने 'तुलसीदास' और पन्त ने 'लोकायतन' जैसे श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्यों का सृजन कर यह सिद्ध कर दिया था कि इस शैली में अत्यन्त उच्च कोटि के श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य भी रचे जा सकते हैं। 'लोकायतन' यद्यपि बहुत बाद की, सन् १९६० के आसपास की रचना है, परन्तु है छायावादी-शैली में ही। वैसे छायावाद की समाप्ति 'कामायनी' के प्रकाशन के उपरान्त ही मान लेनी चाहिए। क्योंकि उसके बाद छायावादी रचनाएँ समाप्त सी होने और प्रगतिवादी रचनाएँ अस्तित्त्व में आने लगती हैं।

छायावादी काव्य का उपर्युक्त विवेचन यह समस्या उत्पन्न कर देता है कि सुन्दर, सशक्त, कलापूर्ण काव्य अपने चरम उत्कर्ष और सौन्दर्य को प्राप्त कर एकाएक समाप्त क्यों हो गया ? हम पीछे इसके कारणों पर प्रकाश डाल आए हैं। यहाँ संक्षेप में उसके इस असामयिक अन्त पर एक बात और कहनी है। इस सम्पूर्ण छायावादी काव्य के अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इस काव्य की अधिकांश कविताओं में कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जो हृदय या मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव डाल सकती। इसका कारण—इसकी अन्तर्मुखी चेतना थी। बहिर्जगत के प्रति वह सर्वथा निष्क्रिय रह गई। उसमें उद्वेग तो था परन्तु प्रतिरोध और सक्रियता की शक्ति का अभाव था। इन कवियों का जीवन-दर्शन नवीन काव्य-शैली में संगठित रूप में न होकर इधर-उधर बिखरा हुआ था, जो शैली की दुरूहता के कारण और भी अधिक दुर्बोध बन गया था। पाठकों और आलोचकों का ध्यान उसकी भाषा के सौन्दर्य और निराशा, पलायन-भावना तथा काल्पनिक सुखों के चित्रण की ओर ही अधिक गया और आशावादी जीवन-दर्शन अलक्षित सा ही रह गया। इस सत्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता इसमें अतृप्तिपरक भावनाओं, आकांक्षाओं का स्वर ही अधिक प्रबल रहा था। इसका कारण यह था कि लगभग सभी छायावादी कवि समाज के मध्यवर्ग से आए थे, इसलिए उनके साथ मध्यवर्गीय असंगति, पराजय, पलायन की कुण्ठित भावनाएँ जुड़ी हुई थीं। आगे चलकर इन छायावादी कवियों ने अपने सृजन की इस कमजोरी और एकांगिता को समझा और अनुभव किया था। उन्होंने यह अनुभव किया था कि जीवन के प्रति छायावाद का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर भावात्मक था, जो युग की तेजी से बदलती हुई संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में स्वीकार नहीं किया जा सकता था, इसीलिए वह निष्क्रिय रहा। यही उसकी सबसे बड़ी निर्बलता और अन्त का कारण बना।

छायावादियों द्वारा ही छायावाद का विरोध

छायावाद का इतिहास इस विचित्र परन्तु ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन करता है कि छायावाद का अन्त, छायावादी कवियों द्वारा ही किया गया था। कालान्तर में इन छायावादी कवियों—निराला, पन्त, महादेवी—ने ही छायावाद के खिलाफ आवाज उठाई थी, क्योंकि ये लोग छायावाद की असली कमजोरी को जानते थे। महादेवी वर्मा ने लिखा था कि—"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।.....इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्नद्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही एक मार्ग शेष है कि वह अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर, जड़-सिद्धान्तों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण सम्वेदन शक्ति के साथ जीवन में घुल-मिल

जाय। उसकी केवल व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा आज गौण है, उसकी केवल व्यक्तिगत हार-जीत आज मूल्य नहीं रखती, क्योंकि उसके सारे व्यष्टिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है।"

पन्त ने छायावादी काव्य को मात्र 'अलंकृत संगीत' कहकर उसका विरोध किया था। इसी कारण उन्होंने "छायावाद के शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्य के निर्जन अदृश्य शिखर पर विराम करने वाली कल्पना" को "एक हरी-भरी ठोस जनपूर्ण धरती" प्रदान कर उसे जन-जीवन के साथ मिलाने का प्रयत्न किया था। निराला ने इस प्रकार खुलकर छायावाद का विरोध नहीं किया, क्योंकि उनके काव्य में यथार्थवादी स्वर बहुत पहले से ही मुखरित हो रहा था। उनके काव्य में भी यद्यपि अपने व्यक्तिगत सुख-दुख का चित्रण हुआ है, परन्तु उनका यह व्यक्तिगत सुख-दुख—समाज का सुख-दुख बनकर ही अभिव्यक्त हुआ है। निराला की यथार्थवाद के प्रति प्रगति स्वाभाविक और क्रमिक रही है। वह पन्त के समान एकाएक छायावाद को त्याग प्रगतिवादी नहीं बन गए थे।

छायावाद युग की माँग थी। और जब आगे चलकर उसने नवीन युग के साथ चलने से इन्कार कर दिया, या वह उसका साथ न दे सका तो समाप्त हो गया। आज हम उसके अस्पष्ट जीवन-दर्शन तथा संकुचित दृष्टिकोण की भले ही आलोचना कर लें, मगर उसके ऐतिहासिक महत्त्व को नहीं भुलाया जा सकता। उसका सौम्य रूप आकर्षक था और सदैव ऐसा ही बना रहेगा।

छायावाद के प्रमुख कवि

जयशंकर प्रसाद (सन् १८८९—१९३७ ई०)

हिन्दी-जगत में केवल 'प्रसाद' के नाम से प्रसिद्ध जयशंकर प्रसाद आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ कवि और बहुमुखी प्रतिभा वाले साहित्यकार थे। काशी के प्रसिद्ध 'सुँघनी साहु' घराने में जन्मे अपने बचपन से ही दैवी प्रकोपों और सांसारिक संघर्षों से जूझते हुए सचमुच नीलकंठ बनकर हिन्दी-साहित्य को अपने प्रचुर समृद्ध साहित्य द्वारा 'आनन्दवाद' का एक ऐसा मूल मंत्र दे गए थे जो सम्पूर्ण सांसारिक विषमताओं का उन्मूलन करने में पूर्ण समर्थ है। जीवन के हलाहल का पान कर उन्होंने अमृत की सृष्टि की थी। उनका सम्पूर्ण साहित्य इसी जीवन प्रदायक अमृत से ओतप्रोत है। इस अमृत की खोज में उन्होंने जो जीवन-व्यापी तपस्या की थी, उसी ने ४८ वर्ष की अल्प आयु में ही उनकी जीवन-लीला समाप्त कर दी थी। इतनी कम अवस्था पाकर भी उन्होंने कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओं की रचना कर हिन्दी-साहित्य को उन्नत और समृद्ध बनाया था। यदि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में से 'प्रसाद-साहित्य' को निकाल दिया जाये, तो हमारे पास गर्व करने के लिए बहुत कम सामग्री रह जायेगी।

प्रसाद मूलतः कवि थे, इसलिए उनके सम्पूर्ण साहित्य में उनका कवि-रूप ही अधिक उभर कर आया है। यहाँ छायावाद के सन्दर्भ में कवि प्रसाद का विवेचन अपेक्षित है, इसलिए हम यहाँ केवल उनके काव्य का ही विवेचन करेंगे। प्रसाद अपने आरम्भिक जीवन में ब्रजभाषा में कविताएँ लिखा करते थे जो उनके 'चित्राधार' नामक काव्य-संग्रह में संग्रहीत हैं। इन कविताओं में प्रणय-भावना की प्रधानता रही है जो कहीं विश्व-प्रेम और कहीं भक्ति-भावना के रूप में भी प्रकट हुई है। इनकी दूसरी काव्य-रचना 'प्रेम पथिक' है जो पहले ब्रजभाषा में और फिर खड़ीबोली में लिखी गई थी। यह प्रणय-भावना-प्रधान एक छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य है। इसमें दार्शनिकता और विश्व-प्रेम की छाया मिल जाती है। इसके उपरान्त प्रसाद ने केवल खड़ीबोली में कविता लिखना आरम्भ कर दिया था, जिनका संग्रह 'कानन कुसुम', 'महाराणा का महत्त्व', 'करुणालय' आदि काव्य-संग्रहों में हुआ है। 'महाराणा का महत्त्व'—महाराणा प्रताप की महत्ता और उदारता का वर्णन करने वाला एक छोटा-सा खण्डकाव्य है। 'कानन कुसुम'—फुटकर कविताओं का संग्रह है जिनमें प्रेम, परम-तत्त्व, करुणा, प्रकृति, प्रकृति का मानवीकरण, राष्ट्र-गौरव की भावना से ओतप्रोत कतिपय पौराणिक प्रसंग आदि प्रधान रहे हैं।

उनके 'झरना' नामक काव्य-संग्रह में पहली बार छायावाद का रूप प्रस्फुटित होता दिखाई पड़ता है। इसमें प्रकृति, रहस्यानुभूति, प्रणय आदि के रूप छायावादी प्रौढ़ काव्य-शैली में प्रकट हुए हैं। परन्तु प्रसाद को छायावादी कवि के रूप में प्रसिद्धि मिली उनके 'आँसू' नामक काव्य से। कवि ने इसके द्वितीय संस्करण में पहले संस्करण के पदों के क्रम में परिवर्तन कर तथा कुछ नए पद जोड़ कर इसे एक प्रबन्ध-काव्य का सा रूप दे दिया था। इसमें कवि-हृदय की 'घनीभूत पीड़ा' अत्यन्त मार्मिक रूप धारण कर प्रकट हुई है। कवि ने मानव-प्रेम को आधार बनाकर विरह के स्मृति भरे स्वर में अपनी हृद्गत वेदना का प्रकाशन किया है। इसमें 'नियतिवाद' और 'दुखवाद' का स्वर भी उभर कर आया है और अन्त में आशा का स्वस्थ सन्देश देता हुआ यह काव्य समाप्त हो जाता है। 'आँसू' के उपरान्त 'लहर' का प्रकाशन हुआ। 'लहर' से कवि का अभिप्राय आनन्द की उस लहर से है जो मनुष्य के मन में प्रायः उठ-उठ कर उसके जीवन को सरस बनाती रहती है। इसमें रहस्यवाद का स्वर अधिक स्पष्ट और तीव्र हो उठा है। इसमें कवि ने अपने अज्ञात प्रियतम के साथ आँख-मिचौनी खेली है। वस्तुतः 'लहर' की कविताएँ प्रसाद के काव्य-विकास का प्रौढ़ रूप है। इसमें कवि वैयक्तिक धरातल से ऊपर उठकर जीवन तथा जगत के सम्बन्ध में अधिक गम्भीरतापूर्वक विचार करता दिखाई देता है। विषय पूर्ववत् ही रहे हैं। कवि की तन्द्रा और स्वप्निल भावना जगह-जगह व्यक्त हुई है। यहाँ उसकी कल्पना में अधिक ठहराव दिखाई देता है।

प्रसाद की अन्तिम काव्य-रचना 'कामायनी' आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ महा-काव्य मानी जाती है। प्रसाद ने इसे लगभग १२ वर्ष के कठोर परिश्रम द्वारा लिखा

था। 'कामायनी' की रचना ने यह सिद्ध कर दिया था कि छायावादी शैली में, जो प्रधानतः मुक्तक की शैली मानी जाती थी, एक अत्यन्त उच्च कोटि के सफल प्रबन्ध-काव्य की भी रचना की जा सकती है। इसमें कवि ने मनु, श्रद्धा और इड़ा की पौराणिक कथा का आधार लेकर, प्रतीक-प्रधान शैली के माध्यम से युग की मानवता को समरसता के आनन्द का सन्देश दिया है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"यह काव्य बड़ी विशद् कल्पनाओं और मार्मिक उक्तियों से पूर्ण है।" इसमें प्रसाद का प्रकृति-दर्शन मानव-सापेक्ष रहने के कारण मानव के रूप-वर्णन का प्राधान्य रहा है। उनका यह रूप-वर्णन अत्यन्त मांसल और आकर्षक है। श्रद्धा का रूप-वर्णन हिन्दी-साहित्य की उज्ज्वल निधि माना गया है।

प्रसाद के सम्पूर्ण काव्य में मानव-जीवन के प्रति पूर्ण ममत्त्व मिलता है। "इस ममत्त्व के मूल में कवि का अति मानवीय रूप, जीवन की साधना और वास्तविकता है। इसलिए उनमें प्रेम और त्याग, अधिकार और आत्म-विसर्जन, भोग और निग्रह—दोनों ही बातें पाई जाती हैं।" अतीत को उन्होंने वर्तमान के रूप में ही देखा है। उनके सम्पूर्ण काव्य में करुणा और विषाद की भावना निष्क्रियता का सन्देश न देकर मानव के महत्त्व और उसके जीवन में आनन्द की प्रकृत अवस्थिति का निर्देश कर उसे जीवन-पथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। उसमें सर्वत्र जीवन और आशा का सन्देश रहा है। कला-पक्ष की दृष्टि से प्रसाद-काव्य अत्यन्त प्रौढ़ और सशक्त है। वह उनके भावपक्ष के ही समान उत्कृष्ट, प्रभावक और सुन्दर है। उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित होते हुए भी अधिक क्लिष्ट नहीं हो पाई है। शब्द-विन्यास, वस्तु-चयन, अलंकार-योजना आदि सभी की दृष्टि से प्रसाद के भावों की अभिव्यंजना सरस, सुन्दर, आकर्षक, प्रतीकात्मक और विशाल है। रस-निरूपण में प्रसाद किसी रस-विशेष को अपना लक्ष्य बनाकर नहीं चले हैं। सामान्य रूप से उनके काव्य का आरम्भ श्रृंगार से होकर उसकी परिणति शान्त या करुण-रस में होती है।

प्रसाद आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ कवि और उनकी 'कामायनी' आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है।

सुमित्रानन्दन पन्त (जन्म सन् १९००)

पन्त का जन्म हिमालय की सुरम्य उपत्यका में स्थित कौशानी नामक एक ग्राम के एक सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। वहाँ की उन्मुक्त प्रकृति ने इस भावुक किशोर को अनजाने ही अपनी ओर आकर्षित कर उसमें प्रकृति के प्रति एक अद्भुत सौन्दर्यनिष्ठ कोमल भावना भर दी थी। और यही कोमल भावना उसके काव्य की जन्मदात्री बनी थी। प्रकृति का अज्ञात आकर्षण उसे एक अव्यक्त सौन्दर्य में तन्मय कर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना से भर देता था। इस प्रकृति-प्रेम ने जहाँ उसे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्याण का उपासक बनाया, वहीं साथ ही जनभीरु भी बना दिया। बाद में जब यह किशोर अपना प्रारम्भिक अध्ययन

समाप्त कर उच्च-शिक्षा ग्रहण करने के निमित्त प्रयाग आया, तब भी उसकी उस मूल प्रकृति ने कोई अन्तर नहीं आ पाया।

प्रयाग में अध्ययन करते हुए, पन्त ने अंग्रजी की रोमान्टिक कविता, रवीन्द्र-काव्य, संस्कृत, दर्शन आदि का पारायण किया और प्रभावित हुए। परन्तु प्रकृति उनके मन-प्राण पर गहरे रूप से छाई रही। काव्य और अध्ययन की ओर अधिक रुचि रहने के कारण वह अपने पाठ्य-क्रम की ओर अधिक ध्यान न दे सके और कुछ वर्ष उपरान्त विश्वविद्यालयीय उपाधियों का मोह त्याग एकमात्र काव्य-साधना में तल्लीन हो गए। पन्त की एक प्रवृत्ति उल्लेखनीय रही है। वह जनभीरु अतः एकान्त प्रिय रहे हैं। संघर्षों को उन्होंने दूर खड़े रहकर ही देखा और समझा है, उनमें कभी भाग नहीं लिया। स्वभाव की इसी एकान्तता ने उनकी प्रकृति को विभिन्न प्रकार के प्रभावों को सहज ही ग्रहण करने योग्य बना दिया है। छायावाद से प्रभावित हो वह पहले छायावादी बने। जब प्रगतिवाद ने छायावाद का साधार विरोध किया तो छायावाद का विरोध करने में अग्रणी बन प्रगतिवादी हो गए और जब प्रगतिवाद का अत्यधिक भौतिक और उग्र स्वर उनके कोमल स्वभाव और कोमल कल्पना को अधिक सन्तोष नहीं दे सका तो प्रगतिवाद का विरोध कर अरविन्दवादी दार्शनिक कवि बन गए। उनके काव्य में पाए जाने वाले ये विभिन्न चढ़ाव-उतार ऊपर से भिन्न और असम्बद्ध से प्रतीत होने पर भी आन्तरिक रूप से एक ही मूल प्रकृति और विचार-धारा से जुड़े रहे हैं।

पन्त का पहला काव्य-संग्रह 'वीणा' है। इसमें बालोचित सरलता और कोमलता के साथ एक बालिका ने मधुबाला की सी मृदु बोली में प्रक्रित के साथ अपना अनन्य सम्बन्ध स्थापित किया है। 'पल्लव'—पन्त का दूसरा काव्य-संग्रह है। यहाँ तक कवि प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध रहा है जिसमें प्रकृति के विभिन्न रूपों के प्रति मन में उठने वाली जिज्ञासा रहस्यात्मकता का समावेश कर गई है। परन्तु कवि जैसे-जैसे नागरिक जीवन का अभ्यस्त बन उसमें घुलता-मिलता चला है और उसके हृदय में यौवन की उमंगें जोर मारने लगी हैं, वह नारी के प्रति अधिकाधिक आकृष्ट होता चला गया है। पन्त के आगामी काव्य-संग्रहों 'ग्रन्थि' और 'गुंजन' में प्रकृति का स्थान नारी ले लेती है। यहाँ आकर वह नारी-सौन्दर्य को प्रकृति-सौन्दर्य से बढ़कर मानने लगा है। उसे समस्त प्रकृति-सौन्दर्य में नारी-सौन्दर्य की ही छाया दिखाई देने लगती है—

'आज गृह-वन उपवन के पास, लोटता राशि-राशि हिमहास।
खिल उठी आँगन में अवदात, कुन्द कलियों की कोमल पाँत।
मुस्करा दी थीं, बोलो प्राण! मुस्करा दी थीं तुम अनजान।'

पन्त की यह नारी-भावना मानसिक वासना-परक रही है। कवि भावी पत्नी की केवल कल्पना ही करता रह गया है। संघर्ष और जीवन से सहज ही भयभीत रहने वाला कवि अन्तर्मुखी बन जाता है। 'गुंजन' में पन्त का यही रूप दिखाई पड़ता

है। उनका कवि अपनी आत्मा का बालोचित सहज उल्लास खोकर दार्शनिक बन गया है। वह जन्म में मृत्यु और वसन्त में पतझड़ के दर्शन करने लगा है। अपने युग के आदर्शों में उसका विश्वास नहीं रहा है। इसलिए वह बुद्धिवादी बन आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण की भावना से भर उठा है। यहाँ तक पन्त स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द के दार्शनक तथा शेली, कीट्स, रवीन्द्र आदि की शैली और विचार से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं।

'गुंजन' के उपरान्त पन्त का बुद्धिवाद उन्हें विद्रोह के पथ पर ले जाता हुआ दिखाई देता है। भौतिकवाद का नया यथार्थवादी स्वर पन्त की सम्पूर्ण पूर्व मान्यताओं को ध्वस्त कर उन्हें प्रगतिवादी बना देता है। उनके आगामी काव्य-संग्रहों—'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'—में पन्त के इसी नवीन चिन्तन और बौद्धिकता का समन्वय हुआ है। यह पन्त-काव्य का नया स्वर है। इसमें भौतिकवाद और मार्क्सवाद के साथ अध्यात्म का भी पुट रहा है। कवि कल्पना को त्याग, यथार्थ के कठोर धरातल पर उतर आया है। उसे छन्दों का बन्धन और अलंकारों का मोह असह्य हो उठा है। उसकी विषय-वस्तु बदल गई है। अब वह प्रकृति का निरादर कर मानव-महत्त्व की भावना से भर उठा है—

'सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम।'

अपने इस प्रगतिवादी काव्य में पन्त ने जन-साधारण के दुख-दर्द के चित्र अंकित किए हैं, पुरानी सामन्ती-संस्कृति को मरणोन्मुख घोषित कर नई मानवता की प्रशस्ति गाई है। परन्तु पन्त का कोमल प्राण प्रगतिवाद के उग्र, विध्वंसकारी रूप की कठोरता को पूर्णतः आत्मसात करने में झिझकता तथा गांधीवाद और अरविन्द-दर्शन में आश्रय खोजता रहा है। स्वभाव से ही संघर्ष-भीरु रहने के कारण पन्त का कवि श्रमजीवी वर्ग को केवल अपनी बौद्धिक सहानुभूति ही प्रदान कर सका है जो सुन्दर होते हुए भी निष्प्राण है। इसी कारण कुछ लोग पन्त को 'वर्गहीन-बुद्धिवादी' कहते हैं। पन्त संघर्ष, विद्रोह के स्वर गुंजाते हुए भी दर्शन में आश्रय ढूँढ़ते रहे हैं। और कुछ समय उपरान्त दर्शन उन पर इतना अधिक हावी हो जाता है कि वह प्रगतिवाद का विरोध कर अध्यात्म द्वारा सांस्कृतिक पुनरुत्थान की बात करने लगते हैं। पन्त की यह स्वभावगत अस्थिरता उन्हें निरन्तर भटकाती रही है।

अपने परवर्ती काव्य में पन्त वस्तु-जगत की विभीषिका से संत्रस्त हो पुनः अध्यात्म की ओर झुकते हैं। उन्होंने अपने आगामी काव्य-संग्रहों—'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' आदि में उच्च सांस्कृतिक आन्दोलन को मानवता के कल्याण के लिए अनिवार्य मान दार्शनिक विवेचन किया है। इसी समय पन्त अरविन्द-आश्रम (पांडुचेरी गए और कुछ दिन वहाँ रहे। वहाँ से अरविन्द-दर्शन से गहरे रूप से प्रभावित होकर लौटे। यह प्रभाव उनके 'उत्तरा' और 'अतिमा' नामक काव्य-संग्रहों में बड़े गहन रूप में प्रकट हुआ है। इनमें पन्त पूर्ण दार्शनिक कवि बन गए हैं और साथ ही

प्रगतिवाद के कट्टर विरोधी भी। पन्त की नवीनतम रचनाओं में 'कला और बूढ़ा चाँद' और 'लोकायतन' अधिक उल्लेखनीय हैं। 'लोकायतन' महात्मा गांधी पर लिखा गया लगभग ७०० पृष्ठों का प्रबन्ध-काव्य है, जिसे कुछ आलोचक महाकाव्य भी मानते हैं। इन कृतियों में भी पन्त का दार्शनिक स्वर ही अधिक उभरा है। 'लोकायतन' बड़ा विवादग्रस्त ग्रन्थ रहा है। इसे कुछ लोग इस युग की महानतम रचना मानते हैं और कुछ नितान्त असफल काव्य-कृति। इधर पन्त की नई-पुरानी अनेक कविताओं का एक संग्रह 'चिदम्बरा' निकला है और एक खंडकाव्य 'पुरुषोत्तम-राम'।

हमने उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन द्वारा देखा कि पन्त आरम्भ से अब तक कहीं भी स्थिर और एकरस नहीं रह पाए हैं। आरम्भ में वह छायावादी रहे, फिर प्रगतिवादी बने और अन्त में विशुद्ध दार्शनिक कवि बन गए, जो अध्यात्म द्वारा सांस्कृतिक पुनरुत्थान का स्वप्न देख रहे हैं। इसी अस्थिरता के कारण पन्त आधुनिक हिन्दी-साहित्य के बहु-चर्चित और विवादग्रस्त कवि माने जाते हैं। पन्त-काव्य का मूल्यांकन करते समय आलोचकों में भले ही मत-वैभिन्य रहा हो, परन्तु खड़ीबोली को कोमल, ललित, प्रभविष्णु और भाव-व्यंजना में सबल-समर्थ बनाने में पन्त-काव्य ने जो अपूर्व ऐतिहासिक भाग अदा किया है, उसके महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि गुप्त जी ने खड़ीबोली काव्य-भाषा में प्राण-प्रतिष्ठा की थी तो पन्त ने उसका शृंगार किया था। पन्त अपनी सम्पूर्ण रचनाओं में कला-परिष्कार के प्रति सतत जागरूक रहे हैं। उनकी कोमल-कान्त पदावली में संगीत के समावेश ने अद्भुत सौन्दर्य भर दिया है। उनकी भाषा चित्रमय, सस्वर, संगीतमय है, उसमें अपूर्व व्यंजना शक्ति और ध्वन्यात्मकता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (सन् १८९६—१९६१ ई०)

उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के एक सम्भ्रान्त ब्राह्मण कान्यकुब्ज परिवार में उत्पन्न और बंगाल की शस्य-श्यामला भूमि में लालित पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला आधुनिक हिन्दी-काव्य के युग-प्रवर्त्तक कलाकार और छायावाद के सर्वाधिक शक्तिशाली विद्रोही कवि रहे हैं। निराला छायावादी कवि अवश्य रहे हैं परन्तु इनके छायावादी काव्य की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि उसमें कहीं भी पलायन, पराजय की भावना नहीं आ पाई है। उन्होंने न कभी छायावाद का विरोध किया और न प्रगतिवाद की प्रशंसा। उनकी आरम्भिक शैली और विषय-वस्तु छायावादी होते हुए भी उनके काव्य में न तो कहीं कल्पना की अतिशय उड़ान मिलती है, और न कहीं जीवन-संघर्ष से भयभीत हो पलायन की भावना। वह जन्मजात विद्रोही रहे हैं। छायावाद के विरोधियों ने सबसे अधिक विरोध निराला और उनके काव्य का ही किया था और निराला ने उस विरोध का पूर्ण शक्ति, साहस और विद्वत्ता के साथ समुचित उत्तर दिया था। उनकी सर्वप्रथम कविता 'जुही की कली', जो सन् १९२१ में

प्रकाशित हुई थी, सरस्वती-सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा तिरस्कार पूर्वक लौटा दी गई थी। बस, नई और पुरानी पीढ़ी का वह लम्बा संघर्ष इसी घटना से आरम्भ हो गया था। छायावाद के विरोधियों ने दल बाँध कर छायावाद पर और निराला पर साहित्यिक एवं व्यक्तिगत आक्रमण करने आरम्भ कर दिए थे। निराला की रचनाओं और लेखों की भ्रमात्मक व्याख्यायें कर उन्हें लांछित और अपमानित किया था। अपने विद्रोही स्वभाव के कारण वह किसी भी प्रकार के अनुचित लांछन और उपेक्षा या अपमान को सहन नहीं कर पाते थे। पन्त ने जब उनके मुक्त-छन्द को लेकर उन पर अनुचित आक्षेप किए थे तो उन्होंने 'पल्लव और पन्त' नामक निबन्ध लिखकर पन्त की काव्य-साधना की कलई खोलकर रख दी थी।

निराला अपने पारिवारिक, सामाजिक और साहित्यिक जीवन में निरन्तर दुखी, अभावग्रस्त और पीड़ित रहे थे। परन्तु वह अदम्य शक्ति और साहस के साथ इन सारे अभावों का सामना करते हुए जीवन-पर्यन्तसृजन में लगे रहे। मानव की सहन-शक्ति की एक अपनी सीमा होती है। साहित्यकारों, साथियों आदि द्वारा निरन्तर मिलने वाली इस उपेक्षा, अपमान और विरोध ने निराला को कुंठित बना दिया था जिसके कारण कालान्तर में वह अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे। उनके अन्तिम वर्ष अर्द्ध-विक्षिप्तावस्था में कटे थे। प्रकाशकों ने सदैव उनका शोषण किया था, इसलिए आर्थिक अभाव उन्हें जीवन भर सालता रहा। और इसी आर्थिक विपन्नता, अर्ध विक्षिप्तावस्था में यूनानी प्राचीन मूर्तियों जैसे विशाल, सुगठित, सशक्त शरीर और देवोपम भव्य व्यक्तित्त्व के अधिकारी हिन्दी-साहित्य के शीर्ष-स्थानीय कलाकारों में गण्यमान्य, महामानव निराला सन् १९६१ में प्रयाग की एक संकीर्ण, गन्दी गली के एक छोटे से मकान के एक छोटे से कमरे में अपनी जीवन-लीला समाप्त करने को बाध्य कर दिए गए थे। उनके निधन के उपरान्त सम्पूर्ण हिन्दी-संसार ने उन्हें एक स्वर से अपने युग का सर्वाधिक प्रगतिशील, कर्मठ और सशक्त कलाकार मान उनका सम्मान किया था, उनकी जयन्तियाँ मनाई थीं। हिन्दी के कलाकारों का यह दुर्भाग्य रहा है कि उनका प्राप्य उन्हें उनके जीवन-काल में न मिल कर सदैव उनके निधन के उपरान्त ही मिलता आया है। निराला, प्रेमचन्द, प्रसाद, आचार्य शुक्ल आदि हिन्दी के ऐसे ही अमर कलाकार हुए हैं। अस्तु,

निराला बहुमुखी विशाल साहित्य के प्रणेता थे। उन्होंने 'मतवाला', 'समन्वय' आदि मासिक पत्रों के सम्पादन के साथ-साथ लगभग ४४ ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, रेखाचित्र, अनुवाद, जीवनी-साहित्य आदि सभी कुछ है। परन्तु उनकी वास्तविक प्रतिभा का स्फुरण और विकास उनकी कविताओं और निबन्धों में ही हुआ है। अन्य ग्रन्थ तो उन्होंने मात्र पैसे के लिए लिखे थे।

उनका काव्य अपने ओजगुण के कारण अपने समकालीन काव्य में अनन्य है। उसमें एक भव्य गरिमा, सौन्दर्य और अद्‌भुत निष्ठा है। दार्शनिकता के पुट ने उनके काव्य को अधिक गहन और गम्भीर बना दिया है। 'अद्वैतवाद' उनकी प्रिय विषय रहा है। भावों की व्यंजना विशद और प्रभावोत्पादक है। कवि की सौन्दर्य दृष्टि अत्यन्त प्रखर, सूक्ष्म और व्यापक है। इसी कारण जीवन, जगत और प्रकृति के उनके अनेक चित्र उनकी अन्तर्भावना के अनुरूप ही बन पड़े हैं।

निराला का कवि-जीवन उनके 'अनामिका' नामक काव्य-संग्रह से प्रारम्भ होता है। इसमें सर्वप्रथम मुक्त-छन्द का प्रयोग हुआ है जिसे देख आचार्य द्विवेदी आदि बहुत चौंके थे। कवि अपने आरम्भ से ही रूढ़ि-विरोधी और रूढ़ि-मुक्त दिखाई पड़ता है। 'अनामिका' का प्रथम संस्करण सन् १९२३ में तथा दूसरा संस्करण १९३८ में प्रकाशित हुआ। इस दूसरे संस्करण में अनेक नवीन कविताएँ हैं। 'अनामिका' के उपरान्त उनके काव्य-संग्रह इस क्रम से प्रकाशित हुए थे—परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुक्कुरमुत्ता, अणिमा, नए पत्ते, बेला, अर्चना, आराधना, गीत-गुंज।

काव्य-रचना विकास और विषय-वस्तु की दृष्टि से निराला की सम्पूर्ण रचनाओं को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। यथा—(१) **विशुद्ध छायावादी रचनाएँ**—इनमें प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम और करुणा की भावना से ओतप्रोत ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें छन्द-मुक्ति, संगीत, भाव-सौन्दर्य और दार्शनिकता का प्राधान्य रहा है। 'परिमल' और 'गीतिका' की कविताओं में उपर्युक्त विशेषताएँ प्रचुर परिमाण में मिलती हैं। इनमें बुद्धि और भावना—दोनों का समन्वय रहा है। यहाँ दर्शन के साथ-साथ शृंगार के प्रति भी झुकाव है। 'परिमल' की कविताओं में 'विधवा', 'भिक्षुक', 'बहू', 'दीन', आदि ऐसी कविताएँ भी हैं जो शैली की दृष्टि से छायावादी होती हुई भी विषय-वस्तु और भाषा की दृष्टि से प्रगतिशील हैं। इनमें भावी प्रगतिवादी निराला का आरम्भिक रूप अपनी स्पष्ट झलक दिखा जाता है। 'गीतिका' की कविताओं में स्तुतिपरक, प्रकृति सम्बन्धी और विचार-प्रधान गीत संग्रहीत हैं। इनमें नारी-सौन्दर्य का चित्रण अत्यन्त सूक्ष्म, आकर्षक और मार्मिक शैली में हुआ है।

(२) **दार्शनिक रचनाएँ**—इनमें अद्वैतवाद से प्रभावित विचार-प्रधान कविताएँ हैं जिनमें काव्य-सौन्दर्य की अपेक्षा निबन्धात्मकता अधिक रही है। निराला के दार्शनिक विचारों की दृष्टि से ही इनका महत्त्व माना जा सकता है। (३) **उदात्त, प्रौढ़ रचनाएँ**—इनमें 'तुलसीदास' नामक खंडकाव्य तथा 'राम की शक्तिपूजा', 'सरोज-स्मृति' जैसी लम्बी कविताओं की गणना की जा सकती है। 'सरोज स्मृति' हिन्दी का एकमात्र सशक्त और प्रभावपूर्ण शोकगीत है। 'राम की शक्तिपूजा' अपनी गरिमा, प्रभाव और कला-संगठन की दृष्टि से हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ लम्बी कविता है। इन रचनाओं में निराला की काव्य-कला अपने चरम उत्कर्ष का स्पर्श कर रही है। समस्त

हिन्दी-साहित्य में ऐसी श्रेष्ठ रचनाएँ विरल ही हैं। (४) **व्यंग्यपूरित रचनाएँ**—इनमें कवि ने समाज-व्यवस्था के प्रति अत्यन्त गहरा और तीखा व्यंग्य किया है। 'कुक्कुरमुत्ता' आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। इनमें व्यंग्य के आधिक्य के कारण भाषा और शैली अपनी समस्त गरिमा और प्रौढ़ता को त्याग अत्यन्त तीखी और सरल-सहज बन गई है। (५) **प्रगतिशील रचनाएँ**—इनमें कवि पर समाजवाद का गहरा प्रभाव रहा है। इनमें काव्यादर्शों के निर्वाह के स्थान पर वस्तुवाद की ओर झुकाव और दीन-हीन शोषित जन के प्रति सहानुभूति तथा अत्याचार के प्रति तीव्र विद्रोह और आक्रोश है। 'बेला' और 'नए पत्ते' इसी वर्ग की रचनाएँ हैं।

'अणिमा', 'आराधना', 'अर्चना' और 'गीत-गुंज' में निराला की चेतना के विभिन्न स्तरों, चिन्तन की विभिन्न दिशाओं और भावना के विविध क्षेत्रों तथा रूपों का प्रकाशन करने वाली ऐसी कविताएँ तथा गीत संग्रहीत हैं जिनमें भक्ति, विषाद, चिन्तन, मानसिक द्वन्द्व, निर्वेद आदि के स्वर प्रबल रहे हैं। इन कविताओं में निराला की सम्पूर्ण काव्य-साधना अपने विभिन्न रूपों को पुनः प्रदर्शित करती हुई दिखाई पड़ती है परन्तु इनमें विषाद का स्वर बहुत गहरा हो उठा है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो जीवन-संग्राम का कर्मण्य अथक योद्धा संघर्ष करते-करते थक गया है और उसकी समस्त चेतना पर हताशा और विषाद का घना अन्धकार अधिकार जमाता जा रहा है।

निराला हिन्दी-प्रगतिवादी काव्य के जनक और मूल प्रेरक शक्ति रहे हैं। वह पन्त के समान प्रगतिवादी आन्दोलन से प्रभावित हो छायावाद की बुराई करते हुए एकाएक प्रगतिवादी नहीं बन गये थे। हमें उनके काव्य में आरम्भ से ही रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, दीन-हीन के प्रति अमित सहानुभूति और शोषण-अत्याचार के खिलाफ तीव्र आक्रोश की भावना मिलती है। उनके समस्त काव्य का प्रधान स्वर ओज और संघर्ष का रहा है। इसीलिए जब हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन ने जोर पकड़ा तो उसे सहज ही निराला का पूर्ण सक्रिय सहयोग मिला। निराला जैसे कर्मठ, साहसी कलाकर का सहयोग पाकर प्रगतिवाद खूब फूला-फला। इस दृष्टि से हिन्दी-काव्य के क्रमिक-स्वाभाविक विकास में निराला का ऐतिहासिक योगदान रहा है।

हिन्दी में निराला मुक्त-छन्द के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इनके इस मुक्त-छन्द को लेकर हिन्दी-जगत में बड़ा शोरगुल मचा था परन्तु आज हिन्दी में यही छन्द सबसे अधिक प्रचलित और लोकप्रिय है। निराला-काव्य के कलापक्ष की यह विशेषता है कि उसमें भाषा, छन्द, शैली, शब्द-चयन आदि का अत्यन्त तराशा हुआ संयमित-संगठित रूप मिलता है। ऐसा लगता है मानो कवि ने अत्यन्त परिश्रम के साथ एक-एक शब्द को चुन चुन तथा माँज-सँवार कर छन्द की लड़ी में पिरोया हो। भाषा भाव के अनुरूप परिवर्तित होती चलती है। 'राम की शक्तिपूजा' में कवि का भाषा-सम्बन्धी यह अनुपम कौशल देखते ही बनता है। उन्होंने छन्द, प्रतीक, अलंकार

आदि के ऐसे-ऐसे सार्थक और नए प्रयोग किए हैं जिन्होंने हिन्दी काव्य और भाषा में मौलिक चिन्तन और नई कला का ओज और सौन्दर्य भर दिया था। निराला की काव्य-साधना निरन्तर विकासोन्मुखी रही है। उसमें छायावाद की कोमलता और विद्रोह; प्रगतिवाद की उग्रता और ओज; तथा प्रयोगवाद की नवीन कला का उन्मेष सब कुछ क्रमशः विकसित होता हुआ मिल जाता है। इस दृष्टि से निराला को आधुनिक युग का प्रतिनिधि कवि निस्संकोच माना जा सकता है।

महादेवी वर्मा

एक सम्भ्रान्त कायस्थ-परिवार में उत्पन्न और अल्प-वय में ही विवाहित महादेवी वर्मा ने किन संघर्षों का सामना करते हुए अपनी अपूर्ण शिक्षा को पूर्ण किया था, और वे किस प्रकार साहित्य-साधना में प्रवृत्त हुई थीं, यह भारतीय नारी के अद्भुत साहस और दृढ़ संकल्प की एक लम्बी कहानी है। महादेवी की गणना प्रमुख छायावादी कवियों में की जाती है। उनके काव्य की यह विशेषता रही है कि वे आरम्भ से अभी तक रहस्यवादी बनी रही हैं। उनके काव्य में रहस्यवाद का स्वर सबसे प्रबल रहा है। महादेवी ने यद्यपि गद्य भी लिखा है परन्तु मूलतः वे कवि ही रही हैं। उन्होंने रेखाचित्र और आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं और वे हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ रेखाचित्रकार मानी जाती हैं। ऊपर से देखने पर महादेवी का काव्य और गद्य-रचनाएँ दो परस्पर भिन्न प्रवृत्तियों और विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है परन्तु उनकी मूल प्रवृत्ति—करुणा की भावना ही दोनों की प्रेरक रही है। करुणा के प्राधान्य के कारण वे काव्य में अन्तर्मुखी बन अपने दुख और जगत के सृष्टा के रहस्यमय रूप के ही मनोरम गीत गाती रही हैं। और इसी करुणा को लेकर वे जब गद्य के क्षेत्र में उतरी हैं तो उनकी इस करुणा ने समाज के सम्पूर्ण दीन-दलित, उपेक्षित प्राणियों को अपने आँचल में समेट उन्हें समाज की विषमता के प्रति तीव्र आक्रोश से भर दिया है। अतः करुणा को ही उनके समस्त साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति मानना चाहिए। इसी ने उनकी लेखनी से समाज के भयावह चित्र अंकित कराए हैं और इसी ने उन्हें अपने कल्पना-लोक में रहस्यमय, अज्ञात प्रियतम के अनन्त विरह में व्यथित और व्याकुल रूप में प्रस्तुत किया है।

महादेवी की काव्य रचनाएँ—'नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य गीत, दीपशिखा, यामा, और सप्तपर्णा' शीर्षकों से प्रकाशित हुई हैं। 'नीरजा' पर इन्हें पाँच सौ रुपए का 'सेक्सरिया पारितोषिक' और 'यामा' पर बारह-सौ रुपए का 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' मिला था। 'यामा' में उनकी विभिन्न सचित्र कविताओं का संकलन है, जिसमें प्रत्येक कविता के भाव के बोधक महादेवी द्वारा अंकित चित्र कविताओं के साथ प्रकाशित हुए हैं। 'सप्तपर्णा' में वेदों के काव्यात्मक अंशों के भावात्मक अनुवाद हैं।

महादेवी के काव्य की यह विशेषता रही है कि—वे आरम्भ से अन्त तक एकरस रही हैं। उनमें हमें कहीं भी व्यवधान नहीं मिलता। बीच में यद्यपि उन्होंने छायावाद का विरोध किया था, परन्तु फिर भी उनके मूल रहस्यवादी स्वर में हमें कहीं भी अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। वे आरम्भ से अन्त तक अपने अज्ञात रहस्यमय प्रियतम की एकाकिनी विरहिणी बनी रही हैं और उसी के साथ अपनी भावनाओं की आँख-मिचौनी खेलती रही हैं। इसी कारण उन्हें 'आधुनिक मीरा' कहा जाता है। उनके काव्य में पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना है। उन पर बुद्ध की करुणा एवं दुखवाद तथा विवेकानन्द और रामतीर्थ के दार्शनिक-विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा है। इसी कारण उनके काव्य में परमतत्त्व, आत्मतत्त्व और प्रकृतितत्त्व की प्रधानता रही है। उनके हृदय की वैराग्य-भावना क्रमशः प्रबल होती चली गई है। 'नीहार' में इन तीनों तत्त्वों को प्राधान्य मिला है। 'रश्मि' में अद्वैतवाद का प्राधान्य है। उस असीम, अज्ञात ने सृष्टि का निर्माण किया और अन्त में वह उसी असीम-अज्ञात में लीन हो गई—"तुम्हीं में सृष्टि, तुम्हीं में नाश।" इसी आधार पर उन्होंने आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता मानी है—"मैं तुमसे हूँ एक, एक है जैसे रश्मि प्रकाश।" इसी कारण अन्त में—"भूल अधूरा खेल, तुम्हीं में होती अन्तर्धान।" 'नीहार' में उनका काव्य अनुभूति-प्रधान हो उठा है। 'सान्ध्य गीत' में उनकी वेदना-मिश्रित साधना गीतों का रूप धारण कर सुखमय बन जाती है। यहाँ आकर सुख-दुख का एकीकरण हो जाता है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से महादेवी की रचनाओं को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है। १–**रहस्यवादी रचनाएँ**—महादेवी की रहस्यवादी रचनाओं की मूल भावना अलौकिक प्रेम की रही है। इस अलौकिक प्रेम-भावना में विरह-जनित पीड़ा और शोक की ही प्रधानता रहती है, यद्यपि कहीं-कहीं क्षणिक संयोग की भी काल्पनिक अनुभूति उभर आती है। महादेवी का प्रियतम अलौकिक, चिर सुन्दर और असीम है। वे निरन्तर उसी के विरह में व्यथित हो अपनी हृदयगत वेदना और दुख के गीत गाती रहीं हैं। उनका यह दुख भौतिक न होकर आध्यात्मिक अथवा आत्मिक ही अधिक रहा है। उनके इसी दुख को 'वेदना भाव' कहा गया है। उनकी यह प्रणय-वेदना माधुर्य मिश्रित है। इसीलए उन्होंने अपनी इस वेदना को 'मधुमय पीड़ा' कहा है। क्योंकि यह पीड़ा मधुमय है, इसलिए वे इसी की अनुभूति में असीम सुख का अनुभव करती रहती हैं। उनके सम्पूर्ण काव्य में इस मधुमयी पीड़ा का अत्यन्त भावना-प्रवण अंकन हुआ है। २—**प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ**—महादेवी ने अपनी इस मधुमयी पीड़ा का प्रकाशन प्रायः ही प्रकृति के माध्यम से किया है। उनका प्रियतम रहस्यमय है इसलिए उनकी प्रकृति भी सर्वत्र रहस्यमयी ही रही है। ३—**गीतिकाव्य**—कुछ आलोचक महादेवी को आधुनिक युग के सुन्दर, सरस, करुणापूर्ण गीतों की अत्यन्त श्रेष्ठ गायिका मानते हैं। इन गीतों में मीरा की सी वेदना, करुणा और मार्मिकता मिलती है।

महादेवी मूलतः प्रणय की एकान्त साधिका रही हैं। उनकी यह प्रणय-भावना आध्यात्मिक है इसलिए लौकिक प्रणय-भावना की वासना, स्थूलता और माँसलता से सर्वथा असम्पृक्त रही है। इसे उनकी विशुद्ध वैयक्तिक अनुभूति मानना चाहिए। बिल्कुल वैसी ही—जैसी कि मीरा की थी। रहस्यात्मकता का प्राधान्य इसी का परिणाम है। कुछ लोगों का यह कहना है कि लौकिक जीवन में प्रणय के अभाव के कारण ही महादेवी अलौकिक प्रियतम के माध्यम से अपनी अतृप्त प्रणय-भावना का प्रकाशन करती रही हैं। अतः इसे कृत्रिम और भौतिक ही मानना चाहिए। परन्तु ऐसा कहना नितान्त असंगत है, क्योंकि महादेवी की इस प्रणय-भावना में हमें एक सुदृढ़ आस्था, सच्चे विश्वास, लम्बी एकान्त साधना और निजी गहन अनुभूतियों का सुदृढ़, ठोस आधार दिखाई पड़ता है। इसलिए उन्हें कृत्रिम नहीं माना जा सकता। महादेवी आरम्भ से अन्त तक अपने अलौकिक प्रियतम की एकान्त प्रणयिनी बनी रही हैं। समय की उथल-पुथल और बदलती परिस्थितियाँ उन्हें प्रभावित करने में असमर्थ रही हैं।

महादेवी का काव्य अनुपम सौन्दर्य से मंडित है। उसके छायावादी सौन्दर्य में वियोग-शृङ्गार के प्राधान्य ने अद्भुत सरसता और प्रभविष्णुता उत्पन्न कर दी है। प्रतीक और अलंकार सुन्दर, स्वाभाविक हैं। छन्दों में गीतों की नई पद्धति एक अद्भुत निखार उत्पन्न कर देती है। भाषा संस्कृत-गर्भित, मधुर, कोमल और नागरिक है। भाव और भाषा में पूर्ण सामंजस्य है। शब्द-चयन सुन्दर और ललित है। कहीं-कहीं ब्रजभाषा के कोमल शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जैसे—नयन, बयार आदि। शैली प्रौढ़ है जिसमें शब्दों के लाक्षणिक प्रयोगों ने अभिनव सौन्दर्य भर दिया है। अमूर्त्त वस्तुओं का मूर्त्तीकरण, भावों और प्राकृतिक रूपों का मानवीकरण किया गया है। इनकी शैली सांकेतिक अधिक होने के कारण उसमें अस्पष्टता आ गयी है जो छायावादी काव्य की एक प्रधान विशेषता रही है। महादेवी सदैव प्रतीकों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों का प्रकाशन करती हैं। इन प्रतीकों मे से कुछ परिचित होते हैं और कुछ अपरिचित। ये अपरिचित प्रतीक ही दुरूहता उत्पन्न कर देते हैं। समष्टि रूप से उनकी शैली प्रौढ़ और भावाभिव्यंजक है।

अन्य छायावादी प्रधान कवियों में रामकुमार वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, भगवतीचरण वर्मा, उदय शंकर भट्ट, अंचल, नरेन्द्र शर्मा, विद्यावती कोकिल, सुमित्राकुमारी सिन्हा, गोपालसिंह नेपाली, आरसीप्रसाद सिंह, हरिकृष्ण प्रेमी, रामधारीसिह 'दिनकर' आदि की गणना की जाती है। इनमें से कुछ विशुद्ध छायावादी रहे हैं, जैसे—रामकुमार वर्मा। अन्य कवियों के काव्य में काव्य-शैली तो छायावादी रही है परन्तु उनकी भाव-भूमि भिन्न है। उनमें अराजकता की भावना का प्राधान्य मिलता है, जैसे—नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी आदि। कुछ कवि शैली की दृष्टि से अपनी आरम्भिक रचनाओं में छायावादी दिखाई देते हैं, परन्तु

आगे चलकर प्रगतिवाद का भी प्रभाव ग्रहण करते हुए अन्त में मानवतावादी बन गए हैं; जैसे—दिनकर, उदयशंकर भट्ट आदि। इन्होंने बदलते युग की भावनाओं को कहीं आंशिक रूप में और कहीं प्रधान से अपनाया है। वैसे छायावाद की समाप्ति 'कामायनी' (सन् १९३७) के साथ ही मान लेनी चाहिए। उसके उपरान्त तो उसका छिटपुट और घिसा-पिटा रूप ही बिखरी कविताओं के रूप में उभरने का प्रयत्न करता रहा है। वैसे तो पन्त आज भी उसी पुरानी छायावादी शैली में कविताएँ लिखते रहते हैं जो निष्प्राण और सौन्दर्यहीन होती हैं।

हालावाद

हम छायावाद का विवेचन करते हुए बता आए हैं कि वैयक्तिकता अर्थात् अपनी व्यक्तिगत लालसाओं, आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति—छायावाद की एक प्रधान विशेषता रही है। छायावाद में असन्तोष और विद्रोह की भावना प्रबल रही थी, जिसने सम्पूर्ण पुरानी रूढ़ मान्यताओं का विरोध कर स्वच्छन्दतावाद को जन्म दिया था। छायावाद के उत्तरार्द्ध में यह वैयक्तिकता प्रधान और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति एक नए रूप में प्रकट हुई थी। इस काल में कुछ ऐसे नए कवि सामने आए जो घोर रूप से अहंवादी—अतः व्यक्तिवादी थे। ये सभी प्रकार की सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं का विरोध कर अपनी अतृप्त आकांक्षाओं की तृप्ति करना ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानते थे। सन् १९३० से लेकर १९३५ तक का समय भयंकर राजनीतिक निराशा, गोलमेज कान्फ्रेन्स की असफलता, क्रान्तिकारियों का दमन, गांधीवाद की अतिशय नैतिकता का युग रहा था। इस स्थिति ने दो प्रकार की विद्रोह-भावना को जन्म दिया था। एक प्रकार की विद्रोह भावना वह थी—जिसमें कुछ नवयुवक सामाजिक नैतिकता-प्रधान मान्यताओं का विरोध कर केवल अपने ही सुख-आनन्द की कामना को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे। वे समाज के बन्धनों को अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्त्ति में बाधक समझते थे, इसलिए उनका विरोध कर मानसिक उन्मत्त विलास के गीत गा उठे। इसी को हिन्दी-साहित्य में 'हालावादी-साहित्य' कहा गया। दूसरे प्रकार की विद्रोह भावना वह थी—जो सभी प्रकार के अत्याचार, शोषण आदि का विरोध कर जन-सामान्य अर्थात् सम्पूर्ण समाज की उन्नति और प्रगति की समर्थक थी। यह 'प्रगतिवादी साहित्यधारा' कहलाई। समान परि-स्थितियों ने इन दो प्रकार की विद्रोही काव्य-धाराओं को जन्म देकर यह सिद्ध कर दिया था कि व्यक्ति का मानस प्रभावों को किस प्रकार भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण करने की सामर्थ्य रखता है।

हिन्दी के इन नवयुवा कवियों को फारसी के प्रसिद्ध कवि उमर खय्याम की रुबाइयों के रूप में अपनी अतृप्त आकांक्षाओं की तृप्ति का एक सरस माध्यम मिल

गया। एक अंग्रेज फिट्ज़राल्ड उमर खय्याम की रुबाइयों का अंग्रेजी अनुवाद कर बहुत प्रसिद्ध हो चुका था। परन्तु उसका यह अनुवाद मूल से बहुत भिन्न और विकृत था। फिट्जराल्ड उमर खय्याम की उच्च आध्यात्मिक भावना और उसके द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों को समझने में असमर्थ रहा था। उसकी अलौकिक भावना उसकी समझ में नहीं आई थी। इसलिए उसके अनुवाद में उमर खय्याम द्वारा प्रयुक्त प्रतीक—सुरा, सुन्दरी, जाम आदि लौकिक और यथार्थ अर्थ लेकर प्रस्तुत हुए थे। हिन्दी में फिट्ज़राल्ड के इसी विकृत अनुवाद के माध्यम से उमर खय्याम की रुबाइयाँ आई थीं। और बच्चन जैसे कवि इसी की मादक धारा में निमग्न हो सुरा और सुन्दरी के गीत गा उठे थे। लौकिक खुमार में डूबी हुई उनकी दृष्टि उमर खय्याम की गहन आध्यात्मिकता और उच्च जीवन-दर्शन को समझने में असमर्थ रही। उन्होंने उमर खय्याम के प्रतीकों को अपना कर मधुशाला (शराबखाना) को अपना आदर्श स्थल मान, वहीं बैठ साकी (सुन्दरी) के हाथों से मधुपान कर अपने जीवन की सम्पूर्ण निराशा, अतृप्ति और अहंजनित कुण्ठाओं की काल्पनिक तृप्ति को ही अपने जीवन का एकमात्र काम्य मान एक ऐसी काव्य-धारा प्रवाहित की जो किशोर-मानस को अभिभूत करने की अद्भुत सामर्थ्य रखती थी। इस काव्य में मस्ती का छिछला और पथभ्रष्ट कर देने वाला खुमार तो रहा परन्तु मानव-कल्याण की भावना और उत्कृष्ट काव्य-सौन्दर्य का अभाव रहा। इन कवियों को नकल करने की भी तमीज नहीं आई। इनका काव्य उमर खय्याम के काव्य की 'पेरोडी' (व्यंग्य काव्य) मात्र बन कर रह गया। हिन्दी में हरिवंशराय 'बच्चन' 'हालावाद' के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। उनके अतिरिक्त पद्मकान्त मालवीय, हृदयनारायण पांडेय 'हृदयेश', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', अंचल, भगवतीचरण वर्मा आदि की कुछ रचनाओं को भी कुछ आलोचक इसी काव्य-धारा के अन्तर्गत मानते हैं। परन्तु प्रधान रूप से 'बच्चन' ही एकमात्र हालावादी कवि रहे हैं और वह भी अपने आरम्भिक कवि-जीवन में ही।

हिन्दी में 'हालावाद' सन १९३३ से लेकर १९३६ तक केवल चार वर्ष का जीवन व्यतीत कर समाप्त हो गया था। हालावाद की उत्पत्ति, विकास और समाप्ति की कहानी 'बच्चन' की तीन पुस्तकों में ही सीमित होकर रह गई। ये तीन पुस्तकें हैं—'मधुशाला', 'मधुबाला', 'मधुकलश'। इनका प्रकाशन एक-एक वर्ष के अन्तराल से हुआ था और ये उस समय तथा बाद में भी बहुत समय तक किशोरों और युवकों में अत्यधिक लोकप्रिय रही थीं। इनमें बच्चन ने यौवन, सौन्दर्य और मस्ती के मादक गीत गाए थे। कवि मदिरा के मादक उन्माद में अपने जीवन की सम्पूर्ण तिक्तता और अभाव को भूल जाना चाहता था। बच्चन ने 'मधुशाला की भूमिका ('सम्बोधन') में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए स्पष्ट लिखा था—

"आह, जीवन की मदिरा जो हमें विवश होकर पीनी पड़ी है, कितनी कड़वी है! कितनी! यह मदिरा उस मदिरा के नशे को उतार देगी, जीवन की दुख-दायिनी

चेतना को विस्मृति के गर्त में गिरायेगी तथा प्रबल दैव, दुर्दम काल, निर्मम कर्म, और निर्दय नियति के क्रूर, कठोर, कुटिल आघातों से रक्षा करेगी। क्षीण, क्षुद्र, क्षण-भंगुर, दुर्बल मानव के पास जग-जीवन की समस्त आधि-व्याधियों की यही एक महौषधि है।····ले, इसे पान कर और मद के उन्माद में अपने को, अपने दुख को, अपने दुखद समय को और समय के कठिन चक्र को भूल जा।"

उपर्युक्त पंक्तियों में सामाजिकता के स्थान पर घोर वैयक्तिकता का स्वर है। हालावादी काव्य के इसी वैयक्तिकता-प्रधान स्वर से क्षुब्ध हो स्वर्गीय पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा था—"इस प्रकार की अनुभूतियाँ हिन्दी के लिए अपरिचित थीं और हिन्दी-काव्य की किसी गृहीत परम्परा में नहीं आती थीं। साथ ही इनका सामाजिक जीवन प्रगति में कोई सुस्पष्ट योग न था। निराशावादी प्रतिक्रिया के रूप में ही इनकी परख हुई थी।"

हालावाद का कवि जगत और समाज से तटस्थ हो अपने अहं के संकीर्ण दायरे में ही डूबा हुआ था। विश्व से उसे कोई मतलब नहीं था। क्योंकि—'विश्व पूरा कर सका है कौन सा अरमान मेरा।" तो फिर—"वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी।" समाज अर्थात् जग ने कवि को महत्त्व नहीं दिया था, उसका सम्मान नहीं किया था। जग उन्हीं का सम्मान करता है, जो जग की बात कहते हैं। परन्तु हालावादी कवि इस उपेक्षा से मर्माहत हो अपने ही व्यक्तिगत सुख-दुख के गीत गाने लगा था—

"मैं स्नेह सुरा का पान किया करता हूँ,
मैं कभी न जग का ध्यान किया करता हूँ,
जग पूछ रहा उनको, जो जग की गाते,
मैं अपने मन का गान किया करता हूँ।"

कवि द्वारा जग की इस उपेक्षा का मूल कारण कवि की उस असह्य अन्तर्वेदना में छिपा हुआ था जो निराशा और सामाजिक उपेक्षा के कारण उसके हृदय में जलती रहती थी। कवि के जीवन में एक भयंकर हाहाकार, एक भयंकर चीत्कार भरा रहता था, जो उसे चैन नहीं लेने देता था। इसके कारण कुछ सामाजिक थे, और कुछ व्यक्तिगत। इसीलिए वह कुछ क्षणों के लिए मधु और मधुशाला का आश्रय ग्रहण कर अपनी उस असह्य वेदना को भुला देना चाहता था—

"मैं कहाँ हूँ और वह आदर्श मधुशाला कहाँ है?
विस्मरण दे जागरण के साथ मधुबाला कहाँ है?
है कहाँ प्याला कि जो दे चिर तृषा, चिर तृप्ति में भी?
जो डुबा तो ले मगर दे पार कर, हाला कहाँ है?"

अपनी इस वेदना को भुलाने के लिए कवि ने असंख्य मधुमय गान गाए परन्तु समाज उसे स्वीकार न कर सका। कवि स्वयं में ही सीमित रहकर अधिक समय तक

नहीं रह सकता। वह समाज का प्राणी है इसलिए समाज से अधिक समय तक कटकर रहना उसके लिए सम्भव नहीं। अन्त में हालावादी कवि ने भी अपनी इस निर्बलता और संकीर्णता का अनुभव किया और उसे जग के सम्मुख अपनी पराजय स्वीकार कर, जग के सम्मुख नतमस्तक हो, उसका जय-जयकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा—

"जय हो, हे संसार तुम्हारी !
जहाँ झुके हम, वहाँ तनो तुम,
जहाँ मिटे हम, वहाँ बनो तुम,
तुम जीते उस ठौर, जहाँ पर हमने बाजी हारी।

× × ×

अनायास निकली यह वाणी,
यह निश्चय होगी कल्याणी,
जग को शुभाशीष देने के हम दुखिया अधिकारी।"

कवि की यह करुण, मार्मिक स्वीकारोक्ति पाठक के हृदय में उसके प्रति दया उत्पन्न कर देती है।

हमने उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा हालावाद की उत्पत्ति, विकास और समाप्ति की संक्षिप्त कथा देखी। उसके थोथेपन और निकम्मेपन का परिचय पाया। कवि की घोर वैयक्तिकता को जग के सम्मुख आत्म-समर्पण करते देखा। यह व्यक्ति पर समाज की विजय थी।

हालावादी काव्य व्यक्तिगत विद्रोह की करुण, असफल परिणति है। इस विद्रोह में एक नपुंसक लक्ष्य का चीत्कार था। बच्चन समाज, धर्म, मर्यादा आदि के विरुद्ध खुला विद्रोह कर अपना एक स्वतंत्र काव्य-पथ निर्मित करना चाहते थे। परन्तु क्या यह पथ समाज के लिए कल्याणकारी भी था ? कवि के पास समाज के लिए कोई स्वस्थ, कल्याणप्रद सन्देश नहीं था। उसकी वैयक्तिक सस्ती, आस्थाहीन भावुकता ने केवल इतना ही किया कि कुछ समय तक हमारे किशोरों और तरुणों को अपनी तीव्र मादकता और छिछली भावुकता द्वारा उद्भ्रान्त सा बनाए रखा। उस समय प्रत्येक किशोर और तरुण के हाथ में यही साहित्य दिखाई पड़ता था। कवि-सम्मेलनों और अन्त्याक्षरी प्रतियोगिताओं में इसी की धूम मची रहती थी।

कुछ आलोचकों ने हालावादी-साहित्य में प्रयुक्त मधुशाला, मधुबाला, हाला, और प्याला को प्रतीक मान—इसे एक स्वतंत्र दर्शन घोषित किया था। परन्तु ऐसा मानना भ्रान्ति की सृष्टि करना है। इसमें किसी 'विकृत-दर्शन' के भी दर्शन नहीं होते। यह तो विशुद्धरूपेण एक सस्ती खुमारी का काव्य है जिसकी कोई भी सामाजिक उपयोगिता नहीं है। यदि इसे दर्शन स्वीकार भी कर लिया जाय तो यह उसी प्रकार

का घोर पलायनवादी दर्शन है जो आज अमरीका और यूरोप में हिप्पियों तथा बीटलों के तथाकथित आध्यात्मिक दर्शन के रूप में पनप रहा है। विद्रोही ये लोग भी हैं, तथा बच्चन भी स्वयं को विद्रोही कहते थे। यह विद्रोह का कैसा नपुंसकता भरा रूप है, इसमें कैसी निम्नकोटि की कायरता और कातरता भरी पुकार है ! यहाँ यह द्रष्टव्य है कि हालावादी-काव्यधारा का हिन्दी-साहित्य में आगे विकास न हो सका। स्वयं बच्चन तीन-चार वर्ष ही अपने मादक गीत गाकर इस धारा को त्याग जन-जीवन के साथ जा मिले थे। यह तथ्य इस काव्य-धारा की व्यर्थता और घोर असामाजिकता का ज्वलन्त उदाहरण है। साहित्य में ऐसी सस्ती भावुकता पर आधारित काव्यधाराएँ कभी-कभी उभरती दिखाई देती हैं परन्तु पानी के बुलबुले के समान अपना क्षणिक जीवन व्यतीत कर समाप्त हो जाती हैं।

परन्तु अपने घोर असामाजिक दृष्टिकोण के बावजूद भी हालावादी-काव्य की एक महत्त्वपूर्ण देन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वह देन—है एक सहज, सरल, सरस काव्य-भाषा की। बच्चन ने छायावादी-काव्य की प्रतीक-प्रधान, लाक्षणिक, सांकेतिक क्लिष्ट शैली को न अपना कर अपनी वेदना-मिश्रित मस्ती के गीत एक ऐसी भाषा और शैली में गाए थे जो सरल और सुबोध होने के साथ-साथ अत्यन्त सरस भी थी। इस नई शैली ने हिन्दी-कविता को लोकप्रिय बनाने में ऐतिहासिक योग प्रदान किया था। भावी प्रगतिवादी काव्य भी शैली की इसी सहजता और सरलता को अपना कर आगे बढ़ा था। बच्चन अपनी अनुभूति की तरलता और अभिव्यक्ति की सहजता द्वारा पाठकों को अनायास ही अभिभूत कर लेते थे।

बच्चन का परवर्ती काव्य

हालावादी काव्य, बच्चन के तीन काव्य-संग्रहों—मधुशाला, मधुबाला, और मधुकलश तक ही सीमित होकर रह गया था। इसके उपरान्त भी बच्चन बहुत समय तक अपने 'निशा निमंत्रण', 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर', 'मिलन यामिनी', 'प्रणय-पत्रिका' आदि काव्य-संग्रहों के गीतों और कविताओं में यौवन और प्रेम के गीत गाते रहे थे परन्तु इनमें उद्दाम लालसा के स्थान पर विषाद का स्वर अधिक उभरने लगा था। परन्तु 'बंगाल का अकाल', 'सूत की माला', 'खादी के फूल', 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' आदि में उनका अहंवादी निरंकुश व्यक्तित्व अपनी वैयक्तिक परिधि को त्याग सामाजिकता के साथ समझौता करता दिखाई देता है। यह बच्चन का परिवर्तित रूप है। लेकिन यह सत्य है कि बच्चन का यह परवर्ती समाजपरक काव्य अपनी पूर्व मादक कला को खो, नीरस और गद्यमय सा बन गया है। बच्चन यद्यपि आज भी निरन्तर काव्य-सृजन करते रहते हैं परन्तु हिन्दी-साहित्य में बच्चन केवल अपने हालावादी-साहित्य के लिए ही स्मरण किए जाते रहेंगे, भले ही इस काव्य का दृष्टिकोण कितना ही असामाजिक क्यों न रहा हो। बच्चन का परवर्ती काव्य केवल नामोल्लेख तक ही सीमित रह जायेगा।

हालावादी-काव्यधारा में बच्चन के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की भी कई रचनाओं को सम्मिलित किया जा सकता है। वर्मा जी की गणना यद्यपि छायावादी कवियों में की जाती है परन्तु उनकी अनेक कविताओं में प्रेम, सौन्दर्य, यौवन आदि की उन्मुक्त मांसल अभिव्यक्ति मिलती है। उनके 'मधुकण', 'प्रेम-संगीत', 'मानव', 'रंगों से मोह' आदि काव्य-संग्रहों में जीवन और जगत के साथ मस्तीभरी वैयक्तिक भावनाओं का भी अंकन हुआ है। वर्माजी हिन्दी में अहंवादी, वैयक्तिकता-प्रधान साहित्य के रचयिता के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। न्यूनाधिक रूप में यही विशेषताएँ हालावादी काव्य की भी रही हैं। उन्होंने 'प्रेम संगीत' में हालावादी-मस्ती भरे गीत गाए हैं—

'यौवन की इस मधुशाला में है प्यासों का ही स्थान प्रिये !
फिर किसका भय, उन्मत्त बनो, है प्यास यहाँ वरदान प्रिये !"

परन्तु वर्मा जी 'मानव' और 'रंगों से मोह' काव्य-संग्रहों में इस मस्ती भरे वातावरण को त्याग यथार्थ की कटु-कठोर भूमि पर उतर आए हैं। 'भैंसा गाड़ी', 'ट्राम', 'राजा साहब का वायुयान' आदि कविताओं में यथार्थ-जीवन के कटु-तिक्त रूपों के विभिन्न चित्र अंकित हुए हैं।

अंचल हिन्दी में 'मांसलवाद' के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। 'मधूलिका', 'अपराजिता', 'किरण वेला', 'करील', 'लाल चूनर', 'वर्षान्त के बादल', 'विराम-चिन्ह' आदि इनके विभिन्न काव्य-संग्रह हैं। अंचल मूलतः प्रेम, यौवन और सौन्दर्य के कवि रहे हैं। उनकी अनेक कविताओं में उद्दाम काम-भावना की उन्मुक्त अभिव्यक्ति मिलती है। वह सौन्दर्य को आराधना की वस्तु न मान, भोग की वस्तु मानते हैं। जैसे—

"आज सोहाग हरूँ मैं किसका, लूटूँ किसका यौवन ?
किस परदेसी को बन्दी कर, सफल करूँ यह वेदन ?"

अंचल के इस मांसलवाद का आलोचकों ने काफी विरोध किया था। परन्तु अंचल के काव्य का एक पक्ष ऐसा भी है जिसमें जनता के दुख-दर्द और उनकी अनेक समस्याओं का मार्मिक अंकन किया गया है। जैसे—

"देवत्व वधा जाता जग में, होती पापों की मनचीती।
जो ताप धरा के धोते हैं, दुनिया उनका लोहू पीती।"

ऐसी ही कविताओं के कारण अंचल की गणना प्रगतिवादी कवियों में की जाने लगी थी। अंचल आज भी निरन्तर काव्य-सृजन कर रहे हैं। काव्य के अतिरिक्त उन्होंने अनेक सुन्दर, प्रभावशाली उपन्यास भी लिखे हैं जिनमें उनका प्रगतिवादी स्वर ही अधिक मुखरित हुआ है।

अराजकता भरे आक्रोश के कवि

सन् १९३० के आसपास हिन्दी में ऐसी कविताओं का भी सृजन हुआ था

जिनमें देश-दशा और सामाजिक विषमता के प्रति एक उग्र, विध्वंसकारी, आक्रोश भरा स्वर उभरा था। सन् १९२९-३० की भयङ्कर विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी, क्रान्तिकारियों का भयंकर दमन, राजनीतिक निराशा आदि ने कुछ कवियों में एक भयंकर आक्रोश की भावना उत्पन्न कर दी थी। ये कवि सब कुछ का विध्वंस कर एक नए विश्व का निर्माण करने के अभिलाषी थे। परन्तु यह नहीं जानते थे कि वह नया निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है। इनमें अत्याचार और शोषण के विरुद्ध क्रान्ति की भावना थी। परन्तु सम्मुख कोई स्पष्ट 'विज़न' न होने के कारण केवल विध्वंसकारी क्रान्ति का आह्वान कर रहे थे। इनकी यह स्थिति बड़ी दुविधा जनक थी। एक ओर तो गांधीवादी नैतिकता इन्हें आकर्षित करती और दबाती थी, दूसरी ओर अत्याचार के प्रति इनके मन में उत्पन्न आक्रोश और हिंसा की भावना इन्हें उग्र बना इनकी लेखनी से विध्वंसकारी गीतों और कविताओं का सृजन कराती थी। इन कवियों में सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी (एक भारतीय आत्मा), बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', दिनकर आदि प्रमुख हैं। इनमें से अनेक राजनीतिक क्षेत्र में भी सक्रिय थे। यद्यपि जीवन या राजनीति के प्रति इन लोगों का कोई स्पष्ट वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इनके काव्य ने जन-चेतना को विद्रोह के मार्ग पर अग्रसर करने में ऐतिहासिक योग प्रदान किया था। आगे चलकर प्रगतिवाद ने छायावादी, हालावादी और इन अराजकतावादी कवियों की इस विद्रोही भावना को एक सुनिश्चित, वैज्ञानिक चिन्तन पर आधारित दिशा प्रदान कर हिन्दी-साहित्य को सच्चे अर्थ में जनता का साहित्य बना दिया था।

प्रगतिवाद

सन् १९३५-३६ तक भारतीय क्षितिज से राजनीतिक निराशा का अन्धकार छँटना आरम्भ हो गया। गांधीवादी-समझौतों का युग समाप्त हो चुका था। कांग्रेस का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। कांग्रेस में भी दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का संघर्ष आरम्भ हो गया था। कांग्रेस का एक वर्ग, जिसका प्रतिनिधित्व सुभाष चन्द्र बोस आदि करते थे, कांग्रेस के पुराने नेतृत्व गांधी, पटेल आदि की समझौतावादी, नैतिकतापरक, राजनीति का विरोध कर समाजवादी विचारधारा का प्रबल समर्थन कर रहा था। जवाहरलाल नेहरू इन दोनों वर्गों के बीच मिलन-सेतु का सा भाग अदा कर रहे थे। कांग्रेस की युवा-पीढ़ी जनान्दोलन को व्यापक रूप प्रदान कर आजादी की लड़ाई लड़ने की हामी थी। उसे कांग्रेस पर देशी पूँजीपतियों का बढ़ता हुआ प्रभाव स्वीकार नहीं था। विचारधाराओं की इस टकराहट के परिणामस्वरूप देश में एक नई समाजवादी जन-चेतना का उदय और प्रसार हो रहा था। कांग्रेस का युवक-वर्ग गांधीवादी अहिंसा का विरोध कर सशस्त्र संघर्ष द्वारा देश को आजाद कराने का नारा लगाने लगा था। परन्तु कांग्रेस का नेतृत्व अभी तक गांधी जी और उनके समर्थकों के ही हाथ में था। इस दल ने नए युवक-वर्ग का विरोध किया,

फलस्वरूप सुभाष बाबू को कांग्रेस से त्याग-पत्र दे, अलग हो जाना पड़ा। विचारधाराओं के इसी संघर्ष ने आगे चलकर विदेश में 'आजाद हिन्द फौज' को जन्म दिया था और देश में सन् १९४२ का उग्र जनान्दोलन खड़ा कर दिया था। सन् १९४६ का नाविक-विद्रोह, तथा आजाद हिन्द फौज का इतिहास-प्रसिद्ध मुकदमा इसी के परिणाम थे। अतः कहना चाहिए कि सन् १९३५-४० से देश में गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव क्षीण और समाजवादी विचारधारा का प्रभाव प्रबल होना आरम्भ हो गया था। और देश को इस नवीन उग्र, समाजवादी विचारधारा के तथा कुछ अन्तरराष्ट्रीय विषम परिस्थितियों के कारण ही सन् १९४७ में आजादी मिली थी। परन्तु आजादी के मिलने के समय तक कांग्रेस का नेतृत्व गांधीवादी नेताओं के ही हाथ में रहा था। और इसे भाग्य की विडम्बना ही माना जायेगा कि इन गांधीवादी नेताओं ने गांधी जी की समझौतावादी नीति का अनुसरण करते हुए देश के विभाजन को स्वीकार कर लिया था, यद्यपि गांधी जी इस विभाजन के कट्टर विरोधी थे। परन्तु उस समय तक देश की राजनीति में गांधी-युग पूर्णतः समाप्त हो चुका था और देश के नए कर्णधार अंग्रेजों की पुरानी साम्राज्यवादी नीति और पद्धति के देशी संस्करण बन स्वतन्त्र भारत में उसी पुरानी, विदेशी शासन-प्रणाली, अर्थ-नीति, शिक्षा-नीति आदि को यथावत् कायम रखने में प्राणपण से जुटे हुए थे, और गांधी जी ने इस स्थिति से निराश और हताश हो अपनी सन्ध्याकालीन प्रार्थनाओं में उपदेश देना आरम्भ कर दिया था।

भारत के नए कर्णधारों ने सत्ता प्राप्त करते ही कांग्रेस के समाजवादी वर्ग पर प्रहार और दमन करना आरम्भ कर दिया, जिसके कारण आजादी के एक वर्ष उपरान्त ही अर्थात् सन् १९४८ में समाजवादी कांग्रेसी, कांग्रेस से अलग हो गए और उन्होंने अपना पृथक् 'समाजवादी दल' बना लिया।

हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद का जन्म और विकास सन् १९३५ से लेकर सन् १९४७ के मध्य की इन्हीं परिस्थितियों में हुआ था। प्रगतिवाद के इस जन्म और विकास में अनेक विदेशी जनान्दोलनों और विचारधाराओं का भी पर्याप्त योग रहा था। यूरोप में साम्राज्यवादी-पूँजीवादी और समाजवादी विचारधाराओं का संघर्ष चल रहा था। स्पेन का गृहयुद्ध, फ्रांस, जर्मनी और इटली में हुए समाजवादी आन्दोलन और उनका दमन इसका प्रमाण है। भारत में भी ये दोनों विचारधारायें अपना प्रभाव डाल रही थीं। इसलिए साहित्य पर इनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। हम पीछे बता आए हैं कि भारत में समाजवादी विचारधारा का राजनीतिक क्षेत्र में प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था। और हिन्दी के अनेक उदीयमान विचारकों, लेखकों, कवियों आदि ने साहित्य के माध्यम से इस विचारधारा का अंकन करना आरम्भ कर दिया था। निराला आदि अनेक पुराने कवियों के काव्य में यह जनवादी स्वर बहुत पहले से उभरना प्रारम्भ हो गया था। गद्य में प्रेमचन्द जैसे कथाकार इस

स्वर को सन् १९२० के आसपास (प्रेमाश्रम) से ही उभारते चले आ रहे थे। परन्तु सन् १९३५ तक इस स्वर का कोई एक स्पष्ट, सामूहिक जनवादी रूप नहीं बन पाया था। साहित्यकारों की भावनाएँ जनवादी तो थीं परन्तु वे यह नहीं जानते थे कि अत्याचारों से पीड़ित जनता को इस अत्याचार से कैसे मुक्ति दिला एक ऐसे समाज की स्थापना करें जिसमें शोषण और अत्याचार का नामनिशान तक न रहे।

प्रगतिवाद ने एक सशक्त, वैज्ञानिक, सुस्पष्ट, व्यावहारिक विचारधारा के रूप में सामने आकर जनवादी कलाकारों की इस दुविधा को दूर कर उन्हें एक निश्चित पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान की। छायावाद अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण के कारण 'व्यष्टिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा' में अनुत्तीर्ण रहा था। पन्त के अनुसार—'छायावाद के शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्य के निर्जन अदृश्य शिखर पर विराम करने वाली कल्पना' को जन-जीवन का यथार्थ चित्र अंकित करने के लिए 'एक हरी-भरी ठोस जनपूर्ण धरती' की आवश्यकता थी। क्योंकि यह नए युग की नई माँग थी। प्रगतिवाद ने इस माँग को पूरा करने का बीड़ा उठाया। वह छायावाद के वैयक्तिक दृष्टिकोण का विरोध कर समष्टि को अपने साथ समेट कर आगे बढ़ा और उसने साहित्य को पूर्णतः जन-जीवन के साथ ला मिलाया। जिस समय छायावाद अपने व्यष्टि की साधना में तन्मय, जगत के यथार्थ की ओर से आँखें बन्द कर, आत्मविभोर स्थिति में आगे बढ़ा जा रहा था, उसी समय प्रगतिवाद जगत की नग्न वास्तविकता—'रोटी का राग' और 'क्रान्ति की आग' लेकर सामने आया और उसने साहित्यकार को झकझोर कर एक नवीन समस्या, एक नवीन चेतना का आलोक दिखाया। उसने छायावादी अति सूक्ष्म काल्पनिक भावनाओं का विरोध कर उसे स्थूल जगत की कठोर वास्तविकता के सामने ला खड़ा किया।

प्रगतिवाद के इस उग्र जनवादी रूप को देख साहित्य के रूढ़िवादी और आदर्शवादी कर्णधार उसी प्रकार त्रस्त हो उठे थे—जैसे वे छायावाद के नए रूप को देखकर चौंके थे। यह विचारधारा बुद्धिजीवियों, नवयुवा साहित्यकारों और समाजवादी विचारों के समर्थकों—सभी को प्रभावित कर रही थी। इस विचारधारा के मूल में समष्टि रूप से दो प्रभाव कार्य कर रहे थे। **पहला प्रभाव** उस विचारधारा का था जो सब प्रकार के शोषण और अत्याचार का विरोध कर एक समाजवादी समाज की स्थापना का स्वप्न देख रही थी परन्तु उस स्वप्न को साकार रूप देने के लिए जिसके पास कोई एक निश्चित वैज्ञानिक चिन्तन और कार्य-पद्धति नहीं थी। कालान्तर में भूदान, सर्वोदय आदि के आन्दोलन इसी विचारधारा के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न हुए थे। जन-समाज के सामूहिक उत्थान में ये आन्दोलन कितने एकांगी और अव्यावहारिक प्रमाणित हुए हैं, इतिहास इसका साक्षी है। **दूसरा प्रभाव** उस विचारधारा का था जो साम्यवादी थी। इसके पास समाज की सम्पूर्ण समस्याओं को

हल करने के लिए एक सुनियोजित और वैज्ञानिक कार्य-पद्धति थी। वस्तुतः प्रगतिवादी साहित्य इसी विचारधारा की उपज था।

कुछ आलोचकों ने इस साम्यवादी विचारधारा को विदेशी मान उसका उग्र विरोध किया था। उनके मतानुसार यह विचारधारा भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। दूसरे, इसमें नास्तिकता और हिंसा का स्वर अत्यधिक प्रबल था। इसलिए धर्माश्रित गांधीवादी अहिंसा के साथ इसका मेल नहीं बैठता था। अतः पुराने रूढ़िपंथी साहित्यकार, जो प्रधानतः गांधीवादी थे, इसका विरोध कर रहे थे। परन्तु हम पीछे बता आए हैं कि उस समय तक भारतीय राजनीति में गांधी जी का प्रभाव कम होना आरम्भ हो गया था। उनकी समझौतावादी अहिंसात्मक राजनीति असफल सिद्ध हो चुकी थी। इसीलिए देश के नए खून ने इस साम्यवादी विचारधारा का मुक्त हृदय से स्वागत करना आरम्भ कर दिया। यह विचारधारा एक नया और युगानुरूप उत्साह लेकर सामने आई थी। इसने भारतीयों में वर्षों से व्याप्त असन्तोष और विद्रोह की भावना को और अधिक उभार कर उनके सम्मुख एक निश्चित कार्य-पद्धति प्रस्तुत की थी।

मार्क्सवाद

प्रगतिवाद के इस विवेचन को आगे बढ़ाने से पूर्व हमें पहले उसकी संक्षिप्त रूपरेखा और सिद्धान्त को समझ लेना चाहिए। प्रगतिवाद का मूलाधार मार्क्सवाद माना जाता है। मार्क्सवाद 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहलाता है। मार्क्स के अनुसार सृष्टि में दो तत्त्व प्रधान हैं—'स्वीकारात्मक' और 'नकारात्मक'। इन्हीं दोनों तत्त्वों के संघर्ष का नाम ही जीवन है। इस संघर्ष से चेतना उत्पन्न होती है। इस चेतना का आधार 'भूत' (Matter) है। चेतना द्वन्द्व का परिणाम है। इस कारण इसे 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहा जाता है। इस वाद के अनुसार सृष्टि अपने जन्मकाल से निरन्तर विकासमान है। इस विकास के मूल में प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का पारस्परिक संघष कार्य कर रहा है। इस संघर्ष में प्रगतिवादी तत्त्वों की क्रमशः विजय के साथ-साथ विश्व निरन्तर विकसित होता जाता है। आज विश्व के विकास में सबसे बड़ी बाधा पूँजीवाद है। इसी पूँजीवाद ने पाश्चात्य साम्राज्यवाद को जन्म दिया था। यह पूँजीवाद साम्राज्यवाद की सहायता से या एकाकी ही संसार के अधिकांश जनों का शोषण कर रहा है। इसलिए प्रगतिवाद का मूल उद्देश्य—इस पूँजीवाद का नाश कर संसार में आर्थिक समानता और वर्गहीन समाज की स्थापना करना है जिसमें न कोई गरीब और न कोई अमीर, न कोई शोषक और न कोई शोषित रहेगा। इसी लक्ष्य या सिद्धान्त को साधारण भाषा में 'साम्यवाद' कहा जाता है। हिन्दी-साहित्य में यही विचारधारा 'प्रगतिवाद' कहलाती है। यह साम्यवादी विचारधारा विश्व-व्यापी है। कार्ल मार्क्स ने इसे एक सुनिश्चित दर्शन का रूप दिया था। कालान्तर में रूस

V.V. Imp.

ने सन् १६१७ में इसी को क्रियात्मक रूप प्रदान करने के लिए हिंसात्मक क्रान्ति कर रूस में साम्यवादी शासन की स्थापना की थी। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् पूर्वी यूरोप के अनेक देशों तथा चीन, उत्तरी वियतनाम, क्यूबा आदि में भी साम्यवादी शासन की स्थापना हो चुकी है। आज विश्व प्रधान रूप से दो दलों में विभाजित है। एक दल अमरीका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी आदि पूँजीवादी देशों का है। दूसरा दल रूस, चीन आदि साम्यवादी देशों का है। इन दोनों दलों में निरन्तर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष संघर्ष होता रहता है।

हिन्दी-साहित्य में प्रधान रूप से इसी साम्यवादी विचारधारा ने 'प्रगतिवाद' को जन्म दिया था।

फ्रॉयडवाद

हिन्दी-प्रगतिवाद के आरम्भिक रूप पर फ्रायड के यौनवाद का भी प्रभाव रहा था। फ्रायड के अनुसार मानव के प्रत्येक कार्य के मूल में उसकी यौन-भावना प्रमुख होती है। साहित्य, कला आदि की उत्पत्ति का मूल कारण यौन-भावना की अभिव्यक्ति की अदम्य आकांक्षा रही है। साम्यवाद यौन-सम्बन्धों में किसी भी प्रकार के अनुचित, विकृत और अस्वाभाविक वन्धनों का विरोध करता है। वह स्वस्थ, स्वाभाविक यौन-सम्बन्ध का समर्थक है। इसलिए प्राचीन सामाजिक, रूढ़िग्रस्त यौन-सम्बन्धों अर्थात् विवाह आदि के विरोध में एक विद्रोह की भावना उत्पन्न हुई थी। इसका परिणाम यह निकला कि समाज में स्वच्छन्द यौनाचार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। साहित्य में भी यौनाचार के खुले, अश्लील और उत्तेजक वर्णनों को स्थान मिलने लगा। रूस में लेनिन ने इसका विरोध कर इस पर अंकुश लगा दिया। हिन्दी में प्रगतिवाद के आरम्भ में ऐसे चित्रण काफी परिमाण में हुए। अंचल आदि का 'मांसलवाद' इसी का परिणाम था। परन्तु समझदार चिन्तकों ने इस प्रवृत्ति को समाज के लिए घातक समझ, इसका उग्र विरोध किया और धीरे-धीरे इस प्रवृत्ति का शमन होता चला गया।

प्रगतिवाद का मूल सिद्धान्त

प्रगतिवाद का मूल सिद्धान्त अर्थ के असमान विभाजन को समाप्त कर सभी प्रकार के शोषण का उन्मूलन करते हुए एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को परिश्रम करने और उस परिश्रम द्वारा अपने लिए जीवन की सम्पूर्ण सामान्य सुख-सुविधाओं को जुटाने की स्वतन्त्रता और अवकाश प्राप्त हो; जिसमें एक व्यक्ति किसी भी कारण दूसरे व्यक्ति के श्रम का शोषण न कर सके। इसलिए प्रगतिवाद ने उन सम्पूर्ण सामाजिक परम्पराओं, राजनीतिक ढाँचों, धार्मिक विश्वासों और विचारधाराओं तथा कला-रूपों का विरोध किया था जो किसी भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में परिश्रमशील व्यक्ति के शोषण की समर्थक थीं, या उस शोषण में सहायता प्रदान करती थीं।

साम्राज्यवाद, सामन्तशाही और जमींदारी-प्रथा जन-सामान्य के अबाध शोषण पर आधारित थे। राजा-महाराजा और जमींदार जनता पर नाना प्रकार के उचित-अनुचित कर लगा कर उसका शोषण करते थे और स्वयं विलास का जीवन बिताते थे। इसलिए प्रगतिवाद इन सब का विरोधी था और है। धर्म के ठेकेदार—महन्त, पंडे-पुजारी ईश्वर के नाम पर जनता में भाग्यवाद, कर्मवाद आदि का प्रचार कर, स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित करते हुए जनता से धन वसूल करते थे और पुरानी रूढ़िवादी समाज-व्यवस्था को यथावत् कायम रखना चाहते थे। ये लोग प्रत्यक्ष रूप से राजा-महाराजाओं, जमींदारों तथा सरकार के प्रति स्वामिभक्ति की भावना का प्रचार कर इनके संरक्षक और समर्थक बने हुए थे। ये लोग पुराण-शास्त्रों की अपनी स्वार्थ-पूर्त्ति के निमित्त मनमानी व्याख्या कर धर्म के नाम पर जनता की विद्रोह-भावना का शमन करते रहते थे। इसलिए प्रगतिवाद धर्म, ईश्वर, परलोकवाद, भाग्यवाद आदि का विरोध कर समाज को इनकी धूर्तता का परिचय देता हुआ जनता को सावधान करता रहता था। इसी कारण अनेक लोगों ने साम्यवाद अर्थात् प्रगतिवादी साहित्यकारों को धर्म-विरोधी, नास्तिक, अराजकतावादी घोषित करते हुए उन्हें तथाकथित धर्म-प्राण भारत की भूमि और जलवायु के सर्वथा अयोग्य करार दे दिया था। भारत की धर्म-प्राणता का दम्भ करने वाले ये आलोचक यह नहीं जानते कि साम्यवाद के आगमन के समय तक साम्यवाद का जनक रूस भारत से भी अधिक धर्म-प्राण, रूढ़िवादी और पिछड़ा हुआ देश था।

प्रगतिवाद किसान-मजदूरों की एकता और संगठन का प्रबल समर्थक और पूँजीपति, मिल-मालिकों, साहूकारों आदि का उग्र विरोधी था। पूँजीपति और साहूकार अपनी थोड़ी सी पूँजी लगाकर मजदूरों और किसानों के श्रम का अधिकांश भाग हड़प लेते थे और परिश्रम करने वाले मजदूर और किसान जीवन भर दरिद्रता और अभावों के शिकंजों में जकड़े हुए दीन-दुखी जीवन बिताते रहते थे। सरकार पूँजीपतियों की समर्थक और सहायक थी। कांग्रेस के स्वदेशी-आन्दोलन ने भारतीय पूँजीपतियों की समृद्धि और विकास में ऐतिहासिक योग प्रदान किया था। इसीलिए प्रगतिवाद ने इनके विरोध में आवाज उठाई थी। उसका मूल लक्ष्य समस्त शोषित जनता का संगठन कर विभिन्न हथकण्डों द्वारा होने वाले जनता के इस अबाध शोषण का अन्त कर देना था। प्रगतिवाद के इस जनवादी रूप से समाज का धनी-सम्पन्न शोषक वर्ग आतंकित हो उठा था। इसलिए यह वर्ग प्रगतिवाद का विरोध कर अपनी अस्तित्त्व-रक्षा के प्रति चौकन्ना बन गया था। उस समय प्रगतिवाद दो रूपों में उभर रहा था—राजनीतिक और साहित्यिक। राजनीतिक क्षेत्र में भारतीय साम्यवादी दल क्रियाशील था। विदेशी साम्राज्यवादी शासक और देशी पूँजीपतियों के समर्थक भारतीय राजनीतिज्ञ राजनीतिक क्षेत्र में उसका विरोध कर रहे थे। साहित्यिक क्षेत्र में पूँजीपति अपने धन के बल पर साहित्य और उसके प्रकाशन पर हावी हो उसका विरोध कर रहे थे। इनके द्वारा संचालित पत्र-पत्रिकाएँ निरन्तर प्रगतिवाद का

विकृत रूप प्रस्तुत कर जनता में उसके प्रति भ्रान्त धारणाओं का प्रचार कर रहे थे। परन्तु पूँजी और शासन की यह सम्मिलित शक्ति भी प्रगतिवाद का समर्थ और सफल विरोध करने में असमर्थ रही थी और प्रगतिवाद तीव्र गति से जन-सामान्य में लोकप्रिय होता चला जा रहा था। उसने समस्त साहित्यिक गति-विधियों को गहरे रूप से प्रभावित किया।

प्रगतिवाद के मूल तत्त्व

प्रगतिवाद के मूल तत्त्व संक्षेप में इस प्रकार निर्धारित किए जा सकते हैं :—

१—यह जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

२—इसके लिए वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विश्लेषण कर, धन को ही सम्पूर्ण विषमताओं का मूल कारण मान, समाज में उसके समान विभाजन पर बल देता है।

३—इसका दृष्टिकोण पूर्णतः भौतिकवादी है, इसलिए यह किसी भी अलौकिक या अदृश्य शक्ति ईश्वर, नियतिवाद, परलोकवाद, कर्मवाद, आत्मा की अनश्वरता आदि को मान्यता नहीं देता क्योंकि ये उच्चवर्ग द्वारा निम्नवर्ग के शोषण के एक प्रधान साधन रहे हैं।

४—इसका उद्देश्य पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, सामन्तवाद आदि सभी प्रतिक्रियावादी तत्त्वों से सम्बद्ध सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक रूढ़ियों का विरोध कर ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमें सबको उन्नति करने और जीवन की सामान्य सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने और भोगने का समान अवसर और अधिकार प्राप्त हो।

५—यह कला को अभिव्यक्ति का साधन मात्र मान, उसका सहज बोधगम्य रूप अपनाने पर बल देता है जिससे सर्व-साधारण उसे समझ सकें। अर्थात् यह कला को कला के लिए न मान, उसे जीवन के लिए मानता है।

६—यह साहित्य में व्यक्ति के ऊपर समाज की सत्ता का अंकुश चाहता है।

यह प्रगतिवाद की मोटी रूपरेखा मानी जा सकती है।

कला के प्रति नवीन दृष्टिकोण

कला के प्रति प्रगतिवाद का दृष्टिकोण पूर्णतः समाजवादी है। अर्थात् कला ऐसी हो जो सबकी समझ में आ सके और सबको प्रेरणा प्रदान कर सके। इसके लिए वह कला का सहज बोधगम्य रूप अपनाने पर बल देता है। प्रगतिवादी चित्रण में भौतिक जीवन का चित्रण प्रधान रहता है। इसके लिए वह समाज का शुभाशुभ यथार्थ चित्र अंकित करता है। और इस चित्रण के लिए वह सरल भाषा और शैली अपनाता है। कला का दुरूह, जटिल, अत्यधिक प्रयत्न-साध्य कलात्मक रूप सुन्दर होते हुए भी सहज बोधगम्य नहीं रहता। स्पष्ट, यथार्थ विचारों की अभिव्यक्ति सबकी समझ में

आ सके और अनुप्राणित कर सके, इसके लिए सर्व-साधारण की भाषा और शैली ही व्यावहारिक अतः उपयोगी हो सकती है। प्रगतिवाद इसके लिए कला-विलास, रूपरंग और रोमान्स का मोह त्याग खरी, खड़ी और तीखी शैली अपना कर साधारण-असाधारण, स्वस्थ-अस्वस्थ जन-जीवन का चित्रण करता है। इसके लिए वह तितली के समान मोहक-रंगीन और कोमल शैली को उपयुक्त नहीं समझता। इसलिए भाषा, शब्द, अलंकार, प्रतीक, छन्द आदि सरल, यथार्थ का उद्घाटन करने वाले और प्रभावशाली होने चाहिए।

कला और भाषा-शैली के इस रूप में यद्यपि बाहरी चमक-दमक और आकर्षण नहीं होता परन्तु उसमें प्रभाव डालने की अद्भुत शक्ति होती है। इसीलिए प्रगतिवादी साहित्यकारों ने छायावादी रूप-सज्जा की अवहेलना कर यथार्थवादी शैली को अपनाया था। प्रगतिवाद को अपने आरम्भिक काल में प्राचीन आदर्शवादी काव्यरूपों, रूढ़ियों, छायावादी रूप-सज्जा आदि के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ा था, इसलिए उसके उस आरम्भिक रूप में कला धूमिल पड़ गई थी। परन्तु युद्ध के समय हम हथियारों की चमक-दमक की चिन्ता न कर उनके प्रभाव की ही अधिक चिन्ता करते हैं। IMP.

पूँजीवाद का विरोध और वर्ग-संघर्ष की भावना

प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान और कांग्रेस आन्दोलन के समय देश में भारतीय पूँजीवाद की स्थापना हो चुकी थी। कांग्रेज विदेशी पूँजीवाद के मुकाबले में देशी उद्योग-धन्धों की समर्थक थी। इसलिए आरम्भ में साहित्य में इस देशी पूँजीवाद का विरोध नहीं हुआ। शोषण के छुटपुट चित्र की अंकित होते रहे। परन्तु प्रेमचन्द जैसे जागरूक, युगद्रष्टा कलाकार इस देशी पूँजीवाद के शोषण और भयंकर रूप को समझ चुके थे। इसलिए उन्होंने अपने उपन्यासों—प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, गवन, गोदान आदि में जमींदारों और किसानों के संघर्ष के साथ देशी पूँजीपतियों द्वारा किए जाने वाले किसान-मजदूरों के अबाध शोषण का चित्रण करना आरम्भ कर दिया था। इनके उपन्यासों में वर्ग-संघर्ष अर्थात् शोषक और शोषित के संघर्ष का रूप स्पष्टतः उभरने लगा था। उधर निराला जैसे सशक्त कवि काव्य में इस संघर्ष को उभारने लगे थे। इसे प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि माना जा सकता है। साहित्य में सभी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक अत्याचारों और शोषण का चित्रण होना आरम्भ हो गया था परन्तु ये साहित्यकार यह नहीं जानते थे कि इस अत्याचार और शोषण का सुनियोजित, संगठित विरोध कैसे किया जाये। प्रेमचन्द ने अपने विभिन्न उपन्यासों में इस शोषण से मुक्ति पाने के विभिन्न गाँधीवादी फार्मूलों का प्रयोग किया था, और साथ ही यह भी दिखा दिया था कि ये फार्मूले समस्या का प्रभावकारी निदान करने में असमर्थ हैं। 'गोदान' में प्रेमचन्द यथार्थ स्थिति का चित्रण कर समस्या के निदान को खोजने का उत्तरदायित्व, अप्रत्यक्ष रूप से, अपने पाठकों पर छोड़ गए थे।

प्रगतिवाद में प्रेमचन्द जैसे साहित्यकार की इस दुविधा का निदान निहित था। उसने खरे और उग्र स्वर में सम्पूर्ण विषमताओं का कारण—धन के असमान विभाजन को घोषित कर यह रास्ता सुझाया था कि किसान-मजदूरों को संगठित कर ही इस शोषण से मुक्ति पाई जा सकती है। इसके लिए जन-जीवन की दीन-हीन स्थिति का चित्रण कर, शक्तिशाली शोषक-वर्ग के अत्याचारों का पर्दाफाश कर जनता में शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति तथा सहयोग की तथा शोषक-वर्ग के प्रति विरोध और विद्रोह की भावना उत्पन्न करना आवश्यक है। इसी कारण प्रगतिवाद वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा देता है। जब इस प्रकार के चित्रण द्वारा जन-चेतना जाग्रत हो जायेगी तब समाज के शोषित, त्रस्त, दलित जन संगठित हो शोषण का विरोध करने को उठ खड़े होंगे। इसके साथ प्रगतिवाद युगों से शोषित, दलित, अन्ध-रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों से ग्रस्त सामान्य जन में दृढ़ आत्म-विश्वास की यह भावना भरता रहा है कि समाज में शोषकों की संख्या शोषितों की संख्या की तुलना में नगण्य है। परन्तु सम्पूर्ण शोषक परस्पर संगठित होने के कारण शक्तिशाली बने हुए हैं और शोषित असंगठित होने के कारण निर्बल। इसलिए शोषितों को संगठित होकर शोषकों का विरोध करना चाहिए।

प्रगतिवादी साहित्य कमोबेश उपर्युक्त भावनाओं का ही चितेरा और प्रचारक रहा है। इसके इस महान् और शुभ उद्देश्य की उपयोगिता से कोई भी समझदार व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। अतः जन-सामान्य ने इस प्रगतिवादी विचारधारा को सहर्ष अपना लिया था। इसका विरोध केवल उन्हीं लोगों ने किया था जिनके स्वार्थों पर इससे चोट पड़ती थी। इनमें से कुछ ने जान-बूझकर योजनाबद्ध रूप में इसका विरोध किया था और इनके द्वारा प्रगतिवाद के विरुद्ध किए जा रहे घातक, भ्रमपूर्ण प्रचार से प्रभावित हो कुछ भले लोग भी प्रगतिवाद का विरोध करने लगे थे। प्रगतिवाद के विरोधियों ने प्रगतिवाद को अभारतीय, भारतीय संस्कृति और धर्म का विरोधी घोषित कर कुछ भोले, धार्मिक, देशभक्त लोगों को इसका विरोधी बना दिया था। कुछ पूँजीपतियों के हाथ बिके हुए चतुर साहित्यकार इसका विरोध करते रहे थे। बदले में उन्हें अपने संरक्षकों द्वारा जीवन की सम्पूर्ण सुख-सुविधायें मिलती थीं, उनके साहित्य का प्रचार और प्रसार किया जाता था। परन्तु प्रगतिवाद युग की प्रमुख जन-चेतना थी, इसलिए पूँजीपतियों एवं प्रतिक्रियावादियों का सम्पूर्ण विरोध और प्रचार इसकी प्रगति और जन-प्रभाव को रोकने में असमर्थ रहा।

हिन्दी में प्रगतिवाद का इतिहास

सामान्यतः हिन्दी में प्रगतिवाद का उदय सन् १९३६ से माना जाता है। सन् १९३५ में फ्रांस की राजधानी पेरिस में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई थी। यह एक विश्व-व्यापी संगठन था जिसके सदस्य साहित्य के माध्यम से समाजवादी विचारों का प्रचार करना, साहित्यकार का प्रमुख कर्त्तव्य मानते थे। भारत में भी

इसकी एक शाखा स्थापित की गई जिसका प्रथम अधिवेशन सन् १९३६ में लखनऊ में प्रेमचन्द की अध्यक्षता में हुआ। इसमें भाषण देते हुए प्रेमचन्द ने साहित्य को मात्र मनोरंजन की वस्तु न मान उसे समाज-हित का उन्नायक घोषित करते हुए कहा था कि—"नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश विधि में अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों को चुन लिया है। ...मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह साहित्य को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ।"

आगे चलकर सन् १९३८ में हुए 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' के अधिवेश में अध्यक्षीय भाषण देते हुए कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि—"जो भी हमें परमुखापेक्षी, निष्क्रिय और तर्कहीन बनाता है—वह सभी हमारे लिए प्रतिक्रियात्मक है, और जो भी हमारे भीतर आलोचनात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, बुद्धि और तर्क के प्रकाश में संस्थाओं और परम्पराओं की समीक्षा करता है, जो भी हमें सक्रिय बनाता है, परस्पर संगठित करता है, हमें बदल कर समुन्नत करता है—उस सब को हम प्रगतिशील मानते हैं।"

देश के दो शीर्ष-स्थानीय साहित्यकारों द्वारा किए जाने वाले इस समर्थन और व्याख्या से प्रगतिवादी-आन्दोलन को बहुत बल मिला था। देश में साम्यवादी दल की स्थापना हो चुकी थी। भारतीय साम्यवादी-दल इस प्रगतिशील विचारधारा का प्रचार कर रहा था। देश में एक नई जनवादी-चेतना ने एक तरफ तो हिन्दी के पुराने साहित्यकारों को झकझोरना आरम्भ कर दिया था, और दूसरी ओर नई पीढ़ी को अपने प्रति आकर्षित किया था। फलस्वरूप पन्त और निराला जैसे छायावादी कवि छायावाद की कोमल, सौन्दर्यपूर्ण भावनाओं और रूप-सज्जा का मोह त्याग इस नवीन विचारधारा को साहित्य के माध्यम से अंकित करने लगे। यद्यपि निराला बहुत पहले से यथार्थवादी चित्रण करते आ रहे थे। पन्त तो पूरी तरह छायावाद का विरोध करते हुए इस नवीन क्षेत्र में उतर आए। इस नई धारा का प्रचार-प्रसार करने के लिए अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। प्रेमचन्द का 'हंस' और पन्त का 'रूपाभ' इस विचारधारा के सशक्त प्रचारक बने। यह प्रगतिवाद का विकासोन्मुख स्वस्थ रूप था। इसने हिन्दी के अनेक नवयुवा साहित्यकारों को प्रभावित कर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया था। विषय-वस्तु, भाषा-शैली, अलंकार, प्रतीक, छन्द आदि के क्षेत्रों में सरलीकरण की प्रवृत्ति जोर मार रही थी। अब सच्चे अर्थों में जनता की बोली में जनता की समस्याओं, उसके दुख-दर्दों, आशाओं-आकांक्षाओं का चित्रण होना आरम्भ हो गया था।

आरम्भिक प्रचारवादी रूप

प्रगतिवाद के आरम्भिक रूप में अत्यधिक उत्साह के कारण खुले, अकलात्मक प्रचार की भावना जोर पकड़ती जा रही थी। इसका कारण—प्रगतिशील लेखकों पर

साम्यवादी दल का गहरा प्रभाव था। प्रगतिवाद का आरम्भिक रूप रूसी-साहित्य से बहुत प्रभावित रहा था। रूस में साम्यवादी विचारधारा का प्रचार करने के लिए बहुत बड़े परिमाण में प्रचारात्मक साहित्य का उत्पादन और विदेशों को उसका निर्यात किया जा रहा था। इस साहित्य में विचारों को प्रभावित करने की शक्ति तो थी, परन्तु भावनाओं को अभिभूत कर देने वाला कलात्मक सौन्दर्य नहीं था। यह कान्ता-सम्मित उपदेश न होकर, गुरु के उपदेश के समान तर्कपूर्ण परन्तु नीरस था। इससे प्रभावित हो हिन्दी के वे युवक साहित्यकार, जो साम्यवादी दल से प्रभावित थे, ऐसे साहित्य का सृजन करने लगे जो सरस कम और प्रचारात्मक होने के कारण नीरस अधिक था। यह प्रधानतः साम्यवादी दल की राजनीतिक वाणी बनता जा रहा था।

इस स्थिति ने प्रगतिवादी खेमे में विघटन और पारस्परिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर दी। प्रगतिवादी दो दलों में बँट गए। **एक दल** प्रचारात्मक साहित्य का समर्थन कर लेखकों पर राजनीतिक अंकुश को अनिवार्य घोषित करता रहा। **दूसरे दल** ने राजनीतिक अंकुश की मान्यता का विरोध करते हुए यह कहा कि साहित्यकार पर राजनीतिक अंकुश रहने से वह स्वतन्त्र रूप से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं कर पाता, इसलिए उसकी रचना 'टायप' बनकर रह जाती है। नए जोश से भरे हुए कुछ प्रगतिवादी साहित्यकारों और आलोचकों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य, परम्पराओं आदि का उग्र विरोध करना आरम्भ कर दिया। इसी को आधार बना, प्रगतिवाद के विरोधियों ने यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि प्रगतिवादी लोग भारतीय संस्कृति के घोर विरोधी और विदेशी रूस के मानसिक दास हैं। कुछ अत्यधिक जोशीले प्रगतिवादियों ने वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी आदि को प्रतिक्रियावादी और सामन्ती-व्यवस्था के पोषक घोषित कर सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य के बहिष्कार का नारा बुलन्द किया। उन्हें 'प्रसाद' भी प्रतिक्रियावादी प्रतीत हुए। परन्तु कुछ सुलझे हुए प्रगतिवादी आलोचकों ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया। उन्होंने कहा कि हमें सम्पूर्ण पुरातन का विरोध न कर केवल उसके प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का विरोध करते हुए उसमें निहित शुभ तत्त्वों को अपना लेना चाहिए। इसी आधर पर इन लोगों ने कबीर आदि सन्त-कवियों तथा तुलसी आदि के साहित्य का मूल्यांकन करते हुए उन्हें प्रगतिशील सिद्ध किया क्योंकि इनके साहित्य में युग-जीवन की समस्याएँ मुखरित हो रही हैं।

प्रगतिवादी-साहित्य पर एक लांछन यह भी लगाया गया कि इसमें यौन-भावनाओं और यौन-सम्बन्धों का खुला अश्लील चित्रण होता है। यह लांछन उन नए प्रगतिवादी कलाकारों के कारण लगा था जो फ्रॉयड के कुण्ठावाद (यौनवाद) को ही मनोविज्ञान का मूलाधार मान स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों के समर्थक थे। वे लोग कुण्ठावाद को ही प्रगति का एकमात्र सूचक मान अपनी रचनाओं में कुण्ठित, दमित

यौन-भावनाओं और सम्बन्धों का अश्लील चित्रण करने लगे थे। आरम्भ में अज्ञेय जैसे लेखक भी इसी कारण प्रगतिवादी माने जाने लगे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि कुण्ठित काम-भावनाओं के अश्लील चित्रण को ही मनोविज्ञान और कुण्ठावाद का नकाब पहना कर प्रगतिशीलता मानी जाने लगी। परन्तु समझदार प्रगतिवादी आलोचकों ने इस प्रवृत्ति का घोर विरोध किया और कालान्तर में ऐसा चित्रण करने वाले कलाकार प्रगतिवाद के विरोधी बन 'प्रयोगवाद' के जनक बन गए।

आरम्भ में प्रगतिवादी आलोचना में एक अत्यधिक कठोरता और संकीर्णता का रूप दिखाई पड़ा। कुछ प्रगतिवादी आलोचकों ने केवल दोष-दर्शन को ही अपना एकमात्र उद्देश्य बना लिया था। जरा सा मत-वैभिन्य होते ही ये लोग परस्पर एक-दूसरे की कटु आलोचना करने लगते थे। इससे परस्पर कटुता की भावना बढ़ रही थी। इसके अतिरिक्त यदि किसी समाजवादी विचारधारा से प्रभावित साहित्यकार के साहित्य में इन्हें अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध तनिक सा ही अंश मिल जाता था तो ये लोग उसे अत्यधिक महत्त्व दे, उसकी अन्य स्वस्थ उपलब्धियों को नजरन्दाज कर देते थे। पन्त, राहुल, यशपाल, रांगेय राघव, शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा आदि बहुत समय तक इसी प्रकार की आलोचनाओं के जाल में उलझे रहे थे। इस स्थिति ने एक तरफ तो प्रगतिवादी संगठन को निर्बल और विश्रृङ्खलित बना दिया था और दूसरी ओर विरोधियों को प्रगतिवाद पर नाना प्रकार के आक्षेप करने का अवसर प्रदान किया था। इसका कारण यह था कि प्रगतिवादी आलोचक मार्क्सवाद की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ करने के कारण आपस में ही उलझ गए थे। ये लोग राजनीतिक विचारों को ही साहित्य का प्रधान उपजीव्य न मान, साहित्य की धारा को स्वस्थ, स्वाभाविक गति से प्रवाहित होते रहने देते तो आज प्रगतिवाद का रूप और भी अधिक स्वस्थ और प्रभावशाली होता। परन्तु आज स्थिति यह है कि प्रगतिवाद का संगठित बाह्य रूप विश्रृङ्खलित हो उठा है। इसकी पारस्परिक वैचारिक एकता की कड़ी टूट चुकी है। आज प्रगतिवादी कलाकार अपने को सर्वथा एकाकी और विश्रृङ्खलित अनुभव करने लगे हैं।

प्रगतिवादी विचारधारा का गहरा रूप

आज ऊपर से देखने पर प्रगतिवादी आन्दोलन विश्रृंखलित दिखाई देता है। यह एक ऐसा निर्मम कठोर सत्य है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि आज भी प्रगतिवादी विचारधारा हिन्दी-साहित्य के एक बहुत बड़े अंश की मूल प्रेरक शक्ति बनी हुई है। देश की विषम परिस्थितियों ने इस विचारधारा को और भी अधिक गहरा और प्रभावशाली बना दिया है। यह सत्य है कि आज प्रगतिवादी साहित्य से साम्यवादी-दल का राजनीतिक अंकुश पूर्णतया हट चुका है। आज का कलाकार स्वच्छन्द रूप से अपने अनुभूत सत्य का अंकन कर रहा है। अब साहित्य को केवल राजनीति का ही प्रचार-अस्त्र न मान, व्यक्ति की स्वतंत्र

सत्ता को स्वीकार कर लिया गया है। साहित्यिक समीक्षा के मानदंड बदल चुके हैं। प्राचीन साहित्य को उचित सम्मान प्रदान किया जा रहा है। राजनीतिक संकीर्ण भावना के स्थान पर अब विस्तृत दृष्टिकोण के आधार पर रचनाएँ हो रही हैं। कला-पक्ष भी दिनोंदिन निखरता चला आ रहा है।

आज स्थिति यह है कि प्रगतिवादी साहित्य मात्र प्रचार का साधन न रह गम्भीर युग-प्रेरक और कलापूर्ण बन गया है। अब इसके लिए सिद्धान्तों का प्रचार करने की आवश्यकता नहीं रही है। यह विचारधारा जन-जीवन में गहरे रूप से पैठ चुकी है। और उसी से प्रेरणा प्राप्त कर नए-पुराने अनेक कलाकार ऐसे साहित्य का सृजन कर रहे हैं जिसमें युग-जीवन की सम्पूर्ण वैयक्तिक और सामूहिक दुख-दर्द, आशाएँ-आकांक्षाएँ, समस्याएँ अपने यथार्थ रूप में मुखरित हो रही हैं। प्रगतिवाद का मूल उद्देश्य भी इसी जन-चेतना को जाग्रत करना था और इसमें वह पूर्ण सफलता प्राप्त कर चुका है। विशेष रूप से आज का कथा-साहित्य प्रगतिवाद के इसी उद्देश्य की पूर्ति कर रहा है।

प्रगतिवाद का मूल्यांकन

हिन्दी के अनेक शीर्षस्थानीय समीक्षकों ने प्रगतिवाद का मूल्यांकन करते हुए उसकी उपलब्धियों और न्यूनताओं का विवेचन किया है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने उस पर एकांगी दृष्टिकोण का आरोप लगाते हुए लिखा कि—"इसकी सीमा में साहित्य के जो समाज-शास्त्रीय विवेचन होते हैं वे आवश्यकता से बहुत अधिक समाज-शास्त्रीय हैं और आवश्यकता से बहुत कम साहित्यिक। इस कारण मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति साहित्य के भावात्मक और कलात्मक मूल्यों का निरूपण करने में सदैव पश्चात्पद रही है।" इसका उत्तर देते हुए प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक डा० रामविलास शर्मा ने लिखा कि—"मार्क्सवाद पर जो एकांगी होने का दोष लगाया गया है, वह वस्तुगत सत्य नहीं है। मार्क्सवाद हमें संसार की घटनाओं को उसी परस्पर सम्बद्धता में देखने के लिए कहता है। वह सामाजिक विकास के नियमों से हमें परिचित कराता है और उनके प्रकाश में अपने युग की गतिविधि को पहचानने में हमारी सहायता करता है।" अन्त में वाजपेयी जी को भी यह स्वीकार करना पड़ा था कि "साहित्य के सामाजिक लक्ष्यों और उद्देश्यों का विज्ञापन करने वाली यह पद्धति साहित्य का बहुत कुछ उपकार भी कर सकी है। उसने हमारे युवकों को एक नई तेजस्विता भी प्रदान की है और एक नया आत्मबल भी मिला है।....हम यह भी नहीं कहते कि प्रगतिवादी समीक्षा ने हिन्दी को कुछ दिया ही नहीं। उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी हैं : **प्रथम** यह है कि काव्य साहित्य का समन्वय सामाजिक वास्तविकता से है और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है। **द्वितीय** यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायेगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक

दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव-सम्बन्धी एक नई मापरेखा, एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है जिसका उचित उपयोग हम करेंगे।"

बाबू गुलाबराय ने प्रगतिवाद की उपलब्धियों का मूल्यांकन करते हुए लिखा कि—"प्रगतिवाद हमें स्वार्थ-परायण व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखकों को शैया-सेवी अकर्मण्य नहीं रखा है।" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रगतिवादी साहित्य की सम्भावनाओं के प्रति आशान्वित होकर कहा कि—"इनके सिद्धान्त और उद्देश्य बहुत सुन्दर हैं, लेकिन ये लोग कम्युनिस्ट पार्टी के साथ जुड़े हुए हैं, यही जरा खटकता है। यदि ये लोग दल द्वारा परिचालित होना छोड़ दें तो सब ठीक हो जाय।.... प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान् उद्देश्य से चलित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनाएँ अत्यधिक हैं। भक्ति-आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य, दृढ़ आदर्श निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज के नए जीवन-दर्शन से चलित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन हो सकता है।" अब द्विवेदी जी की यह कामना भी पूर्ण हो चुकी है—प्रगतिशील कलाकारों पर से साम्यवादी दल का अंकुश हट गया है। आज सभी प्रगतिशील कलाकार स्वतन्त्र रूप से साहित्य रचना कर रहे हैं, जिसमे प्रधानतः शोषण, असमान आर्थिक विभाजन, प्रतिक्रियावादी सामाजिक रूढ़ियों आदि का विरोध और नए स्वस्थ मानव-समाज के निर्माण की बलवती आकांक्षा अभिव्यक्त हो रही है। अतः प्रगतिवाद के विरोधियों का यह कहना गलत है कि आज प्रगतिवाद समाप्त हो गया है। यह सत्य है कि आज उसका बाह्य संगठित रूप छिन्न-भिन्न सा दिखाई पड़ता है, परन्तु यह भी सत्य है कि आज भी प्रगतिशील समाजवादी विचारधारा ही साहित्य की मूल प्रेरणा बनी हुई है।

क्या प्रगतिवादी आन्दोलन विदेशी था ?

कोई भी विचारधारा किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों की उपज होती है। मार्क्सवादी विचारधारा का जनक कार्ल मार्क्स जर्मन था परन्तु विपरीत परिस्थितियों के कारण उसकी यह विचारधारा जर्मनी में अपना प्रभाव जमाने में असमर्थ रही थी। साम्यवादी विचारधारा अभाव, दारिद्रय, पिछड़ेपन और निरंकुशता के वातावरण में ही पनपती है। बीसवीं सदी के आरम्भ में रूस में ऐसी ही परिस्थितियाँ थीं। वहाँ ज़ारशाही की निरंकुशता के साथ नया पूँजीवाद पनप रहा था। किसानों की दशा अत्यन्त दीन थी। इसलिए वहाँ साम्यवादी विचारों को पनपने का अनुकूल अवसर और परिस्थितियाँ मिल गईं। रूसी साहित्य में साम्यवादी विचारों का चित्रण होने लगा। सन् १९१७ में रूस में साम्यवादी शासन की स्थापना हो गई। इसका विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा। भारत भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। इसका

कारण यह था कि भारत में ही बिल्कुल वही परिस्थिति थी जिसमें रूस में साम्यवादी-विचार पनपे थे। इसलिए भारतीय-साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। आरम्भ में यह प्रभाव राजनीति से मुक्त रहा। प्रेमचन्द ने इस प्रभाव को अपने विभिन्न उपन्यासों में चित्रित किया। प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' नामक उपन्यासों में भी यह प्रभाव क्रियाशील रहा। इन दोनों लेखकों ने अप्रत्यक्ष रूप से वर्ग-चेतना को उद्‌बुद्ध किया, परन्तु उन्होंने साम्यवाद का नाम तक नहीं लिया। यह इस बात का प्रमाण है कि यह वर्ग-चेतना नितान्त स्वाभाविक थी जिसे यहाँ की विषम परिस्थितियों ने जन्म और बढ़ावा दिया था।

अतः प्रगतिवाद युग की पुकार थी। हमारी अर्थ-व्यवस्था यान्त्रिक होती जा रही थी। हमारा जीवन-दर्शन पाश्चात्य यान्त्रिक-सभ्यता से प्रभावित होना आरम्भ हो गया था। इस कारण हमारे जीवन-मान बदलते जा रहे थे, और उन बदलती हुई परिस्थितियों और नए जीवन-मूल्यों का हमारे साहित्य में चित्रण होना स्वाभाविक था। इसलिए प्रगतिवाद को केवल विदेशी-प्रभाव ही न मान, उसे नए युग की नई समस्याओं का प्रतिफलन ही मानना चाहिए। यदि भारत में नई अर्थ-व्यवस्था न आती, यदि यहाँ पूँजीवाद न पनपता, यदि यहाँ शोषण-प्रधान विदेशी शासन-व्यवस्था न होती, तो हमारा साहित्य भी प्रगतिवाद को न अपनाता। यहाँ इस समाजवादी विचारधारा को पनपने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ मिल गई थीं, इसीलिए वह पनपा। जिन विचारधाराओं का प्रतिकूल परिस्थितियों में आयात किया जाता है वे उसी प्रकार क्षणिक प्रभाव और चमत्कार दिखाकर समाप्त हो जाती हैं जैसे भारत में आयात किए गए अनेक कलावादी विचार अपना क्षणिक जीवन बिता कर तिरोहित हो जाते रहे हैं।

प्रगतिवादी साहित्य

छायावाद, हालावाद आदि केवल काव्य-क्षेत्र तक ही सीमित होकर रह गए थे। ये गद्य-क्षेत्र को प्रभावित करने में असमर्थ रहे थे। निराला ने कुछ छायावादी उपन्यास 'प्रभावती' आदि लिखे थे, परन्तु न तो उन्हें लोकप्रियता ही प्राप्त हुई थी और न उस शैली के उपन्यास आगे ही लिखे गए। प्रगतिवाद—एक जनवादी विचारधारा थी, जो साहित्य के सम्पूर्ण क्षेत्र—गद्य और पद्य—दोनों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में समेट आगे बढ़ी थी। कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि सभी विधाएँ प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित हो आगे बढ़ रही थीं। प्रगतिवाद के इस व्यापक प्रभाव का कारण यह था कि यह एक तो युग-चेतना को अभिव्यक्त प्रदान कर रहा था, दूसरे, इसके समर्थक और प्रचारक उस बुद्धिजीवी-वर्ग के सदस्य थे जो वैचारिक संकीर्णता को त्याग विश्व के विशाल मानव-समूह की भावनाओं और आशा-आकांक्षाओं को समष्टिगत रूप में देखने, समझने और उन पर विचार करने की शक्ति रखते थे। यह प्रगतिवादी आन्दोलन भारतीय अर्थात् स्थानीय

न होकर, एक विश्व-व्यापी आन्दोलन था। इसलिए इन लोगों को भारत की समकालीन परिस्थितियों की विषमता के कारण नई युग-चेतना को प्रबुद्ध करने का उत्साह और उस उत्साह को आगे बढ़ाने में विश्व के जनवादी विचारकों से प्रेरणा और सहयोग मिल रहा था। सम्पूर्ण विश्व के प्रगतिवादी कलाकार 'प्रगतिशील लेखक-संघ' के रूप में संगठित और विकसित हो रहे थे। इसी विश्व-संस्था के तत्त्वावधान में मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहीर जैसे प्रगतिशील विचारधारा के लेखकों के प्रयत्न से भारत में, सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई थी। इस प्रकार भारत में प्रगतिवादी-आन्दोलन एक सुनियोजित सुसंगठित रूप में आगे बढ़ा था। इसे आरम्भ में ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रेमचन्द जैसे अखिल भारतीय और अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के कलाकारों का आशीर्वाद और सहयोग मिल गया था।

हिन्दी में प्रेमचन्द अपने समृद्ध कथा-साहित्य द्वारा प्रगतिशील भावनाओं और विचारों का बहुत पहले से ही चित्रण करते आ रहे थे। उनके द्वारा सम्पादित 'हंस' इसी कारण प्रगतिवादी साहित्य का पहला मुख-पत्र बन गया था। अनेक नवयुवक सैद्धान्तिक स्तर पर प्रगतिशील विचारधारा की व्यापकता, उपादेयता, आवश्यकता और महत्त्व का प्रतिपादन करने लगे थे। प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक शिवदानसिंह चौहान ने सन् १९३७ में 'विशाल भारत' नामक मासिक-पत्र में 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक निबन्ध लिखकर साहित्यकारों को सम्बोधन करते हुए लिखा था—"हमारा साहित्यिक नारा कला कला के लिए नहीं, वरन् कला संसार को बदलने के लिए है। इस नारे को बुलन्द करना प्रत्येक प्रगतिशील साहित्यिक का फ़र्ज है।"

इस नए वैचारिक आन्दोलन के उठते ही पहले से ही ह्रासोन्मुख छायावाद के कदम लड़खड़ाने लगे थे। पन्त, महादेवी वर्मा जैसे छायावादी कवियों ने ही छायावाद का विरोध करना आरम्भ कर दिया था। पन्त ने अपने नवीन काव्य-संग्रहों 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'युगान्त' आदि में प्रगतिवादी भावनाओं और विचारों को अभिव्यक्त किया। उन्होंने 'रूपाभ' नामक मासिक-पत्र निकाल प्रगतिवाद के नए स्वरों को मुखरित करना ही अपनी साहित्य-साधना का लक्ष्य बना लिया था। परन्तु पन्त स्वभाव से अत्यधिक भावुक और कोमल होने के कारण प्रगतिवाद के उग्र, हिंसक रूप को पूर्णतया आत्मसात करने में असमर्थ रहे। उनके विचारों में गांधीवाद, अध्यात्मवाद, अरविन्द-वाद आदि का असन्तुलित सम्मिश्रण था। समाज के दलित-शोषित वर्ग के प्रति उनकी सहानुभूति केवल बौद्धिक ही रही। इसलिए प्रगतिवाद के प्रति उनका यह नया उत्साह अधिक समय तक नहीं टिक सका। अतः वे कल्पना की मनोरमता और अटपटी दार्शनिकता के जिस क्षेत्र को त्याग प्रगतिवाद की ओर झुके थे, कुछ समय उपरान्त पुनः वहीं लौट गए और आध्यात्म द्वारा सांस्कृतिक पुनरुत्थान की सम्भाव्यता का राग छेड़ने में व्यस्त हो गए। पन्त ने प्रगतिवाद का आँचल पकड़ते ही—

'गा कोकिल, बरसा पावक कण'
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन ।'

का नारा बुलन्द करते हुए घोषित किया था—

'साम्यवाद के साथ स्वर्ण-युग करता मधुर पदार्पण ।'

आगे चल कर यही पन्त प्रगतिवाद को कोसते हुए दार्शनिकता के आँचल में जा छिपे थे । अस्तु,

प्रेमचन्द के उपरान्त इस धारा को सब से बड़ी प्रेरणा और बल निराला से मिला । निराला बहुत पहले से छायावादी कोमल भावनाओं के साथ-साथ जनवादी उग्र और मार्मिक भावनाओं का अंकन करते आ रहे थे । उनकी 'भिखारी' जैसी प्रगतिशील कविता बहुत पहले लिखी जा चुकी थी । इस नए आन्दोलन ने उनकी जनवादी भावना को और अधिक उग्र रूप दे दिया । उन्होंने गद्य और पद्य—दोनों माध्यमों द्वारा इस धारा को सम्पन्न और शक्तिशाली बनाया । गद्य में उनकी 'चतुरी-चमार', 'देवी', 'पगली' आदि कहानियाँ तथा 'चोटी की पकड़', 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि लघु आँचलिक उपन्यास प्रगतिवादी साहित्य के सुन्दर उदाहरण हैं । काव्य में उनके 'कुक्कुरमुत्ता', 'नए पत्ते' तथा अन्य अनेक फुटकर कविताओं में एक नए व्यंग्य और शैली के माध्यम से इस जनवादी प्रगतिशील भावना को सुन्दर, प्रभावशाली अभिव्यक्ति मिली ।

IMP

अन्य प्रगतिवादी कवियों में शिवमंगल सिंह सुमन', रांगेय राघव, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, डा० रामविलास शर्मा, शमशेर बहादुर सिंह, गजानन मुक्तिबोध, भगवतीप्रसाद, गिरिजाकुमार माथुर, नरेन्द्र शर्मा, अंचल आदि इस नई धारा को अपना कर काव्य-क्षेत्र में उतरे । दिनकर के 'हुँकार' जैसे काव्य-संग्रह में प्रगतिवादी स्वर ही प्रमुख रहा । इन कवियों ने कविता को एक नई जनवादी शैली प्रदान की । इनकी रचनाओं में जनता के दुख-दर्द और उसे दूर करने का एक नया संघर्षशील सशक्त स्वर उभरा । ये कवि देश के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ा कर चल रहे थे और अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा जन-सामान्य में सभी प्रकार की सामाजिक विषमता, शोषण, अत्याचार आदि के विरुद्ध विद्रोह की भावना भर रहे थे । जिस समय हमारे ये प्रगतिवादी कलाकार उस जनान्दोलन के युग में जन-चेतना को नई वाणी प्रदान कर जनवादी-परम्परा में अपना अखंड विश्वास प्रकट कर रहे थे, उस समय हमारे प्रयोगवादी कलाकार 'शेखर : एक जीवनी' जैसी कुण्ठाग्रस्त, घोर वैयक्तिक भावनाओं से ओतप्रोत रचनाएँ रचने में ही दत्तचित्त बने रहे थे ।

IMP

प्रगतिवाद का सर्वाधिक सशक्त क्षेत्र

प्रगतिवादी कलाकारों ने कविताएँ लिखी थीं, उनका खूब प्रचार भी हुआ था, परन्तु प्रगतिवाद ऐसी एक भी कविता नहीं दे सका जो अपने कलात्मक सौन्दर्य और गहन अनुभूति के कारण साहित्य की स्थायी निधि बनने का गौरव प्राप्त कर सकती । वस्तुत: काव्य का क्षेत्र प्रगतिवादी चेतना के अनुकूल नहीं था । उसका वास्तविक क्षेत्र

IMP

तो गद्य ही था। क्योंकि कविता में विचारों की अभिव्यक्ति उसे नीरस और बोझिल बना देती है। इसलिए गद्य का क्षेत्र ही प्रगतिवाद के अधिक अनुकूल था। कथा-साहित्य और आलोचना प्रगतिवाद के मूल क्षेत्र रहे। प्रगतिवादी विचारकों ने आलोचना द्वारा पुरानी साहित्यिक रूढ़ियों का विरोध कर साहित्यकारों को नई क्रान्तिकारी जनवादी चेतना की ओर उन्मुख किया। कथाकारों ने उस चेतना को अपनी रचनाओं में अंकित करना आरम्भ कर दिया। यशपाल अपने 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'दिव्या', 'झूठा सच' जैसे उपन्यासों तथा दर्जनों कहानियों द्वारा साम्यवादी विचार-धारा का अंकन करते रहे। नागार्जुन ने अपने अनेक उपन्यासों द्वारा प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए आंचलिक क्षेत्रों के जन-जीवन का चित्रण कर शोषण, अन्याय, अत्याचार, रूढ़ि-बन्धन आदि का विरोध किया। अमृतलाल नागर 'महाकाल', 'सेठ बाँकेमल', 'बूँद और समुद्र' जैसे सशक्त उपन्यासों द्वारा प्रगतिशील तत्त्वों का चित्रण करते रहे। उर्दू के प्रख्यात कथाकार कृष्णचन्द्र ने अपने कथा-साहित्य में तीखे, चुभते व्यंग्य और यथार्थ चित्रण का सहारा ले जन-चेतना को मार्मिक, कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की। रांगेय राघव ने अपने शताधिक उपन्यासों द्वारा ऐतिहासिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में व्याप्त असन्तोष, क्षोभ, उल्लास और जन-चेतना की उस अप्रतिम, अदम्य शक्ति का चित्रण किया जिसमें समाज के भावी कल्याण और निर्माण के स्वर गूँज रहे थे। राहुल सांकृत्यायन ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में साम्यवादी विचारधारा का अंकन कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारत में प्राचीन-युग में भी समाज में इसका अस्तित्व और प्रभाव था।

सन् १९५० के बाद कथाकारों की एक नई पीढ़ी इस क्षेत्र में उतरी। राजेन्द्र यादव ने 'उखड़े हुए लोग' नामक उपन्यास लिखकर नए युग के नए परिप्रेक्ष्य में बदलते हुए समाज और उसके प्रति नई पीढ़ी के क्षुब्ध, आक्रोश भरे दृष्टिकोण का चित्रण किया। हिमांशु श्रीवास्तव ने 'लोहे के पंख' जैसे उपन्यासों में किसान और मजदूर जीवन के असन्तोष और परिवर्तित नए जीवन-मूल्यों का अंकन किया। शानी ने 'पत्थर बोलते हैं', 'काला जल' आदि उपन्यासों में मध्य प्रदेश के बस्तर क्षेत्र के निम्न मध्यवित्त मुस्लिम परिवारों का यथार्थ, मार्मिक अंकन कर इस वर्ग के सामाजिक मानव की विवशता और दैन्य का प्रभावशाली कलात्मक चित्रण किया। शैलेश मटियानी ने अपने विभिन्न उपन्यासों में बम्बई और पहाड़ी जीवन के आन्तरिक गर्हित रहस्यों, विषमताओं, दैन्य, विवशता आदि का स्वानुभूतिपरक यथार्थ अंकन किया। उनका नवीनतम उपन्यास 'भागे हुए लोग' अत्यन्त उच्चकोटि का कलात्मक यथार्थवादी उपन्यास है। इसके अतिरिक्त हिमांशु श्रीवास्तव का 'नदी फिर बह चली', गिरिराज-किशोर का 'लोग', राही मासूम रजा का 'आधा गाँव' जैसे उपन्यास हिन्दी के प्रगतिवादी कथा-साहित्य की नवीनतम श्रेष्ठ उपलब्धियाँ मानी जा सकती हैं।

उपन्यास के समान कहानी का क्षेत्र भी हिन्दी के कथाकारों का प्रिय क्षेत्र रहा है। प्रेमचन्द, यशपाल आदि प्रगतिशील जनवादी कहानियों द्वारा इस क्षेत्र को समृद्ध

और सशक्त बना चुके थे। रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, राहुल आदि ने इस क्षेत्र की समृद्धि में ऐतिहासिक योग प्रदान किया था। हिन्दी के कहानीकारों की नई पीढ़ी में से अधिकांश ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, भीष्म साहनी, शैलेश मटियानी, कमलेश्वर, अमरकान्त, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, भगवतीसिह, शमशेरसिंह नरूला, हर्षनाथ, रॉबिन शा पुष्प, मन्नू भंडारी, पानू खोलिया, रवीन्द्र कालिया, मनहर चौहान आदि कहानीकार प्रकारान्तर से अपनी कहानियों में प्रगतिशील तत्त्वों का ही चित्रण करते आ रहे हैं। इनकी कहानियों में देश के विभिन्न अंचलों, क्षेत्रों, नागरिक एवं ग्रामीण क्षेत्रों में बसने वाली जनता की विभिन्न स्थितियों, रूपों, सुख-दुख, आशा-आकांक्षाओं, अभावों, दैन्य, विवशता, क्षोभ, आक्रोश आदि का प्रभावशाली अनुभूत्यात्मक अंकन हो रहा है। इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि इस चित्रण में उस राजनीतिक प्रभाव और अंकुश की छाया नहीं मिलती जो प्रगतिवाद के आरम्भिक रूप पर छाई रही थी। ये कलाकार उस अंकुश से मुक्त रह स्वतन्त्र रूप से चित्रण कर रहे हैं। वस्तुतः प्रगतिवाद का असली प्रभावशाली साहित्यिक रूप इन्हीं रचनाओं में उभर रहा है। अब वह सस्ते प्रचार के मोह से सर्वथा मुक्त हो चुका है। साहित्य के भावी आलोचक इसके इसी रूप को सम्मान और महत्त्व प्रदान करेंगे।

अपने कथा-साहित्य के ही समान प्रगतिवादी आलोचना-साहित्य बहुत सशक्त और समृद्धशाली रहा है। प्रगतिवादी आलोचकों ने इस क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए हैं। उन्होंने नवीन, वैज्ञानिक, रूढ़िमुक्त दृष्टिकोण अपना कर आलोचना के नए मानदंड स्थापित करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। सौन्दर्य-शास्त्र की नई व्याख्या कर उसे नवीन युग की नई समस्याओं के अनुकूल उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि का विरोध कर समाज के परिप्रेक्ष्य में साहित्य का मूल्यांकन किया है। भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र के क्षेत्र में नई स्थापनाएँ कर प्राचीन बद्धमूल दृष्टि को बदलने में सफलता पाई है। डा० रामविलास शर्मा ने अपने 'भाषा और समाज' नामक ग्रन्थ में भाषा-विकास की विदेशियों द्वारा स्थापित मान्यताओं का खंडन कर भाषा-विकास का एक नया सुसंगत, वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया है। इन लोगों ने रस की नई व्याख्या कर उसे और अधिक व्यापक बनाया है।

आरम्भ में प्रगतिवादी आलोचना का रूप विध्वंसकारी ही अधिक रहा था। प्रगतिवादी आलोचक एक ओर तो नए जनवादी सिद्धान्तों, परम्पराओं, मान्यताओं, आदि का विश्लेषण करते हुए प्राचीन आदर्शवादी रूढ़ सिद्धान्तों, व्यक्तिवाद, कलावाद, रूढ़ परम्पराओं का खण्डन करते थे, और दूसरी ओर प्रगतिवादी सिद्धान्तों को न मानने वाले कलाकारों की उपलब्धियों को नजरन्दाज करते हुए केवल उनके दोषों और निर्बलताओं का ही उद्घाटन करने में व्यस्त रहते थे। यदि इन्हें प्रगतिवादी चित्रण करने वाले कलाकारों की रचनाओं में इनकी मान्यताओं के विरुद्ध थोड़ा सा

भी अंश मिल जाता था तो ये उसके लिए उनकी कटु आलोचना कर उन्हें बुर्जुवा, प्रतिक्रियावादी आदि घोषित कर देते थे। इसके अतिरिक्त मार्क्सवाद की व्याख्या के सम्बन्ध में इन लोगों में पारस्परिक तीव्र मतभेद रहते थे जिसके कारण एक आलोचक स्वयं को सच्चा मार्क्सवादी और दूसरे को प्रतिक्रियावादी या कुत्सित समाजशास्त्री घोषित करने में संकोच नहीं करता था। इस पारस्परिक विवाद ने एक ओर तो कटुता को बढ़ाया परन्तु साथ ही वैचारिक उत्तेजना भी प्रदान की। इसके अतिरिक्त विरोधियों को प्रगतिवादी आन्दोलन पर आक्रमण करने के भी अवसर प्रदान किए। वस्तुत: इस विवाद ने इस आन्दोलन में फूट पैदा कर इसे बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया था और यह प्रगतिशील लेखक संघ के विघटन का एक प्रधान कारण बन गया था। परन्तु आगे चलकर इन लोगों ने इस प्रवृत्ति को दूर कर ठोस रचनात्मक सृजन की ओर अपना ध्यान लगाया जिसका परिणाम 'भाषा और समाज' जैसे ग्रन्थों के रूप में सामने आया।

प्रगतिवाद का उपर्युक्त विस्तृत विश्लेषण उन लोगों की आँखें खोल देने के लिए पर्याप्त है जो यह कहते हैं कि प्रगतिवाद सन् १९४३ में 'तार सप्तक' के साथ 'प्रयोगवाद' का उदय होते ही समाप्त हो गया था। कोई भी कलाकार साम्यवाद, वर्ग-संघर्ष, वर्ग-चेतना जैसे शब्दों का प्रयोग करने से ही प्रगतिवादी नहीं बन जाता। वही कृति प्रगतिवादी होती है जो जन-जीवन की यथार्थ समस्याओं का मार्मिक, प्रभावशाली उद्घाटन करने में समर्थ होती है। वस्तुस्थिति यह है कि आज प्रगतिवादी साहित्यकार अपनी प्रचारात्मक सस्ते नारेबाजी को त्याग अन्तस्सलिला के समान जीवन और युग की चेतन, मूल-शक्ति बन गया है। आज मानव का सम्पूर्ण क्षोभ, असन्तोष, उल्लास, अदम्य और अप्रतिहत शक्ति समाजवादी विचारधारा का ही रूप धारण कर मुखरित हो रही है। आज स्थिति यह है कि प्रगतिवादी विचारधारा की इस शक्ति से आतंकित हो सम्पूर्ण प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ परस्पर संगठित हो इस विचारधारा का प्राणपण से विरोध कर रही हैं। प्रयोगवादी, आदर्शवादी, साम्प्रदायिक, सामन्तवादी और पूँजीवादी शक्तियाँ अपने-अपने प्रकाशन-माध्यमों द्वारा इस युग-चेतना पर निरन्तर प्रहार करती रहती हैं परन्तु इसके विकास और प्रगति को रोकने में स्वयं को असमर्थ पा रही हैं।

IMP

प्रयोगवाद

जब हिन्दी-साहित्य प्रगतिवादी विचारधारा से आन्दोलित हो रहा था तो समाज की सम्पूर्ण प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने एकाकी और संगठित—दोनों रूपों में उस पर विभिन्न प्रकार के लांछन लगाते हुए उसका विरोध करना आरम्भ कर दिया था। मजदूरों और किसानों के शोषण पर फूलने-फलने वाले पूँजीपतियों, धर्म के नाम पर गुलछर्रें उड़ाने वाले धर्म के ठेकेदारों और भ्रष्टाचार द्वारा जनता का खून चूसने वाले नौकरीपेशा वर्ग ने इस समाजवादी जन-चेतना के रूप में अपने अस्तित्व को नष्ट कर देने वाले खतरे का आभास पाया, इसलिए इन लोगों द्वारा इस विचार-धारा का विरोध किया जाना स्वाभाविक था। प्रगतिवाद साहित्यकार को समाज के प्रति उत्तरदायी मान साहित्य में व्यक्तिगत भावनाओं की अपेक्षा सामूहिक सामाजिक भावनाओं के चित्रण पर बल देता है। इसलिए उन साहित्यकारों ने भी इस विचार-धारा का विरोध करना आरम्भ कर दिया जो साहित्य को मात्र वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का ही माध्यम मानते थे। फलतः इन लोगों ने साहित्य में अपनी कुंठित, अतृप्त भावनाओं का चित्रण करना आरम्भ कर दिया। इन्होंने साहित्यकार के अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य की माँग उठाई और यह कहा कि साहित्यकार को किसी भी विचारधारा-विशेष से न बँधकर स्वच्छन्द रूप से अपनी वैयक्तिक भावनाओं को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। और इसी को अपना सिद्धान्त मान कुछ नए लोगों ने साहित्य-सृजन आरम्भ कर दिया। परन्तु उस समय साहित्य में प्रगतिवाद का बोलबाला था, इसलिए इन लोगो को यह आशंका थी कि प्रगतिवाद की लोक-प्रियता के सम्मुख उनके साहित्य की पूछ नहीं होगी। इसके लिए, पाठकों को आर्कषित करने के लिए इन लोगों ने एक तरफ तो कुछ प्रगतिवादी साहित्यकारों का सहयोग लिया, अपनी रचनाओं के साथ उनकी प्रगतिवादी रचनाएँ प्रकाशित कीं और

दूसरी ओर साहित्यिक चमत्कारवाद का सहारा लिया। पाठकों को चौंकाने के लिए इन्होंने यह प्रचार किया कि हमारा साहित्य और उसकी माध्यम भाषा—दोनों ही अत्यधिक रूढ़िग्रस्त और प्रगतिशील रूप धारण कर चुके हैं, वे नवीन अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं, इसलिए इनका बहिष्कार कर नए-नए प्रयोग करने चाहिए। और इन लोगों ने नए-नए, अप्रचलित शब्दों, वाक्यों, प्रतीकों, बिम्बों का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। पाठक इन नए प्रयोगों को देखकर चौंके और साहित्य में इन लोगों की चर्चा होनी आरम्भ हो गयी।

हिन्दी में इस प्रकार के साहित्य को, आरम्भ में, 'प्रयोगवाद' कहा गया।

शोषण पर आधारित प्राचीन साम्राज्यवाद और अर्वाचीन पूँजीवादी साम्राज्यवाद—दोनों ही प्रतिक्रियावादी दर्शनों और सिद्धान्तों को प्रश्रय देते आए हैं। इसके लिए उन्होंने सदैव ही व्यक्तिवादी दर्शनों को प्रोत्साहन दिया है। क्योंकि व्यक्तिवादी दर्शन समाज को एक सूत्र में आबद्ध कर उसे अन्याय, अत्याचार और शोषण का विरोध करने वाले दर्शनों के सदैव विरोधी रहे हैं। अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी और स्वयं को सामान्य से भिन्न और श्रेष्ठ समझने वाले व्यक्ति अहंवादी बन समाजगत विचारों और भावनाओं का विरोध कर स्वयं के महत्त्व को ही स्थापित करने में प्रयत्नशील रहते हैं। हिन्दी में पनपने वाले प्रयोगवाद को ऐसे ही व्यक्तियों ने जन्म और विकास दिया था। पूँजीवादी और प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ सदैव इस घात में लगी रहती हैं कि उन्हें सामाजिक समाजवादी विचारधाराओं का विरोध करने वाले ऐसे बुद्धिजीवी मिलें जिन्हें संरक्षण प्रदान कर वे समाजवादी विचारधाराओं का उन्मूलन और व्यक्तिवादी (प्रतिक्रियावादी) विचारधाराओं का प्रचार और प्रसार कर सकें। पूँजीवाद इस सत्य से अवगत है कि साहित्य प्रचार का एक अत्यन्त सशक्त माध्यम होता है। इसीलिए उसने इन व्यक्तिवादी साहित्यकारों को संरक्षण देना आरम्भ कर दिया। भारत के लगभग सभी प्रमुख समाचार-पत्रों, साप्ताहिक-मासिक पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशन-संस्थाओं पर पूँजीपतियों का ही एकाधिकार है। इस कारण प्रयोगवादी कलाकारों की रचनाओं को प्रकाशित होने में कभी भी धनाभाव का सामना नहीं करना पड़ता। इन पूँजीपतियों ने इन कलाकारों को मोटी-मोटी तनख्वाहें देकर अपनी प्रकाशन-संस्थाओं में नियुक्त कर रखा है। और बदले में ये कलाकार प्रगतिशील समाजवादी भावनाओं और विचारों के विरुद्ध निरन्तर विद्वेषपूर्ण विषाक्त प्रचार करते रहते हैं।

हिन्दी में प्रयोगवाद के जन्म और विकास के यही मूल कारण रहे हैं। प्रयोगवाद का एकमात्र लक्ष्य येन-केन-प्रकारेण प्रगतिशील साहित्य का विरोध कर व्यक्तिवादी प्रतिक्रियात्मक भावनाओं और विचारों का प्रचार करना रहा है। इन लोगों के पास प्रचार और प्रकाशन के प्रभूत साधन हैं। जो नए कलाकार इनके साहित्यिक चमत्कारवाद से प्रभावित हो इनका अनुकरण करने लगते हैं, उनकी रचनायें प्रकाशित होने में कोई कठिनाई नहीं होती। व्यापक प्रकाशन के कारण उन्हें अल्प-समय में ही प्रसिद्धि मिल जाती है। प्रसिद्धि प्राप्त करने के इस सुलभ साधन

का यह प्रभाव पड़ा है कि अनेक प्रगतिवादी कलाकार भी शीघ्र प्रसिद्धि प्राप्त करने के लोभ का संवरण न कर इनके खेमे में जा मिले। उनकी रचनाओं में नवीन वैचारिक और शिल्पगत प्रयोगों के कारण दुरूहता रही मगर ये लोग अपनी प्रगतिशीलता के ढोल पीटते रहे क्योंकि इनकी पहली रचनाओं के आधार पर इन्हें प्रगतिशील मान लिया गया था।

इसके अतिरिक्त प्रयोगवादी कलाकार अपने प्रचार के निमित्त एक अत्यन्त घिनौना हथकण्डा और अपनाते रहे हैं। ये परस्पर एक-दूसरे की प्रशंसा तो करते ही हैं, परन्तु छद्मनाम से स्वयं अपने ही ऊपर ग्रन्थ और निबन्ध लिखकर स्वयं को नवीन साहित्य का मसीहा घोषित करने में भी संकोच नहीं करते। एक उदाहरण द्रष्टव्य है। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन उर्फ 'अज्ञेय' हिन्दी में प्रयोगवाद के जन्मदाता माने जाते हैं। ये प्रायः तीन नामों से अपनी रचनाएँ प्रकाशित करते रहते हैं—'सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन', 'सच्चिदानन्द वात्स्यायन', तथा 'अज्ञेय'। इन्होंने हिन्दी-साहित्य पर अंग्रेजी में एक विशाल आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा था जिसके लेखक 'सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन' थे तथा जिसमें 'अज्ञेय' को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार सिद्ध किया गया था। कुछ छुटभैयों ने भी, जिनमें पहले प्रगतिवादी और फिर प्रयोगवादी बनने वाले साहित्यकार भी हैं, अपने प्रचार के निमित्त इसी प्रकार के घृणित हथकण्डे अपनाए थे। हिन्दी के जागरूक पाठक इस रहस्य से परिचित हैं।

प्रयोगवाद के सम्बन्ध में उपर्युक्त बातें हमें सिर्फ इसलिए कहनी पड़ीं जिससे पाठक प्रयोगवादी कलाकारों के असली उद्देश्य और रूप से भली-भाँति परिचित हो जायें। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह नई काव्य-धारा प्रगतिवाद का विरोध करने के लिए ही जन्मी और संगठित हुई थी। योरोप में भी प्रयोगवाद इसी अभिप्राय को लेकर संगठित हुआ था। इस विश्लेषण को आगे बढ़ाने से पूर्व हमें 'प्रयोग' शब्द के अर्थ और उसके वास्तविक अभिप्राय को समझ लेना चाहिए। तभी हमें मालूम पड़ेगा कि प्रयोगवादियों ने इस शब्द की पवित्रता, विशालता और महानता के साथ कैसा भयानक और जघन्य अत्याचार और गद्दारी की है।

प्रयोग : एक विश्लेषण

'प्रयोग' शब्द का मूल सम्बन्ध विज्ञान की अन्वेषण कार्य-विधि से माना जाता है। नितान्त नवीन अन्वेषणों अथवा किसी पुरानी मान्यता या सिद्धान्त सम्बन्धी अन्वेषण, परिवर्द्धन, संशोधन आदि के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयोग किए जाते हैं जिनका मूल उद्देश्य नवीन सृजनात्मक उपलब्धियों की प्राप्ति रहता है। ऐसे प्रयोग करते समय प्रयोगकर्त्ता की कार्य-पद्धति पूर्ण वैज्ञानिक और विश्लेषणपरक रहती है। वह परम्परा या रूढ़ि के प्रति आस्थावान नहीं होता। वह अपने विवेक को निरन्तर जाग्रत रखते हुए सत्य के नए माध्यम को जानने का प्रयत्न करता रहता है। वह

रूढ़ियों को विकास-मार्ग की सबसे बड़ी बाधा मानता है। क्योंकि रूढ़ियों द्वारा स्थापित सत्य जीवन को विकास की गति नहीं प्रदान कर सकता। प्रयोग जीवन की उदात्त भावनाओं के विकास का समर्थक और सहायक होता है। इसके लिए वह जिज्ञासा, दृष्टि (विज़न) और इन पर आधारित विकसित यथार्थ को साधन रूप में अपनाता है। देश, काल और यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में इस विकास को समझने, उसे और अधिक गतिशील बनाने की प्रक्रिया 'प्रयोग' कहलाती है। प्रयोगकर्त्ता संस्कारों को स्वीकार करता हुआ भी नई मर्यादाओं—स्वस्थ, गतिशील मर्यादाओं की स्थापना करने में प्रयत्नशील रहता है। नई मर्यादाओं की सम्भावनाओं को विकसित करना ही प्रयोग का एकमात्र धर्म है। वह प्राचीन का आधार ग्रहण कर 'नवीन' की खोज में व्यस्त रहता है। इसलिए परम्परा से उसका दृढ़ सम्बन्ध बना रहता है। प्रयोग चमत्कार—चौंकाने वाला थोथा चमत्कार उत्पन्न करने का विरोधी है। वह सत्य का अन्वेषक होने के कारण ऐसे चमत्कार से घृणा करता है। वस्तुतः प्रयोग आंशिक सत्य से पूर्ण सत्य की ओर उन्मुख हो विकास का पथ खोजने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार प्रयोग साध्य न होकर पूर्ण सत्य को जानने का साधन या प्रक्रिया मात्र है। संक्षेप में, प्रयोग एक स्वस्थ गतिशील और विकासमान प्रक्रिया है, जो समाज का कल्याण करती है।

साहित्यिक प्रयोगवाद की जन्मभूमि : योरोप

योरोपीय साहित्य में जब नए प्रयोगों की शृंखला आरम्भ हुई तो उन्हें 'प्रयोगवाद' कहकर पुकारा गया। वहाँ इन नवीन प्रयोगों का जन्म अनास्थामूलक वातावरण में हुआ था। प्रथम विश्वयुद्ध (सन् १९१४-१८) में हुए योरोप के भयानक विध्वंस और जन-संहार ने वहाँ के नवयुवक साहित्यकारों में वर्तमान समाज-व्यवस्था, परम्परा आदि के विरुद्ध एक भयंकर अनास्था भर दी थी। वे परम्परागत साहित्य को इस अनास्था की अभिव्यक्ति में असमर्थ मान भाव, भाषा, विचार, शैली आदि के क्षेत्रों में नए-नए प्रयोग कर अपनी वैयक्तिक कुंठाओं, निराशा, वेदना, आकांक्षा आदि की अभिव्यक्ति करने लगे। यह उन नवयुवकों का वर्ग था जो एक प्रकार से अराजकतावादी थे। अपनी कुंठित आकांक्षाओं का प्रकाशन ही उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति का एकमात्र लक्ष्य था। इसलिए वे कला-क्षेत्र में कलाकार की स्वतन्त्रता का उद्‌घोष करते हुए ऐसे-ऐसे चमत्कारपूर्ण कला-रूपों का सृजन करने लगे जो अपनी विचित्रता के कारण समाज का ध्यान उनके उपेक्षित, निराश, कुंठित जीवन की ओर आकर्षित कर सकें। साहित्य, चित्रकला, मूर्त्तिकला आदि सभी कला-क्षेत्र इसी वैचित्र्य-प्रधान अभिव्यक्तियों से आक्रान्त हो उठे। साहित्य का सामाजिक रूप धूमिल पड़ गया। प्रतीकवाद, बिम्बवाद, छायावाद, अति यथार्थवाद, अस्तित्ववाद, फ्रॉयडवाद आदि ऐसे ही व्यक्तिवादी नए कला-रूप थे।

प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के समय योरोप में पूँजीवाद और नवोदित

साम्यवाद परस्पर संघर्षरत थे। रूस में सर्वहारा वर्ग क्रान्ति कर आगे बढ़ रहा था। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में साम्यवाद का प्रभाव बढ़ रहा था। पूँजीवाद अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए चिन्तित था। इसलिए साहित्य की प्रचार-शक्ति से परिचित इस पूँजीवाद ने उपर्युक्त व्यक्तिवादी कला-सिद्धान्तों को समर्थन और संरक्षण देना आरम्भ कर दिया। साहित्य में यह व्यक्तिवादी सिद्धान्त 'प्रयोगवाद', अस्तित्ववाद, अति यथार्थवाद आदि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अंग्रेजी में इसके जन्मदाता प्रसिद्ध कवि और आलोचक टी० एस० इलियट माने जाते हैं। इन्होंने अपने समकालीन प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स की सहायता से एक दुरूह मगर ऊपर से आकर्षक लगने वाली काव्य-प्रणाली का प्रवर्त्तन किया था। एजरा पाउण्ड आदि अन्य साहित्यकारों ने इसे आगे बढ़ाया था। रिचर्ड्स ने इसी के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि भविष्य में कविता अधिकाधिक दुरूह होती जायेगी और बहुत थोड़े से लोग उससे लाभ उठा पायेंगे। इस नई काव्यधारा को इटली के प्रसिद्ध कवि-आलोचक क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' से भी पर्याप्त सहायता और सम्वर्द्धन मिला था।

योरोप में यह घटना आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व घटी थी, जिस समय हमारे यहाँ छायावाद पनप रहा था। द्वितीय विश्व-युद्ध (सन् १९३९-४५) के समय भारतीय पूँजीवाद को भी इन्ही परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था। यहाँ समाजवादी विचारधारा बड़े वेग से पनप रही थी। इसलिए यहाँ के पूँजीपतियों को यह भय सताने लगा कि कहीं भारत में भी साम्यवादी शासन की स्थापना न हो जाय। इसलिए उसने भी व्यक्तिवादी नवीन साहित्य-धारा 'प्रयोगवाद' को संरक्षण प्रदान करना आरम्भ कर दिया। आज इन पूँजीपतियों के समस्त प्रकाशन-साधन प्राणप्रण से समाजवादी विचारधारा का विरोध कर रहे हैं। इनका साधन, यह प्रयोग-वाद पाश्चात्य व्यक्तिवादी दर्शनों की ही उत्पत्ति है। प्रयोगवादी साहित्य के समर्थक डा० देवराज ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि—"हिन्दी-प्रयोगवाद भी केवल युग से प्रभावित नहीं है...वह बहुत हद तक इलियट, पाउण्ड आदि की शैली के अनुकरण में उपस्थित हुआ है।"[1] हिन्दी के प्रयोगवादियों ने योरोप के उपर्युक्त व्यक्तिवादी दर्शनों की अनेक बिशेषताओं को यथावत् अपना लिया था। हिन्दी प्रयोगवाद पर इन विदेशी विचारधाराओं के प्रभावों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

योरोपिय प्रतीकवादियों के समान इन्होंने भी परम्परागत भाषा को नवीन भावाभिव्यक्ति में असमर्थ और प्रभाव शून्य घोषित करते हुए एक ओर तो नए अस्पष्ट और असम्बद्ध प्रतीकों के प्रयोग किए जिसके कारण उनके काव्य में दुरूहता, अस्पष्टता क्लिष्टता आदि आ गई (प्रयोगवादी इन्हीं को अपने गुण सिद्ध करते हैं), और दूसरी

---

१ **प्रयोगवादी कवि : एक चेतावनी**—(डा० देवराज) 'नई कविता', प्रथम अंक।

ओर इन्होंने योरोपिय प्रतीकवादियों के ही समान अपने साहित्य में वैयक्तिकता, असामाजिकता, निराशा, रुग्णता आदि क्षयोन्मुखी प्रवृत्तियों का अंकन करना आरम्भ कर दिया। योरोपिय बिम्बवादियों के समान इन्होंने भी नए विषयों, नए रूपों, नई शैली और नई भाषा-निर्माण को अपना लक्ष्य घोषित कर विषय-वस्तु की उपेक्षा करते हुए स्पष्ट निरीक्षण, यथावत् चित्रण और बिम्बों के यथार्थ विधान पर इतना अधिक बल दिया कि उनकी कृतियों में सामान्य जीवन का यथार्थ चित्र और रस ढूँढ़े से भी मिलना मुश्किल हो गया। दादावादियों के समान इन्होंने परम्परागत सभ्यता एवं संस्कृति का घोर विरोध करते हुए अराजकतावादी विचारों का प्रचार किया। अतियथार्थवादियों के समान वास्तविकता एवं यथार्थ के आयामों को अस्वीकार करते हुए कला का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत कुंठाओं और दमित वासनाओं से मुक्ति मान फ्रॉयड का शिष्यत्त्व स्वीकार करते हुए अपनी वासनाओं, कुंठाओं की अभिव्यक्ति को ही अपनी कला-साधना का चरम लक्ष्य घोषित किया। यद्यपि अधिकांश प्रयोगवादी इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते कि उनके कला-सिद्धान्त विदेशी क्षयोन्मुखी कला-सिद्धान्तों के भारतीय संस्करण मात्र हैं, परन्तु कुछ ईमानदार प्रयोगवादी कवियों, जैसे—शमशेर बहादुर सिंह आदि ने इस प्रभाव को मुक्त हृदय से स्वीकार किया है।

मूलतः पलायनवादी काव्य

प्रयोगवाद मूलतः पलायनवादी काव्य है। प्रयोगवादी साहित्यकार अपनी लेखनी द्वारा तो परम्परा के प्रति विद्रोह आदि का नारा लगाते हैं परन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन में सुख-सुविधा और विलास—विशेषतः मानसिक विलास में ही डूबे रहते हैं। ये लोग जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्याओं की सर्वथा उपेक्षा करते हुए या तो वैयक्तिक कुंठित भावनाओं का प्रकाशन करते रहते हैं या शैली-शिल्प की नई-नई समस्याओं और रूपों में उलझे रहते हैं। समाज के प्रति कलाकार के दायित्त्व को नकाराना उनका सिद्धान्त वाक्य-सा बन गया है। छायावादी कवि भी अपने सामाजिक दायित्त्व के प्रति कुछ सीमा तक अचेत रहा था और इसी कारण वह व्यक्ति की रति की परिधि में केन्द्रित था। उसका जीवन तथा समाज से पलायन अचेतावस्था का था। वह अपनी मनोरम सौन्दर्यानुभूति में ही डूबा रहता था जो वैयक्तिक होते हुए भी उदात्त और कलापूर्ण थी। उसने काव्य में नए प्राणों का संचार किया था। परन्तु प्रयोगवाद का जीवन से पलायन सोद्देश्य, सचेत रूप में और जान-बूझकर किया गया है। वह भाववस्तु के क्षेत्र में छायावाद का अनुगामी होते भी हुए अपनी सौन्दर्यानुभूति में अत्यन्त कुत्सित, पथभ्रष्ट और भौंड़ा है। उसने हिन्दी के अनेक प्रतिभावान नवोदित कलाकारों को प्रसिद्धि के, अल्प-प्रयत्न से प्राप्त शीघ्र प्रसिद्धि और प्रचार के मोहजाल में उलझा कर उनके दृष्टिकोण, विचार और भावनाओं को विकृत बनाने का ऐसा अक्षम्य अपराध किया है जिसके लिए भावी पीढ़ियाँ उसे कभी क्षमा नहीं करेंगी। साहित्य के

इतिहास में प्रयोगवाद सदैव एक क्षयोन्मुखी काव्य-धारा के रूप में याद किया जाता रहेगा ।

हिन्दी प्रयोगवादी साहित्य

हिन्दी में प्रयोगवाद का जन्म साधारणतः सन् १९४३ में प्रकाशित एक काव्य-संग्रह 'तार सप्तक' से माना जाता है । इसके सम्पादक अज्ञेय थे । इसमें निम्नलिखित सात कवियों की कविताएँ संग्रहीत हैं—गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र, भारतभूषण, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, डा० रामविलास शर्मा, और अज्ञेय । इस संग्रह की अज्ञेय द्वारा लिखित भूमिका और विभिन्न कवियों की नए विचारों, भावनाओं और काव्य-प्रयोगों से युक्त कविताओं ने तथा अज्ञेय द्वारा किए जाने वाले इसके प्रचार ने इसके प्रति हिन्दी-संसार का ध्यान आकर्षित कर लिया था । इसमें हुए नए प्रयोगों को देखकर ही इसे एक प्रकार से प्रयोगवादी संग्रह मान लिया गया था । अज्ञेय द्वारा लिखी गई इसकी भूमिका से यह ध्वनि निकलती थी कि अज्ञेय ने हिन्दी के इन नए कवियों को, जो साहित्य में प्रतिष्ठापित नहीं हुए थे, एक स्थान पर एकत्र कर उन्हें प्रकाशन और प्रसिद्धि देने की अनुकम्पा की थी । दूसरी ध्वनि यह निकलती थी कि ये सभी कवि अभी तक अपना कोई निश्चित लक्ष्य नहीं बना पाए थे । अज्ञेय का यह संरक्षक जैसा स्वर इन कवियों को अच्छा नहीं लगा । डा० रामविलास शर्मा जैसे कवियों ने अज्ञेय के इस दृष्टिकोण का घोर विरोध करते हुए इस नवीन प्रतिस्थापित 'प्रयोगवाद' की कटु आलोचना की । इधर प्रकाशित 'तार सप्तक' के द्वितीय संस्करण में, इसमें संग्रहीत कवियों ने पुनः अपने-अपने वक्तव्य दिए हैं, जिनमें अज्ञेय के नेतृत्व को चुनौती देते हुए उन कारणों पर प्रकाश डाला है जो उक्त संग्रह को जन्म देने के कारण बने थे । इनमें से अधिकांश ने अज्ञेय द्वारा की गई प्रयोगवाद की व्याख्या और उद्देश्य का दृढ़तापूर्वक खंडन किया है ।

अपने तथाकथित अनुयायियों के इस विद्रोह को देख अज्ञेय ने सन् १९५१ में 'दूसरा सप्तक' सम्पादित और प्रकाशित किया । इसमें निम्नलिखित सात कवि सम्मिलित थे—भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश कुमार मेहता, रघुवीर सहाय, और धर्मवीर भारती । इन कवियों में भी विचारधाराओं का वैभिन्य था । शमशेर बहादुर सिंह आदि नवीन प्रयोगों के मोह से ग्रस्त होते हुए भी विचारों से प्रगतिवादी थे । परन्तु फिर भी इस संग्रह में प्रयोगवाद का रूप अधिक स्पष्ट और गहरा था । वस्तुतः इसी संग्रह को पहला प्रयोगवादी-संग्रह मानना चाहिए । इसके उपरान्त अज्ञेय ने सन् १९५९ में 'तीसरा सप्तक' संग्रहीत और प्रकाशित किया जिसमें—प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्त्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही, और वेंश्वर दयाल सक्सेना की कविताएँ संग्रहीत थीं । ये सभी कवि प्रयोगवाद के कट्टर समर्थक और प्रचारक बने ।

परन्तु 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के उपरान्त अज्ञेय द्वारा किया जाने वाला प्रयोगवाद का नेतृत्त्व खतरे में पड़ने लगा था। इस व्यक्तिवादी विचारधारा के अन्य विचारक और साहित्य-सृजक प्रयोगवाद की नई-नई व्याख्या और विश्लेषण कर अज्ञेय का विरोध करने लगे थे। उस समय तक जागरूक आलोचकों द्वारा की जाने वाली प्रयोगवाद की कटु आलोचना ने 'प्रयोगवाद' शब्द को काफी बदनाम कर दिया था। इसलिए प्रयोगवाद के समर्थकों ने इस नाम को त्याग 'नई कविता' नाम अपना लिया और सन् १९५४ में डा० जगदीश गुप्त के सम्पादन में 'नई कविता' शीर्षक से नवीन प्रयोगवादी कवियों का अर्द्ध-वार्षिक संकलन प्रकाशित हुआ। 'नई कविता' के कई अन्य ऐसे ही संकलन और प्रकाशित हुए। इन संग्रहों में नई कविता के विविध पक्षों पर नई और सुविचारित सामग्री प्रस्तुत की गई। उसे बौद्धिक घोषित कर जन-सामान्य के साहित्य से भिन्न और श्रेष्ठ सिद्ध किया गया। सैद्धान्तिक स्तर पर प्रयोगवाद की गम्भीर व्याख्या हुई।

साहित्यिक नेतृत्त्व के आकांक्षी अज्ञेय को इन नए नेताओं और नए कवियों की यह हरकतें पसन्द नहीं आईं। उन्होंने 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में इन्हें नकलची घोषित करते हुए लिखा कि—"पर नकलची हर प्रवृत्ति के रहे हैं और जिनका भंडा-फोड़ अपने समय में नहीं हुआ, उन्हें पहचानने में फिर समय की लम्बी दूरी अपेक्षित हुई है।....पर यह माँग भी करनी है कि उनके अस्तित्त्व के कारण मूल्यवान की उपेक्षा न हो, असली को नकली न माना जाय।" अज्ञेय के ये वाक्य उनकी उस मर्मान्तिक व्यथा को व्यक्त कर रहे हैं जो उन्हें अपना नेतृत्त्व छिन जाने के कारण भोगनी पड़ी थी। उन्होंने अपने इस आहत अंह की तुष्टि अपने अंग्रेजी में लिखे गए 'इन्डियन लिटरेचर' नामक ग्रन्थ में सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन द्वारा 'अज्ञेय' को आधुनिक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कलाकार घोषित कराकर की। 'धर्मयुग' के यशस्वी सम्पादक धर्मवीर भारती किसी समय अज्ञेय के कट्टर समर्थक और प्रचारक माने जाते थे परन्तु अब उनके बहुत बड़े विरोधी और आलोचक बन गए हैं। इस प्रकार अब अज्ञेय अपने समर्थकों और अनुयायिओं की इस तथाकथित कृतघ्नता से खिन्न हो साप्ताहिक 'दिनमान' का कुशल सम्पादन करते हुए समाजवादी विचारधारा, समाजवादी देशों और अपने भूतपूर्व अनुयायिओं को कोसते हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

अज्ञेय के नेतृत्त्व से हट जाने के उपरान्त 'प्रयोगवाद' का रूप बदला है। यद्यपि उसका मूल दृष्टिकोण अब भी व्यक्तिवादी है, परन्तु फिर भी उसमें विस्तार और उदारता के दर्शन होने लगे हैं। वह अपनी अनेक गर्हित निर्बलताओं से मुक्ति पा अधिक सुन्दर, कलापूर्ण और उदार बनता जा रहा है।

उपर्युक्त प्रयोगवादी काव्य-संकलनों के अतिरिक्त अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'प्रतीक' नामक पत्रिका बहुत दिनों तक प्रयोगवादी कविताओं का केन्द्र रही थी। इसके अतिरिक्त 'पाटल', 'दृष्टिकोण', 'कल्पना', 'अजन्ता', 'राष्ट्रवाणी', 'धर्मयुग',

'कविता' आदि पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रयोगवादी रचनाओं को प्रकाशित करती रहती हैं।

'नई कविता' नाम धारण कर लेने पर प्रयोगवाद का रूप अपनी कुख्याति का विसर्जन कर एक छद्म रूप में सामने आया। परन्तु जागरूक आलोचकों को इसका यह नया रूप पहचानने में देर नहीं लगी। उन्होंने इस 'नई कविता' की खूब बखिया उधेड़ी। इससे इसको प्रचार मिला। 'नई कविता' चर्चा का एक प्रधान विषय बन गई। इस चर्चा को डा० जगदीश गुप्त ने इस रूप में एक नई उपलब्धि माना कि—"और कुछ नहीं तो कम से कम इन सब के कारण 'नयी कविता' की बहुत सी प्रतियाँ बिक गईं।"

'नई कविता' नाम के इस प्रचार और प्रसार ने साहित्य-जगत में छूत की बीमारी का काम किया। हिन्दी के नवोदित कहानीकारों ने देखा और अनुभव किया कि यह नया नाम शीघ्र प्रसिद्धि का एक अचूक साधन है। इसलिए उन लोगों ने भी अपने पूर्ववर्ती कथाकारों के सम्पूर्ण कृतित्त्व और दाय को नकारते हुए अपनी कहानियों का नया नामकरण कर डाला—'नई कहानी'। और फिर उसके खूब ढोल पीटने आरम्भ कर दिए। 'नई कविता' की तरह 'नई कहानी' भी काफी समय तक पर्याप्त चर्चा का विषय बनी रही। नए नाम द्वारा इस शीघ्र प्रसिद्धि ने साहित्य में नए-नए नामकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। फलस्वरूप सचेतन कहानी, अकहानी, अकविता, ठोस कविता, क्रुद्ध पीढ़ी की कविता—जैसे नए-नए नाम और दल बनने लगे। इनमें तनिक से दृष्टि और रूप-भेद के अतिरिक्त और कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं होती। शीघ्र-प्रसिद्धि का मोह और नेतृत्व पद पर जमे हुए पुराने खिलाड़ियों को अपदस्थ कर अपनी धाक जमाना ही ऐसे आन्दोलनों का मूल लक्ष्य और उद्देश्य रहा है। और साहित्य-क्षेत्र में इस विकृति का जन्मदाता प्रयोगवाद को ही माना जा सकता है।

प्रयोगवाद का मूल उद्देश्य

हम पीछे बता आए हैं कि प्रयोगवाद घोर व्यक्तिवादी विचारधारा है जो अपने नए-नए प्रयोगों और कला-चमत्कारों द्वारा अपनी वैयक्तिक कुंठाओं का प्रकाशन कर पाठकों को चमत्कृत कर अपनी ओर आकर्षित करने में अत्यन्त पटु है। प्रयोगवादी कलाकार ऐसे साहित्य का सृजन करते आए हैं जो जनवादी हो या न हो, परन्तु विलक्षण, अद्भुत, दुरूह और ऐसा अवश्य हो जिसे पढ़कर पाठक आश्चर्यचकित हो उठे, चाहे उसे समझ पाए या न समझ पाए परन्तु यह अवश्य कहे कि नई बात कही है। यह प्रयोगवाद का ऊपरी उद्देश्य है। उसका आन्तरिक उद्देश्य—कलाकारों और पाठकों को समाजवादी विचारधारा के प्रभाव से मुक्त कर उन्हें घोर व्यक्तिवादी बना देना रहा है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह आन्तरिक उद्देश्य केवल प्रयोगवाद के कर्णधारों तक ही सीमित रहा था। छुटभैये तो शीघ्र प्रसिद्धि और

अपनी वैयक्तिक कुंठित भावनाओं के प्रकाशन के मोह में पड़कर ही प्रयोगवादी बने थे ।

प्रयोगवादियों ने प्रयोगवाद के उद्देश्य या उद्देश्यों की व्याख्याएँ कर उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । इस सम्बन्ध में प्रयोगवाद के प्रमुख व्याख्याता लक्ष्मीकान्त वर्मा का कथन द्रष्टव्य है—"प्रयोग की अनुभूति उन क्षेत्रों की अन्वेषण-प्रवृत्ति है, जिन्हें अभेद्य या निरपेक्ष या अन्वेषणेतर मानकर छोड़ दिया गया था । प्रयोगवाद 'ज्ञात' और 'अज्ञात' की ओर बढ़ने की बौद्धिक जागरूकता है । यह जागरूकता 'व्यक्ति-सत्य' और 'व्यापक सत्य' के स्तरों पर व्यक्ति की अनुभूति की सार्थकता को भी महत्त्वपूर्ण मानती है । प्रयोगवाद व्यक्ति-अनुभूति की शक्ति को मानते हुए समष्टि की सम्पूर्णता तक पहुँचने का प्रयास है । परम्परा केवल यही सिखाती है कि व्यक्ति-अनुभूति का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, महत्त्व की वस्तु व्यापक सत्य, समष्टि का सत्य ही है । इसीलिए परम्परा अपनी रूढ़ि में अन्वेषण और परीक्षण को महत्त्वहीन मानती है । परम्परावादी स्थापित सत्य से आगे बढ़ने में शंकाएँ प्रस्तुत करता है । प्रयोगवाद व्यक्ति-सत्य और व्यापक-सत्य अथवा व्यक्ति-अनुभूति और समष्टि-अनुभूति को एक ही सत्य के दो रूप मानता है । प्रयोगवाद एक ओर व्यक्ति-अनुभूति को समष्टि-अनुभूति तक उत्सर्ग करने का प्रयास है, तो दूसरी ओर वह रूढ़ि का विरोधी और अन्वेषण का समर्थक है ।"

इसके आगे वह नए प्रयोगों की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—"रूढ़ि की अक्षमता ही प्रयोग के नए अंकुरों को विकसित करने के लिए बाध्य करती है । ऐसा इसलिए होता है क्योंकि समय के साथ विकसित यथार्थ भाव-बोध स्थापित मान्यताओं से इतने आगे होते हैं कि वे इस यथार्थ के सम्पूर्ण भाव-स्तर को वहन करने में असमर्थ होते हैं । प्रयोगवाद, यदि इस दृष्टि से देखा जाय, तो परम्परा की असमर्थता में साहित्यकार की जिज्ञासामय अभिव्यक्ति का साधन है ।"

व्यक्ति-सत्य की अभिव्यक्ति से किसी को भी विरोध नहीं होना चाहिए । परन्तु इसका महत्त्व सापेक्षिक है । यदि यह व्यक्ति-सत्य समष्टि-सत्य की अभिव्यक्ति और विकास में सहायक होता है तो शुभ है । परन्तु प्रयोगवाद का व्यक्ति-सत्य समष्टि-सत्य की घोर उपेक्षा करने वाला रहा है । जहाँ तक परम्परा और रूढ़ि के ध्वंस का प्रश्न है, इस ध्वंस के साथ निर्माण की भावना भी रहती है और वही मूल लक्ष्य होना चाहिए । ध्वंस के उपरान्त भावी निर्माण के प्रति अडिग आस्था का रहना पहली शर्त है । परन्तु प्रयोगवाद ध्वंसात्मक ही अधिक रहा है । और उसका कारण है इसके मूल में स्थित हताशा, पलायन, कुंठा आदि का प्राबल्य और एक स्पष्ट दृष्टि (विज़न) का अभाव । इसी कारण प्रयोगवादी रूढ़ि-ध्वंस ने विकृतियों की ही सृष्टि अधिक की है; स्वस्थ, आशापूर्ण, नव-निर्माण के उन्मेष से ओतप्रोत भावनाओं से प्रयोगवाद शून्य रहा है ।

प्रयोगवादी संस्कारबद्ध तथ्यों को यथार्थ की गतिशील शक्ति को सहन और वहन करने में असमर्थ मान यह कहता है कि अभिव्यक्ति को अनुभूतियों के अनुकूल नए माध्यमों का प्रयोग करने का अधिकार है। यह ठीक है कि संस्कारबद्ध हो जाना गतिहीनता को जन्म देना है और जीवन विकासशील है। अतः उसका चित्रण करने के लिए साहित्य भी गतिशील रहता है। यह भी सत्य है कि कलाकार की अभिव्यक्ति नए-नए माध्यम खोजती और उनका प्रयोग करती रहती है। उसके इस अधिकार पर अंकुश लगाना, विद्रोह को जन्म देना है। परन्तु कलाकार जन-मन का स्रष्टा होता है। उसकी वैयक्तिक अनुभूति समष्टि की अनुभूति का ही प्रकाशन होती है। यदि कलाकार इस सत्य को भुला देता है तो सत्साहित्य का निर्माण करने में असमर्थ रहता है। हमारे प्रयोगवादी कलाकार ने इस सत्य को भुला दिया है। यही उसकी सबसे बड़ी कमजोरी और असफलता है।

प्रयोगवाद : प्रबुद्ध चेताओं का साहित्य है

प्रयोगवाद के प्रमुख कवि और प्रबल समर्थक डा० जगदीश गुप्त का कहना है कि प्रयोगवादी काव्य जन-सामान्य के लिए न होकर केवल प्रबुद्ध चेताओं के लिए ही है। उनके अनुसार प्रयोगवादी कविता—"उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नए कवि के समान है; अर्थात् जो उसके समान धर्मा हैं।....बहुत अंशों में नई कविता की प्रगति ऐसे प्रबुद्ध भावुक वर्ग पर आश्रित रहती है—भले ही यह वर्ग संख्या में कम हो, क्योंकि इसका महत्त्व संख्या से नहीं, उस स्थिति से आँका जाता है—जिस तक कि अनेक अनुभवों को संचित करता हुआ यह पहुँचा होता है।" अर्थात् प्रयोगवादी काव्य बौद्धिकता-प्रधान है और जन-सामान्य के लिए न होकर प्रयोगवाद के समान-धर्मा प्रबुद्ध जनों के लिए ही है। बौद्धिकता का अर्थ दुरूहता नहीं है। दुरूहता से प्रेषणीयता का हनन होता है। और प्रयोगवादी काव्य अपने अटपटे विचित्र प्रयोगों, क्लिष्ट अथवा असम्बद्ध भाषा और वाक्य-रचना के कारण दुरूहता का ही सृजन अधिक करता है। यह साहित्य, इन्हीं के अनुसार, एक वर्ग-विशेष के लिए निर्मित एक विशेष प्रकार का साहित्य है। ऐसी स्थिति में समाज-सापेक्ष बने रहने की बात कहना कोरा दम्भ है। यथार्थ सदैव समाज-सापेक्ष होता है। समाज-निरपेक्ष यथार्थ का कोई सामाजिक महत्त्व नहीं होता। प्रयोगवादी-काव्य में यह समाज-निरपेक्षता स्पष्ट लक्षित होती है। फिर भी ये लोग डींग हाँकते हैं कि हम विद्रोह कर रहे हैं, सामाजिक असन्तोष और विषमताओं का चित्रण कर रहे हैं, काव्य को जन-भाषा के निकट ला रहे हैं, आदि-आदि। इस काव्य में सामाजिकता की पूर्ण अवहेलना और व्यक्ति की कुंठित, दमित भावनाओं और आकांक्षाओं का ही प्राधान्य रहा है। इनकी रचनाएँ अस्पष्ट, आत्म-रति पूर्ण, व्यक्ति की परिधि में केन्द्रित, अजीब कल्पनाओं, छन्दों, विषय-वस्तुओं, प्रतीकों, उपमानों और ऐसी भाषा से ओतप्रोत रहती है जिन्हें समझने में कोश भी सहायता नहीं कर पाते।

नूतनता का अत्यधिक मोह

नूतनता का सब कुछ नए ढंग से नई भाषा और नए रूप में प्रस्तुत करने का मोह ही इस काव्य की दुरूहता, अस्पष्टता और समाज-निरपेक्षता का प्रधान कारण रहा है। इसी कारण इस प्रयोगवादी काव्य में छायावादी सुन्दर शब्द-विन्यास, भावनाओं की मधुर अभिव्यक्ति तथा मूर्त्त-विधायिनी कल्पना का अभाव रहा है। सर्वत्र नवीनता की खोज में लगे रहना ही इनका एकमात्र लक्ष्य है। ये सदैव ऐसी उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, रूपकों, प्रतीकों और शब्दों की खोज में लगे रहते हैं जो पाठकों को चमत्कृत कर दें, भले ही उनके साथ भावों का तादात्म्य न हो सके। इस प्रयत्न में भाव और विचार क्रमबद्ध रूप में आगे नहीं बढ़ पाते, संवेदना उलझ कर रह जाती है। संवेदना का यह उलझाव और विचारों का यह क्रम-भंग—प्रयोगवाद की बहुत बड़ी निर्बलता है।

प्रयोगवाद की आलोचना

प्रयोगवाद के इस रूप को देखकर ही हिन्दी के अनेक सजग, प्रबुद्ध आलोचकों ने उसकी कटु आलोचना की है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा कि—"किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान नहीं ले सकता। प्रयोग में और काव्यात्मक निर्माण या सजन में जो मौलिक अन्तर है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेषकर काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की दुनियाँ से बहुत दूर है। कवि सबसे पहले अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी है। वह उनके साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। उसका दूसरा उत्तरदायित्व काव्य-परम्परा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है। वह किसी भी अवस्था में ऐसे प्रयोगों का पल्ला नहीं पकड़ सकता, जिसका उस काव्य के भावगत और भाषागत संस्कारों से तथा उन दोनों के स्वाभाविक विकास-क्रम से सहज सम्बन्ध नहीं है। ···· प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक विकास-क्रम या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो।"

डा० रामविलास शर्मा ने प्रयोगवादियों के नवीनता के मोह को विकृत बताते हुए लिखा है—"पूँजीवादी व्यवस्था में शिक्षित किंवा दुःशिक्षित कवि में और जन-साधारण में भारी अन्तर होता है। कवि अपने संकुचित आभिजात्य वर्ग में और संकुचित होता हुआ व्यंजना के नए और अपने तक सीमित प्रतीक ढूँढ़ लाता है। वह समझता है कि उसका अनुभव और व्यंजना उच्चकोटि की है।"

डा० नगेन्द्र ने प्रयोगवाद की अतिशय बौद्धिकता की आलोचना करते हुए लिखा कि—"एक गहन बौद्धिकता इन कवियों पर शीशे की पर्त की तरह जमती जाती है। छायावाद के रंगीन कल्पना-वैभव और सूक्ष्म तरल भावना और चिन्तन के स्थान पर यहाँ ठोस बौद्धिक तत्त्व का बोझीलापन है।···ये कविताएँ अनिवार्य रूप से

ही नहीं, सिद्धान्त रूप से भी दुरूह हैं।" डा० नगेन्द्र ने प्रयोगवादी काव्य की दुरूहता के मुख्य कारण इस प्रकार बताए हैं—

१. भावतत्त्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध।
२. साधारणीकरण का त्याग।
३. उपचेतन मन के अनुभव-खंडों के यथावत् चित्रण का आग्रह।
४. काव्य के उपकरणों और भाषा का एकान्त वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग।
५. नूतनता का सर्वग्राही मोह जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रयोगवादी काव्य के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष दिए हैं—

१. प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं। ये अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं।
२. ये रचनाएँ वैचित्र्य प्रिय हैं, इनमें वृत्ति का सहज अभिनिवेश नहीं है।
३. ये अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करतीं।

प्रयोगवाद का एक नया रूप : प्रपद्यवाद

अज्ञेय ने परम्परा-विरोध और नए प्रयोगों पर अधिक बल दिया था। प्रयोगवाद के आरम्भ के कुछ समय उपरान्त बिहार के तीन साहित्यकारों—नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश ने मिलकर प्रयोगवाद के रूप को और अधिक उग्र तथा संकीर्ण बनाते हुए एक नए साहित्यिक आन्दोलन को जन्म दिया जो इन तीनों कवियों के प्रथम नामाक्षरों के आधार पर 'नकेनवाद' कहलाया। वस्तुतः यह अतियथार्थवाद का ही एक रूप था, जो 'प्रपद्यवाद' भी कहलाता है। इसके प्रवर्त्तकों के अनुसार इस नए वाद में—भाव और व्यंजना का स्थापत्य, सभी शास्त्रों द्वारा निर्धारित नियमों की अस्वीकृति, पूववर्ती परम्पराओं को निष्प्राण मान नकारना, प्रयोग को साधन न मान साध्य के रूप में ग्रहण करना, तथा अनुकरण को पूर्णतः वर्जित मानना, प्रधान विशेषताएँ हैं। वस्तुतः यह नया वाद योरोपिय अति यथार्थवाद का ही भारतीय संस्करण था। परन्तु हिन्दी में यह अपना प्रभाव जमाने में असमर्थ रहा।

प्रयोगवाद की उपलब्धियाँ

मूलतः प्रयोगवाद नवीनता के मोह के उन्माद से ग्रस्त साहित्य का एक ऐसा रूप है जिसमें समष्टि के स्थान पर व्यक्ति को ही प्राधान्य मिला है। इस साहित्य में

सन्तुलन और संगठन का अभाव रहा है। परन्तु समष्टि रूप से यही कहा जा सकता कि यह साहित्य सम्पूर्णतः खोखला और निष्क्रियता का ही जनक रहा है। फिर भी इसकी अपनी कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ और उपलब्धियाँ रही हैं जिन्हें सहज ही नज़र-न्दाज़ नहीं किया जा सकता। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रयोगवाद का स्वस्थ रूप उन्हीं कवियों में मिलता है जो प्रथम 'तार सप्तक' में संग्रहीत थे। उनके अतिरिक्त कुछ नए सुलझे हुए कवि भी नवीन प्रयोगों को अपनाते हुए समाजपरक बने रहे हैं। परन्तु इसके प्रवर्त्तक या कहना चाहिए, संकलन कर नेता बन बैठने वाले अज्ञेय आरम्भ से अभी तक घोर प्रतिक्रियावादी ही बने रहे हैं। स्वस्थ प्रयोग करने वाले प्रयोगवादियों में—गजानन मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह, भारत भूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर आदि महत्त्वपूर्ण हैं। प्रयोगवाद में जन-भाषा के प्रयोग का दम्भ करने वाले अज्ञेय जब—

'निविड़ान्धकार
को मूर्त्त रूप दे देने वाली
एक अकिंचन, निष्प्रभ अनाहूत
अज्ञात द्युति किरण
आसन्न पतन, बिन जमी ओस की अन्तिम
ईषत्कण, स्निग्ध, कातर शीतलता
अस्पृष्ट किन्तु अनुभूत…… ……"

जैसी जन-भाषा (?) का प्रयोग कर रहे थे, तब गिरिजाकुमार माथुर सच्ची जन-भाषा में सामान्य-जन के—क्लर्कों के—जीवन का यथार्थ चित्रण कर रहे थे। जैसे—

'क्योंकि अब बंद हो गए दफ्तर,
घन्टियाँ बज रही हैं रिक्शों की
बीसियों साइकिलों की पाँतें
कैरियर, टोकरी या हैंडिल में
कुछ के खाली कटोरदान बँधे,
कुछ में हैं फाइलें हर दिन भूखी
जो न कभी खत्म हुईं आफिस में।'—('शाम की धूप')

इसी प्रकार मुक्तिबोध की 'नाश देवता', 'हे महान्' आदि कविताएँ अत्यन्त सशक्त, मनोरम और कलापूर्ण हैं। इनमें संगीत, क्रम, लय आदि का पूरा ध्यान रखा गया है। अस्तु,

प्रयोगवादी काव्य की पहली उपलब्धि यह है कि इसमें सम-सामयिक जीवन-चेतना के नए स्वर मुखरित हुए हैं, भले ही उनकी अभिव्यक्ति वैयक्तिकता-प्रधान रही हो। कुछ कवियों ने परम्परा-भुक्त उपमानों को त्याग, सामयिक जीवन में बहुलता

से प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं को उपमानों के रूप में प्रयुक्त किया है, जैसे—'कैमरे के लैन्स सी हैं आँखें बुझी हुई', 'टाइप राइटर की 'की' की तरह'। ये उपमान नवीन होते हुए भी सामयिक जीवन की नवीनता और नवीन युग-बोध को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। प्रयोगवादी काव्य में ऐसे नवीन और सार्थक उपमानों की बहुलता है। ये परम्पराबद्ध रुचि और दृष्टि को अखरते अवश्य होंगे परन्तु इनकी सार्थकता स्पृहणीय है।

व्यक्तिवाद प्रयोगवादियों का मूल स्वर रहा है जिसका कारण उनका अहं है। यह अहं परम्परा और समाज के विरुद्ध विद्रोह को उकसाता है। इसी कारण ये लोग परम्परा, रूढ़ि आदि को नकारते हुए एकाकी ही विद्रोह-पथ पर आगे बढ़ने की उद्घोषणा करते हैं—'बिना सीढ़ी के बढ़ेंगे, तीर के जैसे बढ़ेंगे।' साथ ही ये नियति को भी चुनौती देते हैं—'मैं खड़ा तुमको यहाँ ललकारता हूँ।' इसे इन कवियों की आत्म-शक्ति-जनित विद्रोह की ही अभिव्यक्ति मानना चाहिए। यह विद्रोह अवश्य है परन्तु व्यक्तिपरक होने के कारण दिशाहीन अराजकता की ही सृष्टि कर रह जाता है। यदि प्रयोगवाद इस व्यक्तिगत विद्रोह को प्रगतिवाद के समान समूहगत बना सकता तो प्रयोगवादी साहित्य अपनी नवीनता के साथ अभूतपूर्व साहित्य बन जाता।

प्रयोगवादी साहित्य में अनास्थावादी विचारधारा के प्राधान्य के कारण वैयक्तिक कुंठाओं की अभिव्यक्ति को ही अधिक प्रश्रय मिला है। कवि के मानस में निरन्तर उठते रहने वाले संशय उसकी सम्पूर्ण आस्था को छिन्न-भिन्न कर उसे अस्तित्ववादी बना देते हैं। वह प्रतिक्षण अपने अस्तित्व के नष्ट होने के भय से आक्रान्त रहता है। धर्मवीर भारती को कुंठाएँ बहुत सताती हैं—

'अपनी कुंठाओं की
दीवारों में बन्दी
मैं घुटता हूँ।'

परन्तु यह कुंठाओं की तड़पन स्वाभाविक न होकर ऊपर से ओढ़ी हुई है। विगत महायुद्ध की विभीषिका ने योरोप में जिन अनास्था-जनित-कुंठाओं को जन्म दिया था, प्रयोगवादी कुंठाएँ उन्हीं की नकल है, इसलिए कल्पित और आरोपित होने के कारण प्रभावित नहीं कर पाती। जीवन के प्रति इस अनास्था ने इस काव्य में पराजय, निराशा और अविश्वास के स्वर भर दिए हैं। प्रयोगवादी कलाकार समाज और परम्परा से कट कर अपने में ही सीमित होकर रह गया है। परन्तु कुछ कवियों में हमें आस्था और भावी विकास के स्वर गूँजते सुनाई पड़ते हैं। अज्ञेय ने आस्था की शक्ति को स्वीकार करते हुए लिखा था—'आस्था न काँपे, मानव फिर मिट्टी का भी देवता हो जाता है।' गिरिजाकुमार माथुर ने मानव के मंगलमय भविष्य के प्रति आस्था प्रकट करते हुए कहा है कि—

'आदमी रचे नए समाज का भवन
ओ भविष्य सूर्य, धरो मुक्ति के चरण ।'

संसार के अनेक श्रेष्ठ कलाकारों ने वेदना को जीवन-प्रदायिनी शक्ति माना है । यह वेदना जीवन को विषपायी बना उसे शुद्ध, शुभ्र रूप प्रदान करती है । प्रयोगवादी भारत भूषण अग्रवाल ने भी वेदना के इसी रूप को स्वीकार करते हुए लिखा है—

'पर न हिम्मत हार;
प्रज्ज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप
ढाल उसमें शक्ति अपनी, लौ उठा ।'

यह वेदना मानव-कल्याण की जननी है । इसी मानव-कल्याण की भावना से भर रघुवीर सहाय सूर्य से यह वरदान देने की प्रार्थना कर रहे हैं—

'जिससे भर जाए दूध-सा पृथ्वी का आँचल;
जिससे हर दिन उसके पुत्रों के लिए मंगल हों ।'

शिल्प के क्षेत्र में भी प्रयोगवादियों ने स्पृहणीय नवीनताओं का समावेश किया है । परन्तु प्रयोगवाद के आरम्भिक रूप को देखकर डा० नगेन्द्र ने इसे उसी प्रकार काव्य की एक नवीन, विशिष्ट शैली मात्र घोषित कर दिया था, जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने छायावाद की नवीनता को मात्र एक शैली ही माना था । परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि कुछ प्रयोगवादी कवियों ने भाषा, लय, शब्द, बिम्ब, उपमान, छन्द आदि के क्षेत्र में अनेक नए स्वस्थ प्रयोग किए हैं । इस काव्य का बिम्ब-विधान कहीं-कहीं छायावादी-काव्य के बिम्ब विधान से भी अधिक सशक्त, स्पष्ट और उज्ज्वल है । परन्तु अधिकांश अधकचरे प्रयोगवादी कवि शीघ्र-प्रसिद्धि के लोभ में ऐसे ऊट-पटाँग बिम्ब प्रस्तुत कर बैठते हैं जो नितान्त शिथिल, अस्पष्ट और वर्ण्य-विषय के सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं । प्रयोगवाद ने हिन्दी-काव्य को एक नई सशक्त भाषा प्रदान की है, भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ाई है, इसमें सन्देह नहीं । परन्तु हमें प्रयोगवाद से सबसे बड़ी शिकायत यही है कि उसमें आस्था, विश्वास और मानव-मात्र की मंगलाकांक्षा का चित्रण बहुत ही कम हुआ है । वह समष्टि रूप में अनास्था, निराशा और पलायन का व्यक्तिवादी काव्य ही अधिक रहा है । यदि प्रयोगवाद अपनी इन न्यूनताओं और संकीर्णताओं को दूर करने में समर्थ हो सकता तो निश्चय रूप से यह एक उदात्त, कलामय, सुन्दर काव्य बन जाता । अधिकांश प्रयोगवादी-साहित्य नवीनता के मोह से ग्रस्त, अनगढ़ हाथों द्वारा रचा गया, वैयक्तिक कुंठाओं की अभिव्यक्ति बनकर ही रह गया है, इसलिए प्रयोगवाद को 'कुंठावाद' भी कहा जाता है । और इसकी यह कुंठाभिव्यक्ति भी स्वानुभूत न होकर अधिकांशतः उधार ली हुई है । इसमें विदेशी कुंठावादी काव्य का उथला अनुकरण ही अधिक रहा है । आज भी अकविता, ठोस कविता

आदि के रूप में यह विदेशी प्रभाव देखा जा सकता है। भूखी पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी आदि की संज्ञा धारण कर हिन्दी में कविता के जो नए-नए रूप उदय हो रहे हैं, यह भी विदेशी—अमरीकी और अंग्रेजी—साहित्य का ही प्रभाव है।

कतिपय छुट-पुट प्रयासों के अतिरिक्त अब प्रयोगवाद का पहला व्यापक प्रभाव क्रमशः कम होता जा रहा है। नए काव्य में अनैतिकता और अश्लीलता के बढ़ते हुए रूप को देख कुछ पुराने प्रयोगवादी इसका विरोध करने लगे हैं। समष्टि रूप से अब प्रयोगवाद के प्रभाव को समाप्त-सा ही समझना चाहिए। परन्तु नए काव्य के शिल्प-विधान में प्रयोगवाद का प्रभाव अब भी काफी सशक्त है। प्रयोगवाद द्वारा आरम्भ में प्रयुक्त उपमान, बिम्ब आदि, जो पहले अपरिचित होने के कारण संवेदनशील नहीं प्रतीत होते थे, अब काफी लम्बे प्रयोगों के उपरान्त सुपरिचित अतः संवेदनशील बनते चले जा रहे हैं। वैयक्तिक कुंठाएँ समाज का वर्तमान रूप निरूपित करने लगी हैं। वस्तुतः प्रयोगवाद का जन्म सन् १९६० के उपरान्त होना चाहिए था क्योंकि इस युग में देश में लगभग वही परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं जिन्होंने योरोप में प्रयोगवाद को जन्म दिया था और कलाकार को चारों ओर से निरादृत, उपेक्षित और अभाव-पीड़ित बना घोर व्यक्तिवादी बना दिया था। आज की विषम परिस्थितियों में हिन्दी का कलाकार ऐसा ही जीवन बिता रहा है, इसलिए उसके मन में वर्तमान और परम्परागत समाज-व्यवस्था, जीवन-मूल्यों और आस्थाओं के प्रति एक उग्र उपेक्षा और विरोध की भावना उठना स्वाभाविक है। यही कारण है कि हिन्दी की आज की कविता अपनी अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति के प्रति अधिक ईमानदार बनती चली जा रही है।

नई कविता

यहाँ 'नई कविता' से हमारा अभिप्राय प्रयोगवादी काव्य के प्रयोगवादियों द्वारा किए गए नए नामकरण 'नई कविता' से न होकर उस काव्य से है जो आजादी के उपरान्त इधर २० वर्षों से लिखा जा रहा है। इस काल में हिन्दी में प्रयोगवादी, प्रगतिवादी, परम्परावादी, प्रगति, प्रयोग तथा परम्परा-समन्वित विभिन्न प्रकार के काव्य का सृजन होता रहा है। इस काल में प्रधानता मुक्तक-काव्य की ही रही है परन्तु प्रबन्ध-काव्य भी, जिनमें कुछ महाकाव्य-पद के भी अधिकारी हैं, काफी परिमाण में लिखे गए हैं। परन्तु प्रयोगवादी-काव्य का अधिक शोर रहने के कारण अधिकांश आलोचक प्रयोगवाद की ही आलोचना और विवेचना में लगे रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि इस काल में रचित प्रयोगवादी-परम्परा से भिन्न काव्य का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सका। इस काव्य के प्रति आलोचकों का अधिक ध्यान नहीं गया। अतः कुछ लोगों ने काव्य-क्षेत्र की इस स्थिति को गतिरोध की स्थिति घोषित कर दिया तथा कुछ ने इसे हिन्दी-काव्य की ह्रासोन्मुख स्थिति माना। ये दोनों ही दृष्टिकोण अतिवादी थे। इस युग में ह्रासोन्मुख प्रयोगवादी-काव्य भी प्रचुर परिमाण में रचा गया और विकासोन्मुख प्रगतिवादी काव्य भी। काव्य-क्षेत्र में नए-नए स्वस्थ-अस्वस्थ प्रयोग भी हुए, नए विषयों को अपनाया गया, बिम्ब, प्रतीक, छन्द, भाषा आदि के नए रूप भी सामने आए, और परम्पराबद्ध काव्य भी लिखा गया। विभिन्न प्रभावों से समन्वित इस युग की काव्य-धारा व्यक्ति और समाज के विभिन्न क्षेत्रों को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ती रही। इस स्थिति में उसका एक समष्टि रूप उभर कर सामने न आ पाया।

इस युग के काव्य का समुचित मूल्यांकन न होने का एक कारण यह भी था कि इस युग में प्रधानता उपन्यास, कहानी और आलोचना की ही रही। इनकी तुलना में कविता कम लिखी गई। दूसरे, नए कहानीकारों और नए आलोचकों ने अपने-अपने कृतित्त्व का ढोल पीटने में अपने पूर्वजों को बहुत पीछे छोड़ दिया। इस कारण

कविता की चर्चा कम और कहानी तथा आलोचना की चर्चा अधिक होती रही। उपर्युक्त दोनों अतिवादी दृष्टिकोण इसी विषम स्थिति की उपज थे। यह युग काव्य-क्षेत्र में विस्तार का युग रहा है। उसमें जितना विस्तार रहा है, उसकी तुलना में गहराई और कला-सौन्दर्य कम आ पाया है। विस्तार के साथ उथलापन आता ही है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। विस्तार की दृष्टि से इस युग का काव्य पर्याप्त समृद्ध रहा है। इस युग के काव्य का विवेचन करने के लिए पहले हम उन परिस्थितियों का परिचय देना चाहेंगे जो इस काव्य के मूल में रही हैं। अस्तु,

परिस्थितियों के दो रूप : आन्तरिक और बाह्य

देश के स्वतंत्र होने पर यहाँ परिस्थितियों ने जो नया मोड़ लिया, उसने दो प्रकार की प्रवृत्तियों को जन्म दिया—आशावादी और निराशावादी। आरम्भ में वातावरण में एक उन्मत्त उल्लास के स्वर मुखरित हुए। सब ने एक स्वर से इस नए उल्लास का उद्घोष किया। परन्तु देश के विभाजन ने जो एक अराजकता, हताशा, विध्वंस और सामूहिक हत्याओं का दौर आरम्भ कर दिया था, उससे यह उल्लास की भावना दब गई। इसके उपरान्त देश के नए शासकों ने जो रूप अपनाया, उससे जन-सामान्य का रह-सहा उल्लास भी समाप्त हो गया। प्रेमचन्द के शब्दों में कहें तो यह परिवर्तन मात्र इतना ही था कि 'शासन की गद्दी पर गोरे साहब की जगह काला साहब' आ बैठा था पुरानी नौकरशाही यथावत् कायम रही, शासन की नीति और प्रवृत्ति में कोई मूलभूत क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। परिवर्तन केवल इतना ही हुआ कि देश में देशी-विदेशी पूँजीपतियों का प्रभाव और प्रभुत्त्व अबाध गति से बढ़ना आरम्भ हो गया। फलस्वरूप मँहगाई बढ़ने लगी और सामान्य-जन के लिए जीवन-निर्वाह दुस्तर हो उठा। नई-नई योजनाओं के नाम पर नए-नए कर लगाए गए। राजनीतिक क्षेत्र में समाजवादी विचारधारा के समर्थकों की उपेक्षा होने लगी। फलस्वरूप सन् १९४८ में सामाजवादी दल कांग्रेस से अलग हो गया। राजनीति और समाज में पूँजी का प्रभुत्व बढ़ने के कारण समाज में धनवानों का महत्व बढ़ा और मध्य तथा निम्न वर्ग की उपेक्षा होने लगी। इस स्थिति ने देश के नवयुवकों में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर दीं। आजाद होने के उपरान्त यहाँ के युवक ने अपने उज्जवल भविष्य की जो आशाएँ बाँधी थीं, उनकी पूर्त्ति की कोई सम्भावना नहीं रही। अतः समाज का एक युवक-वर्ग निराश हो विद्रोह की भावना से भर उठा। उसने परम्परा और सामाजिकता के विरुद्ध उश्रृंखल एवं असन्तुलित, लक्ष्यहीन विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। इस विद्रोह ने नवयुवकों में उश्रृंखलता, अनुशासन-हीनता, हीन-भावना, अनैतिकता, अनास्था, स्वार्थ, फैशनपरस्ती, वैयक्तिकता आदि की भावनाएँ उत्पन्न कर दीं और उनकी रचनाओं में इन्हीं की अभिव्यक्ति होने लगी। व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नारा इसी स्थिति की उपज था। प्रयोगवादी साहित्य इसी रूप में रचा जाने लगा।

स्वतंत्रता के उपरान्त भारतीय साम्यवादी दल के अति-उग्र और यांत्रिक, निरंकुश दृष्टिकोण ने प्रगतिवादी साहित्य को बहुत हानि पहुँचाई। प्रगतिवादी-साहित्य साम्यवादी नीति और सिद्धान्तों का नीरस प्रचारक बनकर रह गया। इस नीति ने अनेक पुराने कवियों को इस धारा से अलग कर दिया और अपने अत्यधिक प्रचारवादी रूप के कारण यह नए उदीयमान तरुण कवियों को, जो काव्य-कला के आग्रह का आकर्षण लेकर काव्य-क्षेत्र में उतर रहे थे, आकर्षित करने में असमर्थ रही। परिणाम यह निकला कि काव्य-क्षेत्र से प्रगतिवादी स्वर लुप्त होने लगे और प्रयोगवादी स्वर—काव्य के प्रधान स्वर बन गए।

परन्तु यह साहित्य का एक पक्ष था। इसका दूसरा स्वर नए स्वस्थ, सन्तुलित परिवर्तन की आकांक्षा, उत्साह और साहस से भरा हुआ था जिसकी अभिव्यक्ति काव्य की अपेक्षा कथा-साहित्य, एकांकी और आलोचना के क्षेत्रों में अधिक हुई। यह नया स्वर नए जीवन-आदर्शों, जीवन-मूल्यों, नए युग-बोध, नई संस्कृति और शोषणहीन विकास की नई सम्भावनाओं से भरा हुआ था। यह साहित्य समाज में एक नई सामाजिक और सामूहिक चेतना जगा रहा था। इसका 'व्यक्ति' सामाजिक-चेतना के विकास में ही अपने व्यक्तित्व के विकास का आकांक्षी था। गद्य के साथ पद्य में भी यह नया स्वर मुखरित हो रहा था—जो प्रगति और प्रयोग का सन्तुलित समन्वय कर, भाषा, शैली, छन्द आदि के नए-नए प्रयोग करता हुआ अपने नए जीवन-बोध की अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहा था, और आज भी कर रहा है।

इन आन्तरिक परिस्थितियों के अतिरिक्त हमारा काव्य, विशेष रूप से प्रयोगवादी काव्य, उस पाश्चात्य काव्य से प्रभावित रहा जो दो विश्व-युद्धों के भयंकर ध्वंस की क्षोभ और निराशाभरी स्थितियों में योरोप में पनप रहा था। इसका मूल स्वर विघटन का था। इसने वहाँ समाज और मानव-द्रोही हताश भावनाओं को जन्म दिया। प्रसिद्ध अंग्रेजी-कवि टी० एस० इलियट इन भावनाओं से भरे साहित्य का उद्घोषक और प्रचारक बना। उसने अपने काव्य में जीवन-मूल्यों, संस्कृति और आस्था के विघटन का; व्यक्ति की निराशा, हताशा, क्षोभ और कुंठा का; अनर्गल विक्षोभ तथा उश्रृंखलता का और व्यक्ति की असामाजिकता का चित्रण किया। इस काव्य में युद्ध में विध्वस्त मानव और समाज के पुनर्निमाण की चेतना का अभाव था। यह विशुद्धरूपेण घोर व्यक्तिवादी स्वर था। परवर्ती, 'क्रुद्ध नवयुवक' तथा बीटनिकों के नाम से प्रचलित साहित्य इसी का विकसित रूप है। इसने हिन्दी की प्रयोगवादी काव्य-धारा को गहरे रूप से प्रभावित किया था।

हमारा इस युग का हिन्दी-काव्य उपर्युक्त आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण करता हुआ आगे बढ़ा है। इस काल में काव्य-रचना के साथ-साथ कविता के विविध पक्षों का शास्त्रीय विवेचन भी खूब हुआ है। कविता की परिभाषा,

उसका प्रयोजन, रस, साधारणीकरण, अर्थ की लय, बौद्धिकता आदि सम्बन्धी नए विचार और व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं।

प्रयोगवादी काव्य-धारा

हम गत पृष्ठों में प्रयोगवाद का सोदाहरण विस्तृत विवेचन करते हुए उसकी रूपरेखा प्रस्तुत कर आए हैं। इस युग में इस काव्य-धारा का प्राधान्य रहा है। 'नई राहों के अन्वेषी' प्रयोगवादी कवियों ने कविता को समाज-निरपेक्ष घोषित कर उसे 'व्यक्ति' की कुंठाओं की अभिव्यक्ति तक ही सीमित कर दिया था। इसके कवियों और समर्थकों ने इसका विवेचन करते हुए इसकी विस्तृत व्याख्या कर इसे ही एकमात्र सत्य घोषित किया था। इसके अत्यधिक प्रचार ने प्रयोगवादी कविताओं को पत्र-पत्रिकाओं में ग्राह्य बना दिया था। यह काव्य 'व्यक्ति' की स्वतंत्रता का नारा लगाता हुआ, आधुनिकता का एकमात्र उपासक और व्याख्याता बन साहित्य-क्षेत्र में उतरा था। प्रयोगवादी कला और कलाकार का समाज के प्रति कोई भी दायित्व न मानते हुए, 'आत्मानुभूति' और अपने 'व्यक्तित्व को प्रमाणित' करने के लिए 'बाह्य सत्य' की अपेक्षा 'आत्म सत्य' पर अधिक जोर देता है और "व्यक्ति की सापेक्षता में काव्य के नए परिप्रेक्ष्य', 'भावबोध के नए स्तर', 'सौन्दर्य-बोध के नए तत्त्व', तथा 'यथार्थ के धरातल' की स्थापना पर 'मानव विशिष्टता' और आत्म-विश्वास के आधार की खोज में प्रगति की सहज गति देखता है। विद्रोहात्मक सक्रियता, अहं की स्थापना और उसकी मर्यादा में वैयक्तिक निष्ठा, बौद्धिक जागरूकता उसके काव्य के स्वर हैं।"[१]

"इस प्रकार व्यक्ति-स्वातंत्र्य-मूलक व्यक्तिवादी पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने के कारण इस वर्ग द्वारा स्थापित काव्य-मान्यताओं में मानव-आस्था, साहित्य की मर्यादा, जीवन, मूल्यों आदि की चर्चा कथनी और करनी के विरोध के कारण खोखली और छलावा मात्र बनकर रह जाती है, क्योंकि इस वर्ग की काव्याभिव्यक्ति में किसी आस्था, मर्यादा, मूल्य आदि के दर्शन नहीं होते। जिस आस्था, मर्यादा और मूल्य के दर्शन होते भी हैं, वह व्यक्ति और समाज के परस्परापेक्षी सहयोगाधारित, एक में दूसरे के विकास की सम्भावनाओं की चेतना के विपरीत सामाजिकता के विरोध में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की दृष्टि के कारण व्यक्ति और समाज की खाई और परस्पर विरोध को बढ़ाने वाले हैं। अतः यह काव्यधारा मानव की विघटनशील प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है और उसमें मानव की प्रगति के किसी जीवन-सन्देश का अभाव है।"[२]

प्रयोगवाद के इसी दृष्टिकोण और रूप के कारण ही आलोचकों ने इसे ह्रासोन्मुखी अथवा क्षयोमुखी काव्य-धारा माना था जिसने नई उदीयमान प्रतिभाओं को अपने जाल में उलझा, पथभ्रष्ट बना घोर व्यक्तिवादी बना दिया था।

---

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य—डा० रामगोपाल सिंह चौहान।
२. वही।

प्रगतिवादी काव्य-धारा

उस युग में प्रयोगवाद के समानान्तर ही प्रगतिवादी काव्य-धारा भी विकासमान थी। यह सही है कि कला-सिद्धान्तों की नितान्त अवहेलना कर केवल तथ्य को ही नीरस अकलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर देने की भावना के प्राधान्य के कारण इसका रूप धूमिल पड़ गया था और नई प्रतिभाएँ इससे कतराने लगी थीं। परन्तु यह विचारधारा 'युग सत्य' को अभिव्यक्त करने की मूल चेतना बनी हुई थी। इसी चेतना ने प्रयोगवाद के संकीर्ण, गर्हित रूप का विरोध किया था। आज इसी चेतना का परिणाम है कि नई प्रतिभाएँ देश की वर्तमान विषम परिस्थितियों से प्रभावित और चिन्तित हो काव्य में समाज-सापेक्षता, संगठन आदि के स्वर बुलन्द करती हुई शोषण, अत्याचार और विघटनकारी शक्तियों और प्रवृत्तियों के खिलाफ आवाज उठा रही हैं। वह व्यक्ति की विवशता, दीनता, कुंठा आदि का चित्रण करती हुई उसे सामाजिक रूप से संगठित होने के लिए ललकार रही हैं। यह विचारधारा व्यक्ति के सौन्दर्य-बोध को 'सह-अनुभूति' का विषय बनाना, कला का लक्ष्य मानती है। तभी व्यक्ति का सौन्दर्य-बोध युग का जीवन-व्यापी सौन्दर्य-बोध बनने में सक्षम होता है। प्रगतिवादी काव्य-धारा इसी जीवन-व्यापी सौन्दर्य-बोध के अंकन और प्रसार की समर्थक है।

परम्परावादी काव्य-धारा

इस युग में कुछ पुराने तथा कुछ नए कवि ऐसी कविताएँ भी रचते रहे जो भाव, दृष्टिकोण, शिल्प आदि की दृष्टि से परम्परा का अनुगमन करती रहीं। ये परम्परावादी कवि नए युग-बोध के साथ जीवन, जगत, सभ्यता, संस्कृति, जीवन-मूल्यों मर्यादाओं आदि सम्बन्धी पुरानी परम्परागत मान्यताओं का अंकन करते रहे, यद्यपि इनमें नए युग की प्रगति और प्रयोग की नई चेतना भी अपना सर उठाती रही। वस्तु और शिल्प-सम्बन्धी इनका रूप अधिकांशतः परम्पराबद्ध ही रहा। इस परम्परावादी काव्य में प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक—दोनों ही प्रकार की रचनाएँ लिखी गईं। आधुनिक काल में सुगठित, कलापूर्ण प्रबन्ध-काव्य इन्हीं लोगों ने लिखे। परन्तु यह धारा आज नए युग की तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों का साथ नहीं दे पा रही है और क्रमशः क्षीण होती चली जा रही है। परन्तु फिर भी परम्परा-प्रेमी सामाजिकों में अभी तक यही लोकप्रिय है। आलोचकों का ध्यान भी इसकी ओर जाता है। जब भी कोई विशालकाय प्रबन्ध-काव्य प्रकाशित होता है तो वह काफी समय तक चर्चा का विषय बना रहता है। पन्त का 'लोकायतन', दिनकर का 'उर्वशी' आदि इसके प्रमाण हैं। परम्परा के प्रति जन-मोह को समाप्त होने में अभी काफी समय लगेगा।

सर्वाधिक स्वस्थ काव्य-धारा

आधुनिक-युग की सर्वाधिक स्वस्थ काव्यधारा वह है जो जड़-सिद्धान्तों, संकीर्ण दृष्टिकोणों और पूर्वाग्रहों के मोह के मुक्त हो, सम्पूर्ण युग की काव्य-चेतना के स्वस्थ,

समन्वित रूपों को अपना आधार बनाकर आगे बढ़ रही है। इसमें प्रगति, प्रयोग और परम्परा का स्वस्थ, समन्वित रूप मिलता है। यह विशुद्ध-रूपेण न संकीर्ण प्रयोग-वादी हैं, न नीरस प्रगतिवादी और न रूढ़ परम्परावादी। ये नए कवि परम्परा के शुभ पक्षों को ग्रहण करते हुए, प्रगतिवादी समाज-सापेक्षता को नए शिल्प और प्रयोगों के साथ अंकित कर रहे हैं। इस नई काव्य-धारा का अभी प्रयोग काल है, इसलिए इसमें संकीर्णता, उलझन और भटकाव थोड़ा सा बना हुआ है। इस नई काव्य-धारा की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसमें लगभग सभी लोगों द्वारा साहित्य की समाज-सापेक्षता का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है। प्रगतिवादियों ने नए प्रयोगों को स्वीकार कर लिया है और प्रयोगवादियों ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ समाज के साथ उसका अनिवार्य सम्बन्ध मान लिया है।

इस दृष्टिकोण और विचार-सम्बन्धी परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिए दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे। 'नई कविता' के नाम पर नित्य-प्रति होने वाली अनर्गल और निरर्थक कविताओं को लक्ष्य कर 'तीसरा सप्तक' के कवि प्रयाग नारायण त्रिपाठी ने अपने वक्तव्य में लिखा है—" 'नई कविता' के नाम पर आज जो कुछ लिखा जा रहा है, उसके अन्तर्गत बहुत कुछ (मेरी अपनी कविताएँ भी) महज़ बकवास है। पंक्तियों को छोटी-बड़ी कर देना; शब्दों को तोड़-मरोड़ देना; कोलन, डैश, उक्ति-चिन्ह और कोष्टकों को निरर्थक ढंग से बैठा देना; मनमाने तौर पर लय को बदल देना; बिना आत्मसात किए हुए नई उपमा-उत्प्रेक्षाओं या बिम्बों को परेशान पाठकों के सम्मुख ठेल देना—ये तथा इसी प्रकार के दोष आज की कविताओं में दिखाई देते हैं।" इस वक्तव्य में कवि ने 'नई कविता' के नाम पर किए जाने वाले अनर्गल और निरर्थक प्रयोगों का विरोध किया है।

दक्षिण में एक स्थान पर भाषण देते हुए अज्ञेय ने सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और रघुवीर सहाय को आधुनिक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकार किया था। रघुवीर सहाय स्थापित प्रयोगवादी कवि माने जाते हैं। उन्होंने 'दूसरा सप्तक' में अपनी रचनाओं के साथ वक्तव्य देते हुए साहित्य की समाज-सापेक्षता को स्वीकार किया है और लिखा है—"जिन्दगी में तीन चीजों की बड़ी जरूरत है: ऑक्सीजन, मार्क्सवाद और अपनी वह शक्ल जो हम जनता में देखते हैं। मगर मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ की तरह चढ़ाया नहीं जा सकता। उसके लिए मध्यवर्गीय, धोखा खाते रहने वाले ढुलमुल यकीन को अपनी बौद्धिक चेतना को जागरूक रखना पड़ेगा और बार-बार जागरूक रहकर एक दृष्टिकोण बनाना होगा। यह दृष्टिकोण सामाजिक, वास्तविक साम्यवादी और इसीलिए सही और स्वस्थ होगा। तभी कविता में जान और माने पैदा होंगे।"

'तार सप्तक' के कई कवि प्रगतिवादी मान्यताओं को पहले ही स्वीकार कर अपना चुके थे। उनकी कविताओं तथा कविता सम्बन्धी निबन्धों में उनकी यह मान्यता

स्पष्ट हो चुकी थी। गजानन मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, नेमीचन्द्र जैन आदि ने अपनी इस मान्यता को स्वीकार किया था। ये लोग प्रगतिशील वस्तु और प्रयोगशील शिल्प का प्रयोग बहुत समय से करते आ रहे थे। यह समन्वय युग की माँग थी, इसलिए सुलझे हुए कवियों ने इसे स्वीकार किया था। परन्तु गलत नेतृत्त्व से प्रभावित कुछ नए युवक नएपन और अद्भुत तथा मौलिक बनने के मोह में ग्रस्त हो प्रयोग-वैचित्र्य को ही कवि-कर्म मान ऊट-पटाँग कविताएँ लिखने की ओर प्रवृत्त हुए थे। यदि 'तार सप्तक' के कवियों द्वारा अपनाया गया प्रयोगवाद का रूप आगे विकसित होता तो काव्य-क्षेत्र में इतनी विकृतियों की सृष्टि और भरमार नहीं होती। प्रगति और प्रयोग का यह समन्वय ही स्वस्थ काव्य-दिशा का सही निर्देशक बनने में समर्थ है। अपने एकाकी रूप में दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। पन्त ने इसी रहस्य को समझते और समझाते हुए 'गद्य पथ' में संग्रहीत अपने 'आज की कविता और मैं' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि—"मैंने 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' को 'छायावाद' की उपशाखाओं के रूप में इसीलिए लिया है कि मूलतः ये तीनों धाराएँ एक ही युग-चेतना अथवा युग-सत्य से अनुप्राणित हुई हैं। उनके रूप-विन्यास, भावना-सौष्ठव में कोई विशेष अन्तर नहीं है और उनका विचार-दर्शन भी एक-दूसरे के निकट आ रहा है। ये तीनों धाराएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। आज के युद्ध-जर्जर युग में हम एक नवीन सन्तुलन चाहते हैं।"

प्रयोगवादी नई कविता ने परम्परा के विरुद्ध आवाज उठाई थी। दूसरी ओर अति उग्र प्रगतिवादी भी परम्परा का भयंकर विरोध कर रहे थे। परन्तु दोनों ही वर्गों के स्वस्थ चिन्तकों ने इस अतिवाद का विरोध किया था। उन्होंने कहा कि परम्परा में सब कुछ अगतिशील अतः उपेक्षणीय ही नहीं होता। अनेक स्वस्थ परम्पराएँ इतिहास का निर्माण करती हुईं मानव को प्रगति-पथ पर बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करती आई हैं। जो परम्पराएँ नए युग का साथ देने में असमर्थ रहती हैं, वे धीरे-धीरे स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं और स्वस्थ परम्पराएँ युगानुरूप परिवर्तित होती हुईं जीवित रहती हैं। यही स्थिति काव्य-परम्पराओं की रहती है। प्रत्येक नया युग एक नया परिवर्तन लेकर आता है और उसके साथ काव्य-परम्पराओं के रूप भी परिवर्तित होते चलते हैं। इसलिए परम्पराओं का न तो अन्ध-विरोध ही उचित है और न अन्ध-समर्थन ही। हमें पूर्वजों के अनुभवों के शुभ पक्षों को ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिए। 'नई कविता' के कवियों तथा 'नई कहानी' के कहानीकारों का यह कहना नितान्त भ्रान्त और अनर्गल है कि उनके पूर्वज साहित्यकारों ने जो कुछ लिखा था वह अग्राह्य और रद्दी है; तथा ये लोग नए सिरे से एक ऐसे साहित्य का सृजन कर रहे हैं जो अपनी पूर्व-परम्परा से नितान्त भिन्न, असम्बद्ध अतः श्रेष्ठ है।

आज की हिन्दी कविता प्रगति, प्रयोग और परम्परा के स्वस्थ समन्वित रूप को अपनाती हुई आगे बढ़ रही है। यह समन्वय हिन्दी-कविता के उज्ज्वल भविष्य का सूचक है। अस्तु,

'नई कविता' का विवेचन

इस युग में प्रधानतः दो प्रकार का काव्य-सृजन हुआ—व्यक्तिपरक और समाजपरक। **व्यक्तिपरक काव्य** के अन्तर्गत मुक्तक-काव्य और गीति-काव्य—दो प्रकार की कविताएँ लिखी गईं जिनमें व्यक्तिपरक अनास्था की भावना से ओतप्रोत, तथा समष्टिपरक आस्थावादी कविताएँ मिलती हैं। इस काल के कवियों ने इन दोनों ही प्रकार की भावनाओं को प्रचुर परिमाण में और नए कला-माध्यमों द्वारा रचा है। इनमें अनास्था और निराशा भी है और आस्था तथा जिजीविषा से ओतप्रोत प्रगतिशील भावनाएँ भी। **समाजपरक काव्य** के अन्तर्गत प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक कविताएँ तथा गीत रचे गए हैं। इनकी मूल ध्वनि सांस्कृतिक उन्नयन, प्राचीन स्वस्थ परम्पराओं की प्रशस्ति तथा समाजवादी रही है।

समाजपरक काव्य

इस काव्य का दृष्टिकोण समाज के व्यापक धरातल का अंकन करना रहा है। इसमें समाजवादी और मानवतावादी—दोनों ही दृष्टिकोण वाली रचनाएँ मिलती हैं। इनमें स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत की समस्याओं, स्थितियों, प्रयत्नों, सिद्धान्तों और आस्थाओं के चित्रण के साथ विश्व-समस्याओं, युद्ध की विभीषिका, सम्भावित अणु-युद्ध की आशंकाओं तथा नवीन मानवतावादी भावनाओं का अंकन हुआ है। इस काव्य को भारत-विभाजन तथा उसके उपरान्त देश की तीव्रगति से बदलती हुई परिस्थितियों और समस्याओं ने अधिक प्रभावित किया है। इस काव्य में प्रधानतः दो दृष्टिकोण उभर कर सामने आए हैं—यथार्थवादी, और सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी। **यथार्थवादी कवियों** ने देश के विभाजन, साम्प्रदायिक संघर्ष और वैमनस्य, रियासतों का विलीनीकरण, जमींदारी उन्मूलन, सहकारी खेती और औद्योगीकरण की समस्याओं और सफलताओं को प्रधानता दी है। इन यथार्थवादी कवियों में नरेन्द्र शर्मा, अंचल, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, त्रिलोचन, नागार्जुन आदि प्रमुख हैं। **सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी कवियों** ने देश को प्राचीन संस्कृति और गौरव का अङ्कन करते हुए सांस्कृतिक पुनरुत्थान में ही देश और मानवता के उन्नयन, उत्कर्ष और कल्याण में आस्था प्रकट की है। इनमें सुमित्रानन्दन पन्त, दिनकर, बच्चन, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा आदि उल्लेखनीय हैं। इस समाजपरक काव्य में प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक कविताएँ तथा गीत—तीनों प्रकार की रचनाएँ हुई हैं।

प्रमुख प्रबन्ध-काव्य—प्रबन्ध काव्यों में पौराणिक, ऐतिहासिक तथा आधुनिक—तीन प्रकार के प्रबन्ध-काव्य लिखे गए हैं। ऐतिहासिक प्रबन्ध-काव्यों में पुराण और इतिहास का मिश्रण रहा है। इसका विवेचन इस प्रकार है—

१. **पौराणिक प्रबन्ध-काव्य**—साकेत सन्त, रामराज्य (बल्देव प्रसाद मिश्र), उर्मिला (नवीन), रावण (हरदयालसिंह), एकलव्य (रामकुमार वर्मा), रश्मिरथी

(दिनकर), जयभारत (मैथिलीशरण गुप्त), महारथी कर्ण (लक्ष्मीनारायण मिश्र), अङ्ग-राज (आनन्दकुमार), द्रौपदी (नरेन्द्र शर्मा), कृष्णायन (द्वारिकाप्रसाद मिश्र), कनुप्रिया (धर्मवीर भारती), तारक वध (गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश), पुरुषोत्तम राम (पन्त) यह खण्डकाव्य है ।

२. **पौराणिक-ऐतिहासिक प्रबन्ध-काव्य**—उर्वशी (दिनकर), विष्णुप्रिया (मैथिलीशरण गुप्त), पार्वती (रामानन्द तिवारी), आर्यावर्त (मोहनलाल महतो 'वियोगी'), बाणाम्बरी (रामावतार पोद्दार 'अरुण'), मीरा (परमेश्वर द्विरेफ) ऋतम्बरा (केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'), वर्धमान (अनूप शर्मा), सारथी (रामगोपाल शर्मा 'दिनेश') ।

३. **आधुनिक-कालीन प्रबन्ध-काव्य**—जन नायक (रघुबीर शरण मित्र), मेधावी (रांगेय राघव), प्रेमचन्द (परमेश्वर द्विरेफ), लोकायतन (पन्त) ।

इस युग में उपर्युक्त प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रबन्ध-काव्य भी लिखे गए हैं परन्तु स्थानाभाव के कारण इनका उल्लेख करना दुस्साध्य है ।

प्रबन्ध-काव्यों की यह तालिका यह सिद्ध करती है कि अधिकांश कवियों ने पौराणिक आख्यानों अथवा महापुरुषों को ही अपना आधार बनाया है । परन्तु इनकी विशेषता यह रही है कि इनमें इन पौराणिक आधारों के माध्यम से वर्तमान युग की समस्याओं पर विचार और उनका अंकन किया गया है । इनमें रांगेय राघव का 'मेधावी' ही एकमात्र ऐसा प्रबन्ध-काव्य है जिसमें समाजवादी दृष्टिकोण के आधार पर आदि युग से आधुनिक-युग तक के मानव-विकास को दिखाते हुए इस युग की राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का चित्रण किया गया है । अन्य पौराणिक अथवा आधुनिक-कालीन प्रबन्ध-काव्यों में विभिन्न समस्याओं को उठाते हुए सांस्कृतिक पुनरुत्थान का ही उद्‌घोष हुआ है । इनका दृष्टिकोण प्रायः मानवतावादी ही रहा है । है । परमेश्वर द्विरेफ ने 'मीरा' और 'प्रेमचन्द' में हिन्दी के प्राचीन और नवीन—दो महान् साहित्यकारों का जीवन अंकित किया है । रघुवीर शरण मित्र ने 'जननायक' में तथा पन्त ने 'लोकायतन' में युग-पुरुष गांधी का अंकन किया है । प्रसिद्धि की दृष्टि से दिनकर का 'उर्वशी', पन्त का 'लोकायतन' तथा रामावतार पोद्दार 'अरुण' का 'बाणाम्बरी'—इस युग के सर्वश्रेष्ठ काव्य रहे हैं । इनकी प्रायः चर्चा होती रही है । जानकी वल्लभ शास्त्री 'बाणाम्बरी' के छायावादी कला-रूप पर मुग्ध हो उसे 'कामायनी' की कोटि की रचना मानते हैं । कुछ आलोचक दिनकर के 'उर्वशी' को इस काल का सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य घोषित करते हैं । प्रबन्ध-काव्यों का उपर्युक्त विवेचन आधुनिक हिन्दी-काव्य की समृद्धि का उज्ज्वल प्रमाण है ।

डा० रामगोपाल सिंह चौहान ने इन प्रबन्ध-काव्यों की निम्नलिखित विशेषताएँ मानी हैं—

१—व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध ।

२—युद्ध और शान्ति तथा हिंसा और अहिंसा का चित्रण ।

३—वर्ग एव वर्ण-वैषम्य पर करारा प्रहार।

४—पौराणिक विषयों के माध्यम से आधुनिक युग की समस्याओं पर प्रकाश।

५—नारी-पुरुष के सनातन आकर्षण और काम-सम्बन्धों का दार्शनिक पुनर्विश्लेषण।

६—गांधीवाद, मार्क्सवाद, और फ्रॉयडवाद का प्रभाव।

७—उपेक्षित, विशेषकर निम्न समझे जाने वाले पात्रों को नायक बनाना।

८—भाषा, छन्द, अलंकार, शब्द-शक्ति आदि अभिव्यक्ति के विविध उपकरणों का यथासम्भव स्वच्छन्द उपयोग।[1]

समाजपरक मुक्तक कविताएँ तथा गीति-काव्य—सन् १९४७ में भारत स्वतंत्र हुआ। हमारे अनेक कवियों ने उल्लास-मुग्ध हृदय से चिर-वांछित आजादी का स्वागत करते हुए नई आशाओं के दीप जलाए। पन्त ने गाया—

'सभ्य हुआ अब विश्व सभ्य धरणी का जीवन,
आज खुले भारत के सँग भू के जड़ बन्धन।'

और 'दिनकर' ने समाजवादी शासन-व्यवस्था का भावी मनोरम स्वप्न देखते हुए उद्घोष किया—

'दो राह समय के रथ का घर्घर नाद सुनो।
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।'

परन्तु आजादी का यह उल्लास क्षणस्थायी बनकर ही रह गया। देश के विभाजन के कारण चारों ओर साम्प्रदायिक वैमनस्य जनित दंगों, हत्याओं और विध्वंस का साम्राज्य छा गया। शरणार्थियों के लम्बे-लम्बे काफिले अपना सब कुछ लुटाकर इधर से उधर जाने लगे। उनकी करुण दशा ने कवियों को हिला दिया। अनेक स्वयं भुक्तभोगी बने। बच्चन जैसे जागरूक कवि ने इस सार्वजनिक विध्वंस के मूल में साम्राज्यवादी षड्यंत्र के रहस्य को समझा और कहा—

'उन विरोधी शक्तियों की आज भी तो चल रही है चाल,
यह उन्हीं की है लगाई, उठ रही जो घर-नगर से ज्वाल,
काटता उनके करों से एक भाई दूसरे का भाल,
आज उनके मंत्र से है बन गया इन्सान पशु विकराल।'

गांधी इस जन-संहार और विध्वंस से मर्माहत हो देश के कोने-कोने में घूमते फिरे। अपने ही जीवन में अपने प्रिय सिद्धान्तों की इस प्रकार निर्मम रूप से बलि होते देख यह युग-द्रष्टा परन्तु स्वप्नदर्शी महापुरुष हताश हो गया। और इसी स्थिति में एक

---

१. **आधुनिक हिन्दी-साहित्य**—डा० रामगोपालसिंह चौहान।

धर्मान्ध नर-पशु ने उसकी हत्या कर डाली। युग-पुरुष गांधी की इस हत्या ने सारे विश्व को हिला डाला। हिन्दी के कवियों ने उसे अश्रुपूरित नयनों से भावमौनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं। नरेन्द्र शर्मा ने गाया—

'तुंग हिमाद्रि समान
आज दिक्काल परिधि के पार,
शोभित हो तुम वहाँ
जहाँ पहुँचे न शब्द झंकार।
अपने अलिखित गीत
अनाधृत पुष्पों से इस हेतु,
अर्पित करता हूँ
अंजलि दे सादर बारम्बार।'—('रक्त चन्दन')

देश तो आजाद हो गया परन्तु जनता की दशा में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हो पाया। दीन—दीन ही बने रहे और देश में पूँजीवाद का नग्न तांडव होने लगा। दीन जनता घोर परिश्रम कर देश के नव-निर्माण के प्रयत्न में जुट गई परन्तु उसके उस परिश्रम का प्रतिफल उसे न मिलकर धनवानों को मिलने लगा। इस स्थिति ने माखनलाल चतुर्वेदी जैसे लेखनी के धनी जन-नायकों को झकझोर डाला और उन्होंने गाया—

'वही तो सोना बनावें, खेत में मोती उगावें।
वही मेरी पतित प्रभुता का व्यथित बोझा उठावें।
वही कठिन सुरंग खोदें, वही उठ पर्वत बहावें।
वही पत्थर सी भुजाएँ राष्ट्ररथ के पथ बनावें।

किन्तु उनके—

गले में दारिद्रय नागन, कमर में चिथड़ा नहीं है।
दान 'दानों' की करें विधि, पेट में टुकड़ा नहीं है।'—('युग चरण')

इस स्थिति से आक्रोश में भर दिनकर ने इन शोषकों को चेतावनी देते हुए भावी जन-क्रान्ति का आह्वान किया—

'अपने को ही नहीं देख, टुक ध्यान इधर भी देना:
भूमिहीन कृषकों की कितनी बड़ी खड़ी है सेना।
बाँध तोड़ जिस रोज फौज खुलकर हल्ला बोलेगी,
तुम दोगे क्या चीज ? वही जो चाहेगी सो लेगी।
कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट्।
मच जायेगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट॥'
—('नील कुसुम')

अभी विश्व द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका से मुक्ति की साँस भी नहीं ले पाया था कि साँम्यवाद और पूँजीवाद के विश्वव्यापी शीत-युद्ध ने पुनः तीसरे महायुद्ध की सम्भावनाएँ और आशंकाएँ उत्पन्न कर दीं। इसलिए स्वभाव से ही शान्ति-प्रिय कवियों ने विश्व-शान्ति की विश्व-व्यापक भावना के उन्नयन और प्रसार में अपनी वाणी का स्वर मिलाना आरम्भ कर दिया। रामकुमार चतुर्वेदी युद्ध के घिरते भयानक बादलों को देख इस आशंका से त्रस्त हो उठे कि यदि फिर विश्व-युद्ध हुआ तो इस नई सन्तति और उसके शुभ प्रयत्नों का क्या परिणाम होगा—

'बारूद जिन्दगी की बगिया को घेरे है—
अब अपनी-अपनी ढपली, अपना राग नहीं।
मालियो ! अगर मुँह एक दूसरे का तका—
तो दो क्षण में ये फूल नहीं, ये बाग नहीं।।
सबके सपनों के फूल खिलें, इसलिए तुम्हें,
अपने सपनों में आग लगा देनी होगी।
सबके सपनों के दीप जलें, इसलिए तुम्हें,
अपने जीवन की ज्योति बुझा देनी होगी।।—(नई पीढ़ी, नई राहें,)

क्योंकि नीरज का कहना है कि—

मैं सोच रहा हूँ अगर तीसरा युद्ध छिड़ा
इस नई सुबह की नई फसल का क्या होगा ?
—('नील की बेटी के नाम पाती')

इस प्रकार की शुभ भावनाएँ हिन्दी के अनेक कवियों की वाणी से निसृत हो उठी थीं। उन्होंने देश-कल्याण, अत्याचार और शोषण से मुक्ति, विश्वशान्ति, देश-गौरव, साहित्य और कला के परिष्कार द्वारा भावनाओं के उन्नयन के गीत गाए। कुछ कवियों ने, जैसे पन्त आदि ने, भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक उन्नति की कामना को भी ला मिलाया। इन सभी कवियों की रचनाओं में भविष्य निर्माण के आस्थावादी स्वर गूँजे थे। इन्होंने विषमताओं और विकृतियों के विरुद्ध सतत संघर्ष की आवाज उठाई थी। जब देश पर सन् १९६२ में विश्वासघाती चीन ने और सन् १९६५ में पड़ोसी पाकिस्तान ने अकारण ही आक्रमण किया था तब देश में अद्भुत एकता के दर्शन हुए थे और हिन्दी के अनेक कवियों ने एकता, वीरता और उत्साह के गीत गाए थे। यह हिन्दी के कवि का एक नया रूप था जिसमें स्वदेशाभिमान, आत्म-गौरव और प्रचंड राष्ट्रीयता के स्वर मुखरित हो रहे थे। यही भावना आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व भारतेन्दु की वाणी में उस समय स्फुरित हुई थी जब मिस्र में भारतीय सैनिकों ने विजय प्राप्त की थी। अन्तर केवल इतनी ही था कि उस समय हमारे सैनिक अंग्रेज के आधिपत्य में एक स्वतंत्र देश को गुलाम बनाने के लिए लड़े थे और इस समय अपने देश की आजादी की रक्षा के लिये। इन दोनों आक्रमणों ने हमारे कवियों को इतना उद्वेलित कर लिया था कि ललित-प्रणय के मुग्ध गायक घनश्याम

अस्थाना जैसे कवियों की वाणी भी उत्साह भरे स्फुल्लिगों की वर्षा करने लगी थी। मादक प्रणय भावना के इस अनन्य चितेरे कवि ने सीमाओं पर विषम परिस्थितियों में जूझते हुए भारतीय सैनिकों को उद्‌बोधन देते हुए गाया था—

'हे हिमालय सी अजय दुर्धर्ष आस्था की सजग प्रतिमूर्त्ति,
फूत्कारमय उद्धत जलधि की राशि राशि पुकार,
मेरे देश के चालीस कोटि निवासियों की भावना,
आकांक्षाओं, कामनाओं की सुदृढ़,
संजीवनी भाषा, तुम्हारो वन्दना हो।
हे अनादि अनन्त यौवन, अथक पौरुष की सुलगती
ज्वाल के उद्दाम, पुंजीभूत रूप विराट।
युग इतिहास के पथ पर चरण रख
....कांगो, कश्मीर, गाजा, सिनाई के मरुस्थल में
तुम जहाँ भी
शान्ति-रक्षा-कीर्त्ति अन्वेषी बने अभियान करते चल रहे हो,
मैं तुम्हारी मचलती रफ्तार का उन्मेष बन कर,
साथ पग से पग मिला कर चल रहा हूँ।'

इसके अतिरिक्त वीरेन्द्र मिश्र, सोम ठाकुर, रामकुमार चतुर्वेदी 'चंचल' आदि नव-युवा कवियों ने नई लय और नए स्वर के साथ देश-गौरव, देश-श्री के गीत गाए थे। यह हिन्दी-काव्य का नया रूप था। प्रसाद के नाटकों में गाए गए देश-भक्तिपूर्ण गीतों का यह नए युग-बोध के साथ नया और मनोरम संस्करण था। इसके साथ ही अनेक कवियों ने समाज और शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार, चोर बाजारी, अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई थी। पन्त, दिनकर, बच्चन, शिवमंगल सिंह 'सुमन', नरेन्द्र शर्मा, गोपालसिंह नेपाली, सोहनलाल द्विवेदी आदि पुराने स्थापित और मँजे हुए कवियों के साथ नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, घनश्याम अस्थाना, भारत भूषण, रमेश कुन्तल मेघ, चिरंजीत, कमलेश, रवीन्द्र भ्रमर, शिवबहादुर सिंह भदौरिया, कमला चौधरी, नरेशचन्द्र, सचेन्द्र रश्मि, सोम ठाकुर, आदि नए कवि जन-जन की भावनाओं को मुखरित कर रहे थे। इस काव्य में नया युग अपने नए उत्साह को साथ ले युग की विषम परिस्थितियों से जूझ रहा था। जिस समय कवियों का एक वर्ग जन-भावना को अभिव्यक्ति दे रहा था, उस समय अज्ञेय जैसे प्रतिभाशाली अहंवादी कवि की दृष्टि गधे की ओर जा रही थी और उन्होंने उसके धैर्य की प्रशंसा करते हुए लिखा था—

'मूत्र सिंचित मृतिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा, नत ग्रीव
धैर्य-धन गदहा!'

और साथ ही अपने कृतित्व और आकांक्षा का चित्रण किया था—

'यूँ मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ,
काव्य-तत्त्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ ?
चाहता हूँ आज मुझे
एक-एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें,
पर प्रतिमा—अरे, वह तो
जैसी आपको रुचे, आप स्वयं गढ़ें ।'

उपर्युक्त उद्धरणों से व्यक्तिपरक और समाजपरक काव्य का अन्तर स्पष्ट हो जाता है ।

व्यक्तिपरक काव्य

इस युग में ऐसी कविताओं का प्राचुर्य रहा जो व्यक्ति के अहं की परिधि में ही सीमित होकर रह गईं । यह व्यक्तिवादी-काव्य था । इस व्यक्तिवादी काव्य के भी दो रूप सामने आए । एक रूप वह था जो सम्पूर्ण परिवेश के प्रति एक घोर अनास्था के भाव से आक्रान्त था और मानव की वैयक्तिक कुण्ठाओं, निराशाओं और मानसिक यातनाओं तक ही सीमित था । दूसरा रूप वह था जिसमें इन कुण्ठाओं, निराशाओं और मानसिक यातनाओं के रहते हुए भी संघर्षपूर्ण ऐसे आस्थावादी स्वर फूट रहे थे जो उज्ज्वल भविष्य के निर्माणाकांक्षी थे ।

व्यक्तिपरक अनास्थावादी काव्य—हम गत पृष्ठों में प्रयोगवाद का विवेचन करते हुए बता आए हैं कि कतिपय बाह्य और आन्तरिक प्रभावों के कारण हिन्दी में ऐसी व्यक्तिपरक अनास्थावादी चेतना का उदय हुआ था जो परम्परा, समाज, कला आदि के मूल्यों के प्रति घोर अनास्थावादी और विद्रोही थी । इस धारा के कवि घोर अहंवादी थे । ये समाज और कला का सापेक्षिक सम्बन्ध न मानकर, कला को मात्र व्यक्ति तक ही सीमित मानते थे । सब कुछ के प्रति अनास्था की भावना के कारण ये व्यक्ति को नितान्त एकाकी और स्वयं के व्यक्तित्व तक ही सीमित मानते थे । इस एकाकीपन की भावना ने वर्तमान सामाजिक परिवेश में इन्हें अपने अस्तित्व के प्रति सशंकित और त्रस्त बना दिया था । इसने इनमें निराशा, विवशता, अकर्मण्यता की भावना उत्पन्न कर इन्हें संघर्ष से विमुख रहने वाला पलायनवादी बना दिया था । इनकी कुण्ठाएँ भीतर ही भीतर घुमड़ती रहती थीं और ये अपनी रचनाओं में उन्हीं कुण्ठाओं को अभिव्यक्त करते रहते थे । इन कवियों को यह भय सताता रहता था कि—

'कूड़े सा हमको तज कर तट के पास,
मंथर गति से बढ़ जायेगा इतिहास ।'—('जिज्ञासा' : धर्मवीर भारती)

इसी कारण इन कवियों को अपना सारा अस्तित्व किसी झूठ पर आधारित प्रतीत होता था—

'लगता है सारा अस्तित्त्व किसी झूँठ पर
टिका हुआ जाता है, आप ही आप बिखर ।'
—('नाव के पाँव' : जगदीश गुप्त)

अस्तित्त्व के प्रति इस अनास्था ने इन्हें पराजयवादी बना दिया था—

'इस थके मस्तिष्क में मेरी पराजय
छपकली सी पग दबाए चल रही है ।'
—(सर्वेश्वरदयाल सक्सेना)

और इस पराजयवादी भावना ने इनकी आत्मा को कछुए के समान इतना भयभीत और त्रस्त बना दिया था, जो तनिक सा संकट का आभास पाते ही भीतर सिमट कर रह जाती थी—

'यह कछुए सी मेरी आत्मा
पंजे फैला
असली स्वरूप तुम्हें दिखाने को
उत्सुक हो बैठी है,
क्या जाने अगले क्षण की आहट को पा
सब कुछ अपने में समेट ले झट अन्दर ।'
—('सात गीत वर्ष' : धर्मवीर भारती)

परन्तु इनकी यह पराजयवादी आत्मा सुख-भोग की तो आकांक्षा करती ही थी । और ऐसे सुख-भोग के क्षण जीवन में यदा-कदा ही आते हैं, इसलिए ये लोग ऐसे क्षणों को बाँध लेना चाहते थे । इसी ने इन्हें क्षणवादी बना दिया था—

'चाहता हूँ पा सकूँ
उस क्षण को
·····नहीं·····
क्षण के भी विभाजित
मात्र उतने अंश की अनुभूति
जितने में अनाहत धार जीवन की
अचानक मौत की काली गुहा में डूब जाती है ।'
—('शब्द दंश' : जगदीश गुप्त)

इनकी कुण्ठाएँ, जो सामाजिक परिवेश में कुण्ठित और दमित रह जाती थीं, इन्हीं क्षणों को बाँधकर सुख-भोग के लिए व्याकुल हो उठी थीं । और इनके इस सुख-भोग की सीमा कहाँ तक सीमित थी, यह इस कविता में द्रष्टव्य है—

'आमाशय,
यौनाशय,
गर्भाशय,

जिसकी जिन्दगी का यही आशय,
यही इतना भोग्य
कितना सुखी है वह,
भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य ।'

—('चक्रव्यूह' : कुँवर नारायण)

इन पंक्तियों को पढ़कर तो मानव को पशुओं से ईर्ष्या होना स्वाभाविक है । इनकी वासना-तृप्ति की लालसा सम्पूर्ण सामाजिक बन्धनों को तोड़ कितनी उन्मत्त हो उठी है, यह श्रीमती शान्ता सिन्हा की इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—

'आज मुख्य मेहमान तुम
रात के 'फ्लोर शो' में
एक बार, बस एक बार
अपने तन की छाप छोड़ जा,
मुझ पर ।'

और साथ ही इतना और कहना है कि—

'उंगलियों के कह दो
आज रियायत न करें तनिक भी
किन्तु पेश आएँ
मुनासिब बेरहमी से—'

क्योंकि—

फैल रही है परिधि स्तनों की
हसरतें अब जवान हैं ।'

—('समानान्तर सुनें' : श्रीमती शान्ता सिन्हा)

ऐसी कविताएँ पर्याप्त चर्चा का विषय बनी रही थीं । इस व्यक्तिपरक अनास्थामूलक काव्य में ऐसी ही कुण्ठित, गर्हित भावनाओं की अभिव्यक्ति होती रही थी जिसे इस काव्य के समर्थकों ने हिन्दी-काव्य की एक अभूतपूर्व उपलब्धि माना और घोषित किया था । वस्तुतः ये कवि विचार और स्वभाव से निराशावादी, अकर्मण्य और संघर्षों से पलायनवादी थे, इसलिए इन्हें रात-दिन अपने अस्तित्व के विघटन का काल्पनिक भय सताता रहता था । इसीलिए ये सम्पूर्ण सामाजिक मूल्यों को नकारते हुए व्यक्ति के सुख-भोग की सीमा में ही डूबे रहते थे । सामाजिक मूल्य और बन्धन इन्हें अपने घोर दुश्मन प्रतीत होते थे । इस सम्बन्ध में यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इनकी ये वैयक्तिक अनुभूतियाँ यथार्थ न होकर ऊपर से ओढ़ी हुई थीं । पाश्चात्य व्यक्तिपरक अनास्थावादी काव्य से इन्होंने इन अनुभूतियों को उधार लेकर अपनी व्यक्तिगत पूँजी घोषित करते हुए हिन्दी-संसार को चकित और आतंकित करना चाहा था जिससे इनके अहं और महत्त्व को समाज द्वारा स्वीकृति मिल सके ।

व्यक्तिपरक आस्थावादी काव्य—हिन्दी में इस अनास्थावादी स्वर के विरुद्ध विद्रोह हुआ। इसने एक ऐसे घुटन-भरे वातावरण की सृष्टि कर दी थी जो मानव-स्वभाव की विकृतियों को ही उभार कर सामने ला रहा था। इस स्थिति को असह्य मान कुछ नए कवियों में आस्था और विश्वास के स्वर फूटे। यद्यपि ये नए कवि भी व्यक्तिवादी तो थे, परन्तु समाज की अवहेलना करने में आस्था नहीं रखते थे। ये समाज के विघटनकारी रूप को नष्ट कर, स्वस्थ सृजन के आकांक्षी थे। ऐसे ही एक नए कवि ने अपनी सृजनातुर आत्मा को वाणी प्रदान करते हुए लिखा—

'अब आज आत्मा की सृजनातुर वैदेही—
परित्यक्ता मन से क्षीण, विवश
संशय और अनिश्चय की अटवी में
पा गई शरण वाल्मीकि-सरीखे
काव्य वृक्ष की छाया में
यह जनमेगी वे पुत्र जो कि उसकी पीड़ा को सस्वर गाएँ
जो सहज सत्य के भटके नृप को जननी तक वापस लाएँ।'

—(महेन्द्रकुमार मिश्र)

इस नई धारा के कवि ने विघटित अस्तित्त्व वाले, क्षणवादी, जीवात्मा के स्वाभाविक आदर्शों को, विश्वासों को गुमराह करने वाले, केवल अक्षरों और शब्दों में ही जीने वाले उन अनास्थावादी कवियों को चेतावनी देते हुए कहा कि—

'तुम्हारी बौनी कुण्ठित, अनुभूतिहीन विकारों के
ये रूपायित शब्द
ठहर सकेंगे क्या
आत्मा की उस ज्वाला में
जिसका तल है प्राणों में
जिजीविषा में।' —(शब्दों के मगर : सुयोगी)

इन कवियों ने आस्था के नए स्वर मुखरित करते हुए घोषित किया कि—'चढ़ कर आया आज कर्म का युग नवीन।' इस स्वर ने मानव को निराशा और संत्रास से मुक्त हो कर्मण्य बनने का संदेश दिया और कहा कि—

'व्यष्टि-भ्रष्ट जीवन समष्टि की सीमा में
अपने विश्वासों का खोया सुख खोज रहा
आस्था के सूर्य को उसके घर-द्वारे पर ले आओ,
लेकिन दरवाजे में अड़कर मत खड़े रहो,
मन के घर-आँगन में
नयी धूप आने दो।'— (घनश्याम अस्थाना)

यह नया युग, युग की विषमताओं के प्रति अधिक जागरूक और सम्वेदनशील था। यह जानता था कि इस नई उभरती सामाजिक व्यवस्था में आज—

'इन्सानों की भीड़ में
इन्सानियत खो गई
× × ×
आज—
इन्सानियत शरणार्थी है ।'

—(शरणार्थी : गोपालकृष्ण कौल)

परन्तु इस वर्ग के कवि ने अपनी आस्था नहीं खोई, वह सिर ऊँचा कर संघर्षों से जूझता हुआ आगे बढ़ता रहा । उसने 'जिन्दगी की मिठास का रस लेने को' 'कटुता से खुल कर संघर्ष किया' था । अज्ञेय जैसों का भी यही विश्वास था कि—

'आस्था न काँपे
मानव फिर मिट्टी का भी
देवता हो जाता है ।'—('इन्द्रधनु रौंदे गए')

इस वर्ग के कवि ने परम्परा के स्वस्थ रूपों को अपना कर उन्हें नए युग के नए परिवेश के अनुरूप उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया और साथ ही व्यंग्य और हास्य का सहारा लेते हुए परम्परा, धर्म, कला आदि के अनुर्वर, अनुपयोगी रूढ़ रूपों पर व्यंग्य किए । उसने आत्मा की अमरता पर व्यंग्य करते हुए कहा—

'मैं तो यहाँ देखता हूँ
दो बार लम्बी साँस खींच कर
आत्मा प्राण त्याग देती है ।
लौह अस्त्र-शस्त्रों को बात क्या
चाँदी के ठीकरों की चोट से
आत्मा क्षत-विक्षत हो जाती है ।'

—('टूटा हुआ आदमी' : सिद्धनाथकुमार)

यह व्यंग्य अजित कुमार, राजेन्द्र किशोर, केशवचन्द्र वर्मा, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा, नागार्जुन—आदि नए-पुराने कवियों की रचनाओं में खूब उभरा है ।

इस व्यक्तिवादी धारा के अनेक कवियों ने अपनी वैयक्तिक कुण्ठाओं, अनास्था और आस्था से आलोड़ित क्षणों से क्षणिक मुक्ति पाकर प्रकृति के सहज स्वाभाविक रूप की ओर भी दृष्टि डाली थी । जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, मदन वात्स्यायन, नरेश मेहता, गिरिजाकुमार माथुर, केदारनाथ सिंह आदि की अनेक कविताओं में प्रकृति के अनेक मनोरम, स्वाभाविक चित्र अंकित हुए थे । इसके अतिरिक्त कुछ कवियों ने प्रेम, सौन्दर्य और प्रणय के बड़े पावन, आकर्षक और मदिर ऐसे चित्र अङ्कित किए थे जिनमें मांसल, अनास्थामूलक भोगवादी वासना के स्थान पर एक पावन सुचिता थी । धर्मवीर भारती की ऐसी ही एक कविता का अंश द्रष्टव्य है—

'जिस दिन तुमने फूल बिखेरे माथे पर,
अपने तुलसी-दल जैसे पावन होठों से,

मैं सहज तुम्हारे गर्म वक्ष में शीश छुपा,
चिड़िया के सहमे बच्चे-सा
हो गया मूक,
लेकिन उस दिन मेरी अलबेली वाणी में
थे बोल उठे,
गीता के मंजुल श्लोक, ऋचाएँ वेदों की।'
—('जाड़े की शाम')

दुष्यन्त कुमार, कीर्त्ति चौधरी, परमानन्द श्रीवास्तव, रमानाथ अवस्थी, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, रामावतार त्यागी, जगत प्रकाश चतुर्वेदी आदि की कविताओं और गीतों में उपर्युक्त भावनाएँ, अनुभूतियाँ और स्पृहाएँ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुई हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अनास्थावादी और आस्थावादी–दोनों ही प्रकार के कवियों में दोनों प्रकार की भावनाएँ न्यूनाधिक रूप में मिल जाती हैं—अन्तर केवल मात्रा का रहा है। और इसी मात्रा के आधार पर इनके दो वर्ग किए गए हैं। समष्टि रूप से इनमें वेदना, निराशा, मृत्युवादी दर्शन, विवशता, दमित कुण्ठा, वासना का पावन-अपावन रूप, संघर्ष और नव-निर्माण की आकांक्षा, आस्था-अनास्था, सहज उल्लास और भयंकर हताशा आदि के मिले-जुले रूप अंकित हुए हैं। कुछ कवियों को युग की समस्याओं ने प्रभावित किया और झकझोरा है, कुछ अपने अहं और व्यक्तित्व की परिधि में ही सिमटे बैठे रहे हैं। एक बात इन सभी कवियों में समान मिलती है कि इन्होंने रूढ़िवादी परम्पराओं—सभी प्रकार की परम्पराओं से पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर ली है। इसलिए इनकी कथन-भंगिमा ने 'नई कविता' को एक सर्वथा नया रूप प्रदान करने में सफलता पाई है। कुछ समय पहले जिस प्रकार हिन्दी कविता विभिन्न वादों के खेमों में विभाजित थी, आज वे विभाजक रेखाएँ टूट चुकी हैं। कटु-मधुर अनुभवों ने कवियों को इन विभाजक रेखाओं की व्यर्थता अनुभव करा दी है। इसी कारण आज की कविता राजनीति के प्रभावों से बहुत-कुछ मुक्त हो, समय की माँग को पहचानती हुई आगे बढ़ रही है। आज उसमें परम्परा, प्रगति और प्रयोग का मिला-जुला स्वस्थ, उपयोगी रूप उभरता चला आ रहा है। पुराने स्वयंभू साहित्यिक नेताओं का नेतृत्त्व समाप्त हो चुका है। यह हिन्दी-कविता के भावी उज्ज्वल, स्वस्थ विकास का शुभ लक्षण है। यदि हमारे आलोचक खेमों में विभाजन कर आलोचना करने की प्रवृत्ति त्याग दें तो हिन्दी-कविता का यह मिला-जुला रूप और विकास करेगा। कविता को वादों के चक्रव्यूह में फँसा कर कवियों और आलोचकों ने इसका कितना अहित किया है, हिन्दी-साहित्य का इतिहास इसका प्रमाण है। इस विभाजन से कुण्ठाओं की सृष्टि ही अधिक होती रही है।

'नई कविता' के इस विवेचन में जब तक आधुनिक गीतिकाव्य को सम्मिलित नहीं किया जायेगा, इसका विवेचन अधूरा ही समझा जायेगा। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि प्रयोगवादी 'नई कविता' नाम के अनुकरण पर हिन्दी के कतिपय नवीन गीतकारों ने

अपने गीतों को पूर्ववर्ती गीतिकाव्य से भिन्न और विशिष्ट सिद्ध करने के लिए उन्हें 'नवगीत' की संज्ञा प्रदान की थी। राजेन्द्र प्रसाद सिंह, डा० शम्भूनाथ सिंह, गिरिजा कुमार माथुर, वीरेन्द्र मिश्र, त्रिलोचन शास्त्री, रवीन्द्र भ्रमर आदि ने नवगीत की चर्चा आरम्भ की थी और 'कविता—१९६४' नामक संकलन में 'नवगीत' का प्रथम समवेत संकलन सामने आया था। कुछ दिनों तक नवगीत की काफी चर्चा होती रही और विभिन्न विद्वानों ने इसके इतिहास, विशिष्ट व्यक्तित्व, नवीन उपलब्धि और सम्भाव्यता पर प्रकाश डाला। एक प्रकार से 'नवगीत' को प्रयोगवादी 'नई कविता' का पूरक स्वीकार किया गया क्योंकि इन गीतकारों ने प्रतीक, अप्रस्तुत विधान, छन्द और भाषा के नए रूपों को अपनाया था। वस्तुतः इस 'नवगीत' में गीतिकाव्य के विशिष्ट गुण—भावात्मकता, अनुभूति की सहजता, लयात्मकता और प्रेषणीयता—यथावत् रूप में स्वीकार किए गए। भाषा में लोकभाषा की सहज भंगिमा और लोक-गीतों की संगीतात्मकता को अपनाया गया। डा० कुन्दनलाल उप्रैतिः ने इस 'नवगीत' की नई संज्ञा को अस्वीकार करते हुए इन नवीन गीतों को हिन्दी के परम्परागत गीतों का ही विकसित रूप स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—"लोक-चेतना को स्वीकार करने के कारण इसकी परिधियाँ गीतकारों की भाँति सामयिक हो गई हैं। 'नई कविता' की तरह इसने पूर्ण बौद्धिकता को प्रश्रय नहीं दिया है। इसके विपरीत इसमें हार्दिकता है, भावों की गहराई है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह हिन्दी की गीति-परम्परा के क्रमिक विकास का ही अगला चरण है।"[1]

यदि 'नवगीत' संज्ञा में निहित विशिष्टिता और अलगाव की भावना के मोह को छोड़ दिया जाय तो इस युग में रचित गीतिकाव्य एक नई उपलब्धि माना जा सकता है। इतिहास के लम्बे काल में जयदेव, विद्यापति, कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, प्रसाद, निराला, महादेवी आदि गीत के क्षेत्र में नवीन प्रयोग करते आए थे। तनिक से ध्वनि अथवा रूपभेद के आधार पर उनकी विशिष्टताएँ सुरक्षित रही थीं। इन 'नवगीत' के प्रचारकों को यह जान लेना चाहिए कि अपनी जिन रचनाओं को वे 'नवगीत' की संज्ञा प्रदान कर अपनी नवीनता और विशिष्टता के गीत गा रहे हैं, उसका आरम्भ निराला बहुत पहले अपने गीतों द्वारा कर चुके थे। "यदि परम्परागत भाषा, छन्द और भावों के प्रति विद्रोह तथा सहज भाषा में सांकेतिक और प्रतीकात्मक पद्धति से सूक्ष्मतम मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही 'नवगीत' है तो नवगीत का आरम्भ निराला से ही स्वीकार करना चाहिए। 'गीतिका' के गीत सहज भाषा और संक्षिप्तता की दृष्टि से 'नवगीत' के सुन्दर उदाहरण हैं।"[2]

वस्तुतः आधुनिक गीतिकाव्य के विकास में व्यक्तिवादी और समाजवादी—सभी कवियों का योगदान रहा है। अज्ञेय, नरेश मेहता, हरिनारायण व्यास, विजयदेव

---

१. **छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य में ध्वनि**—डा० कुन्दनलाल उप्रैतिः।
२. वही।

नारायण साही, वीरेन्द्र मिश्र, ठाकुरप्रसाद सिंह, जगदीश गुप्त, श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी, मुद्राराक्षस, राजेन्द्रकिशोर, मलयज, ओम प्रभाकर, देवेन्द्र कुमार, नीरज, राही, रमानाथ अवस्थी, रामावतार त्यागी, घनश्याम अस्थाना, जगत प्रकाश चतुर्वेदी, सोम ठाकुर, शलभ, शिव बहादुर सिंह भदौरिया आदि ने हिन्दी गीतिकाव्य को विकास की एक लम्बी परम्परा प्रदान की है। इन्होंने अपने गीतों में गेयता की रक्षा की है। हिन्दी के इन नए गीतकारों ने देश-गौरव, देश श्री, प्रेम, प्रणय, सौन्दर्य, विरह और विभिन्न अनुभूतियों के भाव-प्रवण मधुर गीत गाए हैं। कुछ गीत तो इतने सुन्दर और प्रभविष्णु हैं कि एक बार सुन या पढ़ लेने पर उनके बोल बहुत समय तक चेतना को झंकृत करते रहते हैं। .कवि-सम्मेलनों में ऐसे गीतों की बहार छाई रहती है। इन गीतों ने हिन्दी की 'नई कविता' को लोकप्रिय बनाने में अभूतपूर्व योग प्रदान किया है।

'नई कविता' की कला और शिल्प

इस युग में रचित काव्य—प्रबन्ध, मुक्तक, गीत—में कला और शिल्प के भी नए रूप उभरे। भाषा, छन्द, अलंकार, प्रतीक आदि के नए-नए प्रयोग हुए। काव्य-रूपों में परम्परागत काव्य-रूपों के साथ नए रूपों की भी उद्‌भावना की गई और कुछ पुराने काव्य-रूपों का परिष्कार कर उन्हें नए युग की नई अनुभूतियों के अनुरूप बनाया गया। प्रबन्ध-काव्य का क्षेत्र लगभग परम्परागत ही रहा। केवल उनकी संख्या में ही वृद्धि हुई। 'कामायनी' की छायावादी-परम्परा में अनेक प्रबन्ध-काव्य लिखे गए। विषय-वस्तु की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं दिखाई पड़ी। प्रबन्ध-काव्य के पूर्व-निर्धारित लक्षणों की उपेक्षा तो 'कामायनी' के साथ ही आरम्भ हो गई थी। लक्षणों की उपेक्षा की यह प्रवृत्ति इस काल में और अधिक विकसित हुई। नवीन युग-बोध इनमें भी पुराने प्रबन्ध-काव्यों के समान ही दिखाई पड़ा। हाँ, भाषा, छन्द, प्रतीक आदि के क्षेत्रों में ये प्रबन्ध-काव्य नई काव्य-चेतना से अवश्य प्रभावित रहे।

छन्द-विधान के क्षेत्र में निराला द्वारा प्रवर्त्तित मुक्त-छन्द की प्रवृत्ति का ही विकास दिखाई पड़ा। नए कवि ने छन्द के बन्धन को अस्वीकार करते हुए शब्द, पंक्ति, लय को स्वच्छन्द रूप से आगे बढ़ने दिया। इसका परिणाम यह निकला कि अनेक कविताएँ गद्य सी बन गई। यदि उनकी पंक्तियों को गद्य के समान एक क्रम में लिख दिया जाय तो वे गद्य की रचनाएँ लगने लगें। संगीत और उसकी लय कविता में एक मनोरम झंकार और प्रभविष्णुता उत्पन्न कर देती हैं। अधिकांश कविताओं में इनकी पूर्ण उपेक्षा रही। छन्द-बन्धन का विरोध निराला ने भी किया था परन्तु वर्ण और मात्रा के बन्धनों को भंग करते हुए भी उनकी मुक्त-छन्द में लिखी कविताओं में संगीत और लय का पूर्ण समावेश रहता था। मगर इस युग के अधिकांश अधकचरे कवि इस विशेषता का निर्वाह करने में असमर्थ रहे। मगर मँजे हुए सिद्ध कवियों की रचनाओं में संगीत और लय का मनोरम सौन्दर्य मिला। गीतों में तो

यह विशिष्टता अधिक शक्ति और सौन्दर्य के साथ उभरी । अनेक कवियों ने लोकगीतों के आधार पर बड़े सुन्दर, सरस गीत रचे । फिर भी, समष्टि रूप से, इस युग की कविता में छन्द का कोई एक निश्चित स्वरूप नहीं उभर सका । तुक की उपेक्षा भी हुई और उसे अपनाया भी गया । 'अकविता' का तो किसी भी प्रकार के छन्द से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा । 'ठोस कविता' आदि के रूप में शृंगारकालीन चित्र-काव्य की ही पुनरावृत्ति दिखाई पड़ी परन्तु लोकप्रिय नहीं बन सकी । छन्दों के क्षेत्र में एक नई प्रवृत्ति दिखाई पड़ी । अनेक कवियों ने उर्दू के गज़ल, शेर, रुबाई तथा अंग्रेजी के सॉनेट आदि छन्दों को अपना कर छन्द के नए-नए प्रयोग किए । परन्तु इस प्रवृत्ति को भी विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला, यद्यपि आजकल भी कभी-कभी ऐसे प्रयोग होते रहते हैं । परन्तु इधर छन्दों के प्रति कवियों का मोह बढ़ता दिखाई पड़ रहा है ।

शिल्प के क्षेत्र में इस युग की कविता की कुछ विशिष्ट नवीन उपलब्धियाँ रही हैं । इस काल के कवियों ने नए बिम्ब, नए प्रतीक और भाषा के नए रूपों को अपनाया । बिम्ब विभिन्न अनुभूतियों और अरूप रागात्मक संवेगों को अभिव्यक्त करने के सशक्त माध्यम रहे हैं । विभिन्न काल के सिद्ध कवि इसके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के बिम्बों का प्रयोग करते आए हैं । बिम्बों का सार्थक और समुचित प्रयोग करना साधारण कवि के बस की बात नहीं होती । इसके लिए अपूर्व मेधा और कल्पना-शक्ति की अपेक्षा होती है । 'नई कविता' में प्रयुक्त बिम्बों की यह विशेषता रही है कि ये नए बिम्ब समसामयिक परिवेश से ही प्रायः ग्रहण किए गए हैं, जैसे—'इंजन के हैड लाइट सा सूरज', 'बल्ब से तारे', 'एक रेकार्ड सी बनती हुई जिन्दगी (नीरस जिन्दगी का बिम्ब), 'साँझ सी बीरान', 'बासी ककड़ी सी अलसायी' (गत-यौवना नारी का बिम्ब), 'मकई से लाल गेंहुए तलुए', 'सड़ा हुआ नारियल सा खाली-खाली मस्तक', 'यह धूप बहकी-बहकी कि शराब आसमानी', 'यह तुम्हारा छलछलाता, प्रखर निर्मल प्यार छिछली नदी सा', 'ऊपर से प्लैट प्रोनोट सा लगता है', 'झील किसी कामिनी के चू पड़े नयन सी, नावें जिसमें सपने सी बहती हैं ।' ये विभिन्न प्रकार के बिम्ब नए कवि की नई कल्पना को विभिन्न प्रकार की उपमा-उत्प्रेक्षा के साथ प्रस्तुत करते हैं । परन्तु कहीं-कहीं विभिन्न प्रकार के चिन्हों और शब्दों का एक साथ प्रयोग कर ऐसे बिम्ब उभारे गए हैं जो संवेदना के सहायक न बन उसे और अधिक उलझा देते हैं । फिर भी, कुल मिला कर, 'नई कविता' के बिम्ब-विधान को समृद्ध और सशक्त माना जा सकता है ।

नए बिम्बों के समान ही इस काल में प्रतीकों के भी नए-नए रूप सामने आए हैं । प्रतीक अर्थ की सार्थक व्यंजना में सहायक होते हैं, और इसीलिए इनका प्रयोग किया जाता है । काल-प्रवाह में पुराने प्रतीक अपनी सार्थकता खो बैठते हैं, तब नए युग के नए कवि नए-नए प्रतीकों को गढ़ने लगते हैं । प्रयोगवाद के जन्म के साथ नए प्रतीकों के प्रयोग की प्रवृत्ति बहुत जोर के साथ बढ़ी थी और कविगण ऐसे-ऐसे नए

प्रतीकों का प्रयोग करने लगे थे जो सहज-संवेद्य नहीं बन पाते थे । अप्रस्तुत को सर्व-संवेद्य बनाने में ही प्रतीकों की सार्थकता मानी जाती है । यदि प्रयुक्त प्रतीक उस अप्रस्तुत के रूप को स्पष्ट करने में असमर्थ रहता है तो उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती । प्रयोगवाद के परवर्ती-काल में कवियों ने इस सत्य को पहचान कर अनर्गल, असंवेद्य प्रतीकों के प्रयोग का मोह त्याग ऐसे प्रतीकों का प्रयोग करना आरम्भ किया जो सहज-संवेद्य बनने में समर्थ थे । मुक्तक कविताओं में तो नए प्रतीकों का प्रयोग हुआ ही, कुछ लम्बी कविताएँ और प्रबन्ध-काव्य पूरे के पूरे प्रतीक रूप में ही लिखे गए; जैसे—धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया', अज्ञेय के 'नदी के द्वीप', 'यह दीप अकेला' आदि । 'टूटा पहिया', 'अँधेरे का फूल' आदि कविताएँ भी प्रतीकात्मक ही हैं ।

भाषा के क्षेत्र में इस युग की नई कविता की उपलब्धियाँ बड़ी समृद्ध, सशक्त और सार्थक रही हैं । इस काल के कवियों ने भाषा और उसके शब्दों का संस्कार कर उन्हें नई अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में समर्थ बनाया है । उसे नए प्रतीक, नए बिम्ब और नया सौन्दर्य-बोध प्रदान किया है । छायावादी-काव्य की भाषा जटिल और दुरूह हो उठी थी । प्रगतिवादियों ने काव्य-भाषा को जन-भाषा के साथ ला मिलाया था । प्रयोगवादियों ने परम्परागत काव्य-भाषा को नए युग की नई अनुभूतियों और चिन्तन धाराओं को अभिव्यक्त करने में असमर्थ घोषित कर शब्दों को नई अर्थ-ध्वनि प्रदान की थी । नए शब्द गढ़ कर तथा अन्य भाषाओं के शब्दों को अपना कर हिन्दी का शब्द-भंडार बढ़ाया था । नए गीतकारों ने लोक-भाषा के सहज, सरल, मनोरम शब्दों का प्रयोग कर भाषा में एक नई लोच और सौन्दर्य भर दिया था । यह हिन्दी का नवीन विकासोन्मुख रूप था । समष्टि रूप से इस युग में काव्य-भाषा का नवीन संस्कार कर उसे और अधिक सशक्त, समृद्ध, सहज रूप प्रदान करने का समवेत प्रयत्न किया गया जो हिन्दी-भाषा के इतिहास में गौरव के साथ याद किया जाता रहेगा ।

गद्य-खंड

साहित्यिक रचनाओं की विविधता की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य का आधुनिक काल गद्य-प्रधान रहा है। कहना चाहिए कि एक प्रकार से इस युग में ही वास्तविक रूप में खड़ीबोली गद्य का जन्म हुआ और वह विभिन्न साहित्यिक विधाओं के रूप में त्वरित गति से विकास के पथ पर आगे बढ़ा। पहले हिन्दी-गद्य के दो रूप थे—ब्रजभाषा-गद्य और खड़ीबोली-गद्य। भक्तिकाल और शृंगार काल में कुछ रचनाओं में ब्रजभाषा-गद्य का प्रयोग होता रहा परन्तु वह अभिव्यक्ति का प्रधान और सशक्त माध्यम न बन सका। इन युगों में पद्य का ही प्राधान्य बना रहा। इसी कारण ब्रज-भाषा गद्य का विकास नहीं हुआ। यद्यपि खड़ीबोली गद्य के दो-एक ग्रन्थ भी इन युगों में लिखे गये थे परन्तु गद्य-प्रयोग की प्रवृत्ति के अभाव में खड़ीबोली गद्य का भी विकास नहीं हो सका। उस समय तक साहित्य भक्तों, राज-दरबारों या कुछ नीतिकारों तक ही सीमित था। शिक्षा भी प्रधानतः पद्य के माध्यम से ही दी जाती थी। इसलिए गद्य केवल बोलचाल तक ही सीमित था। परन्तु अठाहरवीं सदी के आरम्भ में जब उत्तर-भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो गया तो उन्होंने नई शिक्षा-पद्धति को लागू किया। विभिन्न विषयों को सुचारु रूप से पढ़ाने के लिए गद्य की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी क्योंकि अनेक नए विषय पद्य के माध्यम से नहीं पढ़ाए जा सकते थे। इसके अतिरिक्त ईसाई प्रचारकों को अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार करने तथा जागरूक भारतीय विचारकों और साहित्यकारों को अंग्रेजी साम्राज्यवादी शोषण और सांस्कृतिक-धार्मिक प्रचार का विरोध कर भारतीयों में देशभक्ति, स्व-संस्कृति के प्रति अनुराग आदि का प्रचार करने के लिए गद्य की आवश्यकता महसूस हुई। इन सम्पूर्ण कारणों की वजह से खड़ीबोली-गद्य के उस रूप का विकास हुआ जो जन-सामान्य में बोला जाता था और यदा-कदा साहित्य में भी प्रयुक्त होता था। हम हिन्दी-गद्य के इस विकास का विस्तृत विवेचन आधुनिक काल के आरम्भ में कर आए हैं।

हिन्दी-गद्य का आरम्भिक विकास पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ जिसने निबन्ध और आलोचना की नई गद्य-विधाओं को जन्म दिया। साथ ही नाटकों में भी

गद्य का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार गद्य की आरम्भिक तीन विधाएँ—निबन्ध, आलोचना और नाटक के रूप में विकसित हुईं। इसके उपरान्त बीसवीं सदी के आरम्भ में कथा-साहित्य की दो नई गद्य-विधाओं—कहानी और उपन्यास—ने रूप पाया। आगे चलकर इसमें संस्मरण, जीवनी, रेखाचित्र, गद्यकाव्य, रिपोर्ताज, एकांकी नाटक, रेडियो नाटक आदि लिखे जाने लगे और इन विभिन्न साहित्यिक रूपों में हिन्दी-गद्य विकसित होता रहा। हम द्विवेदी-युग तक के इस विकास का विस्तृत वर्णन गत पृष्ठों में कर चुके हैं। वहाँ हमने हिन्दी-गद्य के समन्वित विकास का, उसके विभिन्न पक्षों और समस्याओं का विवेचन करते हुए, एक मिला-जुला रूप प्रस्तुत किया है। यहाँ हम हिन्दी-गद्य की विभिन्न विधाओं का आरम्भ से लेकर आज तक का विकास एक-एक कर प्रस्तुत करेंगे। इस सम्पूर्ण युग के विभिन्न काल-खंडों में परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों, साहित्यिक विचारधाराओं आदि का विवेचन हम काव्य का विवेचन करते समय कर आए हैं, इसलिए यहाँ उनके प्रति केवल संकेत करते हुए ही आगे बढ़ेंगे।

जन्म और विकास की दृष्टि से हिन्दी में गद्य की विभिन्न विधाओं का विकास इस क्रम से हुआ है—निबन्ध, नाटक, आलोचना, उपन्यास, कहानी—हिन्दी-गद्य की यही पाँच प्रमुख विधाए रहीं हैं। इसलिए हम सबसे पहले इसी क्रम से इन पाँच विधाओं का विवेचन करेंगे और अन्त में संस्मरण, जीवनी, रेखाचित्र, गद्यकाव्य, आदि का।

हिन्दी-निबन्ध

निबन्ध का जन्म

निबन्ध—क्योंकि गद्य में ही लिखा जाता है, इसलिए हिन्दी-साहित्य में आधुनिक-काल से पूर्व इसका कोई अस्तित्व नहीं मिलता। पहले जब गद्य का ही प्रचलन नहीं था तो निबन्ध की कल्पना ही असम्भव है। हिन्दी में जब गद्य का जन्म और विकास हुआ तो इसका पहला रूप लघु निबन्धों और टिप्पणियों के रूप में सामने आया। ये निबन्ध और टिप्पणियाँ नवोदित हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादकों द्वारा लिखी जाती थीं। इस प्रकार निबन्ध का आरम्भिक रूप पत्रकारिता से प्रभावित रहा। भारतेन्दु का समय प्रधानतः पत्रकारिता का ही युग था। उस समय भारतीय समाज में एक नवीन सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना का उदय हो रहा था। इस नवीन चेतना का प्रतिनिधित्व तत्कालीन पत्र-पत्रिकाएँ—'बनारस अखबार' 'प्रजा हितैषी', 'बंगदूत', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'ब्राह्मण', 'सार-सुधानिधि', 'प्रदीप' आदि कर रही थीं। इन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक गण इनमें छोटे-छोटे सामयिक विषयों और समस्याओं से सम्बन्धित निबन्ध लिखा करते थे। इसी कारण हिन्दी के आरम्भिक निबन्ध पत्रकारिता से प्रभावित रहे।

हिन्दी के ये आरम्भिक निबन्ध अपने रूप-विधान में अंग्रेजी के उन निबन्धों से अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित रहे जो अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते थे। अंग्रेजी में उस समय दो प्रकार की निबन्ध-शैलियों का विकास हो रहा था—वैयक्तिक अर्थात् व्यक्तित्व-प्रधान, तथा निर्वैयक्तिक। अब्राहम काउली, जोनाथन स्विफ्ट, चार्ल्स लैम्ब, स्टीवेन्सन, हैजलिट, स्टील, गोल्ड स्मिथ, ली हन्ट आदि व्यक्तित्व प्रधान निबन्ध लिखते थे और बेकन, बेन जानसन, एडीसन, ज़ेफरी, मैकॉले, वाल्टर पेटर आदि विचार-प्रधान निर्वैयक्तिक शैली के निबन्ध लिख रहे थे। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के तत्कालीन सम्पादक तथा अन्य लेखक अंग्रेजी के इस निबन्ध-साहित्य से परिचित थे। इसलिए उन्होंने निबन्ध की इन दोनों ही शैलियों को आधार बना आरम्भिक निबन्ध लिखे थे। नए साहित्य रूप का, जब वह हमारे साहित्य में पहले था ही नहीं, आधार तो कहीं-न-कहीं से ग्रहण करना ही था और उस समय अंग्रेजी के निबन्ध ही सुलभ थे, इसलिए उन्हीं का आधार ग्रहण किया गया। शैली अवश्य अंग्रेजी-निबन्धों की सी ही रही, परन्तु विषय युग और परिस्थितियों के अनुरूप नए और मौलिक अपनाए गए। इस प्रकार हिन्दी के आरम्भिक निबन्ध रूप और शैली की दृष्टि से अंग्रेजी-निबन्धों से न्यूनाधिक रूप में प्रभावित अवश्य रहे, परन्तु विषय की दृष्टि से मौलिक और स्वतंत्र।

हिन्दी के इन आरम्भिक निबन्धकारों को अनेक काम करने थे। उन्हें सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों पर टिप्पणी करनी थी, शिक्षा और साहित्य के नए-पुराने अंगों को पुष्ट बनाना था। और इन कार्यों के लिए निबन्ध ही एकमात्र माध्यम और साधन बन सकता था। इसी कारण उस युग में खूब निबन्ध लिखे गए। प्रथम स्वतंत्र निबन्ध के रूप में राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द के निबन्ध 'राजा भोज का सपना' (सन् १८३९) को हिन्दी का पहला मौलिक निबन्ध माना जा सकता है, जिसमें स्वप्न की एक कथा द्वारा नैतिक सिद्धान्त और उपदेशात्मक विचारों का अंकन किया गया है। उस समय अन्य लेखकों ने भी कुछ निबन्ध लिखे, परन्तु निबन्ध का कोई एक निश्चित रूप उभर कर सामने न आ पाया। यह कार्य, कुछ वर्ष उपरान्त भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखक-मंडल द्वारा सम्पन्न हुआ। क्योंकि साहित्य की अन्य विधाओं के समान निबन्ध में अधिक और रूढ़ विधि-निषेधों का पालन नहीं करना पड़ता, इसलिए भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखक निबन्ध को अपनी अभिव्यक्ति का प्रधान माध्यम बना साहित्य के क्षेत्र में उतरे और इस प्रकार निबन्ध-लेखन की एक स्वस्थ, सुव्यवस्थित परम्परा कायम करने में सफल हुए। इस प्रकार हिन्दी में निबन्ध-लेखन का आरम्भ भारतेन्दु के समय से ही मानना चाहिए। उस समय से लेकर आज तक हिन्दी में प्रचुर परिमाण में निबन्ध लिखे जाते रहे हैं। हिन्दी-निबन्ध की इस विशाल और समृद्ध परम्परा का सुचारु और क्रमिक अध्ययन करने के लिए हमें उसे, उसके विकास की दृष्टि से अग्रलिखित काल-खंडों में विभाजित करने से अधिक सुविधा रहेगी—

१—भारतेन्दु-युग या आरम्भिक प्रयास ····सन् १८५७—१९००
२—द्विवेदी-युग या व्यवस्था का काल ···· ,, १९००—१९२०
३—शुक्ल-युग या उत्कर्ष का काल ···· ,, १९२०—१९४०
४—आधुनिक युग या शुक्लोत्तर युग ···· ,, १९४०—से आज तक

१. भारतेन्दु-युग या आरम्भिक प्रयास

हम भारतेन्दु-युग का विवेचन करते समय भारतेन्दु-युगीन निबन्ध-साहित्य का विस्तृत परिचय दे आए हैं। परन्तु यहाँ इतिहास की क्रमबद्ध शृङ्खला को बनाए रखने के लिए संक्षेप में उसका पुनः परिचय देना आवश्यक है। भारतेन्दु-युग में निबन्ध-क्षेत्र में नवीन प्रयास और प्रयोग का आरम्भ हुआ। भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों ने साधारण और गम्भीर—दोनों प्रकार के विषयों से सम्बन्धित निबन्ध लिखे। उस समय गद्य का कोई एक सर्व-स्वीकृत रूप सामने न रहने के कारण इन निबन्धों में गद्य-शैली-निर्माण के वैयक्तिक प्रयास उभर कर सामने आए। उनकी भाषा सर्व-साधारण की थी जिसमें स्थानीय मुहावरों, लोकोक्तियों और शब्दों का उन्मुक्त और स्वच्छन्द रूप से प्रयोग किया जाता था। वस्तुतः अंग्रेजी के 'ऐसे' (Essay) शब्द से जो ध्वनि निकलती है, ये निबन्ध—निबन्ध के उसी रूप को ध्वनित करने वाले आरम्भिक प्रयास थे। इन निबन्धकारों को अपनी बात सहज रूप में अपने पाठकों से कहनी और समझानी थी। इसलिए इन निबन्धों में न तो बुद्धि-वैभव का चमत्कार प्रदर्शित करने की आकांक्षा मिलती है और न पांडित्य-प्रदर्शन की भावना ही। इसी कारण इन निबन्धों में एक ऐसी सहजता है जो परवर्ती-काल के निबन्धों में नहीं मिलती। ये सभी आरम्भिक निबन्ध-लेखक जिन्दादिल, कल्पनाशील, यथार्थवादी और मनमौजी थे। अपनी बात को बिना किसी भी प्रकार का संकोच किए लिख डालते थे। इसी कारण इनके निबन्धों में वैयक्तिक विशेषताएँ, हास्य-विनोद, व्यंग्य, निश्छलता आदि गुण स्वभावतः आ गए थे। ये अपने पाठकों के साथ इतनी आत्मीयता और बेतकल्लुफी के साथ बात करते थे कि पाठक उनसे प्रभावित हो उनके साथ घुल-मिल जाना चाहता था। उस समय पाठक और लेखक के मध्य अहंजनित कोई स्तर-भेद या वर्ग-भेद नहीं था। भारतेन्दु इन लेखकों के प्रेरणा-स्रोत और नेता थे। वास्तव में भारतेन्दु उस युग की समस्त साहित्यिक गतिविधियों के मुख्य संचालक-सूत्र थे। उन्होंने विविध प्रकार के निबन्ध लिखकर एक ओर निबन्ध-साहित्य का भण्डार भरा था, और दूसरी ओर अपने सहयोगियों को अनुप्रेरित किया था। उन्होंने इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, नाटक, आलोचना, भाषा, यात्रा, प्रकृति-वर्णन, आत्मचरित, व्यंग्य-विनोद आदि विभिन्न विषयों पर प्रचुर परिमाण में निबन्ध लिखे थे। परन्तु उनके ये निबन्ध बहुत समय तक, एक स्थान पर संग्रहीत न होकर, इधर-उधर बिखरे पड़े रहे थे। सम्भवतः इसी कारण डा० श्री कृष्णलाल ने भारतेन्दु को हिन्दी का प्रथम निबन्ध-

लेखक न मान पं० बालकृष्ण भट्ट को माना है। वस्तुतः भारतेन्दु ही हिन्दी के प्रथम आधिकारिक निवन्ध लेखक थे। उनके निबन्धों में विषय और शैली की दृष्टि से पूरा वैविध्य है। इनकी नाटकीय शैली और स्तोत्र का ढंग बड़ा प्रभावात्मक है। इन्होंने अपने स्तोत्रों में विभिन्न प्रकार के सम्बोधनों, व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों, रूपकों के अनोखे बन्धानों और अतिशयोक्तियों द्वारा अद्भुत चमत्कार और प्रभाव उत्पन्न कर दिया है। साधारण विषयों का वर्णन करते हुए अपनी व्यंग्य-विनोद की शैली का समावेश कर भारतेन्दु ऐसा गहरा और प्रभावकारी व्यंग्य कस जाते थे कि समर्थक खिलखिला उठते थे और जिन पर व्यंग्य कसा जाता था, वे तिलमिला उठने पर भी कुछ कह या कर न पाते थे। उनके एक यात्रा-सम्बन्धी निबन्ध का एक ऐसा ही व्यंग्य द्रष्टव्य है—"गाड़ी भी ऐसी टूटी-फूटी जैसे हिन्दुओं की किस्मत और हिम्मत।""अब तो तपस्या करके गोरी-गोरी कोख से जन्म लें तब ही संसार में सुख मिले।" भारतेन्दु ने, शैली के क्षेत्र में, विषय के अनुरूप सरल और गम्भीर—दोनों प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया था। 'लेवी प्राण लेवी', 'पाँचवें पैगम्बर', 'अंग्रेज-स्तोत्र', 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' आदि निबन्धों में व्यंग्य-विनोद-मिश्रित सरल-सहज शैली का रूप मिलता है और 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' जैसे गम्भीर विषयों से सम्बन्धित निबन्धों में गम्भीर विवेचनात्मक शैली और प्रौढ़ भाषा का। परन्तु सुबोधता दोनों ही शैलियों का प्रधान गुण रहा है।

भारतेन्दु के सहयोगी निबन्धकार

भारतेन्दु के समय में ही विभिन्न पत्रों के सम्पादकों के रूप में, हिन्दी में, ऐसे निबन्धकार सामने आए जिनका प्रधान स्वर राष्ट्रीयता का था। इन्होंने छोटे-छोटे निबन्ध लिखकर भारतीयता, भारतीय संस्कृति, समाज आदि के उन्नयन का नारा लगाया। यह सम्पूर्ण युग—एक अपूर्व राष्ट्रीय चेतना का युग था। इन निवन्धकारों में—पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं० अम्बिकादत्त व्यास, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० राधाचरण गोस्वामी आदि प्रमुख थे। इनमें से हम बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त की वृहद्त्रयी को इस काल के निबन्धकारों का प्रतिनिधि मान सकते हैं। ये तीनों ही अपने समय के अनन्य जागरूक, कर्मठ और त्यागी पत्रकार थे। **भट्ट जी** को कुछ विद्वानों ने हिन्दी का प्रथम निबन्धकार माना है। भट्ट जी ने सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक आदि विभिन्न विषयों पर अनेक निबन्ध लिखे जो 'भट्ट निबन्धावली' में संग्रहीत हैं। इन निबन्धों में गाम्भीर्य और विनोद प्रियता—दोनों ही गुण एक साथ मिल जाते हैं। वे अपनी बात को हास्य-व्यंग्य में लपेट रोचक और सुबोध रूप में प्रस्तुत करने में अत्यन्त पटु थे। वे हास्य को बहुत महत्त्व देते थे। 'सरस्वती' की गम्भीरता-मिश्रित नीरसता की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था कि—"सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुन्द कली के समान दाँत न खिल उठे तो वह लेख ही क्या!" इनके निबन्ध समाज और

जीवन के विभिन्न पक्षों और समस्याओं को अपना विषय बनाकर चले हैं, जैसे—'इंगलिश पढ़े तो बाबू होय', 'मेला ठेला', 'वकील', 'आत्म-निर्भरता', 'सहानुभूति', 'आशा', 'खटका' आदि। भट्ट जी अपने निबन्धों के माध्यम द्वारा अपने पाठकों से आत्मीयता स्थापित करना चाहते हैं, परन्तु शालीन ढंग से। विषय-भिन्नता के साथ ही इनकी शैली भी भिन्न रूप धारण कर लेती है। इसी कारण इनकी शैली के विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक, भावात्मक आदि भिन्न रूप मिलते हैं। इनके विचार-प्रधान निबन्ध तर्क-पुष्ट शैली में व्यवस्थित ढंग से लिखे गए हैं। कहीं-कहीं भावात्मक शैली के भी दर्शन हो जाते हैं। इनका व्यंग्य अधिक सूक्ष्म और सांकेतिक न होने के कारण पर्याप्त तीखा नहीं बन पाता। इन्होंने लगभग ३२ वर्ष तक 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्र का संचालन, प्रकाशन और सम्पादन किया था जिसके लिए इन्हें घोर कर्म-तपस्या और त्यागमय जीवन बिताने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

पं० प्रतापनारायण मिश्र—अत्यन्त मनमौजी और मस्त लेखक थे। उनकी सी मस्ती और उल्लास उस काल के किसी भी अन्य लेखक में नहीं मिलता। वे किसी भी प्रकार के विधि-निषेधों को स्वीकार न कर मन की तरंग के प्रवाह में बहते हुए स्वच्छन्द रूप से लिखते थे। इसी कारण उनकी भाषा और शैली में पूर्ण स्वाभाविकता, सजीवता और सरसता रहती थी। उन्होंने गम्भीर विषयों का बहुत ही कम स्पर्श किया है। वे अपनी सरल ग्रामीणता को यथावत् बनाए रख बेतकल्लुफी के साथ अपने पाठकों से बातें करते थे। जैसे, उनका यह निबन्ध कि—'तो भला बतलाइए तो आप क्या हैं?' वे कहावतों, मुहावरों, श्लेष और अनुप्रास के चमत्कार द्वारा अपनी बात में एक ऐसा सहज और प्रबल आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं कि पाठक उनके साथ आत्मीयता अनुभव करने लगता है। वस्तुतः वे व्यक्तिनिष्ठ शैली के निबन्धकार थे। विषय जो मन में आया, उठा लिया। निबन्ध का विषय उनकी विचारधारा को नियन्त्रित न कर स्वयं ही विचारधारा से नियन्त्रित रहता है। शुक्ल जी ने उनकी स्वच्छन्द शैली पर ग्रामीणता का दोष लगाया है। वस्तुतः उनकी सहजता और अकृत्रिमता ही कुछ लोगों को ग्रामीण प्रतीत हुई है। मिश्र जी ने अपने युग की प्रवृत्ति के ही अनुरूप साधारण और गम्भीर विषयों को अपनाया है परन्तु बहुलता साधारण विषयों की ही रही है; जैसे—'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'दाँत', 'पेट', 'समझदार की मौत है', 'टेढ़ जान शंका सब काहू', 'होली है या होरी है' आदि। गम्भीर विषयों सम्बन्ध 'मनोयोग', 'प्रताप-चरित्र', 'ईश्वर की मूर्त्ति', 'नास्तिक' आदि निबन्ध माने जा सकते हैं। परन्तु उनकी हास्य-व्यंग्यपूर्ण स्वाभाविक शैली सर्वत्र प्रायः एक सी ही रही है। भाषा-दोष आदि रहने पर भी मिश्रजी की शैली आकर्षित करती है।

बाल मुकुन्द गुप्त—उस समय साहित्य-क्षेत्र में उतरे थे जब भारत का प्रभा-पूर्ण इन्दु अस्त हो चुका था, भारतेन्दु स्वर्गवासी हो गए थे। इसलिए इस काल तक के सम्पूर्ण कृतित्व को दाय के रूप में स्वीकार कर विकसित चेतना और भाषा के साथ गुप्तजी 'बंगवासी', 'भारत मित्र' जैसे पत्रों के सम्पादक के रूप में सामने आए।

उन्होंने गद्य को परिमार्जित कर उसे प्रांजलता प्रदान की। उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी समाचार-पत्र और पत्रिकाओं का इतिहास प्रस्तुत किया; गद्य-भाषा के व्याकरणिक रूप का विवेचन किया। उनके द्वारा सम्पादित 'बंगवासी' 'भाषा गढ़ने की टकसाल' कहलाता था। गद्य-शैली के स्वरूप को लेकर उनमें और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी में कई वर्ष तक खूब नोंक-झोंक चलती रही थी। विषय की दृष्टि से उन्होंने हिन्दी-भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा, जीवन-चरित, राजनीतिक व्यंग्य आदि विभिन्न विषयों पर लिखा था। इनका व्यंग्य शालीन, सांकेतिक और व्यंजक रहते हुए इतना सन्तुलित और तीखा होता था कि अंग्रेज शासक उसे पढ़ तिलमिला उठते थे परन्तु उन्हें कानून के शिकंजे में पकड़ने में असमर्थ रहते थे। इनके ऐसे लघु-निबन्ध 'शिव-शम्भु के चिट्ठे' शीर्षक से निकलते थे, जिनमें विदेशी शासक लार्ड कर्ज़न और उसकी नौकरशाही पर बड़े चुभते, तीखे व्यंग्य कसे जाते थे। इनमें एक ऐसी नाटकीयता थी जो मर्म पर आघात करती है। गम्भीर बातों को विनोदपूर्ण ढंग से कहते-कहते अपने हृदय का क्षोभ और दुख व्यक्त कर देने में इनकी लेखनी का चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है। वस्तुतः उस युग में इनकी सी राजनीतिक चेतना अन्य किसी भी हिन्दी लेखक में नहीं मिलती।

इस युग के अन्य निबन्धकारों में **पं० राधाचरण गोस्वामी** के निबन्धों में सामाजिक कुरीतियों पर गहरा व्यंग्य मिलता है। उन्होंने शहद जैसे मीठे, हास्य में लिपटे और कल्पना से रंगीन बने व्यंग्यों द्वारा कबीर के समान समाज, धर्म आदि पर गहरे आक्रमण किए हैं। **चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन'** ने रोचक भावात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक आदि विभिन्न शैलियों में, संस्कृत गर्भित भाषा में विविध विषयों पर अनेक सुन्दर निबन्ध लिखे थे। **ठाकुर जगमोहनसिंह** ने अलंकृत, अनुप्रास-मयी भाषा में भावुकता का पुट देते हुए अनेक वर्णनात्मक निबन्ध लिखे जिनमें प्रकृति के अनेक मनोरम चित्र अंकित हुए हैं। इनकी शैली संस्कृत गर्भित, काव्यात्मक और अलंकृत अधिक रही है। उसमें कहीं-कहीं वाण की 'कादम्बरी' की शैली जैसा छटा दिखाई पड़ती है। **अम्बिकादत्त व्यास** ने संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी अत्यन्त सरल और सुबोध शैली में अनेक निबन्ध लिखे। इनके निबन्धों का सग्रह 'साहित्य-नवनीत' शीर्षक से सन् १८९९ में प्रकाशित हुआ था। इस युग में अनेक अन्य विद्वानों ने भी विभिन्न सामयिक, साहित्यिक आदि समस्याओं पर अनेक निबन्ध लिखे थे। इनमें काशीनाथ खत्री, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या, हरिमुकुन्द शर्मा, मुरलीधर पाठक, महादेव दुबे, भानुदत्त, गणेशदत्त शर्मा, गोविन्दराम प्रभाकर, हरिश्चन्द्र उपाध्याय आदि उल्लेखनीय हैं।

मूल्यांकन और महत्त्व

भारतेन्दु-युग के निबन्धकार प्रायः पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक होने के कारण अपने युग की विभिन्न समस्याओं और समाज के प्रति अपने दायित्व से पूर्णतः

परिचित और सजग लेखक थे। इसी कारण उनके निबन्ध इन्हीं समस्याओं से सम्बन्धित रहते थे। उन्हें जनता में नई युग-चेतना का प्रचार करना था। इस कार्य को ये लोग कभी सीधे और कभी हास्य-व्यंग्य के आवरण में लपेट आकर्षक और सहज रूप से करते थे। साधारण से दीखने वाले विषय के मूल में भी इनका कोई-न-कोई गूढ़ आशय निहित रहता था। विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। इन विषयों को ये लोग अपनी भिन्न-भिन्न व्यक्तिनिष्ठ शैली में प्रस्तुत करते रहते थे, जिसमें एक अद्भुत आत्मीयता भरी रहती थी। इसीलिए ये पाठकों को गहरे रूप से प्रभावित करते थे। डा० रामविलास शर्मा ने निबन्ध-क्षेत्र में इनकी इस सफलता का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

"इसका एक कारण यह था कि पत्रिकाओं में नित्यप्रति लिखते रहने से उनकी शैली खूब निखर गई थी। दूसरी बात यह कि (उस युग में) निबन्ध ही एक ऐसा माध्यम था, जिसके द्वारा उस युग के धक्कड़ लेखक बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात कर सकते थे।....उस युग के लेखक तटस्थ रहते हुए अपनी बात पाठक से कह कर सन्तोष न कर सकते थे। वे उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे और एक मित्र की भाँति घुल-मिलकर उसे अपनी बातें समझाना चाहते थे।.... साहित्य की सच्ची सप्राणता उस शैली में है जहाँ लेखक और पाठक के बीच कोई दुराव नहीं रह जाता। सहज आत्मीयता के भाव ने भाषा को खूब स्वाभाविक बना दिया। कृत्रिम शैली में लेखक पाठक का आत्मीय बन ही नहीं सकता। इसीलिए भारतेन्दु-युग की गद्य-शैली के सबसे चमत्कारपूर्ण निदर्शन निबन्धों में ही मिलते हैं।"

वस्तुतः भारतेन्दु-युग के बाद आज तक हिन्दी-निबन्धों में ऐसी सरलता, सहजता और आत्मीयता फिर कभी न आ पाई। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"यह युग बच्चे के समान हँसता-खेलता आया था, जिसमें बच्चों की सी ही निश्छलता, अक्खड़पन, सरलता और तन्मयता थी।" और बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"निबन्ध की पृष्ठभूमि में रहने वाला निजीपन, हृदयोल्लास और चलतेपन के लिए भारतेन्दु-युग चिर-स्मरणीय रहेगा।" इस युग के निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनके माध्यम से उस युग में तेजी से उभरती हुई सामाजिक और राजनीतिक चेतना प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न रूप में अभिव्यक्त हुई और यह कार्य व्यंग्य और हास्य की अवतारणा कर अधिक मार्मिक और प्रभावशाली ढङ्ग से किया गया। ऐसी व्यापक सामाजिक चेतना, उस युग के निबन्ध-साहित्य की अपनी विशेषता थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—"भारतेन्दु और उनके सहकर्मियों ने जीवन को साहित्य में निर्बाध विकसित होने का मार्ग दिखा दिया। इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी के बाद साहित्य की धारा उन्मुक्त गति से आगे बढ़ी। इस शताब्दी के अन्तिम चरण में हिन्दी-साहित्य ने निश्चित रूप से शक्तिशाली कदम उठाया।" वस्तुतः इस युग के कर्मठ, त्यागी, तपस्वी साहित्यकारों ने जीवन और साहित्य की शृंगारकालीन विभेदक दीवारों

को धराशायी कर साहित्य को जीवन के साथ पूर्णतः ला मिलाया था। और जीवन और साहित्य का यह मेल इतना सहज और आत्मीयता भरा था कि उसमें शास्त्रीय विधि-निषेधों का कोई महत्त्व नहीं रह गया। साहित्य स्वाभाविक गति के साथ सहज रूप में आगे बढ़ रहा था। और इस प्रगति में उस युग के निबन्धकारों का सर्वाधिक महत्त्व रहा था। एक प्रकार से भारतेन्दु-युग को प्रधानतः निबन्धों का और अंशतः नाटकों का युग मानना चाहिए। उस युग का सा विषय-वैविध्य और आकर्षण परवर्ती कालों के निबन्धों में बहुत कम मिलता है।

२. द्विवेदी-युग या व्यवस्था का काल

भारतेन्दु-युग वृद्धि, फैलाव, विषय-वैविध्य और भाषा के परिमार्जन का युग था। वह एक नई चेतना का युग था, जिसमें प्रेरक हलचल और अमित उत्साह का प्राधान्य था। वहाँ अपनी बात सरलतापूर्वक कह देना ही एकमात्र लक्ष्य था। इसी कारण उस युग की भाषा, शैली और विषय-चयन में एक स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति मिलती है। उस काल के साहित्यकार ऐसे मेधावी छात्रों के समान थे, जिनमें कुछ नया कर गुजरने की अटूट लालसा भरी हुई थी। और यह 'कुछ कर गुजरने' की लालसा देश-दशा से प्रगाढ़रूपेण सम्बद्ध थी। इसका रूप उन्मुक्त और स्वच्छन्द था। परन्तु 'सरस्वती' सम्पादक के रूप में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जब साहित्य-जगत में प्रवेश किया तो उनके अभिजातवर्गीय स्वभाव को यह उन्मुक्तता और स्वच्छन्दता भा नहीं सकी। अतः उन्होंने साहित्य और साहित्यकारों का नियमन करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने लेखकों से कहा कि हमें शालीन ढंग से, सुव्यवस्थित भाषा और शैली में अपनी बात कहनी चाहिए। इस नई प्रवृत्ति के उदय का एक कारण यह था कि बीसवीं सदी के आरम्भ तक शिक्षित लोगों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी। विदेशी शिक्षा-प्रणाली ने हमारे शिक्षित-वर्ग में अपने विशिष्ट महत्त्व और श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न कर दी थी। अब शिक्षित लेखक या पाठक स्वयं को जन-साधारण से भिन्न मान शालीन, शिष्टतापूर्ण ढंग से बात कहना और सुनना चाहने लगा था। यह समाज का परिवर्तित वातावरण था जिसमें भारतेन्दु-युगीन स्वच्छन्दता को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था। इस नई दृष्टि ने हमारे साहित्य की स्वच्छन्दता को नष्ट कर उसे विशिष्ट और अभिजातवर्गीय बनाने की प्रक्रिया आरम्भ कर दी और द्विवेदी जी इस प्रक्रिया के संचालक बन गए।

द्विवेदी जी ने सबसे पहले भाषा की शुद्धता और शब्द-समृद्धि की ओर ध्यान दिया। उसके उपरान्त नैतिकतापरक उपयोगिता का प्रचार किया। फिर साहित्य की आलोचना की ओर ध्यान दिया। द्विवेदी जी का उपदेश यह था कि शुद्ध, व्याकरण-सम्मत भाषा में ऐसे साहित्य का सृजन किया जाय जिसमें उच्च मानवीय गुणों का आदर्श-परक अङ्कन हो। इस दृष्टिकोण ने मानव की सहज, सरस, उन्मुक्त, उल्लासमय भावनाओं की अभिव्यक्ति पर अंकुश लगा दिया। प्रेम जैसी भावना के उल्लासमय चित्रण को

अश्लील माना जाने लगा। अर्थात् द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य की स्वच्छन्दता को दूर कर उसे सभ्य नागरिक बनाने का प्रयत्न किया। उसका प्रभाव तत्कालीन निबन्ध-साहित्य पर गहरा पड़ा। द्विवेदी जी के अतिशय नैतिकतावादी आदर्शपरक दृष्टिकोण ने निबन्ध के मुखर उल्लासमय रूप को अवरुद्ध कर निबन्ध-क्षेत्र में एकाएक एक अप्रत्याशित परिवर्तन कर दिया। अब निबन्ध की वह आत्मीयता नष्ट हो गई, जो भारतेन्दु-युग के निबन्धों की अपनी निराली विशेषता थी। अब निबन्ध सूक्ष्म, सांकेतिक, व्यंग्य की शैली को त्याग उपदेशक आचार्य बन गया। इससे ज्ञान-विस्तार की प्रवृत्ति बढ़ी। विषय-विभिन्नता के कारण भाषा की शक्ति में विकास हुआ। पुरातत्त्व और आलोचना सम्बन्धी नई शैली के निबन्ध लिखे जाने लगे। अंग्रेजी, मराठी आदि विभिन्न भाषाओं के सुन्दर निबन्धों के हिन्दी में अनुवाद हुए। वस्तुतः 'सरस्वती' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के साथ हिन्दी-निबन्ध का द्वितीय उत्थान प्रारम्भ हुआ जिसमें पर्याप्त गाम्भीर्य और विस्तार तो था परन्तु निबन्ध के सहज, उल्लासमय रूप का हनन हो गया।

इस युग में द्विवेदी जी ने स्वयं अनेक प्रकार के निबन्ध लिखे जो 'ज्ञान-राशि के संचित कोश' बनकर रह गए। द्विवेदी जी ने बेकन के समान निबन्धों में विचार के प्राधान्य को स्वीकार कर ऐसे निबन्ध लिखे जिनमें तत्त्व-विवेचन की ही प्रमुखता रही। उनके 'कवि और कविता', 'कविता', 'साहित्य की महत्ता', 'प्रतिभा', 'क्रोध', 'लोभ', 'उपन्यास', 'नाटक' आदि निबन्धों में सम्बन्धित विषयों का सरल और सुबोध शैली में तात्त्विक विवेचन ही अधिक किया गया। उनके इन निबन्धों में भाषा की शुद्धता, सार्थकता, शब्द-प्रयोग-पटुता आदि गुण तो प्रचुर मात्रा में मिलते हैं परन्तु चिन्तन की मौलिकता, विश्लेषण की गम्भीरता, सूक्ष्म निरीक्षण तथा सरसता और व्यंग्य का अभाव है। इसी कारण उनके निबन्धों को साधारण ज्ञान-राशि का संचित कोश तो माना जा सकता है परन्तु निबन्ध की सहज आत्मा उनमें नहीं मिलती। वैयक्तिकता, रोचकता, सजीवता और सहज-स्वच्छन्दता के गुणों से उनके निबन्ध वंचित रहे हैं।

द्विवेदी-युगीन अन्य प्रमुख निबन्धकार

द्विवेदी-युग के अन्य प्रमुख निबन्धकारों में पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू गोपालराम गहमरी, बाबू ब्रजनन्दन सहाय, पं० पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह, गणेश शंकर विद्यार्थी, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि ऐसे निबन्धकार हैं जो एक प्रकार से द्विवेदी जी के साहित्यिक सिद्धान्तों और दृष्टिकोण से प्रभावित रहे हैं। इनमें से भी तीन निबन्धकार ऐसी उच्चकोटि के हुए हैं जो अपनी विशिष्ट शैली और प्रतिभा के कारण दूसरों से नितान्त भिन्न दिखाई पड़ते हैं। उनकी विशिष्टता केवल उन्हीं तक सीमित होकर रह गई है। ये तीन निबन्धकार हैं—**पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी और अध्यापक सरदार पूर्णसिंह।**

मिश्रजी के निबन्धों का विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहा है। उन्होंने पर्व-

त्यौहार, पुरातत्त्व, साहित्य, राजनीति, संस्कृति, भूगोल, जीवन-चरित्र आदि विभिन्न विषयों पर बड़ी रोचक शैली में अत्यन्त सारगर्भित निबन्ध लिखे हैं, जो 'माधव मिश्र निबन्ध माला' में संग्रहीत हैं। इनके निबन्धों में भारतीय पर्व-त्यौहारों और तीर्थ-स्थानों के प्रति अतीव निष्ठा के साथ देशप्रेम और सनातन धर्म के प्रति अटूट आस्था के दर्शन होते हैं। इनके 'सब मिट्टी हो गया' जैसे निबन्धों में एक उच्चकोटि के मार्मिक निबन्धकार का रूप मिलता है। इनकी शैली भाव-प्रवण, रोचक और कहीं-कहीं अत्यन्त गम्भीर और विचारोत्तेजक बन जाती है। विचार और शैली की दृष्टि से **गुलेरी जी** को इस युग का सर्वाधिक प्रगतिशील निबन्धकार माना जा सकता है। इनके निबन्धों में अध्ययन की गम्भीरता और विचारों की नवीनता एक ऐसी सरस, आकर्षक शैली में प्रस्तुत होती है जो पाठक को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। इनका व्यंग्य अत्यन्त मार्मिक और तीखा होता है। इस युग के लेखकों में सबसे अधिक विकसित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना इन्हीं में मिलती है। 'कछुआ धरम', 'मारेसि मोहि कुठाँव', और 'संगीत' जैसे निबन्धों में इनकी चमत्कार-पूर्ण शैली का पूर्ण उभार मिलता है। ये विभिन्न प्रसंगों, सम्भाषणों, लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग कर एक ओर तो शैली की रोचकता बढ़ा देते हैं और साथ ही उस पर अपने व्यक्तित्त्व की अद्भुत छाप डाल उसे वैयक्तिक कोटि की शैली बना देते हैं। परन्तु खेद है कि गुलेरी जी की प्रसिद्धि केवल उनकी अमर कहानी—'उसने कहा था' तक ही सीमित होकर रह गई है। उनके निबन्धों का अपेक्षित प्रचार नहीं हो पाया है।

अध्यापक सरदार पूर्णसिंह ने एक नई गति और लय के निबन्धों की परम्परा को नए मानवतावादी मार्ग की ओर उन्मुख किया। वे सभ्य आचरण और प्रेम तथा परिश्रम द्वारा समाज का कल्याण होना मानते थे। उन्होंने 'श्रम' की अत्यन्त भावपूर्ण व्याख्या कर, श्रम में आत्मीयता, स्नेह और कोमलता की भावना को प्रमुख माना था, न कि केवल अर्थ-अर्जन को। स्वतन्त्र चिन्तन, स्पष्ट सरस भाव-प्रवण अभिव्यक्ति, लाक्षणिकता और व्यंजकता का समावेश कर उन्होंने निबन्ध का एक सर्वथा नवीन रूप प्रस्तुत किया था, जिसका आगे विकास नहीं हो सका। 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम', 'कन्यादान', 'पवित्रता', 'ब्रह्म-क्रान्ति' आदि उनके ऐसे ही अद्भुत, अद्वितीय निबन्ध हैं जिन पर कोई भी साहित्य गौरव कर सकता है। इनकी भाषा में एक नवीन लक्षणा और व्यंजना शक्ति का अद्भुत चमत्कार मिलता है। भावों को मूर्त्त रूप देने की इनकी क्षमता अपूर्व है। इनके निबन्ध 'प्रभावाभिव्यंजक' शैली के माने जाते हैं क्योंकि सजीव चित्रोपम वर्णन, मार्मिक भाव-व्यंजना, गम्भीर विचार-संकेत और भाषा की ओजस्विता इनमें एक विशिष्ट प्रभाव और सौन्दर्य का समावेश कर देती है।

डा० श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाबराय, और मिश्रबन्धु भी प्रधानतः इसी युग और श्रेणी के निबन्धकार हैं परन्तु ये तीनों द्विवेदी जी की मान्यताओं से

प्रभावित न होकर स्वतन्त्र रूप से लिखते थे। डा० **श्यामसुन्दर दास** ने 'समाज और साहित्य', 'कला का विवेचन', 'कर्त्तव्य और सभ्यता' आदि गम्भीर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। उनके निबन्धों में पांडित्यपूर्ण ओज और अर्जित एवं संकलित ज्ञान का गाम्भीर्य तो मिलता है परन्तु निबन्ध की वह आत्मा नहीं मिलती जिसके कारण साहित्यिक दृष्टि से उनकी कोई रचना उच्चकोटि की कहला सकती। वस्तुतः उनके निबन्ध 'अध्यापकीय' ही बनकर रह गए हैं। विचारों की सुचारु अभिव्यक्ति को ही उनके निबन्धों का एक विशिष्ट गुण माना जा सकता है। **मिश्रबन्धुओं** के निबन्ध भी शिक्षामूलक ही अधिक रहे हैं। उनके निबन्धों में एक विद्वान् शिक्षक का अहं सहज रूप में दिखाई पड़ जाता है। **बाबू गुलाबराय** ने निबन्ध-लेखन द्विवेदी युग में ही आरम्भ कर दिया था और सन् ६० तक लिखते रहे थे। इन्होंने अपने आरम्भिक काल में 'समाज और कर्त्तव्य-पालन' तथा अनेक आलोचनात्मक साहित्यिक निबन्ध लिखे थे परन्तु उनमें वह रोचकता और प्रवाह नहीं मिलता जो उनके परवर्ती काल में लिखे गए 'फिर निराशा क्यों', 'मेरी कलम का राज' जैसे विनोदमयी शैली में लिखे संस्मरणात्मक निबन्धों में मिलता है। ये निबन्ध सच्चे अर्थों में उच्चकोटि के निबन्ध हैं। **पद्मसिंह शर्मा** के फड़कती शैली में लिखे गए निबन्धों की भावुकता और व्यंग्य दर्शनीय हैं।

इस युग के अन्य निबन्धकारों में पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, यशोदानन्दन अखौरी, किशोरीदास वाजपेयी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, बाबू शिवपूजन सहाय, डा० भगवानदास, बनारसीदास चतुर्वेदी, मोहनलाल महतो आदि उल्लेखनीय हैं। इन लोगों में से कुछ ने द्विवेदी-युग में लिखना आरम्भ किया था और आज भी लिख रहे हैं। परन्तु इनमें से अधिकांश अन्य साहित्यिक विधाओं, व्याकरण, भाषा-शास्त्र, संस्मरण, यात्रा आदि सम्बन्धी साहित्यिक रचनाओं के रचयिताओं के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध रहे हैं, न कि निबन्धकार के रूप में। इसलिए यहाँ इनका विस्तृत विवेचन अपेक्षित नहीं है।

मूल्यांकन

द्विवेदी-युग के निबन्ध, समष्टि रूप से, राष्ट्रीय जागृति, मानवतावाद, विश्वप्रेम, सामाजिक एकता, भारत और योरोप का सम्पर्क, अतीत गौरव, देशप्रेम, सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा भाषा-परिष्कार की भावनाओं और प्रयत्नों से ओतप्रोत रहे हैं। जीवन के प्रति गम्भीर दृष्टिकोण रहने के कारण इनमें हास्य-व्यंग्य के माध्यम से अपनी बात न कहकर गम्भीर विवेचन द्वारा अपनी बात कहने की प्रवृत्ति के कारण गम्भीरता का समावेश होता गया। रूप की दृष्टि से गद्यगीत और चरितात्मक कहानियों के रूपों का भी निबन्ध के माध्यम से विकास हुआ। इन निबन्धों में विषय-वैविध्य, विचार-गाम्भीर्य और भाषा की सशक्तता एवं स्वच्छता के दर्शन हुए। इस दृष्टि से इन निबन्धों का अपना विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व रहा

है। परन्तु इनका प्रभाव क्षेत्र भारतेन्दु-युगीन निबन्धों की अपेक्षा सीमित हो गया था। इनमें निबन्ध के प्रधान गुण—आत्मीयता, भाव-प्रवणता और रसोद्बोधन की शक्ति का अधिकांशत: अभाव ही रहा, जिनके द्वारा निबन्ध अपना प्रभाव-क्षेत्र जन-सामान्य तक विस्तृत कर लेता है। इस युग के अधिकांश निबन्ध अपनी सुधारवादी आदर्शपरक भावना के रहते हुए भी बौद्धिकता और नैतिकता के प्रति अत्यधिक आग्रह रहने के कारण उच्च शिक्षित वर्ग तक ही सीमित होकर रह गए। वे उस युगीन चेतना को सर्व-व्यापक बनाने में असमर्थ रहे जो भारतेन्दु-युगीन निबन्धों की अपनी निराली विशेषता थी।

३. शुक्ल-युग या उत्कर्ष का काल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार माने जाते हैं। बाबू गुलाबराय के अनुसार—"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध-क्षेत्र में पदार्पण करने से निबन्ध-साहित्य में एक नया जीवन आया। द्विवेदी-युग में विषय-विस्तार और परिमार्जन तो पर्याप्त हुआ किन्तु उस काल में उतना विश्लेषण और गहराई में जाने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो सकी।" शुक्ल जी के रूप में हिन्दी को सर्वप्रथम एक अत्यन्त उच्चकोटि का महान् निबन्धकार मिला। उनके श्रेष्ठ निबन्ध 'चिन्तामणि' (प्रथम भाग) में संग्रहीत हैं। जब बनारस विश्वविद्यालय में हिन्दी को उच्च पाठ्य-क्रम में स्थान मिला तो उसके लिए उच्चकोटि के साहित्यिक निबन्धों की आवश्यकता अनुभव की गई। कहा जाता है कि शुक्ल जी ने उसी आवश्यकता की पूर्ति के हेतु निबन्ध लिखे थे। सत्य चाहे जो कुछ भी रहा हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये निबन्ध नए विचार, नवीन अनुभूति और नई शैली के साथ निबन्ध-क्षेत्र में उतरे थे और उतरते ही इन्होंने अपनी श्रेष्ठता की धाक जमा दी थी। इन निबन्धों में लेखक के हृदय की सरलता और मस्तिष्क की गम्भीरता ऐसी सर्वजनीन कल्याण-भावना के साथ घुले-मिले रूप में व्यक्त हुई कि उसने चिन्तन की धारा और प्रक्रिया को ही बदल दिया। इसमें सन्देह नहीं कि शुक्ल जी के निबन्ध विचार-प्रधान हैं परन्तु उनमें सघन विचार-वीथियों के अन्तराल में जो सरस भाव-स्रोत प्रवाहित होते हुए दिखाई पड़ते हैं वे इन निबन्धों में अद्भुत आकर्षण और प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं। साथ ही गम्भीर हास्य के, इधर-उधर छिटके हुए छींटे भी उनके निबन्धों के वैचारिक गाम्भीर्य के भार को तनिक सा हल्का बना उन्हें 'लोहे' के चने' बनाने से बचा देते हैं। उनमें जहाँ एक ओर चिन्तन की मौलिकता, विश्लेषण की सूक्ष्मता, विवेचन की गम्भीरता और शैली की प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं, वहाँ साथ ही भावा-त्मकता, व्यंग्यात्मकता और वैयक्तिकता की चमत्कारपूर्ण अभिव्यंजना भी मिल जाती है। इसी कारण आलोचकों में यह विवाद उठ खड़ा हुआ था कि शुक्ल जी के इन निबन्धों को विचार-प्रधान अथवा भाव-प्रधान, या वैयक्तिकता-प्रधान अथवा निर्वै-यक्तिकता-प्रधान माना जाय। इन निबन्धों में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक-विश्लेणष और

समाज-शास्त्रीय विवेचन—दोनों का अद्भुत सन्तुलित योग मिलता है। विचारधारा श्रृङ्खलित और तर्कपूर्ण होती है जिसका प्रकटीकरण समास-शैली द्वारा हुआ है।

शुक्लजी ने द्विवेदी-युग की शास्त्रीय गद्य-शैली को एक नया रूप देकर उसे प्रौढ़ समृद्ध और उन्नत बनाया था। विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से इनमें एक वैज्ञानिक की सी सूक्ष्मता और सतर्कता मिलती है। इनके घनीभूत वाक्यों की ध्वनि अद्भुत प्रभाव की सृष्टि कर देती है। इन निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये 'शैली ही व्यक्ति है'—उक्ति के पूर्ण प्रतीक बन गए हैं। इनके निबन्धों के किसी भी अंश को देख हम तुरन्त कह उठते हैं कि—'अरे, ये तो शुक्ल जी बोल रहे हैं।' इनसे पूर्व यह विशेषता केवल अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्धों में मिली थी। इसमें सन्देह नहीं कि शुक्लजी के 'कविता क्या है', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' जैसे निबन्धों की शैली साधारण पाठक के लिए दुरूह और क्लिष्ट है परन्तु शुक्लजी के प्रौढ़ चिन्तन, सूक्ष्म विवेचन और अद्भुत भाषाधिकार के दर्शन इन निबन्धों में ही होते हैं। इनकी शैली इतनी सुगठित और प्रौढ़ है कि वाक्य में से एक भी शब्द को हटा देना या परिवर्तित कर देना सम्भव नहीं होता। ऐसा करते ही उसका गठन छिन्न-भिन्न हो जाता है। और सबसे बड़ी बात यह है कि इनमें सम्पूर्ण जीर्ण रूढ़ियों से मुक्त हो, शुक्ल जी ने अपने लोक-कल्याण की भावना वाले सिद्धान्त के आधार पर ही साहित्य, समाज, राजनीति, काव्यशास्त्र आदि का विवेचन किया है। यह दृष्टि उनके पूर्ववर्ती निबन्धकारों में इस रूप में नहीं मिलती।

शुक्ल-युग के अन्य निबन्धकारों में सियारामशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बाबू गुलाबराय, जयशंकर प्रसाद, निराला, पन्त, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, राहुल सांकृत्यायन, वियोगी हरि, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, रायकृष्णदास आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से कुछ ने शुक्ल-युग के पूर्वार्द्ध में लिखना आरम्भ किया था और कुछ ने उत्तरार्द्ध में। कुछ अभी तक बराबर लिखते चले आ रहे हैं। **बाबू गुलाबराय** ने भी इस काल में अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक आलोचना-सम्बन्धी निबन्ध अत्यन्त सरल और सुबोध शैली में लिखे थे। कथ्य और शैली, व्यक्ति और विषय, विचार और अनुभूति का सहज-सरल प्रकाशन इनके विभिन्न प्रकार के निबन्धों की विशेषता रही है। **सियारामशरण गुप्त** ने गम्भीर चिन्तन और साहित्यिक प्रभावोत्पादक शैली में अनेक विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक और संस्मरणात्मक निबन्ध लिखे जो 'झूठ सच' के शीर्षक से संग्रहीत और प्रकाशित हुए हैं। **माखनलाल चतुर्वेदी** ने भावात्मक शैली में अनेक सुन्दर साहित्यिक सौन्दर्य से ओतप्रोत निबन्ध लिखे हैं जो 'साहित्य देवता' में संग्रहीत हैं। **प्रसाद जी** के गम्भीर अध्ययन और प्रौढ़ चिन्तन से युक्त सुगठित, विचारात्मक शैली में लिखे गए आठ निबन्ध उनके 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' नामक संग्रह में संकलित हैं। ये निबन्ध प्रसाद के तत्त्व-चिन्तक रूप को स्पष्ट करते हैं। इसी प्रकार सामयिक साहित्यिक गतिविधियों और

समस्याओं पर **निराला जी** ने भी अनेक सुन्दर निबन्ध प्रौढ़ और व्यंग्यात्मक शैली में लिखे जो 'प्रबन्ध पद्म', 'प्रबन्ध प्रतिमा', 'चाबुक', 'चयन', 'प्रबन्ध पूर्णिमा' आदि विभिन्न संग्रहों में संग्रहीत हैं। **रायकृष्णदास** और **वियोगी हरि** के भावात्मक शैली में लिखे निबन्ध गद्य-काव्य की सी छटा विकीर्ण करते हैं।

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एक उच्चकोटि के आलोचक और निबन्धकार थे। 'मकरन्द' में संग्रहीत उनके निन्बधों में चिन्तन की गम्भीरता और शैली की प्रौढ़ता लक्षित होती है। यात्रा-सम्बन्धी निबन्धों में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, राहुल सांकृत्यायन, देवेन्द्र सत्यार्थी, श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार का विशिष्ट स्थान है। **राहुलजी** ने साहित्य, राजनीति, इतिहास, दर्शन आदि पर भी अनेक सुललित निबन्ध लिखे हैं। **पं० बनारसीदास चतुर्वेदी** अपने संस्मरणात्मक निबन्धों के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। **पं० श्रीराम शर्मा** के शिकार-सम्बन्धी निबन्ध अपने ढंग के निराले हैं। **डा० सम्पूर्णानन्द** ने भी शिक्षा, संस्कृति, दर्शन आदि सम्बन्धी बहुत से निबन्ध लिखे हैं।

उपर्युक्त निबन्धकारों के अतिरिक्त इस युग में डा० धीरेन्द्र वर्मा, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', रामकृष्ण शिलीमुख, सद्गुरुशरण अवस्थी, भदन्त आनन्द कोसल्यायन, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, रामचन्द्र वर्मा, रामावतार शर्मा, राम नारायण यादवेन्दु, लोचन प्रसाद पांडेय, केदारनाथ भट्ट, श्रीनाथ सिंह, कालिदास कपूर आदि अनेक विद्वानों ने विभिन्न विषयों से सम्बन्धित सुन्दर निबन्ध लिखे, जिन्होंने हिन्दी-निबन्ध-साहित्य को उन्नत और समृद्ध बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

मूल्यांकन

शुक्ल-युग में निबन्ध-लेखन के स्तर का उन्नयन और विषयों का विस्तार हुआ। विवेचन में अधिक मौलिकता और गम्भीरता आई। निजी अनुभूतियों और भावनाओं के निबन्ध रूप में अंकन की एक नई शैली का जन्म हुआ। इस युग के निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि इनमें मौलिक और प्रौढ़ चिन्तन की परम्परा आगे विकसित हुई। शैली में प्रौढ़ता और गठन तथा भाषा में एक नई अभिव्यंजना पद्धति और शक्ति का उदय हुआ। इन निबन्धों ने हिन्दी-गद्य के परिमार्जन और विकास का मार्ग प्रशस्त बनाया। परवर्ती निबन्धकार इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए हिन्दी-साहित्य की वैचारिक निधि और अभिव्यंजना शक्ति के नए-नए आयामों का विकास करते रहे।

४. आधुनिक युग या शुक्लोत्तर युग

इस युग में कुछ निबन्धकारों ने शुक्लजी की परम्परा को आगे विकसित किया और अनेक भिन्न-भिन्न शैलियों और चिन्तन-धाराओं से अनुप्रेरित नए-नए निबन्ध लिखते रहे। शुक्लजी की परम्परा के निबन्धकारों में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामविलास शर्मा, डा० नगेन्द्र, शिवदान

सिंह चौहान आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः इस युग में शुद्ध निबन्धकार के रूप में **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** का स्थान सर्वोपरि माना जा सकता है। द्विवेदी जी आलोचक, उपन्यासकार और निबन्ध-लेखक—तीनों ही हैं; परन्तु उनके निबन्ध ही उनके असली व्यक्तित्व को उद्घाटित करने में समर्थ हैं। इनमें उनके भावुक कलाकार, जागरूक चिन्तक और भाषा-शैली के धनी— लेखक के ये तीनों रूप एक साथ समन्वित रूप में प्रस्फुटित हुए हैं। उनके निबन्धों में एक विशिष्ट सांस्कृतिकता शास्त्रीयता और विनोद प्रियता के साथ प्रकट हुई है। 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'विचार और वितर्क', 'विचार प्रवाह', 'कुटज' आदि उनके निबन्ध-संग्रहों में ऐसे अगणित निबन्ध संग्रहीत हैं जिन्हें निबन्ध का निखरा हुआ और विशुद्ध रूप माना जा सकता है। उनके इन निबन्धों में चिन्तन की गम्भीरता और मौलिकता के साथ-साध व्यक्तित्व की कलात्मक सरसता और सहजता एकाकार हो उठी है। इसी कारण उनके गूढ़ से गूढ़ विषयों से सम्बन्धित निबन्ध भी जटिल और दुरूह न बन, पाठकों को अनुरंजनपूर्ण रसानुभूति का आस्वादन कराते हैं। उनके अधिकांश निबन्धों को 'ललित निबन्ध' की संज्ञा निसंकोच प्रदान की जा सकती है। वह प्रसंगानुकूल सुललित, संस्कृत-गर्भित, मिश्रित और लोक-भाषा के विभिन्न सरस रूपों का उपयोग करने में दक्ष हैं। विषय-प्रतिपादन के समय बीच-बीच में चुटकुलों, मुहावरों, कहावतों आदि का प्रयोग करते हुए हास्य-व्यंग्यमयी शैली में सरस और मृदुल व्यंग्य भी कसते चलते हैं। इन गुणों ने उनके निबन्धों को अद्भुत रूप से सरस और मार्मिक बना दिया है।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने आलोचनात्मक निबन्ध ही अधिक लिखे हैं, जिनमें गम्भीर और व्यापक अध्ययन, मौलिक चिन्तन और सिद्धान्त प्रतिपादन की प्रवृत्ति ही अधिक झलकती है परन्तु निबन्ध की वह उल्लासमय ललित आत्मा नहीं मिलती जो नीरस तथ्य या चिन्तनपरक आलोचना को भी सरसता प्रदान कर देती है। इसी कारण उनके निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की छाप का अभाव रहा है। विचार और शैली की दृष्टि से उन्हें शुक्ल जी की परम्परा का आलोचक तो माना जा सकता है परन्तु एक उच्चकोटि का सफल निबन्धकार नहीं।

डा० रामविलास शर्मा की प्रसिद्धि का आधार—उनकी आलोचना ही रही है परन्तु यह बात बहुत कम लोग जानते हैं कि उन्होंने व्यक्तिनिष्ठ शैली में निर्वैयक्तिकता का निर्वाह करते हुए अनेक सुन्दर ललित निबन्ध भी लिखे हैं जो 'विराम चिन्ह' नामक निबन्ध-संग्रह में संग्रहीत हैं। सरल, भावानुकूल शैली में चुभता हुआ मर्मस्पर्शी व्यंग्य कस जाना, उनकी विशेषता रही है। भारतेन्दु-युग का सा ही करारा व्यंग्य भारतेन्दु-युग के उपरान्त इन्हीं के निबन्धों में दिखाई पड़ता है। सम्बद्ध विषय का गम्भीर, यथार्थपरक विवेचन करते हुए बीच-बीच में व्यंग्यवाण छोड़ एक ही वार में बहुतों को आहत कर आगे बढ़ जाते हैं। शुक्ल जी के समान इनके निबन्धों में भी इनके प्रखर व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट रूप से उभर आती है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी इस युग के अत्मानुभूतिपरक वैयक्तिक निबन्ध लिखने वालों में अग्रगण्य हैं। उनकी प्रवृति आलोचक से अधिक निबन्धकार की रही है। जो स्वच्छन्दता और संवेदनशीलता निवन्धकार के लिए अपेक्षित है वह इनमें पूर्ण मात्रा में मिलती है। 'साहित्यिकी', 'संचारिणी', 'सामयिकी', 'युग और साहित्य', 'धरातल' आदि इनके प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं। इनकी शैली सरल, भावात्मक और प्रभविष्णु है। **जैनेन्द्र** ने भी दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक आदि विभिन्न विषयों पर कुछ फुटकर निबन्ध लिखे हैं। उनकी विषय-प्रतिपादन की चक्कर-दार शैली दार्शनिकता से इतनी बोझिल हो उठती है कि पाठक चक्कर में पड़ जाता है। अस्पष्टता को इनके निबन्धों का प्रधान गुण माना जा सकता है। **डा० नगेन्द्र** ने अधिकांशतः साहित्यिक-आलोचनात्मक निबन्ध ही अधिक लिखे हैं। इनमें व्यक्तित्व की अपेक्षा विवेच्य विषय की ही प्रधानता रहती है। परन्तु उनकी स्पष्ट विवेचन-प्रधान शैली सम्बद्ध विषय के गूढ़ पक्षों को भी स्पष्ट और सुबोध बना देने में पूर्ण सक्षम रहती है। उनकी निबन्ध-लेखन शैली में विषय के उतार-चढ़ाव के साथ व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक, अलकृत आदि विभिन्न रूप एक साथ मिलते चले जाते हैं, जो रोचकता की अभिवृद्धि करते हैं।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भारतीय संस्कृति और पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनेक सुन्दर निबन्ध लिखे थे जिनमें गम्भीर और विस्तृत अध्ययन के साथ मौलिक चिन्तन की गरिमा उन्हें प्रभावशाली बना देती है। सरलता और स्पष्टता—उनकी शैली के प्रधान गुण हैं। 'कला और संस्कृति', 'पृथ्वीपुत्र', 'मातृभूमि' आदि उनके प्रसिद्ध निबंध-संग्रह हैं। **डा० सत्येन्द्र** ने अधिकांशतः साहित्यिक आलोचना-सम्बन्धी निबन्ध ही लिखे हैं जिनके माध्यम से उनके विस्तृत अध्ययन और चिन्तन का रूप सामने आता है। उनकी शैली में रोचकता होते हुए भी विवेचन में अस्पष्टता आ जाती है। 'साहित्य की झाँकी', 'कला, कल्पना और साहित्य' उनके प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं। **रामवृक्ष बेनीपुरी** ने आत्मपरक निवन्ध अधिक लिखे हैं जो 'वन्दे वाणी-विनायकौ' संग्रह में संग्रहीत हैं। इनमें उन्होंने अपनी जीवन की झाँकियाँ देते हुए व्यक्तिनिष्ठ शैली में स्थायी और सामयिक समस्याओं तथा विविध विषयों का विवेचन किया है। शैली में भावुकता का प्राधान्य रहा है। भाषा अत्यन्त सरल और ग्राम्य-प्रयोगों से आकर्षक हो उठी है। **कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'** ने भावना के स्तर पर आत्मपरक शैली में अनेक ऐसे सुललित निबन्ध लिखे हैं जिनमें बीच-बीच में मीठी चुटकियाँ लेते हुए विषय का गम्भीर और विचारोत्तेजक निरूपण किया है। 'बाजे पायलिया के घुँघरू', 'जिन्दगी मुस्कराई', 'दीप जले, शंख बजे', 'क्षण बोले, कण मुस्काए' इनके प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं जिनमें निबन्ध की परिभाषा पर खरे उतरने वाले सुललित निबन्ध संग्रहीत हैं। वस्तुतः प्रभाकर जी को इस युग का श्रेष्ठ निबन्धकार माना जा सकता है। इनकी शैली में इनका व्यक्तित्व उभर आता है।

डा० भगवत शरण उपाध्याय ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषयों पर अनेक निबन्ध लिखे हैं जिनमें नवीन मौलिक चिन्तन, विषय की गरिमा, विवेचन की अपूर्व क्षमता, और गम्भीर अध्ययन की छटा मिलती है। 'इतिहास के पृष्ठों पर', 'सांस्कृतिक निबन्ध', 'खून के धब्बे' आदि में ऐसे ही निबन्ध संग्रहीत हैं।

उपर्युक्त निबन्धकारों के अतिरिक्त इस युग में अनेक कथाकारों, नाटककारों, आलोचकों आदि ने भी अगणित निबन्ध लिखे हैं जिनमें निबन्ध के वे गुण या तो मिलते ही नहीं, या इतनी अल्पमात्रा में मिलते हैं कि उन्हें 'निबन्ध' न मान 'लेख' ही मानना चाहिए। इनमें यशपाल, प्रभाकर माचवे, नामवरसिंह, विद्या निवास मिश्र, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', डा० विजयेन्द्र स्नातक, अगरचन्द नाहटा, मन्मथनाथ गुप्त, गंगाप्रसाद पांडेय आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनमें से लगभग सभी ने आलोचनात्मक निबन्ध ही अधिक लिखे हैं जिनमें उनका व्यक्तित्व उभर नहीं पाया है। और व्यक्तित्व की छाप के अभाव में किसी भी लेख को निबन्ध नहीं माना जा सकता। इसलिए इन लोगों को आलोचक ही माना जायेगा, न कि निबन्धकार।

कहा जाता है कि हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य बहुत दरिद्र है। परन्तु यह मत उन्हीं लोगों का माना जा सकता है जिन्हें या तो सम्पूर्ण साहित्य का ज्ञान नहीं है, अथवा जो सामयिक साहित्य से अपरिचित हैं। यह सत्य है कि आधुनिक-युग के मध्यकाल में, हिन्दी-साहित्य में हास्य-व्यंग्य का अभाव रहा था परन्तु पिछले कुछ वर्षों से नियमित रूप से ऐसे निबन्ध लिखे जाने लगे हैं जिनमें हास्य और व्यंग्य का मँजा हुआ रूप निखरता चला आ रहा है। पुराने लेखकों में **पं० गोपाल प्रसाद व्यास, बेढब बनारसी, प्रभाकर माचवे,** डा० इन्द्रनाथ मदान आदि प्रायः ऐसे निबन्ध लिखते रहते हैं जिनमें हास्य मिश्रित चुटीले व्यंग्यों की छटा विकीर्ण होती मिलती है। व्यासजी के ऐसे निबन्ध 'कुछ सच, कुछ झूठ', 'मैंने कहा' आदि संग्रहों में संग्रहीत हैं। इधर हिन्दी में ऐसे निबन्धकारों की एक नई पीढ़ी सामने आई है जो पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से ऐसे निबन्ध लिखती रहती है। इस नई पीढ़ी में हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रामनारायण लाल, रवीन्द्र त्यागी, नाडोडी आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबन्धों में अत्यन्त आकर्षक और मनोरम शैली में विभिन्न सामयिक समस्याओं, प्रवृत्तियों, रूढ़ियों आदि पर बड़े मार्मिक और चुटीले व्यंग्य रहते हैं। इन निबन्धों की अपनी एक विशिष्ट शैली होती है जो कभी मुक्तहास्य को जन्म देती है और कभी अधरों में मन्द मुस्कान की लजीली रेखा अंकित कर तिरोहित हो जाती है। यह नई शैली भारतेन्दु-युगीन शैली से भिन्न और अधिक सशक्त है। इसने हिन्दी में एक नई शक्ति और क्षमता उत्पन्न कर दी है।

इनके अतिरिक्त हिन्दी के अनेक लेखक विभिन्न साहित्यिक एवं भाषा-सम्बन्धी विषयों और समस्याओं पर प्रायः निबन्ध लिखते रहते हैं। अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, दिनकर, बच्चन आदि हिन्दी के जाने-माने लेखकों के ऐसे निबन्ध अक्सर पढ़ने को मिल जाते हैं। जोशी जी ने फ्रॉयडवाद की शव-परीक्षा करते हुए 'धर्मयुग' में कई

सुन्दर निबन्ध लिखे थे। दिनकर जी पिछले कुछ दिनों से भाषा-समस्या को लेकर विद्वत्तापूर्ण सुगठित निबन्ध लिखते चले आ रहे हैं। इनके अतिरिक्त धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव आदि कथाकारों ने आधुनिक साहित्य में पनपने वाली अश्लीलता, संत्रास, कुण्ठा आदि की प्रवृत्तियों सम्बन्धी अनेक विचारोत्तेजक निबन्ध नई शैली में लिखे हैं। ये निबन्ध विचारों की उत्तेजना प्रदान कर हमें इन समस्याओं पर गहराई से मनन करने को बाध्य कर देते हैं। इसके अतिरिक्त कुबेर नाथ राय आदि आधुनिक साहित्य की गम्भीर, शास्त्रीय और वैचारिक समस्याओं पर विवादास्पद परन्तु सुन्दर, सुगठित निबन्ध लिखते रहते हैं। उपर्युक्त कोटि के निबन्ध पाठकों में वैचारिक उत्तेजना उत्पन्न कर, नए युग की नई समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए मौलिक और स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं।

इधर कुछ पत्र-पत्रिकाओं में एक नये प्रकार के निबन्धों के दर्शन होने लगे हैं जिनमें रिपोतार्ज, साक्षात्कार (इंटरव्यू) और व्यक्तिगत शैली के ललित निबन्धों का मिला-जुला रूप उभर आया है। विभिन्न लेखक किसी विशिष्ट नगर के साधारण-जनों, साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों आदि से एक विशिष्ट समस्या को लेकर मिलते हैं और उनकी रूपरेखाओं, रहन-सहन, वैचारिक क्षमता का रोचक शैली में वर्णन करते हुए उनके उत्तरों और प्रतिक्रियाओं को अंकित करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लेखक किसी विशिष्ट नगर को नायक बना रात या दिन में उसके सम्पूर्ण रूप और गति-विधियों का समवेत वर्णन एक नई शैली और प्रचलित लोकभाषा में उतार देते हैं। ऐसे लेखकों में केशवचन्द्र वर्मा, मनोहर श्याम जोशी, कैलाश नारद आदि उल्लेखनीय हैं। यह निबन्ध का एक सर्वथा नया रूप है। इसमें भाषा की बानगी देखते ही बनती है। इसे हिन्दी-निबन्ध साहित्य की नवीन समृद्धि का रूप माना जा सकता है। रमेश दत्त शर्मा के वैज्ञानिक विषयों पर लिखे निबन्ध साहित्यिक-सौन्दर्य से ओतप्रोत रहते हैं। ऐसे विशिष्ट निबन्ध हिन्दी में विरल ही हैं।

वैसे आजकल हिन्दी में ऐसे लेख अधिक मिलते हैं जो विशुद्ध रूपेण साहित्यिक आलोचनात्मक ही होते हैं। परन्तु ऐसे लेखों की गणना निबन्ध-साहित्य के अन्तर्गत न कर आलोचना-साहित्य के अन्तर्गत ही की जानी चाहिए। निबन्ध की विशिष्टता लेखक की व्यक्तिनिष्ठता के साथ ही उभरती है। यदि किसी लेख में लेखक का व्यक्तित्व तिरोहित होता रहता है तो उसे निबन्ध नहीं माना जा सकता। इसी कारण हमने साहित्यिक आलोचना सम्बन्धी ऐसे निबन्धों को निबन्ध-साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया है।

समष्टि रूप से, इस युग में, हिन्दी-निबन्ध ने अपने साहित्य-रूपों को अपने भीतर आत्मसात कर विकास किया है। जीवन की यथार्थता, कहानी की सम्वेदना, नाटक की नाटकीयता, उपन्यास की मनोरम कल्पना, गद्य-काव्य के प्रति भावुकता, विचारों की उत्कृष्टता आदि सभी कुछ इस युग के निबन्धों में मिल जाती है। इनमें भाषा और शैली-परिष्कार तथा शब्द-भंडार की वृद्धि के प्रयत्न भी मिल जाते हैं।

तत्सम्, तद्भव, देशी, विदेशी आदि सभी प्रकार के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है । इस काल के निबंधों में साहित्यिकता, गाम्भीर्य, प्रौढ़ता, शास्त्रीयता, तर्क-संकुलता आदि का प्राधान्य रहा है । अब वे अपनी निर्वैयक्तिकता को त्याग पुनः व्यक्ति-प्रधान होते जा रहे हैं । आधुनिक-युग के मध्यकाल में, विशेष रूप से पिछले दो दशकों तक हिन्दी-निबंध का अपेक्षित क्रमिक विकास नहीं हो पा रहा था । इस युग में बहुलता आलोचनात्मक लेखों की ही रही थी । परन्तु इधर सन् १९६० के आस-पास से हिन्दी-निबंध ने नए-नए रूप धारण कर पर्याप्त प्रगति की है । आज निबंध आलोचना के एकान्त क्षेत्र से मुक्त हो सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि साहित्येतर क्षेत्रों में प्रविष्ट हुआ है । आज युग की प्रत्येक ज्वलन्त या सामान्य समस्या भी निबंधकारों का ध्यान आकर्षित करने लगी है । आज निबंध का जो रूप विकसित हो रहा है, उसके विकास में यदि कोई अयाचित व्यवधान न पड़ा तो साहित्य की यह विधा निकट भविष्य में अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त करने में सफल होगी ।

हिन्दी-नाटक

विकास-क्रम की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-नाटक साहित्य की वह विधा है जो निबन्ध के साथ ही नया रूप धारण कर भारतेन्दु-युग में विकसित हुई थी। संस्कृत-साहित्य में नाटक प्रचुर परिमाण में लिखे जाते रहे थे। संस्कृत-नाटकों की एक अत्यन्त समृद्ध परम्परा रही है। परन्तु हिन्दी में नाटक, आधुनिक अर्थों में जिन्हें नाटक माना जा सकता है, उनका विकास उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही होता हुआ दिखाई पड़ता है। इससे पूर्व हिन्दी-साहित्य में नाटक का विकास न होने के विभिन्न कारण रहे हैं। सत्रहवीं और अठारहवीं शती में कुछ नाटक अवश्य लिखे गए थे, जैसे—प्राणचन्द चौहान का 'रामायण महानाटक', (सं० १६६७), बनारसीदास का 'समय सार' (सं० १६९३), गुरु गोविन्दसिंह का 'चण्डी चरित्र', राजा यशवन्तसिंह का 'प्रबोध चन्द्रोदय' (सं० १७००), नेवाज का 'शकुन्तला' (सं० १७२७), रघुराय नागर का 'सभासार' (सं० १७५७), लच्छिराम का 'करुणाभरण' (सं० १७७२) आदि। परन्तु ये सभी नाटक पद्य में ही लिखे गए थे। ये नाटक कतिपय संस्कृत-नाटकों के पद्यबद्ध अनुवाद मात्र थे। इनमें अभिनेयता का अभाव था। इसी प्रकार के अनेक नाटक उन्नीसवीं सदी में भी रचे गए थे, जैसे—माधव-विनोद नाटक, जानकी राम-चरित नाटक, रामलीला विहार नाटक, प्रद्युम्न विजय नाटक, रामायण नाटक, आनन्द रघुनन्दन आदि। परन्तु ये सम्पूर्ण नाटक छन्दोबद्ध ही लिखे गए थे, इसलिए इन्हें 'नाटक' के आधुनिक अर्थ में नाटक नहीं माना जा सकता। भरत मुनि ने नाटक को 'पंचम वेद' कहा था और इसका प्रधान लक्ष्य संवाद, नृत्य, अभिनय आदि द्वारा सामाजिकों का मनोरंजन करना माना था। नाटक में प्रधान रूप से सामाजिक जीवन का चित्रण होता है। हिन्दी का भक्तिकाल सामाजिकता-प्रधान रहते हुए भी मूलतः आध्यात्मिक ही रहा था। इसी कारण इस युग में नाटक-रचना के लिए अपेक्षित प्रेरणा और प्रोत्साहन न मिल सका। शृङ्गार-काल में भी मुक्तक-रचना और शृङ्गारी प्रवृत्ति की प्रधानता के कारण सामाजिक-जीवन उपेक्षित रहा। परन्तु आधुनिक युग के आरम्भ में अंग्रेजी-राज्य के शोषण

और अत्यचारों से जन-चेनता का उदय हुआ तो नाटक इस जन-चेतना के वाहक बनकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे।

हिन्दी में नाटकों का विकास

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, अंग्रेजी-राज्य के कारण भारत में एक नवीन जन-चेतना का उदय हुआ था। यह नई जन-चेतना नाटक और निबन्ध के माध्यम से अभिव्यक्त होनी आरम्भ हुई। उस युग में अन्य साहित्यिक विधाओं के अभाव में यही दो विधाएँ इस जन-चेतना को अभिव्यक्त करने का प्रधान अस्त्र बन सकती थीं, इसीलिए बनीं। यहाँ इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि इससे पूर्व भी हिन्दी में नाटक लिखने के प्रयत्न होने आरम्भ हो गए थे। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में दो रंगमंचीय नाटक लिखे गए थे—अमानत का 'इन्दर सभा' और पं० शीतलप्रसाद त्रिपाठी का 'जानकी मंगल'। 'इन्दर सभा' गीतिनाट्य परम्परा का पहला नाटक माना जाता था जो सन् १८०० के लगभग लिखा गया था। उस युग में यह अपने गीतों के कारण बहुत लोकप्रिय रहा था। वैसे हिन्दी-नाटकों का उदय भारतेन्दु-युग से ही माना जाता है परन्तु उससे पूर्व भी हिन्दी में दो और उल्लेखनीय नाटक लिखे गए थे—महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' और भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र का 'नहुष'। उसी युग में राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'आभिज्ञान शाकुन्तलम्' का 'शकुन्तला' के नाम से सुन्दर अनुवाद किया था जिसमें गद्य खड़ीवोली का और पद्य ब्रजभाषा का रहा। एक प्रकार से खड़ीबोली-गद्य में लिखा गया यह हिन्दी का सर्वप्रथम अनूदित नाटक था। यह अपने युग में खूब प्रसिद्ध हुआ था। इसके उपरान्त काल-क्रमानुसार भारतेन्दु और पारसी-थियेटरों का युग आता है। और वस्तुतः यहीं से हिन्दी-नाटक का वास्तविक इतिहास आरम्भ होता है। इस सम्पूर्ण इतिहास को हम विवेचन की सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित काल-खण्डों में विभाजित कर सकते हैं—

१—भारतेन्दु और पारसी थियेटरों का युग	....	सन् १८५७—१९१०
२—प्रसाद-युग	....	,, १९१०—१९३३
३—एकांकी और नवीन नाटकों का	....	,, १९३३ आज तक

१. भारतेन्दु और पारसी थियेटरों का युग

नाटक-क्षेत्र में 'भारतेन्दु-युग' से तात्पर्य यह है कि इस युग में लगभग ५० वर्ष तक एक ही प्रकार के नाटकों की परम्परा विकसित होती रही थी जिसका आरम्भ भारतेन्दु के साहित्य-क्षेत्र में उतरने से पूर्व आरम्भ हुआ था और उनके निधन के बहुत वर्ष बाद तक यथावत् चलती रही थी। इस परम्परा के जन्म के लगभग एक दशक उपरान्त भारतेन्दु ने विभिन्न प्रकार के नाटक लिखकर इसे विकसित और समृद्ध बनाया था और उनका यह प्रभाव बहुत वर्ष तक इसी पद्धति के नाटकों का

प्रेरणा-स्रोत बना रहा था। यह युग प्राचीन और नवीन के संघर्ष का युग था। एक ओर तो प्राचीन संस्कृत-नाटकों की परम्परा अपना प्रभाव डाल रही थी और दूसरी ओर बँगला के माध्यम से तथा कुछ सीमा तक प्रत्यक्ष रूप में भी अंग्रेजी-नाटकों का प्रभाव हिन्दी-नाटकों पर पड़ रहा था। इसलिए इस युग में विषय और रूप-विधान—दोनों ही दृष्टियों से दो प्रकार के नाटक लिखे गए। एक प्रकार के नाटक प्राचीन प्रेम, भक्ति आदि को अपना विषय बना संस्कृत नाटकों के शिल्प-विधान के आधार पर लिखे गये और दूसरे प्रकार के नाटक सामयिक नई युग-चेतना का अङ्कन करते हुए प्राचीन और नवीन नाट्य-शिल्पों का मिश्रित रूप अपनाते हुए लिखे गए। स्वयं भारतेन्दु के 'चन्द्रावली नाटिका' और 'प्रेम जोगिनी' प्राचीन पद्धति के नाटक थे और 'भारत दुर्दशा', 'अंधेर नगरी' आदि नवीन मिश्रित शैली के।

भारतेन्दु—भारतेन्दु ने दो प्रकार के नाटक लिखे थे। उनके मौलिक नाटकों में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'चन्द्रावली', 'विषस्य विषमौषधम्', 'भारत दुर्दशा', 'नील देवी', 'अंधेर नगरी', 'प्रेम जोगिनी' आदि माने जाते हैं, और अनूदित नाटकों में 'विद्या सुन्दर', 'पाखंड विडम्बनम्', 'धनंजय विजय', 'कर्पूर मंजरी', 'मुद्राराक्षस', 'भारत जननी', 'सती प्रताप' आदि की गणना की जाती है। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' को कुछ लोग मौलिक मानते हैं, और कुछ एक बँगला नाटक का छायानुवाद। इन नाटकों में उन्होंने जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों से सामग्री ली है। विषय पौराणिक, सामाजिक एवं राजनीतिक रहे हैं। कुछ नाटकों, जैसे—'चन्द्रावली' आदि में उन्होंने अपनी माधुर्य भाव की भक्ति-भावना का अङ्कन किया है, कुछ नाटकों, जैसे—नील देवी, सत्य हरिश्चन्द्र, सती प्रताप आदि में ऐतिहासिक और पौराणिक वृत्तों द्वारा भारत के प्राचीन गौरव और नैतिकता का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। 'विषस्य विषमौषधम्' जैसे नाटकों में अंग्रेजों के राज्य में भारत के तत्कालीन राजाओं-नबाबों की दीन दशा, विलासिता, अंग्रेजों की स्वेच्छाचारिता, अन्याय, देशवासियों की मोहान्धता आदि का व्यंग्यपूर्ण चित्रण कर देशभक्ति के स्वर को उभारा गया है। वस्तुतः 'भारत दुर्दशा' जैसे नाटक ही भारतेन्दु की मूल प्रवृत्ति और भावना का प्रतिनिधित्त्व करते हैं। ऐसे नाटकों में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का सम्यक् चित्र मिल जाता है और साथ ही भारतेन्दु की अटूट देशभक्ति का परिचय भी।

भारतेन्दु ने उस युग में हिन्दी-नाटकों का उन्नयन और प्रचार करने का जैसा अथक परिश्रम किया था वैसा सम्भवतः किसी भी अन्य युग में किसी भी अन्य नाटककार ने नहीं किया होगा। उन्होंने पहला काम यह किया था कि संस्कृत, बँगला, अंग्रेजी आदि के सुन्दर नाटकों के स्वयं अनुवाद किए थे और दूसरों से कराए थे। दूसरे, उन्होंने नाट्य-रचना के भारतीय और योरोपीय सिद्धान्तों का सम्यक् अध्ययन कर हिन्दी-नाटकों के लिए नए सिद्धान्तों की रचना की थी जो उनके 'नाटक' शीर्षक निबन्ध से स्पष्ट होती है। तीसरे, उन्होंने अपने कतिपय नाटकों द्वारा तत्कालीन देश-दशा का ऐसा अंकन किया जो देश में राष्ट्रीय-भावना के प्रचार के सशक्त माध्यम

बने। चौथे, उन्होंने हिन्दी के रंगमंच को जन्म दिया, स्वयं रंगमंच पर अभिनय किया और अपने साथियों को ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित किया। एक प्रकार से भारतेन्दु उस युग की नाटक और रंगमंच सम्बन्धी सम्पूर्ण गतिविधियों के प्रधान केन्द्र बने हुए थे, इसी कारण हमने इस युग को 'भारतेन्दु युग' माना है। यह भारतेन्दु का युग-प्रवर्त्तक का रूप था। उन्होंने हिन्दी-नाटकों को वह नयी शैली प्रदान की थी जिसमें संस्कृत-नाट्य शैली के अत्यन्त रूढ़ और अनुपयोगी अंशों का बहिष्कार कर पाश्चात्य नाट्य-शैली के उपयोगी अंशों का मिश्रण किया गया था। परवर्ती हिन्दी-नाटक इसी नई शैली को अपना कर विकास के पथ पर आगे बढ़ा था। साथ ही भारतेन्दु अपने युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार भी थे।

अन्य नाटककार

भारतेन्दु के लगभग सभी सहयोगियों ने प्रचुर संख्या में नाटक लिखे थे। इनमें बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, श्रीनिवास दास, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। **बालकृष्ण भट्ट** ने 'दमयन्ती स्वयम्वर', 'वृहन्नला', 'वेणु संहार', 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'बाल विवाह', 'जैसा काम वैसा परिणाम' आदि मौलिक नाटकों के साथ अनेक नाटकों के अनुवाद भी किए थे। इनमें पौराणिक कथाओं और अपने युग की नई समस्याओं का अंकन किया गया था। परन्तु इनके कथानक शिथिल थे। पात्रों पर नाटककार का व्यक्तित्व हावी रहा, जिससे उनका अपेक्षित स्वतंत्र विकास न हो सका। इन नाटकों में से कई प्रहसन हैं जिनमें युगीन स्थितियों और समस्याओं पर हास्य-व्यंग्य के माध्यम से प्रकाश डाला गया है। **प्रताप नारायण मिश्र** इस युग के अत्यन्त प्रतिभाशाली नाटककार थे। उन्होंने 'गौ संकट', 'कलि प्रभाव', 'भारत दुर्दशा', 'जुआरी खुवारी', 'हमीर हठ' आदि नाटक लिखकर राष्ट्रीय जागरण और समाज-सुधार के स्वरों को उद्‌गीरित किया। इनका व्यंग्य अत्यन्त मार्मिक और तीखा है। परन्तु नाट्य-कला की दृष्टि से इनके नाटकों को उच्चकोटि का नहीं माना जा सकता। **राधाकृष्णदास** ने 'महारानी पद्मावती', 'महाराणा प्रताप', 'दुखिनी बाला', आदि में प्राचीन भारतीय महापुरुषों का गौरव-गान करते हुए 'दुखिनी बाला' में अनमेल-विवाह के कुपरिणामों पर प्रकाश डाला। ये नाटक सुन्दर और कलापूर्ण हैं। **श्रीनिवास दास** ने 'रणधीर प्रेममोहिनी', 'संयोगिता स्वयम्वर', 'तप्तासम्वरण' और 'प्रहलाद चरित्र' नाटक लिखकर प्राचीन पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं और महापुरुषों को गौरवान्वित किया। इनके नाटक उच्चकोटि के हैं।

इनके अतिरिक्त **प्रेमघन** जी ने 'भारत सौभाग्य', 'प्रयाग रामागमन', 'वारांगना-रहस्य' (अपूर्ण), 'वृद्ध विलाप'; **राधाचरण गोस्वामी** ने 'सती चन्द्रावली', 'अमर-

राठौर', 'भंग तरंग'; **बाबू केशवदास** ने 'सज्जाद सम्बल', 'शमसाद सौसन'; **गजाधर भट्ट** ने 'मृच्छकटिक'; **अम्बिकादत्त व्यास** ने 'भारत सौभाग्य', 'गो संकट', 'लतिका'; **गोपालराम गहमरी** ने 'जैसे का तैसा'; **किशोरी लाल गोस्वामी** ने 'चौपट चपेट'; **देवकीनन्दन त्रिपाठी** ने 'सीता हरण', 'रुक्मिणी हरण', 'कंस वध'; **शालिग्राम ने** 'अभिमन्यु वध', 'पुरु विक्रम', 'मोरध्वज', 'लावण्यवती सुदर्शन', 'माधवानल कामकन्दला' आदि विभिन्न प्रकार के पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रेमगाथात्मक नाटक तथा प्रहसन लिखे। इनके अतिरिक्त इस युग में अन्य भाषाओं के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद करने की प्रवृत्ति का भी खूब विकास हुआ। बँगला, संस्कृत, अंग्रेजी आदि के सुन्दर नाटकों के अनुवाद किए गए। इन अनुवादकों में लाला सीताराम, तोताराम, देवदत्त तिवारी, नन्दलाल, रत्नचन्द्र, मथुरा प्रसाद उपाध्याय, ज्वाला प्रसाद मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन अनुवादों से हिन्दी पाठकों को अन्य भाषाओं के सुन्दर नाटक पढ़ने को मिले और नए लेखकों को मौलिक नाटक लिखने की प्रवृत्ति और प्रोत्साहन।

पारसी थियेटरों के नाटक—सन् १८७० के लगभग पेस्टन जी फ्रामजी नामक एक पारसी सज्जन ने 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' नामक एक नाटक-कम्पनी की स्थापना की और अपने यहाँ नाटक लिखने वाले नियुक्त कर नाटक खेलने आरम्भ कर दिए। कालान्तर में ऐसी ही अन्य अनेक नाटक-कम्पनियों की स्थापना हुई। इन नाटक कम्पनियों ने कोई प्रसिद्ध नाटककार तो उत्पन्न नहीं किए परन्तु हिन्दी को एक अत्यन्त उपयोगी वस्तु प्रदान की और वह थी—एक नए ढंग का रंगमंच। इस रंगमंच का निर्माण कुछ-कुछ अंग्रेजी-रंगमंच के अनुकरण पर किया गया था। ये नाटक-कम्पनियाँ व्यवसायी थीं। इन्हीं की देखादेखी हिन्दी-क्षेत्र में अव्यवसायी नाटक-मंडलियों की स्थापना की गई जिनमें पढ़े-लिखे लोग सुन्दर नाटकों का प्रदर्शन किया करते थे। हिन्दी रंगमंच के सुरुचिपूर्ण विकास में इन अव्यवसायी नाटक मंडलियों का बहुत बड़ा हाथ रहा था। भारतेन्दु ने इस प्रकार की मंडलियों को खूब प्रोत्साहन दिया था और स्वयं भी ऐसी कई मंडलियों की स्थापना की थी।

पारसी नाटक कम्पनियों ने हिन्दी को कई अच्छे नाटककार दिए जिनमें रौनक 'बनारसी', विनायक प्रसाद तालिब 'बनारसी', अहसान 'लखनवी', नारायण प्रसाद 'बेताव', राधेश्याम कथावाचक, आगा हश्र काश्मीरी आदि विशेष प्रसिद्ध हुए। रौनक का लिखा हुआ 'इन्साफे महमूद' और राधेश्याम कथावाचक का 'वीर अभिमन्यु' नामक नाटक उन दिनों बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय थे। नाटक-कम्पनियों के लिए लिखे जाने वाले इन नाटकों की भाषा प्रायः उर्दू से बोझिल और सम्वाद पद्यात्मक रहते थे। ये कम्पनियाँ प्रायः सस्ते, वासनात्मक, कुरुचिपूर्ण मनोरंजन को ही अपना व्यावसायिक लक्ष्य मान ऐसे नाटक लिखाया और खेला करती थीं, जिनमें इन्हीं प्रवृत्तियों का प्रदर्शन प्रधान रहता था। परन्तु धीरे-धीरे देश की बदलती हुई परिस्थितियों

के साथ कुछ नाटकों में देशभक्ति का स्वर मुखरित होने लगा था। 'वतन' नामक नाटक ऐसा ही था जिसकी एक पंक्ति अत्यन्त लोकप्रिय हो गई थी—'मकाँ से बाहर मकान वाले खड़े हुए हैं।'

इस युग में कुछ ऐसे नाटक भी लिखे गए जिनमें दृश्यकाव्य की अपेक्षा श्रव्य-काव्य या पाठ्य-काव्य के गुण ही अधिक रहे। ऐसे नाटकों में मिश्रबन्धु का 'नेत्रोत-चीन'; बदरीनाथ भट्ट के 'चन्द्रगुप्त', 'वेन चरित्र', 'दुर्गावती'; राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला भानुकुमार'; मैथिली शरण गुप्त का 'चन्द्रहास'; जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'मधुर मिलन' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें विषय-वस्तु और शैली अधिकतर भारतेन्दु-युगीन ही रही। इनके अतिरिक्त महावीर प्रसाद द्विवेदी के सुधारवादी आन्दोलन से प्रभावित हो कुछ लेखकों ने एक ओर तो प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक महापुरुषों का गौरव अंकित करने वाले अनेक नाटक लिखे और कुछ ने 'बाल विवाह, मुकदमे बाजी, पाश्चात्य सभ्यता' आदि से सम्बन्धित नाटक लिखे। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने 'तुलसीदास'; वियोगी हरि ने 'प्रबुद्ध यामने'; मिश्रबन्धु ने 'शिवाजी' आदि नाटक लिखे और प्रेमचन्द ने 'कर्बला' नामक नाटक लिखकर मुस्लिम-संस्कृति पर सहानुभूति पूर्वक प्रकाश डाला। बदरीनाथ भट्ट ने 'मिस अमेरिका' और 'विवाह विज्ञापन' नामक प्रहसन लिखकर क्रमशः पाश्चात्य सभ्यता की कृत्रिमता और शृंगारकालीन अश्लीलता का उद्घाटन किया। जी० पी० श्रीवास्तव ने कुछ हास्यरसपूर्ण प्रहसन लिखकर शुद्ध हास्य-नाटकों की परम्परा को जन्म दिया।

उपर्युक्त सम्पूर्ण नाटक लगभग भारतेन्दु द्वारा प्रवर्त्तित मिश्रित नाट्य-शैली में ही लिखे गए। इनमें से कुछ काल-क्रमानुसार भारतेन्दु-युग की परिधि को लाँघ जाते हैं परन्तु विषय, शिल्प-विधान आदि की दृष्टि से भारतेन्दु-युगीन नाटक-परम्परा के ही अनुरूप रहे हैं, इसी कारण हमने इनका विवेचन इस युग के अन्तर्गत करना ही समीचीन समझा है।

समष्टि रूप से इस युग के नाटकों में विषय-वस्तु की दृष्टि से तीन प्रकार के नाटक लिखे गये—पौराणिक, ऐतिहासिक, और काल्पनिक। पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों द्वारा भारत की प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और इतिहास का गौरवमय अङ्कन कर देशवासियों के मन में भारत और भारतीयता के प्रति अनुराग और गौरव की भावना जाग्रत की गई; और काल्पनिक कथावस्तु वाले नाटकों द्वारा देश की सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों, कुरीतियों और दुष्प्रभावों का मार्मिक, व्यंग्य-मिश्रित चित्रण कर नए अंग्रेजी-साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनचेतना को उकसाया गया। इन नाटकों में यह उद्देश्य प्रच्छन्न या स्पष्ट रूप में निहित रहता था। शिल्प की दृष्टि से इनमें भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-विधानों के उपयोगी और व्यावहारिक अंशों को अपनाते हुए एक युगानुरूप मिश्रित नाट्य-शैली को जन्म दिया गया जिसका झुकाव प्राचीन संस्कृत नाट्य-विधान के प्रति ही अधिक रहा। भाषा के क्षेत्र में

गद्यांश खड़ीबोली में और पद्यांश ब्रजभाषा में लिखे जाते रहे। शैली सरल, रोचक और स्वाभाविक रही। अपने उपर्युक्त उद्देश्य, मिश्रित शिल्प-विधान और सरल-स्वाभाविक भाषा और रोचक शैली के कारण इस युग के नाटक एक ओर तो लोक-चेतना को जाग्रत और विकसित करने में सफल और समर्थ रहे, दूसरी ओर नाटक के मूल लक्ष्य—जन-मन रंजन में भी कामयाब हुए। यह वस्तुतः हिन्दी-नाटकों का शैशव-काल था जिसमें बालकों की सी चंचलता, अल्हड़पन, खीझ और उल्लास तो था ही, साथ ही अन्तर्निहित महान् उद्देश्य—जन-चेतना को जाग्रत करना—के कारण उसमें एक गम्भीरता और प्रौढ़ता का भी आभास मिलने लगा था।

२. प्रसाद युग

भारतेन्दु-युग और उसके प्रभाव के समाप्त होने के उपरान्त हिन्दी-नाटक क्षेत्र में विषय-वस्तु-प्रतिपादन, शिल्प-विधान, भाषा और शैली के क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन होने आरम्भ हुए। हिन्दी-साहित्य अनेक विधाओं के रूप में नए प्रभावों को ग्रहण करता हुआ विकसित हो रहा था। उसके समष्टि रूप में एक अप्रत्याशित सा परिवर्तन होना आरम्भ हो गया था। और इस परिवर्तन के मूल में विदेशी साहित्यों, विशेष रूप से अंग्रेजी-साहित्य का स्पष्ट प्रभाव था। हिन्दी-नाटकों पर भी यह प्रभाव पड़ा। फलतः भारतेन्दु-युगीन मिश्रित नाट्-शैली को त्याग हिन्दी-नाटक पाश्चात्य नाट्य-शैली का अनुगमन करते हुए विकास के पथ पर आगे बढ़ा। जयशंकर प्रसाद नाट्य-क्षेत्र की इस नई साहित्यिक चेतना के अग्रदूत बन नाटक-क्षेत्र में उतरे। उनके इस क्षेत्र में प्रवेश करते ही हिन्दी-नाटकों के शिल्प-विधान में समूल परिवर्तन होने आरम्भ हो गए। नाटकों में से प्राचीन संस्कृत नाट्य-शैली के प्रस्तावना, विष्कम्भक, आकाश-भाषित आदि का बहिष्कार किया जाने लगा। अङ्कों को पाश्चात्य-शैली के अनुरूप दृश्यों में विभाजित किया गया। दृश्य और सूच्य का भेद भी गायब हो गया। मंच पर प्रस्तुत करने वाले दृश्यों में कोई बन्धन नहीं स्वीकार किया गया। यहीं से आधुनिक हिन्दी-नाटक का उत्थान होना आरम्भ हुआ और प्रसाद इस नई हलचल के प्रणेता बने। इसीलिए हम इस युग को 'प्रसाद युग' या 'हिन्दी-नाटकों का उत्थान-काल' कहना अधिक समीचीन समझते हैं।

जयशंकर प्रसाद

प्रसाद के नाटक-क्षेत्र में प्रवेश करते ही हिन्दी नाट्य-साहित्य का कायाकल्प होना आरम्भ हो गया। इन्होंने ऐसे नई शैली के नाटक लिखने आरम्भ किए जिनमें हिन्दी-नाटकों के पूर्ण साहित्यिक स्वरूप का प्रस्फुटन हुआ। इन्होंने गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय गौरव, सभ्यता, संस्कृति और परम्परा का गौरवमय रूप प्रस्तुत करने वाले ऐतिहासिक नाटक लिखे जिनमें भारतीय इतिहास के ऐसे तथ्यों पर नवीन प्रकाश पड़ा जिन्हें पाश्चात्य इतिहासकारों ने अत्यन्त भ्रान्त और विकृत रूपों में चित्रित किया था। प्रसाद ने अपने नाटकों के कथानक महाभारत के

उत्तरार्द्ध काल ('जनमेजय का नाग यज्ञ') से लेकर सम्राट् हर्षवर्द्धन के काल ('राज्य श्री') तक के लिए। यह भारतीय इतिहास का गौरव-काल रहा था। इस काल के महापुरुषों को अपना पात्र बनाने से इन नाटकों की रचना का प्रसाद का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। वे इन कथानकों द्वारा भारतीय समाज में भारत और भारतीयता के प्रति गौरव, स्वाभिमान और अनुराग की भावना उत्पन्न करने के आकांक्षी थे। इनके नाटक इस प्रकार हैं—सज्जन, कल्याणी परिणय, करुणालय, प्रायश्चित्त, राज्य श्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, एक घूँट, चन्द्रगुप्त, और ध्रुवस्वामिनी।

इन नाटकों की रचना में प्रसाद ने नए नाट्य-शिल्प का प्रयोग किया। प्रसाद के प्रयत्न से हिन्दी-नाटकों के बाह्य आकार और अवयवों के विन्यास में परिवर्तन और नवीनता आई। प्राचीन नाट्य-शास्त्र में वर्जित दृश्यों—वध, आत्महत्या, युद्ध आदि के दृश्यों को खुलकर दिखाया जाने लगा। प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनुपयोगी तत्त्वों—प्रस्तावना, विष्कम्भक, आकाश भाषित आदि का पूर्ण बहिष्कार होने लगा। प्रसाद ने रस-सिद्धान्त को महत्ता देते हुए उसके साथ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व का समावेश कर भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-कलाओं का सुखद, सहयोगी रूप प्रस्तुत किया। इन्होंने उपयोगी तत्त्वों का निस्संकोच संचयन कर हिन्दी-नाटकों में उनका उपयोग करते हुए एक नई नाट्य-पद्धति को जन्म दिया और भारतीय रस-सिद्धान्त के साधारणीकरण के साथ पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का मिश्रण कर एक सर्वथा नवीन प्रकार के पात्रों की सृष्टि की, जैसे—स्कन्दगुप्त। प्रसाद ने भारतीय सुखान्त और पाश्चात्य दुखान्त नाटकों से भिन्न मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए ऐसे नाटकों की रचना की जो सुख और दुख की मिश्रित भावना से समन्वित रहे। इसी कारण आलोचकों ने उन्हें सुखान्त या दुखान्त न मान 'प्रसादान्त' कहा है। प्रसाद के समस्त नाटक ऐतिहासिक हैं। इसलिए उन्होंने इनमें ऐतिहासिक उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करने के लिए संस्कृत-गर्भित भाषा-शैली का प्रयोग किया। पद, सम्बोधन आदि से सम्बन्धित ऐसे शब्दों को रखा जो उस प्राचीन काल में प्रयुक्त होते थे। प्रसाद से पूर्व रचे गए ऐतिहासिक नाटकों की भाषा में भाषा के इस महत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया था। उसमें चाणक्य या चन्द्रगुप्त भी आजकल की सी हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा बोलते थे। यह हिन्दी ऐतिहासिक नाटकों को प्रसाद की नई देन थी।

प्रसाद का युग विभिन्न प्रकार की हलचलों और उथल-पुथल का युग था। देश में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल वेग से बढ़ रही थी। पद-दलित जाति के लिए उसका अतीत बड़ा आकर्षक होता है, इसलिए प्रसाद ने इस राष्ट्रीयता की भावना को और अधिक गौरवान्वित करने के उद्देश्य से भारतीय इतिहास के उस स्वर्ण-युग से प्रेरणा ग्रहण कर ऐतिहासिक नाटक लिखे। दूसरा कारण यह था कि प्रसाद मूलतः दार्शनिक थे। शैवागम के 'आनन्दवाद' के उपासक होने के कारण उन्होंने

संघर्षों से मुख मोड़ना या हताश होना नहीं सीखा था। उनका दृढ़ विचार था कि अखंड भारतीयता का सांस्कृतिक पुनरुत्थान यदि सम्भव है तो भारतीय इतिहास के उज्ज्वलतम उदाहरणों को ही भारतीयों के सम्मुख प्रस्तुत करना होगा। इसके लिए प्रसाद प्राचीन भारतीय इतिहास के विभिन्न काल-खण्डों से विषय-वस्तु और योरोप की नवीन नाट्य-शैली को अपना कर इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित अग्रसर हुए। ऐतिहासिक अनुशीलन और नवीन नाट्य-शिल्प एवं कल्पना के योग से उन्होंने नाट्य-कला को नया रूप प्रदान किया। नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता योरोप की देन थी। इस मिश्रित शैली द्वारा प्रसाद अपने नाटकों को नवीन और आधुनिक रूप देने में सफल हुए। इस प्रकार उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, उनका दार्शनिक चिन्तन, उनकी स्वाभाविक चरित्र-कल्पना, राष्ट्रीयता के प्रति उनका उत्कट आग्रह, उनका संघर्ष के विष से जीवन के अमृत की खोज करना—आदि ऐसी नवीन विशेषताएँ थीं जिन्होंने उनके नाटकों को एक अत्यन्त आकर्षक, युगानुकूल नवीन और भव्य रूप प्रदान कर दिया था। इसी कारण उन्हें अपने युग का हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार घोषित किया गया था।

प्रसाद-युग के अन्य नाटककार

प्रसाद के समय में ही हिन्दी में कुछ ऐसे नाटककार सामने आए जो प्रसाद की सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना से प्रभावित थे। इन नए नाटककारों ने प्रसाद के ही समान भारतीय इतिहास के विभिन्न काल-खण्डों से अपनी कथा-वस्तु का चयन किया और उसे प्रसाद द्वारा निर्मित नई नाट्य-शैली के माध्यम से नाटकों के रूप में प्रस्तुत किया। इन लोगों ने नाटक लिखना यद्यपि प्रसाद के युग में ही आरम्भ कर दिया था परन्तु इनका रचना-काल अद्यावधि निरन्तर चलता रहा है, इसलिए हम प्रसाद-युग में इनका विवेचन करना संगत न समझ, प्रसादोत्तर युग में ही करना अधिक उचित मानते हैं। इन नए नाटककारों में हरिकृष्ण 'प्रेमी', उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्द वल्लभ पन्त, चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, चतुरसेन शास्त्री आदि उल्लेखनीय रहे हैं। प्रसाद-युग के उत्तर-काल में हिन्दी में एकांकी नाटकों की रचना भी आरम्भ हो गई थी। इस युग में हिन्दी-नाटक एक नए उन्मेष के साथ आगे बढ़ा।

प्रसादोत्तर युग

हम पीछे कह आए हैं कि प्रसाद के समय में ही कुछ नए नाटककार प्रसाद की नवीन नाट्य-शैली और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना से प्रभावित हो हिन्दी-नाट्य-क्षेत्र में उतरे थे। इन लोगों ने प्रसाद के ही समान ऐतिहासिक नाटक लिखे। इसके अतिरिक्त सामाजिक समस्यामूलक, यथार्थवादी, पौराणिक आदि विभिन्न प्रकार के असंख्य नाटक भी इस युग में लिखे गए। साथ ही एकांकी नाटकों की एक नई विधा आरम्भ हुई। प्रसादोत्तर युग के मध्य काल में एक स्थिति ऐसी आ गई थी जब

हिन्दी में एक अङ्क वाले छोटे-छोटे एकांकी नाटकों का ही प्राधान्य रहा था और बड़े नाटक यदा-कदा ही लिखे जाते थे। अस्तु,

पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक—प्रसादोत्तर युग के नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, गोविन्द वल्लभ पन्त, वृन्दावन लाल वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। **हरिकृष्ण प्रेमी** ने लगभग २० ऐतिहासिक नाटक लिखे—'रक्षाबन्धन, शिवासाधना, प्रतिशोध, स्वप्न भंग, आहुति, उद्धार, शपथ, भग्न प्राचीर, प्रकाश स्तम्भ, कीर्त्ति स्तम्भ, संरक्षक, विदा, संवत् प्रवर्त्तन, साँपों की सृष्टि, आन का मान' आदि इनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं। इनमें 'रक्षा-बन्धन' सर्वाधिक प्रसिद्ध रहा है। प्रेमी जी ने प्रसाद के समान भारत के प्राचीन इतिहास से अपनी विषय-वस्तु का चयन न कर, मुख्यतः मुस्लिम-युग को ही अपना आधार बनाया था। इन्होंने इस काल की अनेक कथाओं को आधार बना, हिन्दू-मुस्लिम एकता, राष्ट्रीय, साम्प्रदायिक, राजनीतिक आदि विभिन्न प्रकार की स्थितियों और समस्याओं का आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में मार्मिक उदात्त और आदर्शपरक अंकन किया है। शिल्प-विधान, कथावस्तु के संगठन और सफल निर्वाह, स्वाभाविक चरित्रांकन, पात्र और भावानुकूल संवाद शैली, सरस और सरल भाषा आदि गुणों ने इनके नाटकों को पर्याप्त लोकप्रिय बना दिया था। अभिनेयता की दृष्टि से इनके नाटक प्रसाद के नाटकों की अपेक्षा अधिक सफल बन पड़े हैं। प्रेमी जी ने उपर्युक्त ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त कुछ सामाजिक नाटक भी लिखे जिनमें 'छाया' आदि प्रसिद्ध हैं। परन्तु प्रेमी जी की प्रसिद्धि का आधार—उनके ऐतिहासिक नाटक ही रहे हैं।

उदयशंकर भट्ट ने ऐतिहासिक और पौराणिक—दोनों प्रकार के नाटक लिखे थे। उनके ऐतिहासिक नाटकों में 'मुक्तिपथ, दाहर, शक-विजय' तथा पौराणिक नाटकों में 'विद्रोहिणी अम्बा, मत्स्यगंधा, विश्वामित्र, सगर विजय' आदि प्रसिद्ध हैं। **सेठ गोविन्ददास** ने ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक—तीनों प्रकार के नाटक लिखे हैं जिनकी संख्या एक सौ से ऊपर है। उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटकों में 'हर्ष, शशिगुप्त, कुलीनता' आदि की; पौराणिक नाटकों में 'कर्त्तव्य' की गणना की जाती है। **वृन्दावनलाल वर्मा** ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अनेक ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं जिनमें 'झाँसी की रानी, पूर्व की ओर, बीरबल, ललित विक्रम' आदि उल्लेखनीय हैं। ये नाटक घटना-प्रधान हैं जिनमें कथा-वस्तु का संगठन, सरल दृश्य-विधान, स्वाभाविक और स्पष्ट चरित्र-चित्रण, संक्षिप्त संवाद, सरल और पात्रानुकूल भाषा आदि गुणों का प्राधान्य रहने के कारण उन्हें रंगमंच के उपयुक्त और अभिनेय बना दिया है।

इस काल के अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटककार और उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटकों का विवरण इस प्रकार है—

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार—'अशोक, रेवा', **गोविन्दवल्लभ पन्त**—'राजमुकुट, अन्तःपुर का छिद्र'; **सियारामशरण गुप्त**—'पुण्य पर्व'; **उपेन्द्रनाथ अश्क**—'जय-पराजय'; **लक्ष्मी नारायण मिश्र**—'गरुड़ध्वज, वत्सराज, वितस्ता की लहरें'; **सुदर्शन**—'सिकन्दर'; **सत्येन्द्र**—'मुक्ति-यज्ञ'; **चतुरसेन शास्त्री**—'छत्रसाल'; **जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द**—'गौतम नन्द'; **बैकुण्ठनाथ दुग्गल**—'समुद्र गुप्त'; **देवराज दिनेश**—'यशस्वी भोज, मानव प्रताप'; **बनारसीदास करुणाकर**—'सिद्धार्थ बुद्ध'; **जगदीशचन्द्र माथुर**—'कोणार्क' आदि। इसके अतिरिक्त कुछ नाटककारों ने हिन्दी के पुराने कलाकारों—रहीम खानखाना और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर भी नाटक लिखे जिन्हें ऐतिहासिक नाटकों की कोटि में ही रखा जा सकता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'कवि भारतेन्दु' तथा सेठ गोविन्ददास ने 'भारतेन्दु' और 'रहीम' नामक दो ऐसे नाटक लिखे थे।

इस काल के अन्य पौराणिक नाटकों और उनके रचयिताओं का परिचय इस प्रकार है—

चतुरसेन शास्त्री—'मेघनाद, राधाकृष्ण'; **सद्गुरु शरण अवस्थी**—'मझली-रानी'; **किशोरीदास वाजपेयी**—'सुदामा'; **पांडेय बेचन शर्मा उग्र**—'गंगा का बेटा; **रामवृक्ष बेनीपुरी**—'सीता की माँ'; **गोकुलचन्द शर्मा**—'अभिनय रामायण' **गोविन्द-वल्लभ पन्त**—'ययाति'; **तारा मिश्रा**—'देवयानी'; **कैलाशनाथ भटनागर**—'भीम-प्रतिज्ञा, श्री वत्स'; **प्रभुदत्त ब्रह्मचारी**—'श्री शुक'; **रांगेय राघव**—'स्वर्ग भूमि का यात्री'। इनके अतिरिक्त भी अनेक नाटककारों ने ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक लिखे जो विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

उपर्युक्त ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की मूल-चेतना सांस्कृतिक पुनरुत्थान की रही थी। नाटककार भारतीय पौराणिक और ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं द्वारा एक ओर प्राचीन भारतीय आदर्शों को प्रस्तुत करने के अभिलाषी थे, तथा दूसरी ओर उनके माध्यम से जनता में प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रति राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने में प्रयत्नशील थे। इस प्रकार इन नाटकों का मूल उद्देश्य—जनता में एक दृढ़ राष्ट्रीय भावना का संचार करना रहा था। इसीलिए ये सम्पूर्ण नाटक आदर्शवादी रहे। इन नाटकों ने अंग्रेज द्वारा बहु प्रचारित इस भावना को दूर करने में अभूतपूर्व कार्य किया था कि भारत का प्राचीन इतिहास और संस्कृति एक अर्द्ध-सभ्य जाति का इतिहास और संस्कृति है जिसमें कोई भी उल्लेखनीय शुभ या प्रगतिशील तत्त्व नहीं रहे। यहाँ के पुराणादि तथा रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थ कपोल-कल्पित कहानियों के संग्रह हैं। हिन्दी के इन ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों ने इस प्रकार की अनर्गल, विद्वेषपूर्ण भ्रान्त धारणाओं का उन्मूलन करने में ऐतिहासिक योग प्रदान किया था। इनके पाठक इन्हें पढ़ राष्ट्रीय भावना से भर उठते थे! इसे सामान्य उपलब्धि नहीं माना जा सकता।

इन नाटकों की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि इन्होंने इतिहास के

सन्दर्भ में उन समस्याओं का अंकन करने का प्रयास किया था जो हमारे आधुनिक जीवन को आक्रान्त किए हुई थीं। सत्य, अहिंसा, नारी की महत्ता, सामाजिक विभेद, मानव की एकता, राजनीति; पाखंड, आडम्बर, धार्मिक मतभेद आदि ऐसी ही समस्यायें थीं जो प्राचीन युग में भी थीं और आज भी हैं। इन नाटकों में ऐसी ही समस्याओं का चित्रण और उनका समाधान प्रस्तुत किया गया था। यह इतिहास के सन्दर्भ में आधुनिक युग को देखने की नई पद्धति थी। शिल्प-विधान की दृष्टि से ये नाटक पाश्चात्य नाट्य-शैली के प्रति अधिकाधिक उन्मुक्त होते गए। चरित्र-चित्रण में अन्तर्द्वन्द्व और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का अंकन होने लगा। कुछ नाटककारों ने नवीन पाश्चात्य नाटकों से प्रभावित हो आदर्श के स्थान पर यथार्थ-चित्रण का अंकन करना आरम्भ कर दिया। परन्तु भाषा-सौन्दर्य, दार्शनिकता आदि के क्षेत्र में ये नए नाटककार प्रसाद की गरिमा का स्पर्श करने में असमर्थ रहे। लेकिन इनकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि इन्होंने प्राचीन पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों की अलौकिकता को दूर कर उन्हें ऐसे यथार्थ मानवों के रूप में चित्रित किया जिनके साथ हम अपनेपन का अनुभव कर सकते हैं। ये चरित्र साधारण मानवों के ही समान संघर्षों से जूझते और हमारी ही जैसी समस्याओं का सामना और उनका समाधान करते मिलते हैं।

सामाजिक नाटक—इस युग में सामाजिक नाटक सब से अधिक लिखे गए। हिन्दी-साहित्य आदर्श का मोह त्याग यथार्थवादी बनता जा रहा था। नाटक-क्षेत्र में पाश्चात्य यथार्थवादी नाटकारों का प्रभाव बढ़ रहा था। शॉ, इब्सन, मेटरलिंक आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव को हिन्दी के अनेक नाटककारों ने स्वीकार किया है। सामाजिक जीवन की अनेक समस्यायें इनके नाटकों में मुखरित हुई हैं। **लक्ष्मीनारायण मिश्र** विशुद्ध पाश्चात्य नाट्य शैली को अपना कर अपने समस्या-नाटकों द्वारा इस क्षेत्र में उतरे। इन समस्या-नाटकों में उन्होंने मनोवैज्ञानिक और सामाजिक—दोनों ही प्रकार की समस्याओं का अंकन किया। यह निश्चित रूप से पाश्चात्य नाटककारों—शॉ और इब्सन—के समस्या-नाटकों का प्रभाव था, यद्यपि मिश्रजी ने इस प्रभाव को स्वीकार करने से इन्कार किया है। मिश्रजी के समस्या-नाटकों में 'संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, सिन्दूर की होली, आधी रात' आदि उल्लेखनीय हैं। मिश्रजी ने अपने इन नाटकों में फ्रॉयडवाद, यथार्थवाद और बौद्धिकता का प्राधान्य रखते हुए मानव-मन की अनेक विषम समस्याओं का अंकन किया। यौन-सम्बन्ध और काम-समस्याओं का ही अधिक चित्रण किया। उनका ध्यान मूलतः पुरुष और नारी के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर ही टिका रहा है। उन्होंने फ्रॉयड के अनुसार सामाजिक मर्यादा, परम्परागत नैतिक बन्धन, धार्मिक विश्वास आदि का उपहास और तिरस्कार करते हुए काम-भावना और काम-सम्बन्धों को ही मानव की मूल-चेतना माना है। इन नए प्रकार के नाटकों ने कुछ समय तक साहित्य-क्षेत्र में काफी हलचल मचाई

थी। परन्तु इनमें चित्रित जीवन और समस्यायें भारतीय पाठकों के लिए, उस युग में, अपरिचित और विचित्र थीं, इसलिए इस परम्परा का अधिक विकास न हो सका। रंगमंच और नाट्य-कला की दृष्टि से भी ये नाटक उपयुक्त और प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए।

इन समस्या-नाटकों के समानान्तर ही सामाजिक नाटकों की उस यथार्थवादी परम्परा का विकास हो रहा था, जिनमें युग की विभिन्न समस्यायें मुखरित हो रही थीं। नाटककार आदर्शवादी कथावस्तु और चरित्र-चित्रण को त्याग, यथार्थ जगत की यथार्थ कथावस्तु और चरित्र-चित्रण की मनोविश्लेषणवादी पद्धति को अपना कर एक यथार्थवादी नाट्य-परम्परा का सूत्रपात कर रहे थे। इन नए नाटकों का मूलस्वर यथार्थवादी था, यद्यपि कुछ नाटकों में आदर्शवाद भी कभी-कभी अपनी झलक और प्रभाव दिखा जाता था। इनमें प्रधानतः सामाजिक चेतना, आर्थिक संकट, मध्यवर्गीय व्यक्ति की विवशता, पूँजीपति और मजदूर का संघर्ष, नारी जीवन की विविध समस्यायें, बढ़ती हुई जनसंख्या, ग्राम्य जीवन और उसकी विविध समस्यायें, अछूत एवं पिछड़े वर्ग की स्थिति, राजनीतिक समस्यायें, राजनीतिज्ञों का यथार्थ चित्रण, देश-विभाजन से उत्पन्न नई परिस्थिति, राष्ट्रीय एकता, जमींदारी उन्मूलन, देशी राज्यों का विलीनीकरण, सरकारी कर्मचारियों की स्थिति और मनोवृत्ति, गांधीवाद आदि विभिन्न विषयों और समस्याओं का अंकन किया गया। ये विषय और समस्याएँ युग-जीवन का एक विस्तृत रूप प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। अनेकांकी और एकांकी नाटकों ने इसी युग-जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान की थी। इन विभिन्न प्रकार के नाटकों का मूल उद्देश्य—जन-चेतना को और अधिक उद्बुद्ध कर व्यापक बनाना, लोक मंगल का मार्ग प्रशस्त करना, और साथ ही लोक-रंजन का सर्वजन-सुलभ साधन प्रस्तुत करना था।

सेठ गोविन्ददास ने 'कुलीनता, सेवा पथ, दुखे क्यों, सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य, त्याग या ग्रहण, सन्तोष कहाँ, पाकिस्तान, महत्त्व किसे, गरीबी और अमीरी, बड़ा पापी कौन' आदि अनेक सामाजिक नाटक लिखकर वर्तमान युग की विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का चित्रण किया। इस चित्रण में आधार-भूमि यथार्थ की रही और निष्कर्ष आदर्शवादी। नाट्य-शिल्प और रंगमंच की दृष्टि से इनके नाटकों को सफल माना जा सकता है। **वृन्दावनलाल वर्मा** ने 'राखी की लाज, बाँस की फाँस, खिलौने की खोज, केवट, नीलकंठ, सगुन, विस्तार, देखादेखी' आदि अनेक सामाजिक नाटक लिख कर विवाह, ऊँच-नीच, जाति-पाँति, सामाजिक वैषम्य, नेताओं की स्वार्थपरता आदि पर प्रकाश डाला। इनकी भी आधार-भूमि यथार्थवादी और निष्कर्ष या सन्देश आदर्शवादी रहे हैं। नाट्य-शिल्प और रंगमंच की दृष्टि से इन नाटकों को सफल माना जा सकता है परन्तु इनमें कला और शिल्प का नवीन उन्मेष नहीं दिखाई पड़ता। **गोविन्द वल्लभ पन्त** ने 'अंगूर की बेटी, सिन्दूर की बिन्दी' आदि अनेक सुन्दर सामाजिक नाटक लिखे जिनमें 'घटना-संगठन की अपूर्व प्रतिभा, कौतूहल जाग्रत करने

की अनुपम क्षमता, घटनाओं को गतिशील रूप देने का कौशल और रोमांचकारी वातावरण प्रस्तुत करने की अपूर्व कला के दर्शन हुए। यद्यपि उन्होंने थोड़े ही नाटक लिखे हैं परन्तु उन्हीं के आधार पर उन्हें हिन्दी का एक श्रेष्ठ नाटककार माना जा सकता है।

प्रसिद्ध कथाकार **उपेन्द्र नाथ 'अश्क'** ने भी अनेक सामाजिक नाटक लिखे; जिनमें—'स्वर्ग की झलक, कैद, उड़ान, छठा बेटा, अलग-अलग रास्ते' आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में अश्क ने विभिन्न पारिवारिक, नारी-स्वातंत्र्य आदि समस्याओं और स्थितियों का व्यंग्य भरी तीखी यथार्थवादी शैली में मार्मिक चित्रण किया है। इनके नाटकों में एक विशेषता यह लक्षित होती है कि इनकी रचना रंगमंच, अभिनय आदि की स्वाभाविकता के प्रति पूर्णतः जागरूक रहते हुए की गई है। इसी कारण इनको प्रायः अभिनीत किया जाता है। इनमें उद्देश्य, मनोरंजन की क्षमता और रंगमंचीय उपयुक्तता भरपूर मात्रा में मिलती है। इस प्रकार अश्क को आधुनिक काल का अत्यन्त सफल नाटककार माना जा सकता है।

उपर्युक्त प्रमुख नाटककारों के अतिरिक्त, इस युग में अन्य अनेक नाटककारों ने सामाजिक नाटक पर्याप्त संख्या में लिखे, जिनका विवरण इस प्रकार है—

प्रेमचन्द–'प्रेम की वेदी'; **चतुरसेन शास्त्री**–'पगध्वनि'; **जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द**–'समर्पण'; **जयनाथ नलिन**—'अवसान'; **रामनरेश त्रिपाठी**—'पैसा परमेश्वर'; **चन्द्रशेखर पांडेय**—'जीत में हार'; **रघुवीर शरण मित्र**—'भारत माता'; **शम्भूनाथसिंह**—'धरती और आकाश'; **अभयकुमार यौधेय**—'नारी की साधना'; **दयानाथ झा**—'कर्मपथ'; **तुलसी भाटिया**—'मर्यादा' आदि। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक साहित्यकारों ने कुछ नाटक लिखे। परन्तु ये लोग मूलतः नाटककार न होकर कवि या कथाकार ही थे।

गीति-नाट्य—इसी युग में कुछ साहित्यकारों ने ऐसे नाटकों की रचना की जिन्हें 'भाव नाट्य' या 'गीति नाट्य' कहा जाता है। इनमें भावों का व्यक्तीकरण गीतों के रूप में होता है जिनमें कोमल भावों की ही प्रधानता रहती है। बीच-बीच में रंगमंच-निर्देश तथा अन्य कार्यों के लिए गद्य का भी प्रयोग होता है। ये नाटक सुपाठ्य और अभिनेय—इन दोनों गुणों से समन्वित रहते हैं। इनका अभिनय साधारण नाटकों की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। कविता का प्राधान्य रहने के कारण ये सामान्य नाटकों की अपेक्षा अधिक मनोरम, कोमल और भावना-प्रवण होते हैं। वस्तुतः उन्हें 'काव्य नाटक' कहना अधिक संगत है। सन् १९१२ में रचित प्रसाद का 'करुणालय' इस परम्परा का हिन्दी का पहला नाटक माना जाता है। परन्तु प्रसाद द्वारा स्थापित इस परम्परा का बहुत समय तक अनुकरण और विकास नहीं हुआ। 'करुणालय' की रचना के लगभग १५–२० वर्ष उपरान्त मैथिली शरण गुप्त ने 'अनघ' और हरिकृष्ण प्रेमी ने 'स्वर्ण विहान' नामक गीति-नाट्यों की रचना की। परन्तु उन्हें श्रेष्ठ और सफल गीति-नाट्य नहीं माना जा सकता। वस्तुतः उदय-

शंकर भट्ट को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ गीति-नाट्यकार माना जाना चाहिए। उनके 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र', 'राधा', 'अम्बा' आदि हिन्दी के श्रेष्ठ गीति-नाट्य हैं। इन नाटकों में पात्रों की भावनाओं और अन्तर्द्वन्द्वों का संगीत-प्रधान, कोमल और कलापूर्ण शैली में चित्रण हुआ है। सेठ गोविन्ददास ने भी 'स्नेह या स्वर्ग' नामक एक गीति-नाट्य लिखा था। सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजत शिखर' और 'शिल्पी' एवं धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' और 'नीली झील' हिन्दी के प्रसिद्ध गीति-नाट्य हैं। सिद्ध कुमार का 'लौह देवता' भी उल्लेखनीय गीति-नाट्य है। धर्मवीर भारती के उपर्युक्त दोनों गीति-नाट्यों को अनेक बार अत्यन्त सफलता के साथ रंगमंच पर अभिनीत किया जा चुका है। हिन्दी में गीति-नाट्य बहुत कम लिखे गए हैं क्योंकि इनकी रचना गहन भावुकता, विशिष्ट कला-क्षमता और उन्नत काव्य-शक्ति की अपेक्षा रखती है। भट्ट, पन्त और भारती के गीति-नाट्यों में नाटक की इस विधा का अत्यन्त श्रेष्ठ और कलापूर्ण रूप प्रकट हुआ है। इन्हें हिन्दी नाट्य-साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि मानना चाहिए।

प्रतीक-प्रधान नाटक—गीति-नाट्यों के समान हिन्दी में एक अन्य प्रकार के ऐसे नाटक लिखे गए जिनके विभिन्न पात्र विभिन्न भावनाओं, विचारधाराओं या वस्तुओं के प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत किए गए। इन नाटकों के प्रवर्त्तक भी प्रसाद ही रहे हैं। सन् १९२७ में रचित उनका 'कामना' नाटक हिन्दी का पहला प्रतीकवादी नाटक माना जाता है। आगे चलकर इसी परम्परा में पन्त ने 'ज्योत्स्ना'; सेठ गोविन्ददास ने 'नवरस'; भगवती प्रसाद वाजपेयी ने 'छलना'; कुमार हृदय ने 'नक्शे का रंग'; लक्ष्मीनारायण लाल ने 'मादा कैक्टस' और 'सुन्दर रस' नामक सुन्दर प्रतीकवादी नाटक लिखे। इनमें से 'मादा कैक्टस' बहुचर्चित रहा है। परन्तु हिन्दी में इन प्रतीक-प्रधान नाटकों की रचना बहुत ही अल्प परिमाण में हुई है।

नाटकों के उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त हिन्दी में ऐसे छोटे-छोटे असंख्य नाटक लिखे गए जिन्हें एकांकी नाटक कहा जाता है। इन एकांकी नाटकों की अपनी एक भिन्न और स्वतंत्र परम्परा रही है, इसलिए इनका पृथक् विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

एकांकी नाटक

'एकांकी नाटक' उन छोटे नाटकों को कहा जाता है जिनकी सम्पूर्ण कथा केवल एक ही अंक में पूर्ण और समाप्त हो जाती है। एक अंक होने के कारण ही इन्हें 'एकांकी' कहा जाता है। इनमें नाटक के सम्पूर्ण तत्त्व तो होते ही हैं, परन्तु साथ ही इनके रचना-विधान तथा अन्य तत्त्वों में कुछ ऐसी विशेषताएँ निहित रहती हैं, जिनके कारण साहित्य-शास्त्रियों ने इन्हें एक सर्वथा स्वतन्त्र साहित्यिक विधा मान लिया है। यहाँ एकांकी-नाटक की विशेषताओं को डा० रामगोपाल सिंह चौहान के अनुसार इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

"....एकांकी एक अंक का नाटक होता है, जिसमें एकांकीकार एक ही घटना

को नाटकीय लाघव से, उसमें औत्सुक्य सम्भ्रम और विस्मय का सृजन कर उसे चरम सीमा तक विकसित करता है और नाटकीय विस्मय के साथ उसका इस रूप में अन्त करता है कि एकांकी की समस्त घटनाएँ और कथा तथा उसके पात्र दर्शक या पाठक के मनप्राण और भावना के संगी बनकर सांकेतिक रूप से उसके मनोभावों का विषय बन जाते हैं और उसमें विचारों और भावों की अदम्य उत्तेजना उत्पन्न कर देते हैं, तथा दर्शक या पाठक की मानसिक स्नायुओं में गुदगुदी उत्पन्न कर उसका मनोरंजन करते हैं या उसे झकझोर कर, उसके मर्म को स्पर्श कर उसमें कुछ करने का दृढ़ संकलप उत्पन्न करते हैं।"[1]

एकांकी जीवन या समाज के एक खंड का प्रभावशाली चित्र अंकित करता है। इसका निर्माण एक निश्चित लक्ष्य, विचार या समस्या का विवेचन करने के लिए एक ही महत्त्वपूर्ण घटना या परिस्थिति द्वारा किया जाता है। संघटन-एकता एवं संक्षिप्तता—इसकी प्रधान विशेषताएँ मानी गई हैं।

हिन्दी-साहित्य में एकांकी के जन्म और विकास के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी अनेक मत प्रचलित हैं। कुछ हिन्दी-एकांकी को संस्कृत-एकांकियों का ही विकसित रूप मानते हैं, तथा कुछ विद्वान् इसे पाश्चात्य एकांकी नाटकों का अनुगामी। परन्तु वास्तविकता यह है कि हिन्दी-एकांकी ने अपने प्रारम्भिक रूप में संस्कृत-एकांकी से प्रेरणा ग्रहण की थी, परन्तु आगे चलकर उसने अपने वर्तमान स्वरूप का निर्माण पाश्चात्य-एकांकी के ही आधार पर किया 'एकांकी' शब्द अंग्रेजी के 'वन एक्ट प्ले' का ही हिन्दी रूपान्तर है।

हिन्दी में एकांकियों का अस्तित्त्व भारतेन्दु के समय से ही मिलने लगता है। भारतेन्दु ने संस्कृत-एकांकियों का अनुसरण करते हुए कई एकांकी लिखे थे जिनमें 'विषस्य विषमौषधम्', 'अंधेर नगरी', 'भारत दुर्दशा', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि की गणना की जा सकती है। इनमें आधुनिक एकांकियों से शैली-भेद तो रहा है परन्तु इन्हें आधुनिक एकांकियों का आरम्भिक रूप मानने में संकोच नहीं करना चाहिए। लेकिन हिन्दी में हमें एकांकियों का जो विकसित रूप मिलता है वह निश्चित रूप से पाश्चात्य एकांकियों की ही देन है। भारतेन्दु-युग तक हमारा एकांकी-साहित्य संस्कृत का ही अनुगामी रहा था परन्तु द्विवेदी-युग तक आते-आते उस पर पाश्चात्य एकांकी-साहित्य का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था। यद्यपि कुछ लोगों ने सन् उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखे गए गीति-नाटकों 'इन्दर सभा', 'बन्दर सभा', 'मुछन्दर-सभा' आदि को एकांकी का प्रारम्भिक रूप माना है परन्तु आधुनिक एकांकी के स्वरूप को देखते हुए ऐसी मान्यता—खींचतान-परक मान्यता ही मानी जायेगी। वस्तुतः हिन्दी-एकांकी का पाश्चात्य एकांकी से प्रभावित रूप प्रस्फुटित होना द्विवेदी-युग में ही

---

१. हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा—डा० रामगोपाल सिंह चौहान।

आरम्भ हुआ था। इस युग में इसके स्वरूप में थोड़ा-सा अन्तर आने लगा था परन्तु उसकी मूल चेतना भारतेन्दु-कालीन एकांकी के अनुरूप ही बनी रही।

द्विवेदी-युग में सुन्दर प्रहसन और व्यंग्य की कोटि में आने वाले अनेक एकांकियों की रचना हुई। इनमें बदरीनाथ भट्ट के 'चुंगी की उम्मेदवारी', 'रेगड़ समाचार के एडीटर की धूल दच्छिना'; मंगलप्रसाद विश्वकर्मा का 'शेर सिह'; सियाराम शरण गुप्त का 'कृष्णा'; रामसिंह वर्मा के 'रेशमी रूमाल', 'क्रिसमिस'; ब्रजलाल शास्त्री के 'नीला', 'दुर्गावती', 'पन्ना', 'तारा' आदि; रूपनारायण पांडेय का 'मूर्ख मंडली'; पांडेय बेचन शर्मा उग्र का 'चार बेचारे'; सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। उस युग में भट्टजी का 'चुंगी की उम्मेदवारी' नामक एकांकी बहुत लोकप्रिय रहा था। इस काल के एकांकियों को विषय-वस्तु की दृष्टि से चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) सामाजिक-व्यंग्यात्मक, (२) राष्ट्रीय-ऐतिहासिक, (३) धार्मिक-पौराणिक, (४) अनूदित। इस काल के इन एकांकियों में विकास के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। यद्यपि विषय-वस्तु भारतेन्दु-युग के समान रही है परन्तु शिल्प-विधान में पाश्चात्य-एकांकियों का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो जाता है। भारतेन्दु-कालीन नान्दी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य, आकाश-भाषित आदि का बहिष्कार होने लगता है। कथा-प्रवाह में तीव्रता आने लगती है और पद्य का बहिष्कार हो जाता है। यह सम्पूर्ण काल सन् १८७३ (भारतेन्दु के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति') से आरम्भ होकर सन् १९२९ (प्रसाद के 'एक घूँट' नामक एकांकी) तक आकर समाप्त हो जाता है।

प्रसाद ने अपना सर्वप्रथम और एकमात्र एकांकी 'एक घूँट' सन् १९२९ में लिखा था। इसमें प्रसाद का झुकाव संस्कृत-एकांकी की ओर ही अधिक रहा था परन्तु फिर भी इसमें एकांकी की आधुनिक शैली का भरपूर निखार दिखाई पड़ा। यह देख कर ही हिन्दी के अनेक विद्वानों में इसे आधुनिक शैली का हिन्दी का प्रथम एकांकी माना है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत द्रष्टव्य है—"सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूँट' से हुआ है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है—इसलिए वे हिन्दी-एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं है। एकांकी की टेकनीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है।"[१] इस काल में अनेक पाश्चात्य एकांकियों के हिन्दी में खूब अनुवाद हुए, और मौलिक एकांकी भी लिखे गए। सूर्यकरण पारीख, सुदर्शन, जैनेन्द्र, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, गोविन्द वल्लभ पन्त, रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर मिश्र आदि ने अनेक नए एकांकी लिखे, लेकिन इनमें से अधिकांश लेखक शैली, शिल्प-विधान और प्रभाव की दृष्टि से इस क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाने में असमर्थ रहे। इनमें से रामकुमार वर्मा और भुवनेश्वर मिश्र ही सफल एकांकीकार के रूप में उभर कर सामने आए।

---

१. आधुनिक हिन्दी-नाटक—डा० नगेन्द्र।

जो विद्वान् प्रसाद के 'एक घूँट' को हिन्दी का आधुनिक प्रथम एकांकी नहीं मानते, उन्होंने सन् १९३० में प्रकाशित डा० रामकुमार वर्मा के प्रथम एकांकी 'बादल की मृत्यु' को हिन्दी का प्रथम आधुनिक एकांकी घोषित किया है। परन्तु कुछ विद्वान् कला की दृष्टि से इसे सफल एकांकी नहीं मानते। इसमें नाटकीयता की अपेक्षा कल्पना एवं काव्यात्मकता अधिक है। ऐसे विद्वान् भुवनेश्वर मिश्र के सन् १९३५ में प्रकाशित 'कारवाँ' को हिन्दी का प्रथम सफल एकांकी मानते हैं। इस मत की स्थापना करते हुए डा० रांगेय राघव ने लिखा है कि—"संस्कृत नाट्य-शैली को छोड़, पाश्चात्य-शैली को अपनाने वालों में भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' प्रथम था।" और इस 'कारवाँ' के साथ ही हिन्दी-एकांकी का कारवाँ अपनी नई सज-धज के साथ द्रुत गति से बढ़ता हुआ आज की समृद्ध मंजिल तक पहुँचा है। 'कारवाँ' को यह श्रेय मिलता देख कुछ लोगों ने 'बादल की मृत्यु' का मोह त्याग रामकुमार वर्मा के दूसरे एकांकी 'चारुमित्रा' (सन् १९४१ में प्रकाशित) को ही हिन्दी का प्रथम आधुनिक एकांकी मान लेने का आग्रह करना आरम्भ कर दिया। परन्तु हमारी समझ में यह सारा विवाद व्यर्थ है। रामकुमार वर्मा और भुवनेश्वर मिश्र—दोनों ही हिन्दी के प्रथम सर्वाधिक सफल एकांकीकार रहे हैं। इसलिए यह विवाद व्यर्थ है कि इनमें से किसके किस एकांकी को पहला सफल एकांकी माना जाय, क्योंकि ऐसे निर्णय सदैव विवादास्पद बने रहेंगे। अस्तु,

रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर मिश्र, सेठ गोविन्ददास, गणेश प्रसाद द्विवेदी, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मी नारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर आदि आधुनिक कालीन प्रारम्भिक एकांकीकारों में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। **डा० रामकुमार वर्मा** के अनेक एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें—'पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, विभूति, रूपरंग, सप्तकिरण, कौमुदी-महोत्सव, ध्रुवतारिका, ऋतुराज, रजत रश्मि, दीपदान, कामकन्दला, बापू, इन्द्रधनुष, रिमझिम' आदि की गणना की जाती है। इनमें उनके दर्जनों एकांकी संग्रहीत हैं। इन एकांकियों का क्षेत्र सामाजिक और ऐतिहासिक—दोनों ही प्रकार का रहा है। वर्माजी की प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्वों के चित्रण करने की अधिक रही है। उनमें जीवन की सामयिक यथार्थता के स्थान पर चिरन्तन सत्य का चित्रण करने का अधिक आग्रह मिलता है। इसी कारण उनमें आदर्श के प्रति प्रबल मोह रहा है। उनके अधिकांश एकांकी दुखान्त रहे हैं। वर्मा जी छायावादी कवि हैं, इसलिए उनके अधिकांश एकांकियों में छायावादी दुखवाद और आदर्श प्रधान रहे हैं। समष्टि रूप से वर्मा जी हिन्दी के अत्यन्त उच्चकोटि के ऐसे एकांकीकार हैं, जिनकी रचनाओं ने एकांकी-साहित्य के विकास और समृद्धि में अनुपम योग प्रदान किया है।

भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र का प्रथम एकांकी संग्रह 'कारवाँ', जिसमें उनके छः एकांकी संग्रहीत हैं, हिन्दी एकांकी-साहित्य का क्रोश स्तम्भ माना जाता है। इनके ये समस्त एकांकी पाश्चात्य विचार-प्रणाली, शैली तथा रूप-विधान का सफल रूप प्रस्तुत

करते हैं। इनमें विषय-वस्तु भी परिवर्तित और भिन्न रूप में सामने आई। विवाह, स्त्री-समस्या, राजनीतिक समस्याओं आदि का आरम्भ इन्हीं से हुआ। मिश्र जी ने सामाजिक और ऐतिहासिक—दोनों ही प्रकार के एकांकी लिखे हैं जिनमें—'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना, पतिता, एक साम्यहीन साम्यवादी, प्रतिभा का विवाह, रहस्य-रोमांच, लाटरी, मृत्यु, सवा आठ बजे, रोशनी और आग, इन्स्पेक्टर जनरल, फोटोग्राफर के सामने, ताँबे के कीड़े, इतिहास की केंचुल, आजादी की नींव, सींकों की गाड़ी' आदि सामाजिक; तथा 'सिकन्दर', 'अकबर', 'चंगेजखाँ' आदि ऐतिहासिक एकांकी हैं। मिश्रजी प्रसिद्ध अंग्रेजी-नाटककार बर्नार्ड शॉ से गहरे रूप से प्रभावित रहे हैं। उनकी प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण यह रहा था कि उन्होंने—"हमारे मध्यवर्गीय समाज की खोखली नैतिकता पर गहरा प्रहार किया है, जो दर्शक एवं पाठक को अपने जीवन की वास्तविकता के प्रति झकझोर कर जागरूक कर देते हैं।"

उपेन्द्रनाथ अश्क के लगभग दो दर्जन एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें —'देवताओं की छाया में, चरवाहे, तूफान से पहले, कैद और उड़ान, पापी, लक्ष्मी का स्वागत, अधिकार का रक्षक, स्वर्ग की झलक, जोंक, चिलमन, खिड़की, अंधी गली, सूखी डाली, आदि मार्ग, अंजो दीदी, पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ, बतसिया, सयाना मालिक, जीवन-साथी' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें सामाजिक व्यंग्य, सांकेतिक और प्रतीकात्मक, मनोवैज्ञानिक आदि विभिन्न पद्धतियों के एकांकी संग्रहीत हैं। इन एकांकियों में मध्यवर्गीय समाज की रूढ़ियों, सड़ी-गली परम्पराओं आदि पर बड़ी सशक्त व्यंग्यात्मक शैली में मार्मिक और तीखे प्रहार किए गए हैं। पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करने के मोह के कारण उनकी भाषा में विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के शब्दों और वाक्यों के प्रयोगों ने एक चमत्कार और आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। उन्होंने गम्भीर मनोवैज्ञानिक संघर्षों के चित्रण के साथ हास्य और व्यंग्य की अवतारणा करने में भी पूर्ण सफलता पाई है। कला और शिल्प-विधान की दृष्टि से उनके एकांकी पूर्ण, प्रौढ़ और सफल हैं। अभिनेयता—उनका एक विशिष्ट गुण रहा है।

उदयशंकर भट्ट के 'अभिनव एकांकी नाटक', 'आदिम युग', 'समस्या का अन्त', 'धूमशिखा', 'स्त्री का हृदय', 'पर्दे के पीछे' आदि अनेक एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें संग्रहीत एकांकियों में उन्होंने वर्तमान और अतीत की कथाओं को माध्यम बना, सामाजिक और चिरन्तन समस्याओं और सत्यों का चित्रण किया है। कुछ एकांकियों में हास्य और व्यंग्य की छटा भी मिल जाती है। डा० रामचरण महेन्द्र के शब्दों में—"भट्ट जी के एकांकी जहाँ ज्ञान-बहुल हैं, मानव-जीवन की पारदर्शिता को प्रकट करते हैं, वहाँ वे जीवन के बहुव्यापी अंग-उपांगों का गहन विश्लेषण भी करते हैं।" उनकी एकांकी-कला का प्रौढ़तम रूप उनके 'बाबूजी', 'यह स्वतन्त्रता का युग है', 'मायोपिया', 'ग्रहदशा', 'मार्गेन' आदि एकांकियों में मिलता है। भट्टजी की प्रकृति मूलतः काव्यात्मक रही है, इसलिए इनके अधिकांश एकांकियों में

भाव-प्रवण कला का रूप ही अधिक निखरा हुआ मिलता है। अभिनेयता उनके एकांकियों का एक विशिष्ट गुण है।

सेठ गोविन्ददास ने ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, पौराणिक आदि विभिन्न प्रकार के अनेक एकांकी लिखे हैं। सेठजी का दृष्टिकोण मूलतः आदर्शवादी और सुधारवादी रहा है। इनके लिखे एकांकियों में—'बुद्ध की एक शिष्या, बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन, नानक की नमाज, तेगबहादुर की भविष्यवाणी, परमहंस का पत्नी-प्रेम, स्पर्धा, मैत्री, मानव-मन, ईद और होली, हंगर स्ट्राइक, जाति उत्थान, सच्चा कांग्रेसी कौन, कृषि-यज्ञ' आदि उल्लेखनीय हैं। सेठजी की शैली सरल और रोचक है। उनमें कला-सौन्दर्य के स्थान पर विचारों की प्रौढ़ता ही अधिक मिलती है। **लक्ष्मी-नारायण मिश्र** के एकांकियों में बुद्धिवाद का प्राधान्य रहा है। 'वत्सराज' आदि को एकांकी ही माना गया है। परन्तु मिश्रजी की प्रसिद्धि बड़े समस्यामूलक और ऐतिहासिक नाटककार के रूप में ही अधिक रही है।

जगदीशचन्द्र माथुर के 'भोर का तारा, कलिंग विजय, रीढ़ की हड्डी, मकड़ी का जाला, खंडहर, खिड़की की राह, घोंसले, कबूतरखाना, भाषण, ओ मेरे सपने, शारदीय, बन्दी' आदि अनेक एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। माथुर हास्य और व्यंग्य की यथार्थवादी शैली में समस्याओं का चित्रण करने में अत्यन्त कुशल हैं। शिवदान-सिंह चौहान के अनुसार आपकी—"सचेत दृष्टि आधुनिक जीवन के उस वैषम्य के आर-पार देखती है, जो रूढ़ि-ग्रस्त-संस्कारों और नई सामाजिक प्रवृत्तियों के बीच एक जटिल और अविराम संघर्ष का जनक है। इसी कारण उनके नाटकों में एक प्रबुद्ध कलाकार के संयम के साथ, मानव-स्वभाव को चोट पहुँचाने वाली अमानवीय, जर्जर मान्यताओं और लोकाचारों पर निर्मम प्रहार रहता है।"

गणेशप्रसाद द्विवेदी के—'सोहाग बिन्दी, वह फिर आई थी, अपर पार्श्व, सर्वस्व-समर्पण, कामरेड, गोष्ठी, परीक्षा, रिहर्सल, रपट, धरती माता' आदि एकांकियों में सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का सुन्दर कला के माध्यम से चित्रण हुआ है। प्रसिद्ध उपन्यासकार **भगवतीचरण वर्मा** ने 'सबसे बड़ा आदमी', 'मैं और केवल मैं', 'दो कलाकार' आदि अनेक एकांकियों में मध्यवर्गीय समाज की विभिन्न समस्याओं और मानव-मन की विविध-रूपा प्रवृत्तियों का अंकन किया है। कुछ आलोचक उन्हें एक कुशल एकांकीकार मानते हैं। उनके व्यंग्य बड़े चुभते हुए रहे हैं। **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** के—'मनुष्य की कीमत, हिन्दुस्तान जाकर कहना, ताँगेवाला, भेड़िए, नवप्रभात' आदि एकांकी उल्लेखनीय माने जाते हैं। विषय-वस्तु के कुशल और श्रेष्ठ चयन तथा शिल्प-विधान की दृष्टि से इनके एकांकी महत्त्वपूर्ण रहे हैं। इनमें एकांकी के शिल्प-विधान का परिष्कार करने की प्रवृत्ति मिलती है।

प्रसिद्ध प्रयोगवादी कवि **गिरिजाकुमार माथुर** सफल एकांकीकार भी हैं। उन्होंने सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और प्रतीकात्मक अनेक प्रकार के एकांकी

लिखे हैं। 'कुमार सम्भव, मेघ की छाया, पिकनिक, लाउडस्पीकर, मध्यस्थ, विक्रमादित्य, विषपान, रस की जीत, शान्ति विश्वदेवा' आदि इनके उपर्युक्त विभिन्न प्रकारों के सुन्दर एकांकी हैं। इनमें इन्होंने भारतीय संस्कृति और इतिहास के गौरवपूर्ण अंकन के साथ सामयिक सामाजिक समस्याओं को यथार्थवादी दृष्टिकोण के चित्रित किया है। डा० सत्येन्द्र ने 'कुणाल, स्वतन्त्रता का अर्थ, प्रायश्चित, बलिदान, वसन्त' आदि एकांकी लिखकर इस क्षेत्र की समृद्धि में अपना योगदान देने का प्रयत्न किया है, जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है। **सद्गुरुशरण अवस्थी** ने—'सुदामा, कैकेयी, शम्बूक, महाभिनिष्क्रमण' आदि एकांकी लिखकर भारतीय प्राचीन संस्कृति की आधुनिक दृष्टिकोण से व्याख्या की है।

सन् १९३८ में प्रसिद्ध मासिक 'हंस' का 'एकांकी विशेषांक' प्रकाशित हुआ था, जिसमें उस युग के प्रतिनिधि एकांकीकारों के एकांकी और एकांकी-सम्बन्धी शास्त्रीय विवेचनात्मक निबन्ध प्रकाशित हुए थे। हिन्दी एकांकी के आरम्भिक रूप और विकास का इसमें एक सुन्दर व्यौरा प्रस्तुत हुआ था। उपर्युक्त प्रमुख एकांकीकारों के अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री, यज्ञदत्त शर्मा, धर्म प्रकाश आनन्द, सज्जाद जहीर आदि ने भी अनेक एकांकी लिखे थे। यहाँ तक हिन्दी के उन आरम्भिक एकांकीकारों का, जिन्होंने एकांकी के जन्म और विकास की आरम्भिक स्थिति के निर्माण में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया था, एक संक्षिप्त व्यौरा समाप्त हो जाता है। इसके उपरान्त हिन्दी एकांकी के विकास का दूसरा सोपान आरम्भ होता है।

भारत के स्वतंत्र होने के उपरान्त हिन्दी-एकांकी क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो गया। नवीन परिस्थितियों ने नई समस्याओं, दृष्टिकोणों और विषयों को जन्म दिया। इनका चित्रण करने के लिए हिन्दी में अनेक नवीन प्रतिभाएँ एकांकी के क्षेत्र में उतरीं। इन नए एकांकीकारों में कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, आलोचक आदि—सभी विधाओं के लेखक थे। इस कारण हिन्दी-एकांकी में शिल्प और विषय-सम्बन्धी वैविध्य आया। इसी युग में हिन्दी-रंगमंच के उत्थान की प्रवृत्ति भी बढ़ी। 'इप्टा' (अखिल भारतीय नाट्य संघ) जैसी संस्थाओं ने नवीन एकांकियों की रचना और उनको अभिनीत करने की प्रवृत्ति को विकसित किया। शिक्षा-संस्थाओं में नाटक-समितियों की स्थापना हुई और वहाँ नए-नए नाटक रचे और खेले जाने लगे। अपने लघु रूप के कारण एकांकियों को अभिनीत करना अधिक सुगम था, इसलिए एकांकियों का अधिकाधिक प्रचार और प्रसार होने लगा।

विषय-वस्तु की दृष्टि से इस युग में ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, नैतिक, देशभक्ति, राष्ट्रीय भावना, यथार्थवादी, आदर्शवादी, मनोरंजन आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित असंख्य एकांकी लिखे गए। यहाँ स्थानाभाव के कारण उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रकार के एकांकियों और उनके लेखकों का विस्तृत परिचय देना तो सम्भव नहीं, इसलिए हम विषयानुसार प्रमुख एकांकियों और उनके रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय और विवेचन प्रस्तुत करते हुए आगे बढ़ेंगे।

आजादी के बाद लिखे गए हिन्दी एकांकियों में सामाजिक चेतना का स्वर सबसे अधिक प्रबल प्रधान रहा है। इस काल के एकांकीकारों ने नवीन युग की प्रधान और गौण—सभी स्थितियों और समस्याओं को नए युग-सत्य के सन्दर्भ में चित्रित किया है। आर्थिक संकट, पूँजीपति और मजदूर का संघर्ष, नारी-जीवन की विविध समस्यायें, मध्यवर्गीय व्यक्ति की स्थिति, ग्राम्य जीवन की समस्यायें, अछूत और पिछड़े वर्ग की समस्या, राजनीतिक परिवर्तित स्थिति, विभाजन, जमींदारी-उन्मूलन, राष्ट्रीय एकता, राज्यों का विलीनीकरण, सरकारी कर्मचारियों की स्थिति और मनोवृत्ति, गांधी जी के सिद्धान्त, हिन्दू-मुस्लिम-एकता आदि—इन एकांकियों के प्रधान विषय रहे हैं।

राजीव सक्सेना के 'पहली तारीख'; चिरंजीव के 'मेहमान'; इन्द्रा नूपूर के प्रेरणा', अवसान'; अनिल कुमार के 'समझौता; विनय रंजन के 'बिखरे तिनके'; रामनरेश त्रिपाठी के 'पैसा परमेश्वर'; विनोद रस्तोगी के 'और मुन्ना मर गया' आदि एकांकियों में मध्यवर्गीय आर्थिक विषमता, संयुक्त परिवार के विघटन, और इन सबके कारण उत्पन्न होने वाले संकटों का यथार्थवादी चित्रण हुआ है। शम्भूनाथ सिंह के 'धरती और आकाश'; नित्यानन्द वात्स्यायन के 'मुकुट'; भगवती चरण वर्मा के 'रुपया तुम्हें खा गया'; आदि एकांकियों में पूँजीपति और मजदूरों के संघर्ष, पूँजीवादी संस्कृति के खोखलेपन आदि का मार्मिक अंकन हुआ है। राजेन्द्र रघुवंशी के 'पहेली'; राजीव सक्सेना के 'नशा उतरा' आदि एकांकियों में मध्मवर्ग की अनिश्चित मानसिक अवस्था, बेकारी, अनैतिकता आदि के चित्र उतारे गए हैं। आर्थिक विषमता ही निम्न और मध्यवर्गीय समाज की मूल समस्या और उसकी कुंठाओं की जनक रही है।

नारी-जीवन की विविध समस्यायें इस युग के एकांकीकारों का प्रधान विवेच्य विषय रहा है। लक्ष्मीनारायण लाल के 'मड़वे का भोर', 'एक दिन', 'नई इमारतें'; विष्णु प्रभाकर के 'लिपिस्टिक की मुस्कान'; परदेशी के 'साहब के आने का वक्त हो गया'; भारत भूषण अग्रवाल के 'युग-युग या पाँच मिनट'; उपेन्द्रनाथ अश्क के 'भँवर', 'अलग अलग रास्ते', 'कैद', 'उड़ान'; पृथ्वीनाथ शर्मा के 'साध' आदि एकांकियों में नारी-जीवन की विवशता, नई नारी की स्वच्छन्दता और उत्तरदायित्व हीनता, प्रेम और झूठी कुल-मर्यादा, स्वच्छन्द प्रेम और उसका रूप, फैशन-परस्ती, खोखली बौद्धिकता, स्वाभिमान, पुराने और नए आदर्शों का संघर्ष, परिवार नियोजन आदि विभिन्न स्थितियों और समस्याओं का यथार्थवादी, बौद्धिक विश्लेषणपरक अंकन हुआ है। नारी-जीवन से सम्बन्धित कुछ एकांकियों में फ्रॉयड के मनोविज्ञान को आधार बना रुग्ण और स्वस्थ—दोनों प्रकार की मनोवृत्तियों का चित्रण हुआ है। लक्ष्मीनारायण लाल के 'पर्वत के पीछे', 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस' आदि में पुराने और नए जीवन-मूल्यों का संघर्ष, व्यक्ति की कुंठित वासना और उसके परिणाम आदि का कहीं सीधा और कहीं प्रतीकात्मक रूप में चित्रण हुआ है। उदयशंकर भट्ट के 'नया समाज', 'मायोपिया, 'बारगेन', 'यह स्वतन्त्रता का युग'; विष्णु प्रभाकर के 'डाक्टर', 'युग सन्धि';

मार्कण्डेय के 'पत्थर और परछाँई'; चिरंजीत के 'दादी माँ जागी' आदि एकांकियों में भी फ्रॉयड के मनोविश्लेषण शास्त्र के आधार पर नए युग की नई मनोवैज्ञानिक समस्याओं के विभिन्न पक्षों का रूप प्रस्तुत किया गया है। इनमें गम्भीरता के साथ जीवन की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन और उनके चित्रण का प्रयास हुआ है। व्यक्ति का दुहरा व्यक्तित्व उसे कितना परेशान किए रहता है, इस तथ्य को इन एकांकीकारों ने बड़े सधे हुए ढंग से अभिव्यक्त किया है। ये सम्पूर्ण एकांकी नागरिक मध्यवर्गीय जीवन से ही सम्बन्धित रहे हैं।

इस युग में ग्राम्य-जीवन और उससे सम्बन्धित समस्याओं, अछूत एवं पिछड़े वर्गों की स्थिति, पंचायतों के चुनाव, गाँवों में उभरती नई चेतना, पुराने जमींदारों के बदलते हुए हथकंडे और प्रभाव, जमींदारी-उन्मूलन के प्रभाव, गाँवों में बढ़ते नागरिक जीवन का प्रभाव, फैशन परस्ती, अंग्रेजियत का असर आदि का कुछ एकांकीकारों ने आदर्शपरक और कुछ ने यथार्थवादी चित्रण किया है। ऐसे एकांकियों में वृन्दावनलाल वर्मा का 'लो भाई पंचो लो'; रामावतार चेतन का 'धरती की महक'; लक्ष्मी नारायण लाल का 'अन्धा कुआँ'; आनन्द प्रकाश जैन का 'मास्टर जी'; हबीब तनवीर का 'गधे'; नमिता लुम्बा का 'तीन बहनें'; भगवती चरण वर्मा का 'चौपाल' आदि उल्लेखनीय हैं। परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि हमारे एकांकीकारों ने ग्राम्य-जीवन की ओर उतना ध्यान नहीं दिया है, जितना कि उनसे अपेक्षित था। इसका कारण यह है कि हमारे अधिकांश लेखक नागरिक हैं या नागरिक बन गए हैं, इसलिए या तो उन्हें ग्राम्य-जीवन का अनुभव नहीं है, या वे उस पर लिखना उचित नहीं समझते।

वृन्दावन लाल वर्मा के 'कश्मीर का काँटा'; विष्णु प्रभाकर के 'दृष्टि की खोज', 'बाज और कबूतर'; नरेश मेहता के 'सुबह के घण्टे'; विनोद रस्तोगी के 'आजादी के बाद'; चतुरसेन शास्त्री के 'पगध्वनि'; गौरी शंकर मिश्र के 'ठोस आजादी किसे', 'हिन्दूराज पाकिस्तानी स्वप्न कब तक'; लक्ष्मीनारायण लाल के 'सूखा सरोवर' आदि एकांकियों में नवीन राजनीतिक परिस्थिति, राजनीतिज्ञों और विभिन्न राजनीतिक दलों की आन्तरिक स्थिति, स्वार्थपरता, रूढ़िवादिता आदि पर मार्मिक व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रकाश डाला गया है। कुछ एकांकियों में विभाजन से उत्पन्न स्थितियों और समस्याओं का अंकन हुआ है। उपेन्द्रनाथ अश्क के 'अन्धी गली'; विष्णु प्रभाकर के 'इन्सान', 'वीरपूजा', 'विभाजन', 'चन्द्र किरण' आदि ऐसे ही एकांकी हैं। इसके अतिरिक्त कुछ एकांकियों में कांग्रेसियों के भ्रष्ट रूप, राष्ट्रीय एकता, जमींदारों के अत्याचार, राज्यों का विलीनीकरण आदि का भी अंकन हुआ है।

भारत की नौकरशाही स्वतंत्र भारत के लिए एक भयंकर अभिशाप रही है। इसने देश की नई चेतना, प्रगति, समाजवाद आदि के मार्ग में बाधाएँ खड़ी कर देश को निर्बल और असंगठित बनाया है। छोटे से लेकर बड़ा—सभी सरकारी कर्मचारी रिश्वत, शोषण, अन्याय, अत्याचार का ही दामन पकड़े हुए हैं। विष्णु प्रभाकर के

'बीमार', 'शरीर का मोल', 'सीमा रेखा'; सेठ गोविन्ददास के 'बन्द नोट'; वीरेन्द्र वीर के 'भूख' आदि एकांकियों में सरकारी कर्मचारियों की स्थिति और मनोवृत्ति का मार्मिक, यथार्थवादी व्यंग्यपरक चित्रण हुआ है। विष्णु प्रभाकर, मातादीन भगेरिया, रामचरण महेन्द्र, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, सेठ गोविन्द दास, मधुकर खरे, विराज, डा० सुधीन्द्र, राजेन्द्र सक्सेना, जयनाथ नलिन, उदयशंकर भट्ट, रामचन्द्र तिवारी, माकण्डेय, यज्ञदत्त शर्मा आदि ने महात्मा गांधी के जीवन और उनके सिद्धान्तों पर दर्जनों एकांकी लिखे हैं। इस युग में अनेक हास्य-व्यंग-प्रधान एकांकी भी लिखे गए हैं जिनमें हास्य-व्यंग्य मयी शैली में लेखकों, आलोचकों, सम्पादकों, कलाकारों आदि का मार्मिक चित्रण किया गया है। रामगोपाल शुक्ल का 'लेखकों का मर्ज'; उदयशंकर भट्ट के 'नया नाटक', 'विस्फोट'; मार्कण्डेय का 'रूपक'; श्रीकृष्ण मोहन का 'साहित्य के दावेदार'; श्रीकृष्ण के 'सम्पादक की कुर्सी', 'साहित्योद्धारक'; देवराज दिनेश का 'समर्पण'; प्रकाश पंडित का 'अखबार का दफ्तर'; सुदर्शन बब्बर का 'सब चलता है'; रेवतीशरण शर्मा का 'डाक्टर बीबी'; राजेन्द्र प्रकाश शर्मा का 'रेत की दीवार' आदि ऐसे ही हास्य-व्यंग-प्रधान एकांकी हैं।

उपर्युक्त सामाजिक चेतना-प्रधान एकांकियों के अतिरिक्त, इस युग में ऐसे अनेक एकांकी भी लिखे गए जिनमें ऐतिहासिक कथावस्तु को आधार बना एक ओर तो अतीत गौरव का अंकन हुआ है और दूसरी ओर अतीत के माध्यम से वर्तमान का भी रूप प्रस्तुत किया गया है। रामवृक्ष बेनीपुरी के 'अम्बपाली', 'संघमित्रा', 'विजेता', 'कुणाल'; शम्भू दयाल सक्सेना के 'सीताहरण', 'सोने की मूर्त्ति', 'पंचवटी' आदि; गोविन्द शर्मा के 'महारथी कर्ण', 'लक्ष्मण परित्याग'; लक्ष्मीनारायण लाल के 'उर्वशी,' 'महाकाल का मन्दिर' आदि; गणेशदत्त गौड़ 'इन्द्र' के 'लीला चमत्कार', 'भक्तराज-नन्द', 'देवलोक में' आदि; डा० सरनाम सिंह 'अरुण' के 'नन्दिग्राम का तपस्वी', 'परित्याग", 'सत्य का दंड' आदि; डा० कृष्णदत्त भारद्वाज के 'प्रह्लाद', 'वृन्दा', 'मिथिला' आदि; डा० महेन्द्र भटनागर के 'जीमूत वाहन', 'गणनायक विक्रम', 'कवि भोज' आदि; कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के 'तुलसीदास', 'महाकवि चन्द्र', 'भूषण', 'भारतेन्दु शताब्दी' आदि; मातादीन भगेरिया के 'चाणक्य'; डा० दुर्गादत्त मेनन के 'मिलिन्द', 'पीली-आँधी' आदि; हंस कुमार तिवारी के 'मेघदूत', 'कच-देवयानी' आदि; प्रशान्त के 'सती-सुभद्रा', 'जय सोमनाथ', 'खोए हुए भगवान' आदि ऐसे एकांकी हैं जिनकी कथा-वस्तु पौराणिक, ऐतिहासिक और आधुनिक काल के आरम्भ तक से ली गई है। इनमें कुछ ही एकांकीकारों में ऐतिहासिक चेतना का उन्नत रूप मिलता है। दृष्टिकोण भी प्रायः आदर्शवादी ही रहा है।

रेडियो-एकांकी—'आकाशवाणी' से प्रायः एकांकी-नाटकों का प्रसारण होता रहता है। इसके लिए एक विशिष्ट पद्धति के एकांकी लिखे जाते हैं जिनमें सम्पूर्ण कथावस्तु को ध्वनि के माध्यम से प्रस्तुत करना पड़ता है, इसलिए इन्हें 'ध्वनि-एकांकी' भी कहते हैं। हिन्दी के पुराने और नए—दोनों ही पीढ़ी के एकांकीकारों ने रेडियो-

एकांकी लिखे हैं। पुराने एकांकीकारों में से डा० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवती चरण वर्मा, जगदीश चन्द्र माथुर, गिरिजाकुमार माथुर, अमृतलाल नागर, हरिकृष्ण प्रेमी; तथा नए एकांकीकारों में से विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे, चिरंजीत, विश्वम्भर मानव, सत्य प्रकाश सेंगर, रामपूजन मलिक, कृष्ण-किशोर श्रीवास्तव, स्वदेश कुमार, रामचन्द्र तिवारी, रेवतीसरन शर्मा, राजाराम शास्त्री, रामसरन शर्मा, अनिल कुमार आदि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-नाटक-साहित्य के उपर्युक्त विवरण और विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है, कि हिन्दी-नाटक समय के साथ प्रगति करते हुए आगे बढ़ा है। परन्तु हिन्दी में रंग-मंच को अनुन्नत दशा के कारण नाटकों को अभिनीत करने के लिए अपेक्षित प्रोत्साहन का अभाव रहा है। इसी कारण साहित्यकारों की रुचि, बहुत समय तक नाटक-रचना की ओर अपेक्षित रूप में नहीं रम सकी थी। एकांकियों के प्रचलन के उपरान्त जब हिन्दी-रंगमंच को उन्नत करने के प्रयत्न आरम्भ हुए तो एकांकियों की बाढ़ सी आ गई। वस्तुतः एकांकी का सम्पूर्ण आकर्षण उसके अभिनीत होने में ही है। रंगमंच की उन्नति के साथ-साथ एकांकियों के शिल्प आदि में भी परिवर्तन होने आरम्भ हो गए। संकलन-त्रय का निर्वाह आवश्यक नहीं माना जाने लगा। एक पात्रीय, बहु नायक वाले एकांकी आदि के नए-नए प्रयोग होने लगे। सूत्रधार का प्रयोग भी कुछ नाटकों में पुनः प्रचलन पा गया। कुछ ऐसे लघु-नाटक लिखे गए जो न अनेकांकी बड़े नाटकों की कोटि में आते हैं और न एक अंक वाले एकांकी नाटक की कोटि में, यद्यपि इनमें होता केवल एक ही अंक है; जैसे—उपेन्द्रनाथ अश्क के 'अंजो दीदी', 'कैद', 'उड़ान' आदि। इसी प्रकार नाटक के प्रस्तुतीकरण आदि के क्षेत्र में भी नए-नए प्रयोग हो रहे हैं।

आजकल के नाटक की एक विशेष प्रवृत्ति यह मिलती है कि नाटककार नाटक लिखते समय रंगमंच की सुविधाओं का विशेष ध्यान रखने लगे हैं। इस प्रकार नाटक और रंगमंच की दूरी तेजी से घटती जा रही है। साहित्य की अन्य विधाओं के समान हिन्दी-नाटक भी जीवन की यथार्थता और उसकी विषमताओं के प्रति पूर्ण सजग है। उसमें युग-जीवन प्रतिबिम्बित हो रहा है।

आलोचना

भारतीय आलोचना का पूर्व रूप

'आलोचना' साहित्य को सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत और सामाजिक रूप प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। वह साहित्य के मूल तत्त्वों की खोज और उनका निर्धारण कर साहित्यकारों को दिशा-दृष्टि प्रदान कर शुभ और श्रेष्ठ साहित्य-रचना की प्रेरणा देती है। आलोचना का मूल लक्ष्य यही माना जाता है। प्राचीन भारतीय आलोचना के जन्म और विकास के मूल में यही लक्ष्य निहित रहा है। संस्कृत आलोचना-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय आरम्भ से अन्त तक काव्य-तत्त्व के अनुसन्धान की प्रबल आकांक्षा से ही प्रेरित और चालित रहे हैं। इसी कारण उनमें व्यक्ति-विशेष की रचनाओं के परीक्षण और मूल्यांकन की प्रवृत्ति न मिलकर शुद्ध सैद्धान्तिक-विवेचन का ही प्राधान्य रहा है। संस्कृत समीक्षा-शास्त्र के विभिन्न विद्वान् विभिन्न युगों में काव्य की आत्मा अर्थात् काव्य के मूल-तत्त्व के परीक्षण और विवेचन में ही रत रहे थे। विभिन्न विद्वानों ने रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य आदि को ही भिन्न-भिन्न रूपों में काव्य की आत्मा घोषित किया था। संस्कृत में इस विवेचन की बड़ी लम्बी, समृद्ध और वैज्ञानिक परम्परा रही है। संस्कृत में इस विवेचन ने एक स्वतन्त्र साहित्य-विधा का रूप धारण कर लिया था, जिसे 'काव्य-शास्त्र' या 'अलंकार-शास्त्र' कहा जाता है।

हिन्दी-साहित्य के शृङ्गार काल तक हिन्दी-आलोचना विशुद्ध रूपेण संस्कृत-काव्य-शास्त्र की ही अनुगामिनी रही थी। किसी भी भाषा के साहित्य में आलोचना या काव्य-शास्त्र का उदय उस समय होता है जब वह साहित्य विकास की आरम्भिक मंज़िलों को पार कर प्रौढ़ता और समृद्धि की ओर अग्रसर होने लगता है। इसी कारण हिन्दी-साहित्य में हमें आलोचना का उदय भक्तिकाल के मध्यान्ह में और विकास शृङ्गार काल में होता हुआ दिखाई पड़ता है। इन कालों में हिन्दी-आलोचना सिद्धान्त रूप में संस्कृत के विभिन्न समीक्षा-सम्प्रदायों तक और प्रभाव और विवेच्य-क्षेत्र की

दृष्टि से अपने समकालीन साहित्य तक ही सीमित रही थी। उसका रूप आलोचना के आधुनिक रूप से नितान्त भिन्न और सीमित था। वस्तुतः उसे संस्कृत-काव्यशास्त्र का अनुवाद मात्र ही मानना चाहिए और वह भी बड़े उथले रूप में। उसका रूप उथला तब लगता है, जब हम आधुनिक आलोचना-शास्त्र के सन्दर्भ में या उसकी तुलना में उसका मूल्यांकन करने बैठते हैं। अपने युगों में तो वह पर्याप्त लोकप्रिय रही थी। बीसवीं सदी के आरम्भ तक अनेक नए कवि इन मध्यकालीन काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन कर कविता लिखने का अभ्यास करते रहे थे।

वस्तुतः आलोचना विवेचनात्मक होती है, और विवेचन पद्य के माध्यम से सफलतापूर्वक होना असम्भव है। मध्य युग में हिन्दी-गद्य लिखने का अधिक प्रचलन नहीं था, इसी कारण उस युग में आलोचना का विकास नहीं हो सका। श्रृङ्गार-काल में लक्षण-ग्रन्थों के रूप में रस, अलंकार, छन्द, शब्द-शक्ति, नायक-नायिका के विभिन्न भेदोपभेदों का वर्गीकरण करने तक ही आलोचना का रूप सीमित रहा। उस समय निर्माण की सुघरता, विभाव-अनुभाव आदि की यथाक्रम योजना, विभिन्न संचारी-व्यभिचारी भावों के नियमबद्ध निरूपण आदि ही काव्य के मुख्य विवेच्य विषय थे। काव्य-समीक्षा इन्हीं की रचनात्मक बारीकियों और पद्धति-रक्षा के उपक्रमों तक ही सीमित रही। श्रृङ्गार-काल में प्रधान रूप से दो प्रकार की समीक्षा-पद्धतियाँ प्रयुक्त होती रहीं—अलंकारवादी, और रसवादी। केशव आदि ने अलंकारों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान कर उनका विस्तारपूर्वक लक्षण-उदाहरण देते हुए विवेचन किया। चिन्तामणि, मतिराम, देव, भिखारीदास, प्रतापसाहि आदि ने रस को प्रमुखता दी। इन दोनों ही वर्गों में मौलिक समीक्षा के स्थान पर संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय आचार्यों की मान्यताओं का अनुवाद करना और अपने युग की काव्य-रचनाओं का आकलन करने की प्रवृत्ति ही प्रधान रही। इसमें मौलिक विवेचन के आधार पर नए काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रणयन नहीं हो सका। परन्तु फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उस युग में इस प्रवृत्ति का बहुत जोर रहा था।

भारतेन्दु-कालीन आलोचना : नवीन आलोचना का प्रयोग-काल

हिन्दी-गद्य की अन्य विधाओं के समान आधुनिक आलोचना का जन्म और आंशिक विकास भारतेन्दु-युग में ही हुआ था। भारतेन्दु इसके जन्मदाता थे। उन्होंने 'नाटक' नामक एक विस्तृत निबन्ध लिखकर, जो सन् १८८३ में प्रकाशित हुआ था, सैद्धान्तिक समीक्षा का श्रीगणेश किया। नया युग नए प्रकार के नाटकों की माँग कर रहा था, इसलिए संस्कृत नाट्य-शास्त्र के पुराने नियमों के अनुसार नाटक लिखना उचित नहीं रहा था। इसी कारण अपने इस निबन्ध में भारतेन्दु ने प्राचीन संस्कृत और नवीन अंग्रेजी एवं बँगला के नाट्य-सिद्धान्तों का समन्वय कर नवीन युगानुरूप नए नाट्य-सिद्धान्तों का विकास करने की माँग उठाई थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि—"नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही

परित्याग करें, यह आवश्यक नहीं ।····किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे सम्प्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य-काव्य लिखना युक्ति-संगत नहीं बोध होता ।'' इसी कारण उन्होंने नवीन नाटकों में संस्कृत नाट्य-शास्त्र द्वारा निर्धारित अर्थ-प्रकृतियों, सन्धियों तथा अन्य रूढ़ियों आदि का पालन करना व्यर्थ घोषित किया था । आश्चर्य और दुख इस बात का है कि हिन्दी-साहित्य के अधिकांश इतिहास-कारों ने भारतेन्दु के इस निबन्ध की ओर ध्यान नहीं दिया है । डा० श्यामसुन्दर दास ने तो इस निबन्ध को भारतेन्दु की रचना ही स्वीकार नहीं किया था । यह निबन्ध 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' में संग्रहीत है । इस प्रकार भारतेन्दु हिन्दी-आलोचना के जनक सिद्ध होते हैं।

इसी काल में साहित्यिक कृतियों की आलोचना का आरम्भ लाला श्रीनिवास-दास के नाटक 'संयोगिता स्वयम्वर' को लेकर हुआ । चौधरी बदरी नारायण प्रेमघन ने अपनी पत्रिका 'आनन्द कादम्बिनी' में और पं० बालकृष्ण भट्ट ने अपने मासिक-पत्र 'हिन्दी प्रदीप' में 'संयोगिता स्वयम्वर' की आलोचना की । प्रेमघन जी ने अपनी गम्भीर शैली में इस नाटक के गुण-दोषों पर प्रकाश डाला और भट्ट जी ने अपनी सरस, भावात्मक और व्यंग्यात्मक शैली में, कहीं-कहीं नाटककार को व्यक्तिगत रूप से सम्बोधित करते हुए कटु आलोचना की । यह व्यावहारिक समीक्षा का रूप था । इस युग की नवीन साहित्यिक गतिविधियों ने साहित्यिक आलोचना की प्रेरणा उत्पन्न कर दी थी । इस काल के लगभग सभी आलोचक प्रधान रूप से पत्रकार थे, इसलिए उनकी आलोचना में पत्रकारिता का सतही रूप ही उभर सका । अभी तक शृङ्गार-कालीन काव्य-शास्त्रीय आलोचना का प्रभाव भी कार्य कर रहा था । परन्तु साहित्य के नए रूप आलोचना के नए प्रतिमानों की माँग कर रहे थे । इस प्राचीन और नवीन के संघर्ष ने आलोचना के नए रूप को तो उभरने का अवसर दिया, परन्तु अभी नई आलोचना के निमित्त शास्त्रीय नियमों का निर्माण होना दूर की बात थी । भिन्न-भिन्न समीक्षक अपनी-अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओं के गुण-दोषों का उद्घाटन कर रहे थे । अनुवादों की परीक्षा के लिए भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों के अतिरिक्त भावों की सम्यक् अवतारणा का प्रश्न भी समीक्षकों के सम्मुख था । वस्तुतः यह युग हिन्दी की नवीन समीक्षा का प्रयोग-काल था । इसलिए इसे भावी समालोचना का प्रारम्भिक रूप मानना चाहिए । इस समीक्षा के प्रवर्त्तकों में भारतेन्दु, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि प्रमुख थे । इस युग की समीक्षा का एक उदाहरण भट्ट जी द्वारा की गई 'संयोगिता स्वयम्वर' की समीक्षा के एक अंश के रूप में प्रस्तुत है—

''लाला जी यदि बुरा न मानिए तो एक बात आप से धीरे से पूछें, वह यह कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे, क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो

गया।....कृपा करके बिचारी निरपराधिनी कवित्व-शक्ति के भौंव का प्राण ऐसी निर्दयता के साथ न लीजियेगा।...लाला जी ! कभी आपने इस बात पर भी ध्यान दिया है कि स्त्रियों की कितनी मृदु प्रकृति होती है और कितनी लज्जा उनमें होती है।"

भारतेन्दु-युग के उत्तर-काल में हिन्दी-समीक्षा ने तनिक गम्भीर और सैद्धान्तिक रूप धारण कर लिया था। समीक्षा के नए प्रतिमानों की स्थापना के प्रति समीक्षकों का ध्यान जाने लगा था। आलोचना के इस नए उभरते रूप पर अंग्रेजी-समीक्षा का प्रभाव था। गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने समीक्षा के विभिन्न पक्षों और रूपों का विवेचन करते हुए 'समालोचना' नामक एक पुस्तक लिखी और अम्बिकादत्त व्यास ने अपनी 'गद्य-काव्य मीमांसा' नामक पुस्तक में गद्य की नई विधाओं की विवेचना की।

द्विवेदी-युगीन आलोचना : परिचयात्मक रूप

बीसवीं सदी के आरम्भ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-आलोचना को पर्याप्त विकसित किया। उन्होंने अग्निहोत्री और व्यास जी की पुस्तकाकार आलोचना-परम्परा में 'कालिदास की निरंकुशता', 'नैषध चरित चर्चा', 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा', 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' नामक ग्रन्थ लिखकर संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध कवियों और हिन्दी में किए गए उनके अनुवादों की आलोचना की। 'हिन्दी-कालिदास की आलोचना' में लाला सीताराम द्वारा किए गए कालिदास के नाटकों के अनुवाद को लेकर उसके भाषा तथा भाव-सम्बन्धी दोष विस्तारपूर्वक दिखाए। द्विवेदी जी की अन्य आलोचनाएँ 'विशेषता परिचायक' थीं। इनमें हिन्दी-पाठकों को संस्कृत के कवियों और उनकी कविता का परिचय-मात्र कराया गया था। द्विवेदी जी मूलतः संशोधक और सुधारक थे। इसलिए उनका ध्यान भाषा-सम्बन्धी व्यतिक्रमों पर ही अधिक रहता था। इसी कारण द्विवेदी जी की ये समीक्षाएँ समीक्षा का गम्भीर रूप प्रस्तुत करने में असमर्थ थीं। शुक्लजी ने इन आलोचनाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि—"इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्ले वालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए, स्वतन्त्र समालोचना के रूप में नहीं।"

द्विवेदी जी के उपर्युक्त आलोचनात्मक ग्रन्थों को महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं माना जा सकता, यह सत्य है। परन्तु उन्होंने 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में हिन्दी की नई प्रकाशित पुस्तकों की जो आलोचना की थी, भाषा-व्याकरण आदि से सम्बन्धित जो टिप्पणियाँ लिखीं थीं, उनका अपना विशिष्ट ऐतिहासिक मूल्य रहा है। आचार्य शुक्ल ने द्विवेदी जी के इस कार्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गम्भीर साहित्य-समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा

आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी-साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊँट-पटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।"

आलोचना को तुलनात्मक रूप प्रदान करने में द्विवेदी जी के समकालीन मिश्रबन्धुओं का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने 'हिन्दी नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ में 'देव' को हिन्दी का सबसे बड़ा कवि घोषित किया था। उनकी इस घोषणा ने हिन्दी के आलोचकों का ध्यान हिन्दी के पुराने कवियों के प्रति आकर्षित किया। इससे पूर्व द्विवेदी जी आदि संस्कृत के कवियों का ही मूल्यांकन करने में व्यस्त रहे थे। मिश्रबन्धुओं द्वारा की गई इस घोषणा ने उस लम्बे विवाद को जन्म दिया जो 'देव बड़े कि बिहारी' विवाद के नाम से काफी दिनों तक चलता रहा। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर एक सुन्दर समालोचनात्मक ग्रन्थ लिखा जिसमें बिहारी को देव से श्रेष्ठ सिद्ध करने के साथ-साथ सतसई-परम्परा का उद्घाटन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी के अन्य कवियों के समान भाव वाले पदों से बिहारी के दोहों की तुलना कर 'तारतम्यक आलोचना' की प्रवृत्ति को जन्म दिया। शर्मा जी की यह आलोचना 'बिहारी सतसई की भूमिका' के नाम से प्रकाशित हुई थी।

इसके उत्तर में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक ग्रन्थ लिखकर, देव और बिहारी का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए देव को बिहारी से श्रेष्ठ सिद्ध किया। इस ग्रन्थ में बड़ी 'शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ' इन दोनों कवियों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए साहित्यिक विवेचन किया गया है। शुक्लजी इस आलोचना को पुरानी परिपाटी की सुन्दर आलोचना मानते हैं। मिश्र जी की इस आलोचना के उत्तर में लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक लिख बिहारी को देव से श्रेष्ठ सिद्ध किया। इस विवाद ने यद्यपि लम्बा रूप धारण नहीं किया, परन्तु इससे दो लाभ हुए। **पहला**—हिन्दी के पुराने कवि, विशेष रूप से शृंगारकालीन कवि समीक्षकों के विवेच्य विषय बन गए और उनके साहित्य का गम्भीर अध्ययन करने की प्रवृत्ति बढ़ी। **दूसरा**—हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना को प्रोत्साहन मिला, भले ही उसका स्तर अधिक गम्भीर और सन्तुलित नहीं रहा। परन्तु इस आलोचना का सबसे बड़ा दोष यह था कि यह शृंगारकालीन साहित्य तक ही सीमित होकर रह गई। इन आलोचकों ने भक्ति-कालीन साहित्य की ओर ध्यान तक नहीं दिया। आचार्य द्विवेदी और उनके सम-कालीन दूसरे वर्ग के इन आलोचकों में बड़ा अन्तर था। द्विवेदी जी शृंगार-परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती थे। परन्तु यह दूसरा वर्ग शृंगार-

परम्परा के साहित्य को ही एकमात्र श्रेष्ठ साहित्य मान, उसी के विवेचन में व्यस्त बना रहा।

इस काल में आलोचना के विकास में दो पत्रिकाओं का विशेष योगदान रहा—'सरस्वती' तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा की मुख-पत्रिका 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका'। इनमें पुस्तक-समीक्षा या पुस्तक-परिचय के साथ-साथ गवेषणात्मक और सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी गम्भीर लेखों का प्रकाशन होता रहता था। 'इन्दु', 'समालोचक' आदि पत्र-पत्रिकाओं में भी आलोचना के नए-नए रूप उभर रहे थे। इसी समय शिक्षाक्रम में हिन्दी को उच्चतम कक्षा एम० ए० में स्थान मिला। इस उच्च पाठ्य-क्रम में आलोचना भी एक विषय रखा गया। परन्तु उस समय तक हिन्दी में आलोचना के कोई निश्चित मानदंड नहीं बन पाए थे, इसलिए हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा-सम्बन्धी कोई उच्चकोटि का उपादेय ग्रन्थ भी नहीं बना था। उस समय इस विषय से सम्बन्धित केवल एक ही ग्रन्थ उपलब्ध था—गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना'। इसमें नव-प्रकाशित पुस्तकों की चर्चा के रूप में समालोचना, हिन्दी में समालोचना-प्रथा, समालोचक का ग्रन्थ-सम्बन्धी ज्ञान, सहृदयता, सत्यता आदि पर प्रकाश डालते हुए बीच-बीच में अंग्रेजी समालोचना-पद्धति का भी परिचय दिया गया था। परन्तु फिर भी यह गन्थ नए पाठ्य-क्रम की माँग को पूरा करने में असमर्थ था।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' लिखकर इस अभाव को पूरा करने का सर्वप्रथम सफल प्रयास किया। यद्यपि इस ग्रन्थ पर अंग्रेजी के हडसन और बर्न्सफील्ड आदि के सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी ग्रन्थों का गहरा प्रभाव रहा, परन्तु फिर भी लेखक हिन्दी-आलोचना का सैद्धान्तिक रूप प्रस्तुत करने में सफल हुए। उन्होंने इसके साथ ही भाषा-विज्ञान के अध्ययनार्थ 'भाषा-विज्ञान' और 'भाषा रहस्य' तथा हिन्दी साहित्य के अध्ययन के लिए 'हिन्दी-साहित्य' नामक ग्रन्थ लिखकर उच्च पाठ्य-क्रम के अभाव को बहुत कुछ दूर करने में सफलता पाई। इसके अतिरिक्त उनके समकालीन प्रसिद्ध विद्वान् पदुमलाल पन्नालाल बख्शी ने 'विश्व-साहित्य' लिखकर पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के प्रचलित मतों का दिग्दर्शन कराते हुए पाश्चात्य-साहित्य से हिन्दी पाठकों का परिचय कराया। बाबू श्यामसुन्दर दास ने तुलसीदास और भारतेन्दु पर गवेषणात्मक आलोचनाएँ लिखीं, जिनमें भारतीय और योरोपिय समीक्षा-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वित रूप प्रस्तुत हुआ। समष्टि रूप से यह हिन्दी-समीक्षा की आरम्भिक और नव-चेतन अवस्था थी, जिसमें आलोचना के नए मानदंड स्थापित करने की महती आकांक्षा व्यक्त हो रही थी। यह आलोचना द्विवेदी जी और श्रृंगार-कालीन साहित्य के आराधकों की परिचयात्मक और गुण-दोष प्रणाली उद्घाटक आलोचना-पद्धति को बहुत पीछे छोड़ आगे बढ़ आई थी। अब उसमें मौलिक और गम्भीर चिन्तन के लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रादुर्भाव : क्रान्तिकारी परिवर्तन

हिन्दी-आलोचना की उपर्युक्त स्थिति में, इस क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का उदय हुआ। उनके इस क्षेत्र में प्रवेश करते ही हिन्दी-आलोचना के सशक्त रूप और उसकी भावी सम्भावनाओं की झलक मिलने लगी। उनकी गम्भीर चिन्तन-प्रधान आलोचनाओं ने नए युग-द्वार को उन्मुक्त किया। उन्होंने अपनी आलोचनाओं द्वारा समीक्षा के नवीन मानदंडों और सही अर्थों में साहित्य-समीक्षा-पद्धति की स्थापना की। उनकी समीक्षा के दो क्षेत्र रहे—(१) साहित्य की धाराओं का, (२) प्रसिद्ध रचनाओं का। प्रथम में प्रधानतः उनका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' आता है, और द्वितीय में प्रधानतः तुलसी, सूर तथा जायसी की समीक्षाएँ। इसके अतिरिक्त शुक्लजी ने दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य और किए। **पहला**, फुटकर निबन्धों के रूप में साहित्य से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं—कविता क्या है, साधारणीकरण, रहस्यवाद, रसात्मक-बोध, लोकमंगल आदि पर मौलिक और गम्भीर चिन्तन से पुष्ट और समर्थित अपने विचार प्रस्तुत किए। **दूसरा**, प्राचीन कवियों की रचनाओं के प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर सुसंकलित और सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित करवाए।

साहित्य का इतिहास-लेखन शुक्लजी द्वारा ही सबसे पहले प्रौढ़ रूप में हो सका। इस इतिहास में उन्होंने तथ्य-आकलन से भी अधिक महत्त्व प्रवृत्तियों का विवेचन करने को दिया। यह इतिहास-लेखन की नई पद्धति थी। इसमें शुक्ल जी उपलब्ध-सामग्री को अपने सैद्धान्तिक विवेचन द्वारा व्याख्यायित करते हुए आगे बढ़े हैं। स्थान-स्थान पर उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्त, अपने समकालीन लेखकों द्वारा की गई समीक्षाओं आदि का खंडन-मंडन करते हुए एक निश्चित दृष्टिकोण के आधार पर हिन्दी-साहित्य के विभिन्न कालों में रचित साहित्य का मूल्यांकन किया है। इसलिए इस इतिहास में इतिहास और समीक्षा-सिद्धान्तों का परस्पर घुला-मिला अत्यन्त परिष्कृत और प्रौढ़ रूप मिलता है। सूर, तुलसी, जायसी आदि भक्ति-युगीन प्रमुख कवियों का विस्तृत सांगोपांग विवेचन कर एक ओर तो उन्होंने मानवतावादी, उदात्त भक्ति-साहित्य की महत्ता स्थापित की और दूसरी ओर रस, अलंकार आदि को मनोवैज्ञानिक दीप्ति प्रदान की। उन्होंने तुलसी और जायसी के श्रेष्ठ काव्य-सौन्दर्य का उद्घाटन करते हुए रस और अलंकार का विन्यास कर रस-पद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया। सूर-काव्य की समीक्षा करते हुए मुक्तक की तुलना में प्रबन्ध-काव्य की महत्ता स्थापित की। रहस्यवाद का विवेचन करते हुए रहस्यवाद-सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों का निराकरण किया और कविता की व्याख्या करते हुए उसके विभिन्न पक्षों की सारगर्भित सैद्धान्तिक विवेचना की।

अपनी इन विभिन्न प्रकार की आलोचनाओं द्वारा उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी उच्च मानसिक भूमि पर की, कि लोग यह भूल गए कि रस और अलंकारों का दुरुपयोग भी हो सकता है। आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी ने सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य

यह किया कि उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों के उपयोगी तत्त्वों का सन्तुलित समन्वय कर समीक्षा के नए मानदंड प्रस्तुत किए। इन आलोचनाओं की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि ये व्यक्तिगत रुचि पर आधारित न होकर सर्वमान्य साहित्यिक सिद्धान्तों पर आधारित थीं। इनके इसी महत्त्व को लक्ष्य कर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा था कि—"हिन्दी-समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में शुक्ल जी ने युग-प्रवर्त्तक का कार्य किया, वह हिन्दी के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा।" शुक्ल जी की ये आलोचनाएँ इतनी सशक्त, गम्भीर और प्रभावशाली थीं कि आलोचना के सम्पूर्ण इतिहास में उनकी मिसाल नहीं मिलती। उन्होंने, उस समय तक अमहत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले जायसी को अपनी आलोचना द्वारा ऊपर उठा एकाएक सूर और तुलसी के समकक्ष आसीन करा दिया। उनके द्वारा आलोचित शृंगार-कालीन कवि अभी तक नहीं उभर पाए हैं। शुक्लजी आदर्शवादी थे। तुलसी-साहित्य उनके साहित्य का आदर्श मानदंड था। उसके अनुसार जो साहित्य उनकी कसौटी पर खरा नहीं उतरा उसकी उन्होंने अत्यन्त निर्मम भाव से कटु आलोचना की। इसी कारण उनसे अनेक स्थानों पर अन्याय भी हुआ है। शुक्लजी आधुनिक साहित्य के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सके थे। आधुनिक काव्य से सम्बन्धित उनके अनेक निष्कर्षों से सर्वत्र सहमत होना सम्भव नहीं है। उनकी अनेक मान्यताओं और सिद्धान्तों से भी सर्वदा सहमत होना सहज नहीं है। मगर फिर भी शुक्लजी प्रभावित करते हैं और गहरे रूप से सोचने और मनन करने के लिए बाध्य कर देते हैं। उनके उपरान्त हिन्दी-आलोचना में ऐसे सशक्त और अमित रूप से प्रभावशाली व्यक्तित्व के फिर दर्शन नहीं हुए। उन्होंने विकासोन्मुख हिन्दी-आलोचना का पथ-प्रदर्शन करते हुए उसे गम्भीर, प्रौढ़ और प्रभावशाली रूप प्रदान किया था। उनसे पहले हिन्दी में आलोचना और आलोचक को विशिष्ट महत्त्व नहीं प्रदान किया जाता था। इन्हीं कारणों की वजह से उन्हें आलोचक-सम्राट मान लिया गया था। डा० नगेन्द्र ने उनके सम्बन्ध में लिखा है कि—"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कदाचित् यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है।"

समकालीन आलोचना

शुक्ल जी के आलोचना-साहित्य ने हिन्दी में गम्भीर विवेचनात्मक आलोचना को पर्याप्त प्रोत्साहित और विकसित किया। अनेक विद्वान् लेखकों ने नए-पुराने कवियों की विस्तृत आलोचनाएँ लिखीं। इन आलोचकों में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्ण शंकर शुक्ल, रामकृष्ण शिलीमुख, चन्द्रवली पांडेय, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' आदि एक प्रकार से शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति को ही अपना कर आलोचना-जगत में प्रविष्ट हुए। कुछ आलोचकों ने मीरा, केशव, पद्माकर आदि प्राचीन तथा कुछ ने मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, प्रसाद, प्रेमचन्द आदि नवीन साहित्य-साधकों के साहित्य की

सारगर्भित आचोचनाएँ लिखीं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्णशंकर शुक्ल आदि ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालों पर नए ढंग से लिखते हुए अपनी अनेक ऐसी मान्यताएँ स्थापित कीं, जो शुक्लजी की मान्यताओं की विरोधी थीं। शुक्ल जी के जीवन-काल में ही आलोचना नए-नए प्रभावों को अपनाती हुई उनकी समीक्षा-पद्धति से हटने लगी थी।

शुक्लोत्तर समीक्षा-पद्धतियाँ और उनका विकास

शुक्ल जी के उपरान्त हिन्दी-समीक्षा बहुमुखी होकर आगे बढ़ी। साहित्य की नवीन गतिविधियाँ, देश की तेजी से परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों तथा विदेशी साहित्य एवं विचारधाराओं के प्रभाव के कारण हिन्दी में कई प्रकार की समीक्षा-पद्धतियों का आरम्भ हुआ। यह नया साहित्य शुक्लजी की आदर्शवादी समीक्षा-परिधि में समा नहीं पाता था। हम शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति का विवेचन करते हुए पीछे कह आए हैं कि आधुनिक साहित्य का युगानुरूप मूल्यांकन करने में शुक्लजी की समीक्षा समर्थ और सक्षम नहीं थी। आचार्य वाजपेयी ने शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति की इस अक्षमता का कारण बताते हुए लिखा है कि—"उन्होंने (शुक्लजी ने) बदलती हुई राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों तथा उनमें विकसित होने वाली नई प्रतिभाओं का वैशिष्ट्य परखने की चेष्टा नहीं की। उनका समीक्षादर्श अतिशय व्यापक और सर्वमान्य अवश्य था, परन्तु उसमें परिवर्तनशील वस्तु-जगत और उसमें उद्भावित होने वाले साहित्य-रूपों और प्रतिक्रियाओं को ग्रहण करने की वस्तुमुखी प्रवृत्ति नहीं थी।....वह विशिष्ट रचनाओं और युगानुरूप काव्य-प्रवृत्तियों के आकलन के लिए पूर्ण सक्षम नहीं है। दूसरे शब्दों में शुक्लजी का साहित्यादर्श स्थिर और अटूट है, गतिशील और विकासोन्मुख नहीं।" सम्भवतः शुक्लजी इसी कारण छायावादी-काव्य के प्रति उचित न्याय नहीं कर सके थे। वस्तुतः शुक्ल जी के आलोचना-सिद्धान्त शास्त्रीयता से इतने अधिक मर्यादित थे कि उनके द्वारा न तो नए साहित्य के रूपगत और वस्तुगत सौन्दर्य के मूल्यांकन का रूप स्पष्ट हो सका और न सृजनात्मक प्रेरणा ही मिली। उनकी अतिशय मर्यादा ने वैचारिक जगत के नए प्रभावों को स्वीकार करने में विरक्ति दिखाई थी। इसी कारण परवर्ती हिन्दी-समीक्षा शुक्ल जी से भिन्न नए विचारों और साहित्यिक प्रतिमानों का आधार ग्रहण कर आगे बढ़ी।

शुक्लोत्तर-युग में प्रधान रूप से चार प्रकार की आलोचना-पद्धतियाँ विकसित हुईं: १—शुक्लजी की मर्यादावादी शास्त्रीय पद्धति; २—फ्रॉयड, एडलर, युंग के मनोविश्लेषण शास्त्र से प्रभावित मनोवैज्ञानिक पद्धति; ३—मार्क्स के विचारों और नई समाजवादी चेतना से उद्गमित प्रगतिवादी पद्धति; और ४—वैयक्तिक रुचि पर आधारित प्रभाववादी पद्धति। शुक्लजी के उपरान्त उपर्युक्त विभिन्न समीक्षा-पद्धतियाँ विकास पाती रहीं। इनमें से मनोवैज्ञानिक और प्रभाववादी समीक्षा-पद्धतियाँ व्यक्तिवादी अर्थात् कलावादी रहीं तथा प्रगतिवादी और शास्त्रीय पद्धति जीवनपरक और

समाजवादी रहीं । इनमें से मनोवैज्ञानिक और प्रगतिवादी पद्धतियाँ ही अधिक सशक्त और व्यापक रूप धारण कर आगे बढ़ीं । इन दोनों के पारस्परिक संघर्ष ने आलोचना के नए मानदण्डों का निर्माण किया ।

शास्त्रीय सैद्धान्तिक आलोचना

सैद्धान्तिक आलोचना में समस्त काव्यांग, काव्य-तत्त्व, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य के भेदोपभेद, काव्य के लक्षण, स्वरूप, प्रक्रिया, पद्धतियाँ, शिल्प, साहित्य-मूल्यांकन के विविध सिद्धान्त तथा इनके आधार पर नए-पुराने साहित्य की विविध कृतियों, प्रवृत्तियों और धाराओं का सैद्धान्तिक धरातल पर विवेचन और मूल्यांकन किया जाता है । शुक्लोत्तर-युग में इस क्षेत्र में प्रभूत कार्य हुआ है । इस युग में इस आलोचना के दो रूप मिलते हैं । **पहला**, परम्परागत आलोचना-सिद्धान्तों को ही प्रमाण्य मान उनके आधार पर की गई आलोचना । **दूसरा**, परम्परागत सिद्धान्तों के उपयोगी तत्त्वों और नवीन आवश्यकताओं और कलारुचियों के अनुसार नए युगपरक तत्त्वों का समन्वित रूप प्रस्तुत करते हुए की गई आलोचना और मूल्यांकन । पहला रूप अधिकांशतः परम्परा प्रेमी और रूढ़िवादी तथा दूसरा विकासशील रहा है । इन दोनों रूपों ने मिलकर साहित्य के नए प्रगतिशील सिद्धान्तों की स्थापना करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है । नए तत्त्व-चिन्तकों ने 'नई कहानी', 'नई कविता' आदि संज्ञाओं के ही समान अपनी नई सैद्धान्तिक आलोचना को 'नई आलोचना' संज्ञा प्रदान कर उसे परम्परा-विरुद्ध और नितान्त नवीन और मौलिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परन्तु गहराई से देखने पर इसके मूल में भी नवीन विदेशी आलोचना साहित्य का प्रभाव क्रियारत दिखाई पड़ता है । इसी कारण इसकी भाषा इतनी दुरूह और जटिल हो उठी है कि वह पुराने लोगों को ही नहीं अपितु बहुत से नए पाठकों की भी समझ में नहीं आती ।

सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में पहला महत्त्वपूर्ण कार्य—संस्कृत के प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के गहन अध्ययन और हिन्दी-रूपान्तर के रूप में हुआ है । आचार्य विश्वेश्वर ने डा० नगेन्द्र के निर्देशन में इन दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है । संस्कृत के काव्यादर्श, काव्यालंकार सूत्र, ध्वन्यालोक, वक्रोक्ति जीवितम्, काव्य-मीमांसा, काव्य प्रकाश, चन्द्रालोक, साहित्य-दर्पण, कुवलयानन्द, औचित्य विचार-चर्चा, नाट्यशास्त्र, नाट्य दर्पण, अभिनव भारती, रस गंगाधर, आदि प्रसिद्ध काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है । इसके साथ-साथ पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों पर भी शोधपरक ग्रन्थ लिखे गए हैं जिनमें डा० भगीरथ दीक्षित का 'समीक्षालोक', डा० देवराज का 'रोमान्टिक साहित्य-शास्त्र', डा० लीलाधर गुप्त का 'पाश्चात्य-साहित्यालोचन के सिद्धान्त' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं । इसके अतिरिक्त हिन्दी में कुछ ऐसे भी ग्रन्थ लिखे गए जिनमें प्राचीन भारतीय एवं पाश्चात्य तथा आधुनिक हिन्दी-समीक्षा के नवीन सिद्धान्तों का समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया । इनमें बाबू

गुलाबराय के 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इस काल में कुछ ऐसे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे गए जिनमें प्राचीन और नवीन काव्य-सिद्धान्तों का प्राचीन तथा नवीन—दोनों ही प्रकार के दृष्टिकोणों के आधार पर विवेचन प्रस्तुत किया गया। पं० रामदहिन मिश्र का 'काव्य दर्पण', आचार्य बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य शास्त्र', आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का 'वाङ्मय विमर्श', डा० रसाल का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास', डा० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', डा० नगेन्द्र का 'रीतिकाव्य की भूमिका', डा० राकेश गुप्त का 'नायक-नायिका भेद', डा० सत्यदेव चौधरी का 'रीतिकाल के प्रमुख आचार्य', डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित का 'रस-स्वरूप : सिद्धान्त और विश्लेषण', डा० नगेन्द्र का 'रस-सिद्धान्त', डा० राममूर्ति त्रिपाठी का 'लक्षणा का विषय-विस्तार', डा० गोविन्द त्रिगुणायत का 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त', आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का 'आधुनिक साहित्य', डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु के 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त', डा० हरद्वारी लाल शर्मा का 'सौन्दर्य शास्त्र', डा० भोलाशंकर व्यास का 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनमें काव्य के प्राचीन और नवीन सिद्धान्तों का विवेचन, समन्वय तथा विश्लेषण कर नए युग के अनुरूप नए काव्य-सिद्धान्तों का निर्माण करने का प्रयत्न रहा है।

'नई कविता' के उदय ने साहित्य-सिद्धान्तों के क्षेत्र में एक नया संघर्ष उत्पन्न कर दिया था। इस 'नई कविता' तथा अभिव्यक्ति के क्षेत्र में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के समर्थक विचारकों ने प्राचीन तथा समकालीन परम्परागत काव्य-सिद्धान्तों को नए साहित्य का मूल्यांकन करने में सर्वथा असमर्थ घोषित कर नए काव्य-सिद्धान्तों का प्रणयन किया था। दूसरी ओर से समाजवादी विचारधारा के समर्थकों ने इन व्यक्ति-वादी सिद्धान्तों का विरोध करते हुए नई समाजवादी विचारधारा के अनुरूप नए जनोपयोगी काव्य-सिद्धान्तों का प्रवर्त्तन और समर्थन किया था। इस दिशा में 'तार सप्तक' (तीन भाग), 'नई कविता', 'निकष' आदि काव्य-संग्रहों एवं संकलनों के सम्पादकीय तथा विभिन्न कवियों के वक्तव्यों, 'आलोचना' (त्रैमासिक) के सम्पादकीयों आदि के रूप में व्यक्तिवादी आलोचकों ने साहित्य के नवीन मूल्यों और मानदंडों के रूप और उनकी व्याख्या करने के प्रयत्न किए थे। लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'नई कविता के प्रतिमान', रामस्वरूप चतुर्वेदी के 'नव लेखन', धर्मवीर भारती के 'मानव मूल्य और साहित्य' नामक ग्रन्थों में नवलेखन और नई कविता के भाव और शिल्प के मूल्यांकन के नए सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए।

प्रगतिवादी समीक्षा-सिद्धान्त वस्तुन्मुखी है। इसका निर्माण साहित्य की वस्तु और जन-जीवन पर पड़ने वाले उसके प्रभाव तथा प्रेषणीयता की कसौटी पर हुआ है। इसने वस्तु पर ही अधिक बल दिया, रचना-विधान की प्रायः उपेक्षा की। उपर्युक्त

व्यक्तिवादी चिन्तकों ने वस्तु की अपेक्षा रचना-विधान को अधिक महत्त्व दिया। वहाँ अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति-सौष्ठव का ही अधिक ध्यान रखा गया। इसी कारण प्रगतिवादी समीक्षा का उससे गहरा विरोध रहा। प्रगतिवादी समीक्षकों ने इस नई विचारधारा का विरोध करते हुए साहित्य के नए सिद्धान्त प्रस्तुत किए। इन प्रगतिवादी आलोचकों में डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, डा० रांगेय राघव, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, डा० नामवरसिंह, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डा० रामगोपालसिंह चौहान आदि उल्लेखनीय हैं। डा० रामविलास शर्मा के 'प्रगति और परम्परा', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें', 'लोक-जीवन और साहित्य', 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य'; शिवदानसिंह चौहान के 'प्रगतिवाद', 'आलोचना के मान', 'साहित्य की समस्याएँ', 'साहित्यानुशीलन', 'साहित्यकार की आस्था', 'आलोचना में सौन्दर्य और सामाजिक मूल्य' आदि; प्रकाशचन्द्र गुप्त के 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य', 'नया हिन्दी-साहित्य', 'हिन्दी-साहित्य की जनवादी परम्परा', डा० रामगोपाल सिंह चौहान का 'नाटक : शास्त्रीय अध्ययन और विवेचन'; 'डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का 'सुमित्रानन्दन पन्त' आदि ग्रन्थ प्रगतिवादी सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में एक धारा समन्वयवादी समीक्षा की भी रही है। इस धारा के सभीक्षकों ने संस्कृत काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आधारभूत तथा नए समीक्षा-सिद्धान्तों का समन्वय कर साहित्यालोचन के सिद्धान्तों की रूपरेखा प्रस्तुत की है। यह वस्तुतः आचार्य शुक्ल के ही काव्य-सिद्धान्तों का विकसित रूप है। इसमें सामाजिक यथार्थ पर आदर्श का मुलम्मा चढ़ाने का प्रयत्न लक्षित होता है। यह समीक्षा साहित्य के जनवादी रूप की समर्थक और कलावादी रूप की विरोधी है। परन्तु इसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति के सन्तुलित समन्वित रूप के प्रति दृढ़ आस्था रही है। यह धारा संस्कृत काव्यशास्त्र के रस, वक्रोक्ति, अलंकार, ध्वनि, शब्दशक्ति आदि सिद्धान्तों के साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विरेचन, प्रयोजनवाद, अभिव्यंजनावाद आदि को आत्मसात करती हुई मनोविज्ञान में भी आस्था रखती है। डा० रामगोपालसिंह चौहान के अनुसार—"इस धारा में भारतीय संस्कृति तथा व्यक्ति के मानवीय गुणों के आधार पर साहित्य के प्रयोजन, साहित्य-निर्माण की प्रक्रिया, साहित्यकार के दायित्व—जैसे आधारभूत प्रश्नों पर समीक्षा-सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है; और साथ ही साहित्य को सामयिकता से ऊपर उठाकर मनुष्य के शाश्वत भावों और गुणों के चित्रण द्वारा व्यक्ति और समाज के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करके साहित्यिक दायित्व की पूर्ति करने के दृष्टिकोण का भी समन्वय किया गया है।" वस्तुतः इसे मध्यममार्गी सैद्धान्तिक समीक्षा मानना चाहिए। इस समन्वयवादी समीक्षा के प्रधान उन्नायक बाबू गुलाबराय, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र रहे हैं। इनकी समीक्षा राजनीतिक अथवा साहित्यिक अतिवादी विचारधाराओं से मुक्त रही है। इनका एकमात्र प्रयत्न शुभ-

सिद्धान्तों का संचय कर उनके आधार पर साहित्य का नियमन करना रहा है। परन्तु इस समन्वयवादी समीक्षा की एक कमजोरी यह रही है कि यह किसी स्वस्थ निर्णय पर पहुँचने में सहायता नहीं करती। 'प्रगतिवाद बुरा भी है, अच्छा भी है'—जैसे निर्णयों से भ्रान्ति की सृष्टि तो होती है परन्तु विवेच्य-वस्तु का स्वरूप तो स्पष्ट हो ही जाता है। आज हिन्दी में इसी समीक्षा-पद्धति को विशेष गौरव और सम्मान प्राप्त है। इसका एकमात्र कारण यह है कि इसमें गम्भीर चिन्तन-मनन से युक्त तटस्थ और निष्पक्ष दृष्टिकोण प्रधान रहा है। इसने जिस स्वर में प्रगतिवाद की आलोचना की थी उसी स्वर में प्रयोगवाद का भी दृढ़तापूर्वक खंडन किया था।

समन्वयवादी आलोचकों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति अपूर्व अनुराग रहा है। इन्होंने प्राचीन भारतीय समीक्षा-शास्त्र की युगपरक नवीन व्याख्या कर आधुनिक आलोचना को एक स्वस्थ और नवीन दृष्टि प्रदान की है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि मूलतः सांस्कृतिक, मानवतावादी और ऐतिहासिक रही है। द्विवेदी जी संस्कृत-साहित्य के उद्‌भट विद्वान् हैं। इसी कारण उनकी आलोचना में भारतीय समीक्षा-पद्धति का एक अत्यन्त उज्ज्वल रूप प्रस्फुटित हुआ है। उन्होंने आरम्भिक काल और सन्त-काव्य का नया विश्लेषण कर सन्त-काव्य को अपूर्व गौरव प्रदान किया है। और हिन्दी-साहित्य की भूमिका लिखकर इतिहास के प्रति एक नया दृष्टिकोण दिया है। उनके इस सम्पूर्ण लेखन में गहन अध्ययन, मौलिक चिन्तन और विकासवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रधानता रही है। उन्होंने आचार्य शुक्ल की अनेक मान्यताओं और दृष्टिकोणों का खंडन कर हिन्दी-साहित्य के अध्येयताओं, इतिहास लेखकों और आलोचकों को चिन्तन की नई सामग्री दी है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सौष्ठववादी आलोचक हैं। उन्हें छायावाद का पहला प्रभावशाली आलोचक माना जाता है। उन्होंने ही सबसे पहले और अत्यन्त सशक्त एवं प्रभावशाली ढंग से छायावाद का मूल्यांकन करते हुए उसके प्रति फैली अनेक भ्रान्तियों का खंडन कर उसकी प्रशंसा की थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने आधुनिक काल के अनेक साहित्यकारों एवं उनकी कृतियों का पुनर्मूल्यांकन कर आलोचना को मौलिक चिन्तन से युक्त नई दृष्टि प्रदान की थी।

बाबू गुलाबराय ने अपनी सहज, सुबोध, सरल शैली और निष्पक्ष दृष्टिकोण द्वारा भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का एक समन्वित रूप प्रस्तुत कर पुराने रूढ़िवादी दृष्टिकोण का खंडन किया था। इसके अतिरिक्त उनकी व्यावहारिक समीक्षा विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी रही है। इसी कारण वे विद्यार्थी समाज में बहुत लोकप्रिय हैं। डा० नगेन्द्र पर आरम्भ में फ्रायडवाद और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का गहरा प्रभाव रहा था। परन्तु इधर उन पर से यह प्रभाव काफी हट गया है। डा० नगेन्द्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यह रहा है कि उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों का उद्धार, प्रचार और अनुवाद स्वयं कर एवं दूसरों से करवा कर हिन्दी-जगत की दृष्टि इस समृद्ध समीक्षा-शास्त्र की ओर आकर्षित की है। इसके साथ

ही उन्होंने प्राचीन पाश्चात्य काव्यशास्त्र को भी हिन्दी में प्रस्तुत कर तुलनात्मक अध्ययन और उसके द्वारा समीक्षा-शास्त्र के विकास का द्वार उन्मुक्त किया है। इसके अतिरिक्त रस, बिम्ब आदि की नई व्याख्या और विश्लेषण प्रस्तुत कर पाश्चात्य-आलोचना से प्रभावित हिन्दी के लेखकों और पाठकों का ध्यान भारतीय काव्यशास्त्र की उपलब्धियों के प्रति आकर्षित किया है। डा० नगेन्द्र की व्यावहारिक आलोचना विशेष उल्लेखनीय नहीं मानी जा सकती। उसमें फतवेबाजी का प्राधान्य रहा है।

मनोविश्लेषणवादी आलोचना—हिन्दी में कुछ ऐसी आलोचनाएँ भी लिखी गईं जो फ्रॉयड, एडलर, युंग आदि पाश्चात्य मनोविश्लेषणवादी विचारकों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों के आधार पर आधारित थीं। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज-भय से दमित कामेच्छाएँ भीतर ही भीतर घुमड़ती और नाना प्रकार की कुंठाओं को जन्म देती रहती हैं और यही कुंठाए साहित्य, कला आदि रूपों में अभिव्यक्त होती रहती हैं। हिन्दी के कुछ कवियों, लेखकों और आलोचकों पर इसका गहरा प्रभाव रहा है। इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि ने अपने कथा-साहित्य में इस प्रभाव को उतारा है; और साथ ही आलोचनाएँ लिखकर इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। अज्ञेय की 'त्रिशंकु' और 'आत्मनेपद' नामक; तथा इलाचन्द्र जोशी की 'साहित्य सर्जना', 'विवेचना', 'साहित्य सन्तरण', 'विश्लेषण', 'साहित्य-चिन्तन' आदि रचनाओं में मनो-विश्लेषणवादी आलोचना का रूप मिलता है। जब जोशी जी फ्रॉयडवादी के रूप में प्रसिद्ध और बदनाम हो उठे तो उन्होंने फ्रॉयडवाद की शव-परीक्षा करते हुए 'धर्मयुग' में कई निबन्ध लिखे। इसमें उन्होंने फ्रॉयड को मानवता को पथभ्रष्ट करने वाला दैत्य-विचारक घोषित किया। जोशी जी की कला-दृष्टि वस्तुतः समन्वयवादी सी रही है। अज्ञेय अभिव्यक्ति के क्षेत्र में व्यक्ति-स्वातंत्र्य के समर्थक हैं। वे साहित्य और कला का समाज से घनिष्ठ और अनिवार्य सम्बन्ध न मान कलाकार की पूर्ण स्वतंत्रता, कहना चाहिए कि, स्वच्छन्दता के हामी हैं।

डा० नगेन्द्र भी बहुत समय तक कामेच्छा को काव्य का मूल प्रेरणा-स्रोत मानते रहे थे। उनके अनुसार—'कामवृत्ति आत्म-अनात्म के संघर्ष को जन्म देती है, और इस संघर्ष में ही आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा का जन्म होता है।' बस, डा० नगेन्द्र यहीं तक सीमित रहे हैं। उनकी अनेक आरम्भिक कालीन आलोचनाएँ इसी सिद्धान्त पर आधारित रही हैं। साधारणीकरण और रस-विवेचन में भी उन्होंने प्रकारान्तर से फ्रॉयड और युंग की विचारधारा का ही समर्थन सा किया है। इस वर्ग के आलो-चकों में डा० देवराज उपाध्याय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने 'मनो-विज्ञान' और 'मनोविश्लेषण' शब्दों का पर्यायवाची की भाँति प्रयोग कर मनोविज्ञान के नाम पर मनोविश्लेषण-पद्धति को थोपने का प्रयत्न किया है जब कि मनोविश्लेषण मनोविज्ञान की एक शाखा या अंश है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' में फ्रॉयड की मनोविश्लेषणवादी पद्धति के आधार पर ही हिन्दी कथा-साहित्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है। यह सन्तोष का विषय

है कि हिन्दी में यह मनोविश्लेषणवादी आलोचना-पद्धति अधिक लोकप्रियता न प्राप्त कर सकी। प्रयोगवादी आलोचकों पर इसका अवश्य गहरा प्रभाव रहा है।

प्रयोगवादी या रूपवादी आलोचना-पद्धति

प्रयोगवादी कवियों ने अपनी कृतियों का मूल्याङ्कन करने के लिए एक भिन्न आलोचना-पद्धति का आरम्भ किया जो इलियट आदि पाश्चात्य प्रयोगवादी विचारकों से बुरी तरह से आक्रान्त है। अपनी इस आलोचना को इन लोगों ने 'नई आलोचना' नाम दिया। इसमें कलाकार के व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर अनुभूति और उसके सामाजिक सम्बन्ध को नकारते हुए शिल्प अथवा रूप-विधान पर ही बल दिया गया। इनके अनुसार कला विशिष्ट मानव की विशिष्ट क्षणों में अनुभूत विशिष्ट अभिव्यक्ति है। उसकी अनुभूति सामान्य जन की अनुभूति से सर्वथा भिन्न और विशिष्ट होती है। इनका यह विशिष्ट व्यक्ति सामाजिक विधि-निषेधों के प्रति विद्रोही और 'व्यक्ति' के अस्तित्व और निष्ठा का कट्टर समर्थक होता है। परम्परागत मूल्यों के प्रति इसी विद्रोह-भावना के कारण वह भाषा, शैली, विषयवस्तु आदि के क्षेत्र में सर्वथा नवीन और विचित्र प्रयोग करता रहता है। इसमें 'समाज' की अपेक्षा 'व्यक्ति' को, 'भाव-प्रवणता' की अपेक्षा 'बौद्धिकता' को तथा 'विषय' की अपेक्षा 'अभिव्यक्ति' को महत्त्व दिया जाता है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य—इसका सर्वोच्च जीवन-मूल्य है। ये लोग व्यक्ति को सामाजिक बन्धनों से मुक्त मान उसकी वैयक्तिक अनुभूतियों और अहं को चित्रित करना ही साहित्य-रचना का एकमात्र लक्ष्य मानते हैं। इनके साहित्य में इसी प्रकार के चित्रण को प्राधान्य मिला था, और परम्परावादी आलोचना-सिद्धान्तों द्वारा उसका मूल्यांकन करने पर इनकी काफी छीछालेदर हुई थी, इसलिए इन लोगों ने साहित्या-लोचन के नए प्रतिमान गढ़ कर अपने साहित्य की स्वयं प्रशंसात्मक आलोचना करनी आरम्भ कर दी थी। अज्ञेय, लक्ष्मीकान्त वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, धर्मवीर भारती, डा० जगदीश गुप्त आदि इसी वर्ग के आलोचक रहे हैं। इनकी रचनाओं का उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

प्रभावाभिव्यंजक या सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति—इस में वैयक्तिकता पर आधारित तटस्थता के साथ-साथ मूल्यांकन और निर्णय को महत्त्व दिया जाता है। किसी कृति का आलोचक के ऊपर कैसा प्रभाव पड़ा है, काव्यशास्त्रीय मान्यताओं की अव-हेलना करते हुए इसमें इसी प्रभाव के अनुरूप विवेच्य कृति की प्रशंसात्मक या निन्दात्मक आलोचना की जाती है। इस पद्धति के आरम्भिक रूप के दर्शन पन्त, निराला, महादेवी वर्मा, प्रसाद आदि के काव्य-संग्रहों की भूमिकाओं के रूप में लिखे गए आलोचनात्मक निबन्धों में होते है। नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, गंगाप्रसाद पांडेय आदि ने अपनी आलोचनाओं में इसी पद्धति को अपनाया है। इसका सबसे उज्ज्वल और प्रभावशाली रूप शान्तिप्रिय द्विवेदी के विभिन्न निबन्ध-संग्रहों में उभरा है। परन्तु यह पद्धति भी हिन्दी में अधिक प्रचार पाने में असमर्थ रही। इसलिए अब इसके दर्शन, फुटकर निबन्धों के रूप में यदा-कदा ही हो पाते हैं।

प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति—इस युग में हिन्दी में एक ऐसी-समीक्षा पद्धति का उदय हुआ जो बहुत समय तक सर्वाधिक सशक्त समीक्षा-पद्धति बनी रही। इसे मार्क्सवादी या प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति कहते हैं। इसका दृष्टिकोण पूर्णतः समाजवादी है। यह ऐसे साहित्य की समर्थक है जिसमें जन-जीवन का यथार्थवादी मार्मिक और शोषण, अन्याय, अत्याचार का प्रभावशाली चित्रण किया गया हो। अपने प्रारम्भिक रूप में इसने कथ्य को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान कर शैली अर्थात् अभिव्यक्ति को गौण माना था। सरल, सहज भाषा और शैली में रचित साहित्य को यह जनोपयोगी मानती थी। इसके प्रारम्भिक रूप में साम्यवाद के राजनीतिक सिद्धान्त प्रधान और अधिक मुखर रहे थे। अन्य वर्ग के आलोचकों ने इसके राजनीतिक-सिद्धान्तों का विरोध करते हुए भी जीवन और साहित्य के अटूट और घनिष्ठ सम्बन्धों को स्वीकार कर इस पद्धति का स्वागत किया था। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसका कट्टर विरोध करते हुए भी अन्ततः यह स्वीकार कर लिया था कि—

"साहित्य के सामाजिक लक्ष्यों और उद्देश्यों का विज्ञापन करने वाली यह पद्धति साहित्य का बहुत कुछ उपकार भी कर सकी है। उसने हमारे युवकों को एक नई तेजस्विता भी प्रदान की है और एक नया आत्मबल भी मिला है।....हम यह भी नहीं कहते कि प्रगतिवादी समीक्षा ने हिन्दी को कुछ दिया ही नहीं। उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप दी हैं : **प्रथम**, यह है कि काव्य साहित्य का समन्वय सामाजिक वास्तविकता है, और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है; **द्वितीय**, यह है कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायेगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव सम्बन्धी एक नई मापरेखा, एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है जिसका उचित प्रयोग हम करेंगे।"[1]

वाजपेयी जी के उपर्युक्त कथन से प्रगतिवादी समीक्षा का पूर्ण रूप स्पष्ट हो जाता है। इस धारा के आलोचकों ने जनवादी स्वस्थ साहित्य का समर्थन और व्यक्तिवादी या आदर्शवादी साहित्य का उग्र विरोध कर साहित्यिक जगत में एक खलबली मचा दी थी। यह धारा इतनी प्रबल और स्वस्थ थी कि इसने साहित्य सृजन के रुख को जनवादी बना समस्त हिन्दी-साहित्य में एक नवीन उन्मेष भर दिय था। निराला, पन्त जैसे छायावादी भी प्रगतिशील कविताएँ लिखने लगे थे। इसका कारण यह था कि यह समीक्षा जनता की चित्तवृत्ति और कामना का सच्चा प्रतिनिधित्व कर रही थी। उस समय प्रगतिवादी समीक्षकों द्वारा प्रशंसा प्राप्त कर लेना अहोभाग्य

---

१. **साहित्य-विवेचन** (भूमिका)—नन्ददुलारे वाजपेयी।

समझा जाता था। कुछ समय तक इन लोगों का खूब बोलबाला रहा। परन्तु आगे चलकर इस वर्ग के आलोचकों में सैद्धान्तिक मतभेद उठने आरम्भ हो गए। इन मतभेदों ने इस खेमे में भयंकर फूट उत्पन्न कर दी, जिसके कारण ये लोग दो दलों में बँट गए। दोनों ही दल परस्पर दूसरे को कुत्सित समाजशास्त्री और स्वयं को सच्चा मार्क्सवादी घोषित करते हुए उग्र आलोचना करने लगे। यदि एक वर्ग ने तुलसी को प्रगतिशील सिद्ध किया तो दूसरा तुलसी को सामन्तवाद, ब्राह्मणवाद और प्रतिक्रियावाद का समर्थक और चितेरा घोषित करने लगा। एक वर्ग ने यदि प्राचीन साहित्य की प्रशंसा की तो दूसरा उसका पूर्ण बहिष्कार करने का नारा लगाने लगा। एक ने साहित्यकार पर राजनीति का अंकुश आवश्यक माना तो दूसरे ने इसका उग्र विरोध किया। इस पारस्परिक कटु विवाद ने प्रगतिवाद के विकास और प्रगति को भयंकर धक्का पहुँचाया। लोग एक-एक कर इससे अलग होने लगे। प्रगतिशील लेखक संघ विघटित हो गया। और आज स्थिति यह है कि इस विचारधारा के आलोचक एकाकी रूप में यदा-कदा आलोचनाएँ लिखते रहते हैं। परन्तु अन्तर यह आ गया है कि अब उन्होंने वैचारिक अतिवाद और संकीर्णता का मार्ग त्याग स्वस्थ, संयत और सन्तुलित आलोचना का मार्ग पकड़ा है। आज भी स्थिति यह है कि जब कोई प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक किसी भी कृति, विचारधारा या आन्दोलन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करता है तो सारे हिन्दी-जगत का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो जाता है।

इन प्रगतिवादी आलोचकों में सबसे सशक्त स्वर डा० रामविलास शर्मा का रहा है। एक स्थिति तो यह थी कि डा० शर्मा अकेले थे और अन्य समस्त प्रगतिवादी आलोचक उन पर प्रहार करते रहते थे। डा० शर्मा ने सन्त-काव्य, भारतेन्दु-युगीन साहित्य, प्रेमचन्द-साहित्य, निराला-साहित्य आदि का मूल्यांकन करते हुए इन्हें प्रगतिशील साहित्य घोषित किया है। हालावाद, प्रयोगवाद एवं साहित्य में अश्लील चित्रण का विरोध करते हुए उनके बहिष्कार की आवाज उठाई है। राष्ट्रभाषा से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं पर विचार करते हुए भाषा-समस्या के समाधान के सम्बन्ध में बहुमूल्य, व्यावहारिक और उपयोगी सुझाव दिये हैं। हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में नया क्रान्तिकारी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए भाषा और समाज का घनिष्ठ और अनिवार्य सम्बन्ध सिद्ध किया है। आज पुरानी पीढ़ी के प्रगतिवादी आलोचकों में केवल वही निरन्तर लिखते रहते हैं और हिन्दी-जगत में उनकी बात बड़े ध्यान के साथ सुनी जाती है। यदि प्रगतिवादी खेमे में फूट न पड़ी होती तो इस समीक्षा-पद्धति का अभूतपूर्व विकास हुआ होता। दुःख इस बात को देखकर होता है कि नए प्रगतिवादी आलोचक भी अपने इन्हीं पूर्वजों के चरण-चिन्हों पर चलते हुए एक-दूसरे पर कीचड़ उछालते रहते हैं। यदि विवाद व्यक्तिगत-स्तर पर उतर आता है तो उससे हानि और बदनामी ही अधिक होती है, लाभ तो होता ही नहीं। हम अन्य प्रगतिवादी आलोचकों का उल्लेख पीछे कर आए हैं।

तुलनात्मक समीक्षा—सन् १९५० के उपरान्त हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का एक नया स्वस्थ और प्रभावशाली रूप उभरा है, जो प्रायः शोध-प्रबन्धों के रूप में ही सामने आया है। इस तुलनात्मक समीक्षा में एक ही भाषा के विभिन्न साहित्यकारों, कृतियों, विचारधाराओं आदि का तुलनात्मक अध्ययन तो प्रस्तुत किया ही गया है, साथ ही विभिन्न भारतीय भाषाओं में पाई जाने वाली समान प्रवृत्तियों, रचनाओं, विचारधाराओं का भी तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन किया गया है। इस समीक्षा ने विभिन्न भारतीय भाषाओं को एक-दूसरे के समीप लाने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसके द्वारा हिन्दी वालों को दूसरी भाषाओं और साहित्यों के सम्बन्ध में नया ज्ञान और भावात्मक एकता की दृष्टि मिली है। रचनाओं के नीचे दिए हुए शीर्षकों से इस धारा की उपलब्धि और महत्त्व का स्पष्टीकरण हो जाता है। हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा के, अभी तक, निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—

'हिन्दी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन', 'हिन्दी और बँगला के कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन', 'हिन्दी और मलयालम के भक्त-कवियों का तुलनात्मक अध्ययन', 'हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलनों का तुलनात्मक अध्ययन', 'कृत्तिवासी बँगला रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन', 'हिन्दी और तेलुगु नाट्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन', 'हिन्दी और मराठी का निर्गुण-सन्त काव्य', 'आधुनिक हिन्दी और मराठी काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन', 'हिन्दी और आंध्र के महाकाव्यों के रचना-विधान का आलोचनात्मक अध्ययन' आदि। इसके अतिरिक्त डा० कुमारी सरोजिनी शर्मा का 'हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन' नामक शोध-प्रबन्ध अभी अप्रकाशित है। इस तुलनात्मक अध्ययन को आलोचना का ही एक रूप मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त हिन्दी के अनेक साहित्यकारों और कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किए गए हैं। भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रों का भी इसी प्रकार का अध्ययन हुआ है।

हिन्दी में शोध-कार्य—पिछले अनेक वर्षों से हिन्दी में शोध-कार्य अनवरत रूप से होता आ रहा है। भाषा, शैली, कविता, गद्य की विभिन्न विधाएँ, भाषा-शास्त्र, हिन्दी-साहित्य के विभिन्न काल-खंडों, उनके साहित्य की विशिष्टताओं, प्रसिद्ध साहित्यकारों के कृतित्व आदि पर शोध-प्रबन्ध लिखे गए हैं। इस शोध-कार्य ने हिन्दी को नई सामग्री, नई दृष्टि और नई चेतना प्रदान की है। अब तक हिन्दी में लगभग पाँच सौ शोध-प्रबन्ध तो प्रकाशित हो ही चुके होंगे। और अभी प्रत्येक विश्वविद्यालय में असंख्य छात्र शोध-कार्य में संलग्न हैं। इसलिए यहाँ शोध-प्रबन्धों की सम्पूर्ण सूची देना तो सम्भव नहीं है, परन्तु इस सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस शोध-कार्य ने हिन्दी के क्षेत्र, विषय और महत्त्व को विस्तृत करने में बहुत योग प्रदान किया है। जब से अध्यापन के क्षेत्र में पी-एच० डी० (डॉक्टरेट) की डिग्री

का महत्त्व बढ़ा है तब से शोध-कार्य करने वालों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। परन्तु संख्या में हुई इस वृद्धि का एक परिणाम यह निकला कि हिन्दी के अधिकांश शोध-प्रबन्धों का स्तर बहुत ही निम्न-कोटि का रहा है। इनमें अनेक को तो शोध-प्रबन्ध कहना या मानना शोध का उपहास करना है।

लोक-साहित्य का अध्ययन—इस काल में लोक-साहित्य के अध्ययन की ओर विद्वानों की रुचि जाग्रत हुई है। इसकी प्रेरणा देने वालों में राहुल सांकृत्यायन और डा० सत्येन्द्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डा० सत्येन्द्र का 'व्रज लोक-साहित्य का अध्ययन', डा० कृष्णदेव उपाध्याय का 'लोक-साहित्य की भूमिका' आदि ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। डा० श्याम परमार ने भी लोक-साहित्य पर सुन्दर कार्य किया है। विभिन्न बोलियों के लोक-साहित्य का अध्ययन किया जा रहा है। इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि अप्रकाशित लोक-गीतों एवं कथाओं में अभिव्यक्त होने वाली प्रादेशिक लोक-संस्कृतियों के सम्बन्ध में जानकारी बढ़ी है। दूसरा लाभ यह हुआ है कि विभिन्न प्रादेशिक बोलियों का अध्ययन करने की रुचि जाग्रत हुई है। काशी-नागरी प्रचारिणी सभा ने अपनी 'हिन्दी-साहित्य का वृहद् इतिहास' योजना के अन्तर्गत राहुल जी द्वारा सम्पादित एक विशाल ग्रन्थ प्रकाशित किया है जिसमें भारतीय लोक-साहित्य का सुन्दर संकलन और विवेचन किया गया है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का समन्वय—इस काल में हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर समष्टि रूप से, तथा उसके विभिन्न काल-खंडों पर गम्भीर शोध-कार्य हुआ है। सम्बन्धित काल-विषयक सामग्री का विभिन्न पक्षों एवं दृष्टिकोणों से विवेचन किया गया है। इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थों में डा० दशरथ ओझा का 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य'; डा० सावित्री सिन्हा का 'मध्यकालीन हिन्दी कवयत्रियाँ', डा० भगवती सिह का 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय', डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी का 'रीतिकालीन हिन्दी-कविता और शृंगार रस का विवेचन', डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल', 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी-साहित्य'; डा० सरला शुक्ल का 'जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य', डा० टीकमसिह का 'हिन्दी वीर-काव्य', डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का 'सन्त वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव', डा० हरवंश कोछड़ का 'अपभ्रंश साहित्य', डा० विमलकुमार का 'सूफीमत और हिन्दी-साहित्य', डा० दीनदयाल गुप्त का 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल का 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि', डा० रामगोपाल सिंह चौहान का 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य', डा० धर्मवीर भारती, डा० रांगेय राघव, डा० नामवर सिंह के अपभ्रंश, गोरख नाथ आदि सम्बन्धी ग्रन्थ, डा० गणपतिचन्द्र गुप्त का 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', डा० राजकुमारी मित्तल का 'कृष्णभक्ति-साहित्य में रीतिकाव्य-परम्परा', डा० रमेश कुमार शर्मा का 'रीतिकाल और आधुनिक हिन्दी-कविता', डा० दयानन्द श्रीवास्तव का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', शिवदान सिंह चौहान का 'हिन्दी-

साहित्य के अस्सी वर्ष' आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अगणित ग्रन्थ और लिखे गए हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा अठारह भागों में 'हिन्दी-साहित्य का वृहद् इतिहास' प्रकाशित कर रही है जिसके कुछ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। ज्ञानमंडल ने 'हिन्दी-साहित्य कोश' को दो भागों में प्रकाशित कर बहुमूल्य सामग्री प्रकाशित की है। हिन्दी में 'विश्व-कोश' भी प्रकाशित हो रहा है, जिसके कुछ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दा-साहित्य के इतिहास सम्बन्धी इस विस्तृत लेखन से हिन्दी-साहित्य के इतिहास-सम्बन्धी विस्तृत ऐसी नई सामग्री मिली है जो परम्परागत धारणाओं में परिवर्तन का कारण बन गई है।

विभिन्न समीक्षा-सिद्धान्तों का विस्तृत अध्ययन—विभिन्न भारतीय और विदेशी समीक्षा-सिद्धान्तों का अध्ययन करने की रुचि का भी इस युग में पर्याप्त विकास हुआ। इस विषय को लेकर हिन्दी में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए हैं। डा० भोलाशंकर व्यास का 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त', डा० गोविन्द त्रिगुणायत का 'समीक्षा-शास्त्र के सिद्धान्त', डा० बल्देव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य-शास्त्र', डा० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', डा० भगवत स्वरूप मिश्र का 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास', डा० ओमप्रकाश का 'हिन्दी अलंकार-साहित्य', डा० भगीरथ दीक्षित का 'समीक्षालोक', डा० नगेन्द्र के 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा', 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' आदि ग्रन्थों में समीक्षा-शास्त्र के इतिहास, विभिन्न रूप और उनके विकास का गम्भीर अध्ययन हुआ है।

विभिन्न विधाओं सम्बन्धी आलोचनात्मक कार्य—उपर्युक्त महत्वपूर्ण ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य की विभिन्न विधाओं, प्रवृत्तियों, विशिष्ट साहित्यकारों आदि पर भी हिन्दी में शताधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए हैं। डा० दशरथ ओझा का 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', डा० सोमनाथ गुप्त का 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', डा० प्रेम नारायण शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य में विविध वाद', डा० श्रीकृष्णलाल का 'हिन्दी कहानी की शिल्प-विधि का विकास', डा० रामदरश मिश्र का 'आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियाँ', डा० वेंकट शर्मा का 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का विकास', डा० केसरी नारायण शुक्ल का 'आधुनिक काव्यधारा', डा० नामवर सिंह के 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', 'छायावाद', डा० शम्भूनाथ सिंह के 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास', 'छायावाद', डा० शिवकुमार मिश्र का 'नया हिन्दी काव्य', डा० कुन्दनलाल उप्रेतिः का 'छायावादोत्तर हिन्दी-कविता में ध्वनि', डा० सुरेश सिन्हा के 'हिन्दी उपन्यास', 'हिन्दी कहानी', डा० रामचरण महेन्द्र का 'हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास', डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश का 'हिन्दी गद्य-काव्य' आदि ग्रन्थों में हिन्दी-साहित्य की विभिन्न विधाओं का सांगोपांग अध्ययन किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध साहित्यकारों और रचनाओं पर भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। डा० त्रिगुणायत का 'कबीर की विचारधारा', डा० हरवंश लाल का 'सूर और उनका साहित्य', डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का 'सन्त कवि दरिया', डा० नारायणदास

खन्ना का 'आचार्य भिखारीदास', डा० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसी', डा० ब्रजेश्वर वर्मा का 'सूरदास', डा० नगेन्द्र का 'रीतिकाव्य की भूमिका में देव का अध्ययन', डा० राजेन्द्र शर्मा का 'पं० बालकृष्ण भट्ट', डा० नत्थन सिंह का 'बालमुकुन्द गुप्त', डा० श्याम मनोहर पांडेय का 'मध्ययुगीन प्रेमाख्यान', डा० फतेह सिंह का 'कामायनी-सौन्दर्य', डा० द्वारिका प्रसाद सक्सेना का 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन', डा० रामविलास शर्मा के 'निराला', 'भारतेन्दु युग', 'प्रेमचन्द और उनका युग', डा० विजयपाल सिंह का 'केशवदास' आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रसाद, पन्त, निराला, प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा आदि अनेक प्रसिद्ध साहित्यकारों और उनकी विभिन्न रचनाओं पर असंख्य ग्रन्थ लिखे गए हैं। यहाँ उन सब का उल्लेख करना सम्भव नहीं है।

हिन्दी के कुछ कथाकारों ने 'हिन्दी कहानी' का विवेचन करते हुए अनेक आलोचनात्मक निबन्ध, भूमिकाएँ और ग्रन्थ रचे हैं। इनमें कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त पाठ्य-ग्रन्थों से सम्बन्धित अनेक छोटी-बड़ी आलोचनाएँ नित्यप्रति प्रकाशित होती रहती हैं।

आलोचना-प्रधान पत्र-पत्रिकाएँ—हिन्दी में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आलोचनात्मक निबन्धों के रूप में भी आलोचना-साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ है। प्रसिद्ध मासिक 'साहित्य सन्देश' विगत तीन दशकों से स्वस्थ आलोचनात्मक सामग्री प्रस्तुत करता आ रहा है। इसने विभिन्न महत्त्वपूर्ण विषयों पर अनेक ऐसे विशेषांक प्रकाशित किए हैं जो संग्रहणीय और सन्दर्भ-ग्रन्थों के समान महत्त्वपूर्ण हैं। त्रैमासिक 'आलोचना' नामक आलोचना-प्रधान प्रसिद्ध पत्रिका ने अपने विभिन्न अंकों में ऐसी सशक्त, सारगर्भित और नई दृष्टि प्रदान करने वाली आलोचनाएँ प्रकाशित की हैं, हिन्दी-आलोचना के विकास में जिनके महत्त्वपूर्ण योग को कभी की नहीं भुलाया जा सकता। परन्तु इसके निरन्तर बदलते रहने वाले सम्पादकों के कारण यह पत्रिका जितना ठोस और प्रभावशाली कार्य कर सकती थी, इधर उतना नहीं कर पा रही है। एक दशक पूर्व आगरा से डा० रामविलास शर्मा के सम्पादन में 'समालोचक' नामक एक आलोचना-प्रधान मासिक का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। यद्यपि यह पत्र केवल दो वर्ष ही चल पाया। परन्तु इसके 'सौन्दर्य-शास्त्र विशेषांक' और 'यथार्थवाद विशेषांक' ने हिन्दी आलोचना-जगत में अपने महत्त्व को स्थायी बना लिया है। इन पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त विभिन्न विश्वविद्यालयों, शोध-संस्थानों, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग, तथा अन्य अनेक संस्थानों द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं में ठोस, गम्भीर और शोधपरक आलोचनात्मक सामग्री का प्रकाशन होता रहता है। 'सरस्वती', 'कल्पना', 'नई धारा' आदि मासिक-पत्रिकाओं में तथा 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' आदि साप्ताहिक पत्रों में भी आलोचना-सम्बन्धी विचारपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं। इधर 'साहित्य परिचय' के 'आधुनिक-

साहित्य विशेषांक' तथा 'भाषा-समस्या विशेषांक' नामक दो विशेषांक प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से 'भाषा-समस्या विशेषांक' ने बहुत ख्याति अर्जित की है।

हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में हुए उपर्युक्त विभिन्न कार्यों के इस संक्षिप्त विवेचन से हिन्दी-आलोचना के जन्म, विकास, वर्तमान उपलब्धि, प्रभाव, रूप और भावी सम्भावनाओं की एक हल्की-सी रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। इस रूपरेखा से यह आभास मिल जाता है कि हिन्दी-साहित्य की यह विधा साहित्य की गतिविधियों का नियमन और मूल्यांकन करने में सक्षम रही है। इसमें मत-वैभिन्य—सैद्धान्तिक, व्यावहारिक और व्यक्तिगत भी रहे हैं, जिनके कारण इसका विकास भी हुआ है और पर्याप्त क्षति भी पहुँची है। अपने विकास के विभिन्न चरणों को पार करती हुई हिन्दी-आलोचना आज उस स्थिति पर पहुँच चुकी है, जहाँ वह साहित्य की अन्य विधाओं के साथ गौरव का अनुभव कर सकती है। इसमें मौलिक चिन्तन भी है और दूसरों का अनुकरण भी; इसमें संयम भी रहा है और अराजकता भी; परन्तु कुल मिलाकर इसका जो रूप उभर कर आया है वह अत्यन्त प्रौढ़, सशक्त और प्रभावशाली है।

आज की आलोचना देश की तेजी से बदलती परिस्थितियों, उनके कारण उठने वाली विभिन्न समस्याओं, नए जीवन-मूल्यों का विवेचन करती हुई नए समीक्षा-सिद्धान्तों का निर्धारण करने में व्यस्त है। नई परिस्थितियों और नए जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में पुराने समीक्षा-सिद्धान्तों की नई-नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा रही हैं। इस व्याख्या में सुविचारित सिद्धान्तों की भी झलक मिल रही है और उधार लिए हुए विदेशी ऐसे सिद्धान्तों का भी पिष्टपेषण किया जा रहा है, जो देश की वर्तमान परिस्थितियों में संगत नहीं बैठते, भले ही अपने जन्मस्थान की परिस्थितियों के अनुरूप रहे हों। कुछ आलोचक विदेशी नवीन आलोचना-सिद्धान्तों का अनुवाद कर, परन्तु फिर भी मौलिकता का ढिंढोरा पीटते हुए, उन्हें हिन्दी-साहित्य के मूल्यांकन के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। कुछ लोग 'आधुनिकता' और 'आधुनिक बोध' के नाम पर यह घोषणा कर रहे हैं कि हमारे समस्त प्राचीन समीक्षा-सिद्धान्त हमारे नए साहित्य का मूल्यांकन करने में सर्वथा अक्षम है, इसलिए हमें नए समीक्षा-सिद्धान्तों का निर्माण करना चाहिए। और तब बहुत क्षोभ होता है जब ये लोग ऐसे विदेशी समीक्षा-सिद्धान्तों को, उन्हें अपना मौलिक-चिन्तन बता, हमारे ऊपर थोपने का प्रयत्न करते हैं जिनकी उपयोगिता अपने जन्मस्थानों में समाप्त हो चुकी है। यह स्थिति चिन्तनीय अवश्य है, परन्तु फिर भी इतना विश्वास है कि इस विचार-मन्थन से शुभ-सिद्धान्तों की उत्पत्ति अवश्य होगी।

इधर हिन्दी-आलोचना में एक नई प्रवृत्ति के दर्शन हुए हैं। यह युग प्रचार का युग है। यदि कोई दूसरा हमारा उल्लेख या प्रचार नहीं करता तो इसका भार स्वयं अपने ऊपर लेकर स्वयं अपना प्रचार करना आरम्भ कर देते हैं। यशाकांक्षी अनेक नवोदित साहित्यकार छोटे-छोटे दलों में संगठित हो अपना-अपना प्रचार करने में जुटे हुए हैं और दूसरों पर कीचड़ उछालते रहते हैं। इसे आलोचना का स्वस्थ

रूप नहीं माना जा सकता। कुछ लोग छद्मनामों से स्वयं अपनी प्रशंसात्मक आलोचना लिखते रहते हैं। परन्तु समय का प्रभाव इस समस्त गन्दगी को छाँट देगा और आलोचना का शुभ्र रूप साहित्य के लिए स्वास्थ्यवर्द्धक बन विकसित होगा।

जहाँ तक नए साहित्य, नए जीवन-मूल्यों आदि की समीक्षा और मूल्यांकन का प्रश्न है, युग स्वयं शनैः शनैः उनका निर्माण कर लेगा। युग बदलने पर मान्यताएँ भी बदलती हैं, और नवीन मान्यताओं के अनुरूप नए जीवन-मूल्यों का निर्माण होता है। और ये नए जीवन-मूल्य समीक्षा के नए सिद्धान्तों का निर्माण करने के लिए प्रेरित करते हैं। इसलिए कालान्तर में धीरे-धीरे इनका निर्माण भी होता रहेगा। यह सन्तोष का विषय है कि नए आलोचकों में नए समीक्षा-सिद्धान्तों का निर्माण करने की बलवती इच्छा उत्पन्न हो रही है। यह हिन्दी-आलोचना के भावी-विकास का शुभ संकेत है।

हिन्दी-उपन्यास

'हिन्दी-उपन्यास' गद्य-साहित्य की वह नवीन विधा है जो ईसा की उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उद्भुत हुई थी। इससे पूर्व इस विधा का हिन्दी में अस्तित्व नहीं था। साथ ही यह निर्विवाद सत्य है कि इस नवीन विधा का उद्भव यूरोपिय, और विशेषकर अंग्रेजी उपन्यास-साहित्य के प्रभाव और अनुकरण के ही कारण हुआ था। बँगला में हिन्दी से पूर्व उपन्यास लिखे जाने लगे थे, और यह बँगला उपन्यास भी अंग्रेजी-उपन्यासों के अनुकरण पर ही लिखे गए थे। हिन्दी-गद्य-साहित्य की नवीन विधाओं पर बँगला और अँग्रेजी—दोनों ही भाषाओं में लिखे साहित्य का प्रभाव पड़ा था। बँगला ने ये नवीन विधाएँ अँग्रेजी-साहित्य से ग्रहण की थीं, इसलिए हिन्दी की इन विधाओं का जनक अंग्रेजी-साहित्य को ही मानना चाहिए।

उपन्यास में गद्य के माध्यम से लम्बी कथाएँ कही जाती हैं, जिन्हें विभिन्न पात्रों, उनके चरित्र-चित्रण, सम्वाद, उद्देश्य आदि की सहायता से प्रस्तुत किया जाता है। उपन्यास में कथा के प्राधान्य को देख कुछ आलोचकों ने हिन्दी-उपन्यास का सम्बन्ध संस्कृत में रचे गए कथा-ग्रन्थों से जोड़ यह निष्कर्ष निकाला है कि हिन्दी-उपन्यास संस्कृत के उन कथा-ग्रन्थों का ही विकसित रूप है। कुछ विद्वान् इसका सम्बन्ध सूफी कवियों द्वारा रचित प्रेमाख्यानक काव्यों से भी जोड़ते हैं। ये सम्पूर्ण प्रयत्न उस प्रवृत्ति के परिणाम हैं जो आधुनिक हिन्दी-साहित्य के समस्त रूपों और विधाओं का मूल उद्गम या तो वेदों में खोजने का प्रयत्न करती है या परवर्ती संस्कृत-साहित्य में। इसे स्वस्थ और वैज्ञानिक दृष्टि नहीं माना जा सकता। विकास का सिद्धान्त यह बताता है कि बदलती हुई परिस्थितियाँ नई जरूरतों, नए विचारों और भावनाओं को जन्म देती रहती हैं। जब हिन्दी-साहित्य के आधुनिक-युग के आरम्भ में अंग्रेजी-राज्य की स्थापना ने हमारे देश में नई परिस्थितियों को जन्म दिया तो साहित्य में उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए गद्य का विकास हुआ। नए विचारों का प्रचार करने के लिए निबन्ध, नाटक, पत्रकारिता आदि को विकसित किया गया।

और इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि साहित्य का यह नवीन विकास अंग्रेजी-साहित्य के विविध रूपों से प्रभावित था। यह नया प्रभाव युग की नवीन परिस्थितियों और मान्यताओं के अनुरूप था।

प्रत्येक देश और भाषा का साहित्य इस प्रकार के नवीन प्रभावों को ग्रहण करता आया है। इंगलैण्ड पर जब रोमन लोगों का शासन था, तब इंगलैण्ड की सभ्यता, संस्कृति, भाषा आदि रोमन-सभ्यता और लैटिन भाषा से प्रभावित थी, और जब तेरहवीं-चौदहवीं सदी में इंगलैण्ड पर फ्रांस की नार्मन जाति का आधिपत्य हो गया तो वहाँ फ्रांसीसी भाषा और संस्कृति का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया। संस्कृतियों के पारस्परिक टकराव और सम्मिश्रण से नई संस्कृति का उदय होता है। इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। साहित्य इस टकराव और सम्मिश्रण में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इसलिए, यदि अंग्रेजी या पाश्चात्य साहित्य ने हिन्दी-साहित्य के कतिपय रूपों को जन्म दिया है तो हमें उसके इस प्रभाव को स्वीकार करने में किसी भी प्रकार के संकोच या लज्जा का अनुभव नहीं करना चाहिए। पाश्चात्य साहित्य आज भी अनेक रूपों में हिन्दी-साहित्य को प्रभावित कर रहा है। अस्तु,

कथा-साहित्य संसार की अनेक भाषाओं में समान रूप से विकसित होता आया है। परन्तु इंगलैंड में जब मशीनों की सहायता से उद्योगों का नवीनीकरण और अप्रत्याशित विकास होने लगा तो वहाँ की सामाजिक-व्यवस्था में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन होना आरम्भ हो गया। इस नए परिवर्तन को अभिव्यक्त करने के लिए साहित्यकारों ने कथा-साहित्य के एक ऐसे नए रूप को जन्म दिया, जिसमें गद्य के माध्यम से नए समाज की जटिलताओं, नए जीवन-मूल्यों और मान्यताओं का चित्रण किया जाने लगा। अंग्रेजी में इसे 'नॉवेल' कहा गया और वही हिन्दी में आकर उपन्यास बन गया। जब बँगला-भाषी अंग्रेजी-साहित्य के सम्पर्क में आए तो उन्होंने अंग्रेजी-उपन्यासों के अनुकरण पर बँगला में उपन्यास लिखने आरम्भ कर दिए। कालान्तर में हिन्दी ने यह प्रभाव बँगला और अंग्रेजी—दोनों के माध्यम से ग्रहण किया। दक्षिण की कुछ भाषाओं में अंग्रेजी 'नॉवेल' शब्द की तौल पर 'नवल' शब्द गढ़ लिया। मराठी में उपन्यास को 'कादम्बरी' कहते हैं। अभी तक इस बात का पता नहीं चला है कि हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द का आधुनिक प्रचलित अर्थ में किसने सर्वप्रथम प्रयोग किया था। परन्तु इस नए नाम के प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि कथा-साहित्य के जिस नवीन रूप के लिए इस नए शब्द का प्रयोग किया गया था वह प्राचीन कथा-साहित्य और आख्यायिका आदि से भिन्न और एक नया कथा-रूप था। यदि यह नया रूप न होता तो इसके इस नए नामकरण की आवश्यकता ही न पड़ती।

जैसा कि हम पीछे बता आए हैं, कुछ आलोचकों का यह मत रहा है कि आधुनिक हिन्दी-उपन्यास के रूप में संस्कृत के प्राचीन कथा-ग्रन्थों—'कादम्बरी', 'दशकुमार

चरित' आदि की पुरानी परम्परा को ही विकास मिला है। अपने मत के समर्थन में इनका यह भी कहना है कि मराठी में उपन्यास को 'कादम्बरी' कहते हैं। मराठी-भाषियों ने उपन्यास के लिए 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग करना क्यों उचित समझा यह तो हमें नहीं मालूम, परन्तु वाणभट्ट की 'कादम्बरी' को उपन्यास नहीं माना जा सकता। 'कादम्बरी' गद्य में लिखा हुआ उत्कृष्ट, आलंकारिक पद्य का सुन्दर रूप है। उसकी आत्मा कविता की ही रही है, न कि विचार या विश्लेषण-प्रधान गद्य की। 'दशकुमार चरित' को यथार्थवादी गद्य में लिखा हुआ कथा-ग्रन्थ माना जा सकता है। यदि उसे उपन्यास स्वीकार कर लिया जाय तो अनुचित नहीं। परन्तु जब हम हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों को देखते हैं तो उन पर 'दशकुमार चरित' या 'कादम्बरी' का रंचमात्र भी प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। वे इनसे नितान्त भिन्न शैली और दृष्टिकोण द्वारा लिखे गए हैं। इसलिए यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं कि—"हिन्दी का उपन्यास साहित्य का वह पौधा है जिसे यदि सीधे पश्चिम से नहीं लिया गया हो तो उसका कलम बँगला से तो लिया ही गया था, न कि संस्कृत के कथाकार सुबन्धु, दण्डी और वाण की लुप्त परम्परा पुनरुज्जीवित की गई थी।" हिन्दी-उपन्यास का जनक भारतेन्दु-युग ही रहा था। इसकी परम्परा वहीं से आरम्भ होती है।

हम सम्पूर्ण हिन्दी-उपन्यास साहित्य के इतिहास को, विवेचन की सुविधा की दृष्टि से चार कालों में विभाजित कर सकते हैं—

१—जन्म की अवस्था,
२—विकास के पथ पर,
३—अभूतपूर्व विकास, और
४—बहुमुखी धारा

१. जन्म की अवस्था

हिन्दी का पहला उपन्यास

हिन्दी का पहला उपन्यास कौन सा था, या किसे हिन्दी का पहला उपन्यास माना जाय? इस सम्बन्ध में विद्वानों की भिन्न-भिन्न रायें रही हैं। आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल का परिचय देते हुए पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी द्वारा रचित 'भाग्यवती' नामक एक उपन्यास की चर्चा की है, जो सम्वत् १९३४ (सन् १८७७ ई०) में प्रकाशित हुआ था। यह एक सामाजिक उपन्यास था जिसकी, शुक्ल जी के कथनानुसार 'बड़ी प्रशंसा हुई'। यह एक शिक्षाप्रद उपन्यास है जिसकी रचना 'भारत-खंड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा' देने के लिए की गई थी। उपन्यासकार ने स्वयं अपने इस उद्देश्य को उपन्यास की भूमिका या परिचय में व्यक्त किया है। यह एक रोचक और कलात्मक उपन्यास है। कथा सुगठित, कौशलपूर्ण, स्वाभाविक, गतिशील और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों से समन्वित है। परन्तु न मालूम क्यों शुक्लजी

इसे हिन्दी का पहला या पहला मौलिक उपन्यास न मान, लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' को मानते हैं, जिसका प्रकाशन 'भाग्यवती' के प्रकाशन के पाँच वर्ष पश्चात् सन् १८८२ में हुआ था। शुक्लजी कथावस्तु और वर्णन-प्रणाली की दृष्टि से 'परीक्षा-गुरु' को ही हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास घोषित करते हैं। परन्तु लाला जी को हिन्दी का पहला उपन्यासकार न मान, पं० किशोरीलाल गोस्वामी को मानते हैं। इस मान्यता का कारण उन्होंने यह दिया है कि अन्य जिन लोगों ने उपन्यास लिखे थे, वे प्रमुख रूप से उपन्यासकार नहीं थे; वे नाटक, निबन्ध आदि के साथ एकाध उपन्यास भी लिखे गए थे। शुक्लजी के ही शब्दों में—"और लोगों ने भी उपन्यास लिखे, पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे; और चीजें लिखते लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते हैं। पर, गोस्वामी जी वहीं घर करके बैठ गए।" अर्थात् गोस्वामी जी ही ऐसे पहले उपन्यासकार थे जिन्होंने केवल उपन्यास ही लिखे थे। इसीलिए शुक्लजी उन्हें हिन्दी का पहला उपन्यासकार मानते हैं।

शुक्लजी ने 'भाग्यवती' को हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास क्यों नहीं माना ? इसका उन्होंने कोई कारण नहीं दिया है। सम्भव है उन्हें यह उपन्यास पढ़ने को न मिला हो। कारण जो कुछ भी रहा हो, परन्तु हमारी राय में 'भाग्यवती' ही हिन्दी का सबसे पहला मौलिक उपन्यास था, क्योंकि इससे पूर्व रचित एक भी मौलिक या अनूदित उपन्यास का अभी तक पता नहीं चला है।

(डा० श्रीकृष्ण लाल देवकीनन्दन खत्री के प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' (सन् १८९१ में प्रकाशित) को हिन्दी का पहला उपन्यास मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार—"अन्य उपन्यासों के रहते हुए भी देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' से पहले हिन्दी में उपन्यास के साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा न हो सकी।" इसके विपरीत शिवनारायण श्रीवास्तव हिन्दी का पहला उपन्यास इंशा अल्ला खाँ रचित 'रानी केतकी की कहानी' को मानते हैं, जिसकी रचना, शुक्लजी के अनुसार सम्वत् १८५५ और १८६० के बीच में हुई होगी। इसका दूसरा नाम 'उदयभानु चरित' भी है। यह एक छोटी-सी प्रेम-कहानी है जिसमें कथा के अतिरिक्त उपन्यास का अन्य कोई भी गुण नहीं मिलता। यह सूफी प्रेमाख्यानों की सी प्रेम-कहानी है। इसी को आधार बना कुछ आलोचकों ने हिन्दी-उपन्यास की परम्परा को सूफी-प्रेमाख्यानों से जोड़ दिया है। 'रानी केतकी की कहानी' को उपन्यास नहीं माना जा सकता। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी भारतेन्दु के 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक उपन्यास को हिन्दी का पहला उपन्यास मानते हैं। परन्तु यह उपन्यास मौलिक न होकर मराठी के एक उपन्यास का अनुवाद है। भारतेन्दु ने 'एक कहानी कुछ आप बीती, कुछ जग बीती' नामक एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था, परन्तु भारतेन्दु का स्वर्गवास हो जाने के कारण पूरा न हो सका। यह आत्मकथात्मक उपन्यास है।

अतः रचना-तिथि और औपन्यासिक तत्वों की दृष्टि से फुल्लौरी जी का 'भाग्यवती' ही हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास सिद्ध होता है। 'परीक्षा गुरु' का लेखन और प्रकाशन इसके पाँच वर्ष उपरान्त हुआ था। यह उपन्यास उपदेश-प्रधान है जिसमें एक काल्पनिक कथा के माध्यम से कुसंगति के घातक परिणाम और पुनः नायक का सुधार होने का वर्णन किया गया है। इस पर अंग्रेजी उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

भारतेन्दु-युग में अन्य अनेक लेखकों ने उपन्यास लिखे थे। इन उपन्यासकारों में बालकृष्ण भट्ट, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्णदास, ठाकुर जगमोहन सिंह, लज्जाराम मेहता, ब्रजनन्दन सहाय, अम्बिकादत्त व्यास, रुद्रदत्त शर्मा, गंगाप्रसाद गुप्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' के उपरान्त ठाकुर जगमोहन सिंह ने काव्य-गुणों से परिपूर्ण 'श्यामा स्वप्न' नामक एक उपन्यास लिखा, जिसमें औपन्यासिकता के स्थान पर काव्य-सौन्दर्य ही अधिक मिलता है। इसी समय पं० अम्बिकादत्त व्यास ने अद्‌भुत और आश्चर्यजनक घटनाओं से परिपूर्ण 'आश्चर्य-वृत्तान्त' नामक एक उपन्यास लिखा। यह एक साधारण कोटि का मनोरंजक उपन्यास है। पं० बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' तथा बाबू राधाकृष्णदास के 'निस्सहाय हिन्दू' जैसे छोटे-छोटे उपन्यास इसी काल में लिखे गए थे। ये सब छोटे-छोटे, उपदेश-प्रधान सामाजिक उपन्यास थे। किशोरीलाल गोस्वामी के 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी', और 'राजकुमारी'; रत्नचन्द प्लीडर का 'नूतन चरित्र'; राधाचरण गोस्वामी के 'विधवा विपत्ति', 'कल्पलता'; बालमुकुन्द वर्मा का 'कामिनी'; देवदत्त का 'सच्चा मित्र'; रामगुलाम का 'सुवामा'; कार्तिक प्रसाद खत्री का 'दीनानाथ' आदि आदर्शवादी उपदेश-प्रधान सामाजिक उपन्यास भी इसी काल में लिखे गए थे।

इस युग में उपर्युक्त मौलिक उपन्यासों के साथ ही अन्य देशी-विदेशी भाषाओं में रचित उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद होना आरम्भ हो गया था। ये अनुवाद विशेष रूप से बँगला, मराठी और अंग्रेजी के उपन्यासों के ही हुए। अनुवाद की इस परम्परा का आरम्भ भारतेन्दु द्वारा एक मराठी उपन्यास का 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक अनूदित उपन्यास से मानना चाहिए। उनके पश्चात् बाबू गदाधर-सिंह ने 'बंग विजेता', 'दुर्गेशनंदिनी' तथा बाबू राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', 'मरता क्या न करता' आदि अनूदित उपन्यास लिखे। राधाचरण गोस्वामी ने 'सावित्री', 'विरजा', 'मृण्मयी' आदि का तथा प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इन्द्रा', युगलां-गुलीय', 'राधारानी' आदि बँगला-उपन्यासों के अनुवाद किए।

हिन्दी-उपन्यास के जन्म के समय यही अवस्था थी। बीसवीं सदी के आरम्भ तक उपन्यास के क्षेत्र में छुटपुट प्रयास ही होते रहे थे। उपन्यासकारों का मूल उद्देश्य अपने उपन्यासों के माध्यम से उपदेश देते हुए व्यक्ति और समाज के सुधार की प्रेरणा देना रहा था। इसलिए केवल सामाजिक उपन्यास ही लिखे गए। अभी उपन्यास एक

लोकप्रिय, मनोरंजक साहित्यिक विधा का रूप नहीं प्राप्त कर सका था। यह युग प्रधानत: निबन्ध और नाटक का ही युग था। परन्तु फिर भी उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति का आरम्भ हो चुका था। हिन्दी-उपन्यास का जन्म हो चुका था परन्तु अभी उसे एक निश्चित स्वरूप धारण करना शेष था। अन्य भाषाओं के उपन्यासों के अनुवाद से एक लाभ यह हुआ कि हिन्दी-पाठकों और लेखकों को नए ढंग से सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों का परिचय मिला। ये अनूदित उपन्यास पर्याप्त रोचक, ज्ञानवर्द्धक और सुगठित थे। इससे हिन्दी में विभिन्न प्रकार के मौलिक उपन्यास-लेखन की प्रवृत्ति का विकास हुआ। इस युग की सीमा-रेखा सन् १८७७ से १६०० ई० तक माननी चाहिए।

२. विकास के पथ पर

बीसवीं सदी के आरम्भ होते ही हिन्दी-उपन्यास अपने विकास की नई मंज़िल की ओर अग्रसर हुआ। इस युग की सीमा-रेखा सन् १६०१ से १६१८ तक मानी जा सकती है। इस युग में मौलिक उपन्यास भी खूब लिखे गए और अनुवाद भी खूब हुए। प्रथम अवस्था के अनुवादों की परम्परा इस युग में पर्याप्त विकसित हुई। इससे नए ढंग के विविध प्रकार के मौलिक उपन्यासों की रचना होनी आरम्भ हो गई। विकास की यह अवस्था रामकृष्ण वर्मा, कार्तिकप्रसाद खत्री, और गोपालराम गहमरी के अनुवादों से आरम्भ होती है। वर्मा जी ने 'ठगँ वृत्तान्त माला', 'अकबर', 'अबला वृत्तान्त माला', 'चित्तौड़ चातकी' आदि का; खत्री जी ने 'इला' और 'प्रमिला' का; गहमरी जी ने 'चतुर चंचला', भानुमती', 'नए बाबू', 'बड़े भाई' तथा अन्य अनेक उपन्यासों के अनुवाद किए। अनूदित ऐतिहासिक उपन्यासों में उदित नारायण लाल का 'दीप निर्वाण'; रामचन्द्र वर्मा का 'छत्रसाल'; और किशोरीलाल गोस्वामी का 'तारा' आदि उल्लेखनीय हैं। इस काल में बंगला के लगभग सभी प्रसिद्ध उपन्यासकारों—बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचन्द्र रक्षित, शरतचन्द्र, चारुचन्द्र आदि के प्रसिद्ध उपन्यासों के अनुवाद किए गए। रवीन्द्र बाबू के 'आँख की किरकिरी' का भी अनुवाद इसी युग में हो चुका था। बँगला-उपन्यासों के अनुवादकों में पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पं० रूपनारायण पांडेय और धन्यकुमार जैन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मराठी और गुजराती के भी कई उपन्यासों के अनुवाद किए गए। अंग्रेजी से 'लन्दन रहस्य' और 'टाम काका की कुटिया' जैसे मार्मिक उपन्यासों के अनुवाद हुए। हरिऔध जी ने अंग्रेजी से 'वेनिस का बाँका' तथा गंगाप्रसाद गुप्त ने उर्दू से 'पूना में हलचल' नामक उपन्यास अनूदित किए। हिन्दी में अनूदित ये उपन्यास विविध प्रकार के और सुन्दर तथा श्रेष्ठ उपन्यास थे। इन अनुवादों के रूप में एक ओर तो भाषा का परिमार्जन हुआ और साथ ही हिन्दी के उपन्यासकारों को श्रेष्ठ उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली। फलस्वरूप हिन्दी में मौलिक और विविध प्रकार के सुन्दर उपन्यासों का सृजन होना आरम्भ हो गया।

(इस काल में प्रधान रूप से तीन प्रकार के उपन्यास लिखे गए—सामाजिक, ऐतिहासिक, तथा रहस्य-रोमांच पूर्ण घटना-प्रधान तिलस्मी और जासूसी उपन्यास। इस काल में हिन्दी-साहित्य में एक नई प्रवृत्ति का विकास होता हुआ दिखाई देता है। अब अनेक साहित्यकार एक साथ ही नाटक, निबन्ध, उपन्यास, कविता आदि विभिन्न विधाओं सम्बन्धी रचनाएँ न लिख केवल एक ही विधा को अपना कर प्रचुर रचनाएँ लिखने लगे थे। यह भारतेन्दु-युगीन धारा से भिन्न साहित्य का एक नया मोड़ था। इसी कारण इस युग में हमें ऐसे अनेक उपन्यासकार मिलते हैं जिन्होंने अधिकांशतः केवल उपन्यास ही लिखे थे। इसी कारण कथा-साहित्य के जिस रूप का भारतेन्दु-युग में उदय हो चुका था, उसका इस काल में बड़ी तेजी से विकास होना आरम्भ हो गया। इसके फलस्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार के असंख्य उपन्यास लिखे जाने लगे। सामाजिक उपन्यासों की परम्परा तो अधिक गम्भीर और कलात्मक रूप धारण कर आगे बढ़ी ही, साथ ही ऐतिहासिक और घटना-प्रधान तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की नई धाराओं का इस युग में जन्म और पर्याप्त विकास हुआ। इस दृष्टि से इस युग के प्रतिनिधि उपन्यासकारों के रूप में तीन व्यक्तियों के नाम लिए जा सकते हैं—देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, और गोपालराम गहमरी। देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी में घटना-प्रधान तिलस्मी उपन्यासों को जन्म और विकास दिया। किशोरीलाल गोस्वामी ने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर हिन्दी-उपन्यास को समृद्ध बनाया। गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यासों को जन्म दिया। परन्तु इनमें से केवल गोस्वामी जी की उपन्यास-परम्परा का, कालान्तर में विकास हुआ। खत्री जी और गहमरी जी के उपन्यासों की परम्परा एक प्रकार से उन्हीं के साथ समाप्त हो गई। अस्तु,)

देवकीनन्दन खत्री के घटना-प्रधान तिलस्मी उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' (४ भाग), 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' (२० भाग) और 'भूतनाथ' (२१ भाग) ने हिन्दी-उपन्यास की लोकप्रियता को चार चाँद लगा दिए। यद्यपि खत्री जी इनसे पूर्व 'नरेन्द्र मोहिनी', 'कुसुम कुमारी', 'वीरेन्द्र वीर' आदि कई अद्‌भुत उपन्यास लिख चुके थे, परन्तु उन्हें ख्याति नहीं मिली थी। शुक्लजी के अनुसार खत्री जी ही हिन्दी के ऐसे पहले मौलिक उपन्यासकार थे जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम मच गई थी। और यह धूम उपर्युक्त तिलस्मी उपन्यासों के कारण ही मची थी। इन उपन्यासों में एय्यारी का बटुआ लिए कुशल एय्यारों के दाँव-पेच, तिलस्मों के अद्‌भुत लोक, विचित्रताओं आदि का ऐसा कुशल संयोजन हुआ है कि उपन्यासकार पाठकों की जिज्ञासा को कि 'आगे क्या हुआ' निरन्तर उभारे रहता है। इन उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इतने खंडों में विभाजित होते हुए भी कथा में कहीं भी शिथिलता नहीं आ पाती। इनके सम्बन्ध में यह कहना गलत है कि इनमें पात्रों के चरित्र-चित्रण, रस-संचार आदि का रूप नहीं मिलना। महत्त्वाकांक्षी, अद्‌भुत प्रतिभाशाली, मानवीय दुर्बलताओं से युक्त परन्तु फिर भी परोपकार के लिए संकटों का सामना करने वाला

भूतनाथ जैसा पात्र समस्त हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। इन उपन्यासों का महत्त्व दो कारणों से माना जाना चाहिए। पहला, इन्होंने हिन्दी उपन्यास को अद्‌भुत लोकप्रियता प्रदान की थी। दूसरा, इन्हें पढ़ने के लिए हिन्दी न जानने वाले असंख्य पाठकों ने हिन्दी सीखी थी।

खत्री जी ने इन उपन्यासों को लिखने का प्रधान उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना निश्चित करते हुए लिखा था—"चन्द्रकान्ता में जो बातें लिखी गई हैं वे इसलिए नहीं कि लोग उनकी सच्चाई-झुठाई की परीक्षा करें, प्रत्युत् इसलिए कि पाठक का कौतूहल वर्द्धन हो।" और इसमें सन्देह नहीं कि अपने इस उद्देश्य में इन उपन्यासों को अभूतपूर्व सफलता मिली थी। अपने युग में तो ये सर्वाधिक लोकप्रिय रहे ही थे, आज भी इनके पाठकों की संख्या बहुत अधिक है। उस युग के ये ही एकमात्र ऐसे उपन्यास हैं जो आज भी पढ़े जाते हैं—अपनी रचना के ६०-६५ वर्ष पश्चात् भी। खत्री जी के उपरान्त केवल प्रेमचन्द ही इतनी स्थायी ख्याति के अधिकारी बन सके हैं। खत्री जी के उपन्यासों की एक अभूतपूर्व उपलब्धि—उनकी भाषा और शैली रही है। इन उपन्यासों की भाषा सच्चे अर्थों में लोक-भाषा है। यह जन-साधारण की बोलचाल की भाषा है। भाषा का यह रूप उस काल के अन्य उपन्यासों में इतने यथार्थ और सशक्त रूप में नहीं उभर पाया है। शैली इतनी सशक्त और प्रभावशाली है कि उपन्यासकार अपने पाठकों का पूर्ण विश्वास समेट उन्हें जिज्ञासा के सूत्र में बाँधे निरन्तर अपने साथ बढ़ाए लिए चलता है। शैली की दृष्टि से इसे सामान्य उपलब्धि नहीं माना जा सकता। महान् प्रतिभाशाली कलाकार ही ऐसी शैली के अधिकारी होते हैं। खत्री जी के ये उपन्यास फारसी के 'तिलस्मे-होशरुबा' जैसे उपन्यासों की पद्धति पर लिखे गए थे परन्तु पात्र-योजना, वातावरण आदि की दृष्टि से पूर्ण मौलिक रहे हैं। प्रभाव को इस प्रकार आत्मसात कर उसे मौलिक ढंग और रूप में प्रस्तुत कर देना विरले ही प्रतिभाशाली कलाकारों के सामर्थ्य की बात होती है।

खत्री जी के उपरान्त अन्य अनेक उपन्यासकारों ने तिलस्मी-उपन्यास लिखे थे, मगर उन्हें प्रसिद्धि न मिल सकी। बाबू हरिकृष्ण जौहर ने 'कुसुमलता' (४ भाग); गंगा प्रसाद गुप्त ने 'कृष्णकान्ता'; हरिवंशलाल गुप्त ने 'महर्षि'; गुलाबदास ने 'तिलिस्मी बुर्ज' आदि इसी परम्परा के उपन्यास लिखे। इनके अतिरिक्त देवीप्रसाद शर्मा, मदनमोहन पाठक, विश्वेश्वरप्रसाद वर्मा, जयरामदास गुप्त, चन्द्रशेखर पाठक, रामलाल वर्मा आदि ने भी ऐसे उपन्यास लिखे थे। परन्तु आज न तो कोई उनके उपन्यासों को जानता है और न पढ़ता है।

तिलस्मी-उपन्यासों के समानान्तर जासूसी-उपन्यासों की परम्परा आरम्भ करने वाले गोपालराम गहमरी ने अनेक जासूसी-उपन्यास लिख पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। इनके ये जासूसी-उपन्यास पहले इन्हीं की 'जासूस' नामक पत्रिका में सम्पूर्ण या धारावाहिक रूप से प्रकाशित होते थे और फिर पुस्तक रूप में निकलते थे। वैसे तिलस्मी उपन्यासों में भी जासूसी के कार्य होते थे परन्तु वह जासूसी आधुनिक ढंग

की नहीं थी। गहमरी जी ने अपने उपन्यासों में जासूसी का नया ढंग प्रस्तुत किया था जो विदेशी जासूसी-साहित्य पर आधारित था। इन उपन्यासों में कल्पना और बुद्धि—दोनों के ही चमत्कार देखने को मिलते हैं। शैली भी अपेक्षाकृत अधिक मनोरंजक है। 'अद्भुत लाश', 'गुप्तचर', 'बेकसूर की फाँसी', 'खूनी कौन है', 'बेगुनाह का खून', 'मायाविनी', 'भयङ्कर चोरी' आदि इनके प्रसिद्ध जासूसी-उपन्यास हैं। गहमरी जी ने कुछ सामाजिक उपन्यास—'देवरानी-जिठानी', 'दो बहन', 'डबल बीबी' आदि भी लिखे थे परन्तु उनकी प्रसिद्धि का आधार—जासूसी-उपन्यास ही रहे हैं।

इस युग मे अनेक ऐसे भी उपन्यास लिखे गए थे जिनमें अद्भुत अलौकिक घटनाओं, रोमांचक दृश्यों और विचित्र प्रेम व्यापारों के चित्रण द्वारा पाठकों को स्तम्भित कर उनका मनोरंजन करने का प्रयत्न किया जाता था। उस समय ऐसे लगभग ५०० उपन्यास लिखे गए थे। खत्री जी के 'नरेन्द्र मोहिनी', 'कुसुम कुमारी'; किशोरीलाल गोस्वामी का 'खूनी औरत के सात खून'; निहालचन्द वर्मा का प्रेम का फल अथवा मिस जौहरा'; प्रेम विलास वर्मा का 'प्रेम माधुरी वा अनंग कान्ता'; विट्ठलदास नागर का 'किस्मत का खेल' आदि इसी प्रकार के उपन्यास थे। परन्तु ये उपन्यास इतनी अधिक संख्या में लिखे जाने पर भी ऐसी ख्याति अर्जित करने में असमर्थ रहे जो कुछ समय तक स्थायी रहती।

इस युग में ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन की एक नई परम्परा का आरम्भ हुआ। इससे पूर्व ऐतिहासिक नाटक तो लिखे जा चुके थे परन्तु ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो पाया था। वस्तुतः हिन्दी में ऐतिहासिक-उपन्यास लिखने की प्रेरणा बँगला के ऐतिहासिक उपन्यासों से ग्रहण की गई थी। हिन्दी में इस परम्परा को जन्म देने का श्रेय किशोरीलाल गोस्वामी को है। उन्होंने 'लवङ्गलता', 'हृदयहारिणी या आदर्श रमणी', 'ताराबाई', 'कनक कुसुम या मस्तानी', 'सुल्ताना रजिया बेगम', 'मल्लिकादेवी', 'पन्नाबाई', 'गुलबहार', 'लखनऊ की कब्र' आदि ऐतिहासिक उपन्यास लिखे—जो कथावस्तु की दृष्टि से मुस्लिम-युग से सम्बन्धित थे। इनमें उपन्यासकार ने मुसलमानों के विलासिता, अत्याचार, निर्दयता, विश्वासघात आदि दुर्गुणों की तुलना में हिन्दुओं की वीरता, कर्त्तव्य-निष्ठा, धर्म-प्रेम, त्याग आदि सद्‌गुणों का चित्रण किया है। इन उपन्यासों में इतिहास की अपेक्षा कल्पना का अधिक सहयोग लिया गया है। वातावरण-चित्रण में अनेक प्रकार की असंगतियों की भरमार रही है। ऐतिहासिक घटनाओं को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है। परन्तु आरम्भिक ऐतिहासिक उपन्यास होने के कारण इनकी इन त्रुटियों पर अधिक ध्यान न दे, इन्हें उस परम्परा का प्रवर्त्तक तो माना ही जा सकता है, जो आज तक विकसित होती आ रही है।

इस काल में अन्य अनेक लेखकों ने भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे थे। जैसे—मथुरा प्रसाद शर्मा का 'नूरजहाँ बेगम'; गंगाप्रसाद गुप्त के 'नूरजहाँ', 'वीर पत्नी',

'कुमारसिंह सेनापति' 'हम्मीर' आदि; लालजी सिंह का 'वीर बाला'; जैनेन्द्र किशोर का 'गुलेनार'; जयरामदास गुप्त के 'काश्मीर का पतन', 'रंग में भंग', 'मायारानी', 'नवाबी परिस्तान' आदि; ब्रजनन्दन सहाय का 'लाल चीन'; मिश्रबन्धुओं के 'वीरमणि', 'विक्रमादित्य', 'पुष्य मित्र' आदि) इन ऐतिहासिक उपन्यासों में प्राचीन, विशेष रूप से, मध्यकालीन भारतीय इतिहास के प्रमुख पात्रों को चित्रित कर उनकी गौरव-गाथाओं का अङ्कन किया गया है। परन्तु वातावरण, सामाजिक परिस्थितियों, वेशभूषा, आचार-व्यवहार आदि का चित्रण करते समय पर्याप्त सावधानी नहीं बरती गई है। संक्षेप में, इन्हें साधारण कोटि का ऐतिहासिक उपन्यास माना जा सकता है।

(भारतेन्दु-युगीन सामाजिक उपन्यासों की परम्परा का भी इस युग में पर्याप्त विकास हुआ था। अनेक ऐसे उपन्यास लिखे गए जिनमें धार्मिक, नैतिक, चारित्रिक, शिक्षा-सम्बन्धी, नारी-उद्धार आदि का आदर्शवादी और सुधारवादी दृष्टिकोण से अंकन किया गया था। इस युग में हिन्दू-समाज पर आर्य-समाज का गहरा प्रभाव था। इसलिए इन सामाजिक-उपन्यासों के मूल में आर्यसमाज का सुधारवादी दृष्टिकोण ही प्रधान रहा। साथ ही कुछ उपन्यासों पर बंगाल के ब्राह्मसमाजी आन्दोलन का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है, जो बँगला के सामाजिक उपन्यासों के अनुवादों द्वारा आया था। प्रधान रूप से सुधारवादी दृष्टिकोण रहने के कारण उपन्यासकार सामयिक समस्याओं का चित्रण करने के प्रति प्रायः उदासीन ही रहे थे। इनमें नवीन सामाजिक चेतना तो मिलती है, जो नवीन राष्ट्रीय चेतना का ही एक पक्ष है, परन्तु राजनीतिक चेतना के दर्शन नहीं होते।

/शुक्लजी इस युग के उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी को ही सर्वप्रधान उपन्यासकार मानते हैं। इन्होंने दर्जनों सामाजिक उपन्यास लिखे थे। ये भारतेन्दु-युग से उपन्यास लिखते चले जा रहे थे) 'लीलावती वा आदर्श सती', 'राजकुमारी', 'चपला या नव्य समाज चित्र', 'पुनर्जन्म या सौतियादाह', 'माधवी माधव' आदि अनेक उपन्यास लिखे थे। इनके लिखे कुल उपन्यासों की संख्या लगभग ६५ बताई जाती है।(शुक्ल जी के अनुसार इनके उपन्यासों में—"समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रंग-रूप, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा-बहुत चरित्र-चित्रण भी अवश्य पाया जाता है।"/इनके उपन्यासों में वासनात्मक वर्णनों और उद्गारों की भरमार मिलती है। विशेष रूप से इनके 'चपला या नव्य समाज चित्र' नामक उपन्यास को लेकर इस बात की बहुत आलोचना की गई थी। गोस्वामी जी की एक विशेषता यह रही है कि इन्होंने अपने उपन्यासों में भाषा की विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है। कभी क्लिष्ट संस्कृत-गर्भित शैली अपनाई है तो कभी उर्दू-प्रधान शैली। इस अस्थिरता के कारण ये भाषा का एक सुव्यवस्थित रूप प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे। इस युग के अन्य सामाजिक उपन्यास-लेखकों और उनके उपन्यासों का विवरण इस प्रकार है—

अमृतलाल चक्रवर्ती का 'सती सुखदेवी'; लोचनप्रसाद पांडेय का 'दो मित्र'; बल्देव प्रसाद मिश्र का 'संसार'; नवलराम का 'प्रेम'; सकल नारायण पांडेय का 'अपराजिता'; लज्जाराम मेहता के 'बिगड़े का सुधार', 'आदर्श हिन्दू'; रुद्रदत्त शर्मा का 'स्वर्ग में महासभा'; श्याम किशोर वर्मा का 'काशी यात्रा'; रामजीदास वैद्य के 'धोखे की टट्टी'; 'फूल में काँटा'; रामप्रसाद सत्याल का 'किरण शशि'; कृष्णलाल वर्मा का 'चम्पा'; मन्नन द्विवेदी के 'रामलाल', 'कल्याणी'; रामनरेश त्रिपाठी का 'मारवाड़ी और पिशाचिनी'; जगतचन्द्र रमोला का 'सत्य प्रेम'; योगेन्द्रनाथ का 'मानवती'; हरस्वरूप पाठक का 'भारत माता'; गंगाप्रसाद गुप्त का 'लक्ष्मीदेवी' आदि।

उपर्युक्त उपन्यासों के अतिरिक्त इस युग में दो साहित्यकारों ने कुछ ऐसे उपन्यास लिखे थे जो विषय-वस्तु की दृष्टि से तो सामाजिक रहे परन्तु उनमे विभिन्न प्रकार की भाषा-शैलियों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति प्रधान रही। बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने बँगला-शैली में 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकान्त', और 'राजेन्द्र मालती' नामक उपन्यास लिखे जिनका रूप भाव-प्रधान ही अधिक रहा। इस प्रकार इन्होंने हिन्दी में भाव-प्रधान उपन्यास लिखने की परम्परा का श्रीगणेश किया। दूसरी ओर अयोध्या-सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', और 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास लिखकर भाषा के सरलतम रूप के प्रयोग किए। इनकी एक विशेषता यह रही है कि इनमें किसी भी शब्द में मिश्रित अक्षरों का प्रयोग नहीं हुआ है। परन्तु इनमें औपन्यासिक कौशल नहीं मिलता।

(इस प्रकार इस काल में हिन्दी-उपन्यास विकास के पथ पर आगे बढ़ा। उसकी विषय-वस्तु, रूप और शैली में नया निखार और वैविध्य प्रकट हुआ परन्तु फिर भी उसमें अपेक्षित गम्भीरता नहीं आ पाई। इस काल में रचित उपन्यासों में सामयिक-जीवन की समस्यायें नहीं थीं, उनके समाधान नहीं थे, उपदेश या नीति के प्रचार में कला नहीं थी, और न जीवन के गम्भीर पक्षों का ही चित्रण हुआ था। इसलिए उपन्यासों के विकास की परम्परा को जानने की दृष्टि से इनका मूल्य महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। इस युग के तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की परम्परा आगे विकसित नहीं हो सकी।) सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों का स्तर साधारण रहा।

३. अभूतपूर्व विकास की अवस्था

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यह एक विचित्र सी बात मिलती है कि इसकी विभिन्न धाराओं के उन्नयन और चरमोत्कर्ष का श्रेय कतिपय प्रतिभाशाली कलाकारों को ही मिला है। कबीर, सूर, तुलसी, भारतेन्दु, जयशंकर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल आदि ऐसे ही अमर कलाकार हुए हैं। इन्होंने हिन्दी-साहित्य की विभिन्न धाराओं और विधाओं को चरमोत्कर्ष तक पहुँचा दिया था। आधुनिक काल में प्रसाद के पदार्पण करते ही नाटक, कहानी और कविता में एक नया चमत्कार सा उत्पन्न हो गया था। शुक्लजी

ने निबन्ध और आलोचना को विकास की उच्चतम सीमा तक पहुँचा दिया था। महान् साहित्यकारों की इसी परम्परा में **प्रेमचन्द** की भी गणना की जाती है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में उनके प्रवेश करते ही हिन्दी-उपन्यास और कहानी में अभूत-पूर्व और आश्चर्यजनक, सा परिवर्तन होता हुआ दिखाई पड़ा। इस युग से पूर्व उपन्यास के क्षेत्र में विभिन्न परन्तु साधारण प्रयोग मात्र किए जाते रहे थे। परन्तु प्रथम विश्व-युद्ध (सन् १९१४-१८) के दौरान हमारे साहित्यकार देश और समाज की समस्याओं के प्रति अधिक जागरूक हो उठे। प्रेमचन्द इस नवीन क्रान्तिकारी चेतना के ध्वजवाहक बन उपन्यास के क्षेत्र में उतरे। वस्तुतः हिन्दी-उपन्यासों का वास्तविक आरम्भ प्रेमचन्द से ही मानना चाहिए। प्रेमचन्द ने सस्ते मनोरंजन के स्थान पर सामयिक युग और समाज की ज्वलन्त समस्याओं को अपने उपन्यासों का लक्ष्य बनाया। नवोदित राजनीतिक चेतना सशक्त राष्ट्रीयता का रूप धारण कर सबसे पहले उन्हीं के उपन्यासों में प्रकट हुई। प्रेमचन्द के समय में ही हिन्दी-उपन्यास प्रेम-कथा, तिलस्मी, ऐयारी और जासूसी चमत्कारों तथा धार्मिक और सामाजिक उपदेशात्मक क्षेत्रों को त्याग सच्चे अर्थों में सामाजिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ। उनके उपन्यासों में इस युग का राजनीतिक और सामाजिक भारत सरकार हो उठा। यह हिन्दी के यथार्थवादी उपन्यासों का पहला रूप था।

कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द के उपन्यासों को आदर्शवादी सामाजिक उपन्यास माना है। परन्तु ये लोग आदर्श और यथार्थ के अत्यन्त संकुचित और रूढ़िगत अर्थों को ही स्वीकार कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में यथार्थ चित्रण के माध्यम से अपने मतानुसार विभिन्न समस्याओं के समाधान प्रस्तुत किए हैं। साम्यवाद भी तो यथार्थ का चित्रण और विश्लेषण कर समाज के भावी विकास की रूपरेखा और उसे उपलब्ध करने के साधन बताता है। जब कोई कलाकार यथार्थ का आधार ग्रहण कर ऐसे सुझाव और समाधान प्रस्तुत करता है तो उसे यथार्थवादी ही मानना चाहिए, न कि आदर्शवादी। उसका लक्ष्य एक स्वस्थ कल्याणकारी आदर्श की स्थापना करना रहता है परन्तु वह उस तक पहुँचने का मार्ग यथार्थवादी ही अपनाता है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में इसी प्रक्रिया को अपनाया है, इसी कारण वह स्वयं अपने को आदर्शोन्मुख यथार्थवादी मानते थे और समझदार लोगों का भी उनके सम्बन्ध में यही मत है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में स्वाधीनता के लिए संघर्षरत भारत का सजीव और मार्मिक इतिहास अंकित किया था। यदि गांधी जी के नेतृत्व में हुए इस स्वाधीनता आन्दोलन का सन् १९१८ से लेकर १९३६ तक का यथार्थ इतिहास देखना हो तो इसके लिए प्रेमचन्द के उपन्यास सर्वोत्तम साधन हैं। अपने इस चित्रण में उन्होंने उत्तर-भारत की जनता के लगभग प्रत्येक वर्ग के प्रभावशाली और मार्मिक यथार्थ चित्र खींचे हैं। वे वस्तुतः मेहनतकश भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनकी इसी विशेषता को लक्ष्य कर लिखा है—"अगर आप

उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोंपड़ियों से लेकर महलों तक, गाँव से लेकर धारासभाओं तक, खोंमचे वालों से लेकर बैंकों तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़ कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अन्तःपुर में मान किए हुए प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारवनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोयन्दों को, ईर्ष्या परायण प्रोफेसरों को, दुर्बल हृदय बैंकरों को, साहस परायण चमारिन को, ढोंगी पंडितों को, फरेबी पटवारियों को, नीचाशय अमीरों को देख सकते हैं और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा है, वह गलत नहीं है।"

द्विवेदी जी के उपर्युक्त कथन में प्रेमचन्द द्वारा अपनाई गई, जन-जीवन की उस विशाल पृष्ठभूमि का पूरा चित्र स्पष्ट हो उठा है, जिसे आधार बना प्रेमचन्द अपने उपन्यासों द्वारा युग-जीवन और नवीन युग-चेतना का अंकन कर रहे थे। प्रेमचन्द ने निम्नलिखित उपन्यास लिखे थे—प्रेमा, वरदान, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, गबन, काया-कल्प, प्रतिज्ञा, निर्मला, कर्मभूमि, तथा गोदान। 'गोदान' उनका अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है। 'गोदान' के उपरान्त उन्होंने 'मंगल सूत्र' नामक एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था, मगर इसी बीच उनकी असामयिक मृत्यु हो गई, और यह उपन्यास अधूरा ही रह गया। 'प्रेमा' और 'वरदान'—उनके आरम्भिक छोटे-छोटे उपन्यास हैं, जो उन्होंने उस समय लिखे थे, जब वे 'नबावराय' के नाम से उर्दू और हिन्दी—दोनों में लिखा करते थे। उन्होंने अपने अधिकाश उपन्यास पहले हिन्दी में लिखे थे और फिर बाद में स्वयं उनका उर्दू में अनुवाद किया था। प्रेमचन्द का हिन्दी और उर्दू—दोनों पर अबाध अधिकार थे, इसलिए उनकी भाषा में इन दोनों की प्रकृति, विशिष्टता, शैली और शब्दों का अत्यन्त सुखद, कलापूर्ण, स्वाभाविक, सहज और सरस मिश्रण हो गया है। और इसी भाषा को आदर्श मान गांधी जी ने उसे 'हिन्दुस्तानी' नाम दे, राष्ट्रभाषा के रूप में उसका सम्पूर्ण देश में प्रचार करना आरम्भ कर दिया था।

प्रेमचन्द का पहला प्रौढ़ उपन्यास 'सेवा सदन' था। वस्तुतः 'सेवासदन' से ही वास्तविक हिन्दी-उपन्यास का जन्म माना जाना चाहिए। 'सेवासदन' के उपरान्त प्रेमचन्द की औपन्यसिक कला क्रमशः विकसित होती हुई 'गोदान' में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची थी। 'सेवासदन' से 'गोदान' तक की अपनी लम्बी मंज़िल में प्रेमचन्द विभिन्न प्रकार के वैचारिक और सैद्धान्तिक प्रयोग करते रहे हैं। बहुत समय तक 'गोदान' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता रहा था; और हमारी अब भी यह निश्चित धारणा है कि अभी तक हिन्दी में ऐसा कोई भी दूसरा उपन्यास नहीं लिखा गया जो 'गोदान' को इस पद से अपदस्थ करने में समर्थ हो। विचारों से प्रेम-

चन्द मूलतः क्रान्तिकारी रहे हैं। उनके सम्पूर्ण उपन्यासों में क्रान्ति का यह स्वर गूँजता हुआ सुनाई पड़ता है। भारत के तत्कालीन समाज और शासन-त्रंत पर जैसे तीखे और निर्मम प्रहार प्रेमचन्द ने किए हैं, उनकी मिसाल नहीं मिलती। वे भारतीय जीवन के सूक्ष्म द्रष्टा और अद्भुत रूप से जागरूक भविष्य-द्रष्टा थे। इसी कारण उनके साहित्य में युगीन भारतीय जीवन अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ यथार्थ रूप में मुखरित हो उठा है। यह यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही चमत्कार था, न कि आदर्शवादी दृष्टिकोण का।

प्रेमचन्द ने उपन्यास-क्षेत्र में अवतरित हो हिन्दी-उपन्यास को एक नई यथार्थवादी दृष्टि प्रदान की थी। उनके उपन्यासों में हिन्दी-उपन्यास की क्षीण और लक्ष्यहीन धाराएँ सम्मिलित होकर महानद बन गई थीं। प्रेमचन्द इस क्षेत्र में उस शिखर के के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के चढ़ाव-उतार हैं। अर्थात् प्रेमचन्द ने हिन्दी-उपन्यास को चरमोत्कर्ष प्रदान किया था और उनके उपरान्त हिन्दी-उपन्यास अपनी उस गरिमा और उत्कर्ष को अक्षुण्ण नहीं बनाए रख सका। उनके उपन्यासों में वस्तु-चित्रण, कथोपकथन, भाषा, शैली, चरित्र-चित्रण आदि का अत्यन्त प्रौढ़ रूप उभरा था। इसी कारण प्रेमचन्द हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार बने और उपन्यास-सम्राट् कहलाए। उनकी इस अद्भुत सफलता का मुख्य कारण था—तत्कालीन भारतीय जीवन की असाधारण गतिशीलता, प्रेमचन्द का इस जीवन से घनिष्ठ परिचय और यथार्थवादी दृष्टि तथा उनकी अनन्य प्रतिभा और अद्भुत सृजन-शक्ति।)

अन्य उल्लेखनीय उपन्यासकार

इस युग के अन्य उल्लेखनीय उपन्यासकारों में जयशंकर प्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीचरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, ऋषभचरण जैन आदि की गणना की जाती है। इनमें से अनेक, जैसे—प्रसाद, कौशिक, श्रीवास्तव, जोशी, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा आदि प्रेमचन्द के समय से ही उपन्यास लिखते आ रहे थे, और कुछ, जैसे—उग्र, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा आदि ने प्रेमचन्द-युग के उत्तरार्द्ध में उपन्यास लिखना आरम्भ किया था। इस सभी उपन्यासकारों में से कुछ ने प्रेमचन्द की यथार्थवादी-परम्परा को अपनाया था, तथा कुछ आदर्शवादी ऐतिहासिक, व्यक्तिवादी या मनोविश्लेषणवादी नई-पुरानी विचारधाराओं को अपना कर आगे बढ़े थे।

काव्य और नाटक के आदर्शवादी प्रसाद ने 'कंकाल' और 'तितली' नामक दो यथार्थवादी उपन्यास लिखकर हिन्दी के उपन्यासकारों में अपना श्रेष्ठ स्थान बना लिया था। प्रसाद के इन उपन्यासों में बौद्धिक सघनता और व्यक्तिवाद की प्रधानता रही है, परन्तु फिर भी, ये प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवादी रूप और शैली के ही

उपन्यास रहे हैं। प्रसाद ने 'इरावती' नामक एक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखना आरम्भ किया था परन्तु उनकी असामयिक मृत्यु ने उसे पूरा नहीं होने दिया। कौशिक जी के 'माँ', 'भिखारिणी' और 'संघर्ष'; प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने 'विदा', 'विजय', 'विकास' आदि आदर्शवादी और गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित उपन्यास हैं। इनकी रचना इसी काल में हुई थी। श्रीवास्तव ने इस काल के उपरान्त भी 'बयालीस', 'बेकसी का मज़ार', 'विसर्जन', 'विश्वमुखी', 'वेदना', 'विश्वास की वेदी पर', 'वंचना', 'विनाश के बादल' आदि अनेक उपन्यास लिखे थे, जिनका रचना-काल सन् १९४८ से लेकर' ६३ तक फैला हुआ है। ये सम्पूर्ण उपन्यास गांधीवाद से प्रभावित हैं। इनमें राष्ट्रीयता का स्वर अत्यन्त प्रबल रहा है। भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति लेखक की अनन्य आस्था सराहनीय है। अवधनारायण का 'विमाता'; श्रीनाथ सिंह के 'उलझन', 'जागरण', 'प्रभावती', 'प्रजामंडल' आदि भी गांधीवादी और सामाजिक सुधार की भावना से प्रेरित उपन्यास हैं। चन्डीप्रसाद हृदयेश के 'मनोरमा' और 'मंगल प्रभात' नामक उपन्यासों में यही सुधारवादी आदर्शपरक भावना भावात्मक शैली में अभिव्यक्त हुई है। सियारामशरण गुप्त के 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा', 'नारी'; मोहनलाल महतो के 'भाई-बहन', 'पथ-विपथ', 'विसर्जन' आदि उपन्यासों में भारतीय जीवन के विविध पक्ष आदर्शवादी धारा के अनुरूप ही चित्रित किए गए हैं। राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह का 'राम रहीम' पर्याप्त प्रसिद्ध रहा था। उपर्युक्त सभी उपन्यास आदर्शवादी धारा के सामाजिक उपन्यास हैं, जिनमें से कुछ में यथार्थवादी चित्रण के माध्यम से आदर्शवाद की स्थापना की गई है, परन्तु अधिकांश गांधीवाद से प्रभावित रहने के कारण आदर्शवादी ही रहे हैं। इनकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीयता, भारतीय संस्कृति और सामाजिक सुधार की प्रबल आकांक्षा अभिव्यक्त हुई है। इन उपन्यासकारों में से एक भी प्रेमाचन्द की उस सूक्ष्मभेदी, यथार्थपरक दृष्टि का अधिकारी नहीं रहा, जिसने प्रेमचन्द को इतना महान् बना दिया था।

इसी युग में हिन्दी में ऐसे नए उपन्यासों की एक धारा प्रकट हुई, जिनमें समाज के अश्लील और घिनौने पक्षों और उनकी विकृतियों का खुला, यथार्थवादी चित्रण हुआ। इनमें समाज की दुर्बलताओं को नग्न रूप में प्रकट किया गया। उग्र, ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री आदि उपन्यासकार ऐसे ही उपन्यासों के साथ इस क्षेत्र में उतरे। इनका उद्देश्य—नग्न, यथार्थवादी चित्रण कर सुधार की भावना का प्रचार करना था, परन्तु इसके लिए इन्होंने जो पद्धति अपनाई, उसमें अश्लील और घिनौने चित्रणों की प्रधानता रही। इस प्रधानता के ही कारण ये उपन्यास यथार्थवादी न रहकर अति-यथार्थवादी से बन गए। फ्रांसीसी उपन्यासकार एमिल जोला बहुत पहले ऐसे उपन्यासों की रचना कर चुका था। हिन्दी के इन उपन्यासों में अभिव्यंजित तीखा व्यंग्य कल्याणकारी और स्पृहणीय तो अवश्य था परन्तु सामान्य पाठक की दृष्टि उन अश्लील वर्णनों में ही उलझ कर रह जाती थी और रस लेने लगती थी। इनकी

इसी निर्बलता को लक्ष्य कर कुछ आलोचकों ने ऐसे उपन्यासों को 'घासलेटी-साहित्य' की संज्ञा प्रदान कर दी थी। यह आलोचना एकांगी थी। ये आलोचक इन उपन्यासकारों के वास्तविक उद्देश्य को समझने में असमर्थ रहे थे। परन्तु इनकी इस आलोचना का यह घातक प्रभाव पड़ा था कि साहित्य में इन उपन्यासकारों को अश्लील का चितेरा मान हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। उग्र के 'चन्द हसीनों के खतूत', 'घंटा', 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटी', 'शराबी', 'सरकार तुम्हारी आँखों में' आदि; चतुरसेन शास्त्री के 'हृदय की परख', 'खवास का विवाह', 'हृदय की प्यास', 'मन्दिर की नर्तकी' आदि; ऋषभचरण जैन के 'मास्टर साहब', 'वेश्या पुत्र', 'चम्पाकली', 'दिल्ली का व्यभिचार' आदि इसी प्रकार के उपन्यास थे।

सन् १९२९ के लगभग हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों का उदय हुआ। इनमें फ्रॉयड के कुंठावाद के आधार पर मानव की दमित वासनाओं, कुंठाओं, काम-प्रवृत्तियों आदि का कलापूर्ण और प्रभावशाली चित्रण किया गया। काम, अहं, दम्भ, हीन-भाव आदि की ग्रन्थियों के संदर्भ में ही पात्रों का चित्रण होने के कारण ये उपन्यास व्यक्ति के सीमित-संकुचित क्षेत्र तक ही सीमित होकर रह गए, विशाल समाज उपेक्षित ही बना रहा। इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र—इस युग में इसी प्रकार के उपन्यास लिखते रहे थे। जैनेन्द्र के 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' आदि, तथा जोशी जी के 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'लज्जा', 'निर्वासित', 'प्रेत और छाया' आदि उपन्यास विशुद्ध रूपेण मनोविश्लेषणवादी उपन्यास हैं। जैनेन्द्र के उपन्यासों की मूल चेतना मनोविश्लेषणवादी रहते हुए भी कलात्मक अतः अप्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त हुई है, परन्तु जोशी जी ने उसे अधिक स्पष्ट और यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया है। जैनेन्द्र जी इस युग के उपरान्त भी लगभग इसी प्रकार के उपन्यास लिखते रहे हैं, लेकिन जोशी जी आगे चलकर आदर्शपरक यथार्थवादी बन गए हैं। इस मनोविश्लेषणवादी परम्परा का प्रेमचन्दोत्तर युग में पर्याप्त विकास हुआ था।

इस काल में ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा का भी विकास हुआ था। इस काल में उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास केवल दो ही लिखे गए—बाबू वृन्दावन-लाल वर्मा के 'गढ़ कुंडार' (१९२८), और 'विराटा की पद्मिनी'। वस्तुतः प्रेमचन्द का युग प्रधान रूप से सामाजिक उपन्यासों का ही युग रहा था। इन सामाजिक उपन्यासों में राजनीतिक परिस्थितियों के अंकन के साथ राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता और समाज-सुधार की भावनाओं का ही प्राधान्य था। प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीयता के स्वर को बुलन्द किया था, परन्तु उपन्यास के क्षेत्र में इतिहास के प्रति प्रायः उदासीन ही बने रहे। इसी कारण प्रेमचन्द-युग में ऐतिहासिक उपन्यास बहुत ही कम लिखे गए। हम सन् १९४० के बाद हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा को पुनः विकसित होता हुआ पाते हैं, उससे पूर्व नहीं। वस्तुतः हिन्दी में सुन्दर ऐतिहासिक उपन्यास प्रेमचन्द के बाद ही लिखे गए। इस युग में तो वर्मा जी के उपर्युक्त दो उपन्यास ही ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। ये दोनों

ही उपन्यास कला और प्रभाव की दृष्टि से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों में स्थान पाने के अधिकारी हैं।

भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' को ऐतिहासिक उपन्यास नहीं माना जा सकता, यद्यपि इसकी कथा चन्द्रगुप्त मौर्य के युग से सम्बन्धित है। यह एक विशुद्ध-रूपेण काल्पनिक उपन्यास है जिसकी प्रेरणा अनातोले फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यास 'थाया' से ग्रहण की गई थी। 'चित्रलेखा' एक मनोविश्लेषण-प्रधान व्यक्तिवादी शैली का छोटा सा सुन्दर और सरस उपन्यास है। प्रसिद्धि की दृष्टि से इसे हिन्दी का अन्यतम उपन्यास माना जा सकता है। साधारण पाठकों में यह उपन्यास अत्यन्त लोकप्रिय रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द-युगीन हिन्दी-उपन्यास एक नई युग-चेतना को लेकर आगे बढ़े थे। सामाजिक दृष्टि से इन पर आर्य-समाजी सुधारवादी विचार-धारा का प्रभाव रहा था। राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ये गांधीवाद और द्विवेदी-युगीन सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना से प्रभावित रहे थे। समष्टितः इनका प्रधान स्वर राष्ट्रीयता का था। यद्यपि इस युग में व्यक्तिवादी पाश्चात्य दर्शनों से प्रभावित उपन्यासों का निर्माण होना आरम्भ हो गया था परन्तु उनका विकास परवर्ती युग में ही हो सका। आदर्शवादी और यथार्थवादी—दोनों ही धाराएँ इस युग के उपन्यासों में समानान्तर प्रवाहित हो रही थीं परन्तु दोनों का मूल लक्ष्य एक ही था—सामाजिक और सांस्कृतिक सुधार के माध्यम से देश को सशक्त बना स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए अग्रसर करना। कला की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास अधिक सुगठित और सशक्त बनते जा रहे थे। अब वे सच्चे अर्थों में समाज के प्रतिम्बिम्ब बन गए थे। चरित्र-चित्रण, पात्र-योजना, विषय-वस्तु चयन, भाषा, शैली एवं उद्देश्य की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास ने इतनी अभूतपूर्व प्रगति की थी कि वह अपने युग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधा बन गया था। वस्तुतः प्रेमचन्द के युग की समाप्ति तक हिन्दी-उपन्यास का अपना एक निश्चित स्वरूप बन गया था जो बहुमुखी रूप धारण कर परवर्ती युग में विकसित हुआ।

४. बहुमुखी धारा

प्रेमचन्द के उपरान्त हिन्दी-उपन्यास बहुमुखी रूप धारण कर आगे बढ़ा। इस नवीन युग में प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, फ्रायडवादी, ऐतिहासिक, सामाजिक, आंचलिक और पाश्चात्य-जगत में उत्पन्न नई-नई विचारधाराओं और पद्धतियों का अनुसरण करने वाले सैकड़ों उपन्यास नई साहित्यिक चेतना के प्रतिनिधि के रूप में रचे जाते रहे। इनमें से कुछ प्रवृत्तियों का जन्म प्रेमचन्द युग में हो चुका था और कुछ नई प्रवृत्तियाँ इस नवीन विकास के युग में उद्गमित हुईं। अब आदर्शवादी चित्रण को अवहेलना की दृष्टि से देखा जाने लगा। सबने यथार्थ चित्रण को अपना कर जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण करना आरम्भ कर दिया। इस यथार्थवादी चित्रण के दो प्रधान रूप

रहे। **पहला**, समाजवादी विचारधारा से प्रभावित उपन्यासकारों ने समाज का यथार्थ चित्रण कर समाज की दशा को बदलने के नए आयाम प्रस्तुत किए। ऐसे उपन्यासकार प्रगतिवादी कहलाए। प्रेमचन्द का अन्तिम उपन्यास 'गोदान' इस समाजपरक यथार्थवादी चित्रण का भव्य और प्रभावशाली रूप प्रस्तुत कर चुका था। इन नए यथार्थवादी उपन्यासकारों ने उस चित्रण में साम्यवादी विचारों का समावेश कर उसे एक निश्चित राजनीतिक विचारधारा का रूप दे दिया। यशपाल, राहुल, रांगेय राघव, नागार्जुन, अमृतराय आदि इस धारा के प्रमुख और प्रतिनिधि उपन्यासकार हैं। **दूसरा**, व्यक्तिवादी जीवन-दर्शनों से प्रभावित उपन्यासकारों ने समाज की अपेक्षा व्यक्ति को ही अधिक महत्त्व प्रदान करते हुए व्यक्ति के मनोराज्य, विभिन्न मन:स्थितियों, कुण्ठाओं आदि के चित्रण को ही अपना मूल लक्ष्य बनाया। इनमें थोड़े-थोड़े से अन्तर रहे। किसी ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना को आधार बनाया और किसी ने मनोविश्लेषण के आधार पर व्यक्ति की कुण्ठाओं के चित्रण को ही अपना प्रधान लक्ष्य माना। समष्टि रूप से ये व्यक्तिवादी ही रहे। जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, धर्मवीर भारती आदि इसी वर्ग के उपन्यासकार हैं।

उपर्युक्त दो प्रधान वर्गों में भी थोड़े से भेद रहे। समाजवादी विचारधारा से प्रभावित उपन्यासकारों के दो रूप मिलते हैं। **एक**, वे जो साम्यवादी विचारधारा से पूरी तरह से प्रभावित हैं, जैसे—यशपाल आदि। **दो**, जो समाजवादी चित्रण के तो समर्थक हैं परन्तु साम्यवादी सिद्धान्तों को पूरी तरह से स्वीकार नहीं करते, जैसे—अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि। इनके समाज और राजनीति सम्बन्धी विचार स्वतन्त्र हैं। कहीं-कहीं आदर्शवाद का मोह भी इन्हें उलझाए रहता है। व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित उपन्यासकार भी दो वर्गों में विभाजित हैं। **एक**, जो घोर व्यक्तिवादी हैं और फ्रॉयड के दर्शन को पूर्ण रूप से अपना कर आगे बढ़े हैं, जैसे—अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र आदि। **दो**, जो व्यक्तिवादी तो हैं, फ्रॉयड का भी जिन पर पर्याप्त गहरा प्रभाव है परन्तु फिर भी वे व्यक्ति के अहं को प्रधान मान राजनीति, समाजनीति आदि को अपनाते हुए चले हैं, जैसे—भगवतीचरण वर्मा आदि। इनके अतिरिक्त इस वर्ग में कुछ ऐसे उपन्यासकार भी हैं जिन्होंने यूरोप, अमरीका के नए ढंग के उपन्यासों का अनुकरण करते हुए नई शैली के कुछ उपन्यास लिखे हैं, जैसे—धर्मवीर भारती ('सूरज का सातवाँ घोड़ा'), लक्ष्मी कान्त वर्मा ('खाली कुर्सी की आत्मा') आदि। इनकी मूल चेतना व्यक्तिवादी ही रही है। इस वर्ग में कुछ ऐसे उपन्यासकार भी हैं जो प्रयत्न तो समाज का चित्रण करने का करते हैं परन्तु फ्रॉयड का गहरा प्रभाव उन्हें व्यक्तिवाद को ओर बलात् घसीट ले जाता है, जैसे—भगवतीप्रसाद वाजपेयी। वस्तुत: ये ऐसे आदर्शवादी उपन्यासकार हैं, जिनमें से यदि फ्रॉयड को हटा दिया जाय तो विशुद्ध आदर्शवादी ही रह जाते हैं। समाजवादी वर्ग में वृन्दावन लाल वर्मा अकेले ऐसे ऐतिहासिक और सामाजिक

उपन्यासकार हैं जिन्होंने अपने दोनों प्रकार के उपन्यासों में युग-चेतना को अत्यन्त प्रभावशाली और यथार्थवादी रूप में अङ्कित किया है। वर्मा जी राजनीतिक जंजाल से सर्वथा मुक्त रह जनता के सच्चे प्रतिनिधि का रूप धारण कर समाज की स्थितियों और समस्याओं का अंकन करते हैं। प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यास-साहित्य का सिंहावलोकन करते हुए प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है कि--"प्रेमचन्द की किसान-परम्परा को तज कर हिन्दी-उपन्यास अनेक नई शाखाओं में बढ़ा—तत्त्व और रूप—दोनों ही दृष्टि से। एक धारा निम्न मध्य वर्ग के जीवन, उसकी निराशाओं और असफलताओं को अपनाती है। इसके प्रमुख परिचायक जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अश्क आदि हैं। दूसरी धारा व्यक्तिवादी, अहंवादी, नाशवादी दृष्टि को अपनाती है। इसके प्रतिनिधि—भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय आदि हैं। एक धारा मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रभाव में कुण्ठित अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति करती है। इसके प्रमुख प्रतिनिधि—पं० इलाचन्द्र जोशी रहे हैं। एक अन्य धारा भारतीय श्रमजीवी वर्ग की अग्रगामी शक्तियों से सम्बन्ध जोड़ती है और भविष्य की धरती को सँजोती है। इसके प्रमुख प्रतिनिधि—यशपाल, रांगेय राघव, पहाड़ी, भगवतशरण उपाध्याय, नागार्जुन, अमृतलाल नागर आदि हैं।"

उपर्युक्त उल्लखित अधिकांश उपन्यासकार उस पीढ़ी के हैं जो प्रेमचन्द के समय से ही उपन्यास लिखते चले आ रहे हैं। इनके साथ ही सन् १६५० के आसपास कथाकारों की नई पीढ़ी सामने आई है जिसने हिन्दी-उपन्यास को पर्याप्त समृद्ध बनाया है। स्वाधीनता के बाद देश में एक नई चेतना उदय हुई थी जिसने नई उदीयमान पीढ़ी को तो गहरे रूप से प्रभावित किया ही था, पुरानी पीढ़ी की मान्यताओं में भी परिवर्तन कर दिया था। यह परिवर्तन कुछ पुराने उपन्यासकारों की कृतियों में लक्षित हुआ है। यह बहुमुखी विकास का युग प्रेमचन्द के उपरान्त सन् १६४० के आसपास आरम्भ होता है। अब हम १६४० से लेकर आज तक के उपन्यास-साहित्य के विकास का विवेचन उसे विषय की दृष्टि से विभिन्न वर्गों में विभाजित कर प्रस्तुत करेंगे। इस काल के सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य को, विवेचन की सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१—सामाजिक उपन्यास,

२—मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास,

३—आंचलिक उपन्यास, तथा

४—ऐतिहासिक उपन्यास।

आंचलिक उपन्यास भी सामाजिक उपन्यास ही हैं, केवल उनकी शैली और रचना-विधि में अन्तर रहा है। फिर भी यह उपन्यास का एक सर्वथा नवीन रूप है, इसलिए इसे एक भिन्न वर्ग में रखना पड़ा है।

सामाजिक उपन्यास

इस वर्ग के उपन्यासों में समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सापेक्षिक महत्त्व को स्वीकार कर दोनों को ही केन्द्र बना, उनकी समस्याओं और संघर्षों का अंकन किया गया है। इसलिए ऐसे उपन्यासों में व्यक्ति समाज या उसके किसी विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधि बनकर आता है। इन उपन्यासों में, जैसा कि हम पीछे बता आए हैं, यथार्थपरक समाजवादी तथा यथार्थपरक आदर्शवादी—दोनों ही प्रकार के उपन्यास आते हैं। यथार्थपरक समाजवादी उपन्यासकारों में—यशपाल, रांगेय राघव, अमृतराय, नागार्जुन प्रधान रूप से; तथा अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि सामान्य रूप से प्रमुख रहे हैं। यशपाल आदि को हम प्रगतिवादी परम्परा का उपन्यासकार मान सकते हैं और नागर जी तथा अश्क आदि को समाजवादी परम्परा का। भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि आदर्शवादी समाजवादी हैं।

यशपाल—प्रगतिवादी परम्परा के सर्वप्रधान उपन्यासकार हैं। उनके 'दादा-कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड', 'मनुष्य के रूप', 'बारह घन्टे', 'झूठा सच' आदि इस परम्परा के प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'दिव्या' और 'अमिता' नामक दो ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं। इन दोनों प्रकार के उपन्यासों की मूल चेतना मार्क्सवादी रही है। यशपाल ने अपने इन उपन्यासों में मार्क्सवादी यथार्थपरक सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए जीवन की सम्पूर्ण विविधताओं और बहुपक्षी संघर्ष का चित्रण किया है। आर्थिक विषमता जन्य वर्ग-संघर्ष—इनका मूल स्वर रहा है। प्रेमचन्द के उपरान्त यशपाल के उपन्यास बहुत लोकप्रिय रहे थे। वस्तुतः प्रगतिवादी उपन्यासों को जनप्रिय बनाने का श्रेय इन्हीं के उपन्यासों को मिलना चाहिए। इनका अब तक का अन्तिम और सबसे विशालकाय उपन्यास 'झूठा सच' इस नवीन युग का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसमें आजादी के उपरान्त देश के विभाजन-स्वरूप उत्पन्न हुई भयंकर प्रतिक्रियाओं, संघर्षों, एक पुरानी संस्कृति के उखड़ने और नए परिवेश में नया जन्म लेती हुई एक नवीन संस्कृति, नए जीवन-मूल्यों आदि का एक विशाल पृष्ठभूमि पर बड़ा मार्मिक और यथार्थ चित्रण हुआ है। इसमें हमारा संक्रान्ति-कालीन सम्पूर्ण जीवन अपने हर पक्ष के साथ, अपनी सम्पूर्ण गहराई और उथलेपन को समेटता हुआ साकार हो उठा है। एक प्रकार से यह उपन्यास इस नवीन युग का प्रतिनिधि उपन्यास है। यशपाल के उपन्यासों में आधुनिक यथार्थ जीवन, समाजवादी दर्शन और सोद्देश्य क्रान्ति के सन्देश के साथ औपन्यासिक कला और भाषा-शैली के भी नए यथार्थवादी रूप उभरे हैं। उद्देश्य की दृष्टि से यशपाल को प्रेमचन्द की परम्परा का उपन्यासकार माना जा सकता है।

रांगेय राघव—इस प्रगतिवादी परम्परा के अत्यन्त सशक्त कथाकार रहे हैं। 'घरौंदे', 'विषाद-मठ', 'सीधा सादा रास्ता', 'हुजूर', 'काका', 'कब तक पुकारूँ', 'प्रोफेसर', 'बन्दूक और बीन', 'बौने और घायल फूल', 'छोटी सी बात', 'दायरे',

'कल्पना', 'आखिरी आवाज', 'धरती मेरा घर', 'डाक्टर' आदि इनके अगणित उपन्यासों में उल्लेखनीय हैं। इनका 'कब तक पुकारूँ', उपन्यास इस परम्परा के सामाजिक उपन्यासों में विशेष प्रसिद्ध रहा है। इसे कुछ लोग आंचलिक उपन्यास भी मानते हैं। इन्होंने 'विषाद मठ' बंकिम बाबू के प्रसिद्ध उपन्यास 'आनन्दमठ' के उत्तर में और 'सीधा सादा रास्ता' भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' नामक उपन्यास के उत्तर में लिखा था। रांगेय राघव ने अपने इन उपन्यासों में सामाजिक वर्ग-वैषम्य से पीड़ित मानव को अपनी कथाओं का नायक बनाया है। रांगेय राघव की यह विशेषता रही है कि वे विचारों से साम्यवादी होते हुए भी किसी भी विचारधारा की रूढ़ियों से मुक्त स्वतंत्र और जानरूक विचारक रहे हैं। उनके उत्तरकालीन उपन्यासों में न जाने क्यों नियतिवाद का स्वर उभरने लगा था। उनके सामाजिक और राजनीतिक व्यंग्य बड़े तीखे और मार्मिक हैं। उन्होंने अनेक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे थे जिनकी चर्चा अन्यत्र की जायेगी।

नागार्जुन—प्रेमचन्द के सच्चे उत्तराधिकारी और प्रगतिवादी विचारधारा के अत्यन्त सशक्त और प्रौढ़ उपन्यासकार हैं। इनका कथा-क्षेत्र ग्राम्य-जीवन से गहरे रूप से सम्बन्धित रहा है। यशपाल और रांगेय राघव ने प्रधानतः नागरिक जीवन का ही चित्रण किया है, जबकि नागार्जुन ग्राम्य-जीवन, उसकी विषमताओं और समस्याओं के चितेरे हैं। 'बलचनमा', 'नई पौध', 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे', 'दुखमोचन', 'रतिनाथ की चाची' आदि इनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं। इनमें मिथिला का ग्राम्य लोक-जीवन, उसकी संस्कृति, उस जीवन की विविध समस्याओं आदि का प्रगतिवादी दृष्टिकोण के अनुसार चित्रण किया गया है। ये उपन्यास सामाजिक यथार्थ के अत्यन्त कलात्मक एवं भव्य प्रतीक हैं। जीवन की व्यापकता और सम्पूर्णता, सामाजिक आधार पर यथार्थ का चित्रण, कथा-शिल्प के क्षेत्र में नवीन प्रयोग तथा जनवादी तत्त्वों में दृढ़ आस्था—इनकी प्रधान विशेषताएँ हैं। भूमि-संघर्ष, किसानों की समस्या, सामाजिक कुरीतियों को भंग करने का विश्वास एवं ओज, जनवादी-आन्दोलन की सफलता में दृढ़ विश्वास आदि के कारण ही नागार्जुन प्रेमचन्द के सच्चे उत्तराधिकारी बन सके हैं।

उपर्युक्त प्रमुख उपन्यासकारों के अतिरिक्त **अमृतराय** ('नागफनी का देश', 'हाथी के दाँत', 'बीज'), **हिमांशु श्रीवास्तव** ('लोहे के पंख', 'चित्र और चरित्र', 'नदी फिर बह चली', 'पुरुष और महापुरुष') **महेन्द्रनाथ** ('आदमी और सिक्के', 'रात अँधेरी है'), **नित्यानन्द वात्स्यायन** ('केला बाड़ी') आदि प्रगतिवादी परम्परा के उल्लेखनीय उपन्यासकार रहे हैं।

अमृतलाल नागर सामाजिक यथार्थवादी परम्परा के उपन्यासकार तो हैं परन्तु मार्क्सवाद उनका मूल स्वर नहीं रहा है। वह जनता की अदम्य जिजीविषा, अपराजेय संघर्ष-भावना और सामाजिक चेतना में अगाध आस्था रखते हुए अपने पात्रों का अंकन करते हैं। नागरिक मध्य और निम्न वर्ग के उनके पात्र अपनी सम्पूर्ण सबलताओं

और दुर्बलताओं के साथ वर्ग-प्रतिनिधि का रूप धारण कर लेते हैं। नागर जी युगीन समस्याओं का अंकन ऐसी कलापूर्ण चतुराई से करते हैं कि यह प्रतीत ही नहीं होता कि समस्यायें कहीं मुखर रूप में प्रकट हो रही हैं। वे सम्पूर्ण कथा में अप्रत्यक्ष रूप से घुली-मिली चलती हैं। नागर जी के मार्मिक, तीखे मगर शालीन व्यंग्य कथा के प्रभाव और रोचकता में चार चाँद लगा देते हैं। समाज का दर्द और हर्ष-उल्लास नागर जी का अपना दर्द और हर्ष-उल्लास बनकर उनके कथा-साहित्य में प्रत्यक्ष होता है। नागर जी 'महाकाल' और 'सेठ बाँकेमल' जैसे उपन्यासों द्वारा अमित कीर्त्ति के भागी बन उपन्यास-क्षेत्र में उतरे थे। 'सेठ बाँकेमल' हिन्दी का पहला सर्वोत्तम लघु आंचलिक उपन्यास है। किसी अंचल-विशेष की भाषा का जैसा यथार्थ, सफल और सार्थक प्रयोग करने में नागर जी समर्थ हैं, वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है। 'सेठ बाँकेमल' में आगरा के गोकुलपुरा नामक मोहल्ला की, और 'बूँद और समुद्र' में लखनऊ की जन-भाषा का नागर जी ने जैसा सफल-सशक्त प्रयोग किया है, उसकी तुलना में आंचलिक कहे जाने वाले अन्य उपन्यासों में प्रयुक्त आंचलिक बोलियाँ बचकाना सा प्रयास प्रतीत होता है। नागर जी भाषा की शक्ति के असली पारखी हैं। भाषा की यह परख प्रेमचन्द के उपरान्त नागर जी में ही मिली है। नागर जी की इस भाषा ने उनके उपन्यासों को लोकप्रिय बनाने में बहुत सहायता की है। परन्तु दुख इस बात का है कि नागर जी अपनी इस विशिष्टता को स्वयं कोई महत्त्व नहीं देते। यदि उनके सम्मुख 'सेठ बाँकेमल' की प्रशंसा की जाय तो वह बुरा मान जाते हैं।

'बूँद और समुद्र', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'अमृत और विष' नागर जी के अन्य उपन्यास हैं। 'बूँद और समुद्र' अपने दशक का श्रेष्ठ उपन्यास माना गया था। इसकी बहुत चर्चा रही थी। 'अमृत और विष'—उनका नवीन उपन्यास है जिसमें शिल्प की नवीनता के साथ लेखक का वैचारिक-मंथन सुष्ठु कला के साथ प्रकट हुआ है। इसे इस वर्ष 'अकादमी पुरस्कार' से पुरस्कृत किया गया है। 'गदर के फूल' और 'ये कोठेवालियाँ' नागर जी की अन्य कृतियाँ हैं, जिन्हें उपन्यास तो नहीं माना जा सकता परन्तु जो अपने प्रभाव में अनन्य हैं। 'ये कोठेवालियाँ' में नागर जी ने समाज द्वारा प्रताड़ित वेश्याओं के अत्यन्त करुण और हृदयद्रावक चित्र खींचे हैं। यह कृति हिन्दी-साहित्य की एक अनन्य और अमूल्य कृति है। नागर जी वस्तुतः जन जीवन के अत्यन्त कुशल और सहृदय चितेरे हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क ने 'सितारों का खेल', 'गर्म राख', 'गिरती दिवारें', 'बड़ी-बड़ी आँखें', 'पत्थर अल पत्थर', आदि अनेक उपन्यास लिखे हैं। अश्क मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन और उसके अन्तर्विरोधों के कुशल चितेरे हैं। उनके इस चित्रण में यह समाज अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ साकार हो उठा है। इनके पात्र संघर्ष करते हैं, परन्तु टूट जाते हैं। इसी कारण वे पाठकों में आशा और उत्साह के स्थान पर निराश की भावना ही अधिक उत्पन्न करते हैं। इनका यथार्थ चित्रण वस्तुस्थिति को तो स्पष्ट कर देता है परन्तु आगे बढ़ने की प्रेरणा नहीं दे पाता। वातावरण की

सजीवता, सूक्ष्म चरित्र-चित्रण, शैली को मार्मिकता और व्यंजकता—इनकी प्रधान विशेषताएँ हैं। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी **मन्मथनाथ गुप्त** ने 'अवसान', 'जय यात्रा', 'सुधार', 'अन्धेर नगरी', 'चक्की', 'रक्षक-भक्षक', 'दो दुनियाँ', 'बहता पानी', 'काजल की कोठरी' आदि अनेक उपन्यास लिखकर राष्ट्र और समाज की विभिन्न समस्याओं का यथार्थवादी चित्रण किया है। इन उपन्यासों में उच्च कला के दर्शन तो नहीं होते, फिर भी ये रोचक और प्रभाव डालने वाले हैं। **यज्ञदत्त शर्मा** ने 'दो पहलू', 'इन्सान', 'अन्तिम चरण', 'बदलती राहें' आदि अपने उपन्यासों में राष्ट्रीय, सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों का सुन्दर अंकन किया है। **गुरुदत्त** ने दर्जनों उपन्यास लिखकर प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति अपनी दृढ़ आस्था प्रकट की है—'स्वाधीनता के पथ पर', 'पथिक', 'स्वराज्य दल', 'बहती रेता', 'भावुकता का मूल्य', 'देश की हत्या', 'उमड़ी घटा' आदि उपन्यासों में हिन्दू-संस्कृति का प्रभावशाली चित्रण हुआ है। इनके उपन्यास उन पाठकों में अत्यन्त लोकप्रिय हैं जो हिन्दू संस्कृति के प्रेमी हैं। गुरुदत्त का दृष्टिकोण जनवादी न होकर प्रधानतः सामन्तवादी ही रहा है।

चतुरसेन शास्त्री भी इस युग में निरन्तर उपन्यास लिखते रहे थे। इनके उपन्यासों की संख्या बहुत अधिक है। शास्त्री जी यथार्थवादी उपन्यासकार तो हैं परन्तु उन्होंने समाज में व्याप्त अनैतिकता, दुराचार, व्यभिचार, सामाजिक अत्याचार आदि का ही अधिक चित्रण किया है। 'गोली' इनका सर्वश्रेष्ठ सामाजिक उपन्यास माना जा सकता है। इनका रचित 'खग्रास' हिन्दी का पहला ऐसा उपन्यास है जिसमें विज्ञान का प्राधान्य रहा है। वस्तुतः शास्त्री जी ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं। **निराला जी** ने भी कई सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास लिखे थे। 'अप्सरा', 'अलका', 'निरुपमा', 'प्रभावती', आदि इनके सामाजिक और ऐतिहासिक साधारण कोटि के उपन्यास हैं। इनका 'बिल्लेसुर बकरिहा' अत्यन्त सुन्दर लघु-आंचलिक उपन्यास है। **उदय शंकर भट्ट** के 'नए मोड़', 'लोक-परलोक', 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'एक नीड़ दो पंछी', 'शेष-अशेष', 'दो अध्याय' आदि उपन्यासों में समाज की विभिन्न स्थितियाँ और समस्यायें यथार्थ रूप में अंकित हुई हैं। इनमें यथार्थ की अपेक्षा आदर्श का स्वर अधिक प्रबल रहा है। भट्ट जी मानव के आर्थिक, बौद्धिक और नैतिक स्तर को उन्नत करने के अभिलाषी रहे हैं। **रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'** के 'चढ़ती धूप', 'नई इमारत', 'उल्का', 'मरु प्रदीप' आदि उपन्यासों में यथार्थवादी चित्रण का आधार रहते हुए भी मानव-मन की कुंठाओं का ही अधिक चित्रण हुआ है, इसलिए अंचल को शुद्ध रूप से यथार्थवादी उपन्यासकार नहीं माना जा सकता। **उषादेवी मित्रा** ने 'वचन का मोल', 'पिया', 'जीवन की मुस्कान', 'पथचारी', 'आवाज', 'सोहिनी', 'नष्ट नीड़' आदि अपने उपन्यासों में आधुनिक नारी के विभिन्न रूपों का मार्मिक और यथार्थ चित्रण करते हुए उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता का स्वर उभारा है।

विष्णु प्रभाकर के 'निशिकान्त', 'तट के बंधन', 'स्वप्नमयी' आदि उपन्यासों में यथार्थ चित्रण का आधार रहते हुए भी सुधारवादी स्वर ही अधिक प्रबल रहा है।

इनमें नारी-जीवन की विवशता आदि के मार्मिक चित्र उभरे हैं। प्रभाकर जी भारतीय नारी की स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक हैं। **भैरव प्रसाद गुप्त** ने 'मशाल', 'गंगा मैया', 'सत्ती मैया का चौरा' आदि उपन्यासों में मजदूर-किसानों के संघर्ष का चित्रण करते हुए श्रमजीवी वर्ग में उभरती नई चेतना, अदम्य संघर्ष-शक्ति आदि का प्रभावशाली रूप प्रस्तुत किया है। 'सत्तो मैया का चौरा'—तीन पीढ़ियों के संघर्ष और विकास की कहानी प्रस्तुत करता है। यह एक अत्यन्त सशक्त और श्रेष्ठ उपन्यास है। **शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'** का 'बहती गंगा' उपन्यास-कला में एक नया प्रयोग है। इसमें काशी के दो सौ वर्षों (सन् १७५० से १९५०) का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसमें कोई नायक न होकर काशी में विभिन्न चरणों में उद्भूत चेतना के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसमें समाज के प्रत्येक वर्ग की चेतना के क्रमिक विकसित रूप अंकित हुए हैं। यह काशी की बोलचाल की भाषा में लिखा गया उपन्यास हैं, इसलिए इसे आंचलिक उपन्यास माना जाता है। यह उपन्यास हिन्दी का अपने ढंग का अनूठा उपन्यास है।

राजेन्द्र यादव नई पीढ़ी के प्रगतिवादी उपन्यासकार माने जाते हैं। उन्होंने 'प्रेत बोलते हैं' (जो बाद में किंचित् परिवर्तित रूप में 'सारा आकाश' के नाम से पुन: प्रकाशित हुआ है), 'उखड़े हुए लोग', 'शह और मात', 'अनदेखे अनजान पुल', 'कुलटा', 'एक इंच मुस्कान', 'मंत्र विद्ध' आदि उपन्यास लिखकर नए उपन्यासकारों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। 'उखड़े हुए लोग' में समाज के उस अंग का चित्रण हुआ है जो आगे तो बढ़ना चाहता है, उसमें आगे बढ़ने की शक्ति भी है, परन्तु सामाजिक गठन उसे जमने और आगे नहीं बढ़ने देता है। यह उपन्यास पिछले दशक में पर्याप्त चर्चा का विषय रहा था। परन्तु इसके उपरान्त यादव जी नवीन प्रयोगों के मोह में ऐसे ग्रस्त हुए कि उनके परवर्ती उपन्यास विभिन्न नवीन शैली और शिल्प के प्रयोग मात्र बनकर रह गए। **मोहन राकेश** नई पीढ़ी के अत्यन्त सशक्त उपन्यासकार हैं। 'अँधेरे बन्द कमरे', 'नीली बाँहों की रोशनी', 'काँपता दरिया' आदि इनके लोकप्रिय उपन्यास रहे हैं। आजकल इनका एक नया उपन्यास 'न आने वाला कल' साप्ताहिक हिन्दुस्तान में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा है। मोहन राकेश ने जीवन को गहराई और खुली हुई दृष्टि से देखा है। उन्होंने आधुनिक जीवन की कृत्रिमता, रिक्तता एवं शून्यता का अनुभव किया है। इनका यही अनुभव इनके उपन्यासों में जीवन का गहराई से स्पर्श करता हुआ सुगठित कथानकों, मार्मिक व्यंजनापूर्ण शैली और प्रभावशाली भाषा-माध्यम से मुखरित हो उठा है।

कमलेश्वर ने 'डाक बँगला', 'लौटे हुए मुसाफिर', 'तीसरा आदमी', 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' आदि अपने उपन्यासों में समाजवादी यथार्थ के माध्यम से युगीन जीवन का प्रभावशाली विश्लेषण किया है। इनके उपन्यासों में वर्ग-संघर्ष से सम्बंधित सभी पक्षों के साथ मानव-मन की कुंठाओं आदि का स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण हुआ है। **शैलेश मटियानी** ने अपने अनेक लघु-उपन्यासों में निम्न वर्ग की विषम स्थिति,

उसके अनवरत संघर्ष और उच्च वर्गीय जीवन के खोखलेपन, विलासान्धता और कृत्रिमता का ऐसा मार्मिक चित्रण किया है जो नई पीढ़ी के बहुत कम उपन्यासकारों की रचनाओं में उपलब्ध होता है। मटियानी ने निम्न वर्ग के जीवन की समस्त विषमताओं और विकृतियों को भोगा और झेला है। वह इसे झेलते हुए ही आगे बढ़े हैं। इसी कारण इस वर्ग का स्वानुभूत सत्य उनके उपन्यासों में अत्यन्त तीखे यथार्थ के साथ उभर उठा है। 'बोरीवली से बोरी बंदर तक', 'कबूतरखाना', 'चौथी मुट्ठी', 'भागे हुए लोग' आदि इनके अत्यन्त सशक्त और प्रभावशाली उपन्यास हैं। सामाजिक यथार्थ का ऐसा कचोटने वाला चित्रण अन्यत्र बहुत कम मिलता है। **शानी** के 'पत्थर बोलते हैं', 'काला जल' आदि उपन्यासों में मध्य प्रदेश के बस्तर जिले के जन-जीवन के अत्यन्त मार्मिक चित्र उभरे हैं। आजादी के बाद भारतीय सामान्य मुस्लिम जनों की कुंठित, हताश सी मनोवृत्ति का ऐसा तटस्थ और यथार्थ चित्रण हुआ है जो हमें बरवश सोचने के लिए बाध्य कर देता है। **राही मासूम रजा** का पहला उपन्यास 'आधा गाँव' भोजपुर-प्रदेश के जन-जीवन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करता है। **रजनी पनिकर** के 'मोम के मोती', 'प्यासे बादल', 'पानी की दीवार', 'काली लड़की' आदि उपन्यासों में यथार्थ की पृष्ठभूमि पर मध्यवर्गीय नारी-समाज के मार्मिक रूप उभरे हैं। **गिरधर गोपाल** का 'चाँदनी का खंडहर' मध्यवर्गीय जीवन की आर्थिक विषमताओं और संघर्षों का चित्रण करने वाला एक प्रभावशाली यथार्थवादी उपन्यास है।

यादवेन्द्र नाथ शर्मा 'चन्द्र' ने 'पथहीन', 'दिया जला, दिया बुझा', 'संन्यासी और सुन्दरी' आदि उपन्यासों में ह्रासोन्मुखी सामन्ती सभ्यता और संस्कृति के प्रभावशाली चित्र उकेरे हैं। इनके अतिरिक्त **कमल जोशी** का 'बहता तिनका'; **अनूपलाल मंडल** के 'निर्वासित', 'समाज की वेदी पर', 'रूपरेखा', 'अभिशाप', 'किशोरी', 'गरीबी के वे दिन' आदि; **हेमराज 'निर्मम'** के 'मुझे भूल जाना', 'वसन्त फिर आएगा'; **कृष्णबलदेव वैद्य** का 'मेरा बचपन'; **गिरीश अस्थाना** का 'धूल भरे चेहरे'; **ओमप्रकाश** का 'लकीरें'; **जैनेन्द्रकमार जैन** का 'उद्भ्रान्त'; **शिवनारायण श्रीवास्तव** का 'धुँआ, आग और इन्सान'; **हर्षनाथ** का 'उड़ती धूल'; **राधाकृष्ण** का 'फुटपाथ'; **इन्दिरा नूपुर** का 'सपने, मान और हठ'; **गोविन्द सिंह** का 'एक आदमी दो चेहरे'; **जितेन्द्र** का 'ये घर ये लोग'; **करुणेन्द्र** के 'फिर भी जीवित है', 'इन्सानियत'; **कमल शुक्ल** के 'कूल और कगार', 'मौलश्री', 'धूल के बादल'; **नित्यानन्द वात्स्यायन** का 'केलाबाड़ी', **बालशेरि रेड्डी** का 'जिन्दगी की राह'; **महेन्द्रनाथ** के 'आदमी और सिक्के', 'रात अँधेरी है'; **यादवचन्द्र जैन** का 'मन के हारे हार'; **राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित'** का 'सूरज किरण की छाँह'; **सुधाकर पांडेय** का 'साँझ सकारे'; **शमशेर-बहादुर सिंह** का 'प्लाट का मोर्चा'; **श्यामू संन्यासी** का 'उत्थान'; **शान्तिप्रिय द्विवेदी** का 'दिगम्बर'; **श्रीराम शर्मा** का 'नींव का पत्थर'; **शिवसागर मिश्र** का 'नींव की मिट्टी'; **विश्वम्भरनाथ उपाध्याय** का 'रीछ'; **मार्कण्डेय** का 'सेलम का फूल', **शिवानी**

का 'चौदह फेरे' आदि उपन्यास इस युग के उल्लेखनीय उपन्यास रहे हैं। **मनहर चौहान** ने अनेक उपन्यास लिखे हैं, जिनमें नए प्रयोगों का मोह लक्षित होता है। इनके अतिरिक्त **रमेश बक्षी, छेदीलाल गुप्त**, आदि हिन्दी के ऐसे नवीन उपन्यासकार हैं जिन्होंने अपनी कृतियों में विभिन्न दृष्टिकोणों से समाज का चित्रण करने का प्रयत्न किया है। इनके अतिरिक्त हिन्दी में इधर ऐसे अनेक नए उपन्यासकार सामने आते जा रहे हैं, जिनमें प्रतिभा और लिखने की लगन है। किशोर-किशोरियों में प्रचार की दृष्टि से गुलशन नन्दा इस युग के अत्यन्त लोकप्रिय उपन्यासकार हैं जो सस्ते यौन-चित्रण और सस्ते रोमान्स का चित्रण करने में विशेष रूप से पटु हैं। श्रीकान्त कुशवाहा, प्यारेलाल आवारा, द्वारिकाप्रसाद शर्मा आदि भी अपने सस्ते और नग्न यौन-चित्रण के कारण काफी प्रसिद्ध और बदनाम रह चुके हैं। गुलशन नन्दा इन्हीं के तनिक संशोधित संस्करण मात्र हैं। ये सभी दावा यथार्थ चित्रण का ही करते आए हैं।

व्यक्तिवादी उपन्यास

यथार्थवादी सामाजिक उपन्यासों में समाज के सन्दर्भ में व्यक्ति का अंकन किया गया है। इसके विपरीत सन् १९३० के आसपास हिन्दी में ऐसे उपन्यासों का सृजन होना आरम्भ हो गया था जिनमें व्यक्ति के सन्दर्भ में समाज का अंकन किया जाने लगा था। ऐसे उपन्यासों को 'व्यक्तिवादी' उपन्यास कहा जाता है, क्योंकि इनमें समाज की अपेक्षा 'व्यक्ति' को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है। इनमें व्यक्ति के मन का विश्लेषण प्रधान रहता है, इसलिए इन्हें 'मनोविश्लेषणवादी' भी कहा जाता है। परन्तु 'व्यक्तिवादी' और 'मनोविश्लेषणवादी' उपन्यासों में थोड़ा सा अन्तर होता है। व्यक्तिवादी उपन्यासकार व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन को अपना कर चलते हैं। ये मूलतः अहंवादी होते हैं। ये सामाजिक परिवेश में व्यक्ति के अहं, उसकी अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं को प्रधानता देते हुए सामाजिक मान्यताओं का विरोध करते हैं। परन्तु इनका 'व्यक्ति' सामाजिक परवेश को बदल नहीं पाता और टूट जाता है। इसलिए ये निराशावादी भाग्यवादी होते हैं। भगवतीचरण वर्मा हिन्दी के ऐसे ही उपन्यासकार हैं। कुछ उपन्यासकार अन्त में आदर्श का पल्ला पकड़ स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु मूलतः होते व्यक्तिवादी ही हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ऐसे ही उपन्यासकार हैं।

मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार विशुद्ध मनोविश्लेषण-शास्त्र का आधार ग्रहण कर मानव-मन की वैयक्तिक कुंठाओं का चित्रण करने में व्यस्त रहते हैं। ये काम-भावना को मानव की सर्वाधिक प्रबल भावना मान, उसके दमन के कारण उत्पन्न हुई कुंठाओं और उनकी कल्पना-पूर्ति के अंकन को ही अपना एकमात्र साध्य मानते हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी हिन्दी के ऐसे ही उपन्यासकार हैं।

भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'आखरी दाँव',

'अपने खिलौने', 'भूले बिसरे चित्र', 'वह फिर नहीं आई', 'सामर्थ्य और शक्ति', 'थके पाँव', 'रेखा' आदि उपन्यास लिखकर पर्याप्त प्रसिद्धि अर्जित की है। 'भूले-बिसरे चित्र' के अतिरिक्त इनके दूसरे सभी उपन्यास घोर व्यक्तिवादी उपन्यास हैं। इनके नायक सम्पूर्ण सामाजिक मान्यताओं का विरोध करते हुए नैतिकता-अनैतिकता आदि अनेक समस्याओं के सम्बन्ध में अपने ऐसे विचार प्रकट करते हैं जो अराजकतावादी होते हैं। इन उपन्यासों में समाज केवल उतना ही उभरता है जितना व्यक्ति से सम्बद्ध रहता है। वर्मा जी ने अपने उच्चवर्गीय नायकों को सर्वगुण-सम्पन्न और निम्नवर्गीय पात्रों को दुर्गुणों से परिपूर्ण चित्रित किया है। इस प्रकार वर्मा जी अप्रत्यक्ष रूप से सामन्ती परम्परा के प्रशंसक बन गए हैं। इस वर्ग का अहं सीमातीत होता है। यह वर्ग स्वयं को समाज से श्रेष्ठ और विशिष्ट मानता है। इसके अतिरिक्त वर्मा जी के अधिकांश नायक या नायिकाएँ काम-कुंठाओं से बुरी तरह से त्रस्त रहती हैं। इसी कारण इनका दृष्टिकोण लक्ष्यहीन, अराजकतावादी और आस्थाहीन रहता है। 'भूले बिसरे चित्र' नामक अपने विशालकाय उपन्यास में वर्मा जी अपनी इस पद्धति को त्याग एक परिवार की तीन पीढ़ियों का क्रमिक वर्णन कर समाज के क्षेत्र में उतरे हैं परन्तु इसकी अन्तिम परिणति भी दिशाहीन लक्ष्य के रूप में ही हुई है। 'रेखा' नामक उपन्यास तो फ्रॉयड के काम-सूत्र का नग्न वर्णन बन गया है। वर्मा जी के उपन्यास व्यक्तिवादी होते हुए भी रोचक, कलापूर्ण और सुन्दर हैं। भाव, उनकी अभिव्यक्ति, भाषा और शैली में आकर्षित और तन्मय कर देने की अद्भुत शक्ति है। इसी कारण इनका 'चित्रलेखा' आज भी अत्यधिक लोकप्रिय उपन्यास है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने दर्जनों उपन्यास लिखे हैं; जैसे—'पतिता की साधना', 'दो बहनें', 'मनुष्य और देवता', 'विश्वास का बल', 'यथार्थ से आगे', 'चन्दन और पानी', 'टूटते बन्धन' आदि। इनके अधिकांश उपन्यास मध्यवर्गीय जीवन से सम्बन्धित हैं जिनमें समाज के यथार्थ चित्रण की अपेक्षा पात्रों की व्यक्तिगत कुंठाओं, विशेष रूप से, उनकी काम-कुंठाओं का ही अधिक चित्रण हुआ है। और अन्त आदर्शवादी बन जाता है। प्रभाव, शिल्प, कला आदि—सभी दृष्टियों से इनके उपन्यास साधारण कोटि के रहे हैं।

जैनेन्द्र 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' आदि उपन्यासों की रचना कर मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों की परम्परा प्रेमचन्द-युग के उत्तरार्द्ध में डाल चुके थे। इस युग में उन्होंने 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', 'जयवर्द्धन' आदि उपन्यास लिख कर उसी परम्परा को आगे बढ़ाया है। इनमें व्यक्ति को केन्द्र बनाकर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से व्यक्ति के निजी कुंठाजन्य मनःद्वन्द्वों का मनोविश्लेषण किया गया है। इसी कारण इनमें युग-जीवन की किसी व्यापक, ज्वलन्त समस्या या समस्याओं को न उठाकर, व्यक्ति के विशुद्ध वैयक्तिक अन्तर्विरोधों के संघर्ष को ही चित्रित किया गया है। इसलिए न तो इनके पात्र गरिमामय बन सके हैं और न युग-जीवन को प्रभावित करने की सामर्थ्य ही रखते हैं। सम्पूर्ण उपन्यासों के कथानक और पात्र लगभग एक

जैसे ही हैं, केवल नाम बदल दिए गए से लगते हैं। निराशा, उदासीनता, निष्क्रियता, लक्ष्यहीनता, आत्मकेन्द्रियता और काम-कुंठाओं से आक्रांत रहना—इनके पात्रों की विशेषताएँ मानी जा सकती हैं। 'जयवर्द्धन' राजनीतिक उपन्यास है जिसमें शासन-व्यवस्था आदि पर तात्त्विक चिन्तन और विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें चिन्तन के संघर्ष का ही प्राधान्य है। जैनेन्द्र जी की विचित्र दार्शनिकता उनके पात्रों को विचित्र और अस्वाभाविक बना देती है। परन्तु कथा कहने का कौशल, मनोरम-जटिल भाषा और सहज शैली ने उनके उपन्यासों को रोचकता प्रदान की है।

इलाचन्द्र जोशी 'लज्जा' नामक उपन्यास की रचना कर विशुद्ध मनोविश्लेषण-वादी उपन्यासों की परम्परा पहले ही डाल चुके थे। उन्होंने इस युग में 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ', 'जिप्सी', 'सुबह के भूले', 'जहाज का पंछी' आदि उपन्यास लिखकर उसी परम्परा को विकसित किया। उपर्युक्त अन्तिम दो उपन्यासों को छोड़कर उनके अन्य सभी उपन्यास मनोविश्लेषणात्मक ही रहे हैं। डा० रामगोपाल सिंह के शब्दों में, इनमें—"कुंठाग्रस्त, आत्मग्लानि और आत्म-केन्द्रित घोर व्यक्तिवादी, पशु-वृत्ति-प्रधान, शंकालु, पलायनवादी, निष्क्रिय, मानसिक दृष्टि से रुग्ण, विकृत चरित्र वाले प्रतिहिंसा-प्रिय पात्रों की सृष्टि" की है, "जिन्हें समाज के लिए कलंक कहा जा सकता है।" 'सुबह के भूले' में जोशी जी थोड़े से समाज की ओर उन्मुख हुए हैं जिसमें आदर्शवाद का प्राधान्य है। 'जहाज़ का पंछी' में वह सामाजिक यथार्थवाद के काफी नजदीक आ गए हैं। इनमें मानसिक कुंठावाद का प्रभाव अपेक्षाकृत कम रहा है। यह उपन्यास काफी चर्चा का विषय रहा है। परन्तु किसी स्पष्ट 'विज़न' (दृष्टिकोण) के अभाव में जोशी जी अन्त में गांधीवादी आदर्श का पल्ला पकड़ पार उतर गए हैं।

अज्ञेय अपने 'शेखर : एक जीवनी' नामक उपन्यास के साथ इस क्षेत्र में उतरे थे। उनके 'नदी के द्वीप', 'अपने अपने अजनबी' आदि उपन्यास भी इसी परम्परा के हैं। इनके उपन्यासों के पात्र समाज से कट कर अपनी एक निराली दुनियाँ में ही रहते हैं जिसमें अपनी दमित, अतृप्त काम-लालसाओं की तृप्ति ही उनके जीवन का एकान्त लक्ष्य रहता है। इनमें उपन्यासकार का लक्ष्य घोर वैयक्तिक, असामाजिक एवं कुंठाग्रस्त रहा है। पात्र सामान्य न होकर असामान्य हैं। विभिन्न नारियों से सम्बन्ध स्थापित करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। यौन-तृप्ति को ही वे जीवन की सार्थकता मानते हैं। ये उपन्यास कुछ व्यक्तियों के नितान्त व्यक्तिगत जीवन की वैयक्तिक और स्वनिर्मित समस्याओं के चित्र मात्र हैं। परन्तु इन उपन्यासों की एक विशिष्ट उपलब्धि—इनका नया कलापूर्ण शिल्प और गद्य का एक सर्वथा नया रोचक और प्रभावशाली रूप रहा है। ये उपन्यास परम्परागत शिल्प से नितान्त भिन्न रूप में रचे गए हैं। इसी कारण चर्चा के अधिक अधिकारी रहे हैं। परन्तु इनकी मूल चेतना निराशावादी रही है। मृत्यु का भय इनके पात्रों को बुरी तरह सताता रहता है।

इस परम्परा के अन्य उपन्यासकारों में **धर्मवीर भारती** ('गुनाहों के देवता', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा'), **अनन्तगोपाल शेवड़े** ('निशागीत, 'मृगजल'), **देवराज** ('पथ की खोज', 'बाहर भीतर', 'रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी'), **प्रभाकर माचवे** ('द्वाभा', 'साँचा'), **नरोत्तम नागर** ('दिन के तारे'), **नरेश मेहता** ('डूबते मस्तूल'), **राजकमल चौधरी** ('मछली मरी हुई'), **निर्मल वर्मा** का 'वे दिन'; **रमेश वक्षी** के 'हम तिनके', 'बैसाखियों वाली इमारत' आदि उल्लेखनीय हैं। नरेश मेहता का उपन्यास 'वह पथबन्धु था' इस परम्परा से भिन्न समाजवादी चेतना का महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इनके अतिरिक्त **डा० लक्ष्मीनारायण लाल** के 'धरती की आँखें', 'बया का घोंसला और साँप' आदि; **कृष्णचन्द्र भिक्खु** के 'आदमी का बच्चा', 'संक्रान्ति', 'भँवर जाल'; **जनार्दन मुक्तिदूत** का 'अधूरा उपन्यास', लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'खाली कुर्सी की आत्मा'; श्रीकान्त वर्मा का 'दूसरी बार'; उषा प्रियम्बदा के 'पचपन खम्भे : लाल दीवारें', 'रुकोगी नहीं राधिका', आदि उपन्यास भी व्यक्तिवादी विचारधारा के मनोविश्लेषणात्मक ऐसे उपन्यास हैं जिनमें पात्र लगभग एक से ही कुंठाग्रस्त और निराशावादी हैं परन्तु शैली और शिल्प के विभिन्न नवीन प्रयोगों ने इन्हें उल्लेखनीय बना दिया है। कुछ आलोचक इन उपन्यासों को 'प्रयोगवादी उपन्यास' मानते हैं।

आंचलिक उपन्यास

आंचलिक उपन्यासों में किसी अंचल या प्रदेश विशेष के सम्पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश का अंकन स्थानीय बोली के पुट के साथ किया जाता है। पिछले कुछ वर्षों तक हिन्दी में ऐसे आंचलिक उपन्यासों की काफी धूम और चर्चा रही थी। निराला, उदयशंकर भट्ट, नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, अमृतराय, देवेन्द्र सत्यार्थी, शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' आदि के अनेक उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास माना गया है। यद्यपि फणीश्वरनाथ रेणु ने अपने पहले उपन्यास **'मैला आँचल'** को ही यह नई संज्ञा प्रदान की थी परन्तु उससे पूर्व भी हिन्दी में ऐसे अनेक उपन्यास लिखे जा चुके थे जो विशुद्ध रूपेण आंचलिक उपन्यास थे। जैसे—निराला का 'बिल्लेसुर बकरिहा', अमृतलाल नागर का 'सेठ बाँकेमल', नागार्जुन के लगभग सभी उपन्यास। परन्तु हिन्दी के कुछ आलोचकों ने रेणु के 'मैला आँचल' को ही हिन्दी का सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यास घोषित कर उनके दूसरे उपन्यास 'परती परिकथा' को विश्व के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों की पंक्ति में बैठा दिया था। रेणु के अतिरिक्त उपर्युक्त अन्य सभी आंचलिक उपन्यासकारों का दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थवादी रहा है जिसमें सामान्य जनता की अदम्य जिजीविषा की भावना मुखरित हुई है। इसके विपरीत रेणु का दृष्टिकोण जनता-विरोधी और सामन्त-समर्थक रहा है। इन्होंने जमींदारों को उन्नत, श्रेष्ठ तथा सामान्य जनता को जाहिल और मूर्ख चित्रित किया है। रेणु का 'मैला आँचल' तो सरस, सुपाठ्य और भव्य है परन्तु उनका 'परती परिकथा' निहायत ही ऊजड़, नीरस और 'बोर'

उपन्यास है। रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूँ', 'काका'; नागार्जुन के 'बलचनमा', 'बाबा बटेसर नाथ', 'नई पौध', 'वरुण के बेटे' आदि; रेणु के उपर्युक्त दोनों उपन्यास; देवेन्द्र सत्यार्थी के 'रथ के पहिए', 'कठपुतली', 'दूधगाछ' आदि; उदयशंकर भट्ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'लोक-परलोक'; शैलेश मटियानी के 'बोरीबली से बोरी बन्दर तक', 'कबूतरखाना', 'हौल्दार' आदि; श्यामू संन्यासी का 'उत्थान'; बलवन्तसिंह का 'रात, चोर और चाँद'; कैलाश कात्यायन का 'लम्बे, ठिगने, बौने'; शिवप्रसाद मिश्र रुद्र का 'बहती गंगा'; रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर'; राजेन्द्र अवस्थी का 'जंगल के फूल'; वीरेन्द्र नारायण का 'अमराई की छाँह'; महन्त धनराज पुरी का 'अविरल आँसू' आदि हिन्दी के उल्लेखनीय आँचलिक उपन्यास माने जा सकते हैं। परन्तु अब इस परम्परा का अधिक विकास नहीं हो रहा है।

इन उपन्यासों में किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का विस्तृत, यथार्थवादी ऐसा चित्रण होता है जिसमें वर्णित सारा अंचल अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ साकार हो उठता है। वस्तुतः इनमें परिवेश ही प्रधान रहता है, क्योंकि उसी के माध्यम से जन-जीवन का यथार्थ चित्रण करना सम्भव होता है। इनमें पात्र गौण से प्रतीत होते हैं। परन्तु समष्टि रूप से विकसित होती हुई नई चेतना सम्पूर्ण समस्याओं और विषमताओं को समेटे हुए यथार्थ रूप में मुखरित हो उठती है। इसे ही इनकी महान् उपलब्धि माना जा सकता है। स्थानीय भाषा का अत्यधिक प्रयोग, कभी-कभी, ऐसे उपन्यासों के सौन्दर्य का विघातक बन जाता है।

ऐतिहासिक उपन्यास

हम पीछे बता आए हैं कि प्रेमचन्द-युग में बहुत कम ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए थे। ऐतिहासिक उपन्यासकार किसी सत्य या काल्पनिक कथा के माध्यम से किसी पूर्व युग के सत्य का अंकन करता है। वह सत्य को कल्पना का आवरण पहना कर इतिहास और कल्पना का समन्वय प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखना सामाजिक उपन्यास की तुलना में अधिक कठिन है। इसके लिए इतिहास के विस्तृत अध्ययन तथा उपन्यास-रचना की पूर्ण क्षमता अपेक्षित है। कोरा ऐतिहासिक ज्ञान औपन्यासिक-कला के अभाव में सफल ऐतिहासिक उपन्यास की रचना नहीं कर सकता। ऐतिहासिक उपन्यासकार किसी युग-सत्य को अपनी कल्पना, शिल्प और भाषा-शैली द्वारा मनोरंजक बना जब आकर्षक रूप में प्रस्तुत करता है, तभी सफल ऐतिहासिक उपन्यास की रचना होती है। ऐतिहासिक उपन्यासकार कहीं-कहीं इतिहास द्वारा स्वीकृत मान्यताओं का खंडन कर, इतिहासकारों के विश्लेषण से सहमत न हो, किसी पात्र या घटना का नवीन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जैसे—रांगेय राघव ने अपने 'प्रतिदान' उपन्यास में द्रोणाचार्य की महानता, असाधारण व्यक्तित्व आदि के प्रति अधिक ध्यान न देते हुए उनके वात्सल्यपूर्ण हृदय का ही अधिक उद्घाटन किया है। इसी प्रकार गुजराती के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार कन्हैयालाल माणिकलाल

मुंशी ने, इतिहास में कुरूपता के लिए प्रसिद्ध आचार्य चाणक्य को एक सुदर्शन, भव्य व्यक्तित्व वाले सहृदय मानव के रूप में चित्रित करते हुए इस लोक-मान्यता का खंडन किया है कि—चाणक्य काले, कुरूप, शुष्क और हृदयहीन राजनीतिज्ञ थे। ऐतिहासिक उपन्यास किसी भी देश या राष्ट्र की विगत विभिन्न प्रकार की उपलब्धियों, विशिष्टताओं आदि का अंकन कर अपने पाठकों में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक गौरव की भावना उत्पन्न करता है। इसलिए ऐतिहासिक उपन्यासों की सदैव आवश्यकता बनी रहेगी। आजादी के बाद हमारे ऐतिहासिक उपन्यासों ने इस दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

वृन्दावनलाल वर्मा 'गढ़ कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' जैसे सुन्दर ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर प्रेमचन्द-युग में ही प्रसिद्ध हो चुके थे। इसके उपरान्त उन्होंने 'झाँसी की रानी', 'मुसाहिब जू', 'कचनार', 'सत्रह सौ उन्नीस', 'माधव जी सिन्धिया' 'मृगनयनी', 'टूटे काँटे', 'अहिल्याबाई', 'भुवन विक्रम', 'सोना' आदि अनेक छोटे-बड़े ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। उनकी उपन्यास-सृष्टि अतीत का केवल कथात्मक पुनःसृजन न होकर इतिहास के शुष्क कलेवर में युग-जीवन के रक्त-माँस का संचार कर एक नवीन, आकर्षक, प्रेरणाप्रद सृष्टि होती है। वर्माजी इतिहास के दबे पृष्ठों में छिपे युग-जीवन की सच्चाई को पकड़ उसे अत्यन्त आकर्षक और मार्मिक रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। उनके इस चित्रण में इतिहास के यथार्थ के साथ-साथ रोमांस और आदर्श का सन्तुलित और मनोरम पुट रहता है। वह सरस कथा कहने में पटु हैं। उनकी कल्पना इतिहास का अंचल पकड़ ऐसे सुन्दर, प्रभावशाली और आकर्षक पात्रों की सृष्टि करती है जो अपने अद्‌भुत व्यक्तित्व के कारण अमर बन गए हैं। 'विराटा की पद्मिनी' की कुमुद, 'गढ़ कुंडार' की तारा, और 'मृगनयनी' की निन्नी और लाखी को सहज ही नहीं भुलाया जा सकता। उनके इन उपन्यासों की एक विशेषता यह है कि इनमें चित्रित युग का सामान्य सामाजिक जीवन अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ यथार्थवादी चित्रण द्वारा स्पष्ट हो उठता है। सामान्य जन की शक्ति और चारित्रिक दृढ़ता में वर्मा जी की अगाध आस्था रही है। अतः उन्हें यथार्थवादी ऐतिहासिक उपन्यासकार मानना चाहिए। वह इस युग के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार तो हैं ही।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'मन्दिर की नर्तकी', 'रक्त की प्यास', 'वैशाली की नगर वधू', 'सोमनाथ', 'आलमगीर', 'वयं रक्षामः', 'सोना और खून', 'अमरसिंह', 'सह्याद्रि की चट्टानें', 'नरमेध' आदि अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं जिनमें प्रागैतिहासिक काल से लेकर अठारहवीं सदी तक की घटनाओं, पात्रों आदि का चित्रण किया है। इनमें उन्होंने अनेक प्रचलित मान्यताओं का खंडन कर नई स्थापनाएँ की हैं। इनमें उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति के गौरवशाली पक्षों का अंकन करते हुए उसके विभिन्न अशुभ पक्षों का भी उद्घाटन किया है। उन्होंने इतिहास को इतिहास-कारों की नजर से न देख, एक नए इतिहास की सृष्टि करने का प्रयत्न किया है।

और ऐसा करते समय उनकी अद्भुत, उर्वर कल्पना का चमत्कार देखते ही बनता है। वस्तुतः इनके इन उपन्यासों में ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा इनकी कल्पना का चमत्कार प्रदर्शन ही अधिक रहा है। स्वयं द्वारा प्रतिपादित इतिहास को समझाने के लिए इन्होंने विस्तृत भूमिकाएँ भी लिखी हैं। संक्षेप में, शास्त्री जी के ये उपन्यास, इनमें इतिहास की अवहेलना होते हुए भी, पढ़ने में मनोरंजक और सरस हैं। 'वैशाली की नगर वधू' इनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है, जिसमें भारतीय प्राचीन संस्कृति की तटस्थ व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है।

रांगेय राघव ने 'मुर्दों का टीला', 'चीवर', 'अँधेरे के जुगनू' 'प्रतिदान', 'पक्षी और आकाश', 'राह न रुकी' आदि ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ छोटी-छोटी ऐतिहासिक औपन्यासिक जीवनियाँ लिखी हैं जिनमें हिन्दी के प्राचीन महापुरुषों, साहित्यकारों आदि की कथा कही गई है; जैसे—'यशोधरा जीत गई', 'देवकी का बेटा', 'जब आयेगी काल घटा', 'रत्ना की बात' आदि। रांगेय राघव ने अपने इन उपन्यासों में इतिहास के पृष्ठों में छिपे वर्णित युगों के सामाजिक जीवन को यथार्थवादी आधार पर स्पन्दित किया है। इनके द्वारा उन्होंने अतीत के प्रति सच्चे गौरव की भावना का उन्मेष करने तथा अतीत के प्रति थोथे मोह से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया है। उनकी इतिहास की व्याख्या विशुद्ध समाजवादी रही है। प्राचीन युग का वर्ग-संघर्ष ही उनका मूल प्रतिपाद्य रहा। उन्होंने अपने विभिन्न ऐतिहासिक उपन्यासों की काल-यात्रा का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—" 'मुर्दों का टीला' में ईसा से ३५०० ई० पू० आर्यों से पुराना भारत चित्रित था। 'प्रतिदान' में महाभारत युग में ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष चित्रित किया था। 'चीवर' में मैंने राज्यश्री के समय के ह्रास-कालीन भारतीय सामन्तवाद की तस्वीर खींची थी। 'अँधेरे के जुगनू' में मैंने महाजनपद युग से भी पुराने समय का चित्रण किया है। इसमें वैश्य और क्षत्रियों के वे प्रयत्न हैं जो उन्होंने ब्राह्मणों की सर्वाधिकारी सत्ता समाप्त करने में लगाए थे।" रांगेय राघव के ये उपन्यास एक नई स्फूर्ति और राष्ट्रीय चेतना का संचार करते हैं। इनके उपन्यास एक मार्क्सवादी दृष्टि के अनुसार इतिहास की विकासवादी व्याख्या के प्रतीक हैं।

राहुल सांकृत्यायन ने 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय', 'मधुर स्वप्न', 'विस्मृत-यात्री' आदि कई ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं, जिनमें विशुद्ध मार्क्सवादी दृष्टिकोण द्वारा समाज का चित्रण किया गया है। भौतिकवादी जीवन-दृष्टि, वर्ग-संघर्ष, स्वच्छन्द भोग-विलास एवं आचरण आदि—इनके प्रधान वर्ण्य-विषय रहे हैं। बौद्ध-धर्म के प्रति गहरी आस्था भी प्रकट हुई है, जैसे—'सिंह सेनापति' में। इनमें इतिहास और दर्शन, ऐतिहासिक तथ्य और कल्पना के समन्वय के साथ इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या मिलती है। रोचकता—इनका विशिष्ट गुण है। **यशपाल** के 'दिव्या' और 'अमिता' भी इसी मार्क्सवादी दृष्टिकोण द्वारा लिखे गए बौद्ध युग से सम्बन्धित उपन्यास हैं। 'दिव्या' की भूमिका में यशपाल ने लिखा है—" 'दिव्या'

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है।" 'अमिता' में कलिंग-विजय के भयंकर नरसंहार के उपरान्त हुए अशोक के हृदय-परिवर्तन का चित्रण है। राहुल, रांगेय-राघव, और यशपाल ने अपने इन ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा इतिहास के विकासवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन और समर्थन करते हुए इतिहास की नई व्याख्या कर यह प्रमाणित किया है कि आर्थिक विषमता पर आधारित वर्ग-संघर्ष सामन्तवादी समाज-व्यवस्था के उदय काल से ही आरम्भ हो, आज तक चला आ रहा है। यह निश्चित रूप से इतिहास की यथार्थपरक व्याख्या है।

अमृतलाल नागर ने दो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं—'शतरंज के मोहरे', और 'सुहाग के नूपुर'। पहले में अवध की ह्रासकालीन संस्कृति का, तथा दूसरे में त्रिकोणी प्रेम के संघर्ष द्वारा मध्यकालीन दक्षिण भारतीय संस्कृति और समाज का अंकन हुआ है। ये दोनों उपन्यास पर्याप्त प्रसिद्ध रहे हैं। हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों का विवेचन **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** के प्रसिद्ध उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के बिना अधूरा ही माना जायेगा। इसमें बाण, श्रीहर्ष आदि द्वारा रचित ग्रन्थों के आधार पर हर्ष-कालीन भारत की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों को सुललित संस्कृत गर्भित भाषा और प्रांजल शैली में प्रस्तुत किया गया है। यह उपन्यास अपनी शैली का हिन्दी का एकमात्र और अद्भुत उपन्यास है। इसमें द्विवेदी जी का कलाकार अपने अत्यन्त संयत और भव्य रूप में प्रकट हुआ है। उन्हें अमर बनाने के लिए यही उपन्यास पर्याप्त है। यह पहला सफल प्रयत्न है जब प्राचीन साहित्यिक रचनाओं के आधार पर, कल्पना के संतुलित संयोग द्वारा एक ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास की रचना की गई है जो इतिहास से अधिक तथ्यपरक रहा है। द्विवेदीजी ने इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए एक दूसरा उपन्यास और लिखा है—'चारु चन्द्रलेख'। परन्तु 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की तुलना में यह शिथिल और नीरस रहा है।

हिन्दी के अन्य अनेक उपन्यासकारों ने भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। जैसे—**गोविन्दवल्लभ पन्त** के 'अमिताभ', 'एक सूत्र', 'नूरजहाँ'; **यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'** का 'संन्यासी और सुन्दरी'; **वाल्मीकि त्रिपाठी** के 'प्रजाप्रिय प्रजेश', 'जहाँदारशाह', 'विकलांग', 'सत्ता और संघर्ष', 'जय विजय', 'उपेक्षिता' आदि; **श्रीराम शर्मा** के 'रहस्यमयी', 'देव और दानव', 'समझौता'; **चन्द्रशेखर शास्त्री** का 'श्रेणिक बिम्बसार'; **सत्यकेतु विद्यालङ्कार** का 'आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य'; **जयरामदास गुप्त** का 'प्रभात कुमारी'; **श्री रणवीर 'वीर'** का 'महामंत्री चाणक्य'; **वनकाम सुनील** के 'धूलि और नर्तन', 'इरावती', 'सामन्त बीजगुप्त'; **प्रताप नारायण श्रीवास्तव** का 'बेकसी का मज़ार' आदि। इनके अतिरिक्त हिन्दी में अन्य भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में रचित प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुवाद हो चुके हैं

और आज भी हो रहे हैं। परन्तु फिर भी कुल मिलाकर हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा को अधिक समृद्ध नहीं माना जा सकता। नए ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास का गहन और विस्तृत अध्ययन न कर, अपनी कल्पना का ही अधिक सहारा लेते हुए उपन्यास लिख रहे हैं, इसीलिए उनका स्तर नहीं उठ पाता।

हिन्दी-उपन्यासों का उपर्युक्त विवरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि हिन्दी की इस विधा ने आशातीत उन्नति की है। इसने विकसित होते हुए आज वह स्थिति और रूप प्राप्त कर लिया है, जिस पर मात्र हिन्दी-भाषी ही नहीं अपितु प्रत्येक भारतीय गर्व कर सकता है। हिन्दी-उपन्यास विभिन्न युगीन एवं देशी-विदेशी उपन्यास-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करता हुआ क्रमशः विकसित हुआ है। अपने इस विकास में उसने वस्तुगत, पात्रगत एवं शिल्पगत नवीन उपलब्धियों के रूप प्रकट किए हैं। अत्याधुनिक हिन्दी-उपन्यास इन समस्त उपलब्धियों को आत्मसात करते हुए व्यक्ति और समाज—दोनों की आशा-आकांक्षाओं, जीवन विषमताओं, सुख-दुख भरी अनुभूतियों का अंकन करते हुए अपूर्व विश्वास, आत्मबल और दृढ़ता के साथ आगे बढ़ रहा है। पिछले दशक में 'नई कहानी' के तथाकथित रचयिताओं और प्रचारकों ने 'नई कहानी' के इतने अधिक ढोल पीटे थे कि नए कथाकार कहानी-रचना को उपन्यास की अपेक्षा अधिक प्रश्रय देने लगे थे। इसलिए उपन्यास-रचना की गति कुछ धीमी पड़ गई थी। परन्तु कहानी का यह मोह-जाल अधिक नहीं टिक सका और अब नित्य नए उपन्यास सामने आते जा रहे हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भविष्य में हिन्दी-उपन्यास नवीन विकास की मंज़िलों को पार करता हुआ युग-जीवन को अधिक शक्ति और कला द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करता रहेगा।

कहानी

आधुनिक हिन्दी-कहानी का जन्म ईसा की बीसवीं सदी के साथ आरम्भ होता है। यद्यपि हमारे प्राचीन वाङ्मय में सैकड़ों कहानियाँ विभिन्न रूपों में बिखरी मिलती हैं, परन्तु उन्हें कहानी की आधुनिक परिभाषा के अनुसार 'कहानी' नहीं माना जा सकता। प्राचीन कहानियाँ नीतिपरक और उपदेश-प्रधान हुआ करती थीं जिनसे मनोरंजन और ज्ञान—दोनों की उपलब्धि होती थी; परन्तु उनमें कथा के अतिरिक्त कहानी के अन्य तत्त्वों का पूर्ण अभाव रहता था। हिन्दी में अठारहवीं सदी के मध्य में ऐसी कहानियाँ लिखी जाने लगीं थीं जो संस्कृत के कथा-ग्रन्थों का अनुवाद मात्र था; जैसे—सन् १७६७ में सूरति मिश्र द्वारा संस्कृत के 'बेताल पंचविशतिका' के आधार पर ब्रजभाषा में रचित 'बैताल पच्चीसी'। उस युग में ऐसी अनेक कहानियों के संग्रह प्रकाशित होते थे, जैसे—'किस्सा तोता मैना', 'छबीली भटियारिन' आदि। लल्लूजीलाल, सदल मिश्र, इंशाअल्ला खाँ आदि ने भी अपने विभिन्न ग्रन्थों में अनेक कहानियाँ लिखी थीं। यदि 'कहानी' शब्द मात्र से ही कहानी का अर्थ लिया जाय तो इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी की पहली कहानी मान लेना चाहिए। परन्तु ऐसा मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि आधुनिक कहानी समाज के प्रति प्रतिबद्ध है। पुरानी कहानियाँ समाज से तटस्थ और उदासीन थीं, क्योंकि ये प्राचीन कथा-ग्रन्थों का ही रूपान्तर मात्र थीं और इनके लेखकों में वह सामाजिक चेतना नहीं थी जो प्राचीन कथानकों को अपने सम-सामयिक सन्दर्भ में रूपायित करने की प्रेरणा प्रदान करती है। ये कहानियाँ एक प्रकार से प्राचीन नीति-वाक्यों का कथात्मक रूपान्तर मात्र थीं, इसलिए उनमें सम-सामयिक सामाजिक-चित्रण उपेक्षित रहा। अतः इन्हें आधुनिक अर्थ में कहानी नहीं माना जा सकता।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कुछ ऐसी कहानियाँ लिखी गईं जिनकी कथावस्तु में एक निश्चित परिवर्तन दिखाई दिया। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की 'राजा भोज का सपना', राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा', भारतेन्दु की

'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न', 'मूसा पैगम्बर' आदि अन्योक्ति-पद्धति की सफल कहानियाँ थीं। इनमें लेखक पहली बार समाज-चित्रण की ओर उन्मुख हुए थे जो अन्य समकालीन साहित्यिक-विधाओं के अनुरूप प्रवृत्ति थी। इनमें प्राचीन उपदेशात्मकता के स्थान पर स्वच्छन्दता और तीखे व्यंग्य को अभिव्यक्ति मिली। यद्यपि कथाएँ थीं तो यमलोक और स्वप्नलोक की, परन्तु इनके लेखक संसार के कटु यथार्थ से क्षण भर के लिए भी दूर नहीं रह पाए। इनमें सामाजिक चेतना के पहली बार दर्शन हुए। ये कहानियाँ भावी हिन्दी-कहानी के जन्म का आभास दे रही थीं। और बीसवीं सदी का आरम्भ होते ही हिन्दी-कहानी का जन्म हो गया।

हिन्दी की पहली मौलिक कहानियाँ

जिस प्रकार हिन्दी-उपन्यास का वास्तविक उदय बँगला और अंग्रेजी के उपन्यासों से प्रभावित रहा था, उसी प्रकार हिन्दी-कहानी ने भी इन दोनों भाषाओं की कहानियों से प्रभाव ग्रहण किया था। 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के उदय के साथ ही हिन्दी में मौलिक कहानियों का जन्म हुआ। हिन्दी की पहली मौलिक कहानियाँ 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुई थीं। आचार्य शुक्ल हिन्दी की पहली मौलिक कहानी किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' को मानते हैं, जो सन् १९०० में 'सरस्वती में' प्रकाशित हुई थी। इसके उपरान्त उन्होंने दो वर्ष पश्चात्, सन् १९०२ में अपनी दूसरी मौलिक कहानी 'गुलबहार' प्रकाशित कराई जो बँगला की भावुकता-प्रधान शैली में लिखी गई थी। इसी काल में प्रकाशित हिन्दी की अन्य कहानियाँ, जो 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थीं, इस प्रकार हैं—

मास्टर भगवानदास की 'प्लेग की चुड़ैल' (१९०२), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (१९०३), गिरिजादत्त वाजपेयी की 'पंडित और पंडितानी' (१९०३), बंग महिला की 'दुलाई वाली' (१९०७)। इसी समय गिरिजाकुमार घोष ने 'पार्वती नन्दन' के नाम से बँगला की अनेक कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया था। उपर्युक्त मौलिक कहानियों में से, मार्मिकता की दृष्टि से 'इन्दुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाई वाली' को हिन्दी की पहली और मौलिक कहानियाँ माना जा सकता है। उस युग में 'दुलाई वाली' बहुत चर्चा का विषय रही थी। इसमें प्रसंगानुकूल कथोपकथन, स्वाभाविकता और मार्मिकता आदि कहानी के गुण प्रस्फुटित होते दिखाई पड़े थे। वस्तुतः बीसवीं सदी का प्रथम दशक आधुनिक हिन्दी-कहानी का प्रयोग काल था। इस काल में कहानी-लेखन-भवन की दागबेल पड़ चुकी थी, जिस पर परवर्ती कहानीकारों ने विशाल, सुन्दर, कलापूर्ण भवन का निर्माण किया। 'सरस्वती' ने हिन्दी-कहानी को जन्म दे दिया था। इसके उपरान्त के कहानी-साहित्य के विकास को चार कालों में विभाजित किया जा सकता है: (१) आरम्भिक विकास, (२) उत्कर्ष, (३) यथार्थवादी, और (४) बहुमुखी चेतना का युग।

आरम्भिक विकास

सन् १९१० के उपरान्त हिन्दी-कहानी क्षेत्र में ऐसे कई नए प्रतिभाशाली कहानीकारों का प्रवेश हुआ जिन्होंने अनेक कलात्मक कहानियाँ लिखकर कहानी के भावी विकास का समारम्भ किया। जयशंकरप्रसाद, प्रेमचन्द, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा, 'कौशिक', आचार्य चतुरसेन शास्त्री, इलाचन्द्र जोशी, ज्वालाप्रसाद श्रीवास्तव (जो जी० पी० श्रीवास्तव के नाम से प्रसिद्ध हैं), वृन्दावनलाल वर्मा, आदि ने नए ढंग की, विविध प्रकार की शैलियों से विभूषित ऐसी कहानियाँ लिखीं, जिनके कारण साहित्य-शास्त्रियों को कहानी के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार कर उसे हिन्दी की एक नवीन और स्वतंत्र विधा मानने को बाध्य कर दिया। इन कहानीकारों ने कहानी को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया, उसे जीवन से सम्बद्ध कर आगे बढ़ाया। इस विकास की दृष्टि से 'इन्दु' द्वारा प्रसाद, 'सरस्वती' द्वारा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और 'हिन्दी गल्पमाला' द्वारा इलाचन्द्र जोशी के अभ्युदय ने हिन्दी कहानी के एक नए और अपूर्व स्वस्थ युगद्वार को खोला। प्रसाद की प्रेरणा और सहायता से प्रकाशित 'इन्दु' मासिक पत्रिका एक नई कला-चेतना के प्रकाशन का माध्यम बनी। उसने नवीन रचनात्मक, नए ढंग के साहित्य को प्रश्रय दे, द्विवेदी-कालीन एकरसता के अन्त का आभास दिया। प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' सन् १९११ में 'इन्दु में ही प्रकाशित हुई थी। उस समय तक विकसित हिन्दी-कहानी को दृष्टि में रखते हुए इसकी सम्भावनाएँ काफी आशाप्रद थीं। इसके उपरान्त प्रसाद की अनेकानेक श्रेष्ठ कलात्मक कहानियाँ प्रकाश में आती गईं।

प्रसाद की आरम्भिक कहानियों 'ग्राम', 'तानसेन', 'रसिया बालम' आदि पर बँगला कहानी-शैली का प्रभाव था। बाद में उन्होंने अनेक ऐसी मौलिक कहानियाँ लिखना आरम्भ किया जो आज भी अपनी भावनिष्ठ अलंकृत शैली, गठन, उद्देश्य और कला की दृष्टि से हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ मानी जाती हैं। 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी', 'बिसाती', 'इन्द्रजाल', 'मधुवा', 'पुरस्कार', 'स्वर्ग के खंडहर', आदि उनकी ऐसी ही प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। प्रसाद की अधिकांश कहानियाँ ऐतिहासिक हैं या सामाजिक होते हुए भी ऐतिहासिक श्रृंगार से अलंकृत हैं। पात्रों का सूक्ष्म मनोभावापन्न चित्रण, अन्तर्द्वन्द्व, सोद्देश्य कौतुहलपूर्ण सम्वाद, आदर्शपरक परिणति, प्रकृति के भव्य रूप, वातावरण का प्रभावशाली चित्रण और सुन्दर, संस्कृतनिष्ठ ओज-पूर्ण शैली आदि विशेषताओं ने इनकी कहानियों को एक विशिष्ट, कलात्मक वर्ग की ऐसी कहानियाँ बना दिया है, जिसका अन्य कोई कहानीकार अनुकरण करने में समर्थ नहीं हो सका। इनकी ये कहानियाँ उच्च शिक्षित वर्ग में ही अधिक लोकप्रिय रही हैं। प्रसाद मूलतः कवि थे, इसलिए उनकी कहानियों में भी कविता की सी भाव-प्रवणता, सूक्ष्मता और सांकेतिकता मिलती है जो संस्कृतनिष्ठ शैली में अभिव्यक्त होने के कारण सामान्य स्तर के पाठक की समझ से परे की वस्तु रह जाती है। साधारण

अर्थ में इन कहानियों को मनोरंजक नहीं कहा जा सकता परन्तु श्रेष्ठ भव्य, कलापूर्ण मनोरंजन का इनमें अत्यन्त पुष्ट और उन्नत रूप मिलता है।

इसी समय हास्यरस पूर्ण कहानी-लेखक **ज्वाला प्रसाद श्रीवास्तव** की पहली कहानी 'पिकनिक' 'इन्दु' में प्रकाशित हुई। **राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह** की कहानी 'कानों में कँगना' भी बहुत लोकप्रिय रही। **कौशिक** की पहली कहानी 'रक्षाबन्धन' सन् १९१३ में 'सरस्वती में प्रकाशित हुई। उनकी 'ताई' नामक कहानी की गणना हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में की जाती रही है। उनकी कहानियों में समाज-सुधार, पारिवारिक जीवन के विभिन्न पक्ष आदि का मार्मिक चित्रण हुआ है। **आचार्य चतुरसेन शास्त्री** और विश्वम्भर नाथ जिज्जा ने भी इसी समय कहानियाँ लिखना आरम्भ कर दिया था। शास्त्री जी की कहानियाँ यथार्थवादी थीं। वह बहुत समय तक कहानियाँ लिखते रहे थे। 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', 'ककड़ी की कीमत' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ रही हैं। जिज्जा जी ने हास्यरस पूर्ण कहानियाँ लिखी थीं। **ज्वालाप्रसाद शर्मा** ने पारिवारिक जीवन की कहानियाँ लिखीं।

इसी समय हिन्दी में एक ऐसी कहानी लिखी गई जो हिन्दी-कहानी-साहित्य की प्रथम महान् उपलब्धि मानी गई। यह कहानी थी **पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** की 'उसने कहा था', जो सन् १९१५ में प्रकाशित हुई थी। यह, इसके नायक लहनासिंह के पवित्र प्रेम, आत्मार्पण, और प्रेम के लिए किये गए निस्वार्थ बलिदान की कहानी है। अपने सहज पुलकित रसोद्रेक के कारण ही यह हिन्दी-कहानी-साहित्य का 'क्रोश-स्तम्भ' मानी गई थी। इसके प्रकाशन के साथ हिन्दी-कहानी एक नए उन्मेष के साथ विकास के पथ पर आगे बढ़ी। गुलेरी जी ने कुल तीन कहानियाँ लिखी थीं—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' और 'उसने कहा था'। 'उसने कहा था' ने उन्हें हिन्दी का अमर कलाकार बना दिया है। इसके बिना हिन्दी-कहानी का विकास नहीं लिखा जा सकता। शुक्ल जी ने इसे हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी घोषित करते हुए लिखा था कि—"इसमें यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सम्पुटित है।....इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।" हिन्दी की यही सबसे पहली सर्वांगपूर्ण यथार्थ-वादी कहानी है, जो कहानी-कला की प्रत्येक कसौटी पर पूर्ण रूप से खरी उतरती है। इसके सम्बन्ध में यह विवाद प्रचलित है कि जब इसे पहली बार पाठ्य-क्रम के लिए एक कहानी-संग्रह में संग्रहीत किया गया था तो इसके कुछ अंशों को काट दिया गया था और यह आज उसी संशोधित रूप में ही उपलब्ध है। आज आवश्यकता इस बात की है कि इसे इसके मूल रूप में ही प्रकाशित किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त कहानीकारों द्वारा लिखी गईं कहानियाँ हिन्दी-कहानी के आरम्भिक विकास की परिचायक हैं। यद्यपि इनमें से कई कहानीकारों ने आगे चलकर अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी थीं, परन्तु इस आरम्भिक प्रयास के रूप में हिन्दी-कहानी के भावी विकास की सम्भावनाएँ स्पष्ट होने लगीं थीं। इस काल में कहानी की कई शैलियाँ

सामने आईं, जिन्हें चार प्रधान शैली-वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। यथा—(१) प्रसाद और राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह की भावुकतापूर्ण आदर्शवादी कहानियाँ; (२) कौशिक और ज्वालादत्त शर्मा की घटनापूर्ण पारिवारिक कहानियाँ; (३) गुलेरी और चतुरसेन शास्त्री की यथार्थवादी कहानियाँ, तथा (४) जिज्जा और ज्वाला प्रसाद श्रीवास्तव की हास्यरसपूर्ण कहानियाँ। इन विभिन्न शैलियों ने हिन्द-कहानी के रूप और क्षेत्र को सजाया-सँवारा और विस्तार दिया था। प्रेमचन्द भी इसी युग में कहानियाँ लिखने लगे थे, मगर उर्दू में ही। हिन्दी में वह बाद आए थे। उनका सन् १९०७ में प्रकाशित उर्दू कहानियों का एक संग्रह 'सोजे वतन' बहुत प्रसिद्ध रहा था। राष्ट्रीय भावना के कारण इस संग्रह और प्रेमचन्द—दोनों को सरकारी-कोप का भाजन बनना पड़ा था। उस समय प्रेमचन्द 'नबावराय' के नाम से लिखा करते थे। इस प्रकार इस युग में हिन्दी में प्रसाद, गुलेरी और प्रेमचन्द—तीन ऐसे कहानीकार सामने आए जिन्होंने हिन्दी-कहानी को विकास की मंजिल पर द्रुत गति से आगे बढ़ाया। प्रसाद और प्रेमचन्द—इन दो महान् कथा-शिल्पियों ने दो पृथक् और अनन्य कला-संस्थानों को जन्म दिया, जिनके अन्तर्गत हिन्दी के विकास-युगीन अनेक कहानीकारों ने अमूल्य कला-कृतियों का सृजन किया।

उत्कर्ष का युग

हिन्दी की आरम्भिक कहानी रहस्य-रोमांच, भावुकता, समाज-सुधार आदि विभिन्न क्षेत्रों में होती हुई आगे बढ़ी थी। उसके इस रूप में आदर्श और यथार्थ—दोनों ही स्वर मुखरित हो रहे थे। भावी कहानी इन्हीं में से किसी एक विकल्प को स्वीकार कर आगे बढ़ सकती थी। और यह कार्य वही कलाकार कर सकता था जो हिन्दी-कहानी की भावी सम्भावनाओं को समझने की दृष्टि और कहानी को नए युग की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बनाने की सामर्थ्य रखता। **प्रेमचन्द** ऐसे ही समर्थ कथाकार के रूप में हिन्दी कथा-क्षेत्र में अवतरित हुए थे। उन्होंने एक नए विश्वास के साथ कहानी को अपनी समाजवादी विचारधारा को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनाया। उन्होंने उसे साधारण मनोरंजन, भावुकता आदि से ऊपर उठा जीवन के संघर्षों को अभिव्यक्त करने वाले एक प्रभावशाली और सशक्त माध्यम का रूप प्रदान किया। इससे कहानी की सामाजिक उपयोगिता का रूप स्पष्ट हुआ और हिन्दी-कहानी एक नए विश्वास और उन्मेष के साथ विकास के पथ पर अग्रसर हुई।

प्रेमचन्द का आविर्भाव हिन्दी-कहानी-साहित्य की एक अभूतपूर्व घटना थी। उन्होंने सामाजिक मानव की सामान्य और विशिष्ट परिस्थितियों, मनोवृत्तियों और समस्याओं का अंकन कर हिन्दी-कहानी को एक निश्चित यथार्थवादी दिशा और गति प्रदान की। वस्तुतः प्रेमचन्द ने ही हिन्दी-कहानी को स्वावलम्बी बनाया था। उनसे पूर्व वह अन्य भाषाओं के कहानी-साहित्य के ऋण से काम चला रही थी। प्रेमचन्द ने उसे एक नवीन और स्वतंत्र रूप प्रदान किया। उन्होंने हिन्दी-कहानी को सच्चे अर्थों में यथार्थवादी बना, उसके माध्यम से समाज के दलित-शोषित वर्ग का मार्मिक

चित्रण कर समाज के कर्णधारों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया। उनकी कहानियों में हमारे समाज की सभी प्रमुख और गौण समस्यायें मुखरित हो उठीं थीं। उनकी सभी कहानियों में किसी-न-किसी समस्या को सोद्देश्य अभिव्यक्ति मिली है। कला और विचार, भाषा और कथ्य का ऐसा संतुलित समन्वय उनसे पूर्व नहीं मिला था। वस्तुतः प्रेमचन्द अपनी कहानियों द्वारा जन-जीवन को सशक्त, कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे। उन्होंने हिन्दी-उर्दू में लगभग ३५० कहानियाँ लिखी थीं, जिनमें 'कामना तरु', 'आत्माराम', 'कफन', 'पूस की रात', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'पंच परमेश्वर', 'ईदगाह', 'अलगोझ्या', 'रानी सारन्धा' आदि अत्यन्त सुन्दर और महत्त्वपूर्ण मानीं जाती हैं। प्रेमचन्द की कहानी-कला में वे समस्त शिल्पगत प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं जो कहानी-कला की आधार-शिलाएँ मानी जाती हैं। शिल्प-विधान, कथा-संगठन, चरित्र और शैली की दृष्टि से ये पूर्ण सफल रही हैं।

कौशिक जी बहुत समय तक कहानियाँ लिखते रहे थे। 'रक्षा-बन्धन' नामक कहानी से आरम्भ हुई उनकी कहानी-श्रृंखला उनके अन्तिम समय तक चलती रही थी। उन्होंने कुल मिलाकर लगभग ३०० कहानियाँ लिखी थीं, जो विचारधारा की दृष्टि से प्रेमचन्द-परम्परा की ही कहानियाँ थीं। इनमें समाज-सुधार का आदर्शवादी रूप ही अधिक उभरा है। इनकी 'ताई' शीर्षक कहानी बहुत प्रसिद्ध है। इन्होंने 'दुबे जी की चिठ्ठी' शीर्षक से हास्य-व्यंग्य पूर्ण अनेक कहानियाँ लिखी थीं जो अपने मार्मिक व्यंग्य के कारण काफी प्रसिद्ध रही। **सुदर्शन** प्रेमचन्द-परम्परा के कहानीकार थे। इनकी कहानियों में लगभग वे सभी गुण और विशेषताएँ मिल जाती हैं जो प्रेमचन्द की कहानियों की रही हैं। इनकी पहली कहानी 'हार की जीत' सन् १९२० में सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। उसके उपरान्त इन्होंने दर्जनों कहानियाँ लिखीं। 'नगीना', 'पनघट', 'तीर्थयात्रा' आदि इनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

सन् १९२२ के लगभग **पांडेय बेचन शर्मा** 'उग्र' अपने 'उग्र' उपनाम को सार्थक करते हुए हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में धूमकेतु के समान उदय हुए। इन्होंने अपनी कहानियों में सामाजिक और राजनीतिक विकृतियों का यथातथ्यपरक निरूपण करते हुए, उन पर तीखे और चुभते हुए आक्रमण किए। इन्होंने इन विकृतियों का ऐसा नग्न चित्रण किया जो कहीं-कहीं अश्लीलता का स्पर्श करने लगता है परन्तु प्रभाव स्वस्थ और शुभ ही रहता है। 'चाकलेट' नामक संग्रह की इनकी कहानियाँ इसका प्रमाण हैं जिनकी गांधीजी ने भी प्रशंसा की थी। परन्तु कुछ गांधीवादी आलोचकों ने उन्हें 'घासलेटी-साहित्य' घोषित किया था। 'दोजख की आग', 'बलात्कार', चिनगारियाँ' 'सनकी अमीर', 'जब सारा आलम सोता है' आदि संग्रहों में संग्रहीत उग्र जी की कहानियाँ बहुत समय तक चर्चा और विवाद का विषय बनी रही थीं। इनमें उग्र का विरोधी-स्वर अत्यन्त तीखा और उद्धत रहा है। उग्र-शैली की कहानियाँ अपनी विशिष्टता के कारण एक नए कहानी-संस्थान को जन्म देने में सफल रही थीं, जिनका अनुकरण नहीं किया जा सका।

इसी समय **चण्डी प्रसाद 'हृदयेश'** अपनी भावुकता से ओतप्रोत कवित्त्वपूर्ण कहानियाँ लेकर सामने आए। इनकी कहानियों की शैली अत्यधिक अलंकृत, भावुकता से भरी और गद्य-काव्य की सी रही। 'नन्दन निकुंज', 'वनमाला' आदि इनकी कहानियों के प्रसिद्ध संग्रह हैं। इनमें आत्मत्याग, सेवा, बलिदान, आत्मशुद्धि आदि उच्च आदर्शपरक भावनाओं का चित्रण हुआ है। **रायकृष्णदास, विनोद शंकर व्यास, सियारामशरण गुप्त, गोविन्दवल्लभ पन्त, पदुमलाल पन्नालाल बख्शी** आदि इस युग के ऐसे कहानीकार रहे हैं, जिनकी कहानियों में आदर्श और यथार्थ के सुन्दर समन्वय द्वारा विभिन्न सामाजिक स्थितियों और समस्याओं का कलात्मक अंकन हुआ है। इन समस्त कहानीकारों का मूल लक्ष्य सामाजिक यथार्थ के माध्यम से आदर्श की स्थापना करना रहा है। ये लोग काफी लम्बे समय तक कहानियाँ लिखते रहे थे। परन्तु ये लोग प्रधान रूप से कहानीकार नहीं थे। काव्य, नाटक, गद्य-काव्य आदि के साथ कभी-कभी कहानियाँ भी लिख दिया करते थे।

यथार्थवादी युग

प्रेमचन्द ने यथार्थ-चित्रण को अपनी कहानियों का मूलाधार बनाया था। इन कहानियों द्वारा वे यथार्थ का अंकन करने में तो पूर्णतया सफल रहे, परन्तु उस यथार्थ को बदलने के लिए कोई एक सुनिश्चित, सुनियोजित सन्देश न दे सके। इनका यह अधूरा कार्य हिन्दी के उन कहानीकारों ने पूरा किया जो साम्यवादी विचारधारा को अपना कर कहानी-क्षेत्र में उतरे थे। यशपाल, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, मन्मथनाथ गुप्त, अमृतलाल नागर, अमृतराय आदि हिन्दी के तथा कृष्णचन्द्र, ख्वाजा अहमद अब्बास आदि उर्दू के कहानीकारों ने साम्यवादी विचारधारा-प्रधान कहानियाँ लिखीं। प्रेमचन्द का 'हंस' बहुत समय तक हिन्दी के इन नवीन प्रगतिवादी कहानीकारों का केन्द्र रहा था। इन लोगों ने सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियों और संघर्षों का तथ्यपरक चित्रण करते हुए नवीन साम्यवादी विचारधारा का सम्बल ग्रहण कर वर्ग-संघर्ष को मुखरित किया। आर्थिक विषमता और उसके कारण उत्पन्न हुई विकृतियों, विषमताओं का विश्लेषण-विवेचन करते हुए हर प्रकार के शोषण, रूढ़ियों और अगतिशील मान्यताओं पर तीखे प्रहार किए। यह हिन्दी-साहित्य का नया स्पष्ट समाजवादी स्वर था जो रूढ़ संकीर्ण मान्यताओं के साथ समझौता करने का विरोधी था। ये नए कहानीकार गांधीवादी समझौता और नैतिकतावादी नीति के विरोधी और साम्यवादी क्रान्तिकारी विचारों के कट्टर समर्थक और चितेरे रहे। इनकी कहानियों ने हिन्दी-कहानी को एक नई प्रेरणा और रूप प्रदान कर उसे एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया था।

यशपाल ने अपनी कहानियों में साम्यवादी-विचारधारा के अनुसार सामाजिक विषमताओं का चित्रण किया। उन्होंने पूँजीवादी शोषण, सामाजिक और धार्मिक-रूढ़ियों और कुरीतियों पर तीखी चोट करते हुए एक ऐसे समाज के निर्माण

का सन्देश दिया जिसमें शोषण आदि की समाप्ति और नए स्वस्थ निर्माण की भावना सर्वोपरि रही। यथार्थ चित्रण के अत्यधिक आग्रह के कारण, इन कहानियों में कहीं-कहीं अश्लील-चित्रण भी आ गया, परन्तु प्रभाव की दृष्टि से वह शुभ ही था। 'पिंजरे की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'फूलो का कुर्ता', 'तुमने क्यों कहा था कि मैं सुन्दर हूँ' आदि यशपाल के श्रेष्ठ कहानी-संग्रह हैं। **रांगेय राघव** की कहानियों में भी यही समाजवादी-स्वर अधिक उभर कर आया। रांगेय राघव स्त्री-पुरुष, प्रेम-वासना जातिगत-धर्मगत रूढ़ियों और मान्यताओं को नई कसौटी पर कसने के विश्वासी रहे हैं। निराला ने 'देवी', 'चतुरी चमार' आदि सशक्त यथार्थवादी कहानियाँ लिखी थीं। **राहुल जी** ने 'वोल्गा से गंगा' नामक अपने कहानी-संग्रह की कहानियों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर मानव-विकास के विभिन्न सोपानों का आकर्षक अध्ययन और चित्रण प्रस्तुत किया। **भगवतशरण उपाध्याय** ने भी इसी प्रकार की अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ लिखीं। **मन्मथनाथ गुप्त** अपनी कहानियों में सामाजिक विषमताओं का यथार्थवादी अंकन करते रहे हैं। शेष अन्य प्रगतिवादी कहानीकारों का दृष्टिकोण और रचना-पद्धति पूर्णतः यथार्थवादी ही रही है।

प्रगतिवादी कहानियों की यह परम्परा प्रेमचन्द के उपरान्त आरम्भ हुई थी और आज तक निरन्तर सशक्त रूप में चली आ रही है। इस नवीन परम्परा ने हिन्दी-कहानी को पुराने आदर्शवादी और यथार्थवादी मोहजाल से मुक्त कर, उसे एक नई दिशा प्रदान करते हुए उसे समाज के यथार्थ चित्र अङ्कित करने के लिए प्रेरित किया था। नए कहानीकारों को एक वैज्ञानिक, स्वस्थ सामाजिक और आर्थिक दृष्टि प्रदान की थी जिससे कहानी का रूप स्वस्थ, अधिक सशक्त और प्रभावशाली बन गया था। आजकल भी अनेक लेखक इसी दृष्टि के अनुसार सुन्दर, कलापूर्ण कहानियाँ लिख रहे हैं।

प्रगतिवादी कहानीकार प्रेमचन्द की परम्परा को विकसित करते हुए समाज और व्यक्ति के जीवन की विविध समस्याओं, मानसिक द्वन्द्वों और अनुभूतियों का वर्ग-वैषम्य के सन्दर्भ में सचेतन चित्रण कर रहे थे। इनका स्वर आदर्शवादी और सुधारवादी की अपेक्षा क्रान्तिकारी ही अधिक रहा। इसी कारण इन लोगों ने सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की विकृतियों का निर्मम खुला चित्रण कर, उन विकृतियों के जनक—मूल कारणों को दूर करने की एक नई क्रान्तिकारी चेतना का स्वर बुलन्द किया। 'उग्र' अपनी घोर यथार्थवादी कहानियों द्वारा इस यथार्थवादी निर्मम चित्रण की परम्परा आरम्भ कर चुके थे। 'उग्र' की यही परम्परा इन प्रगतिवादी कहानीकारों की कहानियों में 'वर्ग-वैषम्य' का रूप धारण कर विकसित हुई थी। इस प्रकार इस परम्परा के मूल में प्रेमचन्द की सामाजिक यथार्थवादी और उग्र की निर्मम यथार्थवादी परम्परा अपना गहरा प्रभाव डाल, उसे आगे बढ़ा रही थी। प्रेमचन्द, यशपाल और उग्र के कहानी-साहित्य ने, समष्टि रूप से, अपने युग की राष्ट्रीय-चेतना को सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की थी। इस राष्ट्रीय चेतना के

राजनीतिक गुलामी से, आर्थिक शोषण से, वर्ग-वैषम्य तथा अन्ध रूढ़ियों से मुक्ति आदि विभिन्न पक्ष थे। इसी कारण इनकी कहानियों में व्यक्ति के रूप में सम्पूर्ण समाज की आकांक्षाओं, उमंगों, दुख-द्वन्द्वों, विभिन्न भाव-भूमियों आदि को मार्मिक अभिव्यक्ति मिली।

व्यक्तिवादी कहानियाँ—प्रसाद अपनी कहानियों में समाज और व्यक्ति के संघर्षों के साथ व्यक्ति की विविध भाव-भूमियों का रोमान्स-प्रधान चित्रण कर चुके थे। इन कहानियों में मानव-मन का स्वस्थ, आकर्षक और विभिन्न पक्षीय चित्रण हो चुका था। इनका मूलाधार मानव-मन का निश्छल और स्वाभाविक प्रेम तथा उदारता रही थी। ये कहानियाँ एक प्रकार से व्यक्ति के माध्यम से सामाजिक चेतना का ही अंकन कर रही थीं। आगे चलकर **जैनेन्द्र** ने इस परम्परा को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने विषम परिस्थितियों में ग्रस्त व्यक्ति के मानसिक-द्वन्द्व को आधार बना उसके अन्तर्द्वन्द्व और उनसे प्रेरित क्रियाओं का अधिक सम्वेदनशील मनोवैज्ञानिक चित्रण करना आरम्भ किया। 'वातायन', 'स्पर्द्धा', 'फाँसी', 'पाजेब', 'एक रात', 'जय-सन्धि', 'दो चिड़िया' आदि उनके विभिन्न कहानी-संग्रहों में ऐसी ही मनोवैज्ञानिक चित्रण-प्रधान कहानियाँ संग्रहीत हैं, जिनमें दार्शनिक स्पर्श द्वारा मानव-मन की विभिन्न स्थितियों और द्वन्द्वों का चित्रण करते हुए व्यक्ति की विषम स्थिति का अंकन किया गया है। उनकी 'जान्हवी' कहानी बहुत प्रसिद्ध रही है। जैनेन्द्र की कहानियाँ व्यक्तिवादी ही हैं परन्तु उनका प्रधान स्वर व्यक्ति और व्यक्ति द्वारा समाज के उन्नयन का ही रहा है। उपन्यासकार जैनेन्द्र की अपेक्षा कहानीकार जैनेन्द्र अधिक स्वस्थ और सशक्त कलाकार हैं।

व्यक्तिवादी कहानियों का एक दूसरा रूप उन मनोविश्लेषण-प्रधान कहानियों में उभरा—जिनमें केवल मानव-मन की कुण्ठाओं, विकृतियों, मानसिक रुग्णता, सामाजिक सम्बन्धों के प्रति अस्वस्थ, पतनकारी विद्रोह और चरित्रहीनता का चित्रण ही कहानीकारों का मूल काम्य रहा। **अज्ञेय** हिन्दी में ऐसी ही कहानियों के जनक रहे हैं। इनकी कहानियों में व्यक्ति के उत्तरदायित्वहीन वैयक्तिक उश्रृंखल विद्रोह को ही एक नवीन क्रान्तिकारी चेतना के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो सामाजिक विघटन और अराजकता को प्रश्रय दे, व्यक्ति की अबाध स्वतन्त्रता-स्वच्छन्दता तथा सामाजिक-तटस्थता की भावना का ही पोषण करती है न कि सामाजिक उन्नयन की। अज्ञेय के 'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात', 'जयदोल' आदि कहानी-संग्रहों में उनकी ऐसी ही कहानियाँ संग्रहीत हैं। इन कहानियों में व्यक्ति-जीवन की घुटन, एकाकीपन, अतृप्त काम-भावना, सामाजिक मान्यताओं और रूढ़ियों के विरुद्ध व्यक्ति के नपुंसक विद्रोह आदि का चित्रण हुआ है। कुछ कहानियों में व्यक्ति के नीरस, यांत्रिक, एकाकी से जीवन का अत्यन्त मार्मिक और प्रभावशाली चित्रण हुआ है, जैसे—'रोज' नामक कहानी में, जो 'गैंग्रीन' शीर्षक से भी प्रकाशित हुई है। **इलाचन्द्र जोशी** भी प्रधान रूप से मनोविश्लेषणवादी कहानीकार रहे हैं। इनके 'रोमांटिक-

छाया', 'आहुति', 'दीवाली और होली' आदि कहानी-संग्रहों की कहानियों में मनोविश्लेषण के आधार पर सूक्ष्म मानसिक स्थितियों और द्वन्द्वों का ही चित्रण किया गया है।

व्यक्तिवादी परम्परा के कहानीकारों में दो कहानीकार ऐसे हैं जो व्यक्ति-चेतना को सामाजिक-चेतना से सम्पृक्त कर आगे बढ़े हैं। **भगवतीचरण वर्मा** और **भगवतीप्रसाद वाजपेयी** हिन्दी के ऐसे ही कहानीकार हैं। **वर्मा जी** ने अपनी कहानियों में व्यक्ति के माध्यम से सामाजिक विषमताओं का सशक्त चित्रण किया है। व्यंग्य—चुभता हुआ व्यंग्य उनकी कहानियों में खूब उभरा है। वह तटस्थ-भाव से ऐसा गहरा व्यंग्य कस जाते हैं कि कहानी का प्रभाव घनीभूत हो उठता है। 'खिलते फूल', 'इन्स्टालमेन्ट', 'दो बाँके' आदि इनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं। 'जब मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' शीर्षक कहानी में वर्मा जी की कथा के प्रति सहज निर्लिप्तता, कथा कहने का अनासक्त सहज ढंग और उससे उभरते हुए ऐतिहासिक सत्य का बड़ा मनोहारी रूप प्रकट होता है। **वाजपेयी जी** एक प्रकार से जैनेन्द्र की व्यक्तिवादी परम्परा के कहानीकार हैं। इनकी कहानियों में व्यक्ति की कुण्ठाओं को ही प्रधान अभिव्यक्ति मिली है जिसका अन्त प्रायः आदर्श में होता है। 'हिलोर', 'पुष्करिणी', 'खाली बोतल' आदि इनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं।

यथार्थवादी सामाजिक परम्परा—हिन्दी में अनेक ऐसे कहानीकार हुए हैं, जिन्होंने अपनी कहानियों में समाज का यथार्थवादी चित्रण कर समाज की विभिन्न स्थितियों और समस्याओं का चित्रण और विश्लेषण किया है। ये कहानीकार केवल यथार्थ चित्रण तक ही सीमित रहे हैं, उससे आगे बढ़कर कोई स्वस्थ, प्रेरणादायक सन्देश या दिशा नहीं बता पाए हैं। **उपेन्द्रनाथ अश्क** ने अपनी कहानियों में आधुनिक समाज की विकृतियों, कुण्ठाओं, निर्बलताओं आदि का प्रभावपूर्ण व्यंग्यात्मक शैली में चित्रण किया है। 'निशानियाँ', 'दो धारा' आदि इनके कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इधर इनकी सद्यः प्रकाशित कहानी 'मरना और मरना' काफी चर्चा और कटु आलोचना का विषय रही है। इस कहानी को लेकर अश्क की काफी छीछालेदर की गई है। परन्तु अधिकांश आलोचक इस कहानी के मूल में सक्रिय कहानीकार के अनुभूत सत्य को न समझ कर इस पर अश्लीलता और घिनौनेपन का लांछन लगा बैठे हैं। **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** ने 'चन्द्रकला', 'भय का राज्य', 'अमावस' आदि कहानी-संग्रहों की कहानियों में राष्ट्रीय एवं सामाजिक समस्याओं का प्रभावशाली अंकन किया है। **सत्यप्रकाश संगर** ने उच्चवर्ग की विलासिता, नेताओं और अधिकारियों के भ्रष्टाचार और पाखंड का मार्मिक चित्रण किया है। 'अवगुण्ठन', 'नया मार्ग', 'कितना ऊँचा कितना नीचा', 'मुझे टिकट दो', 'अफ्रीका का आदमी' आदि इनके विभिन्न कहानी-संग्रह हैं। **रमाप्रसाद पहाड़ी** की कहानियों में यौन-प्रवृत्तियों का नग्न-चित्रण प्रधान रहा है। इस नग्न-चित्रण का प्रधान उद्देश्य सामाजिक अनैतिकता, उश्रृंखलता आदि का चित्रण करना ही रहा है। इनके अनेक कहानी-संग्रह प्रकाशित

हो चुके हैं जिनमें 'सफर', 'अधूरा चित्र', 'सड़क पर', 'बया का घोंसला', 'नया रास्ता' आदि उल्लेखनीय हैं।

देवीदयाल चतुर्वेदी मस्त, राजेश्वर प्रसाद सिंह, शिवपूजन सहाय, **अक्षय कुमार जैन, आनन्दप्रकाश जैन, मोहन सिंह सेंगर, रामवृक्ष बेनीपुरी, कमलादेवी चौधरी, सुभद्रा कुमारी चौहान, चन्द्र किरण सौनरिक्सा, रजनी पनिकर, कुँवरानी तारादेवी** आदि इसी परम्परा के कहानी-लेखक और कहानी-लेखिकाएँ हैं।

हास्य रस की कहानियाँ—हिन्दी में यद्यपि हास्य रस की कहानियाँ लिखी तो पर्याप्त मात्रा में गई हैं परन्तु कुल मिलाकर इन कहानियों का स्तर ऊँचा नहीं माना जा सकता। ज्वाला प्रसाद श्रीवास्तव, अजीमबेग चुगताई, अन्नपूर्णानन्द, हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढव बनारसी', राधाकृष्ण, कान्तानाथ पांडेय 'चोंच', बद्रीनारायण शुक्ल, झटपटराय बनारसी, काशीनाथ उपाध्याय, बरसाने लाल चतुर्वेदी, रघुकुल तिलक, कुटिलेश आदि अनेक कहानीकारों ने समाज के विभिन्न पक्षों पर हास्यरस पूर्ण व्यंग्यात्मक कहानियाँ लिखी हैं। परन्तु हिन्दी की इन कहानियों का स्तर उर्दू आदि की इसी प्रकार की कहानियों की तुलना में निम्न ही रहा है। इनमें प्रायः शब्दों द्वारा ही हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा मिलती है, हास्य का वह प्रभावकारी मार्मिक रूप नहीं मिलता जो पाठकों को सोचने के लिए बाध्य कर दे।

शिकार सम्बन्धी कहानियाँ—हिन्दी में शिकार सम्बन्धी कहानियाँ भी बहुत कम लिखी गई हैं। ऐसे कहानियाँ लिखने वालों में **पं० श्रीराम शर्मा, विराज** आदि प्रसिद्ध हैं। शर्मा जी ने 'शिकार' नामक अपने कहानी-संग्रह में व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित बड़ी मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों में शिकार होने वाले जानवर और शिकारी—दोनों की मनःस्थितियों और क्रियाओं का बड़ा मनोवैज्ञानिक यथार्थ अंकन हुआ है। शर्माजी के उपरान्त हिन्दी के अन्य किसी भी कहानीकार ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता नहीं पाई है। **विराज** ने अधिकांशतः विदेशी शिकार-सम्बन्धी कहानियों के ही सुन्दर अनुवाद किए हैं। इधर **रुद्रदत्त मिश्र** की कुछ ऐसी कहानियाँ प्रकाश में आई हैं जो साहित्यिक-गुणों से विभूषित हैं। वैसे, सामान्यतः विदेशी शिकार-सम्बन्धी कहानियों के अनुवाद ही प्रकाशित होते रहते हैं। यही स्थिति जासूसी कहानियों की है। हिन्दी में बहुत कम सुन्दर और मौलिक जासूसी कहानियाँ लिखी जा रही हैं। अनुवाद ही अधिक हो रहे हैं।

बहुमुखी चेतना का युग

हिन्दी के अनेक कहानीकार बहुत लम्बे समय से निरन्तर कहानियाँ लिखते चले आ रहे हैं। पुराने लोगों ने जिस दृष्टिकोण से कहानियाँ लिखना आरम्भ किया था, उनकी आधुनिक कहानियों में भी वही दृष्टिकोण मिलता है। केवल कहने में थोड़ा सा अन्तर आ गया है। उनकी मूल चेतना वही रही है। परन्तु आजादी के उपरान्त हिन्दी में कहानीकारों की एक ऐसी नई पीढ़ी उभरी थी जिसने कहानी-लेखन

के क्षेत्र में अनेक नए और मौलिक क्रान्तिकारी परिवर्तन किए थे। आजादी ने जिन नवीन स्थितियों और समस्याओं को जन्म दिया था, इस नई पीढ़ी के कहानीकारों की कहानियों में उसी को अभिव्यक्ति मिली थी। हिन्दी के ये नए कहानीकार हिन्दी की पूर्ववर्ती कहानियों और कहानी-कला को ही एक नया विकास दे रहे थे। इस रूप में ये पूर्ववर्ती परम्पराओं से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध रहे। इसी कारण इस काल में सामाजिक यथार्थवादी और मनोविश्लेषण-प्रधान व्यक्तिवादी—हिन्दी-कहानी के दोनों प्रधान पूर्ववर्ती रूपों का ही बहुमुखी विकास दिखाई दिया। व्यक्ति-चेतना और समाज-चेतना के दो वर्गों में विभाजित हिन्दी-कहानी इस काल में विभिन्न देशी-विदेशी प्रभावों को ग्रहण करती हुई आगे बढ़ी। आधुनिक कहानी का मूल रूप यही रहा। आजादी के बाद हमें विदेशी दासता से तो मुक्ति मिल गई थी, थोड़ा सा क्षणिक उल्लास भी जीवन में आया था परन्तु सामाजिक और आर्थिक विषमता यथावत् बनी रही थी। इसमें अन्तर केवल इतना आया था कि इन विषमताओं के शिकंजे पहले से और अधिक मजबूत और कठोर हो गए थे। शासन-पद्धति, शिक्षा-नीति, आर्थिक शोषण, भ्रष्टाचार, दुराचार आदि पहले की तुलना में अधिक भ्रष्ट और समाज के लिए घातक हो उठे थे। शासक, उसके कर्मचारी और चाटुकार मजे उड़ाते थे और सामान्य जन उनके मजे के लिए साधन जुटाने को विवश था। इस नई स्थिति ने हिन्दी-कहानी को गहरे रूप से प्रभावित किया था। असह्य सामाजिक और वैयक्तिक घुटन तथा विवशता को हिन्दी की इस नई कहानी ने अभिव्यक्ति देना आरम्भ कर दिया था। हिन्दी के अधिकांश नए कहानीकार मध्य वर्ग या निम्न वर्ग से आए थे। वे समाज में अपनी स्थिति जमाने में असफल और असमर्थ रहे थे। उनकी स्थिति उखड़े हुए लोगों जैसी थी। इसलिए उनकी सारी विवशता, असमर्थता, क्षोभ और आक्रोश इस काल की नई कहानियों में अभिव्यक्त हो उठा।

यह आधुनिक कहानी का एक पक्ष था जो व्यक्ति की विवशता और तज्जन्य क्षोभ को मुखरित कर रहा था। इसका दूसरा पक्ष वह था जो भ्रष्ट संस्कारों, अगतिशील जीवन-मूल्यों, सामाजिक भ्रष्टाचार और शोषण का विरोध करता हुआ नए जीवन-मूल्यों पर आधारित विकास के नए सोपानों की ओर बढ़ रहा था। इस पक्ष में मानव की अटूट जिजीविषा में एक दृढ़, अडिग आस्था और स्वस्थ भावी निर्माण के आशा भरे स्वर मुखरित हो रहे थे। हिन्दी की नई कहानी जीवन के इन्हीं दोनों पक्षों को समेट कर आगे बढ़ी थी।

इस नए युग में जो सबसे बड़ी बात हुई, वह यह थी कि अब कहानी का व्यावसायिक मूल्य स्थापित होने और बढ़ने लगा था। इसने एक तरफ तो रचना-परिमाण में कहानी की वृद्धि की और दूसरी ओर व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता को बढ़ावा दिया। इस प्रतिद्वन्द्विता ने एक ओर तो श्रेष्ठ, कलात्मक कहानियाँ लिखने को प्रोत्साहन दिया और साथ ही गुटबन्दी को भी प्रश्रय मिला। इस स्थिति ने हिन्दी-कहानी की प्रगति को विकसित भी किया और उसे हानि भी पहुँचाई। अब हिन्दी-

कहानीकार कहानी-लेखन को अर्थोपार्जन का साधन बनाकर आगे बढ़ रहा था। यह उसके अस्तित्व की रक्षा का साधन बन गई थी। इसलिए अपने प्रचार के लिए नए कहानीकारों को विभिन्न प्रकार के हथकन्डों का सहारा लेना पड़ता था। यह प्रवृत्ति सन् १९५० के आसपास उभरी थी और आज तक यथावत् चल रही है।

इस प्रवृत्ति के दो परिणाम सामने आए। व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण नया कहानीकार अध्ययनशील तथा शिल्प, भाषा-शैली के परिमार्जन और नवीनता के प्रति अधिक सचेत और प्रयत्नशील बना। उसके लिए यह अनिवार्य सा बन गया कि वह देशी-विदेशी कथा-साहित्य की नवीनतम प्रगति और नवीनतम रूपों से परिचित रहे। इसका प्रभाव आधुनिक कहानी के वस्तु-वैविध्य, शिल्प आदि पर गहरा पड़ा। मौलिकता भी उभर कर सामने आई। परन्तु दूसरा परिणाम अस्वास्थ्यकर रहा। अनेक नए कहानीकार उधार ली हुई विदेशी अनुभूतियों को अपना कर उन्हें मौलिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न करने लगे। इससे चिन्ता-पारतन्त्र्य की प्रवृत्ति बढ़ी जो मौलिकता को कुण्ठित कर देती है।

आधुनिक हिन्दी-कहानी इन्हीं शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों, नए-नए शिल्प-विधानों, विषयों आदि को अपनाती हुई अपनी परिधि में सम्पूर्ण समाज को समेटे हुए आगे बढ़ रही है। इसमें नए-नए आन्दोलन उभरते और मिटते रहे हैं। इन आन्दोलनों ने हिन्दी-कहानी को समृद्ध बनाया। यह हिन्दी-कहानी के बहुमुखी विस्तार का युग है। नए-नए प्रयोग हो रहे हैं। परन्तु प्रचार उन्हीं प्रयोगों का होता है, जिन्हें समाज स्वीकार कर लेता है। पाठक अपनी रुचि के अनुसार ही नए प्रयोगों को बढ़ावा देते हैं। जिन्हें वे व्यर्थ समझते हैं, उन्हें प्रोत्साहन नहीं मिलता। एक उदाहरण द्रष्टव्य है। विदेशी कहानी-साहित्य के एक रूप—अकहानी का अनुकरण करते हुए कुछ नए कहानीकारों ने हिन्दी में अकहानी लिखना आरम्भ किया था। अकहानी में कथा नहीं होती; होती भी है तो उसका कोई महत्त्व नहीं होता। हिन्दी में ऐसी अनेक कहानियाँ लिखी गईं और उनके लेखकों ने उनका खूब जोरशोर के साथ प्रचार भी किया। परन्तु पाठकों द्वारा वे स्वीकृत न हो सकीं। परिणाम यह निकला कि कहानी का यह नया रूप लोकप्रियता प्राप्त करने में असमर्थ रहा।

समष्टि रूप से इस युग की कहानी स्वाधीन भारत के व्यक्ति, समाज, और जीवन के विभिन्न पक्षों को अपना विषय बनाकर आगे बढ़ रही है। उसमें इस युग का सम्पूर्ण मानव-जीवन मुखरित हो रहा है। पुराने जीवन-मानों का विघटन और नवीन मूल्यों की स्थापना; आर्थिक, मानसिक, वैचारिक और संस्कार सम्बन्धी संघर्ष, जीवन के विकृत और शुभ—दोनों पक्ष; नए परिवेश में उभरते नए मानवीय सम्बन्ध, राष्ट्र के जीवन में घटित होने वाली घटनाएँ, समस्यायें आदि सभी कुछ इन कहानियों में सिमट आया है। इन कहानियों का अध्ययन कर वर्तमान भारत की सम्पूर्ण गतिविधियों का सही अन्दाज लगाया जा सकता है। अस्तु,

सन् १६५० के लगभग हिन्दी-कहानी क्षेत्र में नई पीढ़ी का उदय हुआ था। इस नई पीढ़ी के साथ पुराने कहानीकार भी कहानियाँ लिखते रहे हैं। इस नई पीढ़ी का आरम्भिक दृष्टिकोण समाजवादी था। आजादी मिलने के उपरान्त कहानी में जिस उमंग और उल्लास का चित्रण होना चाहिए था, वह कुछ ही कहानियों में उभर पाया। इस काल के अधिकांश कहानीकार अपने असन्तोष, क्षोभ, आक्रोश और निराशा को ही अभिव्यक्ति देते रहे—क्योंकि आजादी उनकी आशा-आकांक्षाओं और उमंगों को पूरा करने में असमर्थ रही थी। हमारी नई पीढ़ी का कहानीकार नागरिक मध्य-वर्ग का अंग था, या गाँव से नगर में आकार इस वर्ग में सम्मिलित हो गया था। वह समाज में सम्मान के साथ जीना चाहता था और अपने कृतित्त्व का उचित पुरस्कार भी पाना चाहता था। परन्तु आर्थिक विषमता उसे जमने नहीं दे रही थी। इसी कारण इस युग के कहानीकार में आर्थिक साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, बुर्जुआ नेताशाही, जड़ नौकरशाही आदि के विरुद्ध एक भयंकर असन्तोष और खीझ की भावना भर गई थी। वह इन सबका विरोध कर एक स्वस्थ, उन्नत और सुखी समाज के निर्माण का अभिलाषी था। उसकी यही आकांक्षा उसकी कहानियों में विभिन्न रूप धारण कर उभर रही थी। **राजेन्द यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर** आदि नए कहानीकार कहानी के इसी नए रूप को लेकर सामने आए थे। यह नई परम्परा प्रेमचन्द द्वारा स्थापित समाजवादी परम्परा का ही नया रूप था। इनके साथ अन्य कहानीकार भी इस क्षेत्र में उतरे थे, परन्तु प्रसिद्धि उपर्युक्त त्रिमूर्त्ति को ही अधिक मिली। ये तीनों कहानीकार हिन्दी की नई कहानी के प्रतिष्ठापक के रूप में स्थापित हो गए। इसके कारण थे। इन्होंने अपनी कहानियों द्वारा नए युग-जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान की थी। इसलिए इनकी महत्ता को स्वीकृति मिलना अनिवार्य और स्वाभाविक था। दूसरे कारण का विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

राजेन्द्र यादव ('जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'एक पुरुष एक नारी' आदि); मोहन राकेश ('नए बादल', 'जानवर और जानवर', 'एक और जिन्दगी' आदि); कमलेश्वर (राजा निरबंसिया' आदि); एक नए उन्मेष और शिल्प-विधान के साथ इस क्षेत्र में उतरे। इनकी इन कहानियों में समाज और व्यक्ति का सुख-दुख, घुटन-पीड़ा, विवशता-क्षोभ और इन सबको चुनौती देने वाला एक नया स्वर उभरा था। इन लोगों ने ही कहानी के व्यावसायिक रूप को उभारा और प्रतिष्ठित किया था। हिन्दी-संसार ने इनके कृतित्त्व को सराहा और स्वीकारा था। परन्तु जब इनके साथ ही अन्य अनेक प्रतिभाशाली कहानीकार इस क्षेत्र में उतरे तो अस्तित्त्व का प्रश्न उत्पन्न हो गया। यह प्रतिष्ठित त्रिमूर्ति विशुद्धरूपेण मसिजीवी थी। साहित्य-सृजन ही इसकी जीविका का आधार था। इसलिए इसने अपनी अस्तित्त्व-रक्षा के निमित्त प्रचार का नया ढंग अपनाया। इन्होंने यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि हिन्दी की पुरानी कहानी रूढ़िबद्ध, अगतिशील और अविकसित थी। इन्होंने हिन्दी में सबसे पहले ऐसी कहानियाँ लिखीं थीं जो हिन्दी की पुरानी कहानी-

परम्परा से एकदम भिन्न, विकसित और नई हैं। अतः इन्होंने अपने कहानी-साहित्य को 'नई कहानी' की संज्ञा प्रदान कर उसे साहित्य की एक विशिष्ट देन के रूप में घोषित कर दिया और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उसका खूब प्रचार किया। इन्होंने परस्पर एक-दूसरे पर प्रशंसात्मक लेख लिखे। और जब इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ तो कुछ ने छद्म नामों से स्वयं पर ही लेख लिखकर स्वयं को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कहानीकार घोषित करने का प्रयत्न किया।

इन लोगों ने 'नई कहानी' की उपलब्धियों को इस प्रकार प्रस्तुत किया—कि नई कहानी ने किस्सागोई की पुरानी परम्परा को तोड़ कथा के महत्त्व को कम किया है; कि अब साधारण मनुष्य उसके कृतित्व का पात्र बन गया है, विशिष्ट नहीं; कि उसने मानव-मन की गहराइयों में प्रवेश कर, मनोविश्लेषण द्वारा मनुष्य के सूक्ष्म तन्तुओं का उद्घाटन किया है; कि उसके रचनाकारों ने 'क्राइसिस' को झेला है; कि उसने नए जीवन-मूल्यों की स्थापना की है; कि भाषा को नए सन्दर्भों के अनुरूप नया रूप प्रदान किया है; कि नए प्रतीकों की स्थापना की है; कि शिल्प के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग किए हैं, आदि।

वस्तुतः उपर्युक्त तथाकथित नवीन उपलब्धियाँ 'नई कहानी' के रचयिताओं की ही विशिष्ट उपलब्धियाँ नहीं रही हैं। प्रेमचन्द से लेकर आज तक इस प्रकार की उपलब्धियाँ निरन्तर होती चली आई हैं। उपर्युक्त उपलब्धियों को उन्हीं का विकसित रूप मानना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि 'नई कहानी' ने हिन्दी-कहानी को नए क्षेत्र, नए रूप और नई भाषा प्रदान की है। उसमें विस्तार और गहराई—दोनों ही आई हैं। परन्तु यह कहना नितान्त दम्भपूर्ण और अनर्गल है कि इन नए कहानीकारों की कहानियाँ अपनी पूर्व-परम्परा से नितान्त कटी हुई, नवीन, मौलिक और अभूतपूर्व उपलब्धि है। वस्तुतः यह उस परम्परा का ही युगानुरूप विकास है। अपने पूर्वजों के दाय को नकारना—दम्भ और खोखलेपन का ही प्रमाण होता है। परन्तु इन नए कहानीकारों ने 'नई कहानी' की विशिष्टता और मौलिकता के इतने अधिक ढोल पीटे, अपनी सृजन-शक्ति का इतना अधिक अपव्यय किया कि उनकी मौलिक सृजन-शक्ति कुंठित सी हो गई। यदि ये लोग अपनी यह शक्ति नवीन कृतियों के सृजन में लगाते तो उनका और हिन्दी कहानी—दोनों का ही कल्याण होता। या तो प्रचार ही कर लीजिए, या नई दमदार कहानियाँ ही लिख लीजिए। आजकल भी ये लोग कहानियाँ लिखते रहते हैं परन्तु अब इनमें ज्यादा दम नहीं रहा। 'नई कहानी' का आन्दोलन एक दल-विशेष का आन्दोलन था जो अब मरण-वेला की प्रतीक्षा कर रहा है।

दल बनाकर अपने प्रचार का ढोल पीटने की इस प्रवृत्ति ने एक नए दल को जन्म दिया—सचेतन कहानीकारों के दल को। **महीपसिंह, मनहर चौहान, आनन्द-प्रकाश जैन, कुल भूषण, सुदर्शन चोपड़ा, सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा, वेद राही, जगदीश चतुर्वेदी, हिमांशु जोशी, धर्मेन्द्र गुप्त, देवेन गुप्त, राजीव सक्सेना, योगेन्द्र कुमार लल्ला, रमेश गौड़** आदि हिन्दी-कहानीकारों की नवीनतम पीढ़ी के ऐसे लेखक हैं जिन्होंने एक

ओर तो सुन्दर, कलात्मक कहानियाँ लिखी हैं, और दूसरी ओर 'नई कहानी' की संकीर्णता और दम्भ का डटकर विरोध किया है। इन लोगों का कहना है कि इनकी कहानियाँ पूर्व-परम्परा से सम्पृक्त हैं और ये लोग प्रसाद, प्रेमचन्द आदि की कहानी-परम्परा को ही विकास दे रहे हैं। परन्तु ध्यान से देखने पर इनमें और 'नई कहानी' के लेखकों में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं दिखाई देता। दोनों ही पूर्व-परम्परा को ही विकास दे रहे हैं। वस्तुतः 'नई कहानी', 'सचेतन कहानी', 'अकहानी' आदि नाम प्रचार के साधन ही अधिक रहे हैं। हमें इस सब का इतने विस्तार के साथ इसलिए विवेचना करना पड़ा क्योंकि इस दलबन्दी और प्रचार ने हिन्दी-कहानी का हित न कर अहित ही अधिक किया है। हिन्दी के वे कहानीकार कहीं अधिक अच्छी कहानियाँ लिख रहे हैं जो इस गुटबन्दी से परे रहकर स्वतंत्र रूप से साहित्य-सृजन में व्यस्त हैं।

धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, निर्मल वर्मा, पानू खोलिया, ज्ञानी, शैलेश मटियानी, शिवप्रसाद सिंह, हर्षनाथ, भगवती सिंह, शमशेरसिंह नरूला, विष्णु-प्रभाकर, ओंकार शरद, राबिन शा पुष्प, अमरकान्त, भीष्म साहनी, श्रीकान्त वर्मा, हरिशंकर परसाई, रवीन्द्र कालिया, रामकुमार, गंगाप्रसाद मिश्र, बलवन्त सिंह, फणीश्वरनाथ 'रेणु', राजेन्द्र अवस्थी, गिरीश अस्थाना, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, गिरिराज, मृत्युंजय उपाध्याय, रघुवीर सहाय, दूधनाथ सिंह, अवधनारायण सिंह, गंगाप्रसाद विमल, कैलाश कात्यायन, परेश, आदि कहानीकार तथा **शिवानी, रजनी पनिकर, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, सोमा बीरा, शान्ति महरोत्रा, सलमा सिद्दीकी, मेहरुन्निसा परवेज, इन्दुबाली, विजया चौहान** आदि कहानी-लेखिकाएँ गुटबन्दी से दूर रहते हुए कहानी-लेखन में व्यस्त हैं और इनके द्वारा बहुत सुन्दर कहानियों का सृजन हो रहा है।

इस युग में लघु-कथाएँ भी लिखी जा रही हैं। **रावी, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, आचार्य जगदीश चन्द्र** आदि सुन्दर लघु-कथाएँ लिख रहे हैं जिनमें कल्पित या पौराणिक कथाओं के माध्यम से जीवन के किसी शाश्वत सत्य, सन्देश या उपदेश का प्राधान्य रहता है। **केशवचन्द्र वर्मा, हरिशंकर परसाई, श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी** आदि सुन्दर हास्य-व्यंग्यपूर्ण सरस कहानियाँ रच रहे हैं। **रेणु, राजेन्द्र अवस्थी, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह** आदि ने अनेक सुन्दर आंचलिक कहानियाँ लिखी हैं। **अमृतराय, भैरव प्रसाद गुप्त, मन्मथनाथ गुप्त, कृष्ण बल्देव वैद्य** आदि की कहानियों में समाजवादी प्रगतिशील दृष्टिकोण अधिक उभर कर आया है।

इस काल में अनेक ऐसी कहानियाँ लिखी गई हैं जिनमें यौन-भावना और यौन-सम्बन्धों, यौन-विकृतियों आदि का प्रधान और खुला चित्रण हुआ है। कहानी-कारों ने स्वयं रस ले-लेकर ऐसे चित्रण किए हैं। यौन-कुंठा ही ऐसे चित्रणों की जननी रही है। यह बात नहीं कि यह चित्रण एक विशिष्ट वर्ग के कहानीकारों तक ही सीमित है। कुछ में यह प्रवृत्ति प्रधान रही है और कुछ में गौण। श्लील और

अश्लील की समस्या साहित्य की काफी पुरानी समस्या है। इस युग में यह समस्या नए सिरे से उठ खड़ी हुई है। नारी के अंगों का उत्तेजक वर्णन, कलाहीन और नग्न तथा रति-क्रिया का खुला-सा उद्दाम वर्णन, काम-भावना का उत्तेजित चित्रण आदि का कुछ कहानीकारों ने ऐसा वीभत्स-सा वर्णन किया है जिसे साहित्यिक मर्यादा और शालीनता का अतिक्रमण ही माना जायेगा। कुछ आलोचकों ने इसे विदेशी सस्ते यौन-सम्बन्धी साहित्य का प्रभाव माना है और कुछ ने व्यक्ति की दमित वासना का विस्फोट। वस्तुस्थिति जो कुछ भी हो, परन्तु ऐसा साहित्य समझदारों की भर्त्सना और नासमझों के आकर्षण का विषय रहता है। इधर इस प्रवृत्ति का सबल विरोध किया गया है। धर्मवीर भारती और कमलेश्वर ने इस प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए इसे समाज के लिए घातक, रुग्ण और भयानक कहा है।

इस सम्बन्ध में यह सत्य है कि ऐसा साहित्य सस्ती लोकप्रियता और आकर्षण प्राप्त करने में सफल होता है। अधिकांश कहानीकार इसी सस्ती लोकप्रियता के मोह में पड़ अश्लील चित्रण का सहारा लेते हैं, और पाठकों में चर्चा का विषय बन जाते हैं। यदि किसी कहानीकार ने अपनी कहानी में दो-एक वीभत्स गालियों या एकाध अश्लील शब्द का प्रयोग कर दिया तो वह भी व्यापक चर्चा का विषय बन जाता है। लोग कहानी पर ध्यान न देकर उन शब्दों की ही अधिक चर्चा करने में रस लेते हैं। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है। कृष्णा सोबती की एक कहानी प्रकाशित हुई थी—'यारों के यार'। इसकी बहुत चर्चा रही क्योंकि इसमें इसकी लेखिका ने कुछ गालियों का प्रयोग किया था। चर्चा उन गालियों की ही रही, कहानी की नहीं। परन्तु यह कहानी इतनी सशक्त और कलापूर्ण है कि पढ़ते समय उन गालियों की ओर ध्यान तक नहीं जाता। लेकिन अधिकांश पाठकों ने चर्चा उन गालियों की ही की, कहानी की सम्वेदना के सम्बन्ध में मौन रहे। यह घटना हमारे अधिकांश पाठकों की मनोवृत्ति की परिचायक है। फिर यदि नए कहानीकार चर्चित होने के लिए अश्लील चित्रण का सहारा लेते हैं, तो इसे उनकी मजबूरी ही मानना पड़ेगा। अस्तु,

आधुनिक कहानी की उपलब्धियाँ

आधुनिक कहानी हमारी वर्तमान सामाजिक-व्यवस्था की पूर्ण प्रतिबिम्ब सी बनकर सामने आ रही है। नए पूँजीवादी अर्थ-तंत्र ने सामाजिक मनुष्य को कितना आस्थाहीन, संशयग्रस्त, कुंठित, असामाजिक, अनुत्तरदायी, आत्मलीन, विवश और असहाय बना दिया है, हमारे कहानीकारों ने अपनी कहानियों में इसके अत्यन्त मार्मिक और यथार्थ चित्र अंकित किए हैं। 'राजा निरबंसिया' (कमलेश्वर), 'डा० शरत जलते प्रश्न' (देवी प्रसाद कापडिया), 'तारा का वशिष्ठ के नाम पत्र' (शिवप्रसाद सिंह), 'एक बुतशिकन का जन्म (विजय चौहान), 'भूखे' (मोहन राकेश), 'दो आस्थाएँ' (अमृतलाल नागर), 'टेबुल' (रेणु)' 'काला कौआ' (शैलेश मटियानी), 'शिक्षा दानी का अन्त' (मन्मथनाथ गुप्त), आदि कहानियों के पात्र हमारे समाज के ऐसे व्यक्तियों के

प्रतीक हैं जो असहाय, विवश, कुंठाग्रस्त, काम लोलुप, भ्रष्टाचारी और प्रपंची हैं। इसके विपरीत कुछ कहानियों में ऐसे पात्र भी चित्रित हुए हैं जो वर्तमान विषम परिस्थिति से हताश न हो, नए जीवन को गढ़ने के लिए पुरानी मान्यताओं को ध्वस्त कर नए मार्ग की खोज कर रहे हैं। 'अल्ला दिया' (गोविन्द वल्लभ पन्त), 'माता' (शैलेश-मटियानी), 'राहुल अपना दायन माँग' (भिक्खु) 'मेरे बाबा' (हृदयेश), 'एक औरत' (प्रह्लाद नारायण मित्तल), 'एक कमजोर लड़की' (राजेन्द्र यादव), 'गदल' (रांगेय-राघव) आदि नए-पुराने कहानीकारों की इन कहानियों में ऐसे ही मानव का चित्रण हुआ है जो दुर्निवार परिस्थितियों से जूझता हुआ मानवीय प्रेम, त्याग, बलिदान, सहानुभूति आदि गुणों को सँजोए आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकार उपयु ंक्त दोनों प्रकार की कहानियाँ आधुनिक मानव के दोनों रूपों—कुंठावादी और आशावादी को समेट कर समाज का एक पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर देती हैं। इन कहानियों में विस्तृत विवरण में न जाकर सूक्ष्म, सांकेतिक भाव-चित्रण की नई शिल्प-पद्धति द्वारा उपयु ंक्त विभिन्न चित्र उकेरे गए हैं। इनमें यथार्थ का स्वर अत्यन्त तीखा और निर्मम रहा है। बुरे से बुरा पात्र भी लेखक की सम्वेदना और सहानुभूति का अधिकारी बन गया है। यह चित्रण परिस्थितियों की विषमता और मानव की विवशता का मार्मिक चित्र प्रस्तुत कर देता है। इसे आधुनिक कहानी की एक विशिष्ट उपलब्धि माना जा सकता है। उसने मानव को उसके सर्वथा यथार्थ रूप में ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

विषय-वस्तु के क्षेत्र में आधुनिक कहानी जीवन की प्रत्येक स्थिति और समस्या को अपना कर आगे बढ़ी है। यहाँ उसका स्वर मानवतावादी, प्रेम और सद्भाव का रहा है। आजादी के बाद भयानक साम्प्रदायिक उत्पातों ने सम्पूर्ण उत्तर भारत को बुरी तरह से झकझोर डाला था। प्रदेश, भाषा, रीति-रिवाज, रहन-सहन, जीवन-मूल्यों आदि की सीमाएं टूट गई थीं। विस्थापितों की, अपहृत महिलाओं की, विभिन्न प्रदेशों के निवासियों की पारस्परिक सांस्कृतिक और सामाजिक अन्तभु ंक्ति की समस्याओं ने समस्त हिन्दी-भाषी प्रदेश में एक विषम स्थिति उत्पन्न कर दी थी। हमारे कहानीकारों ने अपनी कहानियों में सहानुभूति और सम्वेदना के साथ इस विषम स्थिति और समस्याओं का अंकन कर राष्ट्र के जीवन में प्रेम, सद्भाव, आशा, साहस और शक्ति की भावना भर दी थी। उन्होंने ऐसे अवसर पर साम्प्रदायिकता का उग्र विरोध कर ऐसे पात्रों की रचना की जो इस भयानक हलाहल का नीलकंठ के समान पान कर मानवता की रक्षा करने में आस्था रखते थे। 'हमीदा' (वृन्दावनलाल वर्मा), 'उस दिन', 'अगम अथाह' (विष्णु प्रभाकर), 'दो बम' (प्रह्लाद नारायण मीतल), 'लोटा' (गुरनामसिंह तीर), 'शरणार्थी' (अज्ञेय) आदि कहानियों में साम्प्रदायिकता के विष से मुक्त मानवता का उज्ज्वल पक्ष उजगार हुआ था। मोहन राकेश की 'मलवे का आदमी' कहानी विभाजन-सम्बन्धी अत्यन्त सशक्त कहानी रही है। कुछ समय तक इस प्रकार की कहानियों का दौर रहा था।

देश के विभाजन से उत्पन्न हुई समस्याओं और स्थितियों के चित्रण के उपरान्त हमारे कहानीकारों ने अन्य समस्याओं की ओर ध्यान दिया। उन्होंने अछूतोद्धार, भूमि-सुधार, समाज-सुधार, आर्थिक समस्या, वर्ग-वैषम्य, शिक्षा का खोखलापन, नवयुवकों की बेकारी, अनुशासनहीनता, लोगों की तिकड़मबाजी, भ्रष्टाचार, कुनबापरस्ती आदि को लेकर अनेक मार्मिक कहानियाँ लिखीं। 'शिक्षादानी की अन्त' (मन्मथनाथ गुप्त), 'जीवन चक्र' (कमल जोशी), 'डिप्टी कलक्टरी' (अमरकान्त), 'चीफ की दावत' (भीष्म-साहनी), 'रोज की बातें' (शत्रुघ्न लाल), 'दिन' (शानी), 'एअर कन्डीशन' (रूप-नारायण शुक्ल), 'चित्र फलक' (अमृतराय), 'भूखे और प्यासे' (द्विजेन्द्रनाथ मिश्र), 'मछलियाँ' (शानी), 'वर्थ डे' (चन्दकिरण सौनरिक्सा), 'भगवान हँसते हैं' (अनन्तकुमार पाषाण) आदि कहानियों में राष्ट्र, समाज और व्यक्ति की उपर्युक्त समस्याओं और स्थितियों का ही चित्रण हुआ है।

कुछ कहानियों में नई और पुरानी पीढ़ियों के पारस्परिक संघर्ष, संयुक्त परिवार-प्रथा के विघटन, पारिवारिक जनों के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके सम्बन्ध में बदलते हुए नए दृष्टिकोणों आदि का मार्मिक चित्रण हुआ है। 'एक शिकायत सब की' (विद्यासागर नौटियाल), 'रक्त बन्धन' (स्वरूप ढोढियाल), 'टुकड़े जो जुड़ नहीं सकते' (बलवन्तसिंह), 'एक कुलीन चेहरा' (सुरेन्द्र कुमार मलहोत्रा), 'दो आस्थाएँ' (अमृतलाल नागर) आदि कहानियों में इसी संघर्ष और संयुक्त परिवार के विघटन की कथा कही गई है। नारी की सामाजिक और पारिवारिक स्थिति, उसके मनोविज्ञान, पुरुष के साथ उसके विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध आदि का विश्लेषण करते हुए भी अनेक कहानियाँ लिखी गई हैं, जैसे—'पत्नी की प्रसव-पीड़ा' (लोचन बख्शी), 'कोरे कागज का रंग' (रमेश बक्षी), 'नारी की बात', 'नारी की दृष्टि' (मन्नू भंडारी), 'नारी की ना' (यशपाल), 'एक और जिन्दगी' (मोहन राकेश), 'माता' (शैलेश-मटियानी), 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' (राजेन्द्र यादव), 'सपने जागे' (सोमा वीरा), 'गदल' (रांगेय राघव), 'तंग गलियों के मकान' (कमलेश्वर), 'सन्तो जीजी' (लक्ष्मीधर मालवीय), 'सयानी बुआ' (मनोरमा भंडारी) आदि। इन कहानियों में नारी के विभिन्न पक्षों और स्थितियों का सम्वेदनशील अंकन हुआ है।

इस नए युग में नए और पुराने का संघर्ष बड़े गहरे रूप में उभरा है। समाज और व्यक्ति के जीवन में जिस द्रुत गति से परिवर्तन हो रहे हैं, उसने पुराने जीवन-मूल्यों और समाज-व्यवस्था के प्रति असन्तोष और विद्रोह की भावना भर दी है। आर्थिक विषमता और जीवन-निर्वाह की समस्या ने इस द्वन्द्व को आगे बढ़ाया है। नई पीढ़ी इस व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह कर रही है, और उसके इस विद्रोह में नए जीवन-मूल्यों के रूप उभरते आ रहे हैं। वर्तमान पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था इतनी भयानक और सशक्त होती जा रही है कि उसमें जीने वाले साधारण मनुष्य के प्राण पीड़ा, घुटन, निराशा और क्षोभ से छटपटा रहे हैं। आज अपने अस्तित्त्व की रक्षा करना ही व्यक्ति का एकमात्र लक्ष्य बन गया है। विवशता ने उसमें भयंकर

कुंठाएँ और विकृतियाँ उत्पन्न कर दी हैं। निराशावादी व्यक्ति अपनी कुंठाओं में घुटते और छटपटाते रहते हैं परन्तु साहसी और आशावादी इन कुंठाओं से जूझते हुए विकास के नए मार्गों की खोज कर रहे हैं। और उनकी यही खोज नए जीवन-मूल्यों को जन्म दे रही है। हमारे आधुनिक कहानीकारों ने सामाजिक व्यक्ति के इन दोनों पक्षों का स्वानुभूत, सम्वेदनशील रूप प्रस्तुत किया है। इसमें चित्रित व्यक्ति के बिखराव और टूटने में भी अन्त तक संघर्ष करते रहने की भावना व्यक्त हुई है। हमारे कहानीकार समाज के उस वर्ग के अंग हैं, जिन्होंने जीवन की इस घुटन और टूटन को सबसे अधिक सहा है। इसी कारण उनकी अधिकांश कहानियों में इसी स्थिति के चित्र अधिक उभरे हैं। इन कहानियों में व्यक्ति के सम्पूर्ण चिन्तन-मनन, संघर्ष, घुटन, कुंठा, निर्बलताएँ, सबलताएँ आदि सभी कुछ अत्यन्त मार्मिक रूप धारण कर अभिव्यक्त हुई हैं। इस प्रकार की कहानियों में निम्नलिखित अधिक उल्लेखनीय हैं—

'आधी रात का सूरजमुखी' (राजकमल चौधरी), 'तीसरी कसम', 'टेबुल' (रेणु), 'अभी साँस चल रही है', 'मेरा बेटा' (प्रह्लाद नारायण मीतल), 'अभिमन्यु की आत्महत्या', 'किनारे से किनारे तक' (राजेन्द्र यादव), 'मैं और मेरा विराट् पुरुष' (उदयशंकर भट्ट), 'एक थी विमला' ('कमलेश्वर), 'दूर जाती बैलगाड़ी' ('सर्वेश्वरदयाल सक्सेना), 'धुँआ और लाट' (अमृता प्रीतम), 'एक चुम्बन', 'फ्री मैसन' (रावी), 'विश्वास और विश्वास' (कमल जोशी), 'प्रश्नों की उँगलियाँ और फैला हुआ अन्तरिक्ष' (भगवान सिह) आदि।

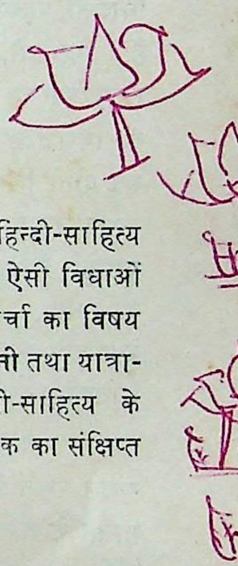
इसके अतिरिक्त इस काल की कहानियों में जीवन के अन्य गौण पक्ष भी चित्रित हुए हैं। बालोपयोगी कहानियाँ भी पर्याप्त मात्रा में लिखी जा रही हैं। इधर हिन्दी के अनेक गण्यमान कथाकारों ने बालोपयोगी कहानियाँ लिखना आरम्भ किया है जिससे इस प्रकार की सुन्दर कहानियाँ सामने आ रही हैं। अमृतलाल नागर, मन्नू भंडारी, राजेन्द्र यादव, कीर्त्ति चौधरी, लाड़ली मोहन, कमलेश्वर आदि की ऐसी कहानियाँ 'नन्दन' आदि बालोपयोगी मासिक-पत्रों में प्रायः प्रकाशित होती रहती हैं। कुछ कहानियों में लोक-संस्कृति का चित्रण हो रहा है। इनमें आंचलिक जीवन में व्याप्त लोक-संस्कृति के प्रभावशाली चित्र उभारे गए हैं। 'एक गगन सूर्या, एक आकाश चन्द्रावती', 'मुख सरोवर के हंस', 'काला कौआ' (शैलेश मटियानी), 'मधुवन की मुरलिया', 'सुन्दरी', 'गगन महल' (लक्ष्मीनारायण लाल), 'घाटी की आवाज' (राधाकृष्ण कुकरेती), 'हंसा जाय अकेला' (मार्कण्डेय), तथा रेणु की अनेक कहानियों में विभिन्न अंचलों के लोक-जीवन और लोक-संस्कृति के बड़े सुन्दर चित्र उभरे हैं।

आधुनिक कहानियों का उपर्युक्त विवरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि आधुनिक कहानी व्यक्ति और समाज के प्रत्येक पक्ष और रूप को अपना वर्ण्य-विषय बना आगे बढ़ रही है। आज उसका क्षेत्र पहले से अधिक विस्तृत, व्यापक और गहरा हो उठा है। यदि आधुनिक जीवन के यथार्थ से परिचय प्राप्त करना हो तो

उसके लिए आधुनिक कहानी सर्वाधिक सरल, सहज उपलब्ध और सशक्त माध्यम है।

(जहाँ तक शिल्प-विधान का सम्बन्ध है, इस क्षेत्र में भी आधुनिक कहानी नए-नए प्रयोग करती हुई आगे बढ़ रही है। इन नए प्रयोगों ने उसके रूप और प्रभाव को अधिक सशक्त, गहरा और मार्मिक बनाया है। नए शिल्प के अनुरूप नई भाषा के भी रूप उभरे हैं। शैलियों की दृष्टि से इस युग में आंचलिक, लोक-कथा, लघु कथा, प्रतीक, नायकहीन, चित्रात्मक, अनुभूति प्रधान आदि विभिन्न प्रकार की शैलियाँ सामने आई हैं। इन शैलियों ने कहानी की शक्ति और प्रभाव को बढ़ाया है। भाषा के क्षेत्र में प्रधान रूप से जनसाधारण की बोलचाल की भाषा को ही अधिक अपनाया गया है क्योंकि यथार्थ के चित्रण के लिए भाषा का यही रूप सर्वाधिक उपयुक्त रहता है। यह भाषा बिना किसी संकोच के, जन-सामान्य में प्रचलित देशी-विदेशी, प्रान्तीय-आंचलिक आदि शब्दों को अपनाती हुई सहज प्रभाव के साथ आगे बढ़ती रहती है। पात्र, स्थिति, मनोभावना आदि के अनुरूप हल्का सा रूप परिवर्तित करती चलती है। भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति में अभूतपूर्व विकास हुआ है। नए प्रतीकों ने उसे और अधिक व्यंजक और सशक्त बना दिया है। आज की कहानी में साहित्य-शास्त्रियों द्वारा निर्धारित कहानी के तत्त्वों का निर्वाह करने के प्रति कोई मोह नहीं दिखाई पड़ता। आज वह स्वच्छन्द गति से विकास के विभिन्न सोपानों को पार करती हुई आगे बढ़ रही है। विदेशी और प्रान्तीय भाषाओं के कहानी-साहित्य के साथ उसका घनिष्ठ और प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। श्रेष्ठ कहानियों के अनुवाद प्रकाशित होते रहते हैं। 'सारिका', 'नई कहानी', 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' आदि पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न भारतीय भाषाओं की तथा विदेशी कहानियों के अनुवाद निकलते रहते हैं। इसने भावात्मक एकता की भावना को बढ़ाया है। इस पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा हिन्दी-कहानी नए-नए अनुभव प्राप्त करती हुई आगे बढ़ती जा रही है। आज की हिन्दी-कहानी, हिन्दी-साहित्य की एक अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत विधा बन चुकी है।

इसमें जीवन के शुभ और अशुभ—दोनों ही पक्ष उभर रहे हैं। क्योंकि जीवन का यथार्थ इन्हीं दोनों रूपों में व्यक्त होता है।\ इस दृष्टि से आज की कहानी अपनी पूर्ववर्ती कहानियों की अपेक्षा अधिक विकसित, अधिक यथार्थवादी और अधिक मार्मिक हो उठी है।)



साहित्य की अन्य विधाएँ

कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और आलोचना—हिन्दी-साहित्य की प्रधान विधाएँ मानी जाती हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य में कुछ ऐसी विधाओं का प्रचलन रहा है, जो कम परिमाण में रचित होने पर भी साहित्यिक-चर्चा का विषय रही हैं। **रेखाचित्र, संस्मरण, इन्टरव्यू, गद्य-काव्य, आत्म-कथा एवं जीवनी** तथा यात्रा-सम्बन्धी रचनाएँ—हिन्दी की ऐसी विधाएँ हैं जिनका विवेचन हिन्दी-साहित्य के इतिहास की पूर्णता के लिए आवश्यक है। इसलिए हम यहाँ इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

रेखाचित्र और संस्मरण

यद्यपि इन दोनों को भिन्न और स्वतन्त्र विधाएँ माना जाता है परन्तु फिर भी इनमें इतनी अधिक समानता है जो साहित्य की अन्य किन्हीं भी दो विधाओं में नहीं मिलती। इसीलिए यहाँ दोनों का एक साथ विवेचन करना अधिक संगत रहेगा। रेखाचित्र में किसी भी ऐसे व्यक्ति, दृश्य या वस्तु का चित्रण किया जाता है जिसकी स्मृति हमें प्रायः उद्वेलित करती रहती है, चाहे उससे हमारा आत्मीय या निकट सम्पर्क रहा हो अथवा न रहा हो। जो व्यक्ति या वस्तु अपनी विशिष्टताओं के कारण हमारे ऊपर अपनी गहरी छाप छोड़ जाता है, हम उसी का रेखाचित्र अङ्कित करने को उत्सुक हो उठते हैं। और जब हम किसी साधारण या विशिष्ट व्यक्ति से सम्बन्धित किसी सम्वेदनशील स्मृति को अंकित करने का प्रयत्न करते हैं तो उस रचना को 'संस्मरण' कहने लगते हैं। संस्मरण का सम्बन्ध देश, काल और पात्र—तीनों से रहने के कारण उसमें इन तीनों का ही वर्णन रहता है। परन्तु रेखाचित्र का सम्बन्ध देश और काल से प्रायः नहीं रहता। संस्मरण में रेखाचित्र की अपेक्षा आत्मनिष्ठता अधिक रहती है। संस्मरण लेखक अपने सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहता

चलता है। कुछ संस्मरणों में तो किसी महान् व्यक्ति के संदर्भ में लेखकों ने स्वयं अपनी महत्ता स्थापित की है।

रेखाचित्र

हिन्दी में रेखाचित्र बहुत कम लिखे गए हैं। हिन्दी में इस नवीन विधा का उदय भी पाश्चात्य-साहित्य के प्रभाव स्वरूप हुआ है। हिन्दी में रेखाचित्र का जनक शिकार-साहित्य के प्रसिद्ध लेखक **पं० श्रीराम शर्मा** को माना जाना चाहिए। उनके 'बोलती प्रतिमा' नामक संग्रह में संग्रहीत कुछ रचनाओं को रेखाचित्र माना जा सकता है। **महादेवी वर्मा** ने 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नामक अपनी संस्मरणात्मक रचनाओं में बड़े सुन्दर रेखाचित्र अंकित किए हैं। वस्तुतः इन रचनाओं को विशुद्ध रूप से न तो रेखाचित्र ही माना जा सकता है और न संस्मरण ही। इनमें इन दोनों विधाओं का मिला-जुला रूप ही अधिक उभरा है। इनकी 'चीनी फेरी वाला' नामक रचना को पं० बनारसीदास चतुर्वेदी हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ रेखाचित्र मानते हैं। **रामवृक्ष बेनीपुरी** हिन्दी के अत्यन्त सफल रेखाचित्रकार रहे हैं। 'लाल तारा', 'माटी की मूरतें', 'गेहूँ और गुलाब', 'मील के पत्थर' आदि संग्रहों में इनके अनेक सुन्दर रेखाचित्र संग्रहीत हैं। इनमें विषय और भावना के विविध रूप मिलते हैं। इनके अधिकांश रेखाचित्र प्रतीकात्मक हैं।

प्रकाशचंद्र गुप्त हिन्दी के रेखाचित्रकारों में अपना विशिष्ट और मौलिक स्थान रखते हैं। 'पुरानी स्मृतियाँ' और 'नए स्केच' में संग्रहीत इनके रेखाचित्रों में मानव के अतिरिक्त सड़क, नगर, मुहल्ला, वृक्ष, खंडहर, ताल, लैटर बॉक्स, पैट्रोल आदि पर सुन्दर रेखाचित्र संग्रहीत हैं। इन्होंने पूर्ण आत्मीयता और कलापूर्ण ढंग से इनका वर्णन किया है। लेखक ने इन निर्जीव वस्तुओं में मान, अभिमान, ईर्ष्या-द्वेष, स्नेह, छल-कपट, घृणा-ग्लानि आदि भावों का आरोप कर उन्हें मानव की सहानुभूति और प्यार का पात्र बना दिया है। गुप्तजी ने कुछ ऐसे रेखाचित्र भी लिखे हैं जिनमें निबन्ध और रिपोर्ताज के मिले-जुले रूप उभरे हैं। समष्टि रूप से इन सम्पूर्ण रचनाओं में लेखक की राजनीतिक चेतना, समाजवादी दृष्टिकोण, स्नेह, सहानुभूति, करुणा आदि का प्राधान्य रहा है।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी भी एक सफल रेखाचित्रकार हैं। परन्तु उनके 'रेखाचित्र' नामक संग्रह में संग्रहीत रेखाचित्रों में 'संस्मरण' का रूप ही अधिक उभरा है। इनमें विशिष्ट महापुरुषों तथा निम्न-दलित वर्ग के कुछ लोगों के रेखाचित्र सम्मिलित हैं। उनकी लिखी 'बन्धुवर नवीन जी' जैसी रचनाओं को ही सफल रेखाचित्र माना जा सकता है, अन्य रचनाएँ संस्मरण ही हैं। **भगवत शरण उपाध्याय** ने 'वो दुनियाँ' नामक अपने संग्रह में अपने अमेरिका-भ्रमण से सम्बन्धित रेखाचित्र लिखे हैं जिनमें चित्रित व्यक्तियों की बाह्य रूपरेखा के साथ ही उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ भी स्पष्ट हो उठी हैं। **हवलदार त्रिपाठी 'सुहृदय'** ने "राँची का 'दा सोड' प्रपात" नामक अपने रेखा-

चित्र में प्रकृति-चित्रण के साथ उस प्रदेश में रहने वाली वन्य-जाति का सुन्दर अंकन किया है। इनके अतिरिक्त **बाबू वृन्दावन लाल वर्मा** और **सुरेन्द्रनाथ दीक्षित** ने भी कुछ सुन्दर रेखाचित्र लिखे हैं। **देवेन्द्र सत्यार्थी** के 'रेखाएँ बोल उठीं' में अनेक सुन्दर रेखाचित्र संग्रहीत हैं।

'विशाल भारत' के 'शहीद अंक' में विभिन्न लेखकों ने शहीदों के अनेक ऐसे सुन्दर रेखाचित्र लिखे थे जिनमें वर्णित व्यक्ति की बाह्याकृति, वेशभूषा और चारित्रिक विशिष्टताएँ कलात्मक मार्मिक ढंग से स्पष्ट हो उठी हैं। **सेठ गोविन्ददास** ने अपने समकालीन प्रसिद्ध राजनीतिक नेताओं, महापुरुषों, साहित्य-महारथियों और बिड़ला जैसे उद्योगपतियों आदि पर बहुत ही सुन्दर रेखाचित्र लिखे हैं जो उनके 'स्मृतिकण' आदि संग्रहों में संग्रहीत हैं। **पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब-बनारसी', आचार्य चतुसेन शास्त्री** ने भी अनेक व्यक्तियों से सम्बन्धित अच्छे, कलात्मक रेखाचित्र लिखे हैं। **चन्द्रमौलि बक्सी** के 'सन्यासी बाबा' और **रामप्रकाश कपूर** के 'अन्जो दीदी' नामक रेखाचित्रों में वर्णित व्यक्ति की मानसिक कुंठाओं और चारित्रिक विशिष्टताओं का अत्यन्त भावपूर्ण अंकन हुआ है। इनके अतिरिक्त **प्रेमनारायण टंडन, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, सत्यवती मलिक, रघुवीर सहाय, अविनाश, विद्या माथुर, राजेन्द्र कुशवाहा** आदि ने भी इस विधा के विकास और समृद्धि में पर्याप्त योग प्रदान किया है। परन्तु समष्टि रूप से हिन्दी के रेखाचित्र-साहित्य को अधिक समृद्ध नहीं माना जा सकता।

संस्मरण

'संस्मरण' का क्षेत्र 'रेखाचित्र' की अपेक्षा अधिक व्यापक और विस्तृत होता है। इसमें वर्णित व्यक्ति के साथ युग-जीवन भी वर्ण्य-विषय बन जाता है। अनेक प्रसिद्ध रेखाचित्रकारों ने सुन्दर, कलापूर्ण संस्मरण भी लिखे हैं। **महादेवी वर्मा** के 'स्मृति की रेखायें' तथा 'पथ के साथी' नामक संग्रहों में हिन्दी के सर्वोत्तम संस्मरण संग्रहीत हैं। उनके 'पथ के साथी' में संग्रहीत संस्मरण श्रेष्ठ कलात्मक संस्मरणों के अनुपम उदाहरण हैं। लेखिका का कवि-हृदय अपनी सम्पूर्ण भावुकता, कोमलता, करुणा, कल्पना और माधुर्य के साथ काव्य की सी चित्रोपम, लाक्षणिक, व्यंजक और अलंकारों से सशक्त एवं अलंकृत भाषा का माध्यम ग्रहण कर, इन संस्मरणों में मुखरित हो उठा हैं। इनमें उन्होंने प्रसाद, पन्त, निराला, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, सियारामशरण गुप्त आदि अपने साहित्यिक बन्धुओं के साहित्यिक व्यक्तित्व का उद्घाटन करते हुए, उनसे सम्बन्धित अपने सम्बन्धों और भावपूर्ण क्षणों का बहुत ही मार्मिक अंकन किया है। इनमें संस्मरण के साथ-साथ रेखाचित्र की विशेषताओं का समावेश होने के कारण इनके प्रभाव और मार्मिकता में आशातीत वृद्धि हुई है। महादेवी जी को हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ रेखाचित्रकार के साथ ही सर्वश्रेष्ठ संस्मरण-लेखिका भी मानना चाहिए।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री हिन्दी के एक मँजे हुए संस्मरण-लेखक रहे हैं। उन्होंने विभिन्न वर्गों के विशिष्ट एवं सामान्य—दोनों प्रकार के व्यक्तियों से सम्बन्धित अगणित संस्मरण लिखे हैं। उनके संस्मरणों का क्षेत्र लोकमान्य तिलक से लेकर जवाहरलाल नेहरू तक राजनीति के क्षेत्र में, सरदार भगतसिंह आदि क्रान्तिकारियों का स्पर्श करता हुआ प्रसिद्ध वैज्ञानिक डाक्टर शान्तिस्वरूप भटनागर को समेट अपने साहित्यिक बन्धुओं जैनेन्द्र आदि तक विस्तृत होता चला गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने बाल्यकाल की घटनाओं से सम्बन्धित कुछ भावपूर्ण संस्मरण लिखे हैं। इन सम्पूर्ण संस्मरणों में उनका मानवतावादी स्वर ही सर्वत्र मुखरित हुआ है। ये संस्मरण इस बात के प्रमाण हैं कि शास्त्री जी अपने समकालीन युग-जीवन की विभिन्न गति-विधियों के साथ घनिष्ठ-रूप से सम्पर्कित रहे थे। ये संस्मरण इतने सुन्दर और मार्मिक हैं कि इनके माध्यम से शास्त्री जी अपने युगीन-जीवन का एक व्यापक यथार्थ रूप प्रस्तुत करने में पूर्ण समर्थ हैं। परन्तु दुख इस बात का है कि हिन्दी-साहित्य में शास्त्री जी के ये संस्मरण उपेक्षित से ही रहे हैं, उनकी अधिक, न्यायपूर्ण चर्चा नहीं हुई है।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी हिन्दी के प्रसिद्ध और अत्यन्त सफल संस्मरण-लेखक माने जाते हैं। उनकी प्रसिद्धि का मूलाधार ये संस्मरण ही रहे हैं। उनके 'संस्मरण' नामक संग्रह में उनके लिखे २१ संस्मरण हैं। इनमें से अधिकांश साहित्यिक व्यक्तियों के ही संस्मरण है। चतुर्वेदी जी आजकल प्रायः इस प्रकार के संस्मरण लिखते रहते हैं। **रामवृक्ष बेनीपुरी** ने अपने 'जंजीरें और दीवारें' नामक संग्रह में अपने जेल-जीवन के विविध मार्मिक अनुभूतिपूर्ण संस्मरण लिखे हैं जिनमें आल्हाद, विभोरता विषाद, कटुता, सहानुभूति, करुणा, ममता आदि की विभिन्न मनःस्थितियों में अनेक घटनाओं, प्रसंगों और व्यक्तियों से सम्बन्धित संस्मरणों के सुन्दर रूप उभरे हैं।

पं० किशोरीदास वाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'साहित्यिक जीवन के संस्मरण' में सन् १९१९ से लेकर १९५४ तक के अपने जीवन से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के संस्मरण लिखे हैं, जिनमें वाजपेयी जी के आत्म-चरित के साथ-साथ उस युग की साहित्यिक गतिविधियों पर भी सुन्दर प्रकाश पड़ता है। **उपेन्द्रनाथ 'अश्क'** ने 'ज्यादा अपनी, कम पराई' नामक अपनी कृति में एक प्रकार से संस्मरण-शैली में अपनी जीवनी ही प्रस्तुत की है।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' भी हिन्दी के मंजे हुए सफल संस्मरण लेखक माने जाते हैं। उनके 'जिन्दगी मुस्कराई' नामक संग्रह में लगभग ४३ अत्यन्त सुन्दर संस्मरण संग्रहीत हैं। यह संग्रह पर्याप्त प्रशंसा और चर्चा का अधिकारी रहा है। प्रभाकर जी के संस्मरणों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और बहुमुखी रहा है। प्रसिद्ध और सामान्य व्यक्तियों से लेकर विभिन्न प्रकार की मार्मिक घटनाएँ—उनका वर्ण्य-विषय रही हैं। उनके कुछ संस्मरणों के शीर्षक बड़े विचित्र से हैं, जैसे—'उस बेवकूफ ने जब मुझे दाद दी', 'बोलना उनसे सीखिए जो पढ़े-लिखे नहीं है,' 'झाड़ देना भी एक कला है',

आदि। प्रभाकर जी आजकल भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में संस्मरण लिखते रहते हैं।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रसिद्ध साहित्यकारों ने भी अनेक संस्मरण लिखे हैं, जैसे—**भगवतीप्रसाद वाजपेयी** का 'महाप्राण निराला'; **विनयमोहन शर्मा** का 'लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी'; **देवेन्द्र सत्यार्थी** का 'बलराज साहनी'; **जगदीशचन्द्र जैन** का 'चीन की दीवार'; राहुल जी के 'स्वामी सत्यानन्द', 'किशोरीदास वाजपेयी'; **डा० महादेव साहा** का 'सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या'; **कुसुमाकर** का 'उग्र जी'; **मोहनसिंह सेंगर** का 'मानवेन्द्र राय'; **मणिका देवी** का 'उस्ताद अलाउद्दीन खाँ' आदि। **क्षेमचन्द 'सुमन'** के विभिन्न साहित्यकारों से सम्बन्धित संस्मरण 'साहित्यकारों के संस्मरण' नामक संग्रह के रूप में प्रकाशित हुए हैं।

हिन्दी में उस समय अधिक संस्मरण लिखे जाते हैं—जब किसी प्रसिद्ध साहित्यकार या राजनेता का देहान्त हो जाता है। उस समय विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उससे सम्बन्धित संस्मरणों की बाढ़ सी आ जाती है। उन संस्मरणों में कुछ बहुत ही सुन्दर और मार्मिक होते हैं तथा कुछ में लेखकगण सम्बन्धित प्रसिद्ध व्यक्ति से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाकर आत्म-प्रचार का प्रयत्न करते हैं। समष्टि रूप से हिन्दी में लिखा गया और लिखा जा रहा संस्मरण-साहित्य पर्याप्त विकसित और उन्नत माना जा सकता है।

गद्य-काव्य

'गद्य-काव्य' हिन्दी-साहित्य की एक सर्वथा स्वतन्त्र और मौलिक साहित्यिक-विधा है। यह सुललित गद्य लिखने की एक ऐसी शैली है जिसके माध्यम से भावुकतापूर्ण क्षणों में उदय होने वाली विभिन्न भावनाओं और विचारों को कवित्व पूर्ण ढंग के साथ व्यक्त किया जाता है। कुछ आलोचकों ने हिन्दी-गद्यकाव्य को बँगला से प्रभावित माना है। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। सम्भव है कुछ परवर्ती गद्यकाव्य-लेखकों पर रवीन्द्र की 'गीतांजलि' का प्रभाव रहा हो, परन्तु हमें हिन्दी में गद्यकाव्य के दर्शन भारतेन्दु की रचनाओं में ही हो जाते हैं। **भारतेन्दु** हिन्दी के पहले गद्यकाव्य-लेखक रहे हैं। हिन्दी-गद्य में भावावेश से परिपूर्ण भावात्मक शैली के दर्शन सर्वप्रथम उन्हीं की रचनाओं में होते हैं। डा० कमलेश ने भारतेन्दु को हिन्दी का पहला गद्य-काव्यकार मानते हुए लिखा है—"....हिन्दी-गद्य में भारतेन्दु द्वारा जिस भावुकता का समावेश किया गया था और जिसने उनकी कृतियों में—चाहे वे उनके नाटक हों या समर्पण, चाहे निबन्ध हों या उनके द्वारा सम्पादित पत्रों की टिप्पणियाँ, कवित्व का समावेश किया, उसी ने गद्य-काव्य को जन्म दिया और उन्हीं के मण्डल द्वारा सुसज्जित होकर उस रूप में आया जिसे सर्वश्री वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री ने प्रस्तुत किया।" यह दूसरी बात है कि भारतेन्दु आदि के ऐसे मनोरम गद्यखण्ड न तो स्वयं उनके द्वारा और न उनके आलोचकों द्वारा ही 'गद्यकाव्य' की संज्ञा से विभूषित किए गए थे।

भारतेन्दु के अनेक सहयोगियों—गोविन्द नारायण मिश्र, प्रेमघन, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि की अनेक रचनाओं में भावुकतापूर्ण गद्य लिखने की यह शैली प्रकट हुई थी। परन्तु हिन्दी में स्वतन्त्र रूप में गद्यकाव्य लिखने का आरम्भ बाबू ब्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' तथा जयशंकर प्रसाद की पत्रिका 'इन्दु' द्वारा ही मानना चाहिए। इसी समय बँगला के चन्द्रशेखर मुखर्जी के 'उद्‌भ्रान्त प्रेम' नामक ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद हुआ था। यह गद्यकाव्य का सुन्दर उदाहरण था। इसके प्रकाशन ने हिन्दी में गद्यकाव्य लिखने की प्रवृत्ति को उभारा और लोकप्रिय बनाया था। इससे प्रेरित होकर **राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह** ने 'नवजीवन' या 'प्रेमलहरी'; लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' ने 'वियोग' आदि सुन्दर गद्यकाव्य लिखे थे।

इसी समय **पं० माखनलाल चतुर्वेदी** अपने कवित्वमय गद्यखण्डों का एक नया रूप लेकर सामने आए जो 'प्रसाद' के ऐसे ही गद्यखण्डों से काफी मिलता-जुलता था। **प्रसाद** और **चतुर्वेदी जी** ने यद्यपि स्वतन्त्र रूप में गद्यकाव्य नहीं लिखे थे परन्तु उन्होंने इस क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि 'उद्‌भ्रान्त प्रेम' की अतिरंजित भावुकता को संयमित कर हिन्दी-गद्यकाव्य को पथभ्रष्ट होने से बचा लिया।

हिन्दी-गद्यकाव्य के इतिहास में सन् १९१५ का वर्ष सदैव स्मरणीय रहेगा। क्योंकि इसी वर्ष **रायकृष्णदास** का प्रथम गद्यकाव्य-संग्रह 'साधना' प्रकाशित हुआ था, जिसने साहित्य की इस नवीन विधा को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया था। इस ग्रन्थ में रहस्यवादी लाक्षणिक अभिव्यक्ति और शैलीगत सरलता के सर्वप्रथम दर्शन हुए। इसी समय गद्यकाव्य की दो अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ प्रकाशित हुई थीं जिनमें 'साधना' से भिन्न पथ का अनुकरण किया गया था और जो भारतेन्दु की भावावेश-मयी शैली के अधिक अनुरूप तथा स्वतन्त्र गद्य-खण्डों के रूप में था। ये कृतियाँ थीं—**वियोगी हरि** की 'तरंगिणी' और **चतुरसेन शास्त्री** की 'अन्तस्तल'। वस्तुतः हिन्दी-गद्यकाव्य का वास्तविक विकास 'साधना', 'तरंगिणी' और 'अन्तस्तल' से ही मानना चाहिए। इनके उपरान्त रायकृष्णदास के 'छाया पथ', 'प्रवाल' और 'पगला' नामक गद्यकाव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। इन रचनाओं के प्रकाशन के साथ गद्यकाव्य एक स्वतन्त्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

इनके उपरान्त सन् १९२५ और १९३० के बीच में हिन्दी में अनेक गद्यकाव्य-संग्रह प्रकाशित हुए जिनमें भक्ति, सेवा, प्रेम, राष्ट्रीयता आदि भावनाओं को प्राधान्य मिला और शैली वही पुरानी रही। **वियोगी हरि** के 'प्रार्थना', 'अन्तर्नाद'; **हृदयनाथ पांडेय** के 'मनोव्यथा', 'मदोन्मत्त'; **देवदूत विद्यार्थी** का 'कुमार हृदय का उच्छ्‌वास'; **सदगुरुशरण अवस्थी** का 'भ्रमित पथिक'; **केशवलाल झा** का 'प्रलाप'; **वृन्दावनलाल वर्मा** का 'प्रेम की हिलोर', **जगदीश झा विमल** का 'तरंगिणी'; **मोहनलाल महतो वियोगी** का 'धुँधला चित्र', और **भगवतीचरण वर्मा** का 'एक दिन' आदि गद्यकाव्य-संग्रह इसी काल की विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं। इस समय तक यद्यपि

'उद्भ्रान्त प्रेम' की शैली का काफी प्रभाव रहा था, परन्तु रायकृष्णदास की 'साधना' वाली शैली भी पर्याप्त प्रचार पा चुकी थी जिसका अनुकरण **शान्तिप्रसाद वर्मा** के 'चित्रपट' और **चन्द्रशेखर सन्तोषी** के 'विप्लव की इच्छा' आदि संग्रहों में किया गया।

सन् १९३० के पश्चात् हिन्दी-गद्यकाव्य विषय-वस्तु की दृष्टि से एक नया मोड़ लेता है। अनेक ऐसे नए गद्यकाव्य-संग्रह प्रकाश में आते हैं जो कला, विषय-वैविध्य एवं परिष्कृत भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। **वियोगी हरि** के 'ठंडे छींटे' में साम्प्रदायिक एकता, आत्म-परिष्कार की भावना आदि का चित्रण हुआ। **अज्ञेय** के 'अग्रदूत' में क्रान्तिकारी भावना और रोमाण्टिक तत्त्व उभरे। **नोखेलाल शर्मा** के 'मणिमाला' में नवीन भावावेश के दर्शन हुए, **तेजनारायण काक** के 'मदिरा' में 'गीतांजलि' का नवीन प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ। **रामकुमार वर्मा** का 'हिमहास' प्रकृति-दर्शन और देश के प्रति कर्त्तव्य-पालन की भावना को लेकर सामने आया। **रामेश्वरी देवी गोयल** का 'जीवन का सपना' सांकेतिक शैली में हृदय की पीड़ा को मुखरित कर गया।

सन् १९३७ में **दिनेशनन्दिनी डालमिया** के इस क्षेत्र में पदार्पण करने से हिन्दी-गद्यकाव्य एक नवोन्मेष के साथ आगे बढ़ा। उनके 'शबनम' नामक संग्रह में लौकिक प्रेम के रंगीन चित्र पहली बार दिखाई पड़े, जिसने गद्यगीत की धारा में एक नई हलचल मचा दी। उनके परवर्ती संग्रहों में से 'शारदीया' में व्यथा का उग्र रूप उभरा; 'जाग्रत स्वप्न' में देश और समाज का चित्रण हुआ; तथा 'वंशीरव' में प्रेम की तीव्रता; 'उन्मन' में आध्यात्मिक स्पर्श; और 'स्पन्दन' में मांसल सौन्दर्य के दर्शन हुए।

इसी काल में **रावी** का 'पूजा', **भँवरमल सिंघी** का 'वेदना', और **नारायणदत्त बहुगुना** का 'विभावरी'—रवीन्द्र की 'गीतांजलि' के नवीन स्वर के साथ ही सामने आए। **महाराजकुमार डा० रघुवीर सिंह** ने अपने 'शेष स्मृतियाँ' में ऐतिहासिकता को गद्यकाव्य का रूप पहना कर एक नई शैली को जन्म दिया। **अज्ञेय** ने अपनी 'चिन्ता' में फ्रॉयड के सिद्धान्तों का सहारा लिया और **परमेश्वरीलाल गुप्त** 'बन्दी की कल्पना' में जेल-जीवन का चित्रण करते रहे। **रावी** की 'शुभ्रा' में यौवन की अतृप्ति के तीखे स्वर गूँजे, और **तेजनारायण काक** के 'निर्झर और पाषाण' में खलील जिब्रान की शैली का अनुकरण दिखाई पड़ा। **माखनलाल चतुर्वेदी** का 'साहित्य देवता' सुन्दर-सशक्त गद्यकाव्य का रूप धारण कर सामने आया जिसमें रहस्यात्मक शब्दावली में देशभक्ति और प्रेम की अनूठी व्यंजना कर एक नवीन धारा का प्रवर्त्तन किया गया। **चतुरसेन शास्त्री** का 'जवाहर' प्रशस्ति-गायन बनकर रह गया। इनके अतिरिक्त इस काल में अन्य अनेक गद्यकाव्य-लेखक सामने आए, जिनमें से अग्रलिखित उल्लेखनीय हैं—

रघुवर नारायणसिंह ('हृदय तरंग'), **रामनारायणसिंह** ('मिलन पथ'), **बालकृष्ण बल्दुवा** ('अपने गीत'), **ब्रह्मदेव** ('निशीथ', 'आँसू भरी धरती'), **विद्यावती भार्गव** ('श्रद्धांजलि'), **स्नेहलता शर्मा** ('विषाद'), **ब्यौहार राजेन्द्रसिंह** ('मौन के स्वर'), **महावीरशरण अग्रवाल** ('गुरुदेव'), **शकुन्तला कुमारी रेणुका** ('उन्मुक्ति') आदि।

हिन्दी में मौलिक गद्यकाव्य-रचनाओं के अतिरिक्त अनेक अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। उपर्युक्त रचनाओं के होते हुए भी हिन्दी गद्यकाव्य-साहित्य को समृद्ध नहीं माना जा सकता। अभी तक हिन्दी में कुल मिलाकर लगभग सवा सौ गद्यकाव्य ही प्रकाशित हुए हैं। यह संख्या यह प्रमाणित करती है कि यह विधा हिन्दी में अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकी। आजकल तो इस विधा के दर्शन बहुत ही कम होते हैं।

इन्टरव्यू-साहित्य

'इन्टरव्यू' को हिन्दी-साहित्य की नवीनतम विधा मानना चाहिए। इसका लेखक सामाजिक क्षेत्र के, विशिष्ट पुरुषों से साक्षात्कार कर उनसे उनके जीवन, रुचियों, कृतित्व, विचार, प्रेरणा-स्रोत आदि के सम्बन्ध में प्रश्न करता है और उनके दिए गए उत्तरों को लिपिबद्ध करता है। इस क्रिया को अंग्रेजी में 'इन्टरव्यू' और हिन्दी में 'साक्षात्कार' कहते हैं। लेखक अपने प्रश्न और अपने उत्तरों को अपनी टिप्पणियों सहित जब आकर्षक रूप में प्रस्तुत करता है, तब उसका वह कार्य साहित्यिक सौन्दर्य से अभिमण्डित हो, साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा बन जाता है। अंग्रेजी आदि विदेशी साहित्यों में यह विधा पर्याप्त उन्नत और समृद्ध है, परन्तु हिन्दी में यह पिछले दशक में ही विकसित हुई है। वैसे तो हिन्दी में बहुत पहले से यदा-कदा इन्टरव्यू छपते चले आ रहे थे परन्तु उनका कोई एक विशिष्ट रूप विकसित नहीं हो पाया था। हिन्दी में, एक योजना बना, विभिन्न प्रसिद्ध व्यक्तियों से साक्षात्कार कर सर्वप्रथम इन्टरव्यू लिखने का श्रेय डा० पद्मसिह शर्मा 'कमलेश' को ही मिलना चाहिए। उनके लिखे ये इन्टरव्यू 'मैं इनसे मिला' शीर्षक से दो भागों में प्रकाशित हुए हैं। इनमें बाबू गुलाबराय, रामनरेश त्रिपाठी, निराला, सुदर्शन, धीरेन्द्र वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, महादेवी वर्मा, उदयशंकर भट्ट, जैनेन्द्र, यशपाल, नवीन, रायकृष्णदास, दिनेश नन्दिनी डालमिया, नगेन्द्र आदि से सम्बन्धित लगभग २२ इन्टरव्यू संग्रहीत हैं जिनमें इन साहित्यकारों के जीवन, रुचि, स्वभाव, रहन-सहन, प्रेरणा-स्रोत आदि का सरस भाषा-शैली में वर्णन किया गया है। इनमें संस्मरण, रेखाचित्र आदि की विशेषतायें समाविष्ट हो उठी हैं।

इसके उपरान्त हिन्दी में ऐसा कोई सुनियोजित प्रयास नहीं हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः इन्टरव्यू प्रकाशित होते रहते हैं। 'नई धारा' में कुछ दिनों तक 'हम इनसे मिले' शीर्षक स्तम्भ चलाया गया था जिसके अन्तर्गत विभिन्न विशिष्ट व्यक्तियों से सम्बन्धित इन्टरव्यू प्रकाशित होते रहे थे। जैसे—डा० महेश नारायण का 'राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद', नन्दकुमार कोहिली का 'जैनेन्द्र जी के साथ कुछ घन्टे'

आदि। अब तक यह धारणा रही थी कि इन्टरव्यू विशिष्ट-प्रसिद्ध व्यक्तियों से ही सम्बन्धित होते हैं और होने चाहिए। परन्तु इधर इन्टरव्यू का एक नया, अधिक सशक्त और आकर्षक रूप उभरा है। 'सारिका', 'धर्मयुग' आदि में ऐसे अनेक इन्टरव्यू प्रकाशित होते रहते हैं। इनकी रचना-प्रक्रिया इस प्रकार है—लेखक किसी एक विशिष्ट समस्या को लेकर किसी नगर के विभिन्न वर्गों के कुछ चुने हुए साधारण और विशिष्ट नागरिकों के पास जाता है और उस समस्या के सम्बन्ध में उनके विचार जानने का प्रयत्न करता है। वह अत्यन्त कौशल के साथ उनके व्यक्तिगत जीवन, रुचियों और विचारों के सम्बन्ध में भी कुछ तथ्य इकट्ठे कर लेता है। एक ही समस्या पर विभिन्न वर्गों और स्तरों के व्यक्तियों के विचारों का यह संग्रहीत रूप उस समस्या का रूप स्पष्ट कर देता है। ऐसे इन्टरव्यू की सबसे बड़ी विशेषता और आकर्षण पत्रकार की शैली में पात्रों की भाषा को यथावत् रूप में प्रस्तुत कर देना है। लेखक बीच-बीच में हास्य-व्यंग्य का सहारा लेता हुआ टिप्पणियाँ भी देता चलता है। इन्टरव्यू का यह रूप अत्यन्त रोचक होने के कारण पर्याप्त लोकप्रिय बन गया है। **मनोहर श्याम जोशी** द्वारा लिखे गए ऐसे इन्टरव्यू हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। यह दूसरी बात है कि कुछ लोग इन्हें 'इन्टरव्यू' न मान निबन्ध मानें।

यात्रा-साहित्य

हिन्दी में यात्रा-साहित्य बहुत कम लिखा गया है। वस्तुतः इसे एक स्वतंत्र विधा न मान निबन्ध का ही एक विशिष्ट रूप मानना चाहिए। हिन्दी में यात्रा-साहित्य से सम्बन्धित एक ऐसी पुस्तक लिखी गई जो अपने ढंग की हिन्दी की एकमात्र पुस्तक है। वह है **राहुल सांकृत्यायन** की 'घुमक्कड़ शास्त्र'। इसमें राहुल जी ने यात्रा करने की कला का रोचक विवेचन करते हुए अपनी देश-विदेश में की गईं अनेक यात्राओं का बहुत ही सरस वर्णन किया है। राहुल जी के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य अनेक साहित्यकारों ने भी अपनी देश-विदेश की विभिन्न यात्राओं के रोचक वर्णन प्रस्तुत किए हैं। जैसे—'पैरों में पंख बाँध कर' (रामवृक्ष बेनीपुरी), 'ठेले पर हिमालय' (धर्मवीर भारती), 'नन्दन से लन्दन' (ब्रज किशोर नारायण), 'सागर की लहरों पर' (भगवतशरण उपाध्याय), 'दूसरी दुनिया' (अक्षय कुमार जैन), 'रूस में ४६ दिन' (यशपाल जैन), 'अरे यायावर रहेगा याद', 'एक बूँद सहसा उछली' (अज्ञेय), 'आखिरी चट्टान' (मोहन राकेश), 'काश्मीर में १५ दिन' (विट्ठलदास मोदी), 'सुबह के रंग' (अमृतराय), 'ज्ञान की खोज में' (डा० जगदीश शरण शर्मा) आदि।

इनके अतिरिक्त डा० रामविलास शर्मा, अमृतलाल नागर, राजेन्द्र यादव ने अपनी दक्षिण-यात्रा से सम्बन्धित कुछ सुन्दर निबन्ध लिखे थे। हमारे अनेक साहित्यकार विदेश-यात्रा से लौटकर प्रायः अपनी यात्राओं से सम्बन्धित संस्मरण लिखते रहते हैं। दिनकर, नगेन्द्र; विष्णु प्रभाकर आदि ने ऐसे अनेक सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। आज कल भी पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे निबन्ध प्रायः प्रकाशित होते रहते हैं। क्योंकि ये

साहित्यकारों द्वारा लिखे जाते हैं, इसलिए इनमें स्थान-विशेष की संस्कृति, निवासियों के रहन-सहन, प्रकृति-सौन्दर्य और इन सबका लेखक पर पड़े प्रभाव और प्रतिक्रिया का बड़ा सम्वेदनशील वर्णन आ जाना नितान्त स्वाभाविक है, और यही इन्हें साहित्यिक रूप प्रदान कर देता है।

आत्मकथा

हिन्दी में आत्मकथा (या, आत्मचरित्र) लिखने की प्रवृत्ति बहुत कम रही है। आत्मकथा उस साहित्य-रूप को कहते हैं जिसमें कोई लेखक अपने विगत जीवन का विवरण प्रस्तुत करता है। आत्मकथा, प्रधानतः दो उद्देश्यों से लिखी जाती है। **एक,** आत्म-निर्माण, आत्म-परीक्षण, अतीत की स्मृतियों का मोह या विश्व के व्यापक जटिल विस्तार में स्वयं को जानने या स्वयं की स्थिति का अन्वेषण करने के उद्देश्य से। **दो,** स्वयं के अनुभवों का लाभ अन्य लोग भी उठा सकें—इस उद्देश्य से। प्रथम में आत्म-परिष्कार की भावना प्रधान रहती है। आत्मकथा-लेखक ईमानदारी के साथ अपने जीवन, व्यक्तित्व, विचारों और भावनाओं के शुभाशुभ दोनों पक्षों का अंकन करता हुआ अपने विगत जीवन का सच्चा और पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत कर देता है, जैसे—महात्मा गांधी ने 'सत्य के प्रयोग' नामक अपने ग्रन्थ में किया है। आत्मकथा से एक लाभ यह भी होता है कि हमें उसके माध्यम से आत्मकथा-लेखक के सम्बन्ध में अनेक ऐसे तथ्यों का ज्ञान हो जाता है जिनके द्वारा हम उसकी विचारधारा और दृष्टिकोणों को अच्छी तरह से समझ सकते हैं। साथ ही आत्मकथा में समकालीन युग और सम्पर्क में आए विभिन्न व्यक्तियों से सम्बन्धित लाभदायक सामग्री उपलब्ध हो जाती है।

हिन्दी में रचित आत्मकथा-साहित्य बहुत कम है। यद्यपि विभिन्न साहित्यकारों द्वारा रचित साहित्य में यत्र-तत्र आत्मकथात्मक संकेत मिल जाते हैं, परन्तु उन्हें आत्मकथा नहीं माना जा सकता। आत्मकथा उसी कृति को माना जा सकता है जिसमें लेखक ने अपने सम्पूर्ण जीवन का या जीवन के किसी विशिष्ट अंश का क्रमबद्ध रूप से वर्णन किया हो। हिन्दी में इस रूप में लिखी गई सबसे पहली आत्मकथा अठारहवीं सदी के **जैन कवि बनारसीदास** द्वारा रचित 'अर्ध कथा' मिलती है। इसके उपरान्त **भारतेन्दु** ने 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' शीर्षक के साथ अपनी आत्मकथा लिखना आरम्भ किया था, परन्तु उनकी असामयिक मृत्यु ने इस कार्य को पूरा नहीं होने दिया। इसमें उन्होंने अपने विगत जीवन और मुफ्तखोरे मुसाहिबों का अत्यन्त सजीव और रोचक वर्णन किया है। 'अर्ध कथा' के उपरान्त हिन्दी की दूसरी आत्मकथा **पं० अम्बिकादत्त व्यास** द्वारा सन् १९०१ में 'निज वृत्तान्त' के नाम से लिखी गई थी। हिन्दी की आरम्भिक आत्मकथाओं में **स्वामी श्रद्धानन्द** द्वारा रचित 'कल्याण पथ का पथिक' नामक आत्मकथा महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

कालान्तर में हिन्दी के अनेक साहित्यकारों ने अपनी-अपनी आत्मकथाएँ लिखी